स्वामी सहजानन्द सरस्वती

रचनावली

2

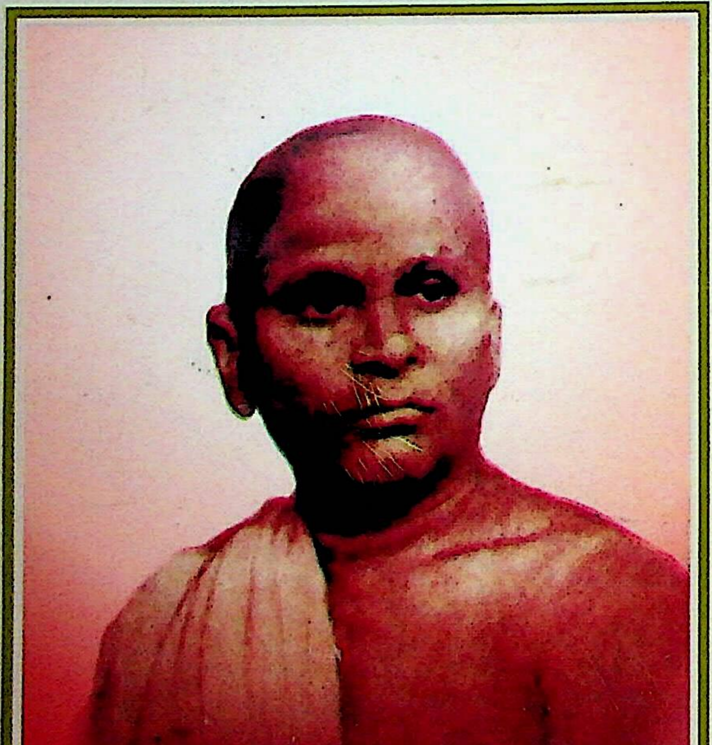

संम्पादक

राघव शरण शर्मा

स्वामी सहजानन्द सरस्वती प्रथम वर्ग आधारित, संगठित, अखिल भारतीय किसान के संस्थापक थे। ये उग्र किसान संघर्ष के सिद्धान्तकार भी थे, सूत्रकार भी थे और संघर्षकार भी थे। इनके स्वराज्य का असली मतलब किसान–मजदूर राज्य था। इन्होंने सामन्त विरोधी संघर्ष चलाकर राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम को नयी भाषा, नया आवेग, नया तेवर और धारदार अग्रगति प्रदान किया। सुभाष चन्द्र बोस के साथ मिलकर समझौताविहीन साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष चलाया। इन्होंने राष्ट्रीय नेताओं द्वारा चाहा गया औपनिवेशिक स्वराज्य की मंजिल की जगह भगतसिंह के पूर्ण स्वराज्य के दावे को अपनी किसान रजनीति का पाथ फाइन्डर माना। इनके उग्र किसान संघर्षों में राहुल सांकृत्यायन, रामवृक्ष बेनीपुरी, दिनकर, महाश्वेता देवी, भीष्म साहनी, प्रभाकर माचवे,अज्ञेय, मुल्कराज आनन्द, पं. पद्म सिंह शर्मा, चन्दद्रेव शर्मा, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, नागार्जुन जैसे समर्थ साहित्यकार सक्रिय भाग लिये और योगेन्द्र शुक्ला, बैकुण्ठ शुक्ला, किशोरी प्रसन्न सिंह, सियाराम सिंह, केशव प्रसाद शर्मा, सूरजनारायण सिंह, नक्षत्रमालाकार, झारखण्डे राय अम्बिका सिंह, धनराज शर्मा, शीलभद्रयाजी, के.एन. शांडिल्य जैसे राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी, शरीक हुए। इन्होंने कर्म और ज्ञान के बीच मार्क्स और वेदान्त के बीच पुल बनाकर उनकी दूरी को अपने क्रियात्मक व्यवहार से पाट दिया और इस तरह वेदान्त को सक्रिय और मार्क्स को ग्राह्म बनाकर नये अन्दाज में झोंपड़ी–झोंपडी जाकर उसे अमली जामा दिया। यही विलक्षण्ता उन्हें भारतीय परिवेश में अतुलनीय बना देती है।

7-3

स्वामी सहजानन्द सरस्वती रचनावली-2

स्वामी सहजानन्द सरस्वती रचनावली

2

सम्पादक

राघव शरण शर्मा

प्रकाशन संस्थान
नयी दिल्ली-110002

प्रकाशक
प्रकाशन संस्थान
4268-B/3, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

मूल्य : 5600.00 रुपये (छह खंड)
प्रथम संस्करण : सन् 2003
द्वितीय संस्करण : सन् 2010
ISBN : 81-7714-097-3
आवरण : जगमोहन सिंह रावत

शब्द-संयोजन : कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110032
मुद्रक : बी.के. ऑफसेट, दिल्ली-110032

अनुक्रम

मेरा जीवन संघर्ष

क्यों और किसलिए / 3
पूर्व भाग पूर्व खंड / 7
अध्ययन से संन्यास तक / 22
मध्यभाग पूर्व खंड / 32
मध्यभाग मध्य खण्ड / 72
मध्यभाग उत्तर खण्ड / 96
उत्तर भाग पूर्व खण्ड / 107
लोकसंग्रह / 175
उत्तर भाग मध्य खण्ड / 182
उत्तर भाग उत्तर खण्ड / 255
अवशिष्ट भाग / 318

किसान सभा के संस्मरण

विषय-प्रवेश 333
भारत में किसान आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास / 335

किसानों के दावे और कार्यक्रम के खरीते

किसानों के दावे और कार्यक्रम के खरीते / 513

अब क्या हो?

अब क्या हो? / 529

महारुद्र का महाताण्डव

महारुद्र का महाताण्डव / 555
कांग्रेस–तब और अब / 566

ढकाइंच का भाषण

ढकाईंच का भाषण / 573
गया जिला में सवा दो मास / 596
उद्धरण / 601

संयुक्त वामपक्षी मोर्चा घोषणा पत्र

संयुक्त वामपक्षी मोर्चे की स्थापना पर वक्तव्य / 609
भारतीय संयुक्त समाजवादी सभा : लक्ष्य तथा कार्यक्रम / 616

परिशिष्ट

आओ साधने! आओ / 625
मेरा भगवान् / 627
नग्न चित्र / 630

स्वामी सहजानन्द सरस्वती रचनावली-2

मेरा जीवन-संघर्ष

मेरा जीवन-संघर्ष

क्यों और किसलिए?

मेरा स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि अपना परिचय सुनने में शर्म-सी लगती है। अगर स्वयं ही यह काम करना पड़े, तब तो और भी गजब! तब तो जी चाहता है कहाँ चला जाऊँ, छिप जाऊँ, ताकि परिचय चाहने वालों से भेंट ही न हो। यही कारण है, दो वर्ष पहले तक शायद ही किसी को साधारणतः मेरी जीवनी विदित हो।

सच तो यह है कि मेरी मौत के बाद ही मेरे सम्बन्ध की प्रारम्भिक अज्ञात बातें लोग जानें, यही मेरा विचार सदा से रहा है। आखिर, सार्वजनिक कार्य-क्षेत्र में जब से मैं आया और मेरा सम्बन्ध इससे दृढ़ हुआ तब से आज तक का परिचय क्या पर्याप्त नहीं है? यही तो असली परिचय है, जिसे लोग न सिर्फ कामों से ही पाते हैं, वरन् जिसका रूप निरन्तर के संसर्ग और व्यवहार की कसौटी पर कस कर ठीक-ठीक समझ और देख सकते हैं। उचित भी तो यही है। जो भाग अँधेरे में है, उसे देखने की नाहक कोशिश से तो अच्छा है कि बराबर उजाले में और हजारों आँखों के सामने रहने वाला ही भाग ग़ौर से देखा जाय। इसमें धोखे की गुंजाइश भी नहीं होती। लेकिन सार्वजनिक रूप से अप्रकट रूप में तो सबकुछ हो सकता है। इसी प्रकार की परोक्ष जीवनसम्बन्धी बातों के करते न जाने कितनों ने अनजान लोगों को ठगा है और इस तरह अपने आप को उनकी नजरों में औलिया, महात्मा, नेता और अलौकिक पुरुष सिद्ध करने की सफल, निष्फल-कोशिश की है।

असल में जनसाधारण की आँखों के सामने किये जाने वाले व्यवहार और उनकी सेवा के लिए किये जाने वाले काम, त्याग और बलिदान आईने की तरह किसी भी पुरुष के गुप्त और अप्रत्यक्ष जीवन का प्रतिबिम्ब प्रकाशित कर देते हैं। और कोई भी चतुर आदमी इन्हीं कामों से उस अप्रत्यक्ष जीवनांश का असली आभास पा सकता है। इसीलिए हमारी नजरें किसी भी आदमी के जीवन के उसी अंश पर रहनी चाहिए, जो प्रत्यक्ष है और जिससे रोज साबका पड़ता है। इस प्रकार जीवन के अप्रत्यक्ष का पूर्ण आभास मिल जाने पर समय पाकर उसका पूरा विवरण भी मिल सकता है।

इन्हीं विचारों ने मुझे जीवनी लिखने या बताने के काम से बराबर विरागी रखा और मैं बराबर इस काम से बेमुरव्वती के साथ अलग रहा।

लेकिन प्रायः दो वर्ष पूर्व कुछ मित्रों ने बहुत ज्यादा आग्रह और हठ करके मुझे मजबूर कर दिया और इस प्रकार प्रारम्भिक जीवन की कुछ अधूरी बातें जैसे-तैसे जान लीं। असल में कभी-कभी परिस्थितियाँ मनुष्य को इतना लाचार कर देती हैं कि उसके विचार ताक पर ही पड़े रह जाते हैं और हजार न चाहते हुए भी कुछ काम करना ही पड़ जाता है। यही हालत मेरी हो गयी। कुछ प्रेमियों और मित्रों ने आखिर विवश कर डाला ही और विशृंखलित रूप से जीवन-वृत्तान्त जान ही लिया। ऐसे मौके इधर दो वर्ष के भीतर तीन बार आये। दो बार तो अखबारवालों ने ही ऐसा किया। इसी के साथ एक बात और भी हो गयी। जब लोगों ने विस्तृत जीवनी लिखने का हठ किया तो मेरे मुख से निकल पड़ा कि मरने के बाद कोई लिखेगा। पर, लोगों ने न माना और मुझसे आखिर कहला ही छोड़ा कि, अच्छा, तो कभी जेल में जाने पर स्वयं लिखूँगा।

इसलिए लिखने बैठा हूँ। वचन तो आखिर पूरा होना ही चाहिए। इसी बहाने अतीत जीवन का सिंहावलोकन भी हो जायगा।

इतना ही नहीं, कुछ मित्रों का बराबर आग्रह रहा है कि मैं **संगठित किसान-आन्दोलन का भारत में एक प्रकार से जन्मदाता होने** के कारण तत्सम्बन्धी अपने संस्मरण लिख दूँ तो बड़ा काम हो। मैंने उन्हें वचन भी दिया था कि मौका पाकर लिखूँगा। मैंने मौका तो पाया लेकिन सोचा कि अलग लिखने की अपेक्षा जीवन वृत्तान्त के अन्तर्गत ही लिखना ठीक होगा। इससे एक तो क्रमबद्ध बात रहेगी, दूसरे यह वृत्तान्त लिखने की प्रतिज्ञा भी पूर्ण हो जायगी।

एक बात और भी हो गयी। मैंने देखा है कि जिन्होंने मुझसे या औरों से पूछताछ कर मेरे आरम्भिक जीवन के बारे में लिखा है, उनसे भूलें हो गयी हैं। यह स्वाभाविक था। आखिर, दूर से पूछताछ करने और अटकल लगाने में सभी बातें ठीक-ठीक मालूम क्योंकर हो सकती हैं? फलतः उनके लेखों को पढ़कर मुझे खयाल हुआ कि ये गलतियाँ सुधारी जायँ, नहीं तो धीरे-धीरे तिल का ताड़ होता जायगा। मैंने यह भी देखा कि सिवाय पूरा वृत्तान्त लिख देने के उस सुधार का कोई दूसरा आसान और ठीक रास्ता नहीं है।

बहुतों की धारणा है कि शांकर सम्प्रदाय के दण्डी संन्यासी को उग्रतम राजनीति से क्या वास्ता? उसके उत्तर के लिए भी यह जीवनी जरूरी थी। मैं कैसे और क्यों इस राजनीति में पड़ा, यह इसमें मिलेगा।

इस वर्णन में जीवन तीन भागों में विभक्त मिलेगा, पूर्व, मध्य और उत्तर। असल में संन्यास के पूर्व वाला पूर्व भाग है और संन्यास के बाद वाले के दो भाग किये हैं, एक राजनीति से पूर्व का, जो मध्य भाग हो जाता है और दूसरा राजनीति में प्रविष्ट होने पर, जो उत्तर भाग हो जाता है। फिर हरेक भाग के तीन खण्ड हैं। पूर्व भाग में बाल्यावस्था—पढ़ाई शुरू करने के पूर्व, प्रथम खण्ड, देहात की पढ़ाई मध्य

खण्ड और शहर की पढ़ाई उत्तर खण्ड है। यहाँ भी पठन-काल के दो खण्ड करने से तीन हो गये हैं। मध्य भाग में शास्त्रमन्थन के पहले पूर्व खण्ड, शास्त्रमन्थन मध्य खण्ड तथा सामाजिक कार्य उत्तर खण्ड है। राजनीतिक खण्ड में कांग्रेस-प्रवेश पूर्व खण्ड और किसानसभा-प्रवेश के दो भाग करके सुधारवादी मनोवृत्ति का मध्य खण्ड और क्रान्तिकारी भावना का उत्तर खण्ड हो गया है। इस प्रकार विशेष विश्लेषण हो गया है। जिससे मेरे जीवन-संघर्ष के जानने में आसानी होगी।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती

सेन्ट्रलजेल, हजारीबाग,
ज्येष्ठ शुक्ल, गंगा दशहरा,
संवत् 1997 विक्रमी

पूर्वभाग–पूर्व खण्ड

(1)

जन्म और बाल्यावस्था

मुझे ठीक याद नहीं कि माँ के गर्भ से बाहर मैं कब आया। जब यह जान सकता था तब तो इसकी कोशिश ही न की—न कर सका और अब अर्धशताब्दी से ज्यादा समय गुजर जाने पर पता लगना एक प्रकार से असम्भव है। इसीलिए इस बात की फिक्र ही छोड़ दी। फिर भी पढ़ने के समय स्कूल में जो अवस्था मोटा-मोटी लिखी-लिखाई जाती है, उसी के आधार पर मैंने यह अनुमान किया कि सन् 1889 के आरम्भ के ही महीनों में किसी में मैंने पहले-पहल इस जीवन में यह दुनिया मूक रूप से दखी थी। जहाँ तक फिर भी पता लग सका है, फरवरी महीने में फागुन की महाशिवरात्रि का दिन था, हालाँकि पक्की जानकारी न हो सकी है।

अपनी माँ का मैं अन्तिम बालक था और कुछ सयाना होने पर मैं जान पाया कि मेरी तीन या चार वर्ष की उम्र में ही माता का देहान्त हो गया था। फलतः मातृसुख का अनुभव मैं यथावत् कर न सका। माता की सेवा का तो प्रश्न ही नहीं। उसका अवसर ऐसी हालत में मिलता ही कैसे?

मेरे पिता श्री बेनीराय, दो भाई थे और माता भी दो बहनें थीं। फलतः माता के मरने पर उसकी बड़ी बहन, मेरी मौसी और चाची ने, क्योंकि दोनों बहनों की शादी पिता और उनके बड़े भाई से ही हुई थी, मेरा पालन-पोषण किया। असल में मौसी को ही मैंने हमेशा माँ की तरह समझा और माना और उसका भी भाव मेरे प्रति सोलहों आने पुत्रवत् ही रहा। परिणाम यह हुआ कि जब **मैंने प्रायः अट्ठारह वर्ष की ही आयु में संन्यास ले लिया** तो उसे मर्मान्तिक वेदना हुई और अधिक दिनों तक वह जीवित न रह सकी। पिताजी को भी अपार क्लेश हुआ और वह भी मेरे गृहत्याग के पश्चात् शीघ्र ही कुछ वर्षों के भीतर ही चल बसे। परन्तु ठीक-ठीक कह नहीं सकता कि दोनों का देहावसान कब और किस समय हुआ। केवल इतनी ही खबर किसी प्रकार लग सकी कि वे दोनों ही स्वर्गीय हो गये।

चचा श्री विश्वेश्वर राय के तो एक ही पुत्र थे श्री सुन्दर राय। लेकिन **हम पाँच भाई थे**। बहन कोई न थी, सिर्फ एक चचेरी बहन थी। पाँच भाइयों में एक का देहान्त तो मेरी जानकारी से पहले ही हो गया था। इसलिए इस समय उसका नाम भी मुझे याद नहीं। शेष चार में श्री रामदिलास राय की भी मौत मेरे सामने हो गयी। रह गये तीन। सबसे बड़े थे श्री जंगबहादुर राय और उसके बाद श्री रामध्यान राय। हाँ, अपने माँ-बाप का दिया अपना नाम कहना तो मैं भूल ही गया। मुझे लोग नवरंग राय कहते थे। चचेरे भाई का तो कोई वंश रह नहीं गया है और न मृत भाइयों का। लेकिन जो शेष दो भाई बचे थे, और जिनमें बड़े का भी पीछे देहान्त हो गया उनका वंश है।

बाल्यावस्था की कोई विशेष बात न तो मुझे याद है और न मालूम। सिर्फ एक ही बात जानता हूँ, जो घर की बड़ी-बूढ़ी औरतों से सुनी थी। वे कभी-कभी हँसी में मेरे बारे में कहा करती थीं कि "यह तो बड़ा ही पत्थर के कलेजे का है, जब इसकी माँ मरी थी और सभी लोग रोते थे तो यह कहता था कि—माँ तो मर ही गयी, क्या रोते-रोते आप बाकी लोग भी मर मिटेंगे" लेकिन मुझे अनुभव नहीं कि आया, ऐसा कहता था या नहीं, कारण 3-4 वर्ष की अवस्था की बात ही तो ठहरी। हाँ, एक बात और है। न जाने मेरा स्वभाव ही कुछ ऐसा रहा है कि बचपन में लड़के मिल-मिलाकर जो खेल खेला करते और शैतानियाँ करते रहते हैं, उनसे मैं बराबर दूर रहा हूँ।

फलतः न तो वे खेल ही जानता और न वैसी शरारतें ही। यहाँ तक कि दरवाजे के सामने अपार जल का लम्बा तालाब, जिसे बस बावड़ी (बौली) कहा करते थे, रहने पर भी मैंने तैरना जाना ही नहीं, जब कि मेरे उम्र के सभी लड़के इस विद्या में पारंगत थे। तालाब तो हमारे गाँव में बहुत थे। मगर स्वभावतः ही मैंने तैरना न सीखा। **आखिर, इस काम में भी तो नटखटपन की जरूरत होती है और मुझमें वह चीज थी ही नहीं**। परिणाम यह है कि मैंने अच्छी तरह तैरना आज तक जाना ही नहीं। सिर्फ़ सन् 1916 ई. की ऐतिहासिक बाढ़ आने पर विश्वम्भरपुर (गाजीपुर) के ताल में, संन्यासी होने के बहुत बाद, किसी प्रकार थोड़ा-सा सीख पाया था। सो भी इसलिए कि एकबार सारन जिले,में नहाने के समय एक तालाब में डूबते-डूबते बचा था। पता नहीं कि उतना भी तैरना अब भूल गया या आता है। क्योंकि फिर कभी इसकी परीक्षा की नहीं।

(2)

स्थान और वंश

मेरा जन्म देवा नामक ग्राम में हुआ। यह स्थान युक्त प्रान्त के सबसे पूर्वीय और

बिहार से मिले हुए गाजीपुर जिले की सैदपुर तहसील, शादियाबाद परगने और बिरनों थाने के भीतर गाजीपुर शहर से उत्तर-पश्चिम प्रायः बीस मील के अन्तर पर बंगाल नार्थ वेस्टर्न (ओ.टी.) रेलवे के दुलहपुर स्टेशन के पास है। यहाँ गाजीपुर से दो-एक कच्ची और दूसरी पक्की, सड़कें आती हैं। कच्ची तो गाँव से होकर ही किनारे-किनारे निकल जाती है। मगर पक्की बिरनों थाने से होकर आती है और गाँव के उत्तर होकर निकट से ही सीधी आजमगढ़ चली जाती है। कच्ची सड़क गाँव से कुछ दूर उत्तर-पश्चिम में इसी से मिलकर खत्म हो जाती है। देवा गाजीपुर जिले के वायव्य कोन का आखिरी गाँव है और इसके बाद आजमगढ़ जिला शुरू हो जाता है।

गाँव के चारों ओर पुरानी खाई है, जो अधिकांश में समय गुजर जाने के कारण भर-सी गयी है। फिर भी वर्षा में तो पानी से लबालब होई जाती है और दो-चार निर्दिष्ट मार्गों के अलावे गाँव से बाहर जाने के और रास्ते रही नहीं जाते। इसके बहुत अंशों में और खास कर समूचे उत्तरी भाग में, जो ज्यादा चौड़ा भी है, गर्मियों में भी जल भरा रहता था। खाई के सिवाय उसके भीतर ही, पर उसीके किनारे गाँव के चारों कोनों में मिट्टी के चार बहुत ही ऊँचे धूस हैं, जिन्हें अब तक बराबर मोर्चे के नाम से लोग पुकारते हैं। इतना ही नहीं, गाँव के उत्तरी भाग में, खासकर जहाँ हमारे वंश वालों का घर है, एक पुराने गढ़ के चिह्न अभी तक पाये जाते हैं जिससे लम्बी-लम्बी ईंटें निकलती हैं और जिसे कोट के नाम से पुकारा जाता है। वहीं एक पुरानी देवी भी हैं, जिन्हें कोर्ट की देई या देवी कहते चले आते हैं। गढ़ पर ही, जो अब प्रायः समतल सा हो गया है, हम लोगों के घर के बगल में ही एक पुरानी कब्र पड़ी है, जिसकी मरम्मत उस समय हमारे घरवाले ही कभी-कभी कर दिया करते थे और जिसे 'शहीद मर्द' कहकर पुकारते थे। मैंने यह भी देखा है कि घर वाले कभी-कभी 'शहीद मर्द' पर दीया जलाया करते थे। मालूम होता है, पुराने समय, जब गढ़ मौजूद था, किसी लड़ाई में कोई बहादुर मुसलमान किसी कारण से लड़ते-लड़ते हक़ के लिए मरा था जिससे उसकी बहादुरी में उसकी कब्र को 'शहीद मर्द' कहने लगे। गाँव में मुलसमान तो केवल दो-चार घर ही जुलाहे और चुड़िहार, मिलाकर हैं, दो घर भाट भी हैं, जिनमें एक श्री रामखेलावन मियाँ बड़ा ही गवैया और सारंगी का बजवैया कारीगर था। इससे उसकी ख्याति आस-पास में और दूर तक भी थी। सारंगी बजाने में तो कमाल करता था। उसके व्यवहार-आचार से उसे कोई सहसा कह नहीं सकता था कि मुसलमान था। कहते हैं कि वह स्वयमेव एक बार हिन्दू बनने को तैयार था। मगर गाँव के बड़े-बूढ़े हिन्दुओं ही ने न होने दिया। उसका लड़का श्री प्रदीप तो गाने-बजाने में उससे भी बाजी मार ले गया है और बहुत दूर तक श्रीमन्तों में उसकी पूछ है।

देवा नाम, कोट की पुरानी देवी और गढ़ का विचार करने से अन्दाज होता है, पहले वह हिन्दुओं का था, पीछे किसी मुसलमान नवाब या समान्त ने उस पर

अधिकार किया। उसे ध्वस्त करके ही फिर हमारे पूर्वजों ने उस पर कब्जा किया और उसी लड़ाई में किसी तरह की आकर्षक मृत्यु के कारण वह मुसलमान शहीदमर्द बना।

बूढ़े लोग कहते थे कि चारों मोर्चे पर तोपें रहा करती थीं, ऐसा उन्होंने सुना था। यह भी वे लोग सुनाया करते थे कि पहले उत्तर वाली पक्की सड़क से पलटनें जाया करती थीं, जिन्हें, तिलंगा के नाम से पुकारते थे यह बहुत पुरानी बात न थी। मालूम होता है, तैलंग लोगों को फौज में भर्ती करके सन् 1857 ई. के बाद उधर गोरी पलटनों के साथ ही गश्त कराया जाता था। इसीलिए सभी पलटनों के सिपाहियों को तिलंगा कहने की आदत सी पड़ गयी थी।

मेरा वंश जुझौतिया ब्राह्मणों का है। जो पश्चिम से आकर उस गाँव में बहुत पहले ही बस गये थे। हाँ, यह बूढ़े यह भी कहते थे कि उनके पूर्वज गाँव से उत्तर के डीह में बसे थे जो अब खेत हो गया है, मगर गौर करने से वहाँ प्रथम बस्ती होने का अन्दाज लगता है। जब डाकुओं ने बहुत दिक किया तो गढ़ के भीतर आ बसे। खैर, बात जो हो, जुझौतिया ब्राह्मणों का एक दल कुछ कायस्थों के साथ बुन्देलखण्ड की ओर से किसी प्रकार वहाँ आ गया। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की ही एक शाखा जुझौतिया कहाती है, जैसे सरवरिया या सरयूपारी। जुझौती या जजाक्मुक्ति पुराना नाम है। वहीं रहने से ये ब्राह्मण जुझौतिया कहे गये। वहाँ के लोग खूब लड़ाके वीर होते थे, यह सभी जानते हैं और इतिहास इसका साक्षी है। इसीलिए बुन्देलखण्ड को जुझौती भी कहते थे। जुझौतिया ब्राह्मण अधिकांश उसी भाग में और हमीरपुर, ललितपुर, झाँसी में पाये जाते हैं। चित्रकूट के पास में कोई एक छोटा-मोटा राजा या जमींदार भी उनमें पहले था। उनकी सभा भी एक है और वंशावली वगैर : भी छपी है।

ये थोड़े से जिझौतिया ब्राह्मण सुदूर पश्चिम से कब और कैसे आये पता नहीं। उस इलाके में या इधर-उधर नजदीक में कहीं और उनका सुराग नहीं मिलता, सिर्फ एक ही गाँव वही है, वहाँ भी उनकी संख्या ज्यादा नहीं। पन्द्रह-बीस घर होंगे जो असल में गिने-गुथे पूर्वजों से ही इतने बढ़े हैं, ऐसा अन्दाज है। आसपास के गाँवों में या तो सरयूपारीब्राह्मण पाये जाते हैं या भूमिहारब्राह्मण, सो भी बहुत कम। मालूम होता है, खेतीबारी करने और समय-समय पर युद्ध-कौशल दिखाने वाले ये जुझौतिया लोग बुन्देलखण्ड वाले अपने ऐसे ही भाइयों से रेल, तार वगैरह का जमाना न होने के कारण धीरे-धीरे कतई अलग हो गये और अपने ही सरीखे भूमिहारब्राह्मणों से उन्होंने खान, पान और विवाहादि का नाता क्रमशः जोड़ लिया। मुझे खूब याद है कि अकेले होने के कारण इनकी वैसी प्रतिष्ठा भूमिहारब्राह्मण भी नहीं कर सकते थे। वे समझ ही न सकते थे कि ये जुझौतिया आखिर कौन जीव हैं। कान्यकुब्ज, सरयूपारी आदि को तो समझ पाते थे। इसीलिए मेरे समय में हमारे गाँव के लोग

जुझौतिया कहने में भी संकोच करते थे और इस नाम को भी नासमझी से बिगाड़ कर जुजहुतिया, या जिजहुतिया आदि कर दिया था। इधर पता लगा कि दुमका (संथाल परगने में) कोई जुझौतिया अध्यापक मैथिलों के द्वारा इसीलिए अपमानित किए जाते थे कि उस श्रेणी का वहाँ और कोई है नहीं। ऐसा होता ही है। हजारों के बीच जो अकेला होता है वही नक्कू बनता है। देवा के जुझौतिया ब्राह्मणों का कश्यप या काश्यप गोत्र है।

(3)

आर्थिक अवस्था

हमारे वंश की आर्थिक दशा अच्छी न थी। मालूम होता है, हमारे दादा श्री ठाकुर प्रसाद राय के समय में लोग सुखी-सम्पन्न थे और पीछे हालत खराब हो गई। दादा को या उनके समय को तो मैंने देखा नहीं लेकिन उनके बारे में एक बात बार-बार सुनता था। वे बराबर एक अच्छी घोड़ी रखते थे और उसी पर चला करते थे। कहा जाता है कि एक बार कोई सज्जन किसी बारात के लिए उनसे वह घोड़ी माँगने आये तो उन्होंने उसे देना न चाहा। असल में उसे वे बहुत मानते और उसकी बहुत हिफाजत करते थे। इसी से देने को राजी न थे। मगर बहुत हठ करने पर ताकीद के साथ दे दी। हालाँकि डरते थे कि उनकी अनुपस्थिति में उसकी ठीक सेवा न हो सकेगी। हुआ भी ऐसा ही। वे हजरत बारात में गये और न जाने उसके साईस को क्यों न ले गये। बारात में नियमानुसार घुड़दौड़ आदि भी हुई मगर उसके बाद उन्होंने मामूली टट्टुओं की तरह उसे लापरवाही से दोनों पाँव बाँध कर यों ही चरने को छोड़ दिया, जिसकी कभी उसे आदत न थी। फलतः रात में ही उसके पाँव आपस में फँस गये वह गिर पड़ी और मर गयी। जब दादा को खबर मिली तो चिन्ता और गम के मारे उन्होंने खाना-पीना छोड़ दिया और आखिर मर ही गये।

हमारे वंश के थोड़ी-सी जमींदारी थी और बाकी कास्तकारी। जब दादा में जमाने में वंश छोटा था तो काम ठीक चलता था और कोई दिक्कत न थी। मगर पीछे उसका बँटवारा छः या सात हिस्सों में हो जाने से हालत स्वभावतः खराब हो गयी। हालाँकि इधर सुना है, फिर सभी हिस्सेदारों के मर-मिटने के कारण सब जायदाद एकत्र हो गयी है। जमींदारी में तो कुछ था नहीं, खास कर बँटवारे के बाद। केवल खेती से ही काम चलता था। मुझे संवत् 1956 विक्रमी के उस घोर अकाल की ताजी याद बनी है, जिसमें लोग चारों ओर भूखों मर रहे थे। न जाने किधर से मक्का (मकई) की चालान गयी थी। उसे ही दलकर लोग भात की तरह पकाते और खाते थे। मुझे यह भी भूला नहीं कि उस प्रसिद्ध छप्पनवाले अकाल में, क्योंकि पीछे तो

उसका नाम ही छप्पनवाला पड़ गया, सम्भवतः सन् 1900 ई. में हुआ था, एक अनहोनी बात हो गयी थी। रहर की खेती उस साल अच्छी थी और संयोग से वह महीनों पहले ही पक गयी। फलतः लोग उसे ही पका कर खाया करते थे।

गाँव के दूसरे लोग भी साधारण स्थिति के थे और खेती-गिरस्ती से ही काम चलाते थे। हाँ, एक उल्लेखनीय बात यह थी कि वहाँ खाण्डसारी वाली पुराने कारखाने की चीनी बहुत बनती थी। तीन-चार कारखाने अच्छे थे। उस हाथ से बनी चमाचम चीनी की स्मृति आज भी ताजी है। रुपये की दो-ढाई सेर बिकती थी। इसीलिए सभी किसान ऊख की खेती करते थे। चीनी के कारखानेदार सुखी-सम्पन्न समझे जाते थे और एकाध दूसरे लोग भी, गाँव में कोई दूसरा रोजगार-व्यापार न था और न नौकरी-चाकरी ही। पढ़ना-लिखना भी ऐसा ही तैसा था। केवल कायस्थों में कुछ लोग पढ़े-लिखे थे और बाहर नौकरी करते थे। कायस्थ लोग जहाँ तक याद है, खरे कहाते थे और उनके चार ही पाँच घर थे।

(4)

पढ़ाई का श्रीगणेश

यद्यपि घर में कोई पढ़ा-लिखा था नहीं और गाँव में भी शायद ही दो-चार कैथी पढ़-लिखे लोग थे, तथापि घरवालों की राय हुई कि लड़के की बुद्धि तेज है, इसलिए इसे स्कूल भेजा जाय। गाँव के कुछ और लड़के भी पढ़ते थे। इसलिए सन् 1899 ई. की जनवरी के शुरू में ही मैं जलालाबाद के अपरप्राइमरी स्कूल की पहली कक्षा में दाखिल किया गया। जलालाबाद देवा से उत्तर प्रायः दो मील के फासले पर है। वहाँ बाजार लगता है और डाकघर भी है। बनियों और राजपूतों की बस्ती है। जुलाहे और दूसरे मुसलमान भी बसते हैं। मुझे याद है, हमारे गाँव और दूसरे गाँव की बहुत सी औरतें चरखे से सूत कातकर वहाँ ले जाती थीं और रूई के बदले सूत जुलाहों को दे आती थीं। यह याद नहीं कि सूत के बदले रूई कितना गुना मिलती थी। यह भी मैंने देखा कि चार ही छः वर्षों में सारे चरखे खत्म भी हो गये।

जलालाबाद में पश्चिम ओर एक पुराना और बहुत बड़ा गढ़ का ध्वंसावशेष है। पुराने लाखौरी ईंटों की गिरी-गिराई दीवारें अब भी खड़ी हैं। बीच में एक पक्का चबूतरा है, जिसके बारे में कहा जाता था कि उसके नीचे खजाना गड़ा है और जो खोदना चाहे उसे साँप बन के उसके रक्षक, जो भीतर हैं और दैवी शक्ति रखते हैं, डँस देते हैं। ऐसी कहावतें अकसर पायी जाती हैं।

अपरप्राइमरी स्कूलों में छः कक्षाएँ अक्षरारम्भ से लेकर अन्त तक थीं और हर साल दो-दो श्रेणियों को पूरा करके मैंने तीन ही वर्ष में अपरप्राइमरी की पढ़ाई पूरी

कर ली। सन् 1902 ई. की जनवरी या फरवरी में जलालाबाद से बहुत दूर और गाजीपुर शहर से पश्चिम करण्डा परगने के गोशन्देपुर गाँव में हमारे अध्यापक हमें अपरप्राइमरी की आखिरी कक्षा की परीक्षा दिलाने को ले गये। स्कूलों के डिप्टी साहेब ने परीक्षा ली। मुझे कुल बीस नम्बर में पूरे उन्नीस मिले यह याद है और इसे देखकर परीक्षक हैरत में थे। मुझे यह भी खूब याद है कि जो एक नम्बर कम किया गया वह सिर्फ इसलिए कि हिन्दी व्याकरण में जो एक प्रश्न उन्होंने किया वह व्याकरण की निर्दिष्ट पुस्तक से बाहर का था। नहीं तो बीस के बीस ही नम्बर मुझे अवश्य मिलते। डिप्टी साहेब ने यह देखकर यह भी कहा कि "भूल हुई यह लड़का यदि स्कॉलरशिप की परीक्षा में गया होता तो स्कॉलरशिप जरूर पाता।" मगर, जब मामूली परीक्षा 20-25 मील की दूरी पर हुई तो न जाने वह कहाँ आसमान पर होती। फिर मास्टर साहेब को भी शायद मालूम न था। नहीं तो वहीं ले जाते। या क्या बात थी, मालूम नहीं। लेकिन यह सही है कि मास्टर या शिक्षा विभाग की भूल और कुप्रबन्ध के करते ही मैं स्कॉलरशिप से वंचित रहा। खैर, परीक्षा के बाद गोशन्देपुर से लौट आया।

आगे बढ़ने के पूर्व दो-एक मजेदार बातें और कहनी हैं। मैं नियमपूर्वक पढ़ता तो था हिन्दी, लेकिन मास्टर लोग दोनों ही, क्योंकि वहाँ दो ही अध्यापक थे उर्दू भी जानते थे, उर्दू पढ़े-लिखे थे। फलतः कक्षा के उर्दू पढ़नेवाली लड़कों की पढ़ाई सुनकर ही मैंने बिना किताब के ही उर्दू भी साथ ही पढ़ डाली और उसका कवायद (व्याकरण) सुन-सुन कर ही याद कर लिया। फलतः हिन्दी की अपरप्राइमरी की आखिरी परीक्षा देने के समय में उर्दू में भी पास होने की पूरी योग्यता रखता था, हालाँकि परीक्षा दे न सका। देता भी कैसे? दोनों की साथ ही थी। फिर हिन्दी की देता या उर्दू की? एक बात और भी थी उर्दू का शिकस्त, (घसीट कर) लिखा हुआ पढ़ने का मौका भी मिलता था। क्योंकि शिक्षा विभाग की ओर से युक्त प्रान्त में उन दिनों जो भी लिखा-पढ़ी होती थी, वह शिकस्त में ही होती थी। फलतः ऐसे पत्र जब आते थे और हेडमास्टर उनके उत्तर लिखते थे तो उन्हें पढ़ने का मौका मिलता था, कारण, हम उनसे हिलेमिले रहते और प्रेम करते थे, वे भी हमसे। पीछे से एक हेडमास्टर साहब ऐसे भी आये जो फारसी जानते थे और उन्होंने मुझे फारसी पढ़ाने का विचार भी किया। कुछ शुरू भी किया। लेकिन एकाएक वे दूसरी जगह चले गये और यह विचार मन का मन में ही रह गया। पीछे बहुत देर बाद सन् 1922 ई. में लखनऊ जेल में मैंने कुछ किताबें मँगाकर फारसी पढ़ना शुरू किया। लेकिन दुर्भाग्य से वहाँ भी काम न हो सका और शुरू करके ही पुनरपि रह जाना पड़ा।

उन दिनों दूर-दूर से—कई मील से पढ़ने के लिए उस स्कूल में लड़के आते थे। क्योंकि—स्कूलों की कमी थी। सभी के सभी, फिर चाहे कैसे ही घर के क्यों न हों, सुबह कुछ खा-पीकर घर से चलते थे और दोपहर के भोजनार्थ गुड़, चबेनी

वगैरह लाते थे और आपस में जिनका हेलमेल था वे परस्पर थोड़ी बहुत अदली-बदली करके खाते थे। लड़कों के लिए दोपहर में भोजन पकाने-खाने का न तो वहाँ कोई प्रबन्ध था, न परिपाटी थी और न इसकी जरूरत ही मानी जाती थी। हाँ, अध्यापकों का भोजन जरूर बनता था और हम लोग इस काम में उनकी सहायता किया करते थे। उन दिनों अध्यापकों की सभी प्रकार की सेवा करने की आम चलन थी और मैंने यह काम दिल लगाकर किया। अच्छी से अच्छी और पतली-से-पतली रोटियाँ बनाना मैंने उन्हीं दिनों सीखा।

पहले-पहल हमें जिन दो अध्यापकों से संसर्ग हुआ, उनमें प्रधानाध्यापक थे श्री शिवधनी सिंह और सहायक थे श्री रामदास सिंह। दोनों ही क्षत्रिय थे और कट्टर सनातनी एवं शिवबाबा के भक्त। बड़े अध्यापक के पास तो शिवपूजन की बड़ी सामग्री थी—सर्पाकार पीतल के सिर पर दीपक, घण्टी, आचमनी, कटोरी, थाल वगैरह। मैं ही प्रायः उन्हें प्रतिदिन मलमल कर ठीक करता था। छोटे अध्यापक के पास यह सब डण्ड-कमण्डल तो नहीं था। लेकिन वे पूजा में विल्वपत्र चढ़ाते और पुष्पदन्ताचार्य के महिम्नस्तोत्र का पाठ नित्य किया करते थे। उस समय तो, महिम्नस्तोत्र कौन-सी चिड़िया है, वह मैं समझ सका नहीं। लेकिन पीछे संस्कृत पढ़ने पर जान पाया। उन पूजाओं और पुजारी अध्यापकों के संसर्ग से कहिये या घर और गाँववालों की प्रवृत्ति से कहिये, मैं बराबर सनातनी रहा हूँ। इसकी गहरी छाप जो मेरे दिल पर उस समय पड़ी वह मिट न सकी, हालाँकि पहली कट्टरता अब नहीं रही और पीछे आकर मैंने उस धर्म की उन्हीं बातों को बराबर माना है, जिन्हें बुद्धिपूर्वक मान सका हूँ। आज तक भी उनका कुछ-न-कुछ असर है, यह सही है। पीछे सुना कि सहायक अध्यापक आर्यसमाजी बन गये और जो पहले कट्टर मूर्तिपूजक थे वही उसके सख्त दुश्मन बन गये। अगर भूल नहीं करता तो एक बार उन्होंने इस बारे में अचानक भेंट होने पर, मुझसे दलीलें भी की थीं। उन दिनों जलालाबाद में एक क्षत्रिय वैद्य थे। भले आदमी थे और स्कूल में प्रायः आते रहते। एक दिन यों ही लड़कों ने अपनी-अपनी नब्ज उन्हें दिखाना शुरू किया कि कोई बीमारी है या नहीं। लड़के क्या समझने गये बीमारी के महत्त्व को? वह तो देखा-देखी लड़कपन था। पास मैं भी था और हाथ बढ़ा दिया था। उनने नाड़ी देखकर कहा कि कलेजे पर पित्त जमा हो रही है। उपाय न करने से आगे हानि होगी। मैंने पित्त-बित्त कुछ न समझा। फिर परवाह क्या करता? लेकिन वे कितने अनुभवी थे यह बात मैंने पीछे जानी। क्योंकि सचमुच उस पित्त के प्रकोप ने, पीछे तहसीली स्कूल में कुनाइन खाने के बाद, मुझे बहुत परेशान किया और उसकी गर्मी से बराबर परेशान रहा हूँ। इधर बीसों बरस से नमक-मसाला छोड़ने और सख्त संयम करने से ही उसका कुछ शमन हो सका है और मुझे थोड़ा आराम मिला है।

पढ़ाई के सिलसिले में दो और बातों का यहाँ उल्लेख कर देना जरूरी है।

पहली बात तो यह है कि मैं बहुत ज्यादा, सोलहो आने दिल लगाकर पढ़ता था। और दूसरे काम की ओर कभी दृष्टि भी नहीं करता था। स्कूल से कभी अनुपस्थित नहीं हुआ। शायद, बीमारी की दशा में कभी ऐसा हुआ हो। जिसकी मुझे स्मृति नहीं। कारण, उस अवस्था में बीमार होने का खयाल ही नहीं है। सोलह वर्ष के पहले शायद ही मैं बीमार पड़ा। पढ़ने में मेरा दिल इतना लगा था कि सभी हैरत में थे। लेकिन दो-एक दिन न जाने क्या हो गया कि जब घर रहूँ तो स्कूल जाने का दिल हो और जब वहाँ जाऊँ तो घर चले आने की जबर्दस्त इच्छा हो जाय। यहाँ तक कि एक दिन चुपचाप स्कूल से बीच में ही चला भी आया। मगर दो ही एक दिन के बाद यह दशा मिट गयी और मेरे सिवाय इसका पता किसी को भी न लगा। मैं आज तक भी यह समझ न सका कि यह बात क्यों हुई। लेकिन यह इतनी निराली है कि अभी तक भूली नहीं।

मेरे दिल लगाकर पढ़ने और तीक्ष्ण बुद्धि होने का ही यह परिणाम था कि विद्यार्थी जीवन में न तो कभी किसी अध्यापक आदि ने डाँट-फटकार सुनाई और न मार-पीट की। इसका तो मुझे अनुभव ही न हुआ। प्रायः सुना करता था कि बहुत तेज लड़के फेल हो जाया करते हैं। मगर अपने बारे में यह बात देखने की तमन्ना बनी ही रह गयी।

मनोयोगपूर्वक पढ़ने के बारे में एक घटना है। जलालाबाद पढ़ने जाने के ही दिनों में ऐसा हुआ कि खेत से कटकर बाग के खलिहान में धान जमा था और वहीं शायद उसे पाँव से रौंदने (दौनी करने) के लिए कई बैल भी थे। उसी समय घर के सभी लोगों को सम्भवतः खेती का कोई ऐसा काम आ पड़ा कि मेरे सिवाय बैलों की रखवाली करने वाला कोई रही न गया। लाचार होकर मुझे, जब कि किताबें लेकर पढ़ने जा रहा था, घरवालों ने बीच में ही रोककर बैलों की रखवाली में लगा दिया और काम पर चले गये। मुझे एक दिन के लिए भी स्कूल से अनुपस्थिति असह्य थी। फलतः सभी लोगों के चले जाने पर धान की उसी ढेर में बैलों को छोड़ कर मैं चलता बना। बैलों ने खूब ही धान खाया। खयाल नहीं कि उन्हें खूँटे में बाँध क्यों न गया। शायद वहाँ बाँधने का कोई सामान न था। लेकिन जब घरवालों ने आकर पीछे यह दशा देखी तो उन्हें बहुत ही क्रोध आया। मैं भी डरता-डरता शाम को घर आया। लेकिन गुस्से में भी लोग केवल पूछ-पाछ कर के ही रह गये। मुझे पीछे पता चला कि लोगों ने पढ़ने में मेरा इतना प्रेम देख कर ही बर्दाश्त कर लिया और मेरी मरम्मत न की।

उस समय की एक और बात याद है। असल में मैंने आज तक घोड़े पर चढ़ना जाना नहीं। इसीलिए इससे डरता बहुत हूँ। इधर दो बार विवश हो कर घोड़े की सवारी करनी पड़ी है। मगर घोड़ा के निहायत सीधा होने पर भी मैं परेशान हो गया। एक बार तो तीन साल पूर्व जालन्धर (पंजाब) जिले के किसान-सम्मेलन में

सभापतित्व करने गया और स्टेशन से तीन मील तक लोग घोड़े पर ही ले गये। वहाँ के लोगों ने कहा कि यहाँ का यही तरीका है और आप को चढ़ना ही होगा। मजबूर था आखिर ठोंक-पीट कर वैद्यराज बनने के सिवाय चारा ही क्या था? यह पहला ही मौका था। तीन मील तक धीरे-धीरे जुलूस में बाजे-गाजे के साथ सभास्थल, बड़ापिण्ड गाँव तक जाना पड़ा। दूसरी बार गत बरसात में किसानों के बकास्त सत्याग्रह के सम्बन्ध में मझियावाँ (गया) जाना पड़ा था। वहाँ से रात में टिकारी लौट कर मोटर से गया आना और रेल से पटना, पहुँचना अनिवार्य था। मझियावाँ में ही रात हो गयी। मजबूरन एक घोड़ी पर आना पड़ा। रास्ता बहुत ही बुरा था, चौदह मील की दूरी थी और दूसरा चारा न था।

हाँ, मैं तो भूल ही गया। असल में एक बार और घोड़ी पर चढ़ा था, जब जलालाबाद पढ़ने जाता था। यह बात भूलती ही नहीं। बात यों है कि गाँव के लड़के पढ़ने जाते थे तो किसी-किसी के घर के छोटे-मोटे टट्टुओं को ले जाकर रास्ते में जलालाबाद से दक्षिण के ताल में घास चरने को छोड़ देते थे और फिर लौटने के समय वापस लाया करते थे। जाने में चढ़कर दौड़ाते भी थे। मैं तो अलग रहता था। मगर एक दिन न जाने कैसे एक घोड़ी पर साथियों ने चढ़ा दिया। उसके बाद एकाएक वह घोड़ी एक गहरे पर सूखे तालाब के हिस्से में जिसका करारा बहुत ऊँचा था, सीधी उतर पड़ी। अब तो चीरो तो मुझमें खून नहीं और समझ लिया कि मैं उलटा, मेरे ऊपर से घोड़ी पार होगी और बस मेरा काम खत्म! लेकिन जान पर खेल कर उसकी पीठ पर चिपक गया और न जाने किस प्रकार बच गया। तभी से मैं और भी डर गया और यह तय कर लिया कि भूल कर भी घोड़े पर न चढ़ना।

उन दिनों देहातों में यह चलन थी कि स्कूलों में पढ़नेवाले लड़कों से रात में तुलसीकृत रामायण जोर से मीठे स्वर में पढ़वाई जाती थी और गाँव के बहुतेरे लोग जमा होकर चाव से सुनते थे। कम-से-कम हमारे गाँव में यह प्रथा थी। बीच-बीच में रुक-रुक कर कोई समझदार लोग साधारण लोगों को उसके अर्थ भी समझाया करते थे। मैं और मेरे साथ एक और लड़का, जो सहपाठी था—दोनों ही प्रायः रोज इस प्रकार रामायण पढ़ा करते थे। ऐसा भी होता था कि झाल और ढोल की सहायता से गाँव के लोग दो पंक्तियों में बैठकर रामायण की चौपाइयाँ तरह-तरह से गाया करते थे और बीच में जब वे रुकते थे तो हमसे पढ़वाकर उनका अर्थ लोगों को समझाया जाता था। एक प्रकार यह नित्य नियम था और शाम के भोजन के बाद यह बात होती थी। उन दिनों बम्बई की छपी रामायण मिलती थी। कैथी अक्षरों में लिखी रामायण भी पायी जाती थी। इस प्रकार कई वर्षों तक निरन्तर पाठ करने से मुझे रामायण प्रायः समस्त ही कण्ठस्थ थी, जो इतने दिनों के बाद भी अभी काफी याद है। आजकल की छपी रामायणों में, उसके फलस्वरूप, एक विचित्र बात पाता हूँ। पाठ में बहुत ज्यादा परिवर्तन हो गया है, इतना ज्यादा कि कहा नहीं जा सकता।

जब रोज पाठ में आने वाली अत्यन्त सर्वजनप्रिय पुस्तक की यह हालत है, तो दूसरे पोथी-पुरानों में परिवर्तन हो जाना और मनगढ़न्त बातें घुसेड़ देना बहुत आसान है। क्योंकि उनका प्रचार कम होने से कोई पकड़ नहीं सकता। जब छापेखाने न थे, तब तो यह बात और भी आसान थी।

हमारे गाँव और देहात में उन दिनों ऊख (गन्ना) पेरने का कोल्हू बहुत बड़ा मोटा पत्थर का होता था, जो सदा एक ही जगह जमीन में गड़ा रहता था। उसे पथरिया कोल्हू कहते थे। उसे एक स्थान से दूसरी जगह हटा नहीं सकते थे। तब प्लेग का खतरा न था। पीछे जब मेरे देखते-देखते पहले पहल गाँव में चूहे मरकर गिरे और प्लेग देवता पधारे तो घबराहट हुई। क्योंकि नियमानुसार गाँव छोड़ कर फूस के झोंपड़ों में लोगों का चला जाना जरूरी हो गया। लेकिन पथरिया कोल्हू महाराज तो जा सकते न थे। वे तो गाँव में चहारदीवारी के भीतर आँगन में विराजमान थे और वहाँ रहने की मनाही लोगों के लिए थी। इसीलिए लोहे के नये कोल्हू या कलावती (कल) जी का आविर्भाव तथा प्रचार हुआ, जिन्हें कहीं भी आसानी से ले जाकर खड़ा कर सकते थे। आज तो पथरिया कोल्हू बेकार खड़े-खड़े पूर्व समय की स्मृतिमात्र दिलाते हैं। इन कोल्हुओं का रस बहुत ही सुन्दर होता था। पेरने के समय खोइयों में जरा भी रस रह जाता न था। कोल्हू के बीच में उसके सिर पर एक गढ़ा सा रहता था और इसके चारों ओर ऊख की छोटी-छोटी गड़ेरियाँ भरने की जगह रहती थी। उसी गढ़े में एक मजबूत और लम्बा काठ खड़ा कर देते थे जिसे जाठ कहते थे। जाठ का ऊपरी सिर नोकीला होता था जिस पर एक लकड़ी पिन्हा कर नीचे लटका दी जाती थी और उसका सम्बन्ध एक लम्बे और चिपटे काठ से रहता था जिसे कातर या कतरी कहते थे और जिसका एक भाग कोल्हू की कमर में चारों ओर बनी नाली में लगा हुआ घूमा करता था। तेली के कोल्हू जैसे ही सारी बातें समझिये। यह कोल्हू प्रतिदिन का पेरना शुरू होने के पहले खूब धोया जाता था जाठ को बाहर निकालकर, ताकि उसमें खटाई का अंश रहने न पाये। इसमें एक बात यह भी थी कि यह कई किसान परिवारों के सहयोग से ही आमतौर से चलता था और शायद ही बहुत बड़े किसान अकेले चलाते रहे हों। सभी के आदमी और बैल मिलकर रोज इसे चलाते थे और हर एक किसान की ऊख बारी-बारी से कटती तथा पेरी जाती थी। रोज दोपहर से पूर्व थोड़ी सी ऊख पेरकर उसका रस उन सभी परिवारों के घर जाता था जो उसमें शामिल रहते थे। इस कोल्हू को कुत्ते वगैरह चाटें या स्पर्श करें, जैसा कि लोहे की कल को करते ही रहते हैं, ऐसी सम्भावना थी ही नहीं। एक तो बन्द हाते में रहता था, दूसरे काफी ऊँचा था और फिर रोजाना धोया भी जाता था। गुड़ बनाने का कड़ाह भी बन्द घर में रहता था। मैंने तो लोहे की कल की गन्दगी देखकर उसका रस पीना ही बन्द कर दिया। हिम्मत ही नहीं पड़ती कि पी सकूँ।

(5)

उपनयन संस्कार और गुरुमन्त्र

जहाँ तक याद है, बारह वर्ष की अवस्था में मेरा उपनयन संस्कार हो गया और मैंने नियमित रूप में सन्ध्योपासन करना शुरू कर दिया। यह काम दोनों समय 'सायं-प्रातः' घण्टों चला करता था। उसके सिवाय मन्दिर में शिव पूजन भी विधिवत् किया करता था। अधिमास के समय महीने भर लगातार सहस्रों बिल्वपत्र और फूल प्रतिदिन शिवजी पर चढ़ाता था। कभी-कभी उसके पत्रों पर चन्दन से राम-राम लिखकर भी चढ़ाता था। यह पूजा धीरे-धीरे बढ़ती ही गयी।

हम लोगों के वंश परम्परागत गुरु एक नानकशाही सज्जन थे। पहले इनके पूर्वज साधु रहे होंगे। मगर अब ये बाल-बच्चे वाले हो गये थे। देहातों में, और शहरों में भी, यह परिपाटी है कि सभी स्त्री-पुरुष गुरुमुख होना जरूरी समझते हैं। गुरुमुख का अर्थ है कुछ साधारण विधि व्यवहार के बाद एकान्त में भावी गुरुजी का अपने तथा भावी शिष्य के सिर पर एक ही कपड़ा डालकर उसी की ओट में उसके कान में मन्त्र के नाम से कोई वाक्य कह देना। इसे ही कान फुँकवाना, कनफुँकिया या मन्त्र लेना भी कहते हैं। प्रायः उपनयन या विवाह के समय ही यह बात की जाती है। नहीं तो तीर्थयात्रा के समय तो अवश्य ही। लोगों का खयाल है कि बिना इसके धर्म का काम सफल नहीं होता, व्यर्थ जाता है। इसीलिए कहा करते हैं कि निगुरा (जो गुरुमुख न हो) का छुआ पानी नहीं पीना चाहिए। बिना गुरुमुख हुए कोई भवसागर से पार होई नहीं सकता, यह जबर्दस्त धारणा है और 'विनु गुरु भवनिधि तरै न कोई, जो विरंचि शंकर सम होई' जैसा महाप्रमाण इसमें पेश किया जाता है। यह भी कहते हैं कि निगुरा जिस भूमि पर बैठे, वह नापाक हो जाती है। इसीलिए अन्ततोगत्वा मरने के पहले गुरुमुख हो जाना अनिवार्य है। गुरु लोगों की दशा यह है कि संस्कृत के सही या गलत श्लोक, वाक्य या पद समूह से लेकर हिन्दी, कैथी, गुरुमुखी या रद्दी से रद्दी और निरर्थक शब्दावली तक गुरुमन्त्र के नाम पर चेले के कान में कह देते हैं। और उसे वह वेदवाक्य से बड़ा मानता है। रीति यह है कि वह गुरुमन्त्र किसी को बताया नहीं जाता। इसकी सख्त मनाही है। शायद भण्डाफोड़ हो जाने के डर से ही यह बन्दिश की गयी है। चेलों का धर्म होता है कि उस गुरुमन्त्र को रोज जपें। हालाँकि विरले ही ऐसा करते हैं।

यह गुरुमुख होने की प्रथा कुछ ऐसी रूढ़ है कि इसे छोड़ने की हिम्मत लोगों को नहीं होती। ये गुरु लोग खानदानी होते हैं। बाप के मरने पर उसका उत्तराधिकारी पुत्र और साधु के मरने पर उसका चेला या उत्तराधिकारी ही गुरु हो सकता है और उसी से (मन्त्र) लेना जरूरी माना जाता है। एक ग्रेजुएट ब्राह्मण ने जो पीछे डिप्टीमजिस्ट्रेट हो गये, मुझे लिखा कि क्या गुरुमुख होना जरूरी है, सो भी खानदानी

गुरु से ही? मैंने उत्तर दिया कि यूनिवर्सिटी का डिप्लोमा पढ़कर लिया था या चोरी से? पढ़ने से तो अक्ल होती है और नादानी की ये बातें छूट जाती हैं। मेरा यह मतलब है कि रूढ़ि इतनी प्रबल है कि तीक्ष्णबुद्धि अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग भी इससे बाहर जाने की हिम्मत नहीं करते और इस बेवकूफी के शिकार बन जाते हैं। इस वंश-परम्परागत गुरुवाई ने इन गुरुओं को निरक्षर और दुराचारी बना डाला है। क्योंकि उनकी पूजा, प्रतिष्ठा और आमदनी तो रुकनेवाली नहीं, फिर वे पढ़ने या सच्चरित्रता की परवाह क्यों करने लगे? नादान चेलों को इतनी भी सूझ नहीं कि जो गुरुनामधारी स्वयं निरक्षर और पापी है, फलतः नरक जाने से बच नहीं सकता, जो भवसागर में डूबेगा ही वही उन्हें क्योंकर नरक से बचा सकता या भवसागर में तार सकता है।

मैंने यह देखा है कि मर्द तो मर्द, औरतें भी इन्हीं गुरुओं से मन्तर लेती हैं। मर्द शायद चूक भी जायँ, मगर ये नहीं चूकती हैं। कितना पतन है! हिन्दुओं के पोथी-पुरान में तो स्त्री के लिए पति ही गुरु है और वही तुलसीदास कहते हैं कि "सपनेहु आनपुरुष जग नाहीं।" लेकिन कौन मानता है? असल में स्त्रियाँ खूब कपड़ा-लत्ता, गुरुवानी के लिए साड़ी वगैरह तथा (पूजा) रुपया देती हैं। इसीलिए उन्हें जानबूझ कर फँसाया गया है। मैंने बचपन में आँखों देखा कि जब गुरुजी या उनके पुत्र आते थे तो उन्हें खाट पर बैठा कर गाँव-घर की बड़ी बूढ़ी-औरतें एक थाल में जल लाती थीं। उसी जल से गुरु महाराज के दोनों पाँव पखारे जाते थे। उसी थाल में ही और वह जल घर, आँगन में चारों ओर छिड़का जाता था सभी चीजों को पवित्र करने के लिए। गुरुजी चाहे जूते पहन कर आय, या नंगे पाँव गन्दी चीजें तलवे में लगाये हुए, मगर यह विधान हर हालत में जरूरी था। उसके बाद फिर दूसरा पानी उसी थाल में लाया जाकर पुनरपि वह चरण उसमें धुलता था और वह जल सभी स्त्री-पुरुष, चेले-चेलियाँ, चुल्लू में लेकर पान कर जातीं और सिर पर छिड़क लेती थीं। कितनी गन्दी और नादानी की बात है। उसके बाद गुरुजी के भोजन के अनन्तर उनके जूठन की भी लूट होती थी। उसे प्रसाद कहते थे और अब भी कहते हैं। गुरुजी की और सेवाएँ तो मामूली बात हैं। जब वे चलने लगते तो सभी लोग (हर व्यक्ति) कुछ-न-कुछ द्रव्य उनके चरणों पर रखते थे, जिसे पहले भी और आज भी (पूजा) कहते हैं। यह अजीब बात है कि रुपये-पैसे को पूजा नाम दे डाला। गुरुजी लोग प्रायः हर साल चक्कर लगाया करते हैं, जिसे रामत भी कहा जाता है। हाँ, जब चेलों की संख्या बहुत हो जाती है तो सालाना (रामत) नहीं हो सकती। हर रामत में चेलों का धर्म है पूजा चढ़ाना और कपड़े-लत्ते देना। यदि बीच में विवाह हुआ तब तो और भी ज्यादा पूजा के हकदार गुरुजी हो जाते हैं। इस प्रकार उन्हें अपार आमदनी होती है। यह सबसे आसान और साथ-ही सबसे ज्यादा आमदनी का जरिया है। पूजा-सत्कार भी खूब ही होता है। इसलिए दुनिया में यह गुरुवाई

ही सबसे अच्छा पेशा है। यही कारण है कि बड़े-बड़े विवेकी और पण्डित भी, जो विचार-दृष्टि से इसका 'समर्थन' कभी नहीं कर सकते, इसमें लोभवश फँस जाते और हजारों चेले बना छोड़ते हैं।

मेरे ये विचार तो बेशक पीछे हुए बहुत पीछे, सभी बातों का अनुभव होने पर, जब कि मैं इस 'गुरुडम' के नग्नरूप को देख सका हूँ। लेकिन न जाने, क्यों अत्यन्त अल्पावस्था से ही, या यों कहिये कि शुरू से ही मेरी अनास्था और अप्रवृत्ति इस ओर स्वभावतः रही है। मैंने इस बात को कभी पसन्द नहीं किया। उपनयन के समय भी संयोगवश इस पाखण्डी 'गुरु मन्तर' का मौका न मिला, मैं इससे बच गया और सिर्फ गायत्री मन्त्र का ही मुझे उपदेश हमारे पुरोहितजी ने दिया, जैसा कि उचित ही था। यद्यपि शास्त्रानुसार पिता या बड़े भाई को ही यह गायत्री मन्त्रोपदेश देना चाहिए था न कि पुरोहित को, जैसा कि सभी ब्राह्मण दलों और इसीलिए भूमिहार ब्राह्मणों में भी तिर्हुत आदि में आज भी पाया जाता है। जुझौतिया ब्राह्मण तो उधर और गाँवों में हई नहीं। तथापि युक्तप्रान्त में यह प्रणाली थी नहीं और आज भी नहीं है। वहाँ पुरोहित या और ही कोई आचार्य बनता और गायत्री उपदेश करता है। यह बात सभी ब्राह्मण दलों की है। हमारे पिता आदि गायत्री जानते भी न थे। वे तो कोरे किसान थे।

बचपन से ही अनजान में ही, स्वभावतः मेरे भीतर ब्राह्मण धर्म और ब्राह्मणत्व में पूरी आस्था थी और इसका मुझे गर्व था। इसीलिए ब्राह्मणोचित सन्ध्योपासन आदि में मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति हुई। इसे देखकर एक-दूसरे सरयूपारी ब्राह्मण श्री हरिनारायण पाण्डेय ने, जो मेरे पुरोहित न थे, परन्तु समयानुसार संस्कृत के अच्छे पढ़े-लिखे धर्म-कर्म के जानकार और सन्ध्योपासन आदि के पक्के अनुष्ठान करने वाले थे, मुझे अपनी ओर खींचा और विस्तृत सन्ध्योपासन, स्नान, शौचादि की विधि बताई। मैंने शीघ्र ही सभी बातें याद कर लीं और दोनों समय तीन-तीन, चार-चार घण्टे तक इस काम में गुजरने लगे लेकिन खूबी यह थी कि पढ़ने-लिखने के काम में कोई त्रुटि नहीं होती थी। इससे घरवाले यों तो रंज न हुए, फिर भी धर्म-कर्म में ज्यादा लगने से घरबार त्यागकर विरागी होने का भय उन्हें लगने लगा। यह बात इधर-उधर कही भी जाने लगी। इस मामले में पं० हरिनारायण पाण्डेय काफी बदनाम भी थे कि वे लोगों को विरागी बना दिया करते हैं। एकाध बार उन्होंने स्वयं भी इस धुन में घरबार छोड़ा था। मगर पीछे लौट आये। कुछ औरों को भी ऐसा कराने का महान् अपराध उन पर था। इसी से लोग डरते थे।

गाँव में एक बूढ़े थे, जिनकी दशा नारद की सी थी और जो प्रायः इधर-उधर घूम कर बातें बहुत करते रहते थे। उन्होंने सन्ध्योपासन के प्राणायाम की खिल्ली उड़ाते हुए एक दिन कह डाला कि जो आदमी अपनी नाक दबा लेता है, उसे औरों की दबाने में क्या हिचक होगी? लेकिन बावजूद इस काना-फूसी और सनसनी के

मेरा काम अबाध चलता रहा। हाँ, श्री हरिनारायणजी ने योग की बहुत-सी पुस्तकें जमा कर रखी थीं और प्राणायाम तथा मुद्रा आदि का शौक उन्हें बहुत था। थोड़ा-बहुत इधर-उधर से उन्होंने सीखा भी था। बस, मुझे भी प्राणायाम और योगाभ्यास की चसक लगी। उसका अभ्यास भी करने लगा। पीछे चलकर इसी चसक ने तथा एतन्मूलक महान् वैराग्य ने मुझे एकाएक घरबार छोड़ योगी और ईश्वरप्राप्ति के लिए संन्यासी होने को विवश किया। इस प्रकार घरवालों का भय सही साबित हुआ। इसका उल्लेख प्रसंगानुसार आगे मिलेगा।

मेरा सम्बन्ध पं॰ हरिनारायण पाण्डेय के साथ दिनों-दिन घनिष्ठ होता गया और ज्यों-ज्यों इसे रोकने की चेष्टा होती, त्यों-त्यों मैं और भी हठपूर्वक इस सम्बन्ध को दृढ़ करता गया। असल में मेरा यह स्वभाव है कि जिस बात में पड़ता हूँ, उसमें विघ्न-बाधाएँ आने पर मुझे उससे विमुख करने के बजाय और भी उसमें संलग्न कर देती हैं। हाँ, यदि समझा-बुझाकर कोई मनाना चाहे तो बात दूसरी है। मगर दबाव के सामने झुकना तो मैंने जाना ही नहीं। यही बात आज भी पायी जाती है। इसीलिए बहुत से लोग मुझे जिद्दी और तानाशाह तक कह डालते हैं। परन्तु मैं इसे अपनी एक अपूर्व शक्ति समझ इसमें गर्व अनुभव करता हूँ।

इसका रहस्य समझ न सकने की लोगों की नादानी पर कभी-कभी मन-ही-मन हँसता भी हूँ। हाँ, तो मैंने पण्डितजी के साथ कोई पूर्वोक्त गुरु-मन्त्र का नाता तो नहीं जोड़ा, क्योंकि उसकी गुंजाइश थी ही नहीं। फिर भी उन्हें हृदय से गुरुवत् मानता था। वह भी मुझमें असीम प्रेम करते थे। उन्होंने कुछ संस्कृत पढ़ने का भी श्रीगणेश कराया, जो धीरे-धीरे बढ़ता-बढ़ता पीछे संस्कृत साहित्य में मुझे भरपूर प्रवेश करने में अन्ततोगत्वा समर्थ हुआ। यह बात जरूर है कि मैंने यह गुरुडम वाला नाता कभी पसन्द नहीं किया, इसका मैं सदा सख्त विरोधी रहा और आज भी हूँ। सहस्रों को इस अन्धपरम्परा से छुड़ाया और कभी एक भी शिष्य न बनाया। यहाँ तक कि किसी को संन्यास देकर भी शिष्य न बनाया। हालाँकि स्वयं तो संन्यास की दीक्षा ली थी ही। परन्तु यह अनिवार्य थी। मेरा एक प्रकार का यह निश्चय या संकल्प-सा है कि किसी प्रकार का शिष्य या चेला न बनाना और संन्यासी तो कभी किसी को बनाना ही नहीं। मुझे, बेशक, ऐसे मौके संन्यासी होने के बाद अनेक बार मिले, जिससे चेला बनाने में फँस ही जाता मगर किसी प्रकार चुपके से उठा, फन्दे से निकल भागा।

अध्ययन से संन्यास तक

(1)

गाजीपुर में–हिन्दी मिड्ल में

सन् 1902 ई. के आरम्भ में अपरप्राइमरी की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर घरवालों ने हिन्दी मिड्ल में पढ़ाने का निश्चय किया और मैं तदनुसार ही गाजीपुर के तहसीली स्कूल में, जो पुरानी कोट पर था, भर्ती हुआ। वहीं बोर्डिंग-हाउस में रहता और पढ़ता था। वहाँ कितने ही अध्यापकों से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध था। पढ़ने-लिखने में प्रवीण होने और स्वभावतः ही नटखट न होने के कारण यह प्रेम और सम्बन्ध अवश्यम्भावी था। लेकिन उसी जिले के विश्वम्भरपुर ग्राम के निवासी श्री अमृतराय से मेरी कुछ घनिष्ठता अधिक हो गयी। असल में वे तीक्ष्णबुद्धि थे और गणित से उनका प्रेम अधिक था। मेरी भी कुछ ऐसी ही दशा थी। गणित मेरे हृदय की वस्तु थी, यही कारण उस घनिष्ठता का है जो संन्यासी होने के बाद भी बराबर बनी रही है। श्रीअमृतराय मेरा जो आदर उस समय करते थे, संन्यासी होने पर भी, कभी-कभी मिलने पर, उससे कहीं ज्यादा आदर-सत्कार करते थे। उन्होंने परिश्रम तो बहुत किया और धन भी कमाया। मगर घरवालों और पड़ोसियों की दुर्बुद्धि से और परिवार के जिन लोगों को पढ़ा-लिखा के ठीक किया उनके अकाल मर-मरा जाने से वे सदा दुःखी रहे। मिलने पर वे बराबर यही दुखड़ा रोते रहे।

मेरे गणित-प्रेम की यह हालत थी कि कठिन-से-कठिन प्रश्नों से फौरन लिपट जाता और तब तक दम नहीं लेता जब तक उन्हें सिद्ध नहीं कर पाता, कभी-कभी कई दिनों तक उन्हीं के धुन में लगा रहता तब कहीं उनको ठिकाने ला पाता। प्रायः ऐसा होता था कि जब मैं पाखाने जाता तब भी उन्हें सोचता रहता और अधिकांश में पाखाने के समय ही उनका ठीक उत्तर तथा सुलझाने का रास्ता निकल आता। इससे मुझे आश्चर्य होता था सही, लेकिन मैंने यह प्रणाली बराबर जारी रखी। खास कर कठिनतम प्रश्नों की सुलझन तो उसी समय कर ही लेता। पीछे, जब मैंने श्रीअमृतराय तथा औरों से यह बात कही तो, उन्होंने कहा कि पाखाने के समय अन्तःकरण की सभी वृत्तियाँ स्वभावतः एकाग्र हो जाती हैं और कठिन-से-कठिन प्रश्न उस समय सूझ पड़ते हैं। यह बात सही है। तब से मैंने इसकी परीक्षा और प्रकारों से भी की है। अन्तर इतना ही है कि पाखाना स्वाभाविक रूप से होता हो, वह किसी गड़बड़ी या बीमारी के करते न हो। तहसीली स्कूल में पहला ही मौका था, जब मैं सख्त बुखार में फँसा, जो जल्दी नहीं उतरा। पहले तो खूब याद है, यदि कभी बुखार आया तो खाना-पीना छोड़ दिया और चौबीस घण्टे में साफ हो गया। लोग सिर्फ सर-दर्द को दूर करने के लिए सरसों पानी में पीस कर ललाट में लगा देते

थे। दूसरी दवा न होती थी। मगर इस बार ऐसा न हुआ। पढ़े-लिखे लोग थे, उन्होंने **उसे** दूर करने के लिए कुनाइन बहुत खिलाई। मैं अच्छा तो हो गया, मगर कुनाइन की गर्मी पेट में पैदा हो गयी, रगों में घुस गयी। शायद, गाय का दूध पीना चाहिए था, पर मैंने कुछ जाना-समझा नहीं। इस कुनाइन ने आगे मुझे बहुत ही दिक किया।

मिड्ल की दो ही श्रेणियाँ थीं और दोनों में निर्बाध पढ़ना चलता रहा। इस बीच पूजा-पाठ में कोई कमी न होने पायी। बीच-बीच में जब घर जाता तो पं॰ हरिनारायणजी से भेंट होती और वहाँ रहने तक बराबर सत्संग होता रहता। हाँ, एक बात यह भी कहनी है कि अभी बी.एन. डब्ल्यू. रेलवे की लाइन गाजीपुर की ओर और देवा की ओर भी (क्योंकि बनारस से पूर्वोत्तर औंरिहार से एक लाइन गाजीपुर होती हुई छपरा जाती है और दूसरी दूलहपुर मऊ होती हुई, भटनी) शीघ्र ही बनी थी। इसलिए कभी उससे और कभी पैदल ही घर जाना होता था। दूलहपुर वाली लाइन तो जलालाबाद में पढ़ने के समय ही बनी थी। एक समय जब पहले-पहल लाइन बनाने का सामान लेकर बालिस ट्रेन आयी तो हम लोग देखने गये। लेकिन जब रवाना होने के समय उसने सीटी दी तो वह अभूतपूर्व आवाज सुनकर डर के मारे हम सभी एक-दूसरे के ऊपर गिरते-पड़ते भागे।

अपर प्राइमरी की पढ़ाई की एक बात कहना पहले भूल गया। उस समय लोअर क्लास में एक पैसा और अपर में दो पैसा फीस देनी पड़ती थी। इधर आकर तो वह कई आने तक बढ़ा दी गयी। यह है सरकार के द्वारा प्राइमरी शिक्षा को सुलभ बनाने का एक निराला नमूना!

मिड्ल की अन्तिम परीक्षा यूनिवर्सिटी की मानी जाती थी और उसका परिणाम सरकारी गजट में छपता था। मेरी वह परीक्षा सन् 1904 ई. के शुरू में हुई। गर्मियों में जब मैं ननिहाल जाकर मामूजी के साथ आजमगढ़ शहर में गया था, उसका परीक्षा-फल निकला। हमने और मामूजी ने स्वयं गजट देखी और पक्का निश्चय किया। युक्तप्रान्त के सभी हिन्दी मिड्ल स्कूलों की परीक्षा का फल एक ही साथ निकला था। और कितने ही सहस्र छात्र उत्तीर्ण हुए थे। प्रान्त में मेरा नम्बर सातवाँ था। **इस प्रकार निश्चय हो गया कि मुझे सरकारी छात्रवृत्ति (स्कॉलरशिप) अब जरूर मिलेगी और इस प्रकार मेरे पढ़ाने के खर्च के सम्बन्ध में घरवालों का भार हल्का हो जायगा।** ठीक याद नहीं कि चार, पाँच या छः रुपये वृत्ति मिला करती थी और वे सस्ती के दिन थे। फलतः, थोड़े ही पैसों से काम चल जाता था। मुझे खूब याद है कि अट्ठाईस गण्डे के सेर से दो सेर घी एक रुपये का मिलता था। मैं आजमगढ़ से घर लौटा खुशी में ओतप्रोत। वहाँ निश्चय हो गया कि अंग्रेजी पढ़ूँगा।

तहसीली स्कूल में पढ़ने के समय मैंने हिन्दी के साथ उर्दू का भी कुछ-न-कुछ अभ्यास जारी रखा, हालाँकि, पहले-जैसी सुविधा न थी। क्योंकि उर्दू का क्लास अलग होता था और उसके अध्यापक मौलवी साहब थे। इसलिए पाठ सुनने का मौका नहीं

लगता था। फिर भी प्रयत्न करने से क्या नहीं होता। उस समय उर्दू में 'बहारिस्तान' नाम की किताब पढ़ाई जाती थी, जो कि बहुत ही कठिन मानी जाती थी। नयी निकली थी। मैंने उसका थोड़ा-बहुत अभ्यास किया और व्याकरण (कवायद) का भी। वहीं गाजीपुर के निकट तारी-घाट के श्री लोटू सिंह से साथ हुआ, जो अंग्रेजी पढ़ने के समय भी रहा। संन्यास लेने पर भी वह प्रेम बहुत कुछ चलता रहा। वे थे कट्टर शिवभक्त, विभूति लगाने वाले और लम्बी रुद्राक्ष माला पहनने वाले। उनकी वह माला तो इधर बहुत दिनों तक बराबर रही है। मेरी ही तरह खान-पान में उनकी भी छुआछूत खूब ही चलती थी। इस खान-पान और छुआछूत के बारे में आगे लिखा जायगा।

(2)

अंग्रेजी पढ़ाई–मिशन स्कूल

महीना तो ठीक याद नहीं, लेकिन गर्मियों की छुट्टी के बाद ही स्कूल खुलने पर मैं गाजीपुर के जर्मन-मिशन-हाई इंगलिश-स्कूल के स्पेशल क्लास में प्रविष्ट हुआ। असल में वर्नाक्यूलर हिन्दी या उर्दू, मिड्ल पास करके जो अंग्रेजी पढ़ना चाहते थे, उन्हें दस वर्ष के बजाय पाँच ही वर्ष में मैट्रिक्युलेशन पास करा देने का खास प्रबन्ध उस समय था। पता नहीं, वह व्यवस्था अब है या नहीं। ऐसे छात्र गणित, भूगोल आदि तो जानते ही थे। केवल अंग्रेजी की पढ़ाई में उन्हें अधिक समय देना पड़ता था। गाजीपुर में विक्टोरिया और मिशन दो हाई स्कूल होने पर भी ऐसी व्यवस्था सिर्फ जर्मन-मिशन-स्कूल में ही थी। यहाँ इसके लिए स्पेशल क्लास था, जो सिक्स्थ या छठे क्लास के समकक्ष था। उस समय यह भी बात थी कि दसवीं कक्षा (अब तो ग्यारहवीं हो गयी है) या मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा में शामिल होने वालों के लिए विज्ञान (साइंस), संस्कृत या फारसी तीनों में एक पढ़ना जरूरी था। इसलिए स्पेशल क्लास में संस्कृत भी पढ़ना होता था। मेरा तो उस ओर स्वयं झुकाव था। फलतः पाठ्य पुस्तकें 'ऋजु व्याकरण' आदि के सिवाय मैं 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' भी पढ़ने लगा। इसमें शक नहीं कि कुछ तो पहले का संस्कार, कुछ क्लास की पढ़ाई और कुछ खास तौर से अंग्रेजी के साथ ही 'लघु कौमुदी' पढ़ने के कारण संस्कृत में मेरा कामचलाऊ प्रवेश होने लगा। स्कूल छोड़ते-छोड़ते अच्छा प्रवेश हो गया।

धार्मिक मनोवृत्ति की बात यह थी कि मेरी प्रवृत्ति अंग्रेजी और संस्कृत के साथ ही धर्म में बढ़ती गयी। मैं हरिशंकरी महल्ले के निकट महाजन टोली के एक प्रसिद्ध शिव मन्दिर में, जिसका नाम गुणेश्वर महादेव है, रहने लगा। वहाँ पूजा-पाठ में आसानी होती थी। एक बूढ़ी मारवाड़िन और एक गेरुआधारी बाबा उसमें रहते थे। वे दोनों ही मुझे बहुत प्यार करते थे। मेरी हालत यह थी कि पहले तो चमड़े

के जूते पहनता था। लेकिन पीछे उसे छोड़ रोपसोल वाला कपड़े या कनवास का जूता पहनने लगा जो संन्यास लेने के बाद भी हाल तक रहा है। सिर्फ इधर प्रायः तीन-चार वर्षों से ही मैंने फिर चमड़े का जूता पहनना शुरू कर दिया है। इसकी भी विशेष चर्चा आगे की जायगी। हाँ, कपड़े वाला जूता इधर छोड़ने के पहले रबरटायर के सोल का जूता पहनने लगा था; कारण, रोपसोल अच्छा मिलता न था। जूते के सिवाय स्कूल में जो कोट, कुर्ता वगैरह पहनता था वह वहाँ से आने के बाद अलग रख देता था और जाने के पहले उसे छूता तक न था। छुआछूत की यहाँ तक हालत थी। सभी तरह के लोगों के साथ स्कूल में सम्पर्क होने से मैं उस कपड़े को भी और समय अस्पृश्य समझता था और अगर कदाचित् कभी छू लिया तो स्नान करना पड़ता था। स्कूली कपड़ा पहने पानी तक भी न पीता था। धार्मिक कट्टरता बहुत बढ़ी थी—गजब की थी।

स्कूल की हालत यह थी कि मिशन होने के कारण उसमें बाइबिल पढ़ना जरूरी था। फलतः उसी अवस्था में मैंने बाइबिल पढ़कर उसकी बातें जान लीं। यद्यपि गत यूरोपीय महासमर के समय अंग्रेजी सरकार ने जर्मनी के मिशन का स्कूल होने के कारण उसे जब्त कर लिया और अब उसका नाम **सिटी हाई स्कूल** है। तथापि उस समय तो जर्मन मिशन का ही था। उसमें भारतीय पादरी लोग बाइबिल पढ़ाते थे और कभी-कभी जर्मन-साहब भी। पढ़ाने में स्वभावतः और धर्मों की ओर खासकर हिन्दू धर्म की समालोचना तो वे लोग करते ही थे। लेकिन मुझे यह बात असह्य थी। एक साहब पढ़ा रहे थे और उन्होंने ऐसी समालोचना कर डाली। मैं बर्दाश्त न कर सका और यह जानते हुए भी कि स्कूल के वही मालिक हैं, मैंने खड़े होकर चट कह दिया कि यह स्कूल है या धर्मों के खण्डन-मण्डन की शाला। साहब ने इसे अपमान समझ मुझे धमकाया सही, लेकिन आगे के लिए कम-से-कम मेरे सामने यह बात रुक गयी।

जब स्पेशल क्लास पहली श्रेणी (क्योंकि फर्स्ट स्पेशल और सेकेण्ड स्पेशल के नाम से उसके दो विभाग थे और दो वर्ष में पूरे होते थे) पास करके दूसरी में पहुँचा जो उस समय सेवेन्थ या सातवीं कक्षा के समान थी तो एक प्रश्न पैदा हुआ। उससे अगली आठवीं कक्षा, जिसे उस समय मिड्ल भी कहते थे, में जाने पर स्कॉलरशिप या छात्रवृत्ति की परीक्षा यूनिवर्सिटी की ओर से वर्ष के अन्त में होती थी। अध्यापकों का खयाल हुआ कि जो अवस्था मेरी रजिस्टर-दर्ज है उसके हिसाब से वह वर्ष बीतते-न-बीतते मेरी उम्र कुछ महीने बढ़ जायगी और छात्रवृत्ति की परीक्षा से महरूम हो जाऊँगा। इसलिए अध्यापकों की राय हुई कि मैं दोनों कक्षाओं की परीक्षा एक ही साल में दे दूँ तो काम चले। नहीं तो सोलह रुपये खर्च करके सिविल सर्जन से कम उम्र का प्रमाण-पत्र (सर्टिफिकेट) लेना पड़ेगा। मेरे एक साथी ने ऐसा ही किया। मगर मैंने सात और आठ दोनों ही क्लासों की तैयारी एक ही साल कर लेना ही

आसान समझा और उसमें सफल भी हो गया। छात्रवृत्ति की परीक्षा बनारस क्वीन्स कॉलेज स्कूल भवन में हुई और मैं बहुत अच्छी तरह उत्तीर्ण हुआ। इस बार मेरा नम्बर यूनिवर्सिटी में पाँचवाँ था। असल में जल्दबाजी के कारण अंग्रेजी की कमजोरी ने ही शायद पाँचवाँ स्थान दिया। नहीं तो ऊपर जाना जरूरी था। पहले से मिड्ल वाली छात्रवृत्ति तो थी ही। लेकिन इस परीक्षा से एक-दो रुपये ज्यादा मिलने लगे।

मिड्ल क्लास में हमारे एक मास्टर साहब थे जिनका नाम श्री सूर्यप्रसाद था। वे काशी के रहने वाले बहुत ही भले आदमी थे। वे मुझे बहुत प्यार करते थे। वे अंग्रेजी पढ़ाते रहे, जब तक मैंने मिड्ल या आठवीं श्रेणी की परीक्षा न दी। ऑफिस का काम भी उनके जिम्मे था। साथ ही वह थे बड़े ही तीक्ष्ण बुद्धि भी। जब मैं संन्यासी होने के बाद सन् 1907 ई. में गाजीपुर गया और पहाड़खाँवाले तालाब के दक्षिणवाले घर में, जिसमें पहले भी कभी-कभी जाया करता था, ठहरा तो और लोगों और स्कूल के अध्यापकों के साथ वह भी वहाँ मुझसे मिलने गये। वे मुझे देख रो पड़े। मैंने पूछा कि मैंने कौन-सा बुरा काम किया है कि आप रो रहे हैं, तो चट उन्होंने कहा कि 'महाराज' अगर अपना कोई सगा या प्रेमी मर कर बैकुण्ठ भी जाने वाला हो तो भी लोग रोते ही हैं। हालाँकि तर्क दृष्टि से तो खुश ही होना चाहिए, इसका उत्तर मेरे पास न था।

जब सन् 1906 ई. में नाइन्थक्लास, नौवींश्रेणी या मैट्रिक्युलेशन की पूर्व वाली कक्षा में पहुँचा तो अध्यापकों का विचार होने लगा कि अगले साल (1907 में) मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा में मुझे यूनिवर्सिटी में फर्स्ट होना चाहिए और यह कोई बड़ी बात नहीं है, यदि मैं कुछ ज्यादा परिश्रम करके अंग्रेजी मजबूत कर लूँ। मास्टर लोग भी मेरे पूजा पाठ से घबराते थे और चाहते थे कि ज्यादा समय उसमें न देकर अंग्रेजी में लगाऊँ इधर मेरी अजीब हालत थी। दिल पढ़ने में लगता न था और रह-रह के संन्यास लेने को तड़पता था। इसकी कहानी आगे लिखी है। घरवाले भी दबाव डालते थे और बिगड़ते थे कि मैं धर्म-कर्म का इतना लम्बा पवारा छोड़कर पढ़ने में मन ज्यादा क्यों नहीं देता उन्हें भी भय था कि कहीं मैं वैरागी होकर जंगल में न चला जाऊँ। इसीलिए पं. हरिनारायण पाण्डेयजी से वे लोग बहुत ही रंज रहते थे। कभी-कभी उन्हें बुरा-भला भी सुनाते थे। लेकिन मैं रुकनेवाला कब था। मेरा काम निर्बाध चलता था जो बाधाएँ देख कर और भी तेज हो जाता था।

(3)

पहली बार वैराग्य

सन् 1906 ई. की ही बात है। मैं किसी छुट्टी में घर गया था और वहाँ से गाजीपुर

लौटा। गर्मी के दिन थे। चुपके से एक दिन बनारस का टिकट कटवाकर गाड़ी में बैठा और हरद्वार के लिए रवाना हो गया, ताकि वहाँ संन्यास लूँ। हाँ, गर्मियों की छुट्टी के बाद लौटा था और जुलाई का शुरू था। संन्यास लेने के महीने बीत चले थे। क्योंकि वर्षा में संन्यास की मनाही शास्त्रों ने की है, ऐसा मैं जानता था। इसलिए जल्दी में रवाना हो गया और किसी से भी नहीं कहा। बनारस में चाहा कि हरद्वार का टिकट ले लूँ। पर न मिला और अन्त में इसी ने गड़बड़ी की। खैर, लखनऊ का टिकट लेकर ट्रेन में बैठा और अगले दिन सुबह लखनऊ पहुँचा। स्नान वगैरह कुछ किया न था और न शौचादि ही गया। रेल में या कल के पानी से तो यह काम कर भी न सकता था। क्योंकि उस जल के प्रयोग की आदत थी ही नहीं, उससे नफरत थी। इसलिए फौरन टिकट लेकर गाड़ी में बैठा और हरद्वार की ओर बढ़ा। लखनऊ के बाद काकोरी स्टेशन पर पहुँच कर मैंने सोचा यहीं नित्य कर्म, स्नानादि करके कुछ खा लूँ, तब दूसरी ट्रेन से आगे बढ़ूँगा। बस, उतर पड़ा और सभी कामों से फारिग हुआ। ट्रेन मिलने में देर थी। इतने में बैठे-बैठे खयाल आया एकाएक, कि कहीं हरद्वार पहुँचकर योग्य संन्यासी गुरु ढूँढ़ने में देर लग गयी और संन्यास का समय बीत गया तो? तब तो बुरा होगा और यों ही प्रतीक्षा करनी होगी लगातार कई महीनों तक और इस बीच में घरवाले पता लगा करके ही पकड़ ले गये तब तो और भी बुरा होगा। असल में मैं किसी संन्यासी से परिचित न था और डरता था कि यदि वे लोग कहीं फौरन संन्यास न देकर परीक्षार्थ रख छोड़े तो इस समय संन्यासी बन न सकूँगा। यह खयाल रह-रहकर तेज होने लगा और अन्त में मैंने तय किया कि तब तो अच्छा है कि चुपके से गाजीपुर लौट चलूँ। इस प्रकार कोई जानेगा भी नहीं और आगे जब चाहूँगा धीरे से भाग कर संन्यास ले सकता हूँ। लेकिन यदि कहीं इस बार संन्यास में अड़चन होने से यों ही पकड़ा गया तो सदा के लिए मेरे ऊपर कड़ा पहरा घरवालों का बैठ जायेगा और आगे संन्यास लेना असम्भव नहीं, तो कठिनतम जरूर हो जायगा। इसलिए अन्त में लौट चलने का ही निश्चय हुआ। फलतः काकोरी से लौटती ट्रेन में बैठकर मैं चुपके से गाजीपुर आकर स्कूल खुलने पर उसमें दाखिल हो गया। लोगों ने समझा कि छुट्टी के बाद घर से आया हूँ। असल में छुट्टी बीतने के दो-एक दिन पूर्व ही घर से चल पड़ा था। इसीलिए किसी को पता न लगा। नहीं तो स्कूल से एक दिन की भी अनुपस्थिति होने पर तूफान मचता और खामखाह शक होने से पूछताछ होती। इसीलिए तो पहले ही चालाकी की थी। यहाँ पर प्रसंगवश एक बात कह दूँ। जब पीछे मैंने इधर आकर काकोरी ट्रेन डकैती की बात अखबारों में पढ़ी तो मेरी आँखों के सामने काकोरी का नक्शा आ गया वही काकोरी जिसने संन्यासी होते-होते मुझे वापस आने में न जाने कैसे हाथ बँटाया।

(4)

विवाह और स्त्री की मृत्यु

आगे बढ़ने से पूर्व मुझे अपने विवाह की दास्तान कह देना जरूरी है। जहाँ तक याद है गाजीपुर की पढ़ाई की पहली किस्त यानी हिन्दी मिड्ल की परीक्षा में उत्तीर्ण होते-न-होते मेरा विवाह गर्मियों के दिनों में हो गया। यहाँ साफ कह दूँ कि यह विवाह यद्यपि छोटी ही उम्र में हुआ और मेर मन विरागी जैसा रहता था, तथापि मैंने इसे एक प्रकार से पसन्द ही किया जिसका साफ अर्थ है कि उस समय घर-बार छोड़ने की न तो कोई धारणा थी और न सम्भावना। नहीं तो मेरी ओर से किसी-न-किसी प्रकार की अरुचि दिखलाई जरूर जाती। अन्यान्य कारणों के साथ घरवालों की यह धारणा भी कि "यह लड़का शीघ्र ही विवाह बन्धन में फँसा दिया जाय, नहीं तो कहीं संन्यासी न बन जाय" शायद इस अल्पावस्था की शादी में कारण था। यह बात दूसरी शादी की तैयारी से, जो पहली स्त्री के मरते ही गुप-चुप की जा रही थी, पीछे स्पष्ट भी हो गयी। लेकिन अच्छी बात एक यही थी कि जहाँ मेरी उम्र कम थी वहाँ लड़की की भी कम ही थी। ग़ाजीपुर जिले के ही मौधिया गाँव में, जो सादात स्टेशन के पास है, मेरा विवाह हुआ था। विवाह के अगले वर्ष या यों कहिये कि कुछ महीने बाद मेरा द्विरागमन भी हो गया और वधू मेरे घर आ गयी। मालूम होता है, इसके करते घरवाले मेरी ओर से कुछ निश्चिन्त हो गये।

लेकिन मालूम होता है उस लड़की का और मेरा स्थायी सम्बन्ध बदा ही न था। या यों कहिये कि यदि वह जीवित रहती और मैं संन्यासी बन जाता तो जो अपार कष्ट उसे भोगना पड़ता वह उसके हिस्से का था नहीं। इसीलिए जहाँ तक मुझे याद है विवाह के दो ही वर्ष के भीतर एकाएक उसका शरीरान्त हो गया। सम्भवतः सन् 1906 ई. के जाड़ों की बात है। या यों समझिये कि 1905 ई. के अन्त या 1906 के शुरू में ही उसकी मौत हुई। इससे मुझे एक प्रकार की बड़ी खुशी हुई, कारण, दो वर्ष में मेरे भीतर बड़ा ही परिवर्तन हो गया था और धीरे-धीरे मन में संन्यास की बात उठने लगी थी जैसा कि कही चुका हूँ। मुझे जहाँ तक याद है, स्त्री की मृत्यु के बाद ही मैं पहली बार हरद्वार के लिए चलकर काकोरी से लौटा था। उस मौत से मैंने माना कि एक बड़ा बन्धन हटा। क्योंकि मेरा सदा से विचार रहा है कि माता और स्त्री इन दो की जवाबदेही हर आदमी पर या कम-से-कम हर हिन्दू पर रहती है, इन दोनों को कष्ट और यन्त्रणा देनेवालों का भला कभी नहीं होता और अगर नरक नाम का कोई पीड़ाप्रद स्थान है तो वे वहाँ जरूर जाते हैं। पहले यह विचार स्वाभाविक ही था। पीछे तो शास्त्र पढ़कर इसकी पर्याप्त पुष्टि हो गयी।

खैर, बीच रास्ते से, जैसा कि कह चुका हूँ, लौटकर मैं चुपचाप पढ़ने में लग गया और मेरी धारणा अब कुछ ऐसी हो गयी कि मालूम होता है, कुछ समय तक यों ही रहना और पढ़ना पड़ेगा। न जानें उस असम्पूर्ण और असफल हरद्वार यात्रा ने मेरे दिल पर क्यों ऐसा असर किया। मालूम होता है, सर्वप्रथम प्रयत्न की असफलता का ही यह फल था। प्रयत्न तो ऐसा सोच कर किया था कि किसी को भेद तक न मालूम हुआ। यहाँ तक कि कोई शक भी न कर सका। मगर फिर भी विफल होने से दिल पर कुछ ऐसा ही प्रभाव पड़ा और मैं कुछ समय या कुछ वर्षों के लिए संन्यास को असम्भव समझ बैठा। होता भी शायद कुछ ऐसा ही। मगर जो लोग सबसे ज्यादा इसके फिक्रमन्द थे कि मैं संन्यासी न होऊँ उन्हीं घरवालों की अनजान भूल ने ऐसा होने न दिया।

जहाँ तक याद है, हरद्वार के बीच रास्ते से लौट आने के बाद ही दो संन्यासी काशी से आये और उसी गुनेश्वरनाथजी के मन्दिर में ठहरे जहाँ मैं था। उनसे बहुत-सी बातें हुईं और उनने काशी के अपार नाथ मठ का, जहाँ वे ठहरते थे, परिचय दिया। इस प्रकार पहले पहल यह पता तो चला कि कहाँ जाकर आसानी से संन्यासियों से मिल सकता हूँ। यहाँ यह भी कह देना चाहता हूँ कि यद्यपि संन्यासियों के दस नाम, पदवियाँ या विभाग हैं और इनमें सिर्फ तीन ही—तीर्थ, आश्रम, सरस्वती-दण्डी संन्यासी हैं। शेष भारती, पुरी, बन, आरण्य, गिरि, पर्वत, सागर इन सातों को दण्ड नहीं हैं। या यों कहिये कि उनका दण्ड छिन गया है, वे दण्ड नहीं रखते, नहीं रख सकते। तथापि मैं पहले यह बातें नहीं जानता था और मुझे यह भी पता नहीं था कि ब्राह्मण को संन्यास लेने के समय दण्ड लेना ही चाहिए। क्योंकि ब्राह्मण ही दण्डी हो सकता है, शेष वर्ण नहीं। इसीलिए भारती, पुरी आदि नाम धारियों में सभी वर्ण के लोग पाये जाते हैं।

दण्डी का यह अर्थ है कि संन्यासियों के हाथों में बराबर बाँस का एक दण्ड (लाठी) रहता है जिसके बनाने की खास रीति है जिसे आज तक भी दूसरे लोग जान न सके हैं। क्योंकि बहुत ही सख्ती के साथ यह रीति गुप्त रखी गयी हैं। उसका नाप-जोख और बाहरी रूप चाहे कोई भले ही जान ले। लेकिन उसमें जो परशु के आकार का कपड़ा, जिसे परशुमुद्रा कहते हैं, बँधा रहता है, जिस विचित्र प्रकार गुँथे सूत से बँधा रहता है, जिसे परशुसूत्र कहते हैं और उस दण्ड के बीच में जो सफेद सूत्र (यज्ञोपवीत) को निराले ढंग से लपेट कर एक मुद्रा या आकृति बनायी जाती है, इन सभी बातों को दूसरे लोग अब तक जान न सके हैं। या यों कहें कि उनका जानना आसान नहीं है। दण्डी लोग जब बैठे या सोये हों तो उस दण्ड को भूमि पर न रख जमीन से ऊपर किसी खूँटी वगैरह के सहारे खास ढंग से टाँग देते हैं और मन्दिरों में जाने पर स्वयं हाथ से देवता की मूर्त्ति न छू उसी दण्ड से उसे स्पर्श करते हैं।

हाँ, तो इस प्रकार संन्यासियों और कम-से-कम उनके एक स्थान का परिचय मुझे मिल गया और सोचा कि मौके पर शायद काम आवे।

(5)

संन्यास

इस प्रकार मैं 1906 ई. में पढ़ने लगा और सोचता था कि सन् 1907 में खूब पढ़कर मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा उत्तमरीति से पास करूँ। लेकिन घरवाले जहाँ मेरे साथ बहुत सतर्कता से व्यवहार करते और एक तरह का पहरा मेरे ऊपर रखते कि मैं पं. हरिनारायण जी से घर आने पर भी न मिल सकूँ, तहाँ साथ ही उन्हें इस बात की फिक्र लगी कि किसी प्रकार मेरी दूसरी शादी हो जाय तो ठीक हो जाय और बन्धन ज़रा कस जाय। दूसरी शादी का पता तो मुझे देर तक लगा ही नहीं। वह बात कुछ यों ही छिपा कर रखी गयी। शायद वे लोग डरते थे कि पता लगने पर कहीं मैं एकाएक पहले ही भाग न जाऊँ। फिर भी उन लोगों का जो पहरा और दबाव था वह दिनोंदिन बढ़ने लगा और मेरी बर्दाश्त के बाहर होने लगा। असल में जिस मतलब से उन्होंने यह किया फल उसके ठीक उलटा हुआ। बात यह है कि या तो उन लोगों को ऐसी बातों का पूरा अनुभव न था या वे मेरे उस स्वभाव को जान न सके जिसके अनुसार 'न दैन्यं न पलायनम्' के सिद्धान्त का मैं बचपन से ही दिली हामी हूँ। सिद्धान्त तो यह है कि जो बन्धन शिथिल होता है उस पर पानी या ठण्डक पड़ने से ही वह फिर कड़ा हो जाता है। गर्मी से तो वह और भी ढीला होता जाता है। लेकिन वे लोग यह बात समझ न सके।

इधर सन् 1906 ई. बीत गया और मैट्रिक के पूर्व का पढ़ना पूरा करके मैं मैट्रिक की तैयारी में ही था कि एकाएक 1907 की जनवरी के अन्त या फरवरी के शुरू में ही किसी प्रकार मुझे पता लग ही गया तो कि दूसरी शादी की तैयारी हो रही है, सो भी पहली ही लड़की की बहन से। बस, अब क्या था? मैं सजग हो गया और निश्चय कर लिया कि उसी फरवरी मास में जो महाशिवरात्रि आने वाली थी उसी समय काशी जाकर अवश्य ही संन्यास ले लूँगा। मैंने सोचा कि "माता तो स्वर्गीया हो गयी है। अतः उसका बन्धन तो है नहीं और जिसने मुझे माता के स्थान पर पाला उसके प्रति मेरी वह जवाबदेही तो है नहीं जो प्रसू या जन्मदात्री के प्रति है। साथ ही, उसका खास एक लड़का और मेरे कई भाई तो हईं, जो उसकी खबर लेते ही रहेंगे। रह गया स्त्री का बन्धन, सो तो छूट ही गया है, मगर पुनरपि जुटना चाहता है। फिर विवाह हो जाने पर तो संन्यास असम्भव हो जायगा। इसलिए अब देर करने से पछताना होगा।" मैं तो मानता हूँ कि स्त्री और माता के रहते

या तो संन्यास नहीं ही लेना चाहिए या अगर लेना भी हो तो उन दोनों की रजामन्दी से ही लेना चाहिए, श्री शंकराचार्य के स्त्री तो थी नहीं और माता से आज्ञा लेकर ही वे संन्यासी बने।

मुझे इस समय तारीख तो याद नहीं। लेकिन सन् 1907 ई. की फरवरी में, महाशिवरात्रि के कुछ ही दिन पूर्व, मैं एकाएक काशी अपारनाथ के मठ में, जो ढुंढिराज गणेश के पास है, जा पहुँचा। वहाँ वे पुराने परिचित संन्यासी मिल गये। उनसे मैंने अपना संकल्प सुनाया। वे लोग राजी हो गये। वहीं रहने वाले एक अच्छे संस्कृत दर्शन के ज्ञाता वृद्ध संन्यासी श्री अच्युतानन्दगिरि जी महाराज से उन्होंने मुझे संन्यासी बनाने को कहा। वे तैयार भी हो गये। मैं पास में कुछ रुपये भी लेता गया था जिससे पूजापाठ का सामान वगैरह खरीदा जाय। सब तैयारी हो गयी और जब तक घर वालों या बाहरी दुनियाँ को पता ही न लगा तभी तक मैं सिरमुण्डन करवा और गेरुवावस्त्र पहन संन्यासी बन गया, मेरा नया नाम हुआ सहजानन्द। यह काम इतनी जल्दी में किया गया कि आश्चर्य था। क्योंकि मुझे डर बराबर लगा था कि घरवाले हवा पाते ही चारों ओर दौड़ पड़ेंगे और ढूँढ़-ढाँढ़ कर मुझे जरूर पकड़ ले जायँगे। यह कल्पना रह-रह के बेचैन किये देती थी। लेकिन अन्ततोगत्वा मेरा मनोरथ पूरा हुआ और उस समय मुझ जैसा सुखिया, मेरे जानते, शायद ही कोई रहा हो। इस प्रकार मास्टरों की और मेरी भी सोची मैट्रिक की परीक्षा में यूनिवर्सिटी में फर्स्ट होने की बात पूरी होते-होते रह गयी। कोई सोच भी न सका था कि ऐसा होगा। ठीक ही कहा है कि आदमी तो भविष्य की बातों को जान नहीं सकता और न जाने किस-किस उमंग के साथ क्या-क्या सोचा करता है कि यह करेंगे, वह करेंगे। मगर, होनहार अचानक सभी मनोरथों को मटियामेट कर देती है।

> ''अन्यथा चिन्तयत्यज्ञो, हर्षापूरित मानसः
> विधिस्त्वेष महावैरी, कुरुते कार्यमन्यथा''।।

अस्तु, इस प्रकार अट्ठारह वर्ष की आयु होते-न-होते, मेरे जीवन के नाटक का एक काण्ड या एक भाग प्रथम भाग, पूरा का पूरा गुजर गया। और उन्नीसवें वर्ष के श्रीगणेश के साथ ही मध्य भाग शुरू हुआ। यह पूर्व भाग कुछ ऐसा था कि इसमें विशेष अनुभव और जानकारी की गुंजाइश न थी। यह तो एक प्रकार से बचपन का ही समय था। अनुभव की बात तो आगे आने वाली थी।

मध्य भाग–पूर्व खण्ड

(1)

संन्यास के उपरान्त

जहाँ तक मुझे स्मरण है, मेरे संन्यास की बात पं. हरिनारायण पाण्डे के अलावे और किसी को पहले मालूम न थी। मगर गाजीपुर से हटते ही सनसनी मची और अगर मैं भूल नहीं करता हूँ तो मैंने संन्यासी होते ही घरवालों को एक पत्र भी लिख दिया कि अब मेरी आशा छोड़ दें। फिर क्या था, उन पर तो वज्र ही गिरा। किन-किन आशाओं से और मनोरथों को लेकर उन लोगों ने मुझे पढ़ाया था। घर-गिरस्ती के काम से मुझे बचपन से ही अलग रखा और मैं उन मामलों में अनभिज्ञ ही रहा। **वे समझते थे, लड़का होनहार है, पढ़-लिख के कुछ अच्छा धन और यश कमायेगा और उनके कष्ट और आर्थिक संकट दूर करेगा।** लेकिन एकाएक सभी चीजें खत्म हो गयीं, जैसे मनोराज्य और सपने की दुनियाँ की रही हों! पीछे मैंने जो कुछ देखा उससे तो यही पता लगा कि सभी लोग अर्द्धमृत से हो गये और बेहोश थे। श्री हरिनारायण जी पर तो उनके गुस्से का ठिकाना न रहा। क्योंकि उनने जानते हुए भी न बताया यह उन लोगों की धारणा जबर्दस्त थी।

खैर, तो खबर पाते ही कुछ आदमियों के साथ मेरे चचेरे भाई साहब अपारनाथ मठ में आये। उनने बड़ा रोना-गाना फैलाया, तूफान किया और मुझे एक बार घर ले चलना चाहा, ताकि और सबों को समझा-बुझाकर आश्वासन तो दे दूँ। मगर मैं कब सुनने वाला था? फिर गुरुजी को उन लोगों ने जा पकड़ा और किसी प्रकार कह-सुन के उन्हें राजी किया कि एक-दो दिनों के ही लिए मुझे ग्राम पर जाने की अनुमति दे दें। वे राजी हो गये और मुझे कहा कि "जाने में कोई हर्ज नहीं है, जाओ और सभी को ढाँढ़स और आश्वासन देकर लौट आना"। फिर तो मुझे तैयार होना ही पड़ा। फलतः उन लोगों के साथ रेल पर बैठकर एक बार पुनः ग्राम पर पहुँचा। लेकिन वहाँ तो गजब का तूफान था। चारों ओर से रोना-धोना जारी था। अजीब समा थी, निराला वायुमण्डल था। देखकर पत्थर भी पिघल जाता। मालूम होता था, घर, दीवार, पेड़, खेत, आदमी सभी रोते और करुणार्द्र थे। लेकिन सर्वोपरि दुखिया पिताजी और चाचीजी यही दो थे। उनसे तो बातें करना असम्भव था। यद्यपि वैराग्य से मेरा दिल लबालब होने के कारण मोहममता छोड़ बैठा था और सख्त हो गया था। फिर भी कुछ-न-कुछ असर उस अत्यन्त करुण वायुमण्डल का होके ही रहा।

और लोगों से तो प्रश्नोत्तर हुए ही और मैंने यथाशक्ति सभी को निरुत्तर किया। गाँव और आस-पास के भी लोगों की भीड़ थी और नातेदार एवं सगे-सम्बन्धी भी हाजिर थे। सभी के साथ मेरे इस काम के औचित्य-अनौचित्य के सम्बन्ध में वाद-विवाद

होता रहा। पं॰ हरिनारायण पाण्डे जी भी आये मगर एक तरफ चुपचाप बैठे रहे। केवल उन्हीं को कोई शोक न था और भीतर से वे सम्भवतः खुश भी थे। वह भी उत्तर-प्रत्युत्तर सुनते रहे। चाची के साथ जो बातचीत हुई उससे मैं उन्हें किसी भी प्रकार आश्वासन देने में आखिर तक असमर्थ ही रहा, मुझे यही लक्षित हुआ। असल में माँ से कम मेरा लाड़-प्यार उन्होंने नहीं किया था और बुढ़ापे में मुझसे सुख की बड़ी आशा उन्हें थी जो पूरी न हुई। स्त्री का दिल बहुत नरम भी होता है। परलोक वाली मेरी बात वह समझ न सकीं और रोती ही रह गईं। इसी दर्द में पीछे कुछ ही वर्षों में उनका देहान्त भी हो गया ऐसा मुझे मालूम हुआ। हाँ, पिताजी को तत्काल मैं आश्वासन दे सका ऐसा भान मुझे हुआ। उन्होंने बुढ़ापे में खबर लेने के लिए जब सवाल किये तो मैंने उत्तर दिया कि कई भाई तो अभी मौजूद ही हैं और अगर मेरे साथ आप चलें तो मैं आपकी बराबर सेवा करूँगा। मैंने यह भी कहा कि तीन भाई आपके लिए इस दुनियाँ में फिक्र करेंगे और मुझे परलोक के लिए रखिये। आखिर वहाँ भी तो कोई चाहिए। इस पर उन्होंने पूछा कि "क्या तुम्हारे इस सुकर्म का फल मुझे परलोक में मिलेगा?" मैंने उत्तर दिया कि "जरूर।" बस, फिर वह चुप हो गये। इसी से मैंने अन्दाज किया कि उन्हें आंशिक आश्वासन मिला। मगर वह भी शोक के मारे संग्रहणी से ग्रस्त हुए और पता लगा कि उसी से मरे भी। चाची और पिता दोनों ही पचास वर्ष से कम के शायद न थे और इस महान् शोक ने उन्हें सम्भलने न दिया।

हाँ, इसी दर्म्यान में एक और बात हो गयी। लोगों ने मंसूबा बाँधा कि होशियार लोगों के द्वारा समझा-बुझा के किसी प्रकार मुझे फिर घर में रख लिया जाय और गैरिक वस्त्र उतार फेंकवाया जाय। इसी दृष्टि से एक खाकी जी, जो बड़े महात्मा, फलाहारी, प्रतापी, पूज्य और प्रवीण माने जाते और आस-पास में ही रहते थे, बुलाये गये। उन्होंने मुझसे बहुत दलीलें कीं भी। असल में वे तो निरे खाकरमाने वाले ही थे, पढ़े-लिखे तो थे नहीं, फलतः तर्क-दलीलों में मेरे सामने टिक न सके। अन्त में उन्होंने गाँव-घर के लोगों को कह दिया कि इनको रोक रखने की कोई आशा नहीं। यह विचार आप लोग छोड़ दें। यह काफी सोच-समझ कर इसमें पड़े हैं। इसके बाद ही खाकी जी दिन में जब सोने चले तो मैंने पूछा कि ऐसा क्यों? उन्होंने कहा कि "मैं तो रात में जगता और दिन में ही सोता हूँ, क्योंकि गीता में कहा है कि "या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः" इस पर मैंने उनसे कहा कि गीता का यह वचन इस मामूली नींद और दिन-रात के सम्बन्ध में न होकर विवेकी और अविवेकी के व्यवहार और विचार के बारे में है। मैंने इसे सुरेश्वरवार्तिक के "काकोलूक निशेवायं संसारोऽध्यात्मवेदिनो" आदि से सिद्ध किया जिसमें गीता के इसी बचन का उल्लेख है। इसी पर खाकी जी चुप हो गये। इस प्रकार पहली बार मैंने देखा कि साधु-महात्मा कहे जाने वाले लोग किस प्रकार

अर्थ का अनर्थ करते हैं। गीता के उस श्लोक की यह निराली और नयी व्याख्या मैंने पहले पहल सुनी।

लेकिन इन सभी बातों का असर यह हुआ कि मेरा बेहद सख्त-दिल धीरे-धीरे द्रवीभूत हो चला और मुझे खतरा हुआ कि यदि अधिक दिन ठहरा तो दलीलों और तर्कों से जो बात न हो सकी वह अनायास ही इस करुणापूर्ण वायुमण्डल से हो जायगी। फलतः मैं इस माया-मोह में पड़कर संन्यास को छोड़ यहीं रहने को लाचार हो जाऊँगा। सच कहिये तो मैं एकाएक दहल उठा और घबरा कर काशी फौरन ही रवाना हो गया। यदि लोगों को इसका पता लगता तो न जाने क्या होता? पर, मैंने बताया नहीं और देर हो रही है यही दलील देकर चलता बना।

वायुमण्डल का मनुष्य के दिल और दिमाग पर कैसा आश्चर्यजनक असर होता है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे वहीं पहली बार हुआ। लोग कहा करते हैं मौनप्रार्थना और मूकवेदना की बात और साधु-फकीरों या बड़े लोगों के द्वारा होने वाले जादू के जैसे प्रभाव की बात। पतंजलि ने योगसूत्रों में योगी के चमत्कार की अनेक बातें लिखी हैं। कहते हैं कि स्वामी विवेकानन्द जैसे घोर नास्तिक और विलक्षण तार्किक के दिल को श्री रामकृष्ण परमहंस के एक साधारण वाक्य ने पलट दिया। असल में वाक्यों, दलीलों, या जादू-मन्तर की कोई बात नहीं है। जो बात आप कहते हैं करना चाहते हैं उसे हृदय से कहिये, कीजिये। उसके बारे में ईमानदारी और पूरी सच्चाई से काम लीजिये। जरा भी दिखावटीपना न रहने दीजिये। बाहर और भीतर एक ही ढंग की बात रहे। फिर देखिये कि आप के चारों ओर एक बिजली का सा वायुमण्डल पैदा हो जाता है या नहीं और उसका फौरन असर और लोगों पर पड़ता है या नहीं। जो परिस्थिति और जो वायुमण्डल अकृत्रिम होगा, स्वाभाविक होगा वह बिजली का सा असर जरूर करेगा। इसीलिए नीतिकारों ने कहा है कि जो बात सोचो, वही बोलो और वही करो तो महात्मा हो गये और अगर इसमें गड़बड़ हो तो दुरात्मा।

"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्य द्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम्"।

मैं मन (दिमाग), वचन (जबान) और कर्म (काम) के साथ दिल को अपनी ओर से जोड़ देता हूँ। इन चारों में एक ही बात रहने पर—इनमें परस्पर सामंजस्य रहने और मतभेद न रहने पर—इनसान में अभूतपूर्व शक्ति पैदा हो जाती है। मैंने उस समय से लेकर आज तक इस सिद्धान्त को हजारों बार स्वयं अनुभव किया और ऐसा करने के फल को आजमा देखा है। मैं अंग्रेजी की सिन्सीयरिटी (Sincerity) और ऑनेस्टी (Honesty) में ही इन चारों का समावेश मानता हूँ।

(2)

योग और भ्रमण

मैं यहाँ पर यह बता देना चाहता हूँ कि संन्यास लेने के पूर्व मेरे हृदय में रह-रह के यह विचार आता था कि "आखिर मेरा यह पढ़ना-लिखना सिर्फ इसलिए है न, कि धन कमाकर खाऊँ, पहनूँ या दूसरों को खिलाऊँ, पहनाऊँ? लेकिन जंगल के जानवरों और पशुओं को कौन खिलाता है? वे तो स्वयं न खेतीबारी करते और न खाने-पीने की सामग्री जुटाने की चिन्ता ही रखते । तो भी अच्छी तरह खाते-पीते ही हैं। फिर मैं क्यों इसके लिए फिक्रमन्द होकर मरूँ? मुझे तो कोई दूसरा ही खिलाये-पिलयोगा।" यही विचार मुझे परेशान कर रहा था और आखिर इसी ने मुझे घर-बार से जुदा किया। मैं तो खाने-पीने की चिन्ता कतई छोड़कर भगवान की एकमात्र प्राप्ति के ही लिए दिन-रात प्रयत्न करने के विचार से संन्यासी बना और जंगल की शरण लेने को उद्यत हुआ। दूसरा कोई भी खयाल मेरे दिल और दिमाग में न था। मैं तो इसी में मस्त था।

हाँ, यह ठीक है कि पहले थोड़ा-बहुत योग का चसका लगा था। इसीलिए फिक्र जरूर थी कि कोई अच्छे योगी को ढूँढ़ कर उससे प्राणायाम और योगाभ्यास सीखूँ। सांसारिक कामों से मुझे ऐसी घोर घृणा थी कि कह नहीं सकता। यह भी जान लेना चाहिए कि सिवाय प्राणायाम, योगाभ्यास, ध्यान, समाधि, वेदान्तचिन्तन और तत्सम्बन्धी विचारों के बाकी को मैं सांसारिक काम ही मानता था। भोजनाच्छादनादि तो प्राणायाम प्रभृति के साधन थे। फिर भी इन्हें भी मैं बाधक ही माने बैठा था। कारण, कुछ समय तो ये ले ही लेते थे और उतनी देर ध्यान आदि से विमुख होई जाना पड़ता था। इसलिए उन्हें भी भार समझ उनसे लापरवाह ही रहता था। गीता का अभ्यास तो बराबर करता था। अन्य वेदान्त ग्रन्थ भी कुछ पढ़ चुका था। लेकिन फिर भी यह दशा थी।

आज जो अर्थ गीता का मैं समझता हूँ उसे निराला ही समझता था उन दिनों। नहीं तो वह हालत नहीं होती। गीता के बारे में आगे अवसर पाकर ज्यादा लिखा जायेगा। चाहे कितना ही उच्चकोटि का परोपकारी काम क्यों न हो, उस समय मेरी दृष्टि में वह नाचीज सांसारिक काम ही था! फिर देश कोश की बात का कहना ही क्या? जैसा आज के अधिकांश या प्रायः सभी साधुनामधारी देशसेवा आदि को छोटी चीज तथा अपना अकर्तव्य समझते हैं, वही दशा उस वक्त मेरी समझिये। फर्क इतना ही था कि देशसेवा आदि को तब जानता तक न था कि वह कोई खास चीज या काम है, जिससे मेरा कोई सम्बन्ध होना चाहिए। मेरा तो एकमात्र कर्तव्य था भगवान की प्राप्ति। मैं तो पागलों की तरह उसे ही ढूँढ़ने निकला था।

हाँ, तो मैं ग्राम से लौट कर काशी में ही गर्मियों में ठहरा। कह नहीं सकता

कि पहले से ही या संन्यास लेने के बाद ग्राम पर जाने पर ही, मुझे मालूम था कि गर्मी बीतते न बीतते पं. हरिनारायण जी भी संन्यास लेंगे। दोनों की राय यही थी कि संन्यासी होने के बाद ही भारत में भ्रमण करेंगे। और सबसे पहले एक अच्छे योगी को, जहाँ कहीं हो, प्राप्त करेंगे। पण्डित जी एकाध योगी के बारे में कुछ जानते भी थे। इसीलिए उन्हीं की प्रतीक्षा में मैं काशी में किसी प्रकार दिन काटता रहा। इसी बीच में ही मुझे घसीट कर लोग गाजीपुर भी ले गये, जिसके सिलसिले में श्री सरयू प्रसादजी मास्टर की बात पहले लिखी जा चुकी है। क्योंकि फिर तो बरसात आते ही हम दोनों भ्रमण में निकले तो कई वर्षों के बाद काशी लौट सके।

एक दिन एकाएक अपारनाथ मठ में देखता हूँ कि एक परिचित जैसे व्यक्ति गैरिकवस्त्र पहने आ निकले और मुझे पूछकर मेरे पास आये। सहसा मैं भौंचक सा रह गया और देखा कि संन्यासी के वेश में वही श्री हरिनारायण जी हैं बस, अब क्या था? मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। अभी आषाढ़ की बूँदाबाँदी हुई ही थी और हम लोग चुपचाप मठवालों से बिना कहे ही फौरन प्रयाग की ओर चल पड़े उन्होंने किसी दण्डी संन्यासी से दीक्षा ली थी सही। मगर दण्ड उनके हाथ में भी न था। अपने गुरु महाराज से बिना कहे ही वह भी चले आये। मैंने भी यहाँ मठ में गुरुजी से नहीं कहा और चुपके से दोनों ही चल पड़े। पहले घरवालों से छिपाकर संन्यासी बने दोनों ही, और संन्यासियों से भी छिपाकर भागे। बात यह थी कि जानने पर बाधा जरूर होती। क्योंकि बाबा लोग कहते कि चातुर्मास्य (वर्षा) में संन्यासी को भ्रमण करना शास्त्र निषिद्ध है। फिर तो विवश होना पड़ता।

मगर यहाँ तो भगवान और योगी से शीघ्र ही मिलने की बेचैनी थी, प्रीतम के दर्शनों के लिए आँखें प्यासी थीं। फिर धर्मशास्त्र कैसा? क्या विचित्र बात है धर्मशास्त्र के अनुसार संसार से विरक्त संन्यासी बने और जरूरत होने पर उसी धर्मशास्त्र को जानबूझ कर ठुकराया, जब यह पता चला कि वह आगे बाधक होगा! यह किसी नास्तिक की बात नहीं है। तब तो हम दोनों पूरे आस्तिक थे और सभी पोथी-पुराणों को पूरा-पूरा मानते थे। असल में ध्येय और स्वार्थ दुनियाँ में सबसे बड़ी चीज है और उसकी वेदी पर बड़े-से-बड़े पदार्थ जान या अनजान में बलिदान होई जाते या कर ही दिये जाते हैं। उस समय हमने यह महान् सत्य हृदयंगम किया न था। हालाँकि, अमल किया उसी के अनुसार। इसे तो इधर आकर समझा है। फिर भी स्वभाववश, या यों कहिये, कार्य-कारणवश यही बात पहले उस समय अकस्मात् हो गयी।

आगे बढ़ने के पहले मैं अपारनाथ मठ के बारे में भी कुछ बातें कह देना चाहता हूँ। वह कोई आज के प्रचलित मानी में मठ न था। आजकल जैसे मठाधीश साधुनामधारी बनते हैं और बड़ी-बड़ी जायदादें रखके गुलछर्रे उड़ाते हैं, सो बात उस मठ के बारे में न थी। वह किसी मठाधीश की सम्पत्ति न थी। असल में, कहते हैं, पहले काशी में बाबा अपारनाथ नामक कोई सिद्ध महापुरुष रहते थे। उन्हीं के

चमत्कार से मुग्ध होकर किन्हीं श्रीमान् लोगों ने उनके निवास के नाम से दो आलीशान पत्थरों के बने बड़े-बड़े मकान बनवा दिये, जिनमें एक का नाम अपारनाथ का टेकरा और दूसरे का नाम अपारनाथ मठ है। दोनों ही में बिना आश्रय और घर-बार के विरागी संन्यासी रहते थे। शायद आज भी रहते हैं, गो कि, इधर सुना था, कुछ लोगों ने किसी बहाने उन मठों पर आंशिक प्रभुत्व जमाने की कोशिश की थी। ऐसे संन्यासी कुछ दिन वहाँ रहते थे। फिर बाहर घूमघाम आते थे। भ्रमण के बाद शायद कोई-कोई थोड़े-बहुत पैसे भी लाते थे और वहाँ रह के उन्हीं से काम चलाते थे। यों तो सभी के लिए जहाँ-तहाँ अन्नसत्रों या अन्यक्षेत्रों में बना-बनाया भोजन दिन-रात में एक बार मिलता था। शाम के लिए केवल कहीं-कहीं जलपान मात्र का प्रबन्ध था। अधिकांश विरक्त और संस्कृत व्याकरण, दर्शनादि पढ़ने वाले ही बूढ़े-जवान और कम उम्र के भी गेरुवाधारी वहाँ रहते थे। काशी की यह भी परिपाटी है कि रह-रह के भण्डारा के नाम पर इन साधुओं के बड़े-बड़े भोज, हलवा, पूड़ी आदि के होते रहते हैं। उनमें साल भर के लिए कामचलाऊ वस्त्र मिल ही जाते हैं। पढ़ने-लिखने वालों को कभी-कभी श्रीमान् लोग रुपये-पैसे या पुस्तकादि भी दिया करते हैं। ऐसा भी होता है कि अधिकांश पढ़ने-लिखने वालों के अभिभावक या तो उनके गुरु महाराज होते हैं और उन्हें कोई फिक्र नहीं रहती, या बाहर से भक्तों और भक्तानियों या चेले-चाटियों के पास से पैसे लाकर वे लोग काम चलाते हैं।

अपारनाथ मठ ऐसा ही है। उसके आँगन में एक तुलसी-चौरा जैसी ऊँची जगह बनी है। उसमें एक बड़ा-सा ताक है। उस पर मिट्टी के बहुत बड़े दीपक में सेरों तेल भरा रहता है और अखण्ड दीपक जलता रहता है। वह कभी बुझने नहीं पाता। एक साधु बराबर उसकी फिक्र में रहता है। वहीं बगल की कोठरी में बनी अपारनाथ-बाबा की समाधि की पूजा भी वही बराबर करता है। उस दीपक के बारे में यह प्रसिद्धि है कि किसी भी कुत्ता, सियार आदि जहरीले जानवर के काट खाने पर जख्म पर उस दीपक का तेल मालिश करने और अच्छा न होने तक उस स्थान को पानी से बचा देने से जख्म अच्छा हो जाता और जहर भी शान्त हो जाता है। जो उसमें से तेल लेता है वही उसमें दूसरा डाल कर भर देता है। यही नियम वहाँ चालू था। शायद आज भी होगा। मैंने वहाँ दो बार मिलाकर वर्षों गुजारे हैं। काशी में तो बराबर बहुत वर्ष रहा हूँ। मैंने हजारों लोगों को तेल ले जाते देखा है। दूर-दूर से आकर लोग ले जाते थे।

सन् 1907 ई. की बरसात का दिन था और हम दोनों ही पैदल चल पड़े। गंगा के उत्तर किनारे चलते-चलते हम लोग दो-चार दिनों में इलाहाबाद के पास गंगा के पूर्व किनारे झूँसी जा पहुँचे। रास्ते की कहानी याद नहीं। यह ठीक है कि संन्यासी के रूप में हम दोनों की यह पहली यात्रा थी, हालाँकि, श्री हरिनारायण जी तीर्थ-यात्रा के बहाने पहले भी काफी भ्रमण कर चुके थे। वैराग्य का भूत सिर पर सवार था।

इसलिए हमें कष्टों की परवाह क्या थी? न रहने का ठिकाना और न खाने का। दूसरे के घर में रात में ठहरना और खाना भी, चाहे कोई ठहराये और खिलाये या टका सा जवाब दे। चारा तो कोई था नहीं। हम दोनों ही थे भी पूरे मस्त राम। दबाव डाल कर माँगने का हक भी न था। सिर्फ भिक्षावृत्ति थी और धर्म की राह थी। पास में न तो पैसा था और न कोई सामान। कपड़ा भी नाममात्र को ही था। किसी प्रकार कामचलाऊ। छाता तो रखना मना था ही। फिर अगर कपड़े भीगे तो और भी दुर्गति। आखिर संन्यासी का धर्म ही तो ठहरा और हमें तो पूरी आस्था थी इस धर्म पालन में। फलतः हमने तो तय कर लिया था कि चाहे जो हो, पूरा-पूरा धर्म निभायेंगे।

हमें याद नहीं कि झूँसी पहुँचने तक किसी विशेष संकट का सामना करना पड़ा, कभी भोजन न मिला या कपड़े लथपथ होने से दिक्कत हुई। भोजन भी तो एक ही समय चौबीस घण्टे में करना था। न तो कोई नाश्ता और न जलपान। चाय-पानी का तो सवाल ही न था। पण्डित जी भी यद्यपि जवान ही थे। लेकिन मेरी तो केवल अट्ठारह-उन्नीस वर्ष की अवस्था थी, जिसमें भूख-प्यास बहुत सताती है। लेकिन, आखिर, दृढ़ संकल्प भी तो कोई चीज है। इस अवस्था में तो कई बार भोजन चाहिए, नहीं तो भूख से सिर और कलेजा फटा पड़ता है। मगर निश्चय कर लिया था कि एक ही बार चौबीस घण्टे में खाना। और अगर एक-दो बार कोशिश करने पर एक दिन न मिला तो फिर बार-बार उसकी परवाह छोड़ अगले दिन के लिए तय करके उस दिन चुपचाप बैठ या सो जाना। झूँसी तक तो नहीं, लेकिन आगे चलकर ऐसे मौके बहुत बार आये, जब दिन-रात गुजर चुकने पर ही भोजन मिल सका। 30, 36 या 40 घण्टे तक कभी-कभी गुजरे और एक बार तो पूरे 52 घण्टों के बाद भोजन मिल सका। इससे एक फायदा जरूर हुआ कि भूख पर हमारा अधिकार हो गया। अब वह हमें खुल के सता नहीं सकती थी। खाना-पीना न मिलने पर क्या होगा, यह जो डर का महाभूत सभी के सिर सवार रहता है और हम पर भी था, वह सदा के लिए हट गया। इस मानी में तो हम पक्के संन्यासी बन गये।

हमने देखा है, जो संन्यासी यों भ्रमण नहीं करते, वे बराबर कमजोरी दिखलाते हैं। वे लोग अच्छे पढ़े-लिखे, ज्ञानी-विरागी होने पर भी खाने-पीने के मामले में हिम्मत हार बैठते हैं। साथ ही, हम तो उस समय पक्के भाग्यवादी और भगवानवादी थे। हमारा तो विश्वास था कि न तो भगवान मरा है और न हमारा भाग्य जल गया है या बन्धक रखा जा चुका है। फिर खाने-पहनने की क्या फिक्र? हमें तो खयाल था कि—

"का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते"

फिर हम चिन्ता क्यों करते? नतीजा हुआ कि मस्ती के साथ आगे बढ़ते गये। पास में था सिर्फ एक कमण्डलु, और शायद कुछ गीता आदि पुस्तकें। इस प्रकार

झूँसी पहुँचे और वहाँ एक मठ में जा ठहरे।

मठ में कुछ साधु लोग रहते थे और कोई सम्पत्ति विशेष हमारे जानते न थी। शायद भक्तों की भेंट और चढ़ावे वगैरह से ही काम चलता था। हम वहाँ प्रायः महीनों रह गये। मठ के सभी लोग और उसके प्रबन्धक, मैं नाम भूल गया, बहुत ही सज्जन थे। वह हमसे प्रेम करते थे। वहीं हमने पहले सन् 1905 ई. वाले बंगभंग के आन्दोलन और उससे पैदा होने वाले तूफान की खबर यों ही किसी प्रकार सुनी। यह बात हमें ठीक-ठीक याद है। मगर उसमें हमें तो कोई स्वाद न था। 'असल में बन्दर अदरक का स्वाद क्या जाने' वाली बात भी थी, साधु-संन्यासियों की दुनियाँ कैसी निराली होती है? यों तो अच्छा भोजन, वस्त्र और मठ जरूर चाहिए, जो साधारण गृहस्थों को दुर्लभ हो। फिर भी "दुनियाँ से हमें क्या काम? इन सांसारिक झंझटों से हमें क्या लेना-देना है?" कहके देशसेवा और सार्वजनिक काम से वे घृणा करते हैं! गोया सुन्दर अन्न-वस्त्र दुनियाँ से बाहर है, इसीलिए उनसे विमुख नहीं होते! लेकिन हमारी तो वह हालत थी नहीं। हमे प्रचण्ड वैराग्य था। फलतः उस राजनीतिक आन्दोलन ने हमें जरा भी प्रभावित नहीं किया। मेरी तो और भी विचित्र दशा थी। अंग्रेजी से तो ऐसी घृणा थी कि कुछ पूछिये ही न। उसे तो मैं बिल्कुल ही भुला देना चाहता था। इसीलिए अँग्रेजी का एक शब्दोचारण भी मेरे लिए असह्य था। नतीजा भी यही हुआ कि आठ-दस वर्षों के भीतर मैं उसे भूल-सा गया। मालूम होता था, उसके ज्ञान पर एक पर्दा-सा पड़ गया है और उसके नीचे वह धुँधला-सा नजर आता है। आगे चलकर फिर मेरी प्रवृत्ति अंग्रेजी की ओर कैसे हुई, किस प्रकार मेरे भीतर उसका सुप्तप्राय ज्ञान जगा और धीरे-धीरे पुष्ट हुआ, यह आगे लिखा जायगा।

झूँसी में प्रायः मठ की छत पर मैं बिना कोई बिस्तर डाले ही रात को सोया करता था। आषाढ़ की गर्मी तो बुरी होती ही है और पानी पड़ने के बाद छत ठण्डी हो जाने से उस पर सोना अच्छा लगता है। मैंने यही किया। पर, कुछ दिनों बाद शरीर में बहुत दर्द होने के साथ ही खूब तेज बुखार आया, जो महीनों बना रहा। लोगों ने दर्द को सर्दी के कारण समझ पहली बार इस जीवन में मुझे चाय पिला दी। उससे दर्द तो खत्म हो गया। लेकिन उसी जगह तेज बुखार ने ले ली। ज्वर की गर्मी इतनी तेज हुई कि मैं बेचैन और थोड़ी देर बेहोश हो गया। पहली बार की चाय का यह कटु अनुभव हुआ। लोग कहते हैं, वह ज्वर दूर करती है। पर मेरे सिर तो उलटी गुजरी। जीवन भर में इसके सिवाय एक बार और चाय पीने का मौका लगा है, जबकि मैं योगी की तलाश में घूमता-घूमता मध्यभारत की देहात में राजगढ़ ब्यावरा पहुँचा और वहाँ की देहात में एक जगह जाड़ों में ठहरा था। वहाँ के लोगों को चाय पीने की सख्त आदत है। जाड़ा ज्यादा होता है। मुझे भी एक दिन उन्होंने चाय पिला दी। बस, फिर क्या था, पेशाब में सुर्खी आ गयी और डरकर फौरन मैंने चाय बन्द कर दी। फिर तो सुर्खी चली गयी। तब से कभी चाय पीने

का नाम मैं नहीं लेता। उसकी हिम्मत ही नहीं होती। असल में वह इतनी गर्म है कि मेरा शरीर उसे बर्दाश्त नहीं कर सकता।

हाँ, तो ज्वर पीछे घटा सही, मगर कुछ-न-कुछ बना रहा। इस बीच एक कषायवस्त्रधारी जवान संन्यासी बाबा वहीं आ पधारे। उन्होंने मुझे देखा और दवा दी कि ज्वर हट जाय। फिर वह चलते बने। मैं उनकी दवा खाता रहा। कई खुराक खाने के बाद एक दूसरे अनुभवी संन्यासी बाबा आ गये। उन्होंने वह दवा देख ली। वह तो देखते ही चौंक उठे और मुझे कहा कि "यह जहर क्यों खा रहे हैं? यह तो कच्चे लोहे का भस्म है। तवा के जले पेंदे का बुरादा बना कर भस्म के नाम पर कोई नादान आप को दे गया है। यह तो मार डालेगा।" मेरा ज्वर तो छूटा नहीं और यह नयी बला मालूम हो गयी। मैंने उसे उठा फेंका। मुझे रोज ज्वर नहीं आता था। एक या दो दिन का अन्तर देकर आता था। हम दोनों ने तय कर लिया कि यहाँ से अब चल ही देना ठीक है, और चल पड़े, त्रिवेणी पार होकर प्रयाग से चित्रकूट जाने वाली पक्की सड़क पकड़ कर उसी ओर, हमारी इच्छा थी कि चित्रकूट होते आगे बढ़ें। तुलसीकृत रामायण में उसका बहुत ही सुन्दर वर्णन पढ़ा था। कामदगिरि आदि का बार-बार उल्लेख वहाँ आया था। इसीलिए वहाँ जाने की उत्कट अभिलाषा थी। ठीक याद नहीं, शायद एक या दो दिनों के बाद ही शंकरगढ़ स्टेशन (जी. आई. पी. रेलवे) के पास वाले गाँव में हम लोग जा पहुँचे। कह नहीं सकते, वही गाँव शंकरगढ़ है या दूसरा। बहुत दिन गुजरने पर स्मृति ठीक नहीं रही। वहाँ वर्षा में हम लोग ठहर गये। पहाड़ की तली में वह गाँव है। पहाड़ तो ज़्यादा ऊँचा नहीं है। हाँ, गाँव की अपेक्षा ऊँचा जरूर है। रात में हम लोग गाँव में ही, एक स्थान पर सोते थे। वहाँ वाले झाल, ढोल वगैरह की सहायता से उसी जगह खूब ही मस्त होकर रामायण गाते थे। मैंने बचपन में और उसके बाद भी रामायण का गाना बहुत ही सुना है। मगर दो ही स्थानों का खूब चित्ताकर्षक और सुन्दर पाया है। एक तो वहाँ का और दूसरा उसके दो-तीन वर्ष बाद बलिया जिले में, गंगा तट पर, भरौली गाँव का, जिसे उजियार-भरौली भी कहते हैं। दोनों जगह लोग बहुत ही अच्छा गाते थे। लेकिन अब तो शायद वह परिपाटी प्रायः उठ ही गयी।

हाँ, तो रात में गाँव में रहते और दिन भर, सिवाय खाने-पीने के समय के, पहाड़ी पर पड़े रहते। बरसात के दिनों में पहाड़ी स्थान बहुत ही रमणीय लगता है। एक बात जरूर थी कि न जाने कहाँ से इतनी ज्यादा मक्खियाँ उस गाँव में थीं कि खाने-पीने में बड़ी दिक्कत होती थी। उतनी मक्खियाँ मैंने आज तक और कहीं नहीं देखी हैं। इसलिए भी दिन बाहर ही काटते थे।

कुछ दिन ठहर कर आगे बढ़े और करबी होते चित्रकूट पहुँचे। चित्रकूट गाँव के पास वाली नदी को मंदाकिनी कहते हैं। उसी के तट पर वह बसा है। उस समय वहाँ के पेड़े की बड़ी प्रसिद्धि थी, जैसा मथुरा के पेड़ों की। न जाने अब क्या दशा

है। हम लोग आगे चल के कामदगिरि के पास पहुँचे। वर्षा का समय और रात में बाहर टिकना यह ठीक न समझ हमने कामदगिरि की परिक्रमा में उसकी चारों ओर बने वैष्णव साधु नामधारियों के मन्दिरों और मठों के द्वार खटखटाये कि वे रात में ठहरने दें। मगर एक स्वर से सभी ने नाहीं की। हालाँकि, यह जानकर हमारे क्रोध और घृणा की सीमा न रही कि सभी मठों में न जाने कितनी ही माई-दाइयाँ रहा करती हैं। फिर तो बाबा लोगों के चरित्र का खुदा ही हाफिज। हार कर किसी टूटे-फूटे लावारिस स्थान में जैसे-जैसे रात गुजारी।

आज भी कामदगिरि बहुत ही सुन्दर लगता है। खास कर वर्षाकाल में उसके ऊपर कोई चढ़ने नहीं पाता। कहते हैं, उसके शिखर पर श्री रामचन्द्र की चरणपादुका बनी है। कामदगिरि को वहाँ कामतानाथ कहते हैं।

दूसरे दिन अनुसूया नामक स्थान देखने के लिए प्रमोद वन होते ही हम लोग चले। असल में तो हनुमान धारा नामक स्थान, जहाँ पानी का प्रपात पहाड़ से जारी रहता है, सबसे दर्शनीय और रमणीय है। मगर वर्षा में वहाँ घोर जंगल में जाना असम्भव है। अतः दूर से उसका दर्शन कर सन्तोष किया और अनुसूया पहुँचे। घूमते-घामते देर लगी और चौथे पहर कामदगिरि को लौटे। सामने कामदगिरि था। बहुत ही निकट मालूम हुआ। लेकिन पहाड़ दूरी की दृष्टि से कितना धोखा देते हैं, यह बात पहले-पहल हमें उसी दिन विदित हुई। हमें चलते-चलते कई घण्टे लग गये और रात होते-होते हम वहाँ मुश्किल से पहुँच सके। बीच का रास्ता भी इतना बीहड़ था कि कुछ कहिये मत। न जाने बीसियों नदी-नाले मिले, सो भी काफी चौड़े। खैरियत यही थी कि उनमें ज्यादा पानी न था। नहीं तो लौटना असम्भव हो जाता! असल में पहाड़ी नदी-नाले वर्षा होती रहने पर ही भरे होते हैं और वह हटी कि इनके सूखते देर नहीं लगती।

जब हम अनुसूया गये तो हमें पता लगा कि वहाँ जो एक पुराना वैष्णव साधु रहता था, उसके पास सोलह या बीस हजार रुपये जमा थे। वह अकेला ही था। लोभ के मारे किसी को पास न रखता था कि खर्च होगा। लोगों को बताता भी न था कि इतने पैसे पास में हैं। उस समय वह मर चुका था। चोरों को किसी प्रकार पता चल गया कि उसके पास पैसे हैं। असल में उन लोगों को रुपये की महक मिलती है। फिर क्या था, एक रात को धीरे से दो-चार चोर वहाँ पहुँचे और कुटिया की छत पर, जहाँ वैरागी बाबा रहते थे, चढ़ गये। बाबा को जगाकर खजाने का पता पूछा और लेकर चल देना चाहा। मगर वह तो नाहीनुकुर करते ही रहे कि बच्चा साधुओं के पास कैसे कहाँ? फिर भी, उन जैसे साधुओं को तो वे लोग खूब ही पहचानते हैं। फलतः, आखिरकार उन्हें मार कर छत से नीचे गिरा दिया और सभी रुपये लेकर चलते बने। उन्होंने शायद सोचा कि जिन्दा रहने पर चिल्लायेगा और पीछे पुलिस को खबर देगा। इसलिए 'रहे न बाँस, न बाजे बाँसरी'। ऐसे रुपयों का

तो कुछ ऐसा ही अन्त होना चाहिए। साधु लोग भी इस प्रकार पैसे रखते हैं और इस प्रकार भ्रष्ट होते हैं, यह बात अनुसूया और कामदगिरि के मठों की बातें जान कर मुझे पहले-पहल ज्ञात हुई।

प्रमोद वन आचारी वैष्णवों का अच्छा अड्डा माना जाता है। जब तक हम वहाँ रहे, हमारे साथ उनकी कुछ शास्त्र चर्चा भी होती थी। लेकिन हमें तो वहाँ टिकना न था। सोचा, अब फिर यमुना पार होकर फतहपुर, कानपुर की ओर चलें। इसलिए चल पड़े।

चित्रकूट के नजदीक की ही कहानी है। एक दिन मैदान में ही थे कि भयंकर आँधी-पानी का सामना हुआ, ऐसा भयंकर कि आज तक भूला नहीं। दौड़ कर गाँव में जाना भी असम्भव था। पास के खेत में एक छतरीनुमा झोंपड़ी थी—बहुत ही छोटी थी। दौड़कर उसके नीचे खड़े हो गये। तूफान था कि गजब और बिजली ऐसी कड़कती थी कि कलेजा दहला देती थी। बहुत देर तक यह बला रही। वह छतरीनुमा झोंपड़ी नीचे तथा चारों ओर खुली थी। उधर ऐसी ही बनती है। इसलिए पानी के झंकोरों ने हमें बुरी तरह भिगा दिया था। मालूम होता था, हर बार कि बिजली हम पर गिरी और वह झोंपड़ी ही एक प्रकार से उससे बचाती हुई मालूम पड़ी। बहुत देर तक आँधी-पानी की इस बला का सामना करना पड़ा। शाम होते-न-होते जब वह हटी तो पानी से लथपथ हम दोनों पास के गाँव में गये और जैसे-तैसे रात गुजारी।

हमने उसी रास्ते में जीवन में पहली बार देखा कि बुन्देलखण्डी लोग निराले जूते बनाते हैं, जो एड़ी की तरफ ऊपर तक चढ़े होते हैं। पुश्तपाँव के ऊपर भी आगे से आया हुआ हाथी के कान जैसा चमड़ा पड़ा रहता है। असल में वहाँ काँटे बहुत होते हैं। खेत भी उनसे भरे होते हैं। उनसे बचने के लिए ये बनते हैं। हलवाहे और मजदूर-मर्द, औरत, बच्चे सभी—ये स्वदेशी जूते पहनते हैं। नहीं तो काँटों से पाँव खून-खून हो जाये। उत्तर की ओर चलते-चलते हम यमुना के तट पर राजापुर गाँव में पहुँचे। असल में चित्रकूट से एक सड़क यमुना पार जाने के लिए राजापुर आती है। पहले तो कच्ची थी। अब, न जानें, उसकी क्या दशा है। इसलिए अनजान में ही हम वहाँ अकस्मात् आ पहुँचे। हमें अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि जिस तुलसीदास की रामायण में हमें अपार भक्ति रही उसी तुलसीदास की जन्मभूमि में पहुँच गये। हम पढ़ा करते थे कि "राजापुर यमुना के तीरा, तुलसी वहाँ बसै मतिधीरा।" आज उसका साक्षात्कार हो गया। हमने बहुत कोशिश की कि उनके हाथ की लिखी रामायण की प्रति वहाँ मिले तो देखें या अगर उनका कोई खास दर्शनीय स्थान हो तो, उसका ही दर्शन करें। मगर महज मामूली जगह के सिवाय और ऐसी कोई बात हमें नहीं दिखाई या बताई जा सकी। न जानें, इस समय वहाँ उनके जन्म-स्थान की स्मृति में कुछ विशेष बातें ढूँढ़-ढाँढ़ कर निकाली गयी हैं या नहीं और कोई विशेष आयोजन वहाँ है या नहीं। आज तो ऐसी बातों का युग है, मगर तीस-चालीस वर्ष पूर्व यह

बात न थी। देखा कि जितना प्रेम तुलसीदास और उनकी भूमि से हमें है उसका शतांश भी वहाँ वालों को नहीं है।

अस्तु, एक ही दिन वहाँ हम ठहरे और बरसात में लबालब भरी यमुना को अगले दिन पार किया। राजापुर यमुना के ठीक किनारे पर था और गाँव धीरे-धीरे कट कर गिर रहा था। नहीं मालूम आज उसकी क्या हालत है, गिर कर और जगह जा बसा या यमुना माई ने रहम की और बच गया।

एक दिन की बात है। फतहपुर जिले के खागानगर में दोपहर की भिक्षा (संन्यासी लोग भोजन को भिक्षा कहते हैं) करके हम लोग आगे बढ़े और कुछ दूर जाकर एक गाँव से बाहर पेड़ों की छाया में सोये थे कि ठण्डी हवा के साथ तेज बारिश आयी। भागते हुए गाँव में पहुँचे तो कहीं ठहरने को स्थान न मिला। एक जर्जर मकान धर्मशाले के नाम से था। वहाँ गये तो उसे कूड़े करकट से भरा पाया और खूब चूता भी था। इधर मुझे ज्वर भी तेज था। एक बात भूल ही गया। उस दिन किसी भक्त जन ने खूब मिठाई-पूरी ख़िलाई थी। ज्वर की बारी उसी दिन थी। दूसरी चीज खाने को मिली नहीं और एक ही बार चौबीस घण्टे में खाना था, फिर करते क्या? हाँ, तो लाचार होकर सब कूड़ा एक कोने में, जहाँ चूता न था, जमा किया, क्योंकि समूचा मकान पानी से भरा था, और उसी पर पाँव रख के दीवार के सहारे खड़ा हो गया। बैठने के लिए जगह कहाँ? देह ज्वर से जलती थी। हवा-पानी दोनों ही गजब के थे और मैं खड़ा था। उस दशा का अनुभव कौन कर सकता है? लेकिन उसी तरह खड़े-खड़े पानी की मूसलाधार गुजार ली और पानी छूटते ही आगे बढ़ना चाहते थे। ज्वर उतर चुका था। मगर शाम हो चुकी थी और गाँव के किसी सज्जन ने वहाँ आकर अपने घर पर चलने को कहा। फलतः रात वहीं कटी। सुबह होते ही आगे चल पड़े।

हमारे साथी ने कहा था कि ज्वर कैसा भी क्यों न हो यदि महादेव बाबा के सामने बैठकर उनका ध्यान किया जाय तो तीन दिनों के ध्यान के बाद ही वह जरूर हट जाता है। हम दो दिन ध्यान कर चुके थे। तीसरे दिन फिर ज्वर आया रास्ते में ही ज्वर से दबे हुए हम जैसे-तैसे फतहपुर के पुराने शिव मन्दिर में शाम को पहुँचे और शिवजी के सामने जा डटे। हम तो धार्मिक ठहरे ही हमें पूरा विश्वास था। कुछ देर के बाद पसीना शुरू हुआ और हम लथपथ हो गये। फिर भी बैठे रहे। अन्त में ज्वर जो उस दिन गया जो सदा के लिए विदा हुआ, कम-से-कम बहुत समय के लिए तो जरूर ही। यह भी आश्चर्य की बात है कि मिठाई-पूड़ी खा के और पानी में लथपथ हो के खड़े-खड़े जिस ज्वर को एक रोज बर्दाश्त करना पड़ा वही एकाएक उस दिन खत्म हो गया! हमारे जानते उसके बाद भी बहुतों के ज्वर इस प्रकार की आराधना से छूटे हैं। दिमागदार लोग चाहे इसका कारण दिमाग की तद्विषयक दृढ़ धारणा को ही बतायें या और कुछ कहें। हमें उससे मतलब नहीं। हम तो कोई

सिद्धान्त स्थापित करने चले हैं नहीं। किन्तु अपने जीवन के संघर्ष की एक अनुभूत घटना का उल्लेख मात्र करना हमारा काम है।

यहाँ एक बात और भी कह देनी है। जब-जब चलने में परिश्रम होता था तो मैं देखता था कि शरीर के ऊपर पानी के शीकर जैसी कोई चीज निकल आती थी। उसके ऊपर निहायत ही बारीक सफेद पर्दा जैसा होता था। हाथ से मसलते ही यह चीज खत्म हो जाती थी। पर, पुनः पैदा हो जाती थी। मैंने अन्दाज किया कि कच्चे लोहे का ही यह असर था। बचपन में जिस पित्त के प्रकोप और संग्रह (जमा होने) की बात पहले कही है और हिन्दी मिड्ल की पढ़ाई के समय जो ज्यादा कुनाइन खाई थी। इन दोनों के साथ मिलकर यह कच्चा लोहा गजब करने पर आमादा हो गया। इस भयंकर त्रिपुटी ने मुझे भयभीत कर दिया। लक्षणों से ऐसा लगता था कि पेशाब की तथा दूसरी इन्द्रियों पर भी इसका भयंकर असर होगा, जिससे लोग खामखाह कहेंगे कि यह जवान संन्यासी कहीं व्यभिचार में फँस कर सिफ़लिस और सुज़ाक से आक्रान्त है। इस धारणा ने मुझे बहुत ही विचलित किया। मगर हिम्मत मैंने न हारी और साथी को भी कुछ न बताया। केवल ताकीद और संयम से रहने लगा। फलतः कुछ ही दिनों के बाद वे सभी कुलक्षण खत्म हो गये और मैंने न जाने किसे-किसे धन्यवाद दिया। यह ठीक है कि खून में उसकी गर्मी घुस गयी और शरीर के अष्टधातुओं पर उसने खूब असर किया। मगर बाहरी चिह्न फिर कोई भी दृष्टिगोचर न हुए।

हम पैदल ही फतहपुर से आगे बढ़े और कानपुर में कई दिन ठहरे। रात में एक बाग में रहते और दिन में शहर में भिक्षा कर आते। सरसैयाघाट की पहले-पहल जानकारी मुझे उसी समय सन् 1907 ई. की वर्षा के दिनों में हुई। पीछे तो कानपुर जाने का मौका सैकड़ों बार लगा है। कानपुर से आगे गंगा का किनारा छोड़ झाँसीवाली लाइन की बगल से जाना हमने तय किया। क्योंकि हमारा विचार था मध्यप्रान्त के खण्डवा जिले के ओंकारेश्वर में जाकर हिन्दुओं के द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से एक श्री ओंकारेश्वर नाथ जी का दर्शन नर्मदा के बीच में करना और वहीं पास के जंगल में श्री कमल भारती नामक योगी से मिल कर योगाभ्यास सीखना। पैसे पास थे नहीं। शास्त्रों के अनुसार न तो हमें पैसे रखने की आज्ञा थी और न हमारी इच्छा ही थी कि रखें। पैदल यात्रा में अनुभव और मजा भी था। अतः पैदल ही बढ़े।

(3)

क्षुधा के अनुभव—अन्य घटनाएँ

हमारी यात्रा उरई आदि स्थानों से होकर हुई। हम ज्यों-त्यों आगे बढ़ते गये खाने-

पीने का कष्ट विशेष होने लगा। फलस्वरूप हमें एक-एक दिन में बहुत ज्यादा चलना पड़ता था। क्योंकि जंगली प्रदेश होने से हम समझते थे कि दूर जाने पर शायद कोई शहर या सम्पन्न गाँव मिले और भोजन की प्राप्ति आसानी से हो जाय। परिणाम यह हुआ कि हम झाँसी होते ललितपुर तक किसी प्रकार पहुँच सके। हम दोनों काफी कमजोर हो गये और चलने की हिम्मत न होती थी। अब तो चौबीस घण्टे का प्रश्न ही न था। प्रायः डेढ़ और दो दिनों पर एक बार मुश्किल से यदि भोजन मिल जाता तो हम गनीमत समझते! सभी जातियों के यहाँ भोजन करते थे भी नहीं। सिर्फ ब्राह्मण के ही घर भरसक करते थे और ऐसा न होने पर क्षत्रिय के घर में शायद ही कभी। कट्टरपन जो था और पोथी-पत्रे का ज्ञान भी तो ताजा ही था।

ललितपुर में, हमें खयाल है, कई दिन ठहरे और जरा थकावट दूर की। असल में गंगा के किनारे तो लोग संन्यासियों को जानते-मानते हैं। क्योंकि सहस्रों वर्षों से असंख्य संन्यासी बराबर पैदल ही गंगा तट में घूमते रहे हैं। हजारों स्थान पर उनकी कुटिया भी बनी है। इसीलिए उधर ठीक रहता है अब भी। मगर झाँसी और बुन्देलखण्ड के जंगलों में संन्यासी क्यों जाने लगे? इसीलिए वहाँ के लोग समझ भी नहीं पाते थे कि हम कौन और क्या हैं और हमें क्यों खिलाना-पिलाना चाहिए। इसी से ज्यादा कष्ट हुआ और ललितपुर में विश्राम करने की नौबत आयी।

वहाँ एक ठाकुरबाड़ी में, जो सजी-धजी थी, हम एक दिन गये। वह शहर से बाहर तालाब के किनारे थी ऐसी याद-सी है। हमने वैष्णव साधुओं की तरह ठाकुरजी को जमीन पर लोटकर (साष्टांग) दण्डवत् नहीं किया। किन्तु यों ही जरा सिर झुका लिया। फिर बैठ गये। पुजारी पढ़े-लिखे थे। उन्हें यह बात रुची तो नहीं। फिर भी सभ्यतापूर्वक कहने लगे कि महापुरुष (संन्यासी को महापुरुष कहते हैं), लोग भगवान को साष्टांग क्यों नहीं करते? इस पर हम लोगों का उनके साथ कुछ देर तक मनोविनोद और शास्त्रीय कथनोपकथन होता रहा। वह खूब दिलचस्प था।

आखिर, एक स्थान पर ज्यादा टिकना अवांछनीय समझ हमने बीना होते सागर और वहाँ से नर्मदा पहुँचने की सोची। मगर चलने की तो हिम्मत न थी। इसलिए ललितपुर के स्टेशन मास्टर से कहा कि किसी प्रकार बीना तक हमें पहुँचा देने का यत्न करें। हमने उसे अपनी मजबूरी सुना दी। वह बेचारा तैयार हो गया। पैसा तो कहाँ खर्च करता। उसने कहा कि ट्रेन आते ही गार्ड से कह दूँगा और आप लोग निराबाध चले जायँगे। ट्रेन आयी। मैं उसके पास ही था। उसने गार्ड से अंग्रेजी में, कुछ कहा भी जो मैं सुनता था। गार्ड का चमड़ा गोरा था, उसने अंग्रेजी में, मुझे देखकर, उत्तर दे दिया कि यह साधु नहीं, यह तो लड़का मात्र है "He is not a Sadhu, but a more child" कुछ इसी ढंग के उसके शब्द थे जिनमें एकाध आज बत्तीस वर्षों के बाद कदाचित् भूलने पर भी वे आज तक कानों में गूँजते हैं। गार्ड ने क्या समझा कि ये शब्द मैं समझूँगा और इन्हें अमर बना रखूँगा। मगर यह निराली

घटना थी जो जीवन में पहली-बार हुई। अब तक कभी मुफ्त रेल में चढ़ने की इच्छा न की थी और इस बार यदि की भी, तो बेबसी थी। फिर भी चोरी से न चढ़ कर गार्ड की दया का भिखारी बने। लेकिन उसने वह प्रार्थना ठुकरा दी। उसे अपनी अक्ल का घमण्ड था कि वह साधुओं को पहचानता था। मुझे तो उसने निरा लड़का समझा।

लेकिन इससे हमारा निश्चय और भी पक्का हो गया कि जरूर गाड़ी से चलेंगे। चुपके-चोरी हजारों रेल में चढ़ते और निकल भागते हैं। कोई गार्ड नहीं कहता कि ये लड़के हैं, साधु नहीं हैं, वे ऐसा मौका देते ही नहीं। क्योंकि काफी चतुर-यार होते हैं। मगर हमने जब चोरी से चढ़ना ठीक न समझा तो घृणापूर्वक ठुकराये गये। बस, फिर क्या था, हम दोनों गाड़ी में जा बैठे। स्टेशन मास्टर ने भी अपना फर्ज अदा कर दिया था, गार्ड से कहने मात्र से ही। उसे हमारी क्या फिक्र? मगर एक गरीब प्वांइट्स मैन ने कहा कि बीना से एक स्टेशन पहले ही आप लोग उत्तर जाइयेगा, नहीं तो बीना में टिकट का झमेला होगा। उसने यह भी कहा कि वहाँ (पहले स्टेशन) का स्टेशन मास्टर भला है। ठीक ही है, प्वाइंट्समैन तो गरीब दुखिया था। फिर वह हमारे जैसे दुखियों का कष्ट क्यों न पहचानता?

(4)

सीनाजोरी और अजीब घटनाएँ

फिर तो चोरी के बजाय सीनाजोरी करके हम लोग ट्रेन पर चढ़े। हमें जिद्द हो गयी कि चाहे कुछ हो, चढ़े बिना नहीं मानेंगे। मैं तो इस प्रकार के अपने स्वभाव का उल्लेख पहले ही कर चुका हूँ। मनुष्य को समय-समय पर निर्भीक, लापरवाह और साहसी तो होना ही चाहिए। नहीं तो फिर वह मनुष्य ही कैसा? खैर, हमारी ट्रेन चल पड़ी। तेज गाड़ी थी। दोपहर के पहले का समय था। शायद ज्यादा दिन न आया था। जब प्वाइंट्समैन के बताये स्टेशन पर ट्रेन लगी तो हम दोनों ही उसके कहे मुताबिक निश्चिन्त होकर उतरे ही थे कि हमसे स्टेशन वालों ने टिकट माँगा और न दे सकने पर स्टेशन मास्टर ने बिगड़ कर कहा कि ''ये दोनों चोर हैं, गार्ड साहब, बीना ले जाकर इनसे झाँसी (क्योंकि जंक्शन है) तक का चार्ज लीजिए'' फिर उसने हमें गार्ड के हवाले कर पुनः ट्रेन में चढ़ने को विवश किया। पता नहीं गार्ड ने क्या सोचा। उसने हमें ललितपुर में देखा तो था ही और 'केवल बच्चा' बताया था। वहाँ की बात उलटी हुई। जो स्टेशन मास्टर हमें शरण देने वाला बताया गया वह पुलिस का पक्का आदमी जैसा निकला। शायद बेचारे प्वाइंट्समैन की जानकारी ठीक न थी, या इस बीच में पहला स्टेशनमास्टर बदल कर कोई नया आया था।

मगर उस स्टेशन पर और किसी ने भी हमारे साथ हमदर्दी न दिखाई।

जो हो, हम लोग फिर ट्रेन में बैठे और थोड़ी देर में बीना पहुँच गये। ट्रेन लगते ही हम दोनों फौरन उतरकर जो फाटक पर पहुँचे तो टिकट जमा करने वाले ने टिकट माँगा। हमने अपनी बात साफ कह दी और उसने कहा ''जाइये महाराज'' फिर क्या था, हमारी खुशी का ठिकाना न रहा। यहाँ भी उलटी बात हुई फँसने का खतरा पूरा-पूरा था। मगर बाल-बाल बचे। न जाने वह गार्ड बेचारा कहाँ रहा। हम तो स्टेशन के बाहर चले आये और हमें उसका पता क्या? शायद उसने पीछे हमारी खबर ली हो और सोचा हो कि शिकार भाग गया। पर हम तो सामने से आये और साफ कहके आये। कोई छिप-छिपाके तो आये नहीं। और हमारा कोई यह फर्ज भी न था कि गार्ड से कहने जाते, या उसकी इन्तजार करते और उसके तशरीफ लाने पर ही बाहर आने की कोशिश करते। हमने तो उन सबों की ऐंठ और निराली समझ देख जिद्दवश यह मार्ग पकड़ा था और साहस के बल हम अपनी सफलता उन्हें दिखाना चाहते थे। सो तो सफल हुए ही।

स्टेशन से बाहर होते ही शहर की ओर चले, क्योंकि भोजन का समय हो गया था। हम यह जानते थे कि उधर शहरों में घीवालों की आढ़तें होती हैं। हमने यह भी अनुभव किया था कि घी-वाले हमारे जैसे साधुओं को देखते ही फौरन पूड़ी-मिठाई खिला कर विदा कर देते थे। बस, हम भी घी के एक आढ़तिया को ढूँढ़ते हुए पहुँचे और उसने फौरन हमें खूब डँट के मिठाई-पूड़ी का भोजन कराया। भोजन के समय भी और उसके बाद भी आज तक याद आने पर हमने सैकड़ों बार सोचा है कि यदि बीना से पहले वाले स्टेशन पर ही हम उतर पड़ते और कोई छेड़ता नहीं, तो बीना वाली वह मिठाई-पूड़ी कौन खाता? मालूम होता है, उसी ने वहाँ बाधा डाल उतरने न दिया और बीना तक पहुँचा दिया। जहाँ झाँसी तक के चार्ज की वसूली तो खटाई में पड़ी रही ही उलटे हमने अच्छी तरह भोजन किया। ऐसे ही मौकों पर तो लोग भाग्यवाद और तकदीर का सहारा लेते हैं। ऐसे ही मौकों के अनुभव से किसी कवि ने कह दिया है कि,

''अन्दलीपों को कफ़स में आबोदाना ले गया''

(5)

बावन घण्टे के बाद

बीना से हम सागर की ओर बढ़े। क्योंकि हमें नर्मदा पार करके नरसिंहपुर की देहात में कड़कबेल स्टेशन के पास माने गाँव जाकर वहाँ से खण्डवा होते ओंकारेश्वर जाना था, जैसा कि पहले कह चुके हैं। रास्ता बिलकुल ही जंगली था। जंगली और तथाकथित

छोटी कोमों के ही लोगों की बस्तियाँ कहीं-कहीं मिलती थीं। उनमें अगर कोई कहीं दीखने में अच्छे (सुखी) लोग मिलते तो वे प्रायः जैनी होते थे। फलतः भोजन मिलना मुहाल हो गया। हमें अपनी सारी जिन्दगी और सारी यात्रा में वैसे कष्ट का सामना कभी नहीं करना पड़ा। बड़ी ही सख्त परीक्षा थी। गाँवों के लोग तुलसीकृत रामायण जैसी अत्यन्त लोकप्रिय पुस्तक तक को नहीं जानते और हमसे प्रश्न करते थे कि आप लोगों की जाति क्या है? फिर खिलाता कौन? इसीलिए भूख से परेशान हो जाना पड़ता था। जिस प्रकार ललितपुर से पहले भूख की गर्मी से नाक से खून तक गिरने लगा था। वही हालत इधर भी होने लगी। एक दिन तो यह नौबत गुजरी कि पूरे बावन घण्टे तक हमें खाना न मिला। जब रास्ते में छोटे-छोटे जंगली करौंदों को तोड़कर हमने खाना चाहा तो उनमें बीज ही बीज पाया। उससे पूर्व एक दिन छत्तीस या चालीस घण्टे के भीतर दोनों को मिलाकर सिर्फ एक छटाँक चना मिल सका था। तब कहीं भोजन मिला। खैर, बावन घण्टों में हमें पूरे अट्ठाईस मील चलने भी पड़े। उसके बाद नर्मदा के किनारे के एक शहर में, जिसका नाम भूलता हूँ, हम पहुँचे। वहाँ एक दाक्षिणात्य ब्राह्मण के घर किसी भोज में हमें भरपेट अच्छा खाना मिला।

वहाँ पर ठीक उस भोजन के समय भी एक अजीब घटना हो गयी। हम खा रहे थे। एक चतुर आदमी ने हमसे प्रश्न किया कि आपको रुपये भेजने हों तो हमसे कहिये, हम भिजवा देंगे। हम यह बात समझ न सके। उसने कई बार ऐसा ही कहा। तब हमने पूछा कि बात क्या है? आखिर में रहस्य खुला कि बहुत से गेरुवाधारी लोग रुपये जमा करते रहते हैं और बाल-बच्चों के पास भेजा करते हैं। उधर नर्मदा तट में ऐसा होता है और वह मनुष्य यह बात जानता था। इसी से उसने हमसे मन-ही-मन मजाक के रूप में ऐसा कहा। पर, उसे पता क्या हम पैसों से कितनी दूर थे। हमने उसे सब बातें स्पष्ट कह दीं। लेकिन हमारे जीवन में यह पहला ही मौका था जब हमने साधु-संन्यासियों के ऐसे घृणित कर्मों का पता पाया।

सागर के बाद रास्ते में एक और मजा भी आया। एक दिन हम पैदल चलते-चलते जंगल से गुजर रहे थे। वह बड़ा ही घना था। उसके बीच के सड़क से हम जा रहे थे। जाड़े के दिन थे। एकाएक शाम हो गयी और किसी गाँव का पता न लगा। अन्दाज हुआ कि गाँव दूर है। बस, हमने पक्की सड़क पर जंगल में ही ठहर जाना ठीक समझा। मगर कपड़े कम थे और रात में जानवरों के खतरे भी थे। इतने में ही एकाएक हमें सड़क पर ही आग नजर आई। गाड़ीवान लोग वहीं ठहरे थे और जलती आग छोड़कर चले गए थे। ऐसा हमें अन्दाज लगा। बस, जैसे-तैसे लकड़ियाँ जला कर हमने रात काटी और अपनी जान बचाई। आग के पास जानवर नहीं आते यह हमें ज्ञात था। शाम से सुबह तक एक आदमी भी उस रास्ते आता-जाता न दीखा। इससे हमने समझा कि वह रास्ता रात के चलने का न था।

(6)

नर्मदा पार माने गाँव में

हमने नर्मदा के उत्तर तटवर्ती उस शहर में रात गुजारी और अगले दिन उसे पार किया। जीवनं में पहली बार उस नर्मदा माई का दर्शन हुआ जिसकी महिमा बहुत सुना करते थे। हमें बचपन में यह भी बताया गया था कि जो वैष्णव आचारी बहुत ही कट्टर होते हैं वह नर्मदा में पाँव नहीं देते। उनकी धारणा है कि नर्मदा में तो असंख्य शिवलिंग (शिवमूर्तियाँ) हैं। अतः उनके सम्पर्क वाला जल स्पर्श करने से धर्म चला जायगा। वैष्णवों और शैवों की इस नादानी और मूर्खतापूर्ण कट्टरता को क्या कहा जाय? धर्म के नाम पर ही ऐसी बेवकूफी सम्भव है।

खैर, हमने नर्मदा की तेज धारा की अनवरत रगड़ से गोल और चिकने पत्थरों का समूह वहाँ देखा और समझ लिया कि इन्हें ही शिवलिंग के नाम से पूजा जाता है। नर्मदा पार होकर नरसिंहपुर पहुँचे और रात में वहीं ठहरे। दूसरे दिन पूर्व की ओर चले और खयाल नहीं कि एक या दो दिनों में मानेगाँव पहुँचे। इसका उल्लेख पहले किया है। आगे बढ़ने के पूर्व यह कह देना है कि लगातार कई महीनों के मस्ताना पर्यटन ने हमें पक्का बना दिया। अनुभव भी खूब हुए। पहले तो हमें भूख इतना सताती थी कि बेचैन हो जाते थे। अगर एक समय भोजन न मिले तो आफत। एकादशी या उपवास करना भी असंभव था। फलाहार करने पर भी हम तिलमिला जाते थे। मगर यह सभी बातें जाती रहीं। अब तो यदि चौबीस घण्टे में एक बार भोजन मिल जाता तो हम मस्त रहते।

नरसिंहपुर जिले (मध्यप्रान्त) के मानेगाँव नामक ग्राम में एक बहुत ही सम्पन्न क्षत्रिय मालगुजार रहते थे। बिहार, बंगाल, युक्तप्रान्त के जमींदारों के ही स्थान पर करीब-करीब उनके जैसे ही मध्यप्रान्त के मालगुजार होते हैं। खेद है, मैं इस समय उनका नाम भूल रहा हूँ। उनके चार सुयोग्य लड़के थे जब हम वहाँ पहुँचे। हमारे साथी एक बार गृहस्थ की दशा में जा चुके थे। इसीलिए फिर हम दोनों गए। वे संन्यासियों के बड़े ही सेवक थे। पहले तो नहीं, पर, पीछे हमारे साथी को उन्होंने पहचाना और उन्हें संन्यासी देख खुश हुए। उन्होंने घर के सामने ही लम्बेबाग में दो मन्दिर शिव और विष्णु के पूर्व पश्चिम बनवा रखे थे। उन दोनों के बीच में पक्की लम्बी फर्श थी। इससे साफ था कि उनके यहाँ शैव वैष्णव के झगड़े की नादानी की गुंजाइश न थी। स्वयं उन्हें वेदान्त-दर्शन का बड़ा-ही शौक था। हालाँकि, संस्कृत के अनभिज्ञ थे। लेकिन वेदान्त के जितने ग्रन्थ हिन्दी में लिखे गए, या संस्कृत आदि से जिनका कहीं भी अनुवाद हिन्दी में हुआ था उन्हें उनने ढूँढ़कर मँगा लिया था। इतना ही नहीं सबों को पढ़ा और समझा था। उनके गुरु एक अच्छे विद्वान् विरक्त संन्यासी थे। उनसे ही उन्होंने सब ग्रन्थ पढ़े थे और ज्ञान प्राप्त किया था। इसीलिए

उस संन्यासी के और उसके करते अन्य संन्यासियों के भी परमभक्त वे बन गए थे।

उस विरक्त महात्मा की भी विचित्र कथा है। हमसे बाबू साहब ने कहा कि लाख कोशिश करने पर भी वे यहाँ ठहरते ही नहीं। महीना-आध महीना रह के चुपचाप निकल जाते हैं और भटकते फिरते हैं, कष्ट भोगते हैं। फिर कुछ दिनों बाद अचानक आ जाते और उसी तरह चले भी जाते हैं। सौभाग्यवश वे वहीं थे उसी सामने वाले बाग में जो सुन्दर पक्का बँगला था उसी में ठहरते थे। हम लोग उनसे मिलने गए। देखा कि बँगले के भीतर दीवारों में अलमारियाँ बनी हैं और उनमें पुस्तकें सजी-सजाई हैं। ठाकुर साहब की सभी पुस्तकें यहीं थीं। महात्मा जी संस्कृत पढ़े-लिखे थे। हमारे वार्त्तालाप में उनने बताया कि क्यों बराबर वहाँ टिकते नहीं।

उनका कहना था और हमारे आज तक के अनेक अनुभवों ने उसे ठीक माना है कि गृहस्थ लोग पहले तो खूब ही प्रेम करते और जी-जान से सेवा करते हैं। वे ऐसा करते-करते विरागी साधु-सन्तों को फँसा लेते हैं। लेकिन जब देखते हैं कि ये महात्मा लोग एक प्रकार से उनके आश्रित और आलसी बन गए, फलतः बाहर जा नहीं सकते तो जान या अनजान में अनादर करना शुरू कर देते हैं। साधु बेचारा भी लाचार बर्दाश्त करता है। क्योंकि आराम के जीवन ने बहुत दिनों के बाद साधारण गृहस्थ और उसमें वस्तुगत्या कोई अन्तर रख छोड़ा ही नहीं। इसलिए कहीं चले जाने में उन्हें कष्टों और भूख-प्यास का महान् भय सताता रहता है। इस पर हमने उनसे कहा कि इन बातों को जानते हुए भी आप कैसे फँस सकते हैं? सजग रहिये और जब ऐसा देखिये तो सटक सीताराम हो जाइये। यों रह-रह के भागने का क्या मतलब? आप अपने को इतना दुर्बल दिल का क्यों मानते हैं कि फँस जायँगे? उन्होंने उत्तर दिया कि जब बिजली एकाएक चमकती है तो मजबूत से मजबूत दिल वालों की आँखें खामख्वाह झप जाती हैं। यही हालत इन्द्रिय-सुखों की है। वे बड़े से बड़े त्यागी, विरागी और विवेकी तक को फँसा लेते और बन्धन में डाल देते हैं। इसीलिए मैं रह-रह के बाहर भागता और क्षुधा-तृषा आदि के कष्टों का सामना करता हुआ अपने को भीतर और बाहर दोनों ही तरफ से दृढ़ रखना चाहता हूँ। बात तो ठीक ही है। हमने सहस्रों संन्यासी देखे हैं जो प्रारम्भ में विरागी और त्यागी होते हुए भी इसी प्रकार सांसारिक बन गए। हालाँकि, अन्त तक अपने आप को महात्मा ही समझते रहे।

उस त्यागी संन्यासी का उसके प्रायः वर्षों बाद अचानक दर्शन हमें हृषीकेश में मिला। मगर फिर वहाँ से भी वे एकाएक चलते बने। जहाँ तक स्मृति बताती है। हम लोग मानेगाँव महीनों रह गए। वहाँ खूब वेदान्त चर्चा होती थी। ठाकुर साहब चतुर और पठित पुरुष थे। इसलिए तर्क-वितर्क और वेदान्त के सूक्ष्म प्रश्नों पर उनसे वार्त्तालाप खूब ही होता था। ठाकुर साहब का कहना था कि यथाशक्ति मैं चार दान

करता हूँ। बाहर से जो कोई साधु-फकीर या भूखा-नंगा आता है उसे अन्न-वस्त्र देता हूँ। कोई भी निराश लौटने नहीं पाता। मुक्त दवा देने का भी प्रबन्ध कर रखा है, जिससे देहातों में असहायों को औषधि दान कर सकूँ। पुस्तकालय और वेदान्त ग्रन्थों का संग्रह कर के लोगों को ज्ञान देता हूँ। आनरेरी मजिस्ट्रेट की हैसियत से निष्पक्ष और सुलभ न्याय का दान करता हूँ। बातें भी ठीक ही थीं। हमने अपनी आँखों देखा। अपने चारों सुपुत्रों को भी उनने यही शिक्षा दी थी कि बराबर चारों दान जारी रखें। इस प्रकार मैंने उन्हें कोरा वेदान्ती नहीं पाया। किन्तु वेदान्त ज्ञान का व्यावहारिक रूप उनमें देखा। असल में वे आदर्श गृहस्थ थे।

काश, और लोग भी उनसे यह शिक्षा ग्रहण करते और वैसे ही वेदान्ती हमारे देश में असंख्य पाए जाते! यहाँ तो वेदान्त ज्ञान विषयलालसा, धन संग्रह और कर्तव्य विमुखता का साधन बन गया है। वेदान्ती कहा करते हैं कि हम तो अखण्ड निर्लेप ब्रह्मस्वरूप हैं। हमारा कोई कर्तव्य है नहीं। कहते हैं कि वेदान्तियों के महल्ले में कोई मुर्गी कहीं से भटक कर आ निकली तो उन्होंने उसे उदरस्थ कर लिया और पीछे पूछने पर उत्तर दिया कि संसार तो स्वप्नवत् मिथ्या है। फिर तुम्हारी मुर्गी कहाँ से आयी?

मैं भी जब आज इतने दिनों के बाद उक्त ठाकुर साहब के चारों दानों और वेदान्त ज्ञान का विचार करता हूँ तो अपने ऊपर तरस आता है कि उन दिनों तो मैं पक्का वेदान्ती था, फिर भी उन जैसा कर्तव्यपरायण और व्यावहारिक मनुष्य क्यों न बना? आखिर उन्हें देख कर भी मुझे यह अक्ल बहुत दिनों तक—प्रायः दस वर्षों तक—क्यों न सूझी और भटकता फिरा? असल में मेरा वेदान्त तब अपरिपक्व था और उनका था परिपक्व। इसी से मुझे तब यह बात न सूझी। पीछे परिपक्व होने पर सूझी है। लेकिन मैंने उनके उन चारों दानों को हृदय से पसन्द किया यह इसकी सूचना थी कि मेरे भीतर कोई प्रसुप्त सी चीज है जो कालान्तर में उस ओर मुझे घसीटेगी।

अस्तु जीवन में पहली बार वहीं पर हमने खीर खाई जिसमें नमक भी मिला था। कहा गया कि इधर यह चाल है। पता नहीं, अब है या नहीं।

(7)

ओंकारेश्वर की ओर

महीनों बाद एक दिन हमने ठाकुर साहब से विदाई ली और फिर पश्चिम की ओर चल पड़े। खण्डवा जाना था। जहाँ तक हमें याद है, बाबू साहब ने कड़कबेल स्टेशन पर अपने आदमी को भेज हम-दोनों के लिए खण्डवा या ओंकारेश्वर तक का टिकट

दिलवाकर ट्रेन पर चढ़ा दिया। अतः हम आसानी से ओंकारेश्वर तो जरूर पहुँच गए। परन्तु भ्रमणवाला मज़ा न मिल सका। खण्डवा से छोटी लाइन ओंकारेश्वर होती उज्जैन की तरफ जाती है। हम उसी से ओंकारेश्वर पहुँच गए। नर्मदा जी में स्नान करके मध्यधार में स्थित पहाड़ी पर जाकर बाबा ओंकारेश्वरनाथ जी का दर्शन किया और उन पर नर्मदा जी का जल चढ़ाया।

लोग कहते हैं कि श्री शंकराचार्य और श्री मण्डन मिश्र का जो प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ था और जिसमें हारकर श्री मण्डन मिश्र श्री सुरेश्वराचार्य के नाम से शंकर के शिष्य हो गए थे, वह माहिष्मती पुरी में हुआ था। शंकर दिग्विजय में लिखा भी गया है कि "माहिष्मतीं मण्डन मण्डितां सः"। हमने ओंकारेश्वर में ही माहिष्मती का पता पाया जो उससे कुछ पश्चिम नर्मदा के तट पर है। उस 'विजय' में यह भी लिखा है कि रेवा (नर्मदा) की लहरों से शीतल वायु माहिष्मती में बहती थी—रेवा मरुत्कम्पित सालमालः। फिर समझ में नहीं आता कि मिथिला में क्योंकर मण्डन मिश्र को घसीटने की कोशिश होती है। शायद 'मिश्र' उपाधि देखकर ही। परन्तु हजारों वर्ष पूर्व आज वाली वंश-परम्परागत मिश्रादि उपाधियों का तो नाम भी न था। तब तो (मिश्र) और (पाद) शब्द आदर और विद्वत्ता के अर्थ में कभी-कभी प्रयुक्त होते थे। ऐसा मुझे पुराने ग्रन्थों में मिला है।

ओंकारेश्वर जी के दर्शन के बाद हमें बाबा कमलभारती जी के दर्शन की चिन्ता हुई। वह वहीं पर नर्मदा के उत्तर तट में जंगलों में कुटी बनाकर रहते और योगाभ्यास करते थे। ऐसा हमें बताया गया था। परन्तु वहाँ पूछने से पता चला कि वे योगी-ओगी न थे। उन्होंने तो केवल औषधियों और संयम के बल से कालाकल्प मात्र किया था। इससे तगड़े एवं हृष्टपुष्ट हो गए थे। इसी से उनके भक्तों ने उनके योगी होने की घोषणा कर डाली थी। लेकिन गाँव-घर और पास-पड़ोस के लोग तो आदमियों या वस्तुओं का पूरा आदर नहीं करते हैं यह समझ हमने पूछा कि उनके शिष्य कोई हैं या नहीं। बताया गया कि एक नागा नौजवान खूब खाक रमाने वाले उनके उत्तराधिकारी हैं। बस, हमारे लिए यह काफी था और हम उस कुटिया पर गए। पता लगा कि नागा महाराज गुफा में बन्द हैं, पीछे निकलेंगे, शाम को या रात में। हमने समझा योगाभ्यास करने गए होंगे। अतः रात में वहीं ठहरना पड़ा। जब निकले तो उनसे बातें होने पर वे कोरे साबित हुए। हमें पता लगा कि कमल भारती वाली गुफा में घुसकर वे खूब सोते और आराम करते हैं। इसे ही सीधे-सादे भक्तजन मानते हैं कि योगाभ्यास करते हैं। बस, इतने से उनकी पूजा-प्रतिष्ठा होती रहती है।

वहाँ हमें जो निराशा हुई वह वर्णनातीत है। जिस बात के लिए इतनी खाक छानी और अपार कष्ट झेले वह बेबुनियाद सिद्ध हुई। लेकिन बस था ही क्या? हमने देखा है कि यों ही योगी और सिद्ध महात्मा होने की प्रसिद्धि कराके धार्मिक और अन्धविश्वासी आसानी से संसार में ठगा जाता है। फिर भी इस पहले धक्के से हमारा

विश्वास सच्चे योगियों के अस्तित्व से न डिगा और हमने आगे बढ़ने की ठानी।

जब वहाँ से उत्तर पैदल ही बढ़े तो होलकर (इन्दौर) की रियासत में होकर चलने लगे। एक स्थान, जिसका नाम हम ठीक याद नहीं कर पाते, पर शायद बढ़वान है, में हमें एक सुन्दर जगह मिली। वहाँ एक पतला झरना बहकर सुन्दर कुण्ड में गिरता दीखा। लोगों का कहना है, यह सरस्वती की धारा है। इसीलिए तीर्थ स्थान की तरह वहाँ लोग स्नानादि करते हैं। यह सरस्वती विचित्र है। जगह-जगह इसकी धाराएँ बतायी जाती हैं। कहते हैं कि यह नदी तो गुप्त है। केवल स्थान-स्थान पर प्रकट हो जाती है। हम आगे फिर इस सरस्वती की बात लिखेंगे जो सिद्धपुर में, जहाँ कपिल महाराज ने अवतार लिया, ऐसा माना जाता है, दूर तक फैली हुई बहती है। हालाँकि, उसमें जल नाममात्र को ही रहता है। फिर मेहसाना के निकट पाटन (बड़ौदा-स्टेट) में भी हमें वही सिद्धपुर वाली धारा मिली।

खैर, जो हो, वहाँ रहके हम आगे बढ़े और मऊ छावनी होते खास इन्दौर में पहुँच गए। उधर हमने जैन मतवालों के स्थान और मकान बहुत देखे और मन्दिर भी। उनके साधु भी नजर आए। वे नाक के ऊपर से एक छोटे कपड़े का पर्दा मुँह के नीचे तक लटकाए रहते हैं। एक लम्बे धागे में छोटा कपड़ा लगाकर धागा सिर के पीछे बाँध देते हैं और कपड़ा नाक-मुँह पर लटका रहता है। कहते हैं कि उससे गर्म साँस दूर तक फैलकर वायु में व्याप्त जीवों का नाश नहीं कर पाती। यह और कुछ नहीं सिर्फ अहिंसा की पूजा का नतीजा है! वे छोटे डण्डे में बँधे सूतों के गुच्छे वाली झाड़ू भी साथ में रखते हैं। उन्हें जहाँ बैठना होता है उसी से झाड़कर बैठते हैं, ताकि कीड़े-मकोड़े दब कर चूतड़ के नीचे मर न जायँ! सूत की झाड़ू नरम होती है। इससे उससे कीड़े नहीं मरते। मगर चलने में क्या होता है? वहाँ कौन सी झाड़ू देकर पाँव उठाते और डालते हैं? यदि चलना-फिरना और साँस लेना ही बन्द कर दिया जाय तभी उनकी अहिंसा शायद पूरी होगी। वे लोग हाथ में एक लम्बा काष्ठ दण्ड भी रखते हैं। उसका अभिप्राय गलत या सही मुझे बताया गया कि मार्ग में कहीं विष्ठा मिलने पर वे उसी से उसे फैला देते हैं, ताकि शीघ्र सूख जाये, जिसके सड़ कर उसमें कीड़े पैदा होने और मरने से बच जायँ। औरतें भी उसी सूरत में मिलीं। कुछ जैन साधु-साधुनियों को श्वेत वस्त्र पहने देखा और कुछ को पीत। मगर सिर पर बाल शायद ही किसी को रहा हो। जैसे लम्बे ज्वर के बाद सिर के बाल गिर पड़ते हैं और एकाध ही जहाँ-तहाँ नजर आते हैं और चेहरा भी पीला एवं मनहूस नजर आता है। हू-ब-हू वही हालत सबों की देखी! कहते हैं कि नहाने धोने में देह, वस्त्रादि मलने-दलने से हिंसा होती है। इसीलिए वे लोग शायद ही कभी नहाते हों। फलतः देह में गर्मी ज्यादा रहने से चेहरा फीका पड़ जाता और बाल गिर पड़ते हैं। बात क्या है, कह नहीं सकता। मगर सबों की सूरत देख कर मुझे हैरत हुई कि वह धर्म किस काम का जिसमें जीतेजी ऐसी दुर्दशा हो? कम-से-कम शरीर चुस्त

हो, चेहरे में रौनक हो, वह हँसता हो, शरीर-वस्त्रादि स्वच्छ हों तो समझा जाय कि मन भी स्वच्छ और स्वस्थ होगा। क्योंकि मन का घर तो शरीर ही है और अगर घर ही डगमग या गन्दा है तो उसमें रहने वाले की क्या हालत होगी यह सहज ही जान सकते हैं।

सन् 1907 के जाड़ों के दिन थे, या कि सन् 1908 का श्रीगणेश था, कह नहीं सकता, जब हम इन्दौर पहुँचे। वहाँ हमने बादशाही बाग में पले चीते वगैरह देखे। उन्हें लोहे के घेरे के भीतर रोज मांस खाने को दिया जाता था। हमने एक दिन देखा कि भीतर घुस के एक मेहतर सफाई कर रहा था। जब बड़ा-सा चीता उसकी ओर चला तो उसने हाथ में रखी पतली-सी मामूली छड़ी से उसे मारा और वह हट गया! हमें आश्चर्य हुआ। शायद वही रोज चीते को मांस देता था। इसलिए एक प्रकार का नाता जुट जाने से चीता उसका लिहाज करता था। नहीं तो पतली लकड़ी की परवाह न कर उसे चबा जाता।

जाड़ों में हमारे ओठ फटने लगे थे। इसलिए आँख के सिवाय सभी चेहरों को कपड़े से ढँककर हम चलते थे। एक दिन रास्ते में इन्दौर राज्य की पुलिस ने हमसे कहा कि मुँह खोलकर चलना होगा शायद उसे खयाल हो कि हम कोई भगोड़े या फरार मुँह छिपाये चल रहे हैं। लेकिन हम तो दो ही एक रोज में वहाँ से आगे उज्जैन की ओर बढ़ चले। फलतः पुलिस से कोई भिड़न्त हमारी न हो सकी।

(8)

महाकाल का दर्शन

आखिर चलते-चलाते और रास्ते में अनेक कष्ट भोगते, क्योंकि खाने-पीने में प्रायः कष्ट होता था, हम हिन्दुओं के द्वादशज्योतिर्लिङ्गों में गिने जाने वाले बाबा महा कालेश्वर की पुरी उज्जैन में पहुँचे। जाड़ों के ही दिन थे। रास्ते में कई महीने से हमारे सिर के बाल नहीं बने थे। साथ ही, धूल पड़ने से सिर की अजीब दशा थी। हमें जरूरत थी कि कोई चतुर हजाम हमारा सिरमुण्डन करे और हमें शान्ति दे। एक बूढ़ा नाई मिल ही तो गया। सिर पर पतली-सी पगड़ी बाँधे हुए। उसकी बात हमें भूलती नहीं। वैसा चतुर और कारीगर नाई हमें तो फिर नहीं मिला। पतले से छुरे से बात की बात में धूल मिट्टी से लदे हमारे सिर को उसने साफ कर दिया। छुरा भी उतना ही तेज और अच्छा था। सिर पर एक किनारे से दूसरे तक सर्रसर्र चलता था जैसे कोई बेफिक्र घास गढ़ता हो। हमने हजाम को भर पेट धन्यवाद दिया।

उज्जैन में क्षिप्रा नदी है जिसे सिप्रा भी कहते हैं। वह राजा भोज की पुरी भी मानी जाती है। हमने पुराने गढ़ आदि देखे। बाबा महाकालेश्वर शिव का दर्शन

किया। वे बहुत ही छोटे-से मन्दिर में उस समय थे। सिप्रा में स्नान करते, दर्शन करते और जूना महाकाल के मन्दिर में रात में ठहरते थे। कहते हैं कि महाकाल दो हैं। आजकल नये महाकाल की ही प्रतिष्ठा और पूजा है। जूने (पुराने) महाकाल को अब लोगों ने छोड़-सा दिया है। उन्हीं के मन्दिर में हम रहते थे। मन्दिर सादे पत्थरों का था। बहुत पुराना नहीं मालूम होता था। हालाँकि जूना कहे जाने से तो उसे पुराना ही होना चाहिए था। हमें ठीक-ठीक स्मरण नहीं कि कितने दिन वहाँ ठहरे। लेकिन शायद पन्द्रह दिन या ज्यादा ठहरे होंगे। फिर हम ऊब गये और आगे प्रस्थान करने की हमने सोची।

अब मथुरा पहुँचने का हमारा विचार हुआ और इसी दृष्टि से उज्जैन से निकल पड़े। आगे एक विचित्र घटना हुई। शाम के समय शायद उसी दिन या दूसरे दिन एक शहर में पहुँचे। खा-पी चुके थे ही और चौबीस घण्टों में एक ही बार खाते थे। इसीलिए शहर के भीतर न जाकर बाहर ही एक मन्दिर पर ठहरे। वहाँ एक पत्थरों की बनी गुफा थी। सोचा इसी में कुछ समय ठहरेंगे। शहर में भिक्षा एक बार करेंगे और यहीं अभ्यास करेंगे एकान्त में। पास में ही कुछ हटकर, एक लम्बे तालाब के तट पर हमने राख की ढेरें देखीं। पूछने से पता चला कि जैनी लोग अपने मुर्दों को यों ही लकड़ी और उपलों के बीच में रख के जलाते और वहीं छोड़ देते हैं। राख को कहीं और नदी-नाले में नहीं बहाते।

अस्तु, दूसरे दिन खाने के समय जब हम शहर में गये तो अजीब बात हुई। चारों ओर जैनी लोग ही नजर आये। ब्राह्मण या हिन्दू कहीं एकाध दीखे, सो भी गरीब। फलतः हमें किसी ने भी खाने को न पूछा। हमारे सब मनोरथों पर पानी फिर गया। लाचार हम वहाँ से रवाना हो गये और पक्की सड़क पकड़ कर पूर्व ओर बढ़े। तीसरे पहर एक और गाँव में हमने कुछ खाने की कोशिश की। मगर असफल रहे। फिर तो हमने उस दिन और यत्न करना छोड़ ही दिया।

9

वह भोजन

शाम होते-होते एक गाँव में पहुँचे और जैसा कि उधर का कायदा है, किसी के दरवाजे पर न ठहर कर गाँव के बीच में बनी मिट्टी की धर्मशाले में जा ठहरे। नहीं खाने-पीने से कुछ मनहूसी तो थी ही। इतने में एक ने आके पूछा कि आप लोग कौन हैं। हमने बताया। उससे पूछने पर उसने अपने आपको ब्राह्मण बताया। फिर चला गया। हम भी सब आशा छोड़ सोने की कोशिश में मुँह ढँके पड़े थे। रात के नौ-दस बजे होंगे। अचानक उसने आके हमें जगाया और कहा कि चलिए भोजन कीजिए। उस

समय की हम अपनी मनोवृत्ति का क्या वर्णन करें। हमने समझा कि यह भगवान है या कौन है। खैर, हम दोनों उसके घर गये। पहले तो गर्म पानी से उसने हम दोनों के पाँव धोये। इस प्रकार जाड़े के रास्ते की थकावट हटाई। फिर खाना परोसा। उसकी पत्नी ज्वार की पतली-पतली रोटियाँ बनाती जाती थी और गर्मागर्म रोटियाँ हमें वह ब्राह्मण देता जाता था। कुछ गुड़, कोई साग और कुछ ऐसी ही चीजें थीं जिनका उन रोटियों से मेल मिलता था। हमने खूब खाया—बहुत ज्यादा खाया। वह रोटियाँ इतनी मीठी लगीं कि अब तक भूलीं नहीं। एक तो भूख थी दूसरे उसकी अपार श्रद्धा थी। तीसरे उधर ज्वार ही ज्यादा होती है और वे लोग उसकी रोटियाँ बनाना जानते हैं। इन तीनों के करते उसमें मिठास बेहद था। भोजन के बाद हमने हृदय खोल के उस गरीब ब्राह्मण को आशीर्वाद दिया। जिन्दगी में वह एक ही घटना थी और आशीर्वाद भी फिर हमने कभी किसी को उस प्रकार दिया ही नहीं। सिवाय एक और के जो आगे मिलेगा। फिर रात में धर्मशाले में सोये और सुबह चुपचाप रवाना हो गये।

(10)

गुरुडम की माया

हम एक बात कहना भूल गये। असल में समय का नोट हमारे पास नहीं होने से यह बात हो गयी। उज्जैन आने के पहले हम मध्यभारत की एक छोटी-सी रियासत राजकोट में पहुँचे। राजकोट कई होने के कारण उसके पास के ब्यावरा नामक स्थान को मिलाकर उसे राजकोट ब्यावरा कहते हैं। ब्यावरा में हमने एक वैष्णव मठ में देखा कि एक साधु दिन में कभी भूमि पर बैठता या लेटता न था—बराबर खड़ा ही रहता था। कहते थे कि बारह वर्ष तक ऐसा ही रखने का उसने संकल्प किया है। रात में सोने के समय एक ऊँचे चबूतरे पर सिर रख के गर्दन झुका देता और उसे हाथ से पकड़ के कुछ सो लेता। उसके घुटनों के नीचे स्थान-स्थान पर जख्म हो गये थे जिनसे पानी जैसा निकला करता था। वह स्थान फूले से थे। नश्तर के जरिये वह स्वयं उन भागों से खून या पानी निकलवाया करता था। उसके द्वारा प्रकृति पुकारती थी कि बैठो, सोओ। मगर उसका हठ था कि नहीं। सुनते हैं, बारह वर्ष तक बराबर खड़े रहने वाले वैरागी साधु (ठड़ेसरी) कहे जाते और किसी महन्त के मठ में अधिकारी होने के हकदार हो जाते हैं। इस तपस्या से मुक्ति तो निकट होई जाती है। कैसी मूर्खता और अन्धभक्ति है। धर्म के नाम पर क्या नहीं हो सकता है।

जब हम राजकोट पहुँचे तो दैवात् भोजन का समय होने से राजा के दीवान

के घर जा पहुँचे। एक कायस्थ महाशय उनके दीवान थे। हमारे भोजनादि का प्रबन्ध उनने किया। उसके बाद कुछ धर्मचर्चा चली। उन्होंने हमसे पूछा कि गीता जानते हैं? हमारा उत्तर था कि वह तो हमारी खास चीज है। बस, अब क्या था, उन्होंने हमें बड़े प्रेम से रोका और कहा कि राज दरबार में गीता के एक श्लोक को लेकर परेशानी है। उर्दू, फारसी, अंग्रेजी आदि की कई टीकाएँ हैं। मगर राजा साहब को उनसे सन्तोष नहीं हो रहा है। काम रुका-सा है। मैं जाकर ख़बर देता हूँ। फिर आप लोग वहाँ बुलाये जायँगे। इतना कह के वे चले गये। पीछे हमारी बुलाहट दरबार में हुई। हम गये और बहुत आदर के साथ बैठाये गये। गीता के—**''कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्''** (4।18) श्लोक पर ही वहाँ झमेला था। हम लोगों ने फौरन उसे सुलझा दिया और देर तक व्याख्या करके सभी को सन्तुष्ट किया। फिर तो हमारी बड़ी प्रतिष्ठा हुई। दीवान जी को राजा साहब ने कहा कि महात्मा लोगों को आराम से यहाँ रखिये कुछ दिनों तक जरूर।

वहाँ से दीवान साहब के घर आये। वहाँ पर उनकी बूढ़ी माँ ने हठ किया कि मैं अभी तक गुरुमुख नहीं हुई हूँ। मुझे मन्त्र दे दीजिये। घर के और लोग भी चाहते थे। धीरे-धीरे वह बाजार बढ़ता जैसे कि लक्षण थे। हम बुरी तरह घबराये और सोचा कि कहाँ आ फँसे। खयाल आया कि अब तो राजधानी के बहुत लोगों के साथ और राजा के साथ भी फँस के यहीं रह जाना पड़ेगा। फलतः 'आये थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास' चरितार्थ होगा। दो-बार दिन तक हमने टालमटूल किया कि अब मन्त्र देंगे, तब मन्त्र देंगे। फिर एक दिन तड़के वहाँ से चुपचाप भाग निकले। इस प्रकार उस महाजाल से बचे।

उस दिन वहाँ से चल के कुछ दूर पर जालखेड़ी या कुछ ऐसे ही नाम के गाँव में जा पहुँचे। वहाँ एक वैश्य सज्जन वेदान्त के सत्संगी थे। वह राजकोट से भी सम्बन्ध रखते थे। वहीं पर कुछ दिन ठहर गये। वहीं जाड़े की अधिकता के कारण चाय पीने की परिपाटी मालूम हुई। हमें भी कुछ कह-सुन के एक-दो बार चाय पिलाई गयी। जीवन में यह चाय पीने का दूसरा अवसर था। आखिर जब हमारी पेशाब में सुर्खी नजर आने लगी तो सभी घबराये तब कहीं हमें चाय से फुर्सत मिली। फिर तो सुर्खी जाती रही, और हमने सदा के लिए चाय महारानी से असहयोग कर लिया।

हमने उधर यह भी देखा कि लालमिर्च लोग बहुत ही खाते हैं। एक आदमी के खाने में उसकी मात्रा एक छटाँक तो होती ही है। हम भी अपेक्षाकृत कुछ ज्यादा ही मिर्चा खा जाते थे। फलतः पाखाने के समय गुदामार्ग में एक प्रकार की जलन सी होती थी। हर चीज में वह पड़ती थी ही और कोशिश करने पर भी उससे बचना असम्भव हो जाता था।

(11)

मथुरा की तरफ

हाँ, तो उस गरीब ब्राह्मण के घर रात में ज्वार की रोटी का सबसे मीठा भोजन करके हम लोग अगले दिन आगे बढ़े। कुछ दूर चलने के बाद किसी रेलवे स्टेशन पर एक सज्जन ने ट्रेन में बिठा दिया जिससे हम लोग मथुरा चले आये। ब्रज में घूम-घामकर हाथरस के रास्ते गंगा तट पहुँच हरद्वार जाने का निश्चय किया। वहाँ से हृषीकेश होते बदरीनारायण के दर्शनों का विचार था। हाथरस में हमें पहली बार ऐसा गहरा कुआँ मिला जिसमें साठ हाथ से कम गहराई में पानी न था। हमारी लम्बी रस्सी खत्म हो गयी! फिर भी हमारा कमण्डलु (जलपात्र, जो दरियाई नारियल का होता है) पानी तक पहुँच न सका। हमें पास के कपड़े जोड़ कर किसी प्रकार पानी निकालना पड़ा। यह भी एक अनुभव था कि इतनी गहराई से पानी निकलता है। बम्बई के पास टापुओं में सिंघाड़े की तरह की एक चीज पानी में होती है। फर्क यही है कि उसके फल बहुत ही लम्बे होते और दो-दो एक में जुटे होते हैं। वही दरियाई नारियल है। वह बड़ा ही सख्त होता है, ऐसा कि काटना मुश्किल है। वजनी भी होता है और पानी रहने पर सड़ता भी नहीं। उसके भीतर की गूदी (गिरी) दवा के काम आती है और ऊपर का ढाँचा कमण्डलु वगैरह के काम। कहते हैं कि उस गिरी या अन्ततोगत्वा कमण्डलु को ही घिस कर पिला देने से हैजे का शमन होता है। संन्यासी लोग, और अब तो दूसरे साधु भी, वही कमण्डलु, उसमें काठ का हैण्डल वगैरह लगाकर अपने काम में लाते हैं। संन्यासियों को धातु के पात्र रखने की आज्ञा शास्त्रों में नहीं है, ऐसा माना जाता है।

(12)

हमारे साथी की कहानी

अपने साथी श्री हरिनारायण जी के बारे में यहीं पर कुछ कह देना चाहता हूँ, घर में उनको कोई लड़का न था। सिर्फ लड़कियाँ, स्त्री और फूआ थीं। फूआ बूढ़ी विधवा थीं और वहीं रहती थीं। वे कभी-कभी एकाध पत्र स्त्री को सांत्वना देने के लिए लिख दिया करते थे और यह साफ नहीं लिखते थे कि संन्यासी हो गये। मैं यह चीज पसन्द नहीं करता था, पर करता क्या? वे श्रेष्ठ थे और मुझे बहुत कुछ उनने सिखाया था। फिर भी मैंने यहाँ तक खयाल नहीं किया कि उसका परिणाम बहुत दूर तक जायेगा। लेकिन हुआ वही। जब सन् 1908 ई. में हम और वह बदरीनारायण की यात्रा में अलग हो गये तो वह वहाँ से लौटकर घूमते-घूमते काशी आये, घर

जा पहुँचे और गाँव से दूर कुटी बनवाकर रहने लगे। पीछे तो गेरुआ फेंककर गृहस्थ भी बन गये! बहाना यह निकाला कि जमीन-जायदाद की कोई लिखा-पढ़ी न होने के कारण स्त्री को कष्ट होगा और दूसरे सम्बन्धी जायदाद ले लेंगे। उन्होंने जायदाद की लिखा-पढ़ी की। शायद एकाध सन्तति भी पैदा की। फिर दोबारा संन्यासी बने और मुझसे मिले। इस बार मेरे गुरुजी से ही दण्डी बने। तब तक मैं भी दण्डी हो चुका था। यह बात यथास्थान आगे आयेगी।

मैंने काशी में दर्शन काफी पढ़े और व्याकरण भी। फिर दोनों साथ ही भ्रमण के लिए निकले। साथ में बहुत ज्यादा दर्शन ग्रन्थों का गट्ठर भी लाद लिया। क्योंकि इस बार उन्हें ये ग्रन्थ पढ़ने थे और मुझ पढ़ाने। अन्त में गुजरात में वर्षा के कई मास पाटन में रह के वे फिर मुझसे अलग हो गये। मैं तो काशी फिर आ गया और वे भी कुछ दिनों के बाद पुनः घर पहुँचे और वहीं रह के संन्यासी के वेष में ही गृह प्रबन्ध करने लगे। मुझे खबर लगी तो वहाँ गया और वे मुझसे मिले। मैंने समझाया कि यह पाखण्ड क्यों करते हैं, गृहस्थ बन कर रहिये और फिर यहाँ से न हटिये। उन्होंने बात मान ली। लेकिन कुछ दिनों बाद फिर संन्यासी बने और आखिर में पुनः घर आ गये तब से बराबर वहीं रहने लगे।

इधर जब कभी भेंट हुई मैंने उन्हें साहस बँधाया। मैं जानता था कि उनमें यह कमजोरी है। इससे वे लज्जित भी बहुत रहते थे। अच्छे विद्वान् और धर्म-कर्म के ज्ञाता होकर भी उनकी यह दशा हुई। इससे हमें शिक्षा मिलती है। उनकी पहली बार जो यह हरकत हुई और घर चले गये उससे मेरे सम्बन्धियों को भी साहस हुआ कि मुझ पर भी दबाव डालकर घर ला बैठायें। मगर मैं इसमें कब पड़ने वाला था? पीछे तो उन लोगों ने सदा के लिए यह विचार छोड़ ही दिया। वह उनका अन्तिम प्रयत्न था। तब से मुझे कितनी ही बार उधर जाने का अवसर मिला है। मगर गाँव घर के लोगों के भाव अब दूसरे ही पाये गये हैं।

(13)

हरिद्वार और हृषीकेश

हाथरस से पैदल चलकर हम लोग सोरों पहुँचे ठेठ गंगा माई के किनारे। जहाँ तक याद है महाशिवरात्रि का मेला था। लोग गंगा स्नान कर रहे थे? हमने जीवन में पहली ही बार आश्चर्यचकित नेत्रों से देखा कि लोग यों ही गंगा के आरपार चले जा रहे हैं। नाव की जरूरत हुई नहीं। क्योंकि जल नदारद! हम समझ न सके कि इसका क्या रहस्य है। पीछे पता चला कि गंगा से दो-दो नहरें निकाले जाने के कारण जाड़े और गर्मी में पानी उसमें रहता ही नहीं। हाँ, कानपुर के पास इन नहरों का

बचा-बचाया हुआ पानी फिर उसमें जब जा गिरता है तो जल नजर आता है।

अस्तु, हम गंगा के तट को पकड़ कर उत्तर मुँह चले। रास्ते में वे स्थान देखे जहाँ से नहरें निकली हैं। जब हम अनूपशहर पहुँचे तो देखा कि कच्ची रोटियों की दूकानें लगी हैं और हलवाई की दूकानों की तरह लोग वहाँ बैठकर पूड़ियों के बजाय दाल, रोटी, साग, तरकारी खाते हैं। हमारे ध्यान में भी यह बात अब तक नहीं आ सकी थी कि हलवाई के अतिरिक्त हिन्दुओं के भी दाल, भात, रोटी, आदि के होटल और भोजनालय हो सकते हैं। इसीलिए जब पहली बार ऐसा देखा तो हमें महान् आश्चर्य हुआ।

दूसरा आश्चर्य बहुत दिनों बाद तब हुआ जब सनातन धर्म सभा के लिए मुलतान जाते हुए अम्बाले में स्टेशन पर 'हिन्दू रोटी लो, मुसलमान रोटी' कहते देखा और कच्ची रोटियाँ बिकती पाईं। असल में हमारी धारणा थी कि होटल तो मुसलमानों और कृश्तानों के ही हो सकते हैं। हमने काशी, प्रयाग आदि में और देखा भी न था। पीछे जब होटल सभी के हो गये तो भी खयाल था कि छुआछूत के लिहाज से स्टेशनों पर हिन्दू लोग रोटियाँ बेच नहीं सकते। हमें क्या खयाल था कि सभी लोग एक-दूसरे की छुई खा लेंगे। मुसलमान भी छू ले तो कोई हर्ज नहीं, लेकिन बनानेवाला किसी जात का हिन्दू होना चाहिए! हम क्या समझते थे कि यह हिन्दू रोटी, हिन्दू पानी, मुसलमान रोटी, मुसलमान पानी की पुकार छुआछूत या धर्म के लिए न होकर निरी-बेवकूफी की बात है, जो सिर्फ हिन्दू-मुसलिम कलह लगाने और बढ़ाने के ही काम आती है। अफ़सोस है कि जो लोग आज इस खान-पान के भेदभाव को मिटा चुके हैं वह भी इस झगड़े में एक न एक पक्ष लेते ही हैं। फिर चाहे खुल के लें या छिप के। हजारों में विरले ही ऐसे हैं जिनका दिल साफ है और जो इन झगड़ों को नादानी की हद्द समझते हैं। उनकी संख्या धीरे-धीरे बढ़ जरूर रही है। यही एक आशा की झलक है कि यह नादानी मिट के रहेगी।

गर्मी के दिन आते-न-आते हमने बिजनौर आदि शहरों को देख़ते-दाखते और गंगा के दोनों तटों पर घूमते-घामते हिमालय का पहली बार दर्शन किया और हरद्वार पहुँचे। कनखल होते हरिद्वार गये। कनखल में नहर और उसके ऊपर चलने वाली पनचक्की देखी, हरद्वार में हर की पैड़ी पर गये, स्नान किया, न जाने किन-किन मठों में गये और ठहरे। पर हमें वह दुनियाँ न रुची। गंगाजी को वर्तमान विज्ञान ने उसके हिमालय के क्रोड़ से बाहर होते ही किस प्रकार बाँध लिया है और इस प्रकार उसके प्रचण्ड वेग के मद को चूर कर दिया है। यह हमने वहीं देखा। कुछ परिचित साधु भी मिले। लेकिन फिर भी हमारा मन रम न सका। फलतः वहाँ से पैदल ही हृषीकेश चल पड़े। वहाँ पहुँचने पर हमने दूसरी दुनियाँ देखी। गंगा के किनारे एक छोटा-सा गाँव-सा बसा हुआ पाया। वहीं कई एक अन्नसत्र (क्षेत्र) थे जिनमें साधुओं को रोटी और गाढ़ी दाल या तरकारी एक बार दोपहर से पहले मिलती थी।

वहाँ पर बाबा कमली वाले के और दूसरों के भी क्षेत्र थे। पहाड़ से निकलते ही गंगा धनुषाकार हो जाती है। उसी धनुष के मध्य में पश्चिम और हृषीकेश उस समय था। उसके उत्तर सुन्दर लम्बी झाड़ियों के सिलसिले में जहाँ-तहाँ बिना घर-बार वाले गेरुवाधारी बाबा लोग पड़े रहते थे। वह लोग क्षेत्र से रोटी लाकर खाया करते, परन्तु इधर हम फिर यह न देख सके कि क्या-क्या परिवर्तन हो गये हैं।

(14)

पुनः पढ़ने में

हम दोनों वहाँ झाड़ी में न ठहर उसी के ऊपर श्री योगानन्द जी के छोटे से मठ में ठहरे। मगर भिक्षा तो क्षेत्र से ही रोटी लाकर करते थे। हाँ, रात में उस मठ में थोड़ा-सा जलपान मिल जाता था। उसकी बगल में कुछ और ऊँचाई पर कैलाश नाम से प्रसिद्ध श्री धनराजपुरी जी का एक बड़ा मठ था। वहीं पर हम एक शान्त और विद्वान् संन्यासी के पास 'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली' पढ़ा करते थे। यह वेदान्त का एक क्लिष्ट ग्रन्थ माना जाता है। हमने उसे ही शुरू किया। हालाँकि, उसके पूर्व के और ग्रन्थों को पढ़ा न था। कई लोगों के साथ हमारा पाठ था। या यों कहिये कि हमीं दूसरों के पाठ में शामिल हो गये थे। उसमें जब न्याय, मीमांसा आदि की बातें आती थीं तो कभी-कभी हम उनसे दोबारा पूछते थे। हालाँकि, आम तौर से एक ही बार कहने पर समझ लेते थे। कारण, बुद्धि तो तीक्ष्ण थी ही। लेकिन कई बार पूछने पर एक दिन उनने हमसे सब बातें पूछीं और कहा कि अभी आपकी अवस्था कम है, काशी जाकर व्याकरण, न्याय मीमांसा आदि पढ़िये। पश्चात् वेदान्त के ये ग्रन्थ पढ़ने में मजा पाइयेगा। उस समय तो हम शर्मिन्दा से हुए और उनकी बात कुछ रुची भी नहीं। क्योंकि अभी भी योगी पाने की धुन थी। मगर फिर पीछे उनका ही उपदेश अक्षरशः पालन करना पड़ा।

खैर, वेदान्त मुक्तावली का पाठ चलता रहा। हमें एक मजा प्रायः मिलता था। जब क्षेत्र से रोटी लाते तो गंगा के किनारे चले जाते। पानी ज्यादा तेज न था। पर, पाँव दें तो कहाँ बह जाय पता न लगे। ऐसी धारा तेज थी। लेकिन ऊँचे-ऊँचे और चिकने पत्थर उसमें पड़े थे। उन्हीं पर छलाँग मारते-मारते कुछ भीतर जाते, एक चिकने पत्थर को धोकर उसी पर रोटी आदि रखते और दूसरे पर बैठ कर भोजन करते थे। जब चाहते चिल्लू से घूँट-घूँट तर जल पी लेते। जल इतना ठण्ढा था कि वैशाख-जेठ के दोपहर में भी खुली धूप में बैठने पर गर्मी न मालूम होती और सारा शरीर तर रहता। यह आनन्द हम बराबर लेते रहे जब तक वहाँ रहे। दूसरे साधुगण भी ऐसा ही करते थे। स्नान आदि के-समय भी खूब आनन्द आता था।

लेकिन हृषीकेश में जो संसार हमने देखा और साधुओं की जो बदनामी सुनी, उससे ऊब गये। पंजाब से और दूसरे प्रान्तों से श्रीमान् स्त्री-पुरुष वहाँ झुण्ड-के-झुण्ड आते और धर्म के नाम पर साधुओं को खूब हलवा, पूड़ी, मेवे चभाते थे वहीं सत्संग भी होता। मगर आखिर इन सबका नतीजा क्या दूसरा होना था? यह भी पता लगा कि खाने-पीने का खूब आराम और सब तरह का मजा देख कर बहुत से लोग खेती-गृहस्थी से फुर्सत पाते ही गर्मियों में गेरुवावस्त्र धारण कर साधु वेश में उस झाड़ी को हर साल आबाद करते, वर्षा आने के पहले ही खा-पी के तगड़े हो जाते और कुछ पैसे भी भक्तों और भक्तिनों से पा जाते थे। फिर घर चले जाते। पता नहीं अब क्या हालत है।

कैलाश की एक बात का उल्लेख करेंगे। उसके अधिष्ठाता श्री धनराज गिरि जी यद्यपि अधिक अवस्था के थे, तथापि बड़े ही मजबूत थे। उनका शरीर बहुत दृढ़ और ठोस था। कहते थे कि साल भर नियमित रूप से श्रीफल (बेल) खाया करते थे। वह जब बिलकुल ही सूख कर गिर जाता और पेड़ों पर नहीं मिलता था तो सुखाया हुआ रखते और खाते थे। कच्चा तैयार होते ही भून कर खाना शुरू करते। अन्न के सिवाय नियमित रूप से बेल का सेवन करते और नहीं तो, मुरब्बे के रूप में सही। उसी का फल था कि शरीर ठोस था और वृद्धावस्था में भी न तो बीमार पड़े और न ढीला-ढाला बदन हुआ। बेल के इस प्रकार के नियमित सेवन (कल्प) का ऐसा ही फल बताया जाता है।

झाड़ी के और आगे भरतजी का मन्दिर है और उसके आगे लक्ष्मण झूला। वहीं गंगा पर मोटे तारों के रस्से पर लटकने वाला लकड़ी का पुल बना है। क्योंकि तेज धारा में पाया बनना और ठहरना असम्भव है। लटकने वाला पुल हिलता तो रहता ही है, ज्योंही आप चढ़िये। लेकिन काफी मजबूत है। उस पर आदमी, टट्टू और बकरियाँ सभी सामान लेकर पार होती रहती हैं। असल में जब तारवार नहीं थे, तो उस पुराने जमाने में पहाड़ी लोग गंगा की धारा को पार कर इधर-उधर जाते ही थे। तीर्थयात्री लोग भी जाते थे तो गंगा वगैरह की धाराओं को उस यात्रा में कई बार पार करना पड़ता था। इसके लिए एक उपाय निकाला गया था कि धारा के दोनों तरफ जो निकटवर्ती मजबूत पेड़ हों उनमें दो समानान्तर मजबूत रस्से डेढ़-दो हाथ की दूरी पर बाँध दिये जायँ। फिर उनमें छोटा-सा झूला आदमी के बैठने लायक बना कर लटका दिया जाय। झूले के साथ एक लम्बी रस्सी हो जो दोनों ओर बँधी रहे। बस, अगर एक आदमी उस झूले में बैठ कर साथ वाली रस्सी को दोनों हाथों से जोर से खींचता रहे तो, झूला धीरे-धीरे आगे खसकता जाकर दूसरे किनारे पहुँच जाय। फिर उधर से इसी प्रकार इधर भी आ जायँ। इसी प्रकार किसी तरह उस समय विकट नदियाँ पार करते थे। उसमें झूले या उसके आधारभूत रस्सों के टूटने का खतरा था जरूर। लेकिन उपाय दूसरा था नहीं। इसीलिए लक्ष्मणझूला नाम पड़ा।

अब तो लटकनेवाला पुल बन गया है। बदरीनारायण की यात्रा में हमने रास्ते में पुराने झूलों को काम में लाते हुए पहाड़ी मनुष्य देखे। कारण, चारों ओर लटकने वाले पुल तो बने हैं नहीं। ये तो बदरी, केदार आदि के रास्ते में ही हैं। ये पुल उन्हीं पुराने झूलों की नकल हैं। हाँ, उनमें तरक्की जरूर की गयी है।

हम झाड़ी से दूर तक जंगल में लक्ष्मण झूले के ऊपर तक योगियों और साधुओं की तलाश में चले जाते और लौट आते थे। जंगली जड़ी-बूटियाँ ज्ञात हो जायँ तो खाने-पीने की रोज की फिक्र से बचें यह भी खयाल था। मगर न तो ऐसी बूटियाँ ही मिलीं और न योगी ही। हमने सोचा कि अच्छा तो बदरीनाथ बाबा का दर्शन ही कर आयें और शायद कहीं उधर ही योगी मिलें। क्योंकि उत्तराखण्ड में ही तो उनके ज्यादा होने की बात बार-बार सुनी थी। इसलिए वहीं जाने का निश्चय कर लिया। मगर वैशाख शुक्लपक्ष की तृतीय (अक्षय तृतीया) के पहले तो बदरीनारायणजी का पट्ट (दरवाजा) खुलता नहीं। उसके पहले वहाँ पुजारी लोग जाते ही नहीं। बर्फ के कारण प्रायः छः महीने मन्दिर बन्द रहा करता है। बर्फ हटने पर पहले पहल अक्षय तृतीया को ही वहाँ जाते हैं। कभी-कभी तो बर्फ की अधिकता के कारण और भी देर से जाना होता है। इसलिए यात्री लोग भी उसी के लगभग यात्रा करते हैं। न कि पहले। क्योंकि पहले जाना न सिर्फ बेकार होता है, वरन् असम्भव भी। कारण, रास्ते में दूकानें वगैरह ठीक नहीं रहती हैं, जिससे खाने-पीने का कष्ट होता है। वहाँ पहुँचकर ठहरना भी असम्भव होता है। जहाँ तक स्मरण है, हृषीकेश से 189 मील या कुछ इतनी ही दूर बदरीनाथ का मन्दिर है। इसलिए हम लोगों ने इसी हिसाब से चलना तय किया कि ठीक समय पर वहाँ पहुँच सकें।

(15)

बदरीनारायण की यात्रा

हम दोनों ही साथ रवाना हो गये। पहले तो रास्ता बहुत ही विकट और खतरनाक था। लेकिन अब तो सड़कें यथासम्भव पहाड़ काट-कूट कर अच्छी और बराबर कर दी गयी थीं। इधर तीस बत्तीस-साल के भीतर तो और भी उन्नति हो गयी होगी। फिर भी धीरे-धीरे कहीं चढ़ती जाती हैं तो फिर उतरती हैं। यह चढ़ाव-उतार का सिलसिला बराबर जारी रहता है। कहीं-कहीं तो बहुत पतली होती है। उनकी एक ओर ऊँचा गिरिशृंग आकाश से बातें करता और दूसरी ओर अतल गर्त्त, जहाँ कल-कल निनाद करती गंगा बहती है। उसका निनाद सुन नहीं सकते। हाँ, उसकी धारा देख सकते हैं। रास्ता कभी गंगा के दायें चलता है और कभी बायें। रास्ते में जहाँ-जहाँ लटकते पुलों से उसे पार करते हैं। इस समय की बात तो कह नहीं सकते। मगर

तीर्थयात्रा में जूता न पहनने के खयाल से उस समय लोग घास या कपड़े के जूते, जो वहीं बनते थे, पहन लिया करते थे। मगर हम तो सदा नंगे पाँव चलने वाले वहाँ भी वैसे ही चले। हालाँकि, परिणाम बुरा हुआ और लौटते-लौटते हमारे पाँव के तलवे लोहू-लुहान हो गये। फलतः चलना असम्भव हो गया।

यह भी देखा कि रुपये वालों के लिए आदमी की सवारी वहाँ तैयार है। उस महान् तीर्थयात्रा जैसे पवित्रतम अवसर पर भी! धर्म भी क्या गजबनाक चीज है! आदमी की छाती पर चढ़ के चलना! सो भी एक की छाती पर एक चढ़े। ढोनेवाले ज्यादातर ब्राह्मण या क्षत्रिय, और चढ़ने वाले घोर सनातनी हिन्दू! यह निराली अन्धेरपुर नगरी है! दूसरी सवारी उस समय तो असम्भव थी। बड़े घोड़े तो नहीं, हाँ, टट्टू और बकरियाँ जा सकती थीं। मगर सिर्फ सामान लेकर। टट्टू पर आदमी चढ़े तो गिरने का खतरा बराबर रहता था। क्योंकि रास्ता बेढब था।

आदमी की सवारी भी दो प्रकार की थी, एक काण्डी और दूसरी झम्पान। काण्डी तो मछली फँसाने वाले टाप की सी थी। सिर्फ एक ओर थोड़ी कटी थी जिससे चढ़ने वाला उसमें बैठ के नीचे पाँव लटका सके। या यों कहिये कि जैसे बाँस या बेंत के मोढ़े कुर्सियों का काम देने के लिए बनाये जाते हैं प्रायः उसी तरह की। उस पर आदमी को बैठाकर ढोनेवाला अपनी पीठ पर उसे बाँध लेता है। चढ़ने वाले की रक्षा के लिए उसके पाँव वगैरह पर भी कुछ बन्धन रहता है। अगर चढ़ने वाले को पूर्व चलना है तो उसका मुँह पश्चिम और ढोनेवाले का पूर्व रहेगा। झम्पान की शकल तो बिहार में काम आनेवाली खटोली जैसी होती है। काण्डी को एक आदमी ले चलता है। इसलिए वह सस्ती पड़ती है। मगर झम्पान में चार आदमी लगने से वह महँगा पड़ता है। हालाँकि उसमें आराम रहता है। अब तो हवाई जहाज जाने लगा है।

रास्ते का प्रबन्ध ऐसा है कि थोड़ी-थोड़ी दूर पर पहाड़ के ऊपर से आनेवाले झरने के पास चट्टियाँ (पड़ाव) होती है जहाँ आटे आदि की दूकानें और ठहरने की मामूली जगह होती हैं। यात्रा के दिनों में ही ये चट्टियाँ आबाद रहती हैं। पीछे उन्हें कौन पूछे? पनचक्की का पिसा सुन्दर आटा वहाँ मिलता है। चावल भी। सिर्फ गुड़, चना और नमक महँगा होता है। क्योंकि पहाड़ में पैदा न होने से नीचे से ले जाया जाता है। बाकी चीजें तो प्रायः नीचे (मैदान) के भाव में ही मिलती है। घी, दूध खूब मिलता है।

पहले तो चोरी होती न थी। अगर किसी की कोई चीज छूट गयी तो लौटने पर बहुत दिनों के बाद भी जहाँ की तहाँ पड़ी मिलती थी। पहाड़ी लोग तो उसे छूते न थे। हाँ, यदि यात्रियों में से ही किसी ने चुपके से उठा ली तो बात दूसरी थी। यह था हमारे देश का पुराना सदाचार। न जाने सभ्यता पिशाची के करते अब क्या हालत है? हमने देखा कि वहाँ के ब्राह्मण, क्षत्रियादि गरीबी के करते काण्डी,

झम्पान ढोकर या यात्रियों के सामान वगैरह साथ में ले जाकर मजदूरी के पैसे से गुजर करने में आत्मसम्मान मानते थे। लेकिन रास्ते में या चट्टियों पर पड़ी दूसरों की चीजें छूते तक न थे! यह भी देखा कि प्रायः सबके-सब सिर्फ लँगोटीधारी ही हैं। उनके चूतड़ नंगे हैं, हालाँकि, ऊँची कही जाने वाली जातियों के हैं। फिर भी उनकी ऐसी हालत है कि छोटे से छोटा भी शारीरिक परिश्रम करने से इनकार नहीं! प्रत्युत उसे करनें को लालायित दीखते थे, उसे ढूँढ़ते फिरते थे।

हमारी प्राचीन सभ्यता और सदाचार की यें बातें हम सभी को सीखने की हैं। न जानें हमने कहाँ से अनोखा धर्म और सदाचार सीखा है कि कामों को ही छोटा और बड़ा बना दिया! यहाँ तक कि कुछ कामों के करने में ब्राह्मण, क्षत्रियादि की जाति, धर्म और शान सभी मिट्टी में मिलते नजर आते हैं! हाँ, चोरी करने में वैसी हिचक नहीं! दूसरे का धन मिल जाय तो महाप्रसाद की तरह फौरन हजम! हमारा धर्म, हमारा सदाचार और हमारी प्रतिष्ठा वस्तुतः, इसी में है कि कमा के खायें और किसी काम को छोटा या नीच न मानें। इस बात में हमारे गुरु उत्तराखण्ड के वे गरीब लोग हैं।

उस यात्रा में भूख बहुत लगती है। एक तो पहाड़ की चढ़ाई-उतराई का श्रम। दूसरे स्वच्छ जलवायु। तीसरे बर्फ के पिघलने से मिलने वाला जल। ये तीनों ही इस भूख के कारण हैं। अतः जो लोग खाने में कसर करते या खूब घी-दूध नहीं खाते उन पर उस बर्फानी पानी का धीरे-धीरे असर हो जाता है। जिससे वहाँ से वापस आने पर वे लोग प्रायः दस्त की बीमारी में फँसते हैं।

लेकिन हमने तो अनुभव किया कि खाने-पीने में कष्ट होने पर भी हम पर उस पानी का कोई असर न हुआ। हमारे पास तो पैसे थे नहीं और हमने यात्रा कर दी बहुत पहले जब ज्यादा यात्री चले न थे। जो चले भी थे वे अधिकांश अपनी ही फिक्र वाले थे। इसलिए चौबीस घण्टे में एक बार भी भोजन मिलना कभी-कभी असम्भव हो गया। दो-बार की चाह तो हम करते ही न थे। रास्ते में धनी और धर्मबुद्धि के लोग हमारे जैसों को खिलाया करते हैं जरूर। पर, वे देर से यात्रा करते हैं। जगह-जगह अन्नक्षेत्र हैं सही। मगर वे उस समय बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस मीलों की दूरी पर थे। इसीलिए लाचार होकर हमें प्रतिदिन उतना ही और कभी-कभी अट्ठाईस-तीस मील तक चलना पड़ा। लौटने के समय एक सो नवासी मील की यात्रा हमने छः-सात दिनों में इसी से पूरी की। शायद यही कारण है कि पानी-वानी का कोई असर हम पर न हो सका।

रास्ते की एक बात और भी है। हमने देखा कि बहुत से गर्वीले जवान या तो पिछड़ जाते या पस्त हिम्मत हो जाते थे! लेकिन बच्चे, बूढ़ी औरतें या वृद्ध पुरुष लगातार चले जाते थे! असल में धीरे-धीरे चलने में पहाड़ की चढ़ाई ज्यादा पस्त नहीं करती और न वैसी थकावट ही होती है। इसीलिए स्वभावतः धीरे चलनेवाले

बच्चे या वृद्धजन हिम्मत हारते न थे। मगर तेज चलने की गर्मीवाले पस्त हो जाते थे। हम यदि तेज चले तो वह अपवाद स्वरूप ही समझा जाना चाहिए। हमारा यह भी नियम था कि साथवाले कमण्डलु में जल लेकर चला करते थे। उस जल से रास्ते में न जानें कितनी वृद्ध-वृद्धाओं की प्यास हमने उस यात्रा में बुझाई।

हाँ, तो हमारी यात्रा शुरू हुई। हम कई दिन चलने के बाद रास्ते में पड़ने वाले देवप्रयाग, कर्णप्रयाग, रुद्रप्रयाग आदि तीर्थों में ठहरते और उन्हें पार करते आगे बढ़ते गये। हमें गंगोत्तरी, यमुनोत्तरी, केदार और बदरीनाथ इन चार प्रधान तीर्थों में जाना था। पहले दो की ओर जाने में ही उत्तरकाशी पड़ जाती है। मंसूरी होकर भी इन दोनों का रास्ता है। मगर हम उधर न जाकर इधर बढ़े थे। सोचा था कि आगे जाकर दूसरे रास्ते से वहाँ जायँगे। मगर रास्ते में खाने-पीने के कष्ट ने हमें सुझाया कि उधर जाना ठीक नहीं। कारण, इतना पहले उधर के यात्री तो होंगे नहीं और रास्ते में अन्न बिना ही मरना पड़ेगा। इसलिए उन दो यात्राओं का विचार त्याग सिर्फ केदार और बंदरी की ही फिक्र हमें रही। उनमें भी पहले केदार जाकर पीछे बदरी जाते हैं। ठीक याद नहीं, शायद देवप्रयाग से केदार का रास्ता बदलता है। वहीं पर जो गंगा की दो धाराएँ मिलती हैं, जाने के समय उनमें बायीं धारा से केदार जाते हैं। फिर लौटने के समय इतनी दूर वापस न आकर ऊखी मठ से ही एक तिरछी राह आकर बदरी वाली में आगे बढ़ के मिल जाती है।

हमने केदार बाबा का रास्ता अपनाया और जैसे-तैसे कभी खाते कभी भूखे रहते बढ़ने लगे। जहाँ आमतौर से चार बार खाने में भी भूख लगती है वहाँ एक बार भी न खाया और चढ़ाई तय करना मामूली बात न थी। लेकिन एक तो हिम्मत थी, दूसरी बेबसी।

(16)

अग्नि परीक्षा और सफलता

उस रास्ते में त्रियुगी नारायण की एक विकट चढ़ाई पहले पड़ती है। हालाँकि उससे भी विकटतर और विकटतम आगे पड़ती है। खूबी यह थी कि त्रियुगी नारायण की चढ़ाई में दिनभर खाने को न मिला। हम ऐसे ही चलते रहे। तुर्रा यह कि हमारे साथी भी रास्ते में पेशाब के बहाने पीछे रुक गये और बहुत देर करने पर भी न आये। पीछे पता लगा कि वे जानबूझकर साथ छोड़ना चाहते थे। उनकी बातें पहले से ही कुछ ऐसी हो रही थीं। करना क्या? अकेले ही चले। हालाँकि, कष्ट के समय एकान्त और भी अखरता है। लोग तो रात में त्रियुगी नारायण में ठहरते हैं। मगर

हमने जब खाने की कोई सूरत न देखी तो आगे चलना ही निश्चय किया। कहीं बीच में ही, देर होने से अशक्त होकर, रह न जायँ यह भय जो लगा था। उस दिन बहुत चले और गौरी कुण्ड आकर ठहर गये शाम होते न होते। वहाँ से चढ़ाई भीमगोड़ा तक छः-सात मील बहुत ही बेढ़ब है। भीमगोड़ा के बाद की चढ़ाई की तो पूछिये मत। सीढ़ियाँ बनी हैं। उन्हीं पर चढ़ना होता है। लेकिन शायद दो-तीन मील के बाद ही समतल भूमि मीलों मिलती है जो बर्फ से ढँकी रहती है। उसी बर्फ पर ही चलना पड़ता है। उसी के बाद केदार जी का मन्दिर आ जाता है। इसी आशा में हम हिम्मत करके पानी पी-पीकर किसी प्रकार गौरीकुण्ड पहुँच के सो रहे।

दूसरे दिन सवेरे ही रवाना हो गये और बड़ी कठिनाई से भीमगोड़ा पहुँच पाये। रात में यात्री लोग यहीं ठहरते हैं। यहाँ से केदार नजदीक है। केदार में तो बर्फ से लदे होने के कारण रात में न तो ठहरने का स्थान ही है और न हिम्मत ही होती है। बर्फ में कौन मरे? लोग भीमगोड़े से आगे बढ़ चुके थे और बढ़ रहे थे। यह देख हमने भी हिम्मत की। लेकिन हालत बुरी थी। दो-चार सीढ़ियाँ चढ़ते किसी प्रकार, और चक्कर खा के गिर पड़ते। फिर चढ़ते, फिर इसी तरह गिरते। इस प्रकार चढ़ते, गिरते राम-राम करके हमने वह चढ़ाई खत्म की और लम्बे बर्फानी मैदान में पहुँचे। अब तो हिम्मत हो गई। ज़्यादा संकटों का सामना करने के बाद कम कष्टों में काफी हिम्मत होई जाती है। यह भी सोचा कि अब तो केदार जी निकट हैं। बर्फ पर पाँव देते ही वह सन्न हो जाता और भारी तकलीफ होती थी। साथ ही, सर्दी से देह में बल भी हो आया। सर्दी का कुछ ऐसा प्रभाव होता ही है। लेकिन थोड़ी देर बाद पाँव सून से हो गये और सन्न-सन्न लगना बन्द हो गया।

अन्त में मन्दिर के पास आ गये। देखा कि बगल में बर्फ पिघल-पिघल के एक नदी बह रही है और लोग उसमें स्नान कर रहे हैं। यह वही गंगा की धारा थी जिसके किनारे-किनारे आये थे। यहीं से शुरू होती थी। चारों ओर सफेद बर्फ से लदे पहाड़ थे। न कहीं पेड़ और न कोई गाँव-गिराँव।

इतने में ही एक गृहस्थ ने आकर हमसे कहा कि ''महाराज भोजन कीजिये'' यह शब्द था या अमृत? हम तो दिल से उसके आभारी हुए और कहा कि स्नान और दर्शन के बाद खाऊँगा। वह इन्तजार करने लगा और हम फौरन नहाने गये। जो पानी में हाथ डाला तो सुन्न! कमण्डलु उठाना असम्भव! तो भी जैसे-तैसे स्नान किया और जल लेकर मन्दिर में गये। भीतर बर्फ की ऊँची शिलाएँ पड़ी-पड़ी गल रही थीं। बाबा केदारनाथ का दर्शन किया, जल चढ़ाया और वापस आये। देखा कि हमारा अन्नदाता एक पूड़ी बनाने वाले के पास खड़ा है, जहाँ लोग ताजी-ताजी पूड़ियाँ लेकर खाते जाते हैं। भोज पत्र के पेड़ की हरी-हरी लकड़ियाँ जल रही थीं और कड़ाही के घी में पूड़ियाँ पकती थीं। यदि ये लकड़ियाँ न जलें तो लोग भूखों मर ही जायँ। वहाँ सूखी लकड़ी मिले कहाँ? वह भी तो नीचे से लायी जाती है। हम भी वहीं पहुँच

गये और खूब अघा के पूड़ियाँ खाईं। हमारा खयाल है कि एक सेर पक्की से कम न खाई होंगी। केवल पूड़ी मिल सकती थी। साग-तरकारी कहाँ मिले? वह भी तो गनीमत थी।

(17)

केदार से वापस–बदरी को

फिर हम चट-पट रवाना हो गये। हाँ, यह कहना तो भूल ही गये कि हमने या तो मध्य भारत के उस गरीब ब्राह्मण को ही जी भर के आशीर्वाद दिया था या केदारनाथ के अन्नदाता को। ये दोनों घटनाएँ सदा ताजी रहती हैं। खैर, शाम होते-होते गौरीकुण्ड आकर ठहरे। फिर दूसरे दिन आगे बढ़े। जब लौटे तो त्रियुगीनारायण का रास्ता छोड़ नीचे-नीचे ही लौटे। लौटने में क़ोई उधर जाता ही नहीं व्यर्थ हैरान होने। ऊखी मठ से आगे तिरछी राह पकड़ी और बदरी बाबा की तरफ चले। रास्ते में तुंगनाथ की भीषण चढ़ाई मिली। उसके बाद हम बढ़ते गये। केदार से लौटने के समय तो हमारे साथी मिले नहीं। हाँ, जब हम बदरीनाथ के दर्शन के बाद लौट रहे थे तो जाते हुए मिले। इस प्रकार चलते-चलाते बदरीनाथ के पास ज्योतिर्मठ या जोषीमठ मिला।

कहते हैं, धर्म-प्रचार की दृष्टि से आदि शंकराचार्य ने भारत के चार कोने में चार मठ स्थापित किये थे। वहीं से उनके अनुयायी भारत को चार भागों में विभक्त कर धर्म-प्रचार करते थे। इनके नाम हैं–शृंगेरीमठ (दक्षिण), शारदामठ (पश्चिम-काठियावाड़), गोबर्धन मठ (पूर्व जगन्नाथ) और ज्योतिर्मठ (उत्तर)। रामेश्वर, द्वारिका, जगन्नाथ और बदरीनारायण यह चार तीर्थ उनके पास पाये जाते हैं। लेकिन अब तो ज्योतिर्मठ पर रावल जी का दखल है जो गृहस्थ हैं, गोबर्धनमठ भी गड़बड़ हो रहा था। मगर सँभला है। ज्योतिर्मठ के सिवाय शेष तीनों ही दण्डी संन्यासियों के हाथ में हैं। हालाँकि अब धर्म-प्रचार की बात कुछ ऐसी ही तैसी है।

हम सवेरे ही बदरीनाथ पहुँच गये। जहाँ तक हमें याद है उसी दिन मन्दिर खुला था पहले पहल। वहाँ भी चारों ओर मैदान है उसमें एक घास होती है जो बर्फ से सूखी थी। उसे उखाड़ कर जलाते थे। चारों ओर बर्फ से लदे पहाड़ थे और गाछ वृक्ष का पता भी नहीं! वहाँ धर्मशालाएँ अनेक हैं। उन्हीं में एक के ऊपरी तल्ले में हम रहते थे। हमने स्नान और दर्शन किया। गंगा की धारा तो वहाँ भी है। मन्दिर के सामने नीचे एक गर्म पानी का झरना भी है जो एक कुण्ड में गिरता रहता है। उसका पानी ज्यादा होने पर बहकर गंगा में चला जाता है। कुण्ड पत्थरों से बनाया गया है और डूब न सकें इतना ही गहरा है। पहले तो कुण्ड का पानी काफी गर्म लगता है। फलतः भीतर जाने की हिम्मत नहीं होती। मगर एक बार पड़ जाने पर

पीछे आराम मालूम होता है। हम तो कई-कई घण्टे उसमें पड़े रहते थे। हमारे पास सिर्फ एक ऊनी चादर थी। जाड़ा वहाँ ज्यादा था। अतः बहुत देर तक उस कुण्ड में रह के गुजारते और रात में पूर्वोक्त सूखी घास जला के काम निकालते थे। हमें याद है कि वहाँ तीन-चार दिन ठहरे। फिर रवाना हो गये।

भक्तजनों का विश्वास है कि भगवान् के चरणों के नीचे से होकर झरने का जल आता है। इसलिए उनकी ही कृपा से वह गर्म रहता है, ताकि गरीबों को सर्दी से बचाये। मगर गंगोत्तरी और यमुनोत्तरी में तो बहुत ज्यादा गर्म-उबलता हुआ सोता बताया जाता है। वहाँ किस भगवान् के चरण से आता है? असल में प्रकृति की कुछ ऐसी रचना है कि वहाँ नीचे गन्धक की खान होगी। उसी से छन कर आने से पानी गर्म हो जाता है। उसमें कुछ गन्ध भी ऐसी ही रहती है। मगर धर्म के मामले में अक्ल और दलील को गुंजाइश कहाँ?

(18)

वापस हृषीकेश

जब हम लौटे तो बहुत तेज चले जैसा कि पहले कहा है। खाने-पीने के लिए इस बार हमने किसी भक्तजन की कतई परवाह नहीं की। सिर्फ सदावर्त्त या अन्न क्षेत्र में ही खा लेते। वह क्षेत्र दूर-दूर थे। इसलिए उसी हिसाब से हमें तेज चलना पड़ता था। जूता न पहनने और ज्यादा चलने का नतीजा हुआ कि हमारे दोनों पाँवों के तलवे छिल गये और लोहू-लुहान हो गये। मगर करना क्या था? किसी प्रकार यात्रा तो पूरी करनी ही थी। जैसा कि बताया है, छः-सात दिनों में ही प्रायः दो सौ मील की यात्रा करनी पड़ी! जो लोग लौटते हैं वह अलमोड़ा, काशीपुर के रास्ते से लौटते हैं। मगर हमें तो पुनः हृषीकेश आना था। अतः उस रास्ते हम नहीं गये। आखिर कार हृषीकेश आ ही गये। लेकिन बर्फानी हिस्से से आने के कारण हृषीकेश में लू मालूम पड़ती थी। जहाँ तक हमें याद है, ज्येष्ठ का महीना शुरू ही हुआ था। क्योंकि अक्षय तृतीया के कई रोज़ बाद तो हम चले ही थे और रास्ते में हफ़्ते भर लगा। **इस प्रकार सन् 1908 ई. के जून में हम आ गये। प्रायः इसी समय गत वर्ष (आषाढ़) में काशी से रवाना हुए थे। एक वर्ष के भीतर ही हमने पैदल ही न जाने कितना फासला तय कर लिया और कितना अमूल्य अनुभव प्राप्त कर लिया। इतना ही नहीं। योगी के मिलने और योगाभ्यास करने की हमारी आशा पर पानी भी फिर गया। हम उससे एक प्रकार से निराश हो गये। यों कह सकते हैं कि हमारे संन्यासी जीवन के प्रायः एक वर्ष के बीतते-न-बीतते उसका पूर्व खण्ड खत्म होने को आया और थोड़े ही दिन के बाद मध्य खण्ड शुरू हुआ।**

(19)

फिर काशी लौटे

न जाने क्यों बदरीनारायण से लौट कर हृषीकेश में ज्यादा दिन टिकने का दिल न हुआ। जल्दी ही हमने काशी चलने का निश्चय कर लिया। पर पाँवों ने जवाब दे दिया। बदरीनाथ की यात्रा में तो किसी प्रकार पाँवों में चिथड़े लपेट कर चलते आये। मगर अब क्या किया जाय यह खयाल हुआ। अन्त में तय किया कि जैसे-तैसे हरद्वार पहुँच कर वहाँ से रेल से ही काशी चलें, चाहे जो हो। यह दूसरी बार मजबूरन बिना टिकट के ही रेल पर चढ़ने का इरादा था। असल में मेरे स्वभाव के विपरीत यह बात है कि कोई भी काम छिपके या चोरी से किया जाय। इसमें मेरी आत्मा काँपती है और ऐसा करने में मैं अपने को निहायत ही कमजोर पाता हूँ। जो कुछ करना वह साफ-साफ ललकार के बहादुरों की तरह करना यही मुझे पसन्द है। जाल फरेब से दूर भागता हूँ। मैं जानता हूँ, दुनिया में कभी-कभी इन चीजों की भी जरूरत पड़ जाती है और अच्छे-से-अच्छे काम भी खराब हो जाते अगर कुछ ऐसी बातें न की जायँ। लेकिन करूँ क्या? बेबसी जो ठहरी। इसलिए तय किया कि जहाँ मौका मिला गाड़ी पर बैठूँगा। उसमें न तो छिपूँगा। न चुपके से निकल के भागूँगा। अधिकारी लोग अगर पकड़ के कोई दण्ड करेंगे तो बर्दाश्त करूँगा। उनसे साफ-साफ कह दूँगा कि पाँवों की मजबूरी से ही मैंने ऐसा किया, या करने का निश्चय कर लिया है। इसी विचार से हरद्वार चला।

मगर वहाँ तो प्लेटफार्म पर पहुँचना भी बिना टिकट के असम्भव था। इसलिए आगे बढ़ के ज्वालापुर में ट्रेन में बैठा। मगर लक्सर में ही उतरना पड़ा। वहाँ गाड़ी बदली तो रेल के अधिकारियों ने मना किया कि आगे ट्रेन पर मत चढ़िये। मगर मैं कब मानने वाला था। फलतः काशी वाली ट्रेन पर जा बैठा और मुरादाबाद तक बेखटके आ गया। हाँ, मुरादाबाद में टिकट जाँचने वाले ने उतारकर मुझे स्टेशन वालों के हवाले किया। दिन के नौ-दस बजे होंगे। मैंने स्टेशन वालों से कहा कि रोक लिया है तो भोजन तो दीजिये। उन बेचारों ने कहा कि जाइये महाराज! बस, फिर क्या था, मैं शहर में गया, खा-पीकर नदी की रेत पैदल पार की और अगले स्टेशन पर ट्रेन पकड़ी। वहाँ से तो कुछ ऐसा हुआ कि निराबाध दूसरे दिन बनारस आ धमका, प्लेटफार्म पर उतरकर मैं सीधे पूर्व-ओर बढ़ा। किसी ने रोक-टोक न की। फलतः मैं बढ़ता ही गया बेधड़क और स्टेशन के बाहर चला आया। याद नहीं कि अपारनाथ मठ में गया या कहाँ। भरसक वहीं गया और ठहरा।

यह तो ठीक है कि योगियों की आशा न थी। लेकिन शास्त्रों में माथापच्ची करने को भी जी नहीं चाहता था। इसलिए शीघ्र ही गंगा तट पकड़कर आगे की ओर बढ़ा। बरसात सिर पर थी। फिर भी मजा आया। गाजीपुर होता बक्सर के

निकट कोटवा नारायणपुर आ गया फिर वहाँ से आगे बढ़ के उजियार होता भरौली पहुँचा। वहाँ एक संन्यासी बाबा का मठ है। वहीं ठहरा।

गाँव से बहुत दूर पूर्व गंगा के उत्तर एकान्त में एक वटवृक्ष था। सुबह वहीं जाकर ठहरता, स्नानादि करके भिक्षा के समय गाँव में वापस आता और मठ पर भोजन करता। जब आगे बढ़ने लगा तो महन्त श्री शिवप्रसाद गिरि ने रोक लिया। बोले, चातुर्मास्य (वर्षा) में कहाँ जाइयेगा? यहीं ठहरिये। मेरे दिल में भी बात बैठ गयी और रुक गया। महन्त जी मुझे 'परमहंस जी', कह के पुकारते और मुझसे प्रेम बहुत करते थे। गाँववाले किसानों से भी मेरी कुछ ऐसी ही मुहब्बत हो गयी कि एक प्रकार फँस जाना पड़ा। बस, दिन का अधिकांश समय उस दूरवर्ती एकान्त वटवृक्ष के तले बिताता और रात में मठ में रहता। इस प्रकार चातुर्मास्य बिताया। भरौली के लोग रामायण का गाना बहुत ही सुन्दर करते थे। वहाँ एक-दो भजन गाने वाले भी अच्छे थे। इसलिए रामायण का गाना और भी जमता था। शंकरगढ़ के बाद वहीं पर यह मनोरम गान का संसर्ग मिला।

महन्त श्री शिवप्रसाद गिरि के एक चेले थे जो काशी से वेदान्त पढ़ आये थे। सयाने थे। उनका एक चेला था श्री रामचन्द्र गिरि। वह लड़का ही था। थोड़ा-बहुत पढ़ता था। महन्त जी काफी धनवाले थे। वे बार-बार कहते थे कि मैंने लोगों को बहुत ही ऋण दिया है और छत्तीस हजार रुपये केवल सूद के नाम पर वसूल किये हैं। गाँव के सभी गृहस्थ उनके शिष्य (चेले) थे और कर्जदार भी थे। सभी के खेत उनके पास रेहन थे। मगर जोतते वही लोग थे। महन्त जी रुपयों के ब्याज लेते थे। इतने रुपये ऋण पर दिये! मगर वसूल तहसील की कोई चुस्त व्यवस्था न थी कि ताकीद की जाय। फलतः गृहस्थ लोग लापरवाही से उनके रुपये शीघ्र चुका न सकते और सूद-दर सूद में बचे-खुचे खेतों को धीरे-धीरे उनके हवाले करते जाते। महन्त जी फायदे में थे। गृहस्थ लोग पामाल थे। मुझे देख कर बड़ा क्षोभ हुआ। खाता-पीता था तो मैं मठ में ही। फिर भी मौका पाकर गृहस्थों को चेतावनी देता था कि सँभल जायँ और उनसे संसर्ग छोड़ें या कम करें नहीं तो नमक के बर्तन की तरह गल जायँगे। मेरी पक्की धारणा थी कि संन्यासी का बाना धारण कर धन जमा करना पाप है और वह पाप का धन जहाँ जायगा उसे गला देगा। इसलिए उन्हें समझाता था। चेला बनने से भी रोकता था। मगर सुनता कौन?

ठीक समय तो याद नहीं। मगर वर्षा बीतने के बाद मेरे विचार बदले और आगे जाने के बजाय काशी जाकर दर्शन, व्याकरण, वेदादि के अध्ययन की धारणा हो आयी। सोचा कि जंगल, पहाड़ों की खाक खूब ही छानी योगी तपस्वी का भी पता लगाया। भटके भी काफी। मगर हाथ कुछ न आया। भगवान् तो अभी दूर-के-दूर ही रहे। इसलिए चलो शास्त्रों का मन्थन करें और देखें उनमें क्या है। हृषीकेश (कैलाश) वाले वृद्ध महात्मा की बात भी याद हो आयी। महन्त जी और उनके चेले ने भी

कहा कि पढ़िये। फिर तो विचार दृढ़ हो गया। उधर महन्त जी के चेले का जो चेला था श्री रामचन्द्र गिरि, उसे भी लोग काशी भेज कर पढ़ाना चाहते थे। इसलिए हम दोनों साथ ही जाय यह तय पाया। वह तो धनी महन्त का चेला था। इसलिए उसे मासिक व्यय के लिए पैसे मिलने का तय पाया। मगर मुझे तो पैसे की परवाह थी नहीं और पैसे बराबर देता भी कोई क्यों? काशी में तो विरागी साधुओं के खान-पान का प्रबन्ध था ही। फिर और चाहिए ही क्या? फलतः हम दोनों ही काशी आ गये। जहाँ तक याद है, सन् 1909 ई. के आरम्भ की ही बात है। रामचन्द्र गिरि तो कर्णघण्टा मठ में ठहरा और मैं उसी अपारनाथ मठ में। इस प्रकार संन्यासावस्था का प्रथम खण्ड समाप्त कर हमने दूसरे खण्ड में पदार्पण किया।

मध्य भाग—मध्य खण्ड

(1)

शास्त्रों का अध्ययन

अपारनाथ मठ में ही संस्कृत पाठशाला थी। उसमें व्याकरण, न्याय, वेदान्तादि सभी विषयों की पढ़ाई होती थी। हमने सोचा कि बिना व्याकरण अच्छी तरह पढ़े दर्शनों के पढ़ने में मजा न आयेगा। इसलिए उसे ही शुरू करने का निर्णय किया। सो भी लघुसिद्धान्त कौमुदी तो कुछ पढ़ी चुके थे। संस्कृत का बोध भी अच्छा था। इसलिए सिद्धान्त कौमुदी आरम्भ किया। उस समय श्री हरिनारायण त्रिपाठी उपनाम तिवारी जी की ख्याति कौमुदी पढ़ाने में काशी में सर्वोपरि थी। सौभाग्यवश अपारनाथ में वही पढ़ाते थे। फिर तो सोने में सुगन्ध मिली और हमने खूब मनोयोगपूर्वक उसे पढ़ना शुरू किया। उसकी फक्किकाओं और कठिन स्थलों को हृदयंगम किया। उसके कई पाठ वहाँ होते थे। मैं सभी सुनता था और जो बातें तिवारी जी बताते थे एक-एक करके सभी लिख लेता था डेरे पर जाकर। इस प्रकार एक लम्बा और मोटा नोटबुक तैयार हो गया। वह छात्रों के बहुत ही काम का था। पीछे एक छात्र ने ही अपने अभ्यास के लिए उसे लिया और मैं उससे वापस लेना भूल गया। फलतः वह नोटबुक गायब हो गया। नहीं तो सिद्धान्त कौमुदी की वह सुन्दर टीका होती और छपा दी जाती।

सन् 1911 ई. के मध्य तक मैंने सिद्धान्त कौमुदी पढ़ डाली। लोग कहा करते हैं कि कौमुदी पढ़ने के लिए तो बारह वर्ष का समय चाहिए। छः वर्ष तो आम तौर से लोग लगाते ही थे। यों पढ़ लेना तो उतना कठिन नहीं। मगर काशी में उसकी पढ़ाई की जो रीति है और विशेषकर तिवारी जी जिस प्रकार उसे पढ़ाते थे उसमें

तो ज्यादा समय लगना स्वाभाविक था। पोथी भी तो बहुत बड़ी है। मगर उसके रोज कई पाठ पढ़ने के फलस्वरूप मैंने प्रायः ढाई वर्ष में ही उसे पूरा कर डाला। निस्सन्देह तिवारी जी उसकी हर-बात की तहों को खोल देते थे। फलतः सैकड़ों छात्र सिर्फ उसी का पाठ सुनने के लिए उनके पास जमा हो जाया करते थे।

लेकिन यह नहीं कि मैं केवल कौमुदी के ही पाठ से सन्तुष्ट रहता। थोड़े ही दिनों के बाद न्याय का भी पाठ आरम्भ कर दिया। दोनों साथ-साथ चलने लगे। आगे चल कर जब सिद्धान्त कौमुदी के बाद शब्देन्दु शेखर, परिभाषेन्दु शेखर आदि के पाठ चलने लगे और फिर भूषण, मंजूषा, महाभाष्य का समय भी आया, तो इधर सांख्य, मीमांसा, वेदान्त, योग आदि दर्शनों के भी पाठ मैंने साथ ही शुरू कर दिये। इतना ही नहीं। दिन में समय बचने पर साथ पढ़ने वालों और दूसरों को कौमुदी आदि पढ़ाता भी था। मैंने देखा कि जो मुझसे पूर्व बहुत वर्षों से सिद्धान्त कौमुदी पढ़ रहे थे, वही मुझसे भी उसे ही पढ़ने आते थे! मैंने तय कर लिया कि पाँच-सात वर्षों के भीतर दर्शनों का पूरा मन्थन कर लेना चाहिए। इसीलिए दिन-रात लगा रहता था। अपने पाठों का अभ्यास दिन में तो कर सकता न था। क्योंकि कई पाठों के पढ़ने और दूसरों को पढ़ाने में ही सारा दिन गुजर जाता था। इसलिए रात में अभ्यास करता था। उस समय नींद न सता सके, इसीलिए समय बचा कर दिन में ही थोड़ा सो लिया करता था। तभी से दिन में सोने की मेरी आदत कुछ ऐसी हो गयी कि आज तक छूटी ही नहीं। हालत यह है कि यदि दिन में थोड़ी देर भी न सोऊँ तो दिमाग में बहुत गर्मी सी बनी रहती है और एक प्रकार की सुस्ती तथा बेचैनी मालूम पड़ती है। बारहों महीने दिन में भोजन के बाद जरूर सो लेता हूँ। दिन में सोने को आयुर्वेद वाले बुरा बताते हैं। मगर मेरी तो उलटी गंगा बहती है। शायद पित्त प्रकृति वालों को दिन में सोना हानिकर न हो। वरन् लाभकारी होता है, ऐसी भी बात है। चाहे जो हो, अनुभव से ही मैं कह सकता हूँ कि दिन की इस संक्षिप्त निद्रा से मुझे तो सदा लाभ ही हुआ है।

(2)

स्वभाव, बाधाएँ और माधुकरी

मेरा तो कुछ ऐसा स्वभाव ही रहा है कि एकान्त में रहूँ और दिन-रात के भीड़-भक्कड़ से बचूँ। अधिक-से-अधिक कुछ समय तक ही भीड़ चाहिए। मगर दिन-रात नहीं। एक बात और। पहले तो समझता था कि संन्यासी लोग महात्मा ही होते हैं। मगर पीछे निकट से देखा कि उनमें भी वही संसार है। पुत्र के स्थान पर चेले, परिवार की जगह गुरुभाई, साथी और भक्तजन, मकान की जगह मठ नहीं तो कुटिया—ये

चीजें उन्हें परेशान किये रहती हैं। रुपया-पैसा एकत्र करने की फिक्र भी कम नहीं रहती। प्रत्युत मठ बनने पर तो यह चिन्ता गृहस्थों की अपेक्षा भी बढ़ जाती है। अन्तर इतना ही रहता है कि वेदान्त के ब्रह्मज्ञान की भागीरथी की धारा में स्नान कर लेने के कारण नरक और यम यातना की चिन्ता उन्हें नहीं रहती। वे साँड़ की तरह निश्चिन्त विचरते रहते हैं। मरने पर गृहस्थों की ही तरह उनके भी कोई-न-कोई मरणोत्तर संस्कार और भोज (भण्डारे) होते ही हैं। इन सब बातों को देख कर मैं ऊबा। अपारनाथ में दूसरी बाधाएँ एवं नियन्त्रण भी थे। फलतः कुछी दिनों बाद मैं एक अलग स्थान में स्वतन्त्र रूप से रहने लगा। वहाँ भीड़ कम थी, स्वतन्त्रता थी और निराश्रय संन्यासी ही रहते थे, जो इच्छानुसार चले भी जाते थे। पीछे तो वहाँ भी रहना असम्भव हो गया और एक रुपया किराये का एक मकान लेकर **ललिताघाट के ऊपर फूटे गणेश महल्ले में फूटे गणेश के ऊपर वाले छोटे से कमरे में रहने लगा।** वहीं तो एक बार नीचे गिर जाने से मेरी टाँग टूटी। इसका उल्लेख आगे होगा।

अपारनाथ में रहने के समय तो क्षेत्रों में ही भिक्षा (भोजन) करता था। लेकिन वहाँ से हटने पर मैंने माधुकरी वृत्ति का आश्रय लिया। मगर वह भी कुछ दिन तक चल कर फूटे गणेश पर आने के बाद बन्द हो गयी। फिर कुछ चुने-चुनाये ब्राह्मण गृहस्थों के घर भोजन करना शुरू किया। यह अन्त तक चलता रहा। संन्यासियों के लिए माधुकरी भिक्षा सर्वोत्तम मानी गयी।

जैसे मधुकर (भ्रमर) अनेक फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस लेकर अपना काम चलाता है। इससे फूलों की क्षति जरा भी होने नहीं पाती, यहाँ तक कि मालूम भी नहीं पड़ता कि उनसे रस लिया गया है। ठीक उसी प्रकार अनेक गृहस्थों के घर से एक-एक रोटी या थोड़ा-थोड़ा पका-पकाया भोजन लेकर अपना काम चला लेने को माधुकरी वृत्ति कहते हैं। काशी में प्रायः अनेक संन्यासी और गैरिक वस्त्रधारी ऐसा बराबर करते आये हैं। मकान के पास जाकर 'नारायण हरे' कहते ही गृहस्थ समझ जाते और रोटी, भात, दाल, साग कुछ-न-कुछ दे जाते हैं। जिन महल्लों में बराबर ऐसा होता आया है वहीं पर इसमें आसानी होती है। इसमें कई प्रकार के पदार्थ मिल जाते और खाने में भी मजा आता है। बहुत साधु लोग तो भीषण वैराग्य की बदहजमी मिटाने के लिए माधुकरी का अन्न जमा करने के बाद जिस झोले में वह रहता है उसे ही गंगा में डुबोकर निकाल लेते हैं। फिर खाते हैं। इससे अन्न में स्वाद नहीं रह जाता। फलतः जिह्वा चसकने नहीं पाती। लेकिन मैंने ऐसा कभी नहीं किया।

संन्यासियों की दो पाठशालाएँ थीं—एक अपारनाथ में और दूसरी टेढ़ी नीम महल्ले में। उनके दो दलों की प्रतिद्वन्द्विता से ही यह बात हुई थी। असल में दसनामी संन्यासियों में, जो दण्डी नहीं होते हैं, यह प्रणाली है कि कुछ लोग पढ़-लिख के एक दल कुछ साधुओं और पण्डितों का बना लेते हैं और अपने आप उसके अधिष्ठाता

बन के जहाँ-तहाँ घूमते तथा पुजवाते फिरते हैं। उस दल को मण्डली और उन्हें मण्डलीश्वर कहते हैं। ऐसे दो मण्डलीश्वर बन गये थे। उनकी आपस में होड़ चली थी। इसी से दो पाठशालाएँ थीं। उनमें उनका अपना-अपना आधिपत्य चलता था। वहाँ रहने और पढ़ने वालों को भी कभी-कभी उनके पास जाकर विधिवत् अभिवादन आदि करना पड़ता था।

मैं पहले एक में पीछे दूसरी में पढ़ता रहा। लेकिन यह सब शिष्टाचार मुझसे निभ नहीं सकता था। मैं क्यों ऐसा करने लगा? उन मण्डलीश्वरों को तो मैं एक प्रकार से पतित और पथभ्रष्ट समझता। संन्यासी बन कर इस प्रपंच और धन संग्रह से, इस ठाटबाठ से क्या मतलब? फलस्वरूप पहले अपारनाथ में बाधा आयी तो उसे छोड़ा। पीछे दूसरी में भी, जो पीछे से खुली थी, बाधा देख उसे भी त्यागा। फिर तो यों ही पण्डितों के घर जा-जाकर पढ़ा करता था।

कुछ दिनों के बाद मैंने यह समझा कि ब्राह्मण को तो दण्डग्रहण करना आवश्यक है। दण्डग्रहण किये (दण्डी बने) बिना संन्यासी होई नहीं सकता। कारण, धर्मशास्त्रों की यही आज्ञा है जो मैंने स्वयमेव बार-बार पढ़ी थी। इसलिए मैंने श्री दण्डी स्वामी अद्वैतानन्द जी सरस्वती महाराज के चरणों में जाकर फिर से संन्यास की संक्षिप्त विधि के अनुसार दण्ड धारण कर लिया और स्वामी सहजानन्द सरस्वती के नाम से प्रसिद्धि पायी। इस बात से दसनामी साधु लोगों से और भी तनाव हो गया। फलतः उनकी पाठशालाएँ मुझे छोड़नी पड़ीं। इस दण्ड ग्रहण का हाल आगे मिलेगा। इसलिए भी अलग मकान लेकर रहने की नौबत आयी।

(3)

अग्नि परीक्षा

संस्कृत पढ़ने के दिनों में मेरी जो अग्नि परीक्षा हुई और उसमें जो मैं पूर्णतया उत्तीर्ण हुआ उसका मुझे अभिमान है। मैं मानता हूँ कि बाधाएँ मुझे विचलित नहीं कर सकती हैं, यदि मैं किसी काम के लिए दृढ़ संकल्प कर लूँ। वेद, वेदांग और दर्शनों को मथ डालने का तो मैंने संकल्प कर ही लिया था। उसी बीच पूर्वोक्त बाधाएँ आईं। उनका सामना करता रहा।

बीच-बीच में खुश्की हो जाती और सिर में दर्द होने लगता। असल में काशी के जलवायु का यह दोष है कि वह खुश्क है, खासकर गंगाजी का जल। इसीलिए बहुत से लोग सुबह-शाम बाहर चले जाते और कुएँ का जल पिया करते हैं। इससे खुश्की से बचते हैं। मगर मुझे तो दम मारने की फुर्सत न थी। फिर बाहर कई मील दूर जाता कैसे? यह भी बात थी कि एक बार रूखा-सूखा खाने से और मस्तिष्क

का काम ज्यादा करने से खुश्की सताया करती थी। काशी में पढ़ने वाले ही इस रोग के शिकार प्रायः होते हैं और सूखी खाँसी में फँस जाते हैं। मेरी भी यही हालत कभी-कभी हो जाती थी। पर, करता क्या? भोगता रहता और पढ़ने में डँटा था।

आखिर एक पंजाबी 'अवधूत' जी कहे जाने वाले विरक्त और केवल लँगोटीधारी साधु ने मेरे लिए काशी के ही एक वैश्य को कह के शाम के लिए दूध का प्रबन्ध करवा दिया। वही खुश्की से बचाने वाला हो गया। 'अवधूत' जी सिर्फ एक लँगोटी रखते, शहर से बाहर गंगा पार में रहते और जाड़े में एक मामूली चादर रखते थे। मैंने उन्हें बराबर ऐसा ही देखा। लगातार बहुत वर्षों तक कोई लोभ-लालच या चसका उनमें कभी न पाया। दिन में शहर आ जाते और कुछ सज्जनों के यहाँ और कभी मेरे यहाँ बैठकर शाम को चले जाते। एक सच्चे साधु को मैंने माने गाँव में पाया था और दूसरे ये थे। इन्हें मैं भूल नहीं सकता।

गर्मियों के दिनों में मैं रहता फूटेगणेश पर, भोजन करता सरायगोवर्धन महल्ले में दोपहर को, जो वहाँ से एक मील से कम नहीं और फिर लौटकर थोड़ी देर बाद एक मील पर बंगाली टोले के आगे सोनारपुरा में न्याय पढ़ने जाता था। यह मेरी दिनचर्या न जाने कितने दिनों तक रही। दूसरे-दूसरे पण्डितों के घर पाठशालाओं में भी पढ़ने जाना पड़ता था। लेकिन इसमें आनन्द आता था।

मुझे नव्यन्याय के दो अच्छे पण्डितों से काशी में और एक तीसरे से मिथिला में काम पड़ा था। तीनों ही अपने ढंग के निराले थे। एक थे बंगाली श्री शंकर भट्टाचार्य दूसरे थे मैथिल श्री जीवनाथ मिश्र। तीसरे पण्डित श्री बालकृष्ण मिश्र दरभंगे में मिले थे। कुछ दिन उनसे भी बाध, सत्प्रतिपक्ष आदि नवीन न्याय के ग्रन्थ मैंने पढ़े थे। ऐसे तो औरों से भी काम पड़ा था। मगर इन तीनों ने मुझे बहुत आकृष्ट किया। ज्यादा ग्रन्थ तो मैंने भट्टाचार्य जी से ही पढ़े थे। उनके समझाने की रीति निराली थी। वे ग्रन्थ के आशय को हृदयंगम कराने में सारी शक्ति लगा देते थे। यही बात कमवेश पं॰ बालकृष्ण मिश्र में पायी गयी।

पं॰ जीवनाथ मिश्र जरा तेजी से बातें कहते जाते थे। हालत यह थी कि सव्यभिचार और सामान्य निरुक्ति जब उनसे पढ़ता था तो उनकी घुड़दौड़ चलती थी। वे क्या बोलते हैं मैं यही याद रखता था। उन कठिन ग्रन्थों की पंक्तियों पर रुक के यदि वहीं ठीक-ठीक समझने लगता तो पीछे पड़ जाता, और वे छलाँग भर के आगे निकल जाते। इसलिए उनकी बातें दिमाग में नोट कर लेता और रात में उसी दिमागी नोट के आधार पर सामान्य निरुक्ति आदि जैसे क्लिष्टतम ग्रन्थों को ठीक समझ लेता। कभी समझने में गड़बड़ी न हुई। इसमें मुझे लाभ यह हुआ कि शीघ्र ही वे ग्रन्थ पढ़ सका। पीछे तो सभी बातें कागज पर नोट कर लेता। अन्य पण्डितों की भी बताई सभी बातें हू-ब-हू पीछे नोट कर यदि कभी-कभी उन्हें दिखाता तो आश्चर्य करते।

साहित्य के ग्रन्थों को पढ़ने में मेरी ज्यादा रुचि न थी। कारण, प्रायः उनमें अश्लीलता ज्यादा होती है। फिर भी शिशुपाल वध, किरातार्जुनीय और नैषध आदि पढ़ ही गया। इनमें ऐसी बातें कम पायी जाती हैं। नैषध ने तो मुझे सबसे ज्यादा आकृष्ट किया। मैं श्रीहर्ष की अलौकिक प्रतिभा पर मुग्ध हो गया। काव्य प्रकाश आदि के पढ़ने में तो अध्यापक ने कृपा करके अश्लील वाक्यों के स्थान पर दूसरे श्लोक आदि के दृष्टान्त देकर मुझे पढ़ाया। अतः मैं उनका आभारी रहा। पर, मेघदूत जैसे भ्रष्ट ग्रन्थों को पढ़ने की हिम्मत न कर सका।

व्याकरण और नवीन न्याय के पढ़ने की भी सारी सुविधाएँ काशी में थीं। मगर प्राचीन न्याय, मीमांसा, योग और सांख्य के पढ़ने में जिस संकट का सामना करना पड़ा वह मैं ही जानता हूँ। इन विषयों के योग्य अध्यापक बहुत ही कम थे। जो थे भी वह पढ़ाने से अलग रहना चाहते थे। यह उस काशी की बात है जिसे संस्कृत विद्या की नगरी कहते हैं। वेदान्त का पाठ तो फिर भी चलता था मगर मीमांसा और प्राचीन न्याय की बुरी दशा थी। आपोदेवी, न्याय प्रकाश और अधिकरण रत्नमाला को ही मीमांसा नहीं कहते हैं। असल मीमांसा ग्रन्थ तो हैं शाबरभाष्य, श्लोकावार्तिक, तन्त्रवार्तिक आदि। इन्हें कोई पढ़ाता न था। केवल प्रथमोक्त दो-तीन को ही पढ़ाकर इतिश्री कर लेते थे।

श्री पार्थ सारथि मिश्र की जो टीका कुमारिल भट्ट की टुप्टीका पर **तन्त्र रत्न** के नाम से बनी है वह तो आज तक छपी भी नहीं। मैंने दरभंगे में वह अपने हाथों लिखी। प्रभाकर के मत के ग्रन्थ तो कोई जानते भी न थे। शाबरभाष्य जो छपा है अशुद्धियों से भरा है। उसे शुद्ध करने वाले कोई नहीं! यही दशा प्राचीन न्याय-दर्शन के भाष्य, उसके वार्त्तिक और उस पर श्री वाचस्पति मिश्र की लिखी तात्पर्य टीका आदि ग्रन्थों की है। सभी के सभी अशुद्धियों से भरे हैं। न्याय कुसुमांजलि और आत्मतत्त्वविवेक को भी यथार्थतः पढ़ना असम्भव सा था। आत्मतत्त्व विवेक तो अत्यन्त कठिन होने के कारण बहुत ही अशुद्ध छपा हैं। उसका थोड़ा अंश, जो वहाँ की संस्कृत-परीक्षा में है, टीका-टिप्पणी के साथ छपा है सही। लेकिन बाकी को कौन पूछे?

(4)

अन्धेर खाता

एकाध नमूना सुनाता हूँ। न्यायवार्तिक की तात्पर्य टीका काशी के लाजरस प्रेस में छपी है। उसके प्रकाशन कराने वाले प्रसिद्ध काशी के विद्वान् पं॰ गंगाधर शास्त्री जी हैं। उन्होंने उसके प्रूफ को ठीक किया है। उसके हेत्वाभास प्रकरण में एक स्थान

पर 'कृतृरासदिवेत्यादि' आता है। उसका अर्थ न तो उन्हें मालूम हुआ और न किसी और पण्डित को ही। उन्होंने उसके आरम्भ में ही उक्त वाक्य के तीन अर्थ लिखे हैं, एक अपना किया हुआ, दूसरा पं॰ शिवकुमार शास्त्री का और तीसरा पं॰ सुधाकर द्विवेदी का। मगर तीनों ही गलत और जबर्दस्ती किये गये हैं। मैं उसे देख कर हैरान था कि यह क्या बात है। आखिर श्री भोजराज रचित एक छोटा सा ग्रन्थ राजमार्तण्ड पढ़ रहा था। उसमें भद्रा के भोग के समय के प्रकरण में 'कृतृरास दिवेदरभूत दिवा' इत्यादि श्लोक मिलता है। उसे देखते ही तात्पर्य टीका का वह वाक्य याद आया और अर्थ समझते देर न लगी। असल में भोज ने 'कृतृरास' श्लोक में संकेत के तौर पर 'कृ' कृष्ण के 'तृ' तृतीया के, 'रा' रात्रि के, 'स' सप्तमी के अर्थ में लिखा है। आगे भी इसी प्रकार के अर्थों में अक्षर या शब्द लिखे हैं। इस प्रकार अपना काम निकाला है। मगर तात्पर्य टीका में वाचस्पति का कहना है कि यदि कोई वह वाक्य किसी और स्थान पर बोले तो निरर्थक या अपार्थक ही होगा। उनका वह संकेत तो घरेलू है। मगर इस मोटी बात को महामहोपाध्याय लोग तक न समझ सके!!

इसी प्रकार मीमांसा दर्शन का शाबर भाष्य लीजिये। वह बहुत क्लिष्ट है। काशी में जो उसकी प्रति छपी है वह वैसी ही अशुद्ध है जैसी पहले की। मगर मैं एक-दो पण्डितों से पढ़ने गया। क्योंकि सुना कि वे पढ़ाते हैं। मगर उनकी तो स्पेशल दौड़ती थी और मैं उनके मुख की ओर ताकता रह जाता था। कुछ समझ न सकता। न जाने औरों की क्या बात थी। वे छात्र भी समझते क्या बला होंगे? शक है खुद पण्डित जी समझते थे या नहीं। मेरे जानते तो वह भी कोरे ही थे। क्योंकि उन्हें अशुद्धियों का पता ही न था। हालाँकि मैं आगे-पीछे न जाने कितनी बार विचार करने और दूसरे ग्रन्थों की सहायता लेने के बाद उन अशुद्धियों को समझता था। मैं यह भी मानता था कि कुछ और ही पाठ होना चाहिए। पीछे चल कर दरभंगे में महामहोपाध्याय पं॰ चित्रधर मिश्र जी से बातें होने पर उन्होंने उनमें एकाध अशुद्धियों के बारे में अपनी एक लम्बी दास्तान सुनायी। उनने बताया कि उन्हें भी कैसे धोखा हुआ था और पीछे किसी दूसरे ग्रन्थ के पढ़ते समय पता क्योंकर लगा था कि सचमुच अशुद्धि है। मैंने पहले से ही वहाँ दूसरा पाठ माना था और जो मैंने सोचा था वहीं उन्होंने भी बताया।

मीमांसा के बारे में कही चुका हूँ। मालूम होता था कि जो न्यायप्रकाश आदि दो-तीन ग्रन्थ पढ़-पढ़ाये जाते थे वे भी तोते की रटन की ही तरह। मैंने न्यायप्रकाश की कितनी ही बातों का रहस्य तब समझा जब स्वतन्त्र रूप से विधि-विवेक, न्यायरत्न माला आदि ग्रन्थों का संग्रह और मनन किया। पीछे तो मेरे पास कई ऐसे सुबोध विद्यार्थी आते थे प्राचीन न्यायादि पढ़ने के लिए ही, जिन्हें मीलों से ज्यादा चलना पड़ता था। जब मैं काशी छोड़ने लगा तो ऐसे कितने ही छात्र रो पड़े। क्योंकि प्राचीन

दर्शनों की जो अवहेलना विद्या के केन्द्र काशी में हो रही थी वह उन्हें असह्य थी। शास्त्रार्थ की जो एक बीमारी सी वहाँ चल पड़ी थी उसके करते व्याकरण और नव्य-न्याय की फक्किकाओं, पंक्तियों और परिष्कारों का अभ्यास कर लेना ही पर्याप्त माना जाता था। शास्त्रों का गम्भीर मन्थन खत्म सा हो रहा था और इस ओर किसी की दृष्टि न थी।

मैंने देखा कि व्याकरणाचार्य वेदान्त की पोथियाँ पढ़ाने बैठ जाता है और नव्यन्याय का पण्डित प्राचीन न्याय और मीमांसा का अध्यापक बनने की हिमाकत करता है। खूबी तो यह है कि कोई नियन्त्रण नहीं। विद्यार्थी भी ऐसे सीधे और बेवकूफ कि एक ही गुरुजी से सब चीजें पढ़ना चाहते। जिन पण्डितों की ख्याति हो गयी थी, वह भी सोचते थे कि उनके पास तो छात्रों का समूह आता है। अगर उनने किसी विषय को पढ़ाने में असमर्थता दिखायी तो उनकी अप्रतिष्ठा हो जायगी। इसलिए पढ़ाये चले जाते थे। यही नहीं, यदि कहीं समझ में न भी आये तो भी रुकते न थे। अप्रतिष्ठा का भूत जो सर पर सवार था। क्योंकि विद्यार्थी मान बैठता कि शायद पण्डित जी को यह ग्रन्थ ठीक-ठीक समझ में आता नहीं।

मैंने दो ही तीन पण्डितों को इसका अपवाद पाया। वह जहाँ समझ न सकते वहाँ रुक जाते। पं॰ शिवकुमार शास्त्री तो न्यायदर्शन के भाष्य को पढ़ाते समय एक स्थान पर कई दिन रुके रहे और जब तक समझ न लिया आगे न बढ़े। एक पण्डित जी और थे जो कहीं न समझने पर रुक जाते। यदि कहीं दैवात् छात्र के दिमाग में उसका सही अर्थ आ गया और उसने बता दिया तो बेखटके उसे मान लेते और आगे बढ़ते। पं॰ अच्युतानन्द त्रिपाठी जी संन्यासी पाठशाला में दर्शन पढ़ाया करते थे वही ऐसा करते थे। सारांश यह कि "अपने भी गये और दूसरों को साथ लेते गये" इस सिद्धान्त के अनुसार काम करने वाले पण्डितों की बात कितनी बुरी है, इसे कौन समझता था? वैयाकरण न्याय क्या पढ़ायेगा यदि वह नैयायिक न हो? लेकिन न तो वह पढ़ाने से इन्कार करता और न उसका भोंदू विद्यार्थी ही समझता कि हम दूसरे से पढ़ें। एक बार तो मैंने एक अच्छे वैयाकरण से जिनका नाम बताना अनुचित समझता हूँ, ट्रेन में यों ही बातें कीं। उसी सिलसिले में न्याय की कोई बात आ गयी। मैं जानता था कि वे कोरे वैयाकरण हैं। फिर भी न्याय की बात को भी मेरे सामने स्पष्ट करने की कोशिश करने में वे जरा भी न हिचके। मैं भीतर ही भीतर हँसा। सन् 1922 में लखनऊ जेल में मैं बहुत अंग्रेजीदां लोगों के साथ था जिनमें कई प्रोफेसर भी थे। एक सज्जन को व्याकरण की सिद्धान्त-कौमुदी पढ़ने की इच्छा हुई। वे एक प्रोफेसर-साहब के पास उसे पढ़ने की सोचने लगे। जब उनने मुझसे यह बात कही तो मैंने कहा कि उक्त प्रोफेसर साहब सभी विषयों के प्रोफेसर नहीं हैं। मैं जानता हूँ वे सिद्धान्त कौमुदी नहीं जानते। मगर पढ़ने के इच्छुक सज्जन ने कहा कि "वाह, प्रोफेसर हैं तो क्यों न पढ़ायेंगे?" आखिर वे पढ़ने के लिए उनके

पास गये भी और प्रोफेसर साहब ने भी शान में आकर यह कभी नहीं कहा कि वे सिद्धान्त कौमुदी नहीं जानते। हालाँकि कोई-न-कोई बहानेबाजी करके वे आज, कल, करते रहे और अन्त तक ऐसा मौका नहीं ही दिया कि कौमुदी की पोथी उनके सामने खुलने के साथ ही उनकी पोल भी खुले। इस प्रकार यह मर्ज बहुत ज्यादा बढ़ा हुआ नजर आया। मैं इसे अन्धेर खाता ही मानता हूँ।

(5)

परिचय और दण्ड ग्रहण

मैं तो सन् 1915 तक काशी में बराबर संस्कृत अध्ययन में लगा रहा। शायद ही कभी बीमारी की दशा में बाहर जाता। यह बात भी आगे मिलेगी कि बाहर जाता था कैसे। फिर 1915 में ही दरभंगे के श्री रामेश्वरलता विद्यालय में पढ़ने गया जब न्याय के हेत्वाभास के कुछ ग्रन्थों के पढ़ने में काशी में कठिनाई हुई। साथ ही, मीमांसा के भी कुछ ग्रन्थों का संग्रह करना था। वहाँ इसकी सम्भावना थी। इस प्रकार सात वर्ष निरन्तर दिन-रात सरतोड़ परिश्रम करके संस्कृत वाङ्मय का मन्थन किया। मैं कह सकता हूँ कि इससे मुझे अपार सन्तोष हुआ। वेदान्त दर्शन के अद्वैतवाद और संसार की अनिर्वचनीयता तथा मिथ्यात्व की पुष्टि न्याय के तथा दूसरे ग्रन्थों से हुई। इस प्रकार मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ। खण्डन खण्डखाद्य, पदार्थ खण्डन आदि ग्रन्थों के तर्कों ने मेरे हृदय पर अचूक प्रभाव पैदा किया। योगी न मिले तो न सही। लेकिन उनके अभाव में जो मनस्तुष्टि प्राप्त करनी थी यह हो गयी यह निर्विवाद है।

इसी दरमियान, या यों कहिये कि सन् 1909-10 में ही काशी में ही एक संन्यासी स्वामी पूर्णानन्द जी से मेरी मुलाकात हो गई। उन्होंने मेरी पूछताछ की। घर कहाँ था आदि भी जाना। वह भी गाजीपुर जिले के ही करण्डा परगने के रहने वाले पूर्व के भूमिहार ब्राह्मण थे। वे मेरे पास आते-जाते रहते। कभी-कभी आवश्यकता होने पर दर्शनों की पुस्तकें भी खरीदवा कर या जैसे हो मुझे दिला दिया करते थे। उनका सम्बन्ध, पीछे पता चला, भूमिहार ब्राह्मण महासभा और उसके कार्यकर्त्ताओं से था। लेकिन उस समय न मैंने यह बात कभी जानने की इच्छा ही की और न उन्होंने बताई ही। पर, मेरी बुद्धि और परिश्रम देखकर वे दिल से चाहते थे, जैसा कि और समझदार लोग भी, कि अच्छी प्रकार से पढ़-लिख के प्रगाढ़ विद्वान् बनूँ। पीछे पता चला कि वे भीतर से चाहते थे कि विद्वान् बनकर संसार में पुजवाऊँ, रुपये एकत्र करूँ, और काशी में एक बड़ा मठ बनवाऊँ। जैसा गौड़ स्वामी या स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती आदि ने किया। मगर उन्हें मेरी मनोवृत्ति का पता न था। उन्होंने गलत रास्ता लिया और गलत आदमी के द्वारा अपनी आकांक्षा की पूर्ति चाही। परन्तु, उस

समय तो उन्हें ऐसा मालूम न था। अभी तक भी वे बराबर इस बात का उलाहना देते रहते हैं कि मैंने उनके लिए कुछ न किया। लेकिन यह तो मेरी मजबूरी थी और है। जब मठ ही बनाना था तो घर-बार क्यों छोड़ा? क्या अमीरों और सेठों की—राजा-महाराजाओं की—दरबारदारी करने के ही लिए मेरा जन्म हुआ था? क्या इसीलिए मैंने घर-बार त्यागा था?

हाँ, तो उन्हीं के द्वारा सराय गोवर्धन महल्ले के कुछ प्रतिष्ठित भूमिहार ब्राह्मणों से भी मेरा परिचय हुआ। कभी-कभी मैं उधर जाया करता था भी। वे लोग एकाध पुस्तकें भी खरीद देते थे। स्वामी पूर्णानन्द जी यद्यपि स्वयं दण्डी न थे, तथापि मुझसे उसकी चर्चा बराबर किया करते थे। वे जोर देते थे कि मुझे दण्डी होना चाहिए। मैं भी इस बात को समझने लगा था। धर्मशास्त्रों के पढ़ने से मेरी धार्मिक भावना कहती थी कि मैंने दण्डी न बन के भारी भूल की है, अब भी उसका सुधार करना चाहिए। जब उनने बार-बार कहना शुरू किया तो यह भावना दृढ़ हुई। उन्होंने अत्यन्त वृद्ध और किसी गृहस्थ के एक जीर्ण-शीर्ण मकान में रहने वाले गुरु महाराज से भी मेरा कई बार दर्शन और वार्त्तालाप कराया। आखिर में सभी बातें तय हो गईं और **सन् 1911 में मैंने विधिवत् दण्ड ग्रहण किया।** आखिर मैं भी दण्डी स्वामी बन ही गया। पीछे तो स्वामी पूर्णानन्द जी भी दण्डी बने।

इधर मैंने कई बार ये गप्पें सुनीं कि "मेरे दण्डी बनने में सरयूपारीण या कान्यकुब्ज ब्राह्मणों ने बड़ी बाधाएँ पहुचाईं और कहा कि भूमिहार ब्राह्मणों को दण्डी होने का अधिकार नहीं। फलतः जब शास्त्रार्थ में मैंने उन्हें हराया, तब कहीं दण्डी बन सका। इसी चिढ़ से तो भूमिहार ब्राह्मणों में पौरोहित्य आदि का आन्दोलन पीछे चल कर मैंने चलाया, आदि-आदि।" लेकिन ये सारी बातें सोलहों आने निराधार हैं। मेरे सामने तो कोई ऐसा मौका कभी आया ही नहीं। **यह ठीक है कि मेरे वंश वाले भूमिहार ब्राह्मणों से अब विवाह-शादी आदि के द्वारा सम्बद्ध हो गए हैं। फिर भी मैं तो जुझौतिया ब्राह्मण हूँ, जैसा कि पहले ही बता चुका हूँ। फिर झगड़ा कैसा?** भूमिहार ब्राह्मणों से तो विवाह आदि के द्वारा मैथिल, कान्यकुब्ज और सरयूपारीण ब्राह्मण भी मिले ही हैं। यह बात सप्रमाण तथा सविवरण अन्यत्र सिद्ध की गई है। तो क्या इतने ही से वे सभी कभी ऐसी बातें अपने बारे में सुनते हैं? क्या उनके बारे में कभी कोई ऐसा विवाद हुआ है? सबसे बड़ी बात तो यह है कि न तो मेरे ही समय में और न गुरु महाराज या उनके गुरु के ही समय में ऐसी बात सुनी गई। हालाँकि ऐसी चर्चा होने पर मैंने उनसे स्वयं ही यह जिज्ञासा की थी। उनका शरीरान्त तो प्रायः सौ वर्ष की अवस्था में हुआ था।

(6)

मेरे गुरुदेव

जिनसे मैंने दण्ड ग्रहण किया उन गुरुदेव महाराज का नाम था श्री स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती। वे संस्कृतज्ञ न थे। केवल गीता आदि का पाठ कर लेते थे। लेकिन प्रेम और भक्ति की मूर्ति ही थे। मेरे जैसे तार्किक और रूखे मनुष्य के दिल को भी उन्होंने बलात् अपनी ओर आकृष्ट किया था, यही क्या कम है? जब कभी भक्ति की बात आ जाती तो इधर बोलते जाते और उधर आँखों से प्रवाह चलता था! यह तो मैंने सैकड़ों बार देखा। जरा सी भी भगवान् की बात निकली कि आँखें छलछला आईं! जब अत्यन्त वृद्ध और अशक्त प्राय हो गये तभी विश्वनाथ बाबा के मन्दिर में जाकर दर्शन करना बन्द किया। तब चर्चा होने पर स्वयं ही कह बैठते जलपूर्ण आँखों के साथ ही, कि "क्या वे मन्दिरनाथ हैं? वह तो विश्वनाथ हैं। वे तो सर्वत्र हैं। फिर मन्दिर में क्यों जाऊँ? वे कैद तो हैं नहीं उन पण्डों के हाथ।" नित्य दर्शन का फल अन्त में यह अनुभव और अपार सन्तोष! यही तो भक्ति का असल रूप है।

वे सदा श्वेत भस्म लगाते थे। भेंट होने पर हमें भी देते थे। रुद्राक्ष की माला पहने रहते। उनकी सुमिरनी (हाथ में पड़ी रहने वाली हरदम जपने की छोटी माला) बराबर चलती रहती। उसे कभी विराम नहीं मिलता। संयोगवश जब वह हाथ में नहीं रहती तो उँगलियों पर अँगूठा ही घूमा करता और सुमिरनी का काम उसी से निकल जाता। उँगलियों वाला यह अभ्यास तो बहुत ज्यादा हो गया था। एक प्रकार से साँस की तरह उनकी यह स्वाभाविक चीज हो गई थी। इसीलिए निद्रा के समय भी उनकी उँगलियों पर अगूँठा घूमता ही रहता था। जानें कितनी बार मैंने स्वयं यह दृश्य देखा, जब कि अकस्मात् मैं पहुँच गया और वे नींद में थे।

उनकी आँख और उनके दाँत मरते दम तक ठीक रहे। चश्मा लगाने की उन्हें जरूरत उस सौ वर्ष की उम्र में भी न हुई। दाँतों से वृद्धावस्था में भी चबेनी चबा लेते थे। मैं हैरत में रहता। उन्हें सुँघनी सूँघने की सख्त आदत थी। पीछे तो यह हालत थी कि बाजार की बनी जिस सुँघनी के नाक में छुलाते ही हम छीं-छीं करने लग जाते उसका उन पर कुछ असर ही न होता। इसलिए काली मिर्च की अत्यन्त महीन बुकनी उसमें मिला कर सूँघा करते थे। तब कहीं उसकी तेजी का भान उनको होता था। उनका कहना था कि बाल्यावस्था से ही सुँघनी से उनका संसर्ग हो गया था। वह यह भी कहते थे कि मस्तिष्क के विकार को यह रहने नहीं देती। उसमें गर्मी का नाम नहीं रहता। इसीलिए आँखें ठीक हैं और दाँत भी। मैंने औरों से भी ऐसा सुना है। कह नहीं सकता कि बात क्या है। इसकी पूरी-पूरी जाँच हो तो ठीक। क्योंकि आज कल तो दाँतों और आँखों की बीमारी से प्रायः सभी परेशान हैं। इसलिए अगर यह सच हो तो बड़ी आसान दवा है।

गुरुजी महाराज अतिथि-सत्कार में एक ही थे। पास में खाने-पीने की चीजें बराबर अपनी कुटिया में रखते और जो जाता उसे बिना कुछ खिलाये मानते ही न थे। मेरी तो सदा से खाने-पीने के बारे में सख्त नियम की आदत रही है। लेकिन उनका निश्छल स्वभाव मुझे भी विवश करता। सीधे वह इतने थे कि सभी बातें कह देते। छिपाते एक भी न। कभी-कभी ऐसा करने से अप्रतिष्ठा की सम्भावना रहती है। क्योंकि अपनी कमजोरियाँ और छिद्र सभी को विदित हो जाते हैं। मगर उन्हें कोई परवाह न थी। उनका हृदय अगाध और स्वच्छ गंगा जल की तरह शुद्ध था। वहाँ छल-कपट की गुंजाइश थी ही नहीं। मैं कई ऐसी घटनाएँ जानता हूँ जिन्हें प्रकट करने की हिम्मत किसी को भी नहीं होती। मगर उन्होंने उन्हें कभी नहीं छिपाया। फलतः मरते दम-तक उनकी पूजा होती ही रही। भगवान् में तो उनका अपार विश्वास था। खाने-पीने की फिक्र उन्हें इसीलिए न थी। उनका भण्डार भरपूर भी शायद इसी से रहता था।

कभी-कभी ऐसा होता कि अपने बचपन की बातें सुनाते थे। कहा करते कि एक रुपये की तीन मन पक्की तोल खेसारी कोई पूछता न था। हम गाँव के बनिये के पास तौल कर जबर्दस्ती रख आते थे कि वर्ष-दो वर्ष में जब हो सके इसका दाम देना। इसी प्रकार खेती की और चीजों के बारे में भी कहते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश की यह बात वह कहते थे। बनारस जिले में ही उनका जन्म स्थान था गंगा से दक्षिण। कहते थे कि एक गौ उनने पाली थी। उसकी सेवा अपने हाथों करते थे। वह कामधेनु थी। जब चाहे उससे दूध दुह लेते थे। कोई संन्यासी या महात्मा यदि समय-कुसमय पहुँच जायँ तभी ऐसा करना पड़ता था। उनने महात्माओं की सेवा खूब ही की थी।

अन्त में उनका एक उपदेश सुनाऊँगा जो और किसी से मुझे नहीं मिला। उन्होंने साधु और असाधु की जो परिभाषा अपने शब्दों में की वह स्मरणीय होने के साथ ही काव्यमय थी। एक दिन उन्होंने इसी प्रसंग में कहा कि "गुणग्राही साधु, अवगुणग्राही असाधु। अवगुणग्राही साधु, गुणग्राही असाधु"। फिर मुझसे चट पूछा कि इसका मतलब समझा? मेरी समझ में तो आया नहीं। अतः मैंने कहा कि नहीं। यह महाभारत के कूटश्लोक के तरीके की चीज थी। फिर समझता कैसे? तब उन्होंने समझाया कि "साधु का यह काम है कि दूसरों के गुणों को ही देखे। उनके हजार अवगुणों पर दृष्टि करे ही न। इसी प्रकार अपने सहस्र गुणों पर दृष्टि न रख यदि एक भी अवगुण हो तो बार-बार उसी पर दृष्टि लाये। विपरीत इसके असाधु वह है जो गैर के हजार गुणों को छोड़ उसके ऐब को ही देखता फिरे। पर अपने सहस्र छिद्रों को न देख एकाध गुण भी यदि अपने में पाया जाये तो मुनादी करता रहे।" यह एक नयी चीज मुझे उनसे मिली इतनी नयी और ऊँची कि कह नहीं सकता। मैं उनकी सेवा नहीं कर सका इसका दुःख मुझे सदा रहेगा। कुछ समय तो पढ़ने

से ही फुर्सत नहीं थी। पीछे सार्वजनिक कामों से ही। इस बीच शीघ्र ही वे इस छल-प्रपंच से भरी दुनिया को छोड़ कर चल बसे। सन्तोष यही रहा कि शरीरान्त के समय मैं उनके चरणों में ही था।

(7)

ज्योतिष विद्या और कर्मकाण्ड

पढ़ने की बात खत्म करने के पूर्व दो बातें कहनी हैं। एक तो ज्योतिष की और दूसरे मिथिला जाने की। जब मैं श्रीहर्ष का खण्डन खण्ड खाद्य पड़ता था, जो वेदान्त का अत्यन्त उच्च कोटि का क्लिष्टतम ग्रन्थ माना जाता है, तो उसमें मैंने वैद्यक और ज़्योतिष के सिद्धान्तों की कई बातें पाईं। उस समय ठीक-ठीक उनका अभिप्राय समझ न सका। पढ़ाने वाले भी न आयुर्वेद जानते थे न ज्योतिष। इसलिए जैसे-तैसे काम चला लिया। लेकिन उसी समय से ज़्योतिष की ओर विशेष ध्यान गया और वैद्यक की ओर भी। ज्योतिष की बात तो कुछ पहले भी चलती ही थी। पीछे चलकर मैंने वैद्यक के कुछ प्राचीन ग्रन्थों का संग्रह किया और थोड़ा-बहुत उन्हें देखा भी। पर, विशेष जानकारी न कर सका। हालाँकि कुछ तो जान ही लिया। मगर ज्योतिष में विशेष माथा-पच्ची करने की नौबत पड़ी। जब मैंने कर्मकलाप नामक कर्मकाण्ड की पुस्तक लिखी। क्योंकि उसमें हिन्दी में सारी बातें समझा दी गई हैं ताकि हिन्दी पढ़े-लिखे भी समझ सकें, तो उसमें ज्योतिष की बातें भी लिखनी जरूरी हो गईं। उसके बिना कर्मकाण्ड अधूरा ही रह जाता है। इसीलिए गणित और फलित ज्योतिष के सभी ग्रन्थों का संग्रह करके उसमें अधिक शक्ति लगानी पड़ी। यह पढ़ने का समय भी न था कि जा के किसी से पढ़ लेता। इसलिए सोलहों आने अपने ही बल पर सारा काम करना पड़ा। अन्त में सफलता मिल के ही रही। जब एक बार तय कर लिया कि इसे पूरा करना है, तो फिर विफलता का क्या प्रश्न? उसमें मेरी कितनी सफलता हुई या तो कर्मकलाप के ज्योतिष प्रकरण के पढ़ने वाले पण्डित ही बता सकते हैं।

यही बात कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में भी है। यों तो स्मार्त्त या साधारण गृहस्थ जीवन से सम्बन्ध रखने वाला कर्मकाण्ड भी बहुत कठिन तथा जाल की तरह विस्तृत है। मगर वैदिक कर्मकाण्ड तो अत्यन्त दुष्प्रवेश और दुरूह है। अभाग्यवश सिवाय सन्ध्योपासनादि नित्य कर्मों के बाकी में मेरा कोई प्रवेश शुरू से ही न था। उसका मौका ही न लगा। पीछे मीमांसा दर्शन के ग्रन्थों के पढ़ने के समय वैदिक कर्मकलाप का प्रसंग आया सही। उसमें मेरा प्रेम भी हुआ। मगर उन कर्मों के बताने वाले कोई थे ही नहीं। इसलिए पुस्तकों और पद्धतियों के संग्रह और उनके मंथन में ही लग

गया। फलतः उसमें भी सफलता मिली। कर्मकलाप नाम की पुस्तक में मैंने इस ज्ञान को रख दिया। उस पुस्तक के बारे में काशी के एक बुकसेलर ने मुझे बताया कि—वैदिककर्मकाण्ड के विज्ञ अग्निहोत्री पं॰ प्रभुदत्त जी शास्त्री एक बार उसकी दूकान पर आये। कर्मकलाप को देख कर कौतूहलवश उठा ले गये कि देख के वापस कर देंगे। लेकिन उन्होंने पुस्तक न लौटा कर उसका दाम ही दिया। साथ-साथ इतना पूछा भी कि स्वामी जी क्या पहले से कर्मकाण्ड कराते थे? मुझे इससे खुशी हुई कि मेरा परिश्रम सफल हुआ और मेरा वह कर्मकाण्डज्ञान भ्रान्त सिद्ध न हुआ।

(8)

मिथिला यात्रा

पढ़ने के ही सिलसिले में मुझे दरभंगा जाना पड़ा सन् 1915 ई. में। सत्प्रतिपक्ष और बाध आदि नव्यन्याय के ग्रन्थों के पढ़ने का ठीक अवसर काशी में न लगा। ये ग्रन्थ बड़ी कठिनाई से दक्षिण-भारत की कांचीपुरी से हमें मिल सके। कुछ मीमांसा सम्बन्धी जिज्ञासा भी थी जो काशी में पूरी न हो सकी थी। इसीलिए दरभंगा आकर श्री रामेश्वर लता विद्यालय में ठहरा। वहीं कई मास रह के श्री पं॰ बालकृष्ण मिश्र से न्यास के ग्रन्थ और काव्य प्रकाश पढ़ा। मैं उनकी कुशाग्रबुद्धि का कायल था। मुझे जितने पण्डित मिले उसमें सबसे तीक्ष्ण बुद्धि यही दीखे। मगर केवल पच्चीस रुपये मासिक पाते थे! यह थी महाराजा दरभंगा की विद्वत्प्रतिष्ठा। मेरे ही आग्रह से उन्होंने धर्म समाज संस्कृत कॉलेज, मुजफ़्फ़रपुर में प्रार्थना-पत्र भेजा। स्वीकृत होने पर वहाँ सम्भवतः पचास रुपये के मासिक पर गये। पच्चीस रुपये मासिक तो उनके खाने-पीने को ही चाहिए था। वे दिन-रात पठन-पाठन में मस्तिष्क खपाते रहते थे। काव्यरचना भी अच्छी करते थे। बिहारी की सतसई को संस्कृत दोहों में उनने लिखा था। मगर छपवा न सके। कहते थे कि जब उन्हें पता लगा कि किसी और ने भी संस्कृत दोहों में उसे लिखा है तो मैंने छपवाने का इरादा ही छोड़ दिया। जब मैं दरभंगे से चलने लगा तो अपनी एक पुस्तक के ऊपर अपने हाथों यह श्लोक लिख कर वह पुस्तक उन्होंने मुझे दी। वह न्याय की है।

प्रेमैव मास्तु यदि स्यात्सुजनेन नैव,
तेनापि चेद् गुणवता न समं कदाचित्।
तेनापि चेद् भवतु नैव कदापि भंगो,
भंगोऽपि चेद् भवतु वश्यमवश्यमायुः।।

वहीं पर महामहोपाध्याय पं॰ चित्रधर मिश्र मीमांसक से मेरा परिचय हुआ। उनके साथ मीमांसा पर कथनोपकथन होता रहता। वर्षा के दिनों में मैंने उनके पास

से हस्तलिखित तन्त्ररत्न-नामक बड़ी सी पुस्तक लेकर अपने हाथों उसकी नकल की। पीछे सुन्दर जिल्द बनवाकर उसे पास रखा। दो मास के लगातार परिश्रम के बाद उतनी बड़ी पुस्तक लिखी जा चुकी। यह तो असम्भव सा काम था। कोई भी उसका आकार देख कर कह सकता है। वहीं पर मैंने पं॰ रघुनाथ शिरोमणि की पुस्सक 'पदार्थ खण्डन' की भी प्रतिलिपि हाथों लिखी। असल में ये दोनों पुस्तकें छपी न थीं। पं॰ बालकृष्ण मिश्र हिन्दू विश्वविद्यालय में अब अच्छी जगह पर हैं। उनने खूब उन्नति की है। दरभंगे की एक घटना है। उन दिनों मेरा भोजन बनाने के लिए एक मैथिल ब्राह्मण रखा गया था। वही बाजार से सामान भी खरीद लाता था। मुझे एक दिन शक हुआ कि वह चोरी करता है। इसलिए मैं इसका पता लगाने में संतर्क हुआ। असल में चोरी से मुझे सख्त नफरत है। आखिर एक दिन एक पैसे की चोरी पकड़ी। फिर, तो उसे अपने पास से हटा ही दिया। मैंने उससे कहा कि तूने मुझसे पैसे माँग क्यों न लिये? एक-दो पैसे की क्या बात थी कि चोरी की? वहाँ पढ़ने के समय मेरा खर्च मुजफ़्फ़रपुर के वकील बाबू योगेश्वर प्रसाद सिंह और दरभंगे के वकील बाबू धरणीधर जी देते थे। दोनों से मेरी उस समय घनिष्ठता थी। वे लोग मेरे सामाजिक और धार्मिक व्याख्यानों पर मुग्ध थे।

(9)

दुर्गा सप्तशती और फूटे गणेश

मेरे जीवन की एक और बात है जिसका सम्बन्ध संस्कृत पठन के जमाने से ही विशेष सम्बन्ध रखता है। हालाँकि वह चीज पीछे तक रही है। वह है नियमित रूप से दुर्गा सप्तशती का पाठ। काशी में ही मैंने दुर्गा सप्तशती का नियमित रूप से प्रतिदिन पाठ शुरू किया। वह बहुत समय तक चलता रहा है। नवरात्र के दिनों में तो क्रमशः एक, दो, तीन करते-करते आखिरी दिन नौ पाठ तक करता था। कभी-कभी सम्पुट पाठ भी कर डालता था। जानें कब और कैसे मेरे मन में शुरू में यह बात आई। पीछे तो यह मेरे जीवन का एक अंग ही बन गयी। न जानें दुर्गा सप्तशती की कितनी पुस्तकें मैंने खरीदीं और मँगायीं। क्योंकि आज की छपी पुस्तकों में बड़ी ही अशुद्धियाँ हैं। उन्हें ठीक करना जरूरी था। यह काम अनेक पुस्तकें कर सकती थीं। इसके सिवाय हर अध्याय के उपसंहार में ऐसी बातें लिखी रहती हैं जो पाठ के समय पढ़ी नहीं जानी चाहिए। कुछ और भी नियम हैं। इन सब बातों के लिए मैंने और-और ग्रन्थ भी ढूँढ़े। अन्त में पं॰ बालकृष्ण मिश्र जी के पास एक प्रखर तान्त्रिक की हस्तलिखित पुस्तक मिली। उसकी सहायता से मैंने अपनी पुस्तक का संशोधन दरभंगे में किया। वहाँ एक छपी पुस्तक भी मिली और पं॰ बालकृष्ण जी ने इस छपी पुस्तक

को ही प्रामाणिक बताया। इसलिए मैं बहुत दिनों तक उसी का पाठ करता रहा। बहुतों की धारणा है कि दुर्गा सप्तशती के इस चिरकाल के अनुष्ठान का ही फल है कि मेरी बुद्धि इतनी तेज है। कौन कहे, क्या बात है? बुद्धि तो पहले भी तेज ही थी।

काशी में ही पढ़ने के समय फूट गणेश के मन्दिर के ऊपर एक छोटा सा कमरा किराये पर लेकर रहने लगा था। जहाँ तक याद है, सन् 1913-14 की बात है। एकान्त स्थान था। इससे कोई बाधा नहीं रहती थी। एक बार ऐसा हुआ कि पास-पड़ोस में रहने वाले एक बड़े से बन्दर को कुछ लोगों ने चिढ़ाया और खदेड़ा। वह अचानक मेरे कमरे के ऊपर आ गया। बहुत क्रुद्ध था। मैं उससे बचना चाहता था। कमरे में घुस के दरवाजे बन्द कर सकना जल्दी में असम्भव देख मैं दोनों हाथों से एक खम्भा पकड़ के लटक गया। लेकिन उसने मेरे हाथों पर हमला किया। फलतः हाथ छूट गये। मैं नीचे जा पड़ा और बायें पाँव की एड़ी के ऊपर का हिस्सा एक किनारदार पत्थर के खम्भे में जोर से जा टकराया। नतीजा हुआ कि और कहीं तो चोट नहीं लगी, हालाँकि नीचे-ऊपर सर्वत्र पत्थर की ही दीवार, फर्श आदि थे। लेकिन एड़ी के ऊपर जोड़ की हड्डी टूट गयी। मैं बड़े कष्ट में रहा। जैसे-तैसे उठाकर ऊपर कमरे में पहुँचाया गया। हड्डी ठीक करवाने वगैरह की कोशिश मित्रमण्डली करने लगी। मैं तो चल-फिर सकता न था। उस समय स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती ने रात-दिन साथ रह के मेरी बहुत सेवा की। क्योंकि मैं तो अकेला ही रहता था। जाड़े के दिन थे। धीरे-धीरे और तकलीफ तो दूर हुई। सूजन भी हटी। मगर जहाँ हड्डी टूटी या खिसकी थी वहाँ कुछ सूजन रही गयी। उसके भीतर कोई नोकीली-सी चीज चुभती-सी मालूम होती थी। फिर भी मैं अच्छी तरह चल-फिर सकता था। गर्मियों में, महीनों बाद, अचानक आजमगढ़ के टीकापुर ग्राम में, जो कन्धरापुर थाने में है, श्री मथुरा प्रसाद सिंह रईस के यहाँ गया। वहाँ पहले भी जाया करता था। वहीं पर एक हड्डी सुधारने वाले कारीगर ने फिर से टूटी हड्डी का स्थान कुछ ढीला करके चुभने वाली हड्डी तो ठीक कर दी। मगर जरा-सी हड्डी अपनी जगह से जो हटी थी वह हटी ही रह गयी। बहुत देर होने से वह अपनी जगह पर की जा सकती न थी। खैर, चुभना और सूजन खत्म हो गयी। अब कोई तकलीफ न थी।

काशी में रहने के समय मैं जिन छात्रों को न्याय और वेदान्त आदि पढ़ाया करता था उनमें दो-तीन तो द्रविड़ ब्राह्मण थे। उनके नाम भूलता हूँ। मगर पं. मुक्तिराम शर्मा और ब्रह्मचारी रामेश्वरदत्त के नाम खूब ही याद हैं। पण्डित मुक्तिराम शर्मा ने तो प्राचीन-न्याय के न्याय कुसुमांजलि आदि ग्रन्थ मुझसे पढ़े थे। ब्रह्मचारी जी तो न्याय और वेदान्त आदि सभी कुछ पढ़ते थे। वह थे बड़े ही पटु तथा वाद-विवाद में प्रवीण। चलता-पुर्जा भी खूब थे। लेकिन वाम मार्ग का संसर्ग हो गया था। इसलिए उसी तान्त्रिक रति से पूजा-पाठ किया करते थे जिसमें मद्यमांसादि का सेवन भी आता

है। मैंने एक दिन फूटे गणेश पर ही पढ़ाते समय कुछ अन्दाज किया कि आज वे वैसी पूजा कर के आये हैं। मैंने पूछा तो उनने स्वीकार भी किया। पीछे तो गुजरात या, काठियावाड़ में या उधर कहीं नर्मदा तट में वे जा जमे। वहाँ भक्त-मण्डली भी एकत्र की। सुना है, वेदान्त के उच्चकोटि के ग्रन्थ अद्वैतसिद्धि का हिन्दी में अनुवाद उन्होंने किया और छपवाया है। मैंने न तो वह अनुवाद देखा है और न उनसे फिर कभी मेरी मुलाकात ही हुई है। मुक्तिराम जी भी फिर कभी मिल न सके।

काशी में रहने के समय की एक घटना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मठों से अलग होकर मैं जब इधर-उधर रहता था उसी समय, फूटे गणेश पर जाने के पूर्व लक्ष्मी कुण्ड के पास एक बड़े से मकान में रहता था। वहीं अंग्रेजी पढ़ने वाले छात्र भी रहते थे। उसी समय कुछ बंगाली लड़के (युवक) बगल के ही मैदान में गेंद वगैरह खेला करते थे। मुझे क्या मालूम कि इनमें कुछ ऐसे भी थे जो पीछे चल कर बनारस षड्यन्त्र केस में फँसे थे। उन दिनों तो मैं राजनीति से कहीं दूर था। उसी मकान में एक दिन छात्रों की चीजें रात में चोर ले गया। पुलिस जाँचने आयी। मुझे साधु देख उसने पूछा-ताछा। पीछे पता चला कि मेरे घर भी पुलिस गयी थी और जाँच की थी। साधुओं की यह इज़्ज़त!

(10)

गुजरात की ओर और फिर वापस

सन् 1912 की बात है। मेरे साथी पं॰ हरिनारायण जी एक बार फिर मेरे पास आये और संन्यास लेने को आतुर दिखे। आखिर गुरुजी के पास लिवा ले गया। और उन्हें संन्यास दिलाया। गर्मियों के दिन थे। प्रायः जून होगा। उसके बाद उनने आग्रह किया कि यहाँ खबर पाकर घरवाले परेशान करेंगे। उनने यह भी कहा कि दर्शन पढ़ने की उत्कट अभिलाषा है और आपसे बढ़कर पढ़ाने वाला अब कौन मिलेगा, ताकि जीवन भर की इच्छा को पूरी कर सकूँ? इसका सीधा अर्थ था कि काशी छोड़ कर कहीं बाहर चलना चाहिए। मैं तैयार तो था नहीं। मगर उनका आभार तो मानता ही था। पहले तो उन्होंने बहुत कुछ सिखाया था। उसका ऋण मेरे मत्थे पर था। आज स्वयं मुझसे सीखना चाहते थे। फिर इनकार कैसे करता? आखिर ऋण तो चुकाना ही था। बस, चलने की तैयारी हो गयी। इस बार, लेकिन पैदल चलने की बात न रही। पुस्तकें भी साथ अधिक लेनी थीं। इसलिए रेल से चले।

जहाँ तक याद है, काशी से एकाएक दिल्ली गये। वहाँ से भिवानी जा पहुँचे। शहर के पास बाहर की ओर एक मन्दिर था। उसके हाते में बाहर की ओर छोटी-छोटी कोठरियाँ थीं। ये धर्मशाले का काम देती थीं। लावारिस और आश्रय विहीन लोग

उनमें ठहरते थे। हमें तो मन्दिर के पुजारी ने एक सुन्दर मकान में मन्दिर के पास ही ठहराया। एक दिन उसने रुपयों के मोह की एक दिलचस्प कहानी हमें सुनायी। एक कोठरी दिखाकर कहता था कि इसी में बहुत दिन पूर्व एक भिक्षु ब्राह्मण रहता और भीख माँगकर गुजर करता था। एक दिन उसे हैजा हो गया। उसका पुर्साहाल तो कोई था नहीं। मैं उससे पूछने गया कि पैसे हों तो दवा ला दूँ। उसने कहा कि पास में पैसे कहाँ? फिर तो जैसी-तैसी दवा होती रही। आखिर लावारिस ही तो था। धीरे-धीरे बीमारी भीषण हो गयी। मैंने उसके घर का पता पूछा। फिर कहा कि पैसे हों तो दे, ताकि घर पर तेरे लड़के को तार दे दूँ। उसने फिर वही जवाब दिया कि पैसे कहाँ? बाद में वह मर गया। हमने जैसे-तैसे उसका दाह आदि करवा दिया। हाँ, बीमारी की दशा में आखिरी बात जो भिखमंगे ने की थी वह उसने बताई। बोला कि कोठरी के बाहर राख की ढेर थी जिस पर बराबर आग जलाकर वह तापता रहता था। मगर बीमारी की दशा में कोठरी में रहता था। जब मरने का समय आया तो उसने कहा कि मेरी खाट दरवाजे के सामने कर दीजिये। हमने भी सोचा कि मरना तो हई। फिर इसकी अन्तिम इच्छा क्यों न पूरी कर दें। इसलिए खाट सामने कर दी गयी और वह उस राख की ढेर पर ही नजर लगाये मर गया। जब हमने उसका दाह करवा के वह राख हटवाने की कोशिश और उसे उठवाने लगे तो उसमें से झनाझन रुपये गिरे। पूरे तीन सौ थे! उनकी मुहब्बत उसे ऐसी थी कि न तो दवा में उसने एक पाई खर्च की और न तार देने में। तार देने से उसका लड़का तो ले जाता। आखिर उन्हीं रुपयों की ओर नजर लगाये वह मरा। इसीलिए दरवाजे के सामने उसने खाट करवाई थी। कोठरी के कोने से राख देख सकता न था। इसे कहते हैं रुपये का मोह। रुपये न उसी के काम आये और बाल-बच्चों के ही।

भिवानी से हम फुलेरा होते जयपुर के रास्ते अजमेर पहुँचे। वहाँ से पुष्करराज गये। पुष्कर शहर और वहाँ का हाल देखा। भारत में ब्रह्मा जी का मन्दिर केवल पुष्कर में ही है। और कहीं भी नहीं। मन्दिर में गये। दर्शन किया। यह ठीक है कि हम इस बार रेल से ही चलते रहे। मगर पास में पैसे न थे। और लोग ही टिकट कटवा देते। दण्डी संन्यासी होकर पैसे कैसे रखते? पुष्कर की यात्रा तो पैदल ही थी। वहाँ रेल कहाँ? फिर जूना (पुराना) पुष्कर देखने चले। पुष्कर संस्कृति में झील या तालाब को ही कहते हैं, जो प्राकृतिक हो और किसी का खुदवाया न हो। जूना पुष्कर दो पहाड़ियों के बीच में है। वहीं से आजकल अजमेर शहर के लिए पानी लाया जाता है। घूमघाम कर हम अजमेर लौटे और रेल पर चढ़कर सिद्धपुर होते मेहसाना चले आये। बीच में सिद्धपुर के सिवाय कहीं न रुके। मेहसाना तो अहमदाबाद के निकट है। उसके पास ही पाटन नामक बड़ा शहर दस-बारह मील पर है। यह बड़ौदा राज्य का एक बड़ा हेडक्वार्टर है। हमने पाटन जाने की सोची और चल पड़े। यद्यपि मेहसाना से रेल भी पाटन तक आती है। मगर हम पैदल ही चले।

पाटन पहुँचने के पूर्व एक बात सिद्धपुर के बारे में कह देनी है। हमने भागवत आदि ग्रन्थों में पढ़ा था कि श्री देवहूति के गर्भ से कपिल भगवान् का अवतार सिद्धपुर में हुआ था। इसलिए हम वहाँ उतरे थे कपिल जी के जन्मस्थान का जो मन्दिर बताया जाता है उसके पास एक बावड़ी है। उस समय लम्बी दाढ़ी और जटावाले एक बूढ़े ब्रह्मचारी बाबा उस मन्दिर के अधिष्ठाता थे। दण्डी देखकर उनने हमारा आदर किया। यह ठीक है कि केवल गेरुवावस्त्र देखकर लोग उतनी प्रतिष्ठा नहीं करते थे। पर, दण्ड देखकर मानते थे। हम कई दिन वहाँ रहे। वहीं सरस्वती नदी का दर्शन हुआ उसमें स्नान किया। थोड़ा जल था। बराबर धारा जारी थी। वहाँ दण्डी संन्यासियों का एक अच्छा मठ है। वहाँ गये तो बाहरी ढोंग बहुत देखा। मगर प्रायः सबके-सब 'लिख लोढ़ा, पढ़ पत्थर' थे। आदर-सत्कार होता है और अच्छा खाना कपड़ा मिलता ही है। फिर पढ़े-लिखे कौन बेवकूफ?

विपरीत इसके दूसरे साधु और गेरुवाधारी पढ़-लिख के अच्छे-अच्छे पण्डित होते हैं। कारण, बिना पढ़े उन्हें पूछे कौन? जहाँ पहले समय में श्री मधुसूदन सरस्वती आदि जैसे अकाट्य विद्वान् होते थे जिनने वेदान्त आदि के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थों को तैयार किया, तहाँ आज दण्डियों में प्रायः मूर्खों की ही मण्डली है। उनका काम मैंने जगह-जगह यही पाया कि मठ में जमा होने पर किस क्षेत्र में क्या भोजन आज मिला। किसका कौन गोत्र है आदि व्यर्थ बातों में ही समय गुजारते हैं! एक मठ के अध्यक्ष दण्डी ने काशी में मुझसे कहा कि एक बार एक दण्डी ने उनसे शिकायत की कि अमुक स्वामी तो नाक टेढ़ी करके हमें चिढ़ाते हैं। इस पर मैंने कहा कि तुम हाथ चमका कर उन्हें चिढ़ा दो। यह तो हालत है। मठ बने हैं। खाने के लिए क्षेत्र भी पहले से ही हैं इसलिए घर में कामकाज के योग्य न रह जाने पर आकर दण्डी बाबा बन जाते हैं। सिद्धपुर में भी यही पाया। मेरे दण्ड से एक दण्डी जी का खूँटी पर टँगा वस्त्र (सोला) अचानक छू गया तो बिगड़ उठे। मैंने उत्तर दिया कि बिगड़ना तो मुझे चाहिए कि दण्ड जिसे विष्णु मानते हैं, आपकी नापाक धोती से छू गया। उलटे आप ही जामे से बाहर हो गये? यही तो उनका धरम-करम रह गया है।

जो दाढ़ी वाले ब्रह्मचारी बाबा मुझे सिद्धपुर में मिले उस तरह के ब्रह्मचारी उस प्रदेश में बहुत रहते हैं। यह एक पंथ जैसा हो गया है। एक खासा दल उनका पाया जाता है। कुछ तो पढ़े-लिखे भी होते हैं। मगर अधिकांश वही (पूजा-पाठ) करने वाले और जनता की प्रवंचना में प्रवीण। खाना-पीना खूब मिलता है। पैसे भी काफी आते रहते हैं। इन महाशयों में अधिकांश के चरित्र भी भयंकर होते हैं। उस प्रदेश में वेदान्त और ब्रह्मज्ञान का बाहुल्य होने के साथ ही पर्दे के अभाव में स्त्री-पुरुषों के मिलने में कोई रुकावट न होने के कारण ऐसा होना ठीक ही है। उसके बाद तो मुझे भी कई ऐसे ही ब्रह्मचारी मिले। फलतः एक बार तो मैंने यहाँ तक सोचा कि ऐसे चालीस ब्रह्मचारियों के पता लगा के 'ब्रह्मचारी चालीसा' लिखूँ। मगर यह

खयाल ही रह गया।

हाँ, तो मेहसाना से कन्धे पर पुस्तकों का बोझ बैल की तरह लादे हुए हम लोग पाटन पहुँचे। पहले पहल वहीं शाम के वक्त बाहर से आने वाली गायों का समूह देखा। उनकी सींगें बैलों की जैसी थीं। आकार भी उसी प्रकार के थे। हम पूछताछ करते-कराते नागरवाड़ा महल्ले में पहुँचे। दण्डी स्वामियों के भक्त नागर तथा अन्य गुजराती ब्राह्मणों से वहाँ मुलाकात हो गई। हम निकट के ही एक मन्दिर के पास में बने कोठे पर ठहराये गये। चातुर्मास्य का समय सिर पर था। धर्मशास्त्रों के अनुसार हम भ्रमण कर नहीं सकते थे।

संन्यासियों के लिए पर्यटन का समय आठ मास और एक स्थान पर विश्राम करने का चार मास है। इसे ही चातुर्मास्य कहते हैं। आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद और आश्विन ये चार महीने चातुर्मास्य कहाते हैं। अब तो दण्डियों ने श्रावण और भाद्रपद केवल इन दो को ही चातुर्मास्य नाम दे रखा है। दो ही महीने वे न तो घूमते और न नदी-नाले पार करते हैं। पोथियों में तो लिखा है कि वर्षा में भूमि पर हवा में तथा चारों ओर नये नये जीव भर जाते हैं और चलने-फिरने से उनका नाश अत्यधिक होता है। साथ ही नदी-नाले भर जाने से पार होने में बह जाने का डर रहता है। इसीलिए दण्डी लोग भ्रमण न करें।

मगर अब तो रेलें, मोटरें, हवाई जहाज, सड़कें; पुल बन गये हैं। पैदल चलने की जरूरत भी नहीं। फिर भी यह नियम सख्ती के साथ क्यों पाला जाता है, समझ में नहीं आता। रेलें तो चलती ही रहती हैं और लारियाँ भी। उनसे हिंसा होती ही रहती हैं। संन्यासियों के चलने से उनके द्वारा हिंसा बढ़ तो जायगी नहीं। इसे ही कहते हैं लकीर का फकीर होना।

हमें काशी में तो इस बारे में एक ऐसी दिलचस्प बात सुनाई गई कि तरस भी आया, हँसी भी और क्रोध भी। चातुर्मास्य का समय था। लेकिन पानी नहीं पड़ा था। इसलिए काशीवाला असीनाम का नाला सूखा था। कुछ दण्डी लोग नाले के पार रहते थे और वहीं खाते-पीते थे। मगर उनके महन्त नाले के दूसरी तरफ मठ में रहते थे। एक दिन महन्त को जरूरत हुई कि पार रहने वाले दण्डियों को कोई बात समझाई जाये। बस, आदमी भेजा गया और हुक्म हुआ कि नाले के किनारे उसी पार आकर वे लोग खड़े रहें। इधर न आयें, नहीं तो धर्म नष्ट हो जायगा! स्वयं महन्त जी गये, इसी पार खड़े होकर उपदेश दिया और वापस आये। महन्त जी की यह दशा थी कि मठ तो था ही, रुपये-पैसे भी काफी रखते थे, चरित्र भी कुछ ऐसा ही तैसा था। लेकिन इन सब बातों से तो धर्म नष्ट होता न था। वह तो सिर्फ सूखे नाले में पाँव देने से बह जाता! 'पेड़ काटि तैं पल्लव सींचा' इसे ही कहते हैं। धार्मिक दुनिया भी ऐसी अन्धी है कि इसे ही ठीक मानती है! धार्मिक मामलों में अक्ल के लिए गुंजाइश नहीं!

असल में हमारी तो इच्छा थी ही कि ठहरें। वहाँ के ब्राह्मणों ने भी हठ किया कि ठहरें। वे लोग कुछ पढ़ना-लिखना स्वयं भी चाहते थे। एक वृद्ध ब्राह्मण को, जो मरणावस्था में थे, दण्डी बनना भी था, जिससे अन्त में सद्गति हो जाय! इसलिए तय पाया कि सावन और भादों तो यहीं रहें! आगे देखा जायगा।

उसी पाटन में एक नागर ब्राह्मण भाई उमाशंकर जी के घर पर पहले पहल श्री डॉ. सुमन्त मेहता से, जो गुजरात के प्रसिद्ध जन-सेवक और त्यागी हैं, मेरी मुलाकात हुई। श्री उमाशंकर भाई के अलावे अयाची मणिशंकर मगनलाल नामक गुजराती ब्राह्मण ने हमारी बहुत ही सेवा की। उनके पिता अयाची मगनलाल जी ने मरने से थोड़े दिन पूर्व संन्यास की दीक्षा हमारे साथी से ली। हमारा पढ़ना-पढ़ाना बराबर जारी रहा। मणिशंकर जी का वंश ही 'अयाची' ब्राह्मण कहा जाता है। उन्होंने कभी पौरोहित्य कर्म या पुरोहिती न की। इसीलिए अयाची कहे जाते हैं। यों तो नागर ब्राह्मण भी प्रायः पुरोहिती नहीं ही करते। लेकिन मणिशंकर जी के वंश के सम्बन्ध में यह खास बात थी। इसी से उन्हें वंशगत पदवी ही 'अयाची' की मिल गई थी।

वहाँ दो-तीन मास का समय बहुत ही आनन्द से कटा। वहाँ से दो ही तीन मील पर सरस्वती थी, जो आगे जाकर लुप्त हो जाती है। कभी-कभी उसके तट पर जाते थे। वहाँ पीलु के वृक्षों की झाड़ियाँ बहुत थीं।

लेकिन इसी मुद्दत में हमें जो उस प्रान्त का सामाजिक अनुभव हुआ और हमने जो कुछ वहाँ देखा-सुना उससे हमारी उत्कट इच्छा हुई कि हम काशी की तरफ वापस चलें। हमारे साथी ने हमें बहुत समझाया। पर, हमारी हिम्मत उधर रहने की न हुई। चाहे यह दोष हो या गुण बाल्यावस्था से ही मैं स्त्रियों के संसर्ग से दूर रहा हूँ। मेरा कुछ स्वभाव ही ऐसा हो गया है कि ऐसा संसर्ग मुझे पसन्द नहीं। मगर वहाँ तो यह बहुत था। यह बात मुझे असह्य थी। एक सच्ची बात यह भी है कि मेरे जैसे जवान संन्यासी के लिए इस प्रकार का ज्यादा संसर्ग कदापि वांछनीय नहीं। पर, मैं यह बात कहता किससे? बस, यही सोचा कि लौट चलूँ। पढ़ने में जो बाधा आ गई थी वह भी इसी प्रकार खत्म होती दीखी। बस, अन्त में हमारा और हमारे साथी का सम्बन्ध एक बार फिर छूटा। रेलवे पार्सल से पुस्तकें रवाना करके हमने वहाँ से काशी तक का एक ही टिकट खरीदा। रास्ते में कहीं रुकना न था। गाड़ी पर खाना- पीना तो हम कभी करते न थे। पर, यदि लम्बी यात्रा में प्यास सताये तो? इसके लिए हमने सौंफ बाँध ली। वह गले को तर रखती है। सोचा, इसे ही प्रायः मुख में डाल कर चूसेंगे।

इस प्रकार फिर काशी आ पहुँचे और फिर पूर्ववत् पठन-पाठन जारी किया। बीच में जो चार-पाँच मास गुजर गये इसके लिए खेद जरूर हुआ।

(11)

बीमारी में

काशी में रहने के समय अत्यधिक परिश्रम के करते सन् 1909-14 के बीच कई बार बीमार पड़ने की नौबत आई। मगर दवा करने का तो मेरा स्वभाव था ही नहीं। न जाने क्यों वैद्यों, डॉक्टरों और हकीमों से आज भी मैं घबराता हूँ। मैं पसन्द नहीं करता कि वे मेरा शरीर छुएँ। यही बात पहले थी। उधर दो-एक बार अनजान में कुनाइन और कच्चा लोहा खिलाये जाने के कारण मैं और भी सतर्क हो गया था। 'दूध का जला छाछ को भी फूँककर पीता है' की हालत थी।

जीवन में दो ही बार भाँग पीने का मौका मिला है। सो भी अनजान में। एक बार तो बचपन में किसी बारात में, जब कि उसके फलस्वरूप सभी साथी नशे में चूर हो गये। एक मैं ही उस नशे से न जाने कैसे बच गया। फलतः उन सबों की तथा उनके कपड़े-लत्ते की हिफाजत की। दूसरी बार काशी में अनध्याय के दिन कई साथी बाहर कुएँ पर ले गये कि घूमें और जल पीयें। वहीं उनने ठंडई के नाम पर उसमें भाँग मिला कर मुझे भी पिला दी। मालूम तो हुई नहीं। पीछे वापस आकर जब रात में मैं छत पर सोया था कि एकाएक नींद खुली। पता लगा कि सारी छत चक्कर काट रही है। घबराकर औरों से कहा। चट उनने चावल धो के उसका पानी मुझे पिलाया और फौरन कै हो जाने से मुझे शान्ति मिली। फिर सो गया।

यह चावल का पानी कै कराने के लिए बड़ा ही मुफीद और सुलभ है। साँप काटने पर कै कराना बड़े काम का है और इससे आसानी से हो सकता है। नशे में तो कहना ही क्या? फिर चाहे वह भाँग का नशा हो, शराब का, या और किसी का। लेकिन फिर मैंने तय कर लिया कि भाँग के निकट भी न जाऊँगा। पान तो कभी खाया ही नहीं। बचपन की बात शायद हो कि कभी खाया हो। लेकिन अट्ठारह वर्ष की उम्र से लेकर आज तक तो उसे छुआ भी नहीं। यही बात तम्बाकू की भी है। उसे तो कभी न मुँह से लगाया और न नाक से। मुँह के भीतर देने की कौन कहे?

जब कभी ज्वर से पीड़ित हो जाता तो यही करता कि चुपचाप पड़ा रहता। दवा-दारू का नाम भी नहीं लेता। जब कई दिन हो जाते और उससे पिण्ड छूटता नजर नहीं आता तो ज्वर की हालत में ही टमटम पर बैठ के स्टेशन जाता और गाड़ी से देहात में जा पहुँचता। कभी-कभी तो खूब तेज ज्वर में, लोगों के हजार मना करने पर भी, बाहर गया और या तो रेल में ही ज्वर से पल्ला छूटा या देहात में कहीं परिचित स्थान पर पहुँचते न पहुँचते ही। लेकिन यह ठीक बात है कि ज्वर जरूर छूट गया। मुझे भी आश्चर्य है कि जहाँ ज्वर में लोग हवा लगने से डरते हैं, बाहर जाना तो दूर रहे, तहाँ मैंने क्यों उलटा किया और फिर भी फल अच्छा ही

हुआ। असल में जब मेरे मन में बार-बार यह होने लगता कि अब बाहर चलने से ही बुखार हटेगा तो फिर किसी की बात न मानता और बाहर चला ही जाता।

एक वार की बात तो खूब याद है कि ज्वर के वेग में ही ट्रेन में बैठ कर आजमगढ़ जा रहा था। मऊ जंक्शन पर ट्रेन बदली और उतरने के समय ज्वर के मारे गिर पड़ा। फिर किसी प्रकार ट्रेन में चढ़ा। लेकिन आजमगढ़ जाते-जाते चंगा हो गया। हालाँकि दर्द देह में था। पर, देहात में जाते ही वह भी छूट गया। इसी प्रकार तेज ज्वर की हालत में ही बड़ी लाइन से एक बार बक्सर गया। वहाँ पहुँचते-पहुँचते ज्वर तो भाग गया। अतः स्टेशन से पैदल ही गंगा पार करके भरौली गया।

बीमारियों में मुझे तो ज्वर की ही शिकायत हुई चाहे जब कभी हो, और मैंने सदा नियमपूर्वक अनशन करके ही उसे भगाया है। इधर तो दस-बारह वर्षों से बीमार पड़ा ही नहीं। मगर इससे पूर्व साल में एक बार और कभी-कभी दो बार बीमार पड़ता था। प्रायः पन्द्रह दिनों के अनशन से ज्वर मुक्त होता था। फिर दो-तीन मास में अनशन की कमजोरी दूर होती थी। लेकिन दूसरा चारा न था। जब से जलचिकित्सा जानी और उसका अभ्यास किया तब से तो उसके छूट जाने पर, जब कभी ज्वर मालूम हुआ तो स्टीम बाथ के बाद हिपबाथ ले लिया और दिन भर में तीन बार ऐसा करके ज्वर को भगा दिया। औरों के ज्वर को भी इसी प्रकार भगाया है। ज्वर में नहाने से लोग घबराते हैं। मगर परिणाम देखने पर वह घबराहट स्वयमेव भाग जाती है।

(12)

भूमिहार ब्राह्मण सभा में

सन् 1914 के दिसम्बर महीने की बात है। स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती और उनके कई साथियों ने बार-बार कह-सुन के मुझे राजी किया कि मैं सन् 1914 ई. में होने वाले भूमिहार ब्राह्मण महासभा के अधिवेशन में बलिया चलूँ। यूरोपीय महायुद्ध को छिड़े हुए अभी ज्यादा दिन न हुए थे। आखिर मैं तैयार हो गया और वहाँ गया।

मुझे ठीक याद नहीं कि दो बार वहाँ बोला या ज्यादा। मगर यह ठीक है कि एक बार संस्कृत भाषा के महत्त्व के बारे में बोलते हुए जर्मनी का नाम मैंने लिया। क्योंकि मेरा कटु अनुभव था कि हमारे पतन के करते जर्मनी के मोक्ष मूलर जैसे विद्वानों ने संस्कृत के, जानें, कितने ग्रन्थों का उद्धार किया। जो वेद ग्रन्थ छपे न थे उन्हें, खास कर ऋग्वेद को उनने छपवाया। प्रभाकर के मत की मीमांसा वाली पुस्तक, जो प्रभाकर की लिखी हुई है, यहाँ मिलती ही नहीं। उसकी हस्तलिखित प्रति

एक बार यहाँ जर्मनी से ही आयी थी। जर्मनी की बात कहने से मेरा मतलब यहाँ के ब्राह्मणों को धिक्कारने से था। भूमिहार ब्राह्मणों को भी ब्राह्मण के नाते यही बात सुनाई। कोई राजनीतिक मतलब तो मेरा था नहीं। राजनीति तो मैं जानता भी न था कि कौन सी चिड़िया है। सच बात तो यह है कि लड़ाई का भी कोई महत्त्व और रहस्य मैं जानता तक न था। केवल सुना था कि जर्मनी और इंगलैण्ड के मध्य युद्ध छिड़ा है। मगर जर्मनी का नाम इस प्रकार लेना भी शायद अक्षम्य अपराध था। फलतः सभापति के इशारे से एक सज्जन ने आकर मुझसे धीरे से कहा कि जर्मनी की बड़ाई न करें।

असल में जमींदारों और राजा-महाराजाओं का जवाब था और वह ठहरे स्वभावतः राजभक्त। इसलिए यह बात वह कैसे बर्दाश्त कर सकते थे? पीछे मुझे पता चला कि भूमिहार ब्राह्मणों के नाम पर सभा खड़ी करके वे लोग अपना काम निकालते और समाज की ओर से राजभक्ति का विश्वास सरकार को सदा दिलाते थे। इस प्रकार पहली बार राजनीति की हवा ने मेरे अन्तस्तल में एक बार अनजान में जबर्दस्त ठोकर मारा। हालाँकि मैं उस समय उसे महसूस कर न सका।

वहाँ एक बार मैं और बोला और सबों को ब्राह्मण धर्म बताया। मैंने शास्त्रों के वचनों के आधार पर यह सिद्ध किया कि "पुरोहिती करना ब्राह्मणों के लिए जरूरी नहीं है। प्रत्युत इसे आचार्य लोग एक प्रकार से निन्दित ही समझते रहे हैं। ब्राह्मण के लिए भी खेती-गिरस्ती पुरोहिती से कहीं अच्छी है और उसके अभाव में ही पुरोहिती करने का हक उसे है" आदि-आदि। मनु का उद्धरण देकर मैंने खेती और व्यापार वाली बात सिद्ध की, जैसा कि उन्होंने चतुर्थाध्याय के शुरू में ही ब्राह्मण की जीविकाओं को गिनाते हुए 'ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा' 'प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्' 'सत्यानतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते' आदि वचनों द्वारा बताया है। महाभारत के शान्ति पर्व का 'ब्राह्मणा द्विविधा राजन् धर्मश्च द्विविधः स्मृतः। प्रवृत्ताश्च निवृत्ताश्च निवृत्तोऽहं प्रति ग्रहात्' उद्धृत कर मैंने बताया कि प्रवृत्त और निवृत्त या याचक और अयाचक ये दो प्रकार के ब्राह्मण सदा से होते आये हैं। फलतः आप लोग निवृत्त या अयाचक हैं। मेरी ये सब बातें सबों को नयी दुनियाँ की अनोखी चीजें प्रतीत हुईं और उनकी आँखें अचानक खुलीं। उन्होंने देखा कि यह क्या है? वह तो अपने आपको गिरा हुआ समझते थे। लेकिन यहाँ तो उलटा ही सुना। विपरीत ही पाया। वे सभी भौंचक थे।

मैं भी उनकी भावभंगी देखकर एक प्रकार से क्षुब्ध सा हुआ और मेरे दिल पर चोट सी लगी। मैं समझता था कि जब भूमिहार ब्राह्मण में (ब्राह्मण) शब्द जुटा है, जैसे कान्यकुब्ज ब्राह्मण, मैथिलब्राह्मण आदि में। सुनता भी था कि वे लोग 20-25 वर्ष से लगातार यह सभा करते हैं, तो ब्राह्मणता का अभिमान तो उनमें होगा ही। मुझे तो इसकी कल्पना भी न थी कि वे लोग अपने को इतना गिरा समझते हैं।

मेरा तो सदा संस्कार ही ब्राह्मण का रहा। उपनयन संस्कार और संध्योपासनादि भी बराबर ब्राह्मणोचित ही हुआ। वंश भी ऐसा ही था। इसलिए मैं भी आश्चर्यचकित हो गया और दिल में एक बार सहसा यह बात आकर फौरन चली गई कि क्या मैं इन्हें स्वाभिमान के मार्ग पर ला नहीं सकता? क्या मेरा यह काम नहीं है? क्या मेरा कर्त्तव्य नहीं कि इनके ब्राह्मणत्व को जाग्रत करूँ।

इसके बाद मैं फिर काशी आ गया और पढ़ने में लगा। लेकिन इस धक्के ने, जो मानसपटल पर अचानक लगा था, मेरे जीवन के मध्यभाग (संन्यास जीवन) के मध्यखण्ड के अन्त का श्रीगणेश अनजान में ही किया। इसे मैं लक्षित न कर सका। पर, वह अपना काम भीतर ही भीतर अदृश्य रूप से करता रहा और इस प्रकार मध्य भाग के उत्तर खण्ड की तैयारी हो गई।

मध्यभाग–उत्तर खण्ड

(1)

सामाजिक कामों में क्यों पड़ा

बलिया की भूमिहार ब्राह्मण सभा का जो प्रभाव मेरे दिल पर हुआ उसमें दूसरी बातों ने भी सहायता की। फलतः एकमात्र ब्रह्मज्ञान में मस्त रहने तथा अपनी ही मुक्ति की परवाह करने की अपेक्षा यह बात दिल में उठने लगी कि कुछ सामाजिक सेवा करना और इस प्रकार गिरे लोगों को उठाना चाहिए। यह बात यहाँ जान लेना चाहिए कि बहुत सी सभाओं में अनेक मौकों पर, धार्मिक व्याख्यान देने का मौका पहले ही पड़ चुका था। एक बार काशी में पढ़ने के समय ही भारत धर्म महामण्डल के धार्मिक समारोह में मैंने किसी धार्मिक विषय पर अच्छा उपदेश दिया। उससे लोग आकृष्ट हुए। इसीलिए थोड़े दिनों बाद ही मुलतान में सनातन धर्म सभा के अधिवेशन में मैं आमन्त्रित हुआ। इस प्रकार पहली बार उधर जाने का मौका मिला। इसी प्रकार समस्तीपुर, दरभंगा आदि में न जानें कितनी बार ऐसे उपदेश दे चुका था।

लेकिन सामाजिक बातों की तरफ मेरी प्रवृत्ति न थी। धर्म तो मेरा विषय होना ही चाहिए। संन्यासी जो ठहरा। मगर सामाजिक (Social) काम तो स्थूल दृष्टि से धर्म के भीतर आता नहीं। इसलिए उस ओर सहसा प्रवृत्ति न हो सकी थी। असल में तब तक उसका महत्त्व और उसकी असलियत मैं हृदयंगम कर ही न सका था। पोथियों, किताबों और व्याख्यानों से यह बात ठीक-ठीक समझी जाती भी नहीं। यह तो घटनाओं का ही काम है जो मानस-पटल पर उसकी महत्ता, उसकी अहमियत, उसकी कर्त्तव्यता को अंकित कर दें और बलिया में यही बात हुई।

बेशक भूमिहार ब्राह्मण समाज में ब्राह्मणोचित अभिमान के अभाव, तदनुकूल कर्त्तव्यों और आचरणों की अत्यन्त कमी और अन्यान्य लोगों के द्वारा इसीलिए समस्त समाज के बारे में अत्यन्त कुत्सित और निराधार कल्पनाओं ने उस समाज के कितने ही सच्चे सेवकों को विचलित और मर्माहत कर दिया था। अतः उनके भीतर एक तड़प थी कि कैसे इसका समुचित प्रतीकार किया जाय। वे लोग अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार यह काम करते भी थे। मगर था यह उनके लिए समुद्रमन्थन या हिमालय-आरोहण के समान ही। इसीलिए पार नहीं पा सकते थे। ऐसी धारणा मुझे हुई। मैंने यह भी अनुभव किया कि स्वयं उन लोगों में आत्मविश्वास न था। उनका मन दुविधे में आगा-पीछा करता था। यह सबसे बड़ी कमी उनमें थी। इसीलिए सफलता में बाधा हो रही थी। बलिया में तो यही चीज थी जिसने सबसे ज्यादा मुझे प्रभावित किया।

आगे की बातों से भी मेरी यह धारणा और दृढ़ हो गई। हाँ, उनमें एक ही आदमी के बारे में मुझे पता चला कि अपार आत्मविश्वास और दृढ़संकल्प के साथ वे काम में लगे थे। लेकिन मेरे क्षेत्र में आने के पूर्व ही वे स्वर्गीय हो चुके थे। वे थे मुंगेर जिले के बेगूसराय इलाके के दहियाग्राम के पं॰ भाईलाल जी परमहंस। वे थे तो मैथिल ब्राह्मण। मगर भूमिहार ब्राह्मणों के साथ विवाह सम्बन्ध के कारण इधर इनसे भी सम्बद्ध थे और उधर मैथिलों से भी। इसीलिए उन लोगों के बारे में 'दोगामियाँ' शब्द प्रचलित हो गया था। उसका अर्थ है दोनों—भूमिहारों तथा मैथिलों से सम्बन्ध रखने वाले। इसीलिए भूमिहार ब्राह्मणों का पतन और इनकी संस्कार हीनता उन्हें बुरी तरह अखरती थी। इसे ही दूर करने में वे पड़े भी थे। मगर पढ़े-लिखे कम थे। इसीलिए पूर्ण सफलता न मिल सकी।

आज जब सोचता हूँ तो हँसी आती है। स्वामी पूर्णानन्द जी और दूसरे लोग मुझसे बार-बार यही कहा करते थे कि भूमिहार-ब्राह्मणों के सम्बन्ध में हजार-पाँच सौ श्लोकों की रचना करके एक पुस्तक बना दीजिये और परशुराम जी की कहानी के आधार पर उनका इस प्रकार का एक इतिहास लिख दीजिये। वह समय पाकर स्वयमेव प्रामाणिक हो जायगा। उनका खयाल था कि संस्कृत की पद्य रचना होने से ही वह एक प्रामाणिक चीज हो जायगी और लोग उसे मानने को विवश होंगे। संस्कृत का कुछ ऐसा ही महत्त्व हिन्दू समाज और विशेषतः सनातनियों में है। 'मियाँ की दौड़ मस्जिद तक' के अनुसार उनके लिए यही बहुत था—इसे ही वे पर्याप्त समझते थे। असल में उन्हें स्वयं विश्वास न था कि सचमुच भूमिहार लोग कान्यकुब्ज, मैथिल आदि से किसी भी बात में हीन या छोटे नहीं हैं। उनके संस्कार में ही छोटापन समाया था। इसीलिए बहुत दूर जा नहीं सकते थे। मेरे जानते यह सबसे बड़ी खामी उनमें थी। सुधारक में इस प्रकार की न्यूनता उसे कभी सफल होने नहीं देती।

लेकिन मेरा तो बचपन से संस्कार ही कुछ ऐसा था कि मैं दूसरी बात सोच

ही न सकता था। मुझमें ब्राह्मणता और उसके लिए उचित अभिमान ये दोनों ही कूट-कूट कर भरे थे। ये बातें स्वभाव और आचरण में समाई थीं। मेरे भीतर से कोई आवाज-सी देता था कि मेरे पूर्वज इतने मूर्ख न थे कि बुन्देलखण्ड के अपने जुझौतिया भाइयों को छोड़ भूमिहारों से मिले। यदि उनने अपनी जैसी ब्राह्मणता और योग्यता इनमें न पाई होती। मेरा दिल कहता था कि यह हो नहीं सकता। इसलिए मेरा अटल विश्वास था कि ये भूमिहार वैसे ही ब्राह्मण हैं, जैसे कि मैथिल, कान्यकुब्ज आदि। इसीलिए काल्पनिक श्लोकों के आधार पर इनके इतिहास लिखने की बात मेरे दिल में समाती ही न थी, चाहे कोई हजार कहे। इतना ही नहीं, मुझे यह बात सुनकर अपार क्षोभ और दर्द होता था। मगर कहता किससे? जिन्हें स्वयमेव इस बात की धारणा न हो उनसे ये बातें कहना तो व्यर्थ की लड़ाई मोल लेना है।

यह भी ठीक है कि मेरे दिल की यह स्वाभाविक पुकार मात्र थी। इसकी पुष्टि में प्रमाण तो कोई था नहीं। फिर, कहता क्या? वे लोग तो बात ही काट देते। इसे ही कहा है कि 'भैंस के आगे बीन बजाये, अरसिकेषु रसस्य निवेदनम्'। इसलिए दिल मसोस कर रह जाता और 'अच्छा' कहके उन लोगों को खुश करता। लेकिन भीतर ही भीतर संकल्प कर लिया कि एक ओर शास्त्र-पुराणों को ढूँढ़कर और दूसरी ओर सर्वत्र घूम कर इसके रहस्य का पता लगाना ही होगा। हाँ, अगर अभाग्यवश इस बात की पुष्टि न हुई और मेरे दिल की पुकार गलत सिद्ध हुई तो फिर देखा जायगा। तब कोई पुस्तक उस प्रकार की शायद लिखूँ जैसी वे लोग कहते हैं।

बनावटी बात लिखना मेरे स्वभाव के विपरीत बात भी तो थी। पर, यदि पूर्वजों की भूल ही सिद्ध हो जाती तो मजबूरी थी। इसलिए पूर्ण विश्वास के साथ मैं अन्वेषण कार्य में प्रवृत्त हुआ। यह काम यों तो पोथी-पुराणों में पहले भी होता रहा। लेकिन सन् 1915 ई. में और खास कर उसके उत्तरार्ध में, जोर-शोर से हुआ। अनेक प्रदेशों में घूम कर जाँच-पड़ताल मैंने स्वयं की। दूसरों से भी करवाई। फल यह हुआ कि मेरी धारणा और अन्तरात्मा की पुकार सोलहों आने सही साबित हुई। यह बात आगे लिखी है जहाँ भूमिहार ब्राह्मण परिचय और 'ब्रह्मर्षिवंश' विस्तर की बात है।

(2)

समाज सेवा–आक्षेपों के उत्तर

पहले तो मेरी धारणा दूसरी ही थी। जहाँ तक मुक्ति या ज्ञान का प्रश्न था। मैं उन्हीं स्वार्थियों में एक था जो एकान्त में बस कर जिन्दगी गुजार देते और ध्यान धारणा ही जिनके जीवन का काम है। शुरू में तो इसी बात को लेकर घर छोड़ा था और जंगलों की खाक छानता फिरा–कहाँ-कहाँ नहीं भटका। लेकिन सिर्फ यह विचार ही

न था! पुस्तकों और ग्रन्थों के पढ़ने के बाद भी यह धारणा बदलती न थी। प्रत्युत दृढ़ होती जाती थी। असल में जिस दृढ़ धारणा से लोग पोथियाँ पढ़ते हैं वही धारणा दृढ़ होती है। हाँ, यदि पहले से कोई धारणा न हो, तब बात दूसरी है। लेकिन मैं तो इसी विचार से पढ़ने लगा था। फिर दूसरी बात होती कैसे? पीछे इस धारणा को ताक पर रख के जब मैंने ग्रन्थों का मंथन किया तो बात कुछ और ही निकली। यह बात गीता को लेकर आगे लिखी जायगी।

हाँ, तो जब मैं इधर की घटनाओं में पड़ा, फलतः मेरे भीतर महाभारत मचा, तो बात और ही हो गई। श्रीमद्भागवत के कुछ वचन मिले जिन्होंने मेरी आँख का पर्दा खोल दिया। नरसिंह और प्रह्लाद के प्रसंग में एक श्लोक भागवत में आता है जिसमें भक्तप्रवर-प्रह्लाद ने नरसिंह भगवान् को उत्तर देते हुए स्पष्ट कर दिया है कि जनता की सेवा ही भगवान् की सेवा और आराधना है। वह कहते हैं—

''प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यत्त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये।''

इसका सारांश यही है कि ऋषि-मुनि लोग तो स्वार्थी बन के अपनी ही मुक्ति के लिए एकान्तवास करते हैं। उन्हें औरों की फिक्र नहीं होती। लेकिन मैं हर्गिज ऐसा नहीं कर सकता। सभी दुखियों को छोड़ मुझे सिर्फ अपनी मुक्ति नहीं चाहिए। मैं तो इन्हीं के साथ रहूँगा और मरूँगा, जीऊँगा। इसी प्रकार राजा रहूगण और जड़भरत के संवाद में भी यह बात मिलती है कि अपने कर्त्तव्यों का ईमानदारी से पालन करना ही भगवान् की पूजा है 'स्वधर्म आराधन-मच्युतस्य'। गीता का तो पूछना ही नहीं। उसमें तो बार-बार इस बात की घोषणा की गई है कि भगवान् की आराधना, ध्यान, समाधि या पूजा-पाठ में नहीं है, किन्तु दिल लगा कर अपने कर्त्तव्यों के पालन करने में ही है। गीता ने तो यहाँ तक कह दिया कि ''चाहे जो कुछ भी करो, खाओ, पीओ, दान दो, यज्ञ करो, तप करो, सभी भगवान् की पूजा हो जाती है, यदि उसी भावना से आसक्ति छोड़ कर ये काम किये जायँ।''

''यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्'' (9/27)

इसलिए मेरा विचार अब बदला और धार्मिक तथा सामाजिक कामों में समय लगाने का मैंने निश्चय कर लिया, सन् 1915 ई. बीतते-न-बीतते ही। इस प्रकार देखा जाय तो मैं कहाँ से कहाँ जा निकला। योगी की धुन, प्राणायाम और समाधि की चाट को छोड़ परिस्थितिवश शास्त्रमन्थन में लगा कि ब्रह्मज्ञान में मस्त रहूँगा। लेकिन शास्त्रमन्थन समाप्त होते न होते जनसेवा की ओर जा झुका। अभी आगे बहुत कुछ होना था। यह तो श्रीगणेशमात्र था—ईब्तदाये इश्क मात्र था। मेरा यह

भी स्वभाव है कि जिस काम में पड़ता हूँ उसमें सारी शक्ति लगा कर पड़ता हूँ। "आधा तीतर आधा बटेर" मुझे पसन्द नहीं।

यह भी जान लेना चाहिए कि यह जो जनसेवा की बात मेरे दिल में उठी वह पहले पहल जनसाधारण की सेवा न थी। मैंने तो यही सोचा कि चलो एक भूमिहार ब्राह्मण समाज का उद्धार कर दो। फिर अपने पठन-पाठन और ब्रह्मज्ञान का मजा उठायेंगे। यह तो एक प्रकार का मनफेर (diversion) मात्र था। लेकिन किसे मालूम था कि यह मनफेर स्थायी हो जायगा और शास्त्राभ्यास का मजा फिर न मिल सकेगा? 'यह इब्तदाये इश्क है' यह बात किसे मालूम थी? असल में सिर्फ सेवाभाव और कर्त्तव्य बुद्धि से ही इस काम में परिस्थितिवश खिंच गया, न कि किसी और मतलब से। इसीलिए स्वभावतः आगे बढ़ना ही पड़ा। यदि रागद्वेष किसी तुच्छस्वार्थ या नीच मनोवृत्ति से इसमें पड़ा होता तो शायद ही आगे बढ़ पाता, ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है।

बहुतों का यह कहना है कि संन्यासी होकर जाति-पाँति के काम में पड़ना ठीक न था, मेरी समझ में नहीं आया। उनके इस कथन के लिए गुंजाइश रही कहाँ जाती है? जिन घटनाओं का मैंने उल्लेख किया है उन पर मेरा वश ही क्या था? वह तो आकस्मिक थी और उन्होंने मुझे धर दबाया। क्या पहले से कोई तैयारी करके मैं इस काम में पड़ा? यदि कोई ऐसा समझता हो तो वह भूलता है। मैंने तो दिखलाया है कि कहाँ से कहाँ खिंच गया। लेकिन कहा जा सकता है कि यों ही आकस्मिक तौर पर किसी बुरे काम में खिंच जाने से मनुष्य निर्दोष नहीं हो सकता है। बात तो सही है। लेकिन इसका उत्तर भी दे ही चुका हूँ।

मैं तो किसी और मतलब से उसमें पड़ा न था। एक बहुत बड़े समाज को—एक उच्च और कुलीन ब्राह्मण समाज को—मैंने औरों से पददलित पाया और देखा कि वह तिलमिला रहा है, अपमानित हो रहा है। मगर कुछ कर नहीं पाता। अपमानित होता है बुरी तरह। मगर उसका प्रतिकार नहीं कर पाता। मेरा दिल तड़प उठा और मैंने उसे उठाया। उठाने की कोशिश की और अपमानित करने वालों को ठीक-ठीक उत्तर दे दिया, उनके होश ठिकाने कर दिये। इसमें क्या अपराध हुआ? क्या बुराई हुई? आखिर सारे मुल्क को भी तो ऊँचा उठाना ही है। आजादी की लड़ाई का आखिर मतलब ही क्या, अगर मुल्क को उठाना नहीं है? जिसका हक छीना जाय या छीना गया हो उसे तैयार करके उसका हक उसे वापस दिलाना यही तो मेरे जानते आजादी की लड़ाई और असली समाज सेवा का रहस्य है।

समष्टि रूप में समस्त समाज को ऊँचा उठाने को ही मैं समाज-सेवा और सामाजिक कार्य मानता हूँ और यही मैंने शुरू में किया। इसीलिए तो पीछे छोटे से समाज को छोड़ समस्त देश के काम में खिंच गया या कूद पड़ा। हाँ, यदि उस समाज सेवा में कोई राजनीतिक दाँवपेंच या औरों के दबाने की मनोवृत्ति रहती तो वह अवश्य

ही निन्दित और बुरी होती। मगर वह बात मैंने सपने में भी न सोची।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि उस समय राजनीति का ककहरा भी मैं न जानता था। दूसरों के दबाने का प्रश्न तो सामने था नहीं। गिरे को उठाने से ही फुर्सत न थी। वही एक महान् समस्या थी। इतना ही नहीं। सबसे पहली पुस्तक जो इस सिलसिले में मैंने लिखी उस भूमिहार ब्राह्मण परिचय को आद्योपान्त अच्छी तरह पढ़कर कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति कह सकता है कि क्या (आया) किसी और दल या व्यक्तियों के दबाने की गन्ध भी उसमें पाई जाती है। प्रत्युत इससे विपरीत बात की ही सूचना उसमें स्थान-स्थान पर दी गई है। पीछे चल कर भी दबाने का प्रश्न कभी न उठा। राजनीति की बात तो शुरू से अन्त तक मेरे दिल में कभी आई भी नहीं कि इसके द्वारा उस राजनीति का काम निकालने की सोचता।

(3)

अनुसंधान और पुस्तकें

हाँ, तो मैंने विशेष रूप से अनुसंधान शुरू किया सन् 1915 के उत्तरार्द्ध में। मेरी धारणा थी और अब भी वह ज्यों के त्यों बनी है कि जो दल जिस समाज का अंग या भाग होगा उसका उस समाज के साथ विवाह सम्बन्ध और खान-पान कहीं न कहीं अवश्य होता होगा। नहीं तो फिर प्रमाण ही क्या हो सकता है कि उसका अंग वह है? या उसी के अन्तर्गत है? ब्राह्मण, क्षत्रियादि समाज के अनेक भाग या टुकड़े हैं और वह आपस में यदि कहीं न कहीं विवाहादि के द्वारा सम्बद्ध नहीं हों तो फिर उन बृहत् समाजों के अन्तर्गत वे भाग या टुकड़े क्योंकर माने जा सकते हैं? नहीं तो फिर औरों के ही क्यों नहीं? आखिर कोई आधार तो चाहिए जिसके बल पर निश्चय किया जा सके।

इसलिए मैंने तय किया कि जहाँ-तहाँ भूमिहारों, मैथिलों, सरयूपारियों, कान्यकुब्जों आदि से सामूहिक रूप से प्रादेशिक सम्बन्ध है अर्थात् जिन प्रदेशों में भूमिहारों के साथ ही ये लोग अधिकांश रूप में पाये जाते हैं, वहीं जाकर इसकी पूरी जाँच होनी चाहिए। मैं स्वयमेव दरभंगा, भागलपुर, मुंगेर आदि जिलों में गया। मेरे साथ स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती भी थे। मैं आनन्द से लोटपोट हो गया जब देख सका कि एक-दो नहीं, हजारों विवाह सम्बन्ध इस प्रकार के हैं। यह नहीं कि साधारण मैथिलों तथा भूमिहारों के ही ये सम्बन्ध हैं। कुलीन से कुलीन और धनी से धनी के भी सम्बन्ध साक्षात् और परम्परा से पाये गये।

यह ठीक है कि न जानें क्यों इन सम्बन्धों के छिपाने की कोशिश की जाती थी। इसीलिए जानने में थोड़ी परेशानी भी हुई। मगर मैंने खूब जाँच-पड़ताल करके

सबको ऊपर किया। यहाँ तक कि मैथिल-महासभा का यह प्रस्ताव भी किसी प्रकार मुझे मिला, जिसमें लिखा है कि ये सम्बन्ध रोके जायँ। इससे और भी इस बात की पुष्टि हुई कि ये सम्बन्ध होते हैं। नहीं तो रोकने की कोशिश क्यों? इस सम्बन्ध में महाराजा दरभंगा से लेकर श्रोत्रिय योग्य और दूसरी श्रेणियों के मैथिल भी गुँथे पाये गये। इतना ही नहीं। रघुनाथपुर पतौर (दरभंगा) में ऐसे बीसियों पत्र पाये गये जिनमें वहाँ के भूमिहार ब्राह्मणों को महाराजा दरभंगा और उनके गोतिया लोगों ने (नमस्कार) लिखे थे। यह नमस्कार की प्रणाली ब्राह्मणों में ही आपस में प्रचलित थी और अब भी प्रायः पायी जाती है।

बस, फिर क्या था, मैंने स्वामी पूर्णानन्द जी को इलाहाबाद, फतहपुर और गोरखपुर की तरफ भेजा, ताकि कान्यकुब्जों एवं सरयूपारीणों के इलाकों में भी जाकर पता लगायें कि ये सम्बन्ध होते हैं या नहीं। उनने परिश्रम करके भ्रमण किया और पता लगाकर कई सौ सम्बन्ध नाम-बनाम पूरे पते के साथ लिख लिया, जैसा कि मिथिला में मैथिलों के सम्बन्ध के बारे में किया गया था। इस प्रकार, मैथिल, कान्यकुब्ज और सरयूपारी ब्राह्मणों के साथ भूमिहार ब्राह्मणों के विवाह सम्बन्ध की लम्बी सूची तैयार हो जाने पर हमारा काम बन गया। हमने इस बात की भी कोशिश की कि नाम और ग्रामादि के पूरे पते के साथ इस बात की भी जानकारी हो जाये कि दोनों दलों के लड़कों और लड़कियों के परस्पर विवाह होते हैं। न कि एक दल की सिर्फ लड़की और दूसरे के सिर्फ लड़के की ही शादी होती है। क्योंकि वरपक्ष की अपेक्षा कन्यापक्ष कुछ हीन माना जाता है ऐसी व्यापक धारणा है। ऐसा भी मानते हैं कि लड़कियाँ तो अपने से छोटों की भी लेते हैं मगर उन्हें देते नहीं हैं। लेकिन जहाँ लेना और देना दोनों ही हो वहाँ यह बात नहीं हो सकती।

इस अन्वेषण के साथ ही हमने सभी संस्कृत ग्रन्थों की छानबीन की। हिन्दी या अंग्रेजी के भी काफी ग्रन्थ पढ़ डाले। जहाँ-जहाँ भूमिहारों पर आक्षेप पाये गये उन सबों को पढ़ा और संग्रह किया।

इसके बाद 'भूमिहार ब्राह्मण परिचय' नामक पुस्तक में न सिर्फ आक्षेपों का उत्तर ही दिया। वरन् सभी शास्त्रीय और दूसरे प्रमाणों को विस्तार के साथ लिखने के साथ ही विवाह सम्बन्धों की लम्बी सूची प्रकाशित कर दी। नमस्कार प्रणाम के पूर्वोक्त पत्रों को भी ज्यों का त्यों छाप दिया। **इस प्रकार यह पहली पुस्तक मैंने लिखी।** वह प्रायः चार सौ पृष्ठों की बनी। उसकी समालोचना में पं॰ महावीर प्रसाद द्विवेदी ने "सरस्वती में लिखा कि पुस्तक में कोई बात छूटने न पाई है। ठीक ही है। अलग-अलग प्रकरणों में सभी बातों का विस्तृत और प्रामाणिक विवेचन है।"

यह पुस्तक सन् 1916 ई. में प्रकाशित हुई। बेशक उसके लिखी जाने और प्रकाशित होने के पूर्व अनेक सभाओं में मैंने ये बातें लोगों को सुनाईं। इससे कुछ लोगों को आश्चर्य, कुछ को खुशी और दबाने वालों को तथा अपनी ब्राह्मणता की

डींग मारने के साथ ही भूमिहारों को नीच समझने वालों में बेचैनी फैली। उनमें एक प्रकार का कुहराम-सा मच गया। यहाँ तक कि लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि यदि सचमुच ही ब्राह्मण हैं तो अपनी पुरोहिती स्वयं क्यों नहीं करते और दान क्यों नहीं लेते? मैंने इस बात को लक्ष्य करके उस पुस्तक में दो-तीन स्थानों पर पहले ही लिख दिया था कि "दान लेना और पुरोहिती करना ब्राह्मणों के लिए कोई जरूरी नहीं है। परन्तु, यदि विरोधी लोग बार-बार यह बात कहते रहेंगे और पुरोहिती के अभाव में ही भूमिहारों को अब्राह्मण सिद्ध करने की कुचेष्टा से बाज न आयेंगे, तो हारकर भूमिहार ब्राह्मणों को भी सामूहिक रूप से पुरोहिती को अपनाना ही पड़ेगा।" मैंने तो यह चेतावनी की थी। ताकि विरोधी लोग इस वाहियात हरकत से बाज आयें। लेकिन वे कब मानने वाले थे? उनकी यह दलील तो और भी तेज होती गई।

इसलिए मैंने सोचा कि इसका भी समुचित उत्तर कार्य रूप में ही देना चाहिए। इसी दृष्टि से मैंने एक तो यह पता लगाना शुरू किया कि आया भूमिहार ब्राह्मण भी कहीं पुरोहिती करते हैं या नहीं। क्योंकि यह भी मेरी धारणा थी कि कहीं न कहीं जरूर दान लेते होंगे और पुरोहिती करते होंगे। आखिर ब्राह्मणों का ही तो यह धर्म है और अगर सोलहों आने इसे छोड़ ही दिया तो ब्राह्मणता कैसी? अनुसंधान करने पर पता लगा कि प्रयाग की त्रिवेणी के सभी पण्डे भूमिहार ही तो हैं। उनका सम्बन्ध भूमिहारों से ही तो है। साथ ही, हजारीबाग जिले के चतरा सबडिवीजन के इटखोरी और चौपारन थानों में ऐसे भूमिहार ब्राह्मण मिले जो माहुरी वैश्यों तथा औरों की पुरोहिती बार-बार करते आये हैं। यही इनका पेशा है। गया के देव के सूर्यमन्दिर के पुजारी भूमिहार ब्राह्मण ही मिले। इसी प्रकार और जगह भी कुछ न कुछ यह बात किसी न किसी रूप में पाई गई।

बस, मैंने दूसरी पुस्तिका 'ब्राह्मण समाज की स्थिति' लिखकर यह बात सिद्ध की और साफ-साफ भूमिहारों को कहा कि आत्मसम्मान की पुकार है कि पुरोहिती कर्म को अपनायें। इससे चिढ़कर अनेक स्थानों पर, पुरोहितों ने उनके विवाह, श्राद्ध आदि कराने बन्द कर दिये और कहा कि यदि ब्राह्मण हो तो करवा लो या कर लो। इससे मजबूरी भी हुई। फलतः भूमिहारों ने भी धीरे-धीरे पौरोहित्य को अपनाना शुरू किया। मैंने सहस्रों सभाएँ करके इस पर खूब जोर दिया।

एक तो इनमें संस्कृत पढ़ने वाले प्रायः थे ही नहीं। दूसरे इन्हें कोई यह कर्मकाण्ड बताने के लिए रवादार भी न था। यहाँ तक कि संस्कृत पढ़ाना भी बन्द कर दिया गया। तीसरे स्वयं भूमिहार-ब्राह्मणों में जो बाबू या सीधे अनपढ़ थे वह भी इसका विरोध करते थे। इसलिए विरोधियों का मुँहतोड़ उत्तर देने के लिए मैंने 'झूठा भय और मिथ्या अभिमान' नामक पुस्तिका लिखी। साथ ही, कर्मकाण्ड और ज्योतिष की बारह सौ पृष्ठों की पुस्तक 'कर्मकलाप' हिन्दी में लिख दी। सिर्फ मन्त्र संस्कृत में हैं। सारी बातें बहुत सफाई के साथ लिखी गई हैं। इसे ध्यान से पढ़कर कोई भी

कर्मकाण्डी और ज्योतिषी बन सकता है। मैंने संस्कृत की अनेक पाठशालाएँ खुलवाईं और छात्रों को वृत्ति देकर संस्कृत पढ़ाने का भी प्रबन्ध किया। यह काम आठ-दस वर्षों तक कमबेश चलता रहा। इससे विरोधियों को पता चल गया कि किससे पाला पड़ा है।

इसी मध्य एक बात और हुई। भूमिहार ब्राह्मण परिचय की प्रथमावृत्ति की डेढ़ हजार प्रतियाँ खप गईं और द्वितीयावृत्ति की जरूरत हुई, तो मैंने सोचा कि भूमिहारों की ही तरह त्यागी, (तगे) और महियाल आदि भी हैं जो पश्चिमीय युक्तप्रान्त और पंजाब में पाये जाते हैं। अतः उनके सम्बन्ध गौड़ों और सारस्वतों के साथ खोज कर इस बार इस पुस्तक में छाप दिये जायँ। ऐसा ही किया भी गया। सैकड़ों अच्छे-अच्छे विवाह सम्बन्ध ढूँढ़ निकाले गये। तब सोचा कि पुराना नाम अब ठीक नहीं। इसलिए उस पुस्तक का नाम बदल कर 'ब्रह्मर्षिवंश विस्तर' रख दिया। एक बात और थी। असल में उस पुस्तक में सभी ब्राह्मणों का ऐतिहासिक विवेचन होने के कारण यही नाम पहले भी चाहता था। मगर कार्य कारणवश न हो सका था। इसलिए इस बार नाम बदलना अनिवार्य था।

(4)

राजनीति में प्रवेश

'परिचय' लिखने के बाद, जहाँ तक मुझे याद है, 1916 के अन्त या 1917 के शुरू में गाजीपुर जिले के करीमुद्दीनपुर थाने के विश्वम्भरपुर ग्राम में चला गया। दो-ढाई वर्ष तक वहीं रह के प्रचार करता था। काम पड़ने पर बाहर जाता। फिर लौट आता। वहाँ के जमींदार लोगों के आग्रह से ही वहाँ ठहरा था। उसी ब्राह्मणत्व वाले आन्दोलन के सिलसिले में उन लोगों के गुरु महाराज लोग, जो प्रायः निरक्षर ही थे, उन लोगों से बिगड़ गये थे और असहयोग कर लिया था। धनी लोग तो डरपोक होते ही हैं। कहीं गुरु लोगों के कोप से हमारा नाश न हो जाय यह खतरा उन्हें था। इसलिए निजरक्षार्थ मुझे बहुत आग्रह से रखा। मैंने भी गुरुजी लोगों को अच्छा पाठ पढ़ा दिया। वे लोग भी ठण्डे हो गये। मैंने पीछे अनुभव किया कि जितना समय मैंने वहाँ लगाया उतने में तो कई गुना काम हो सकता था। जनसाधारण में कोई भी काम कीजिये तो उसका परिणाम पर्याप्त मात्रा में होता है। काम जल्दी ही होता भी है। स्थायी भी होता है। मगर धनियों के यहाँ तो विपरीत बात है। हुआ भी यही। तीन वर्षों के बाद आखिर वहाँ से हटा। कब तक रहता? पीछे पता चला कि वहाँ का सब किया-कराया मिट्टी में मिल गया और जो कुछ सिखाया था खत्म हो गया।

यह ठीक है कि धनियों के यहाँ रहने से कुछ आरामतलबी आ गई।

माने गाँव में उस विरक्त साधु ने जो कहा था वह मैंने अनुभव किया। पहले तो दिन-रात में एक ही बार भोजन करता था। पर, वहाँ पर दो बार करने लगा। फलतः रोगी भी कुछ हो गया। मुझे डर हो गया कि कहीं पराधीनता न हो जाय। यह भी खयाल हुआ कि ये लोग पीछे निरादर भी करने लगेंगे, जब मुझे अपने अधीनस्थ देख लेंगे। मैं हवा का रुख देख रहा था। सबसे बड़ी चीज यह थी कि उनके लम्बे परिवार में पठन-पाठन का प्रायः अभाव था। हाँ, वंश वृद्धि की ज्यादा चिन्ता थी जरूर। मैं जीवन-भर पढ़ने-लिखने में मस्त रहने वाला यह बात बर्दाश्त कैसे करता? पढ़ने की प्रवृत्ति पैदा करने की कोशिश मैंने की। मगर विफल रहा। अन्त में इन सब बातों का फल हुआ कि मैं वहाँ से हट आया। मैंने विश्वम्भरपुर के पास ही भरौली में बाबू गोकुल राय को बात का बड़ा पक्का और जबां मर्द पाया।

बक्सर के पास गंगा के उत्तर कोटवा नारायणपुर में मैं पहले भी प्रायः जाया करता था। नारायणपुर सदा से संन्यासियों का सेवक रहा है। वहाँ गाँव से बाहर एक कुटिया बनी है। उसमें आकर कभी-कभी साधुगण ठहरा करते हैं। श्री आदित्य राय बड़े ही संन्यासी-सेवक थे। उनके भाई गंगा राय और उनके परिवार के लोग भी ऐसे ही हैं। गाँव की ही प्रायः यह बात है। इसलिए सन् 1918 ई. में वहाँ जो ठहरा और वर्षों पड़ा रहा। वहाँ कुछ पठन-पाठन का भी अच्छा प्रचार है। वेदान्त आदि का विचार भी होता रहता है। वहीं रह कर मैंने राजनीतिक बातों की कुछ जानकारी की। समाचार-पत्र पढ़ा करता था। हाँ, पटने के कुछ मित्रों और भक्तों ने आग्रह किया कि आप का अंग्रेजी यों भुला देना ठीक नहीं। यदि कुछ सामाजिक या दूसरे काम करने हैं तो अंग्रेजी जरूरी है। उनने मुझसे प्रतिज्ञा करायी कि अंग्रेजी के समाचार-पत्र भेजने पर मैं जरूर पढ़ूँगा। इसीलिए वे लोग भेजते थे और मैं पढ़ता था। रौलट कानून सम्बन्धी आन्दोलन की बातें मैंने वहीं पढ़ीं और पंजाब-मार्शल लॉ काण्ड का भी रोमांचकारी वर्णन पढ़ा। उसके बाद कांग्रेस का जो अधिवेशन अमृतसर में हुआ उसकी सारी बातें पढ़ीं। इस प्रकार कि मुझे राजनीतिक मामलों की जानकारी न थी। फिर भी घटनाचक्र के चलते उसका संसर्ग होने लगा।

मुझे खूब याद है कि नारायणपुर में ही हिन्दी समाचार-पत्र 'प्रताप' पढ़ता था। उसी में स्वर्गीय लोकमान्य तिलक की मृत्यु का समाचार पढ़ा। पत्र में उनका एक चित्र देकर एक कोने पर उनकी जन्मतिथि और दूसरे पर मरणतिथि लिखी थी। उनकी संक्षिप्त जीवनी भी लिखी थी। अन्त में यह कविता थी।

'मुद्दतें काट दीं असीरी में, था जवानी का रंग पीरी में।
अब कहाँ मुल्क का फिदाई हाय! मौत उस मौत को न आई हाय।'

उनकी मौत तो 1919 के 31 जुलाई को आधी रात के बाद हुई। 1 अगस्त को ख़िलाफत कॉन्फ्रेंस की तरफ से असहयोग दिवस मनाया जाने को था। गांधी जी उसके पक्ष में थे। मालवीय जी आदि उसका विरोध करते थे। वे कहते थे कि बिना

कांग्रेस के निर्णय के हमें कुछ नहीं करना चाहिए, मुल्क की वही सबसे बड़ी संस्था है। लेकिन गांधी जी का कहना था कि कांग्रेस को तो हमीं लोग बनाने-बिगाड़ने वाले हैं। हमीं तो उसकी राय जैसी चाहेंगे बनायेंगे। फिर आज उसके लिए रुकें क्यों? हालाँकि, यही गांधी जी अब ठीक उलटी बात कहते फिरते हैं। अब तो मालवीय जी से भी आगे चले गये हैं।

लाला लाजपत राय की अध्यक्षता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन सन् 1920 के सितम्बर में कलकत्ते में हुआ था। उसका पूरा विवरण भी मैंने पढ़ा था। गांधी जी के विरोध में श्री विपिनचन्द्रपाल, देशबन्धु और लालाजी भी थे। यह बात उसी से जानी थी। फिर भी गांधी जी ने असहयोग का प्रस्ताव वहाँ पास ही करा लिया।

हाँ, एक बात और हुई जो छूटती है। सन् 1916 ई. की बात है। समस्तीपुर में एक सज्जन ने कहा कि कांग्रेस में तिलक और सर फिरोज मेहता के दल में समझौता हो गया। फलतः अब लखनऊ में जो कांग्रेस होगी वह संयुक्त (united) होगी। संयुक्त प्रान्त में संयुक्त कांग्रेस ठीक ही है। लखनऊ में होने को थी। इसीलिए किसी ने लकनऊ (Luck now) इस अंग्रेजी शब्द के दो टुकड़े करके सौभाग्य की सूचना बताई। मुझे खूब याद है कि उस कांग्रेस के प्रेसिडेंट श्री मजुमदार ने जो भाषण दिया था उसे मैंने अच्छी तरह पढ़ा था। अंग्रेजी सरकार की भूलों का प्रकरण (chapter of mistakes) शीर्षक के नीचे उन्होंने बताया था कि समय-समय पर परिस्थिति से विवश हो जो विश्वविद्यालय कलकत्ता, बम्बई आदि में सरकार ने खोले वह उसकी एकेबाद दीगरे, भूलें थीं। क्योंकि उन्हीं के करते लोगों की आँखें खुलीं और अब आजादी की माँग पेश करने लगे हैं।

इस प्रकार सन् 1919 और 1920 में मैं राजनीतिक बातों एवं देश में होने वाली तन्मूलक घटनाओं का संकलन मानस पटल पर करने लगा था। यों तो 1914 और 1918 के बीच जो यूरोपीय महासमर हुआ था उसके भी समाचार पढ़ता ही था। पटने से हिन्दी के पाटलिपुत्र और अंग्रेजी के दैनिक 'एक्सप्रेस' (Express) समाचार-पत्र मैं ध्यान देकर उन्हीं दिनों पढ़ने लगा था। यह ठीक है कि प्रवेश तो राजनीति में न था। फिर भी ये घटनाएँ मेरे दिल पर असर डालती ही रहीं। मालूम होता था कि अनजान में ही मैं धीरे-धीरे उस ओर खिंचा जा रहा हूँ।

इस प्रकार सन् 1920 के अन्त होने के साथ ही मेरे जीवन-संघर्ष का मध्य-भाग भी पूरा हो चला। हालाँकि मुझे इसका पता न था। उसी साल के दिसम्बर में उसका उत्तर भाग शुरू होने वाला था। कोई अपरिचित शक्ति मुझे उस ओर खींच रही थी इसका पता मुझे क्या था? मेरे जैसा धार्मिक और कट्टर सनातनी आदमी, जिसकी रगों में खान-पान में छुआछूत कूट-कूट भरा था और जो आज भी एक प्रकार से मौजूद ही है। दिन-रात की हाय-हाय में पड़ेगा, यह कौन सोच सकता था? किसने सोचा था कि भूलती हुई अंग्रेजी को सँभालने के बहाने भेजे गये अखबार मुझे राजनीति

में ला पटकेंगे? लेकिन भीतर से जो उसमें चाव पैदा हो गया था और अनायास ही ऐसा लगता था कि गांधी जी की असहयोग की बात ही ठीक है, उसका परिणाम दूसरा होना था भी नहीं। मुल्क के एक छोर से दूसरे तक असन्तोष की लहर दौड़ पड़े और लोगों को—हिन्दू, मुसलिम आदि सभी धर्म वालों को और सभी जाति-पाँति वालों को भी बेताब कर दे! फिर भी मैं अछूता रह जाऊँ यह सचमुच असम्भव-सी बात थी। फलतः मैं खिंच ही तो गया।

उत्तर भाग—पूर्वखण्ड

(1)

गांधी जी से वार्तालाप

मुझे खूब याद है, मैं पटने में ही था। गांधी जी, मौलाना मुहम्मद अली, मौलाना अबुल कलाम आजाद आदि के साथ सन् 1920 ई. के दिसम्बर में खिलाफत और पंजाब काण्ड की बात को लेकर देश को असहयोग के लिए तैयार करने के विचार से दौरा करते हुए पटना पधारे थे। वहीं से बिहार का दौरा होने को था। मौलाना मजहरुल्हक के मकान पर वे सभी ठहरे थे। मैंने उन लोगों की स्पीचें भी 3 या 4 दिसम्बर को सुनी थीं। मुझे उस समय मौलाना आजाद का भाषण सबसे अच्छा लगा। इसलिए नहीं कि उसमें गरमी या जोश ज्यादा था, या जानकारी की बातें अधिक थीं। यह बातें तो सभी भाषणों में थीं। मेरे लिए तो खास कर ऐसी बातें अधिक इसलिए थीं कि मैं राजनीति जानता ही क्या था?

असल में मैंने देखा कि मौलाना मुहम्मद अली आदि जो कुछ बोले उसमें मुल्क और देश की बात थी सही। पर, इसी के साथ उन्होंने बार-बार इसलाम का नाम लिया। यह बात मुझे न जानें क्यों खटकी। इसमें मुझे खतरा नजर आया। मेरे दिल ने बताया कि जब देश में सभी धर्म सम्प्रदाय के लोग हैं और सभी को लेकर लड़ना है, तो एक धर्म का नाम लेने से बाकी लोग कहीं खटक न जायँ। या इसलाम की माँग पूरी हो जाने पर ये मौलाना लोग और उनके साथ ही सभी मुसलमान लोग लड़ाई के बीच में ही कहीं भाग न जायँ। राजनीति में विशेष प्रवेश न होने पर भी न जाने यह खयाल मुझे क्यों हो आया। इसीलिए मैंने मौलाना आजाद का भाषण पसन्द किया। क्योंकि मैंने बड़े गौर से सुना और देखा कि शुरू से अन्त तक उन्होंने एक बार भी इसलाम का नाम न लेकर केवल देश और उसके प्रश्नों का ही बार-बार उल्लेख किया। हालाँकि घण्टों बोलते रहे। इसीलिए गांधी जी से बातचीत के समय मैंने यह प्रश्न उनसे किये कि ये मौलाना लोग बीच में ही छोड़ भागेंगे तो नहीं।

स्पीचों के बाद मेरे दिल में आया कि जरा गांधी जी से बातें तो करूँ। सिर्फ कौतूहल और जानकारी के ही लिहाज से मैंने बातें करने को सोचा। न कि सपने में भी खयाल था कि उनके फलस्वरूप मैं राजनीति में कूद ही पड़ूँगा। मित्रों से पूछा तो उन्होंने भी सम्मति जाहिर की। बस, फौरन गांधी जी को पत्र लिख कर समय माँगा। उत्तर मिला कि 5 दिसम्बर को सुबह दस बजे। मैं ठीक समय पर उनके डेरे पर पहुँच गया। खबर देने पर भीतर बुलाहट हुई। वे दूध में भिगा कर पावरोटी के टुकड़े खा रहे थे। खाट पर बैठे थे। सामने कुर्सी रखी थी। उन्होंने इशारा किया कि मैं उस पर बैठूँ। मगर मैंने नीचे बिछी फर्श पर ही बैठना पसन्द किया।

फिर मेरी बातें उनसे शुरू हुईं जो घण्टे भर चलती रहीं। मैंने उनसे बहुत से प्रश्न किये। संन्यासी का क्या धर्म है यह भी पूछा। उन्होंने कहा कि जिसमें घृणा, राग, द्वेष की गुंजाइश न हो वही संन्यासी है। इस पर मैंने नैयायिकों की तरह दलील शुरू करते हुए कहा कि जिस बुराई को अपने में से हटाना है उससे घृणा न हो तो वह हटे कैसे? और संन्यासी में भी तो बुराइयाँ हो सकती हैं। इस पर उनने कहा कि मैं उस घृणा को घृणा मानता ही नहीं। तब मेरा प्रश्न हुआ कि आखिर कैसे पता लगे कि कौन-सी घृणा घृणा है और कौन नहीं। जिससे संन्यासी के लक्षण का पता लग जाय? इस पर वे बोले, मैं दलीलें नहीं करता। मैं भी चुप हो गया।

फिर राजनीतिक बातें शुरू हुईं। मैंने पूछा कि कहीं ऐसा तो न होगा कि बीच में ही खिलाफत का प्रश्न हल हो जाने पर ये मौलाना लोग लड़ाई से हट जायँगे और हिन्दुओं की अकेले ही लड़ना पड़ेगा? मैंने उनसे साफ कहा कि मुझे मुसलिम जनता की फिक्र नहीं है। उसके बारे में शक भी नहीं है, मगर ये उसके लीडर और मौलाना ऐसा कर सकते हैं यह डर मुझे है जरूर। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया कि ऐसा नहीं हो सकता। ये लोग भले और रईस हैं, ऐसा मैंने समझा है। भलेमानस की बात पर विश्वास करना चाहिए। वह पक्की होती है और ये लोग ऐसा ही विश्वास दिलाते हैं। इस पर उन्होंने दलीलें देनी चाहीं तो मैंने साफ कहा कि बस मैं आपका अनुभव इस मामले में जानना चाहता हूँ। दलीलें नहीं चाहता। उनने कहा कि मेरा अनुभव और विश्वास है कि ये लोग धोखा न देंगे हर्गिज हर्गिज।

फिर मैंने कहा कि आपकी बातें मान तो लेता हूँ। लेकिन यदि हिन्दुओं की मदद से इन्होंने अपना काम निकाल लिया और पीछे मजबूत होकर न सिर्फ साथ ही छोड़ा, प्रत्युत हिन्दुओं पर हमले शुरू किये, तो क्या होगा? उनका इस पर यही उत्तर हुआ कि मुझे हिन्दुओं की गीता पर विश्वास है। जब तक वह है हिन्दू धर्म का कोई कुछ कर नहीं सकता। और अगर गीता भी सच्ची नहीं, तब तो ऐसे कच्चे हिन्दू धर्म को जल्द मिट जाना ही चाहिए। इसके बाद मेरी बात पूरी हो गयी। और मैं चला आया। पूरी बातचीत ज्यों की त्यों प्रश्नोत्तर के रूप में 6 या 7 दिसम्बर

सन् 1920 ई. के पाटलिपुत्र में लिखकर मैंने छपवा दी थी।

बातचीत के बाद मेरे दिल पर यही प्रभाव पड़ा कि मुझे राजनीति में फौरन कूद पड़ना चाहिए। इसलिए नहीं कि देश का उपकार होगा। बल्कि इसलिए कि तभी मैं सच्चा संन्यासी बन सकूँगा। अभी तो कच्चा हूँ। साथियों से भी सलाह की। खासकर मुंगेर जिले के दुर्गापुर (खगड़िया) के श्री उमेश्वर बाबू और कन्हैयाचक के श्री सूर्यनारायण बाबू आदि से। सबों की यही राय ठहरी। यह भी तय पाया कि इसी दिसम्बर में नागपुर में होने वाली कांग्रेस में भी जरूर शामिल होना चाहिए। उमेश्वर बाबू से यह भी तय पाया कि नागपुर से लौटकर खगड़िया इलाके में ही रह के काम करूँगा।

यहाँ एक बात और कह देनी है। जब खिलाफत की समस्या सुलझ गयी और सन् 1925-1926 में मौलाना आजाद और डॉ॰ अंसारी जैसे दो-एक को छोड़ सभी मुसलिम लीडर और मौलाना बड़ी तेजी से तबलीग और तंजीब में पड़ गये, यहाँ तक कि हकीम अजमल खाँ भी उधर कुछ झुकते दिखे, तो मैंने गांधी जी को एक पत्र अंग्रेजी में उलाहने के तौर पर लिखा कि आप तो पूरे अनुभवी आदमी हैं। फिर आपने क्यों धोखा खाया और मुझसे 1920 की 5 दिसम्बर को कहा कि मौलाना मुहम्मद अली वगैरह कभी धोखा न देंगे? ये तो धोखा दे रहे हैं। सभी के सभी तंजीम में जी-जान से पड़े हैं। वह मेरा भय तो सही सिद्ध हुआ।

मैंने यह जो कुछ लिखा सिर्फ मुसलिम लीडरों के ही बारे में। क्योंकि पटने मे प्रश्न भी मैंने उन्हीं के बारे में किया था। मुसलिम जनता को तो वही गुमराह कर देते हैं, जैसा कि हिन्दू लीडर हिन्दू जनता को। जनता तो सब की सब भीतर से साफ और निर्दोष है। लेकिन गांधी जी ने जो उत्तर दिया वह बिलकुल ही निराला और चालाकी से भरा था, जिसकी मैंने उन जैसे साफ कहने वालों से आशा की थी नहीं! उन्होंने इस बारे में एक ही वाक्य लिख कर खत्म किया कि "मुसलमानों के बारे में उस समय मैंने जो अन्दाज लगाया था उसके लिए मुझे आज कोई पश्चात्ताप नहीं है" "I donot repent my estemate of mohammadans" भला क्या यह मेरे प्रश्न का उत्तर कहा जा सकता है? मैंने मुसलमानों के बारे में कब पूछा था? मेरा प्रश्न तो केवल कुछ मौलानाओं और नेताओं के बारे में था। तो क्या उसका उचित उत्तर यही है? इससे मेरे दिल पर गांधी जी के सम्बन्ध में पहला धक्का लगा। मगर इसका कुछ विशेष फल न हुआ। असल में उस धक्के को मैं समझ भी न सका। पहला ही जो था।

(2)

नागपुर कांग्रेस के संस्मरण

बातचीत के बाद कुछ अधिक समय तो मिला नहीं। क्योंकि नागपुर की कांग्रेस उसी दिसम्बर के अन्त में होने वाली थी। मैं शीघ्र ही उत्तर मुंगेर में खगड़िया के इलाके में गया और श्री उमेश्वर बाबू के साथ ही नागपुर रवाना हुआ। मुगलसराय से बम्बई मेल के द्वारा जबलपुर जाकर सेठ गोविन्द दास वाली धर्मशाले में ठहरा। वहाँ से रात में छोटी लाइन पकड़ के गोंदिया होते दूसरे दिन नागपुर पहुँचा। वहाँ डॉ॰ मुंजे ही कांग्रेस की तैयारी में प्रमुख भाग ले रहे थे। और लोगों के नाम तो याद नहीं। उस समय मैं उनके सिवाय दूसरों को जानता ही कहाँ था? वही स्वागताध्यक्ष थे। आज के और उस जमाने के मुंजे में जमीन-आसमान का अन्तर हो गया! नागपुर में मुल्क ने चिरपरिचित 'भिक्षां देहि' और केवल गर्मा-गर्म लेक्चर झाड़ने का रास्ता छोड़ आत्मसम्मान का मार्ग पकड़ा। भारत के हक के दावे के साथ ही उसके पूर्ण न होने पर सरकार से 'युद्धं देहि' का पहली बार निश्चय किया और इस प्रकार देश को नव जीवन प्रदान किया। इसमें डॉ॰ मुंजे ने अपनी सामर्थ्य भर पूरा हाथ बँटाया। इतना ही नहीं। उसके फलस्वरूप असहयोग युद्ध में कूद पड़ने के कारण उनकी डॉक्टरी वाली बहुत अच्छी आमदनी जाती रही ऐसा लोगों ने पीछे कहा और बताया कि वह तो बर्बाद हो गये 'He is a ruined man' लेकिन आज उसी मार्ग की या यों कहिये कि जिस स्वातन्त्र्य संग्राम का नागपुर में बीजारोपण हुआ उसकी ही मुखालिफत वही मुंजे कर रहे हैं। सो भी सारी शक्ति लगाकर! जो शक्ति पहले उधर लगी थी वही अब विपरीत दिशा में लग रही है यद्यपि वह स्वयं ऐसा नहीं मानते! ठीक ही कहा है संसार परिवर्तनशील है।

नागपुर कांग्रेस की दो-एक बातें मुझे भूलती ही नहीं हैं। बिहार के मौलाना शफी दाऊदी को पहले पहल वहाँ देखा कि कितनी तत्परता कांग्रेस पण्डाल में लोगों के बैठाने-उठाने में दिखा रहे हैं। कितनी सज्जनता एवं नम्रता से पेश आते हैं। उसके बाद लौटकर उन्होंने काफी काम भी किया। जब मैं लौटकर शाहाबाद जिले के बक्सर सबडिवीजन में काम में जा लगा तो बिहार प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन का आरा शहर में उन्हें ही सभापति चुना गया। मैंने धार्मिक कट्टरता उनमें उस समय कतई नहीं पाई, गो कि विशेष जानकारी न थी। मगर थोड़े दिनों बाद ही और मौलवियों के समान ही वह भी ऐसे बदले, ऐसे कट्टर बने कि मैं हैरत में आ गया एक ओर शुद्धि और संगठन की और दूसरी ओर तबलीग और तंजीम की जो आँधी चली उसमें दूसरों के साथ वह भी हमारे बीच से उड़ के एक किनारे जा लगे! सुन्दर वकालत को चौपट किया जिस काम के लिए उसे बीच में ही छोड़कर तंजीम में जा फँसे!!

मैंने वहीं देखा कि पहले द्वारका के और अन्त में जगन्नाथ के शंकराचार्य

श्री भारती कृष्णतीर्थ लखनऊ के आर.एस. नारायण स्वामी आदि के साथ वहीं डँटे हुए हैं। कांग्रेस के ही लिए वह आये थे। मगर जब प्रतिनिधियों को कांग्रेस के ध्येय पर हस्ताक्षर करने का मौका आया तो उन्होंने इनकार किया! साम्राज्य के भीतर स्वराज्यवाले ध्येय पर दस्तखत करने को वे तैयार न थे और वही उस समय तक कांग्रेस का लक्ष्य था। मैं तो उस समय ये सब बातें कुछ भी जानता-समझता न था कि साम्राज्य के भीतर और बाहर की बला क्या है। लेकिन वह दण्डी और मैं भी दण्डी। इसलिए उनके पास प्रायः जाता और बैठता था। यह देखकर खुशी भी थी कि आखिर इस राजनीति में मैं ही अकेला दण्डी संन्यासी नहीं पड़ा हूँ। किन्तु मुझसे बड़े और विद्वान् शंकराचार्य तक पड़े हैं। उनके साथ और भी संन्यासी थे। जो पुराने झगड़े नरम और गरम दल के कांग्रेस के लक्ष्य कों लेकर थे उन्हीं के अनुसार वे हस्ताक्षर से इनकार कर रहे थे।

पीछे एक चलते-पुर्जे सज्जन ने जिनका नाम भूलता हूँ, और जो उन्हें प्रतिनिधि बनाने के लिए बहुत ही उत्सुक थे, यह कह के उन्हें राजी किया कि आप तो कांग्रेस के लक्ष्य पर हस्ताक्षर करके ऐसा कहते हैं कि यही उसका ध्येय है। मगर उस ध्येय को आप स्वीकार कर-लेते हैं यह उस हस्ताक्षर का मतलब कैसे हो जाता है? जो लोग उसे बदलना चाहते हैं वह भी तो आखिर कांग्रेस में बिना उस पर हस्ताक्षर किये घुस नहीं सकते। फलतः उसे बदल भी नहीं सकते। इसलिए यह तो केवल कायदे-कानून की पाबन्दी (formality) मात्र है। इस पर उन्होंने हस्ताक्षर कर दिया। पीछे तो कराची में मौलाना मुहम्मद अली आदि सात नेताओं पर, जिन्हें कराची के सात 'Karachi seven' कहने की पीछे प्रणाली हो गयी थी, जब खिलाफत की बात को लेकर मुकद्दमा चला था तो उनमें एक यह भारती कृष्णतीर्थ भी थे। यह खुशी की बात थी। यह देश के सौभाग्य की सूचना थी कि मुसलमानों के धर्म की रक्षा के लिए हिन्दुओं का धर्माचार्य शंकराचार्य जेल जायँ।

परन्तु कुछ दिनों बाद जेल से लौटते ही वह राजनीति से विरागी होकर फिर मठ और गद्दी के झगड़े में बुरी तरह जा फँसे। यहाँ तक कि राजनीति का नाम ही छोड़ दिया। हालाँकि साम्राज्य के बाहर तो क्या भीतर वाला भी स्वराज्य अभी नजर में भी न आता था। न जानें इस बात ने उनके दिल को कभी इधर आकर मसोसा भी या नहीं।

सन् 1924 ई. वाली प्रसिद्ध अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की जो बैठक अहमदाबाद में हुई थी उसमें मैं भी शामिल था। वहीं एक दण्डी से, जो काफी चलते-पुर्जे थे, भेंट और बातें हुईं। उन्होंने कहा कि जेल से लौटने पर भारती कृष्णतीर्थ से हम लोग प्रायश्चित्त करायेंगे कि क्यों जानबूझकर जेल गये। अपने सीधे विश्वास के करते उनकी यह बात मानना मेरे लिए असम्भव था कि वह प्रायश्चित्त करेंगे। उन्हें ऐसा कमजोर मैं नहीं समझता था, लेकिन उस दण्डी संन्यासी की दृढ़तापूर्ण बात ने सूचित

किया कि मामला कुछ बेढब जरूर है। पीछे तो मैंने सुना कि जेल से लौटकर उनने शायद प्रायश्चित्त भी किया था। कदाचित् वह राजनीति में जाने के महापाप का ही प्रायश्चित्त था। इसीलिए उससे अलग भी हुए।

नागपुर में यह भी देखा कि विषय समिति के सदस्यों के चुनाव के लिए बड़ी सरगर्मी है। क्योंकि पुरानी नियमावली के अनुसार कांग्रेस के अधिवेशन के ही समय प्रतिनिधियों में से ही कुछ लोगों को चुनकर विषय समिति बनती थी। इसीलिए हर प्रान्त वाले पार्टी के इस विचार से व्यस्त थे कि अमुक दल के विचार के ही लोग चुने जायँ। और प्रान्तों की तो बात नहीं जानता। मगर बंगाल के प्रतिनिधि जब एकत्र होकर अपने प्रान्त के लिए मेम्बरों को चुन रहे थे तो खूब हाथापाई हुई। कुर्सियाँ भी चलीं। कुछ के सिर फूटे भी, देशबन्धु पार्टी वाले चाहते थे कि उनके ही समर्थक चुने जायँ न कि गांधी जी के विचार के अनुसार असहयोग के समर्थक। दास साहब असहयोग के पक्ष में तब तक न थे। हालाँकि कांग्रेस का अधिवेशन पूर्ण होने के पहले गांधी जी से उनका कोई समझौता हो गया, ऐसा मालूम पड़ा।

उस अधिवेशन के अध्यक्ष थे सलेम (मद्रास प्रान्त) के पुराने जनसेवक चक्रवर्ती विजय राघवाचार्य। थे वह पुराने नरम दलियों में ही। देखा कि उनके सिर पर आचारी वैष्णवों का लम्बा तिलक लगा है। उनके डेरे में खाने-पीने में पूरा-पूरा पर्दा आचारियों जैसा ही था। छुआछूत भी हू-ब-हू वैसी ही थी। पर्दे में बैठकर ही भोजन करते थे जैसा सभी आचारी करते हैं। अपने पुराने विचारों के अनुसार उन्होंने असहयोग का विरोध ही अपने भाषण में किया। भाषण छपा हुआ था। मगर वह तो नक्कारखाने में तूती की आवाज थी। कांग्रेस अधिवेशन में तो असहयोग का प्रस्ताव प्रायः सर्वसम्मति से ही पास हुआ था। विरोध का तो पता ही न लगा, सिवाय एकाध के जिसका उल्लेख आगे है। मैंने यह भी देखा कि कांग्रेस के अध्यक्ष समय के उपयुक्त न थे। वह उस विचारधारा के समर्थक थे जिसका समय बीत चुका था। इसीलिए नागपुर के बाद अध्यक्ष महाराज एक प्रकार से लापता से रहे। नाम भी कभी शायद ही सुनाई पड़ा।

वहीं पर मैंने मुहम्मद अली जिन्ना साहब को पहले पहल देखा। वहाँ से जो वह कांग्रेस से गायब हुए सो आज तक उन्हें देखने का मौका मुझे तो नहीं ही लगा। अब जमाना बदला था। अधिकांश लोग कुर्त्ता, टोपी, धोती वाले ही कांग्रेस में थे। मगर जिन्ना साहब बाकायदा हैट, कोट, पैण्ट आदि से सजे हुए थे। उन्होंने भर पेट असहयोग का विरोध किया। उनका भाषण अंग्रेजी में हुआ। उन्होंने उससे होने वाली हानियों को विस्तार के साथ बताया, यह भी कह दिया कि असहयोग का प्रस्ताव पास हो जाने पर हमारे जैसों के लिए कांग्रेस में गुंजाइश रही नहीं जाती। हुआ भी वैसा ही। केवल वही नहीं, किन्तु उन्हीं के साथ कांग्रेस के पुराने नरम दलीय नेता सबके-सब कांग्रेस से सदा के लिए अलग हो गये। उन्होंने अपनी एक अलग संस्था

बनायी जिसका नाम अखिल भारतीय लिबरल फेडरेशन पड़ा।

कांग्रेस ने पुरानी दुनियाँ छोड़ अब नयी में पदार्पण किया। नागपुर ने मुल्क की विचारधारा को सोलहो आने विपरीत दिशा में बहा दिया। नागपुर के बाद जो उमंग और जोश की लहरें मुल्क में हिलोरें मारने लगी थीं, वह वर्णनातीत थीं। मुल्क ने कांग्रेस के जरिये न सिर्फ स्वावलम्बन का मार्ग पकड़ा, प्रत्युत उसके इतिहास में यह पहला ही मौका था जब देश की सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था ने अपने राजनीतिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए देश की मूक और पीड़ित जनता की ओर—किसानों, मजदूरों और कमाने वालों की ओर—अपना मुँह फेरा और निश्चय किया कि बिना उनकी सहायता के, बिना उन्हें सामूहिक रूप से राजनीति में लाये, देश की राजनीतिक माँग की पूर्ति हो नहीं सकती। उनने साफ स्वीकार किया कि बिना उस जनता के सक्रिय सहयोग के न तो कांग्रेस और न आजादी की लड़ाई ही जबर्दस्त होगी और न सरकार ही दबेगी। मेरे लिए खुशी की बात थी कि ठीक ऐसे ही समय में कांग्रेस में और राजनीति में भी पहले पहल शामिल हुआ। यही परिस्थिति और यही वायुमण्डल मेरे स्वभाव के अनुकूल था भी। संन्यासी होते हुए भी 'भिक्षां देहि' का तो मैं सदा से ही विरोधी रहा हूँ।

कांग्रेस के इस मार्ग-परिवर्तन और जनता की ओर जाने का परिणाम भी ठीक ही हुआ। दुनियाँ ने और अपनी अपारशक्ति के मद में मत्त अंग्रेजी सरकार ने भी आश्चर्यचकित नेत्रों से देखा कि कांग्रेस एक साल के भीतर ही क्या से क्या हो गयी—उसकी शक्ति अप्रतिम हो गयी! जो कांग्रेस सदा सरकार के सामने झुकती और हाथ जोड़कर अर्ज करती थी वही सरकार को झुकाने वाली समझी जाने लगी। कमाने वाली जनता का किसानों और मजदूरों का—आश्रय लेने का सदा यही परिणाम होता है। यह जनता चाहे स्वयं भीख ही क्यों न माँगती हो। फिर भी जो इसका आश्रय लेते हैं उन्हें शिव की तरह सब तरह से पूर्ण और शक्तिशाली बना देती है। यही बात कांग्रेस के बारे में भी हुई। फलतः भारत के वायसराय लार्ड रीडिङ्ग को सन् 1921 ई. के दिसम्बर में कलकत्ते में कहना पड़ा कि मैं हैरत में हूँ, परेशान हूँ 'I am puzzled and purplexed'!

(3)

असहयोग में—बक्सर में

नागपुर से लौटकर मैं खगड़िया जाने को था। तय था कि वही हमारा कार्यक्षेत्र होगा। आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी के कार्यालय में हमने अपना पता प्रतिनिधि की हैसियत से वहीं का दिया था भी। हमारे साथ कुछ किताबें थीं जिन्हें हमने वहीं भिजवाया

भी। लेकिन बक्सर (शाहाबाद) के कुछ परिचित मित्रों ने आग्रह करके मुझे कुछ ही दिनों के लिए बक्सर चलने को इसलिए कहा कि कौंसिल के चुनाव क्षेत्र की एक जगह उस इलाके में खाली थी और महाराजा हथुवा उम्मीदवार थे। वर्तमान प्रान्तीय असेम्बलियों की ही जगह तब कौंसिलें थीं। कांग्रेस ने उनके बहिष्कार का निश्चय किया था। महाराजा हथुवा कांग्रेस की बात न मान कर खड़े थे। इसीलिए उनका विरोध करना जरूरी था, ताकि लोग वोट न दें। मैं तैयार हो गया। सोचा कि वह काम खत्म करके खगड़िया चला जाऊँगा। फलतः बक्सर पहुँचकर काम में लग गया। देहातों में उनके विरुद्ध प्रचार शुरू कर दिया। बक्सर और भभुआ दो सबडिवीजनों से उनका चुनाव था। आरा शहर के लोगों ने कुछ दिल्लगी की और महाराजा के खिलाफ एक धोबी को खड़ा कर दिया। वह चुन भी लिया जाता और महाराजा हार जाते यदि धोबी के लिए कांग्रेस का कुछ भी प्रयत्न हो जाता, मगर बायकाट का सिद्धान्त पास हो जाने के कारण हम लोग उस ओर इशारा भी कैसे कर सकते थे? फिर भी उसके खड़े रहने मात्र से ही महाराजा पूरे अपमानित एवं परेशान हुए।

मैं उस काम में पड़ा तो दिलोजान से। दिन-रात कोई दूसरा काम न था। देहातों में घूमकर कांग्रेस का सन्देश सुनाता और बताता कि उसके अनुसार कोई भी न तो वोट दे और न खड़ा हो और अगर महाराजा नहीं मानते तो उन्हें एक भी वोट नहीं मिलना चाहिए। पर दिक्कत यह थी कि इतने लम्बे इलाके में न तो ज्यादा घूमने वाले थे और न पैसा या सवारी आदि का प्रबन्ध ही था। नागपुर से लौटते ही तो यह काम पड़ा और अभी लोगों में वह गर्मी आयी न थी। वह भी तो कुछ दिन बाद आयी। समय भी कम था। फलतः मुझे ही सब जगह और खास कर भभुआ के इलाके के रामगढ़ थाने में तथा दूसरी जगहों में जाना था बक्सर का काम पूरा करके। लेकिन समयाभाव से कहाँ-कहाँ जाता?

आखिर चुनाव के ठीक पहले दिन मैं खीरी और वहाँ से मानिकपुर गया। फिर शाम को बैलगाड़ी पर बैठ रातों-रात रामगढ़ जाने की बात तय पायी। बैलगाड़ी भी वहाँ तक जा न सकती थी। सिर्फ दुमदुमा तक जा सकी। उसे वहीं छोड़ा पैदल दो-एक आदमियों के साथ चले और सुबह 8 बजे के करीब रामगढ़ पहुँचे। स्कूल में ठहर के कुछ खाया-पिया। फिर गाँव में गये। समय तो था नहीं। शायद 10 ही बजे से वोट होने को था। गाँववालों से मीटिंग करने को कहा। मगर मीटिंग होती कैसे? आखिरकार एक उपाय सूझा। एक ने कहा कि बीच गाँव में सभा स्थान पर एक धौंसा (नगाड़ा) रखा है और कायदा यह है कि उसे जोर से बजाने पर जो सुनेगा वही दौड़कर पहुँचेगा। वह धौंसा खतरे की घण्टी (Alarm) का काम देता था। वही किया गया। बस, बात की बात में लोग आ धमके हमने अपना मतलब उन्हें समझाया। फिर तो बिजली सी दौड़ गयी। लोग वोट पड़ने की जगह थाने के चारों ओर कुछ दूर सभी रास्तों पर खड़े हो गये कि वोटरों को रोका जाय। मैं भी जा डँटा।

पुलिस तो निश्चिन्त थी और समझती थी कि यहाँ तो कुछ होगा नहीं, सब ठीक है। जब उसने एकाएक यह रंग देखा तो घबरायी। सब-इंस्पेक्टर ने चौकीदार या कान्स्टेबुल से कहलाया कि स्वामी जी यहाँ से चले जायँ। परन्तु मैं कब जाने वाला था? तब दारोगा स्वयं आये और चले जाने को कहा। धमकाया भी। मैंने कहा कि लिखकर आज्ञा दीजिये तभी सोचूँगा कि क्या करना चाहिए। फिर तो वे सहमे और अपना सा मुँह लेकर चलते बने। मैं सदल-बल डँटा रहा। जो भी वोटर या दर्शक आते, पहले मेरे ही पास कौतूहलवश आते जब मैं समझा देता तो सभी लौट जाते। मुझे खयाल नहीं कि महाराजा को दो-चार भी वोट मिले या नहीं। हालाँकि मैंने उस समय भी देखा कि देहात के कुछ चलते-पुर्जे टुकड़खोर इसके लिए आकाश-पाताल एक कर रहे थे। यह ठीक है कि धोबी हार गया और महाराजा चुने गये। कहीं से कुछ-न-कुछ वोट तो मिल ही गये।

वहाँ से लौटकर मैं बक्सर आ गया। वहीं पर मास्टर साहब कहे जाने वाले श्री जयप्रकाश लाल जी के साथ ठहरा। अब मैं चाहता था कि खगड़िया चला जाऊँ। लेकिन कुछ विशेष परिचय हो जाने से, और कांग्रेस प्रोग्राम के अनुसार एक करोड़ कांग्रेस के मेम्बर, एक करोड़ रुपये तिलक स्वराज्य कोष में और एक लाख चरखे, ये तीनों चीजें मुल्क में जुलाई मास बीतते-न-बीतते पूरी हो जायँ यह प्रश्न आ जाने से कुछ ऐसा हो गया कि उसी में फँसकर जाना असम्भव हो गया। मैं चरखे के काम में लग गया। सिमरी (डुमराँव) थाने से सस्ते-से-सस्ते चरखे बनवाकर बक्सर लाया और प्रचार जारी किया। इस समय बक्सर के कई बनिये उस काम में पड़ गये। उनने काफी सहायता दी। लेकिन बाबू भगवान दास में कुछ ऐसा परिवर्तन हुआ कि वह मुझे अब तक भूला नहीं। वे बड़े ही शौकीन थे। कई बक्सों में उनने तरह-तरह के कीमती विलायती कपड़े भर रखे थे जिन्हें समय-समय पर अपने काम में लाते थे। लेकिन सब छोड़कर खद्दर का व्रत कर लिया। उनने उन सब कपड़ों की होली जला दी।

उस समय तो गांधी जी इस होली के बड़े ही हामी थे। उन्हें या उनके अनुयायियों को ऐसी बातों में हिंसा की गन्ध बिलकुल ही नहीं मालूम पड़ती थी। मगर आज तो जमाने ने ऐसा पलटा खाया है कि साम्राज्यवाद के नाश, पूँजीवाद के नाश तथा जमींदारी प्रथा के नाश में और इनके पुतले जलाने में भी उन लोगों को हिंसा की बू आने लगी है। मालूम होता है आजकल उन लोगों की नासिका बहुत ही तेज हो गयी है! पहले ऐसी न थी! संसार परिवर्तनशील है!

यहाँ पर यह कह देना अनुचित न होगा कि मैं कट्टर गांधीवादी के रूप में ही कांग्रेस में और राजनीति में शामिल हुआ। अतः गांधी जी के हर एक आदेशों का पालन अक्षरशः करता करवाता था—कम-से-कम करवाने की कोशिश भरपूर करता था। इसलिए स्वयं चरखा भी चलाना फौरन सीखकर कातना शुरू कर दिया। पीछे

तो तकली शुरू कर दी। इस प्रकार चरखा चलाने की जो प्रतिदिन की पाबन्दी अपने ऊपर रखी थी वह इससे अच्छी तरह पूरी होने लगी। मैं यह आशा करता था कि जो पढ़े-लिखे और समझदार लोग कांग्रेस में शामिल होंगे वह तो गांधी जी के आदेशों और उनके बताये नियमों की पाबन्दी अवश्य ही करेंगे। लेकिन पीछे जब जेल में गया तब तो भयंकर निराशा हुई थी। पर उसके पहले भी तिलक स्वराज्य कोष का धन एकत्र होते-न-होते असलियत का पता मुझे लगने लगा और मेरी आँखें खुलने लगीं।

काम की हालत यह थी कि जाड़ा, गर्मी और बरसात की परवाह कतई न कर दिन-रात गाँव-गाँव घूमता रहा। आज भी उन गर्मियों की जलती लू की घटनाएँ याद हैं। पाँव की हालत यह हो गयी कि जूते मैंने छोड़ दिये। असल में चमड़े के जूते तो पहले से ही छूटे थे। रह गये थे रोपसोल वाले वह भी छूट गये। वह अच्छे मिलते भी न थे। जो मिलते भी थे वह इस घुड़दौड़ में टिकते कहाँ? दस ही दिन में खत्म हो जाते और इस प्रकार पानी की तरह जूते में रुपये कौन बहाये? जनता का पैसा इस प्रकार क्यों खर्च किया जाये? आखिर गांधी जी का रास्ता तो तप का रास्ता ठहरा। तो फिर स्वयं कष्ट क्यों न भोगा जाय? बस, इन्हीं खयालों ने जूतों से भी असहयोग कराया। परिणाम यह हुआ कि गर्मियों के दिनों में भी पाँवों में लम्बी दरार जैसी बिवाई फटी और चलना असम्भव हो गया। कभी-कभी उसमें मोम डालकर आग से सेंकता। इससे जरा दर्द कम होने से आराम मिलता। तब घूम-फिर सकता था। यह प्रक्रिया न जाने कितने महीने जारी रही। बेशक, सभी बातों में **सिमरी के पं॰ रामदर्श पाण्डेय, पं॰ रामसुभग पाण्डेय** आदि जवानों ने इस समय मेरा पूरा साथ दिया।

लेकिन हमने अनुभव किया इस असहयोग की पवित्र धारा में स्नान करने के लिए न जाने कितने पुराने पापी घुस आये। वह ऐसे बगुला भगत और महात्मा बन गये कि लोगों को आश्चर्य भी हुआ और भक्ति भी हुई। बहुतों ने समझा कि गांधी जी के जादू ने काम किया जिससे इन भलेमानुसों के दिल भी पलट गये। ये लोग इतने अनशन और व्रत भी करने लगे कि ताज्जुब होता था। कितनों ने तो गैरिक वस्त्र धारण कर लिया! ठीक ही है। सामूहिक आन्दोलन में सभी प्रकार के लोग आ ही जाते हैं। उन्हें रोक कौन सकता है? बहती गंगा में नहाना कौन नहीं पसन्द करता? परिस्थिति का कुछ ऐसा प्रभाव भी हो जाता है कि पापियों की हिम्मत नहीं होती कि अपना पापाचार जारी रखें। वायुमण्डल की यही तो खूबी है। लेकिन यह बात—यह जादू—यह असर ज्यादा दिन टिकता नहीं। आखिर श्मशान में मुर्दा जलाने के समय वैराग्य तो होता ही है। मगर वह स्थायी तो होता नहीं। ठीक यही बात वायुमण्डल के वशीभूत होकर काम करने वालों की है। वह भी पीछे कुछ ही समय गुजरने पर दूसरा मार्ग—वही पुराना चिर-परिचित मार्ग—अपनाने लगते हैं। इसे

कोई शक्ति रोक नहीं सकती।

थोड़े की दिनों के बाद मैंने देखा कि इस प्रकार के लोग अपनी करवटें बदलने लगे। अपने विकराल रूप की सूचना देना उनने शुरू कर दिया। लेकिन मेरा काम चलता रहा और सबों का सम्मिलित प्रयत्न नहीं रुका। आखिर में जून आते-न-आते तिलक स्वराज्य कोष की पूर्ति में सभी पिल पड़े। बक्सर ही तो मेरा कार्य क्षेत्र रहा। शहर छोटा है। वहाँ कोई व्यापार भी नहीं चमकता था। साधारण व्यापारी थे। फिर भी आरा शहर के सामने उसने बाजी मार ली। मुझे याद है कि आखिरी तारीख 31 जुलाई को श्री राजेन्द्र बाबू का दौरा आरा और बक्सर में इसीलिए हुआ। अगर मैं भूल नहीं करता तो उन्हें आरे से प्रायः तीन सौ और बक्सर से आठ सौ या एक हजार रुपये मिले थे! ये रुपये तो उनके साथ ही चले गये।

मगर बीच-बीच में जो रुपये वसूल होते थे वह कुछ प्रान्तीय ऑफिस-में जाते और कुछ जिले, सबडिवीजन या थाने में ही रह जाते। मैंने देखा कि इन्हीं रुपयों को लेकर गड़बड़ी शुरू हुई। कुछ भलेमानसों ने इधर-उधर उड़ाना शुरू कर दिया। यह बात मुझे बर्दाश्त न थी। मैं तो सार्वजनिक पैसे को सबसे अधिक पवित्र चीज मानता हूँ। लेकिन पैसे आते ही लोगों ने अपना रूप पलटा। फलतः मुझसे और वहाँ के अनेक कार्यकर्त्ताओं से तनातनी शुरू हो गयी। उसका अन्त तब हुआ जब मैंने ऊब कर नवम्बर के अन्त में बक्सर छोड़ ही दिया। मैं गाजीपुर चला गया। वहाँ वाले बहुत ही पीछे पड़े थे। मैंने भी सोचा कि यहाँ रह के खटपट करते रहना और काम में बाधा देखना ठीक नहीं। वहीं चलो।

सन् 1921 ई. के गर्मियों में मौलाना मुहम्मद अली के साथ-साथ गांधी जी का दौरा युक्त प्रान्त में हो रहा था। वह बिहार भी आने को थे। हमने बहुत आग्रह और तैयारी के साथ उन्हें बक्सर बुलाया। प्रान्तीय नेता इस शर्त पर तैयार हुए कि मोटर से ही उन्हें आरा पहुँचाया जाय। कम-से-कम दो अच्छी मोटरें चाहिए थीं। बक्सर वालों ने बात-की-बात में कई सौ रुपये इसके लिए एकत्र कर लिये। दो मोटरें किराये की ठीक हो गयीं। कोशिश की गयी कि स्टेशन पर वह कब उतरेंगे यह सूचना किसी को न दी जाय। बात भी ऐसी हुई। मगर अन्दाज से ही लोग रात के 3 बजे ही स्टेशन पर आ डँटे। अपार भीड़ हो गयी। वे लोग सभी ठहराये गये श्री चुन्नी राम जी के कोठे पर। सभा का प्रबन्ध शहर से हट के पूर्व बाग के उत्तर मैदान में था। अन्दाज था कि सवेरे ही 8 बजे तक सभा करके वहाँ से चले जायँगे। फलतः लोग आधी रात से ही सभास्थान में एकत्र होने लगे। सुबह तक भारी भीड़ हो गयी। बिना पाखाना, पेशाब किये ही लोग प्रतीक्षा में थे कि जल्द खत्म होने पर लौटेंगे।

मगर गांधी जी ने एकाएक वज्रपात सा कर दिया। उनने ठीक सुबह कह दिया है कि आज गुरुवार होने से चार घण्टे तक 'नवजीवन और यंग इण्डिया' के लिए

लेख लिखेंगे। अतः सभा दोपहर के पूर्व न हो सकेगी। मेरे सिर पर आफत थी। लोग गर्मियों के कारण प्यास और भूख से तड़प रहे थे। तिस पर तुर्रा यह कि कितनों को नहाने-धोने या पाखाने तक का मौका न मिला था। स्थान से हटना असम्भव था अगर हटते तो पीछे दूर खड़े होने के कारण दर्शन ठीक-ठीक कर न सकते। फलतः सबने मुझे ही कोसना शुरू किया कि आपने ही धोखा दिया कि सुबह सभा होगी। मेरी दलील तो कोई सुनने को रवादार न था। मैं भी कभी यहाँ कभी वहाँ दौड़ता था। धूप के मारे लोग जल रहे थे। मैं भी विवश तलमल कर रहा था। पर करता क्या?

इतने में बलिया वालों ने एक अलग तूफान बरपा किया। गांधी जी का प्रोग्राम तो वहाँ के लिए था नहीं। पर, वे लोग खामख्वाह उन्हें ले जाने पर तुले थे। जब कुछ उपाय न देखा तो गांधी जी के डेरे के सामने वाली सड़क के दोनों छोरों पर सड़क घेर कर सैकड़ों आदमी लोट गये और कहा कि जब तक गांधी जी चलने को वचन न देंगे हम न हटेंगे, उनकी मोटर जाने न देंगे। गांधी जी मानने वाले थे नहीं। वे लोग भी सुनने वाले न थे। इससे सभा में और भी देर होने लगी। मेरे सिर और भी आफत थी। आखिर गांधी जी ने जब यह वचन दिया कि बलिया जरूर चलेंगे, मगर पीछे, अभी नहीं, तब कहीं वे लोग हटे और वे सभा में जा सके। मगर दोपहर से ज्यादा हो रहा था और लोग ऊब चुके थे। फलतः गांधी जी के सभास्थान में पहुँचते ही हो-हल्ला मचा। इससे किसी का भी भाषण न हो सका।

ठीक 17 नवम्बर की बात है। बादशाहजादा साहब बम्बई में जहाज से उतरने वाले थे। उन्हें यहाँ उस नवीन विधान को लागू करना था जिसका बायकाट कांग्रेस ने किया था। इसलिए सर्वत्र हड़ताल की बात थी। बलिया (ददरी) के मेले में हम लोग थे। समस्या पेचीदा थी। मेले में हड़ताल हो तो हमारी सफलता समझी जाय। लेकिन मेला तो बहुत बड़ा होता है। फिर भी इतना प्रचार किया गया कि उस दिन एक दूकान भी न खुली! एक डिप्टी साहब सदल-बल घूम रहे थे यही देखने के लिए कि हड़ताल कैसी है। एक पानवाले से पान लेना चाहा तो उसने साफ इनकार कर दिया। फिर चूड़ीवाली एक बुढ़िया के पास जाकर कपड़े के नीचे ढँकी चूड़ियों पर (क्योंकि हड़ताल के करते उसने उन्हें ढँक दिया था) उनने अपनी छड़ी से धीरे से ठोंका और कहा कि इन्हें बेचती क्यों नहीं? ढँक के क्यों रखे हैं? बुढ़िया ने इस प्रकार झल्ला कर जवाब दिया कि उन्हें काट खायेगी। फिर तो डिप्टी साहब भक्कू बन गये। हमने अपनी पूरी सफलता मानी। आखिर में तीसरे पहर के बाद मुनादी करवा दी गयी कि अब दूकानें खुल सकती हैं और लोग खाने-पीने की चीजें खरीद-बेच सकते हैं। तब कहीं जाकर दूकानें खुलीं।

(4)

भारी भूल

उन्हीं दिनों ब्रह्मपुर के मेले में मुझे एक बड़ा ही कटु अनुभव हुआ और हिन्दुओं की गोरक्षा की पोल मैंने बखूबी समझ ली। बक्सर सबडिवीजन के ब्रह्मपुर, जिसे काँटब्रह्मपुर भी कहते हैं और जो पुलिस स्टेशन भी है, में फाल्गुन और वैशाख के कृष्णपक्ष के अन्त में, शिवरात्रि को, बहुत अच्छा मेला लगता है। वहाँ पशुओं की बिक्री काफी होती है। घोड़े, भैंसें, गायें तथा बैल खूब जमा होते और बिकते हैं। वहीं के क्षत्रिय जमींदारों की जमीन में मेला लगने से वे काफी पैसे भी कमाते हैं। फी पशु कुछ पैसे वे वसूल करते हैं। प्रधानतया पशुओं का ही वह मेला माना जाता है।

वहीं पर तालाब के किनारे बाबा ब्रह्मेश्वर या वर्मेश्वरनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर है। उसके पुजारी भी खूब हाथ गरमाते हैं। क्योंकि जितना ही मेला जमेगा उतने ही अधिक आदमी आयेंगे और उतना ही ज्यादा चढ़ावा उन्हें मिलेगा—शिव बाबा पर उतनी ही ज्यादा (पूजा) चढ़ेगी। इसीलिए धर्म के ठेकेदार पुजारी लोग, जो ब्राह्मण कहे जाते हैं और क्षत्रिय जमींदार, जो हिन्दुओं की पोथियों में धर्मरक्षक कहे गये हैं—ये दोनों ही चाहते हैं कि मेला बड़े से बड़ा हो। इसका सीधा अर्थ है कि पशु ज्यादा बिकें। यह भी तयशुदा बात है कि पशुओं में ज्यादातर गाय और बैल ही रहते हैं।

पैसा कमाने वाले इन दो दलों के सिवाय एक और भी दल है जो वहाँ से कुछ दूर उत्तर गंगा तट पर या तो गंगा में नाव चलाता या घाट का ठीका गवर्नमेण्ट से या डि. बोर्ड से लेता है। ठीकेदार और मल्लाह दोनों ही चाहते हैं कि जितने ज्यादा पशु नाव के द्वारा पार होंगे उतना ही ज्यादा पैसा हमें खेवा के रूप में मिलेगा। इसलिए पशुओं का मेला उस दल के फायदे का है। वह दिल से मेले में ज्यादा पशु चाहता है। उसी दल के जैसा एक चौथा दल पशुओं के व्यापारियों का है जो दूरदराज से झुण्ड के झुण्ड गाय-बैलों को खरीद कर मेले में लाता और इस प्रकार उनकी खरीद बिक्री से फायदा उठाता है। इसलिए यह भी स्वभावतः मेले की तरक्की चाहता है जिसका पुनरपि साफ अर्थ है ज्यादा गाय-बैलों की बिक्री। मैंने देखा कि सारन और खास कर चम्पारन जिले के व्यापारी झुण्ड के झुण्ड पशुओं को गंगा पार करके उस मेले में लाते हैं।

अब दो दल और रह जाते हैं जो इस पशु बिक्री के समर्थक हैं। एक तो आस-पास की देहात के खरीद-बिक्री करने वाले या ऐसे लोग भी जो गिरोह के गिरोह पशु खरीद कर दूसरी देहात या और मेलों में बेचते हैं। सामान्यतः तो देहात के लोग आसानी से मेले में अपने गाय-बैलों को बेच-खरीद लेते हैं। लेकिन जिस प्रकार बेचने

वाले व्यापारी पशुओं के दल लाते हैं उसी प्रकार ऐसे खरीदार भी होते हैं जो वहाँ से खरीद कर अन्यत्र बेचते हैं और इस तरह पैसे कमाते हैं। दूसरा दल कसाइयों का है जो आसानी से बेखटके मेलों में ही गाय-बैल खरीद कर कसाईखानों में बेचता है। उसके लिए मेले से बाहर खरीदना शायद ही सम्भव हो। उसमें खतरे और दिक्कतें भी हैं। चोरी से खरीदना होगा नाम बदलकर। खर्च भी ज्यादा पड़ेगा। परेशानी भी खूब होगी। कहीं पता लग गया तो लूटपाट, मारपीट और खून खराबी का भी डर है। इसलिए ये लोग भी मेलों की तरक्की चाहते हैं।

सबके ऊपर सरकार है जो इन मेलों की रक्षक बनी बैठी है। उसे यह भी देखना है कि कंटोन्मेंटों (फौजी छावनियों) में गोरे सिपाहियों को बराबर मांस मिल सके। इसलिए जहाँ वह एक ओर मेले की रक्षा चोर-बदमाशों से करती है, ताकि वह बेखटके खरीदकर पशुओं को छावनियों में पहुँचाया करें। अगर ये मेले न हों तो सरकार के लिए भी एक पहेली खड़ी जो जाय कि छावनियों के लिए पशु कहाँ से कैसे खरीदे जायँगे। इस पहेली को सुलझाना उसके लिए भी आसान नहीं, अत्यन्त कठिन, वरन् असम्भव सी बात है। इसलिए वह भी स्वभावतः मेलों की खैर मनाती ही है। इस प्रकार इन पशुमेलों के समर्थक पूरे सात दल हैं।

ऐसी परिस्थिति में मैंने नासमझी से सोचा कि आज हिन्दू-मुसलिम मेल का युग है और यह गाय तथा कसाई का सवाल ही सबसे बड़ा बाधक इस मेले में है। क्योंकि तब मस्जिद के सामने बाजा और मन्दिर में पूजा, आरती या घड़ियाल बजाने का प्रश्न उठा ही न था और अगर कहीं उठा भी हो तो किसी को उसका आम पता न था। यह तो पीछे उठा है। यह असहयोग युग के बाद की बात है जब 1924 में और उसके बाद शुद्धि और तंजीम की विकट समस्याएँ आ खड़ी हुईं। उसी समय उन्होंने इन पहेलियों को जन्म दिया जो शुद्धि और तंजीम के झगड़े खत्म हो जाने के बाद भी नहीं सुलझी हैं। प्रत्युत प्रतिदिन पेचीदा बनती जा रही हैं।

इसीलिए मैंने सोचा और साथियों से राय की कि कोशिश करके इस सवाल को हल कर दिया जाय। राय बैठ गयी और हमने आसपास के जिलों को भी खबर भेज दी कि आप लोग भी कोशिश करके लोगों को अपने-अपने जिलों में समझा दें, कि ब्रह्मपुर में गाय, बैल न लायें। मगर असली काम तो था हमारा शाहाबाद जिले में ही मेले के चारों ओर के इलाके में प्रचार करना। इसके बाद मेले के समय हमने उसके चारों तरफ के रास्तों पर मेले से कुछ दूर कसके पिकेटिंग करवाई कि कोई भी आदमी गाय-बैल मेले में न ला सके। उधर हमने अपने स्वयंसेवकों के दल के दल मेले में लगा दिये कि जो पशु आ भी जायँ उन्हें कसाइयों को खरीदने न दिया जाय। इसका सीधा रास्ता हमने यह निकाला कि यत्न करके कसाइयों को जान लिया और उनके साथ-साथ अपने आदमी लगा दिये। जहाँ ये कसाई जाते वहीं पर धीरे से हमारे आदमी लोगों से कह देते कि यह कसाई है।

इस प्रकार हमने पूरी बन्दिश तो की। लेकिन अब हमारी दिक्कतें सुनिये। कसाई लोग बेखटके और बड़ी ही शान्ति से रोक लिये तो गये। मगर वे नफे के लिए आये थे और अब घर का पैसा खर्च करके लौटना उनके लिए मौत थी। उस पर खूबी यह कि सरकार और पुलिस उन्हें खरीदवाने के लिए तैयार थी और जरूरत होने से हमारे आदमियों की धरपकड़ भी करती। ऐसा हमें मालूम भी हुआ। मगर तब जब हमने किसी प्रकार कसाइयों को स्टेशन पहुँचा दिया। कसाई लोग डरते भी थे कि कहीं मारपीट न हो जाय। लेकिन पुलिस के बल पर हिम्मत भी रखते थे। इतना ही नहीं। हमने वहीं पर देखा कि कसाइयों के एजेण्ट ब्राह्मण और दूसरे हिन्दू थे जो माथे पर चन्दन की बड़ी टीका लगा तथा कंठी बाँध कर यह काम करते थे। हमने कइयों को पकड़ा भी था। इन एजेण्टों के बल पर भी कसाइयों को हिम्मत होती थी। हमें डर था कि यदि सरकारी पुलिस ने जोर देकर खरीद करवाई तो दंगा हो जायगा और सारा गुड़ गोबर हो जायगा। इसलिए हम भी डरते थे और कसाई भी। इस तरह वे लोग जैसे-तैसे राजी हुए कि कम-से-कम लौटने का टिकट तो कटवा दीजिये। क्योंकि नफा तो खत्म ही है। खैर, इतना भी तो हो। हमने भी गनीमत समझी और बड़ी दिक्कत से मेले में दो सौ से ज्यादा रुपये चटपट जमा कर उन्हें स्टेशन पहुँचाया तब कहीं साँस ली।

मगर इस बीच में जो असली संकट आया वही तो मजेदार है। हिन्दू एजेण्टों की बात तो मामूली थी। ज्यों ही हमने मेले के चारों ओर पिकेटिंग शुरू की, कि वहाँ के जमींदार हम पर आगबबूले हो गये। वे कहने लगे कि आप तो हमारा मेला तोड़कर हमारी आमदनी चौपट कर रहे हैं! मन्दिर के पण्डे अलग बिगड़े! उन्होंने हो-हल्ला मचाना शुरू किया कि जब गाय-बैल यहाँ आयेंगे ही नहीं तो आदमी क्या आयेंगे? फिर तो हमारा चढ़ावा ही जाता रहेगा, हमारी आमदनी ही घट जायगी! इसलिए आप लोग हमारे शत्रु हैं। जो लोग झुण्ड-के-झुण्ड पशु लाते थे रोकने पर उनने अलग रोना-चिल्लाना शुरू किया कि बाप रे बाप, हजारों रुपये लगा कर हमने पशु खरीदे हैं। हम तो एक ही बार लौटाने पर उजड़ जायँगे और हमारे बाल-बच्चे मर जायँगे। उधर गंगा के किनारे घाट का ठीकेदार और मल्लाह कहते थे कि पशुओं की आमदनी ही तो असल चीज है। अगर आपने यही रोक दी तो हमारा तो दिवाला ही समझिये लड़के-बाले भूखों मरेंगे। इतना ही नहीं, घर-बार बेचकर हमें सरकार को ठीके का पैसा चुकाना पड़ेगा। इन सबों के सिवाय देहात के लोग अलग बिगड़ते थे कि हम लोगों का तो बराबर का प्रोग्राम ही खत्म हो रहा है। हमारी खरीद-बिक्री, जो निहायत जरूरी और आसान है, मिट्टी में मिल रही है। मेले के दूकानदारों की भी कुछ ऐसी ही हायतौबा थी। सरकार तो रंज थी ही और कलेक्टर साहब के रोष से उस बार हम लोग कैसे बचे यह भी एक कहानी ही है।

यह भी जान लेना चाहिए कि सरकार को छोड़कर, जो इतना खुल कर आगे

आयी भी नहीं, शेष सभी ऊपर के बताये अच्छी तरह आगे आये और हमारे खून के प्यासे बन गये। खूबीं तो यह कि वे सभी के सभी हिन्दू ही थे, सो भी ब्राह्मण क्षत्रियादि। यही लोग गोरक्षा और कसाई का तूफान बहुत मचाते हैं। अगर कसाई गौ खरीद ले तो इन्हीं का धर्म रसातल चला जाता है, इन्हीं के भगवान् रंज हो जाते हैं और इन्हीं के लिए रौरव नरक का द्वार खुल जाता है! यही लोग गोरक्षा और गाय गुहार की पुकार दिन-रात मचाते रहते हैं। मगर इनने ही हमारे गोरक्षा के सर्वश्रेष्ठ मार्ग का जी-जान से विरोध किया। हम सबों को ही लाख समझाते रह गये कि आप ही के धर्म की बात हैं, जिसे आप ही पुकारते हैं। मगर सुने कौन? हमारी दलील, हमारी सरतोड़ कोशिश तो आँधी के सामने पंखे की हवा की तरह थी। फिर उसका असर क्यों होने लगा?

इसका कारण क्या था? यही न, कि धर्म और भगवान् उनके सामने आये तो सही, रुपये-पैसे के खिलाफ, रुपये पैसे के विरोधी बन कर। इसीलिए उनका तिरस्कार हुआ। वे सँभलकर नहीं आये। उन्होंने और हमने भी यह नहीं सोचा कि किसके विरोध में खड़े हो रहे हैं। वही तो भारी भूल थी। छोटे धर्म और छोटे भगवान् ने बड़े धर्म और बड़े भगवान्—पैसे का—विरोध किया और पछाड़े गये। अध्यात्मवाद (Spiritualism) की भौतिकवाद (materialism) से जम के भिड़ंत हुई और अध्यात्म बुरी तरह पछाड़ा गया। उसे आगे के लिए कसके चेतावनी दी गयी कि खबरदार, ऐसी भूल फिर कभी न करना, नहीं तो नतीजा देखा न? मेरी तो आँखों का पर्दा ही खुल गया। मैंने साफ देखा कि धर्म का प्रश्न किस कदर बाहरी और दिखावटी है। यह कितने धोखे की चीज है। मेरी कट्टर धार्मिक भावना को बड़ी ठेस लगी और मैं तिलमिला गया।

यद्यपि यह एक ही दृष्टान्त धर्म की असलियत पर काफी प्रकाश डालने वाला था। तथापि उस समय मैंने उसे इतने व्यापक रूप में नहीं लिया। मैंने सिर्फ इतना ही परिणाम निकाला कि हिन्दुओं का गोरक्षा का प्रश्न ढोंग और फरेब है, दिखाऊ और बनावटी है। अतः इसमें कभी साथ नहीं देना चाहिए। मैंने यह भी मान लिया कि इस प्रकार गोरक्षा का प्रश्न निरी नादानी है और हिन्दू इसे कर भी नहीं सकते। मैंने इस गोहत्या का दोषी तब से सोलहों आने हिन्दुओं को ही मानना शुरू कर दिया और आज भी मेरी वह स्थिति ज्यों की त्यों है।

यह ठीक है कि वह घटना समस्त धर्म के नाम और वास्तविक रूप पर पूरा प्रकाश डालने वाली थी, न कि किसी खास धर्म के ऊपर। मैंने आगे चलकर यही समझा भी। मगर उस समय उसका इतना व्यापक निष्कर्ष निकालना मेरे लिए असम्भव था। एक तो धर्म का भूत पहले से ही सिर पर सवार था। दूसरे उसी धर्म-भावना से प्रेरित होकर राजनीति में आया था। तीसरे गांधी जी राजनीति को धर्म से अलग मानते ही न थे और इसीलिए उसके सभी पहलुओं को धार्मिक रूप दे रहे थे। और

मैं था उन दिनों उनका कट्टर हिमायती। नियमित रूप से यंग इण्डिया पढ़ता था। इसलिए सहसा मेरे लिए यह असम्भव था कि पूरे धर्म के सम्बन्ध में ही वैसा निष्कर्ष उस घटना से निकालूँ।

सच बात तो यह है कि बाहरी दुनिया का उस समय वैसा पूरा और निकट से अनुभव भी मुझे न था। लेकिन पीछे तो अनुभव ने बताया है कि धर्म की वही हालत ही है। फलतः आज धर्म के बारे में मेरी विचित्र परिस्थिति है। एक ओर तो पचासों वर्षों का पूरा संस्कार है और उसी के साथ गीता मेरी रगों में भिनी हुई है। दूसरी ओर ठीक उसके विपरीत जीवन भर के अनुभव हैं, सो भी अत्यन्त निकट से। इसलिए आगे क्या होगा यह कह नहीं सकता। **लेकिन यह ठीक है कि आज धर्म के सम्बन्ध की मेरी पुरानी धारणाएँ छिन्न और निर्मूल हो गयी हैं और उसके बारे में मेरे विचारों में क्रान्ति हो गयी है।** उसके लिए जिस रूप में जैसा स्थान मेरे दिल में है उसका वर्णन अन्त में मिलेगा। फिर भी इतना तो ठीक ही है कि धर्म सार्वजनिक वस्तु नहीं है और न वह सबके लिए है भी। यह तो अपवाद-रूप ही किसी-किसी के लिए है, न कि नियम के रूप में। सो भी बिलकुल व्यक्तिगत चीज है। उसका भी रूप मैं कुछ निराला ही मानता हूँ जो प्रचलित धारणा से सर्वथा भिन्न है।

(5)

अहमदाबाद कांग्रेस

जैसा पहले कहा है, साल बीतते-न-बीतते मैं गाजीपुर चला गया और वहीं काम में लग गया। वहीं से हम कई साथियों के साथ अहमदाबाद कांग्रेस में शामिल होने के लिए रवाना हो गये। हमने रास्ते में कई बातें देखीं। एक तो जयपुर में उतर कर वहाँ का जेलखाना देखा। हमें यह देख कर खुशी और आश्चर्य दोनों ही हुए कि वहाँ के कैदी पशु बनाकर या अपमानित करके नहीं रखे जाते थे। उन्हें हमारी जेलों जैसे धारीदार कपड़े भी नहीं मिलते थे। गाँछिया, टोपी आदि न देकर धोती, गमछी दी जाती थी। वायुमण्डल ऐसा था कि वे अपने को उठा सकें, न कि और गिराते जायँ जैसा कि ब्रिटिश-भारत की जेलों में होता है। सबसे बड़ी बात यह थी कि गलीचे, दरी आदि कारीगरी के ऐसे काम उन्हें सिखाये जाते थे कि बाहर जाकर दो-चार रुपये रोजाना आसानी से कमा सकें। ऐसा हमें बताया गया। हमने वहाँ की बनी चीजें देखी भी। यह भी कहा गया कि एक बार जो इस जेल से बाहर जाते हैं वे शायद ही फिर कभी आते हैं!

दूसरी बात यह थी कि रास्ते में हमारी गाड़ी जयपुर के आगे नहीं रुकती थी

वहीं पंजाबियों का एक दल चट करताल आदि लेकर स्टेशन पर उतर पड़ता और, 'नहि रखनी सरकार जालिम, नहि रखनी' गीत गाने लगता। इस उमंग और तानसुर के साथ मस्ती में यह गीत वह लोग गाते थे कि दंग रह जाना पड़ता था। इससे स्टेशनों पर भीड़ एकत्र हो जाती थी।

कांग्रेस के अध्यक्ष देशबन्धु चितरंजन दास थे। मगर सरकार ने उन्हें पहले ही कैद कर लिया। फलतः हकीम साहब अजमल खाँ को सदारत करनी पड़ी। कांग्रेस में जोश की बात तो कहिये मत। लहरें उमड़ रही थीं। उसी अधिवेशन में सत्याग्रह के नियम और प्रतिज्ञा-पत्र पास हुए थे। वहीं मौलाना हसरत मुहानी ने कांग्रेस के ध्येय से (स्वराज्य) पद निकाल कर (पूर्ण स्वतन्त्रता) रखने का संशोधन पेश किया था जो गांधी जी की बातों का अन्ध भक्त था। अतः मुझे मौलाना की बात कुछ रुची नहीं। यह तो न जाने कितने दिनों के बाद ठीक जँची है और अब तो उतने से भी मेरा काम चलता नहीं दीखता। अब तो उस पूर्ण स्वतन्त्रता की भी पूरी सफाई चाहता हूँ। मौलाना वहीं पर मुसलिम लीग के अधिवेशन के अध्यक्ष थे। उसी पद से जो भाषण उन्होंने दिया उसी पर पीछे उन पर केस चला और वे कैद हो गये। आज की मुसलिम लीग में और तब वाली में जमीन-आसमान का अन्तर था। आज कवि के शब्दों में "वह बुलन्दी यह तबाही, वह जलाल और यह जवाल" उसके बारे में अक्षरशः चरितार्थ होता है।

गांधी जी का भाषण मैंने बहुत ही ध्यान से सुना, सुनने ही लायक था। टेबल पर बैठकर बोल रहे थे। सारा शरीर खास कर चेहरा सुर्खी लिये हुए था। मालूम होता था बड़ी गम्भीरता के साथ काल के रूप में कोई शक्ति सरकार को ललकार रही और चेतावनी दे रही है कि सँभल जाय। घण्टों बोलते रहे। पण्डाल में पूर्ण शान्ति बिराजती थी। उनका वैसा भाषण और वैसा चेहरा मैंने फिर कभी नहीं देखा। उनके एक-एक शब्द सरकार के लिए वज्र की तरह मालूम पड़ते थे। मालूम होता था कि कालाग्निरुद्र बोल रहा है, गर्ज रहा है और इसके बाद ही प्रलय लायेगा।

एक बात कहना मैं भूल ही गया। सरकार का रवैया दिसम्बर आते-न-आते बदल चुका था। क्रिमिनल लॉ एमेण्डमेण्ट क़ानून लागू करके उसने स्वयंसेवक भर्ती करने या बनने की मनाही कर दी थी। इसलिए जगह-जगह से लोग जिलों के मजिस्ट्रेटों को पत्र लिखने लग गये थे इस बात की सूचना के रूप में, कि हम स्वयंसेवक भर्ती करते और बनते हैं। सरकार को ललकारने का सोचा गया था। अभी शीघ्र ही युक्त प्रान्त की कांग्रेस कमिटी के 55 सदस्य मीटिंग के समय एक ही साथ पकड़े गये भी थे। कारण, वह गैरकानूनी संस्था करार दी गयी थी। इसलिए सरकार को ललकारना जरूरी हो गया था। हम जो तीन-चार आदमी गाजीपुर से डेलिगेट होकर अहमदाबाद गये थे उनमें कुछ ने रवाना होने के पहले ही मजिस्ट्रेट को यह सूचना भेज दी थी। बाकियों ने, जिनमें मैं भी था, ट्रेन से ही लिख भेजा। इसका परिणाम यह हुआ कि

अहमदाबाद से लौटते ही मेरी जेल यात्रा की तैयारी हो गयी।

यहाँ जेल यात्रा की तैयारी के सम्बन्ध में यह भी लिख देना है कि मैंने जेल की तकलीफों को सोचकर उनके लिए अपने को पूर्व मे ही, कई महीने से, तैयार किया था। अभी तक तो जेल का मौका आया ही नहीं था। सिर्फ लोगों की जबानी उसके कष्ट सुने थे। तदनुसार ही तैयारी की थी।

मेरी एक आदत पढ़ने के समय से ही थी। मैं सिर में सोने के समय कोई ठण्डा तेल, आम तौर से तिल का बराबर लगाया करता था। वह निहायत जरूरी था। हालत यह हो गयी थी कि एक दिन भी न लगने पर सारा माथा ही गर्म हो जाता था और दर्द करने लगता था। मैंने सोचा कि बीसियों साल की यह आदत जेल में बहुत परेशान करेगी। इसलिए पहले से ही तेल छोड़कर अभ्यास कर लेना चाहिए। ताकि उसके बिना काम चल सके। इसलिए बक्सर में रहने के समय से ही मैंने उसे छोड़ दिया था। मैंने पहली बार विशेष रूप से अनुभव किया कि मनुष्य के संकल्प और दृढ़ निश्चय में बड़ी ताकत है और इसके बल से वह जो चाहे कर सकता है। इसीलिए संकल्प करके तेल का सेवन छोड़ देने पर मुझे एक दिन भी कष्ट नहीं प्रतीत हुआ। प्रत्युत बराबर तेल की चिन्ता उसे लगाने और कपड़ों के गन्दे हो जाने की फिक्र से मैं सदा के लिए बच गया। तब से आज तक मैंने सिर में तो कभी तेल लगाया नहीं। देह में तो उससे पहले से ही लगाना और मालिश करना न जानें कब से छूटा था। आज भी छूटा ही है। फलस्वरूप ज्वर होने पर भी देह में दर्द भले ही हो। लेकिन सिर में दर्द होता ही नहीं। यों भी सिर दर्द ने मुझे तब से कभी नहीं सताया। जाड़े के दिनों में तेल न लगाने से शरीर में रुखड़ापन आने की बात भी मैंने नहीं पायी। बेशक इधर दो वर्षों से दोनों पाँवों के तलवों में सोने के समय जरा सा कड़आ तेल की मालिश करता हूँ। क्योंकि इधर उम्र ज्यादा होने से जब कभी ज्यादा बोलता या लम्बा भाषण करना पड़ता है तो सिर में एक तरह की खुश्की सी मालूम पड़ती है इस मालिश से खत्म हो जाती है। जाड़ों में खुश्की से होठ भी अब कभी नहीं फटते।

(6)

पहली जेल यात्रा–गाजीपुर में

अहमदाबाद से लौटते ही गाजीपुर में स्टीमरघाट पर खुफियापुलिस के दर्शन हुए। वह परेशान सी नजर आयी। **1 जनवरी 1922 की बात है।** हमने समझ लिया कि अब गिरफ्तारी होगी। हुआ भी ऐसा ही। जहाँ तक याद है, 2 जनवरी को पुलिस के अफसर जिला कांग्रेस कमिटी के कार्यालय में सवेरे ही पहुँचे और दिन निकलते

न निकलते उनने हमें तैयार हो जाने की सूचना दी। फिर क्या था? नहा-धो के और कुछ खा-पी के हम तैयार हो गये। मालायें पहन-पहना कर कोतवाली लाये गये और वहाँ से जेल के भीतर दाखिल हुए।

हमने अन्दर जाते ही एक गूँजती आवाज सुनी जो बहुत ही तेज थी। हम समझ न सके कि यह क्या बला है। इतने में जेलर ने आ के कहा कि बलिया जिले से कुछ राजनीतिक बन्दी यहाँ आये हैं। वे काम तो कुछ करते ही नहीं। उलटे तूफान मचाते और चिल्लाते हैं। मैं भौंचक सा रह गया। क्योंकि गांधी जी की सख्त आज्ञा थी कि जेल के सभी नियम माने जायँ और कोई गड़बड़ी न की जाय। जेलर ने कहा कि जरा चल के समझा दीजिये। मैं गया। वहाँ पर, चक्की घर में, बलिया के परिचित कार्यकर्त्ता मिले। उन्हें गेहूँ पीसने का काम मिला था। मगर वे तो गेहूँ पीसने के बजाय उसमें मिले एकाध चने को चुन-चुन कर खाते और 'महात्मा गांधी की जय' चिल्लाते थे। मुझे देखते ही चुप हो गये। दण्ड प्रणाम के बाद अहमदाबाद कांग्रेस की बात उत्सुकता से पूछने लगे। मैंने संक्षेप में सब कुछ बता कर पूछा कि यह चिल्लाहट क्यों? काम करने से इनकार क्यों? उत्तर मिला कि हम तो नारे लगाते हैं। पहले जो नारे लगाते थे उन्हें आज क्यों छोड़ दें? काम भी क्यों करें? मैंने कहा कि 'गांधी जी की जय' बोलते हैं। उन्हीं की बात मान कर जेल आये हैं। यह उन्हीं की आज्ञा है कि जेल के सभी नियमों की पाबन्दी होनी चाहिए। काम करना चाहिए और नारे बन्द होने चाहिए। उन्होंने उत्तर दिया कि "वाह हम दुश्मन की मदद काम करके क्यों करें? नारे भी क्यों बन्द करें?" गो कि उस समय उन्होंने मेरे लिहाज से नारे बन्द कर दिये। फिर भी मैं उन्हें समझा न सका। मैं इस काम में असमर्थ रहा। फलतः न तो उनके नारे बन्द हुए और न उनने काम हीं किया। तब तक तो शीघ्र ही मैं कुछ लोगों के साथ बनारस जेल भेज दिया गया।

इस घटना ने मुझे निराली दुनियाँ में पाया। मैं ताज्जुब में था कि यह क्या हो रहा है? गांधी जी की आज्ञा का उल्लंघन पढ़े-लिखे लोग इस प्रकार क्यों करते हैं? मुझे 'गांधी जी की जय' के साथ-साथ उनकी आज्ञा की यह भयंकर अवहेलना बुरी तरह खली। मुझे लक्षण अच्छे न दिखे। तब से मैंने बराबर यह बात पायी। दूसरी बार जब सन् 1930 ई. में हजारीबाग जेल में था तो वही बात देखी। गांधी जी का जहाँ तक जेल नियमों के बारे में आदेश था वहाँ तक वह कतई लापता थे। उनकी बातों की रत्तीभर भी परवाह प्रथम और दूसरे विभाग के राजबन्दी नहीं करते थे, हालाँकि देश के वही नेता थे। आगे स्वराज्य की सरकार भी उन्हें ही चलानी है। मैंने देखा कि हजारीबाग जेल में राजेन्द्र बाबू भी असमर्थ थे। उनकी परवाह कोई न करता था। इसीलिए तभी से मैंने बार-बार सोचा और इधर और अनुभव होने पर मन-ही-मन कहा कि एक दिन 'गांधी जी की जय' बोलकर उनकी हत्या लोग ठीक इसी प्रकार कर सकते हैं यदि जरूरत समझें, जिस तरह आज उनके आदेशों

की हत्या कर रहे हैं। 'महावीर की जय' बोल कर लूटपाट करने, आग लगाने या मुसलमानों के साथ मारपीट करने का अथ भी मैं उसी समय समझ पाया।

असल में चाहे हम लाख आदर्शवादी बनें और उसका प्रचार करना चाहें। लेकिन जनता की अपनी कसौटी होती है चीजों के तौलने की। उसके अपने रास्ते होते हैं काम करने के। अगर हमारी बातें उसकी कसौटी पर खरी उतरें तब तो ठीक है। तब तो वह उनकी पाबन्दी अच्छी तरह करेगी। लेकिन खरी न उतरने पर उन बातों के अमल के नाम पर उलटी बातें करेगी। इसी प्रकार उसके अपने रास्ते से भिन्न रास्ते पर यदि आप उसे चलाना चाहेंगे तो यही खतरा होगा। कुछ समय तक या आपके सामने भले ही वह आपके रास्ते पर चलती नजर आये। लेकिन पीछे तो खामख्वाह वह अपना चिरपरिचित रास्ता ही पकड़ेगी। यह ध्रुव सत्य है। संसार का और उसमें पैदा होने वाले अनेक धर्म, मजहबों एवं सभ्यताओं का इतिहास साफ बताता है कि समय-समय पर अवतार, पेशवा, पैगम्बर, मसीहा या ऋषि-मुनि पैदा होते हैं सही। वे एड़ी-चोटी का पसीना एक करने के बाद बड़ी कठिनाई से कुछ ही समय के लिए कुछ लोगों को सत्य, नम्रता, दया आदि के रास्ते पर लाते हैं भी। लेकिन फिर उनके हटते ही ढीलापन और गड़बड़ घोटाला अपना सिर उठाने लगते हैं। यह बात पहले तो नहीं मालूम पड़ती। मगर पीछे साफ दीखने लगती है और कुछ दिनों के बाद 'वही रफ़्तार बेढंगी' शुरू हो जाती है। हजारों और लाखों वर्षों की इन सबों की कोशिशों के बाद भी इस दुनिया में वही असत्य, वही निर्दयता, वही अनाचार-व्यभिचार आदि भीषण रूप से आज भी पाये जाते हैं! गोया कुछ हुआ ही नहीं!

जो सुधारक या पेशवा दुनियाँ की इस सहज प्रवृत्ति, उसकी अपनी कसौटी और उसकी निजी राह पर दृष्टि न करके, या यों कहिये कि उसकी अवहेलना करके अपने किसी भी आदर्शवाद का प्रचार करना चाहता है वह चट्टान से अपना माथा टकराता है! उस समय तो नहीं जिसका यहाँ जिक्र कर रहा हूँ, परन्तु आज और कुछ दिन पहले से भी मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ। **खेद है, गांधी जी आज भी इस प्रकट सत्य को, सुनने वालों के लिए पहाड़ की चोटी से पुकारने वाले सत्य को, इन गत बीस वर्षों के अनुभवों के बाद भी, समझ न सके हैं। ऐसा लगता है कि वह शायद समझना भी नहीं चाहते!**

खैर, तो जल्दी ही मेरा केस एक डिप्टी मजिस्ट्रेट के सामने पेश हुआ। न्याय का स्वांग किया जा कर, जैसा कि उस जमाने में बराबर होता था। क्योंकि कांग्रेस वाले पैरवी तो करते न थे और अपराध स्वीकार कर लेते थे, मुझे एक साल सख्त कैद और पच्चीस रुपये जुर्माना और न देने पर एक मास का और सख्त कैद—यों कुल मिलाकर पूरे तेरह मास सख्त कैद—की सजा सुना दी गयी! क्रिमिनल लॉ एमेण्डमेंट की दूसरी या (ब) धारा के अनुसार यह दण्ड दिया गया। इसके बाद तो गले में

बाकायदा तख्ती (तौक) जेल में पहुँचते हो पहना दी गयी, जेल के कपड़े भी मिल गये और मैं पूरा कैदी बन गया। पीछे मेरे वे तीन-चार साथी भी इसी प्रकार पकड़ के आ गये और कैदी भी बन गये।

आगे बढ़ने के पूर्व एक बात कह देनी है। सदा से ही खाने-पीने में सफाई और तन्मूलक छुआछूत का तो मैं पक्का पक्षपाती था। यहाँ तक कि रेलगाड़ी में बैठकर या हलवाई की दूकान की मिठाई तक न खाता था। यह बात इधर कुछ वर्षों के भीतर और भी सख्त हो गयी थी, खास कर बाजार की पकी-पकाई चीजें न खाने के बारे में। उधर जेल में घुसते ही मैंने देखा कि वही लोहे के बर्तन हैं जो ठीक-ठीक मले तो कभी जाते ही नहीं। यों ही कुछ धो-धाकर छोड़ दिये जाते हैं। धोने की सिर्फ रस्म अदाई होती है! पानी भी ऐसी जगह भरा रहता है कि जूठा तो होई जाता है। खामख्वाह जूठे हाथ और बर्तन उसमें डाल दिये जाते ही हैं। यह देखते ही मैं झल्ला गया। फलतः जेल का खाना खाने की हिम्मत हो न सकी। वह पानी भी न ले सका। इसलिए एक-दो दिन कुछ खाया-पिया ही नहीं। फिर तो जेलर ने दूध देने का प्रबन्ध किया। इसी बीच तो हमें बनारस भेजने की आज्ञा आ गयी। फिर तो वहीं जाना पड़ा। इस प्रकार गाजीपुर जेल में चन्द ही दिन कटे। यह अच्छा था कि जहाँ संन्यास से पूर्व पढ़ने-लिखने में कई साल गँवाये वहीं, राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने पर पहले केस चला और जेल यात्रा हुई!

(7)

बनारस जेल–अनशन

गाजीपुर से बहुतेरे साथियों के साथ हम बनारस जेल भेजे गये। भेजने के पूर्व ही हमारे गले से वह तख्ती (तौक) हटा ली गयी। हम इसका रहस्य समझ न सके। बनारस के जिला जेल में हम सभी पहुँचाये गये। वहाँ कुछ लोग पहले ही युक्त प्रान्त के और जिलों से लाये जा चुके थे। उनकी संख्या अभी अधिक न थी। लेकिन रोज ही आने वालों का ताँता बँधा रहता था। वहाँ हमें अपने कपड़े पहनने को मिल गये। खाने-पीने का वहाँ स्वतन्त्र प्रबन्ध था। लोग अपना खाना बनाने की फिक्र अलग कर लेते थे। इसलिए मेरे खाने का प्रश्न हल हो गया और अनशन की जरूरत नहीं रही। वहीं जेल में काशी के परिचित लोग भी कभी-कभी मिल जाया करते थे। हमारे दण्डी साथी भी मिल गये। हाँ, मेरा दण्ड जेल में साथ ही गया और हिफाजत से पड़ा रहता था। वहीं पर पहले पहल विशेष रूप से श्री कृपलानी से परिचय हुआ। उनके साथ गांधी-आश्रम (खादी केन्द्र) के बीसियों युवक भी थे। श्री सम्पूर्णानन्दजी से तो काशी में मेरा पहले का ही परिचय था। वह भी जेल में आ गये थे। गोरखपुर

के बाबा राघव दास से मुलाकात वहीं हुई। युक्तप्रान्त के हर जिले के प्रायः तीन-चार सौ राजबन्दी वहाँ जमा हो गये थे। उनमें सभी धर्मों और सम्प्रदायों के मानने वाले लोग थे।

आज जो लोग गांधीवाद के पुजारी बन गये हैं वह उस समय क्या करते थे इसका नमूना मैंने वहाँ पाया। पता चला कि युक्तप्रान्त के सभी जिलों के पहले दर्जे के राजबन्दी वहीं रखे जाने को थे। सरकार का यही निश्चय था। इसलिए उसी श्रेणी के लोग वहाँ लाये गये थे। फलतः उनकी मनोवृत्ति से पूरा पता चल जायगा कि कितनी दूर तक गांधी जी के आदेशों को वे मानते थे।

एक दिन ऐसा हुआ कि शाम को नियमानुसार गिनती होने में गड़बड़ी हुई। **श्री कृपलानी जी का ही दल** उसका कारण बना। उन लोगों ने अपने में से एकाध लड़कों को न जाने कैसे-कैसे कई बार छिपाया कि हर बार गिनती पूरी करने पर भी वह ठीक नहीं हो सकी। फिर सेण्ट्रल जेल के जेलर और उनके आदमी भी आये। रात ज्यादा हो गयी, वे गिनती करने लगे। फिर भी सफल होते न देख अन्त में 'हो गई' कह के वे लोग चलते बने और द्वार बन्द कर दिया। तब से उन्हें चिढ़ाने के लिए 'हो गई, हो गई' निकाला गया। जेलवालों को देखते ही ये लोग हँस देते और 'हो गई, हो गई' कह देते। लोहे के तसलों को कभी-कभी बहुत रात तक ये लोग बजाते रहते और ऊधम मचाते रहते। वही एक दल था जो यह सब बातें करता था। आज तो वही गांधी जी का पक्का अनुयायी माना जाता है। मिस्टर हार्वी नामक एक ईसाई सज्जन वहाँ के सुपरिन्टेण्डेण्ट थे और थे भी बहुत भले। मगर सरकारी नौकर थे यही उनका भारी अपराध था। उन्हें किस कदर हमारे साथियों ने बार-बार दिक किया यह कहा नहीं जा सकता। यह देखकर एक दिन मेरे जी में सहसा यह आया कि मिस्टर हार्वी ही गांधी जी के आज्ञाधारी इस मानी में हैं कि इतने शान्त हैं और हमीं लोग उनकी अपेक्षा जरायमपेशा जैसे मालूम पड़ते हैं।

बाँदा जिले के कुछ लोग वहाँ थे। पता लगा कि उनमें एक लम्बी दाढ़ी वाले ब्रह्मचारी जी भी हैं। वह पीछे एकाएक अनशन करने लग गये। एक-दो दिनों के बाद इसकी चर्चा उनके साथियों में चली और वे लोग भी उसमें पड़ गये। तीन-चार या छः-सात दिनों के बाद शेष लोगों में भी सनसनी मची और सबों की मीटिंग की तैयारी हुई कि अब बाकियों का क्या कर्त्तव्य है। उसी समय मैं भी बुलाया गया। तभी मुझे पता चला कि यह अनशन हफ्तों से चल रहा है। पहले यह बात इतनी न फैली थी। मीटिंग में मैंने देखा कि सभी लोग अनशन करने की ओर झुक रहे हैं। मुझे ठीक न जँचा। **न जाने क्यों मैं स्वभाव से ही अनशन का और खासकर जेल के अनशन का, विरोधी रहा हूँ।**

मैंने प्रश्न किया कि आखिर जान देने की तैयारी क्यों की जाय? कोई बड़ा कारण भी तो हो। कहा गया कि जब साथी लोगों ने हफ्तों से कर रखा है तो हमें

भी अब उसमें पड़ना ही चाहिए। मैंने कहा कि यह रास्ता ही गलत है। **किसी के आगे बढ़ जाने से हमें भी उसमें पड़ना ठीक नहीं।** हाँ, अगर जिस उद्देश्य से वे लोग इसमें पड़े हैं वह ठीक है और उसका तकाजा है कि हम पड़ें तो जरूरी ही हमें भी अनशन करना चाहिए। लेकिन अगर वही गलत है तो हमें साफ-साफ उनसे कह देना चाहिए कि वह भी अनशन तोड़ दें।

मगर शान की बात लेकर लोगों ने मेरी बात अनसुनी कर दी। बोले कि अब हफ्तों के बाद उन्हें मना करना ठीक नहीं, वे मानेंगे भी नहीं। अतः हमारी मर्यादा का तकाजा है कि हम इसमें पड़ जायँ। यह अजीब दलील थी। लेकिन कुएँ में भाँग पड़ी थी। मेरी सुनता कौन? शान की बात ऐसी ही होती है और इसी ने न जानें कितनों को बर्बाद किया है, पथभ्रष्ट किया है।

बात यह थी कि उक्त ब्रह्मचारी जी का कहना था कि हम तो राजबन्दी हैं, चोर-डाकू हैं नहीं। अतः हमें खूब घी, दूध, हलवा वगैरह खाने को मिलना चाहिए। उन्होंने कितना मिले यह भी कुछ बताया था जो मुझे ठीक याद नहीं। वे अनशन के दिनों में लोकमान्य तिलक का फोटो सामने रख के बराबर बैठे रहते थे। यह बात तो गलत थी, गांधी जी के आदेश के विपरीत थी और हानिकर भी थी, जैसा कि आगे लिखा है। लेकिन कही तो चुके हैं कि गांधी जी की परवाह किसे थी? मर्यादा एवं प्रतिष्ठा (prestige) की बात भी तो थी।

फलतः सबने खाना-पीना छोड़ दिया। लाचार होकर मुझे भी छोड़ना पड़ा। यह भी बता दूँ कि इससे पूर्व भी दो-एक बार विवश होकर जेल के बाहर कई वर्ष पूर्व मुझे अनशन करना पड़ा था। एक बार तो छः दिनों तक कुछ भी खाया-पीया न था। एक बार शायद तीन दिनों तक। बस, यही दो बार। यह तीसरा मौका था। पहली दो बार तो अन्तरात्मा की पुकार से मजबूर था। लेकिन इस बार दूसरी ही मजबूरी थी। इसीलिए जहाँ पहले अनशन कतई खले न थे, तहाँ यह तीसरा खूब ही खला। अनशन लगातार चार दिनों तक चलता रहा और चौथे दिन, जहाँ तक याद है, शाम को टूटा। जब भूख लगती तो ठण्डा पानी पीने से कुछ शान्ति मिलती। अनशन का यही कायदा है।

तीन दिनों तक कष्ट बढ़ता गया। मगर चौथे दिन कम हो गया। कहते हैं कि प्रायः तीसरे दिन तक जठरानल तेज होता रहता है। पेट में जो कुछ स्थूल मल या पदार्थ बचा-बचाया रहता है उसे जलाता है। यह बात आम तौर से तीन दिन में हो जाती है। किसी-किसी को चार दिन लगते हैं। ज्यों ही यह काम पूरा हुआ कि जठरानल भीतर घुस के सूक्ष्म मल को जलाने लगता है। फलतः चौथे या पाँचवें दिन भूख की तकलीफ कम हो जाती है। फिर जब सभी मल को जलाकर शरीर को शुद्ध और नीरोग कर देता है तो ऊपर आता है। उसकी कोई अवधि नहीं। वह तो संचित सूक्ष्म मल पर निर्भर करता है कि आँत और नाड़ियों में कितना है, कम

है या ज्यादा। लेकिन जब मल को जलाकर वह एक बार फिर बाहर (ऊपर) आता है तो शरीर में सनसनाहट मालूम होती है। वह झन-झन करता है। इस अवस्था में खाना न मिलने पर रक्त-मांस को जलाने लगता है। तब असली कमजोरी शुरू होती है। अगर देर तक भोजन न मिला तो मौत हो जाती है। क्योंकि खून और मांस को जलाने के बाद कुछ रह जाता नहीं जहाँ प्राण रह सके। उपवास चिकित्सा वाले ये सब बातें बताते हैं।

हाँ, तो जब सबने उपवास शुरू किया तो बाहर के मित्र लोग आने लगे और समझाना-बुझाना शुरू हुआ। आखिर, यह तो बेसिर-पैर की बात थी। सो भी उन दिनों जब गांधी की बातें सबकी जबानों पर थीं। जब नौकरी, कौंसिल की मेम्बरी, वकालत, सरकारी रिआयतें और पदवियाँ आदि सभी चीजों पर हमने लात मारी तो यह मामूली सी खान-पान की रिआयत किस खेत की मूली ठहरी? फलतः इसे लोग कैसे महत्त्व देते? इसी से बाहर के सभी लोग ताज्जुब में थे कि यह क्या हो रहा है। जेल के बाहर सभी कष्टों को भोगने की तैयारी सबने की थी और जानबूझकर जेल में आये थे कि यही खाना-पीना मिलेगा। अच्छे खाने-पीने का प्रश्न भी कभी न उठाया, न उठाया गया था। फिर एकाएक यह क्या? बात तो ठीक ही थी।

इसीलिए बाहरी दोस्तों और लोगों के समझाने के बाद आखिर चौथे दिन लोगों को अपनी नादानी सूझी और अनशन तोड़ना पड़ा। यदि मेरी बात मान लेते तो इस जिल्लत से तो बच जाते। यह कहकर सन्तोष करना कि हमारे बाहरी नेताओं और मित्रों ने विवश किया, कोई समझदारी नहीं। यह तो अनशन तोड़ने के लिए एक बहाना मात्र कहा जा सकता है। क्योंकि अनशन का जो ध्येय था वह तो पूरा न हुआ। सरकार के कानों पर जूँ तक, कम-से-कम उस समय, न रेंगी। पीछे उसके फलस्वरूप सरकार ने भले ही कुछ सोचा हो। क्योंकि शायद कहा जा सकता है कि लखनऊ में फर्स्टक्लास के राज बन्दियों को जो खाने-पीने की सुविधा मिली उस पर इस अनशन का असर जरूर था। चाहे जो हो, लेकिन अनशन तोड़ने के समय तो यह बात कुछ भी न थी। फिर भी वह टूटा और सबने खाया-पीया। अगर मैं भूलता नहीं तो उस ब्रह्मचारी जी ने जल्दी में खाने-पीने में ऐसी गड़बड़ी कर दी कि उन्हें हैजा भी हो गया और शायद वह मर भी गये।

लेकिन अनशन टूटते-न-टूटते सरकार ने तय कर लिया कि बनारस जेल अब फर्स्टक्लास के बन्दियों के लिए न रख के लखनऊ जिला जेल ही उनके लिए ठीक किया जाय। यह भी चर्चा होने लगी कि उन्हें अच्छा खाना-पीना यहीं से दिया जाय, या जल्द यहाँ से लखनऊ ही भेजे जायँ। ठीक इसी समय मैंने एक पेचीदा प्रश्न उठाया जिसके चलते मुझे दूसरा बड़ा कटु अनुभव हुआ।

हम सबों के साथ हर जिले से सैकड़ों लोग जेल गये थे। अब अगर अच्छे खाने-पीने की बात चलती है तो इसका नैतिक परिणाम बुरा होगा और हममें जो

साधारण कैदी रह जायँगे वह क्या समझेंगे? यही न, कि जब बिना स्वराज्य मिले ही सरकार की दी हुई रियायतों को हमने स्वीकार कर लिया और साथियों को यों ही छोड़ दिया, तो स्वराज्य मिलने पर उसकी परवाह कौन करेगा? यही खयाल रह-रह के मुझे सताता था। यह भी मैं सोचता कि हमारा कितना पतन हो जायगा अगर हमने ये सुविधाएँ स्वीकार कीं। तब नौकरियाँ, वकालतें, कौंसिलें आदि क्यों छोड़ीं? वह भी तो आखिर सरकार की रिआयतें ही हैं। यह तो वही हुआ कि 'जन्म भर सेई काशी, पर मरने की बेर मगह के बासी'! यह तो गुनाह बेलज्जत वाली ही बात हो जायगी और सरकार की भेदनीति पूर्णतया सफल हो जायगी। क्योंकि हमारे वे साथी जो साधारण कैदी बन के रहेंगे, पीछे हमारा साथ छोड़ देंगे।

मैंने श्री कृपलानी जी तथा औरों के समक्ष यह प्रश्न उठाया और कहा कि मैं तो ये रिआयतें स्वीकार न करूँगा। उन्होंने भी कहा कि ठीक ही है, स्वीकार तो नहीं ही करना चाहिए। लेकिन जब अनशन की बात सोची तो समझना कठिन हो गया कि वह ऐसा क्यों कहते हैं। फिर भी जब सबों की, और खास कर नेताओं की राय हुई तो ठीक ही था। यों तो राय न होने पर भी मैं तो इनकार करता ही। यह तो सिद्धान्त की बात थी और जो आदमी संन्यासी होकर भी सिद्धान्त के ही लिए राजनीति में आया वह सिद्धान्त को छोड़ने क्यों लगा? यह भी बात थी कि मैं तो गांधी जी के आदेशों का पालन अक्षरशः करता था। कष्ट सहन का आदेश तो वे बराबर देते रहते ही थे।

बात यों हुई कि गाजीपुर के चार राजबन्दियों को, जिनमें मैं भी एक था, फर्स्टक्लास या फर्स्टडिवीजन का सलूक किया जाना सरकार ने निश्चय किया। सौभाग्य या दुर्भाग्य से सबसे पहले यह बात हमीं लोगों के मत्थे गुजरी। पीछे औरों को भी यह सहूलियतें दी गयीं। लेकिन तब तक तो हम बनारस जेल से फैजाबाद जेल में जा चुके थे। डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मिस्टर खारे छाट के आने के पहले जेल सुपरिन्टेण्डेण्ट ने हमसे यह कहा। बाकी साथियों से अलग रहने की बात भी हुई। हमने साफ इनकार किया कि न तो हमें आपके गद्दे चाहिए और न घी, दूध आदि। हम तो ऐसे ही भले हैं। हमारे तीन साथियों ने भी ऐसा ही कहा। इतना ही नहीं। हमने यहाँ तक कह दिया कि आप हमें अपना घी, दूध जबर्दस्ती खिला-पिला नहीं सकते यह याद रहे। फिर मजिस्ट्रेट भी आये। उन्हें भी हमने वही जवाब दिया। इस पर उनने कहा कि तो फिर चक्की चलानी होगी। हमने उत्तर दिया कि उसे तो पहले से ही सोच कर आये हैं। हमारे तीन साथियों ने तो यहाँ तक कह डाला कि चक्की चलाना क्या, गोली भी खायेंगे। हमने यह भी कह दिया कि गाजीपुर के 35 आदमी अब तक जेल में हैं। हम 31 को छोड़ क्यों दें? सब एक ही तरह रहेंगे। फिर तो मजिस्ट्रेट साहब चले गये।

इसके बाद फौरन ही वहाँ से कुल 105 बंदी फैजाबाद जेल भेजे गये जहाँ

दूसरे दर्जे या सेकेण्ड क्लास के कैदी रखे जाने को थे। इस प्रकार हमें चक्की तो फिर भी न मिली। हमने उस समय भी देखा और अपने चले जाने पर तो खासतौर से सुना कि दूसरे जिलों के हमारे साथी बुरी तरह परेशान थे कि उन्हें फर्स्टक्लास मिला या नहीं उनकी बेचैनी का ठिकाना नहीं था। कभी जेलर से, तो कभी औरों से पूछने में सभी के संभी हैरान थे। खूबी तो यह कि एक ने भी फर्स्ट क्लास इनकार न किया, सिवाय बाबा राघव दास के, जो हठ करके मामूली कैदियों के लिए बना भोजन ही खाते थे। यह कितने दर्द, कितने आश्चर्य और कितने पतन की बात थी! यह मेरा दूसरा कड़ुवा अनुभव था कि गांधी जी की आज्ञा लोग कहाँ तक मानते हैं।

(8)

फैजाबाद जेल

अस्तु, हमें एक दिन सुबह तड़के तैयार होने को कहा गया। हमने सोचा बनारस कैंट स्टेशन पर गाड़ी में चढ़ना होगा। मगर प्रदर्शन से बचने के खयाल से सरकार ने एक स्पेशल ट्रेन शिवपुर स्टेशन पर तैयार रखी थी। हम् लारियों में भर-भर के वहीं पहुँचाये गये। गाजीपुर से आने के समय इस समय भी रेलगाड़ी की खिड़कियों पर जाली लगा दी गयी थी! शायद हमारे भाग जाने का डर था! विदेशी सरकार की अक्ल पर हमें तरस आयी। हम तो खुशी-खुशी जेल आये थे। जरा-सी जबान हिलाने से बाहर जा सकते थे। फिर भागते क्यों? मगर कायदे की पाबन्दी तो होनी ही चाहिए और वे कायदे उस जमाने में बने थे जब राजबन्दी नामधारी कोई चीज थी नहीं। तभी से बदले ही न गये। किसे गर्ज थी कि बदले? राजबन्दी लोग कुछ अपमान समझेंगे तो सरकार के लिए उस समय यही क्या कम था? मगर बावजूद इस जाली के साथ चलने वाली पुलिस को जो परेशानी रास्ते में हुई उसने इसे बेकार साबित कर दिया।

गाड़ी चली जा रही थी। जहाँ तक याद है, जब शाहगंज स्टेशन आया तो हमारे साथी, सभी बन्दियों ने खाना माँगा। साथ के सार्जेण्ट और दूसरे पुलिसवालों ने कहा कि चना खा सकते हैं। लोगों ने इनकार किया और पूड़ी चाही। पुलिसवालों ने पूड़ी देने से साफ नाहीं की। इसी में बढ़ते-बढ़ते बात बढ़ गयी। मैंने बीच में पड़ के किसी प्रकार उसे खत्म किया। याद नहीं, आखिर में पूड़ी ही खाने को मिली या क्या? लेकिन साथियों ने धमकाया कि अच्छा हम देखेंगे। इसके बाद मैं सो गया। मुझे तो खाना वाना कुछ था नहीं।

एकाएक रास्ते में स्टेशन आने के पहले ही शोरगुल मचा और मैं जगाया गया।

बात यह थी कि एक ने गाड़ी रोकने की साँकल खींच दी और गाड़ी खड़ी हो गयी। क्रोध से लाल सार्जेण्ट और पुलिस वाले दौड़कर वहाँ पहुँचे और पूछा किसने खींची? खींचने वाले ने खम ठोंक कर कहा, हमने। सार्जेण्ट साहब आपे से बाहर होकर बोले, "ले चलो इन्हें अपने डब्बे में। इन पर रिपोर्ट होगी।" इस पर औरों ने कहा, "किसे-किसे कहाँ ले चलोगे? हम तो 105 हैं सभी एकेबाद दीगरे खींचेगे और ट्रेन चलने ही न देंगे। फिर हमें ले जाओगे कहाँ?" अब तो बेचारा सार्जेण्ट और उसके साथी बुरी तरह घबराये। आखिर मैं जगा तो समझा-बुझाकर शान्त किया। फिर गाड़ी बढ़ी। मगर पुलिसवाले भी भीतर-ही-भीतर जलते और इस अपमान का बदला लेने की बात सोचते रहे। चाहे जो हो मगर साथियों ने तो पूड़ी वाले झगड़े का बदला भरपूर ही चुकाया।

जब गाड़ी फैजाबाद छावनी स्टेशन पर रुकी तो हमें उतरने का हुक्म हुआ। सभी उतर पड़े। सामान भी अपना-अपना साथ ही था। वह भी उतरा। अब पुलिस ने गाड़ी रोकने का बदला चुकाने के लिए कहा कि बिना दो-दो को एक साथ हथकड़ी लगाये चलने न देंगे। खूबी यह कि जेल ले चलने के लिए सवारी का प्रबन्ध भी न था। हम लोगों ने कहा, अच्छा हथकड़ी लगने लगी। शायद सबों को लग भी गयी। लेकिन चलने के समय हमने सामान ले चलने से इनकार कर दिया यह कह के हमारे एक-एक हाथ बँधे जो हैं। फिर तो पुलिसवाले पुनरपि बुरी तरह झिंपे और आखिर हथकड़ी खोलनी पड़ी। इस प्रकार हम लोग फैजाबाद जेल में, जो स्टेशन के पास ही है, दाखिल हो गये। रास्ते में गाना और नारे तो चलते ही थे। शहर के लोग भी देखने आ गये थे। हम लोग बैरकों में गये और डेरे डाले। मैंने सेल या तनहाई वाली बैरक पसन्द की। हम 40-50 साथी, जो ज्यादा शान्तिप्रिय थे, वहीं बराबर रहे। पीछे तो चारों ओर से दूसरे दर्जे के राजबन्दी वहाँ ज्यादा आ गये थे। जेल खूब आबाद थी। गाजीपुर के कुछ हमारे साथी थे। वही मेरा खाना अलग पकाते थे। इसकी इजाजत मिली थी।

हम जो अलग तनहाई में रहते थे उसका खास कारण था। शोरगुल, झगड़े वगैरह बहुत होते थे। इस तरह लोग सारा समय, जो बड़ा कीमती था; यों ही बिताते थे। जेल वालों से भी बराबर झगड़े करते रहते थे। यह बातें मुझे असह्य थीं। इसलिए अलग रहना पसन्द किया। जेल का सुपरिन्टेण्डेण्ट दक्षिण भारत का रहने वाला बड़ा ही भला आदमी था। मगर उसके भी नाकों दम थी।

एक बार ऐसा हुआ कि होली आ गयी। हमारे दोस्तों ने कहा कि हम तो होली जलायेंगे। आखिर जेल वालों से झमेले खड़े करने के बहाने तो चाहिए ही। बेचारा सुपरिन्टेण्डेण्ट समझाकर थक गया। मगर माने कौन? धर्म के नाम पर दावा ठोंका गया कि हिन्दुओं का त्योहार है! न जाने इनमें कितने लोग बाहर इस धर्म का पालन करते थे! उसने गांधी जी की दुहाई दी। मगर कोई सुने भी तो। आखिर

उसने हारकर लकड़ी मँगा दी और कहा कि सेण्टर में कहीं जलाकर धर्म पूरा कीजिये। दोस्तों ने यहाँ तक किया कि उन लड़कियों की तो होली जलाई ही। इन्हीं के साथ पानी खींचने के लिए कुओं पर जो तख्ते वगैरह लगे थे उन्हें भी तोड़ताड़ कर जला दिया। लाख मना करने पर भी न माना। हमने तो अपने बैरक का दरवाजा बलात् बन्द कर उसे बचा लिया। मगर बाकी कुओं की लकड़ियाँ साफ हो गयीं। यह तो निरा पागलपन था। भला पानी कैसे भरा जायेगा, यह भी सोचना था। दोस्त लोग इतने पागल थे कि सुनते न थे। फलतः 'अलार्म' करके बाहर से हथियारबन्द पुलिस बुलानी पड़ी। फिर तो होश फाख्ता! सभी मिट्टी के शेर बैरकों में जा घुसे। पूछने पर किसी का पता भी न लगा। कोई भी स्वीकार करने को तैयार न हुआ कि हमने कूएँ के तख्ते जलाये। यदि बाहर से पुलिस न आती तो जो पाते वही जलाने पर तुल गये थे। यह थी हमारी उस समय की भलमनसी। खैर, जैसे तैसे मामला ठण्डा हुआ।

मुश्किल से हमारा एक मास गाजीपुर और बनारस मिलाकर गुजरा होगा और शायद ही दो या तीन महीने हम फैजाबाद रह पाये। फिर तो हम भी लखनऊ भेज दिये गये। फैजाबाद जेल में हमारा एक दल था। वह नियमों की पूरी पाबन्दी करता था। उससे जेलवाले कभी कोई शिकायत नहीं रखते थे—बराबर खुश रहते थे। हम सभी एक ही जगह रहते थे। मैं उन लोगों को गीता पढ़ाया करता था। दूसरी-दूसरी बातों पर भी प्रायः शाम को मैं उपदेश दिया करता था। दार्शनिक और हिंसा-अहिंसा की भी विवेचना हुआ करती थी। इस प्रकार हमारे दिन शान्ति से गुजरते थे।

उसी जेल में, जब एक दिन फैजाबाद के मारवाड़ी सज्जन लोगों से मिलने आये और हमसे भी मिले, तो हमने उनसे एक नन्हीं सी गीता भेज देने को कहा। उन्होंने फौरन खरीद कर भेज दिया। सचमुच वह नन्हीं सी है। उससे नन्हीं गीता मैंने नहीं देखी है। वही मेरे साथ तब से बराबर रही है। खास कर जेलों में तो जरूर रहती आई है। इस बार भी बगल में मौजूद है। यह पहली बार मिली ता. 26-3-22 को। इस पर जेल की तारीखें लिखी हैं। यह मेरी सबसे प्यारी चीज है। इसके पीछे इतिहास है।

(9)

गीता का अर्थ समझा

यों तो गीता मेरे जीवन का एक अभिन्न अंग सदा से ही रही है। मैंने गीता का विचार सब ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं ज्यादा किया है। इसे पढ़ा-पढ़ाया भी खूब ही है। मगर एक बड़ी भारी कसर के साथ। जैसी कि परिपाटी संस्कृत के पण्डितों और

छात्रों की है, मैंने सदा ही उसका मनन भाष्यों और टीकाओं के आधार पर, उन्हीं की सहायता से किया था। पचासों टीकाएँ और भाष्य मेरे पास मौजूद हैं। संस्कृत में जितनी भी टीकायें और जितने भाष्य मिल सके हैं मैंने सबों का संग्रह किया है। उन्हीं की सहायता से गीता का अर्थ समझने-समझाने की बार-बार कोशिश मैंने तब तक की थी। स्वतन्त्र रूप से समस्त गीता के मनन करने का शायद ही अवसर मिला हो। इसकी जरूरत भी नहीं समझी जाती थी। कभी मैंने स्वयं ऐसा सोचा भी नहीं। कभी-कभी कुछ श्लोकों के बारे में ऐसा हुआ। मगर सारी गीता के बारे में कभी नहीं। इसका एक परिणाम हुआ कि बुद्धि और विचारशक्ति पंगु हो गयी। गीतार्थ के बारे में उसमें स्वतन्त्र ऊहापोह की शक्ति आने ही न पायी। यह बड़ी भारी भूल थी, जबर्दस्त कमी थी।

एक बात और थी। पहले से ही कुछ सिद्धान्त निश्चित कर रखे थे, दूसरों से जानकर या अन्यान्य ग्रन्थों को पढ़-पढ़ाकर। ऐसा तो होता ही रहता है। बिना पढ़े ही कुछ सिद्धान्त तो लोग मानते ही हैं। आजकल तो भारतवर्ष के निरक्षर बूढ़े, जवान, मर्द, औरतें सभी कर्मवाद, प्रारब्धवाद और भगवानवाद की दुहाई देते रहते हैं। जिससे बातें कीजिये तकदीर, कर्म और भगवान् की दया की बातें बघाड़ता है। बात करने का शऊर नहीं। फिर भी बड़ी-बड़ी दार्शनिक बातें इसी तरह छाँटता रहता है। यदि उनके विपरीत बोलिए तो बुरा मानता और हँस देता है। उसे समझाना साधारण काम नहीं। वंश परम्परागत संस्कार और बचपन की दकियानूसी मण्डली का ही यह असर उस पर होता है।

ठीक यही बात पढ़े-लिखों की भी होती है। कुछ बातों को पहले से ही दिल में रखते हैं और ग्रन्थों में उन्हीं को ढूँढ़ते हैं। उन्हीं की पुष्टि करते हैं। हमारे भीतर भी यही बात थी। कुछ सिद्धान्त हमने निश्चित किये थे और गीता में जब न तब उन्हीं को ढूँढ़ते थे, पाते थे। यह भी एक प्रकार की पंगुता ही है। इसके करते भी गीतार्थ स्वतन्त्र रूप से हम समझ न सके।

गीता का महत्त्व तो बहुत सुना था, लोगों से भी और पोथी-पुराणों में भी। मगर हमें तब तक कुछ ऐसी खास बात उसमें मिली थी नहीं। इसीलिए हमें कभी-कभी आश्चर्य होता था कि ऐसा क्यों माना जाता है। कभी-कभी सुनते थे कि कुछ लोग—स्वदेश और विदेश—घूम-घूम कर आम जनता में गीता पर उपदेश देते रहते हैं हम यह समझ न पाते थे। हम तो जानते थे कि गीता में अद्वैत दर्शन और अध्यात्मवाद है। उसे जन साधारण कैसे समझते होंगे। यही सोचते थे। हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी आदि की टीकाओं ने भी हमें कुछ ऐसा न सुझाया था।

ऐसी दशा में फैजाबाद जेल में कुछ तो परिस्थितिवश और कुछ ऐसा खयाल भी हो आया कि गीता का स्वतन्त्र मन्थन किया जाय। इसीलिए उस नन्हीं सी गीता का ही पारायण, चिन्तन, मन्थन हमने शुरू किया। मजबूरी तो थी ही। आखिर भाष्यादि

मिलते भी कहाँ से? जहाँ रखे थे वहाँ से मँगाना आसान तो था नहीं। आते-आते भी समय लग जाता। यह भी सोचा कि कौन यह फिक्र करने जाय? बहुत दिन भाष्य पढ़े, टीकाएँ पढ़ीं। जरा यों भी तो देखें। एक प्रकार की उत्सुकता भी थी। इस प्रकार हमने स्वतन्त्र रूप से बिना किसी की सहायता के उसका मनन शुरू किया।

शुरू करते ही मजा आने लगा। फिर तो चसक गये। जो लोग हमसे पढ़ते थे प्रश्नोत्तर भी करते थे। उत्तर देना ही पड़ता था। इस तरह जब हमने गीता का अभ्यास शुरू कर दिया तो कुछ ही दिनों में हमारी आँखों के पर्दे खुल गये। हमें एक निराली दुनिया नजर आयी। हमने नया अर्थ उसमें पाया। अर्थ तो प्रायः पुराना ही था। मगर उसमें नयी रोशनी थी, नयी आभा थी, नया तेज था, जिसने हृदय को खिला दिया। हमारे जीवन में यह पहला ही मौका था जब हमने गीता का रहस्य समझा और जीवन की बाधाओं तथा चिन्ताओं से निश्चिन्त हो गये। जीवन भर वेदान्त और अन्य दर्शनों के पढ़ने से जो शान्ति उपलब्ध न हो सकी वही हमें गीता की कृपा से फैजाबाद जेल में प्राप्त हो गयी। हमारा जीवन स्थिर हो गया (My life be came settled) मैंने तब समझा कि गीता का महत्त्व इतना क्यों माना जाता है। गीता पर उपदेश देने वालों को भी तभी समझ पाया कि क्यों आम जनता में ऐसा वे लोग कहते हैं। यही कारण है कि उस नन्हीं सी गीता से मेरा अपार प्रेम है। सुन्दर खादी की जिल्द बनाकर बराबर एक बेठन में उसे लपेट रखता हूँ।

लखनऊ जाने के कुछ ही दिन पूर्व फैजाबाद में मुझे आम और अपच की शिकायत हो गयी। अतः कुछ खा-पी न सकता था। हार कर जेलवाले रोज थोड़ा दही देते थे। उसे ही पीता था। इसी बीच सरकार ने जेलवालों से हमारे बारे में पूछताछ की, वे चारों फर्स्टक्लास के कैदी हैं। वे वहाँ कैसे हैं। उनका हाल लिखिये। जेलवालों ने हमसे पूछा तो हमने सारी दास्तान कही। उन्होंने यही बातें शायद सरकार को लिख दीं। क्योंकि दूसरा कारण तो कोई था नहीं। हमसे उनने यह भी कहा कि आप लोग यहाँ रहने न पायेंगे, लखनऊ भेज दिये जायँगे। यहाँ यह भी कह देना है कि हमारे तीन साथियों ने जब देखा कि शेष लोग तो लखनऊ चले गये, इनकार न किया और मजा कर रहे हैं, तो उन्हें भीतर से ग्लानि हुई। वे अपनी भूल पर पश्चात्ताप भी करने लगे थे।

(10)

लखनऊ जेल

एक दिन अचानक जेलर ने आकर कहा कि आप चारों ही लखनऊ जाने के लिए तैयार हो जायँ। आप लोग तो फर्स्टक्लास के कैदी हैं। इसलिए सरकार का हुक्म

है कि यहाँ नहीं रह सकते। उन्हें लखनऊ भेजो। हम लोग तैयार हो गये। मैं तो यह बात नापसन्द करता था। लेकिन एक खुशी भी हुई कि साथियों को, जो कभी स्वतन्त्र भारत के कर्त्ता-धर्त्ता बनेंगे, जरा नजदीक से देर तक देख सकेंगे और आगे के लिए निष्कर्ष निकालेंगे। हमारे तीन साथियों को तो खुशी हुई कि लखनऊ चल कर घी-दूध उड़ायेंगे औरों की तरह।

यह भी एक निराली बात थी कि बेमुरव्वती के साथ इनकार करने पर भी प्रथम श्रेणी का व्यवहार हमसे हटाने को सरकार तैयार न थी। महाभारत में एक स्थान पर लिखा है कि जब मैं दुनिया के पदार्थों को तिरस्कार की दृष्टि से देखता और बेमुरव्वती से इनकार करता हूँ तो वे मेरे पास गिरे पड़ते हैं। मगर जब चाहता हूँ तब न जाने कहाँ चले जाते हैं! उसी का नमूना हमें देखने को मिला।

हाँ, तो हम लोग ट्रेन में बैठे और लखनऊ स्टेशन पर जा धमके। वहाँ से जिला जेल में पहुँचाये गये। वहाँ सभी पुराने साथी फिर मिले। वहीं पर मुरादाबाद के एक साथी ने हमसे बातें करके हमारी आम वाली तकलीफ के निवारणार्थ जल चिकित्सा का प्रयोग बताया। उनकी सब बातें सुनकर मैं उसके लिए तैयार हो गया। क्योंकि यह चीज मेरे स्वभाव के अनुकूल ही थी। मैं स्वभाव से ही दवाइयों का विरोधी एवं संयम का समर्थक हूँ और जलचिकित्सा में यही दोनों बातें हैं। फिर वह मुझे रुचती क्यों नहीं? फलतः उसके लिए टब मँगवाया और सोचा कि केवल रोटी खाऊँगा जो उस चिकित्सा के अनुकूल है। जलचिकित्सा की बात आगे लिखी है।

लखनऊ जेल में हमारे तीन साथी तो सभी चीजें खाने-पीने लगे। मगर मैंने तो इनकार किया था। फलतः यदि वह बात रखनी थी तो या तो जेलवालों से साफ कह देता कि मैं ये चीजें नहीं लेता जैसा कि बाबा राघव दास करते थे या चीजें आने देता। लेकिन उन्हें काम में न लाकर किसी कैदी को देता। मैंने दूसरा मार्ग स्वीकार किया। पहले रास्ते में मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि कुछ खास प्रचार भले ही हो जाय कि मैंने फिर भी इनकार किया उन रिआयतों को स्वीकार करना। परन्तु कोई और लाभ नहीं। मैं ऐसे प्रचार और ऐसी ख्याति को ज्यादा पसन्द नहीं करता। इसलिए सामान सभी आते थे। मगर मैं चुपचाप सब चीजें उस कैदी को देता था जो मेरा काम करने और पानी वगैरह लाने के लिए दिया गया था। सिर्फ आटा ले लेता। सो भी एक समय के खाने भर ही। पर, जलचिकित्सा में तो चोकर मिला हुआ आटा चाहिए। इसलिए थोड़ा आटा जेलवालों को लौटाकर बदले में चोकर लेता और उसे ही आटे में मिलाता था। केवल उसी की रोटी बिना साक, दाल, घी, दूध, आदि के ही खा लेता। एक ही समय भोजन करता। रोटी बनाने में तरद्दुद होता देख और जलचिकित्सा के लिए अनुकूल समझ मैंने कलकत्ते से 'इक मिककुकर' मँगवा लिया। जलचिकित्सक ने भी इसे पसन्द किया। मैं उसी में रोटी पकाता।

रोटी पकाना क्या था, आटा गूँधकर एक कटोरे में रखता और कुकर में चढ़ा

देता था। भाफ से वह पूरा सिद्ध हो जाता था, वही मेरा भोजन था जिसे पूरे डेढ़ घण्टे में खाता था। कभी-कभी पतली रोटियाँ बना के तले-ऊपर कटोरे में उन्हें रख देता। वे आपस में चिपक न जायँ इसलिए दो रोटियों के बीच जरा सा सूखा आटा छिड़क देता। चाहे रोटियाँ हों या गूँधे आटे का एक ही पिण्ड हो, स्वाद समान ही होता था। बेशक मिठास बहुत होती थी। यह चीज बराबर आठ-नौ महीने चलती रही। इतना ही नहीं, जेल से बाहर आने पर भी प्रायः बहुत दिनों तक वही खाता रहा। कुकर से मेरा पहला परिचय लखनऊ जेल में हुआ और तभी से वह मेरा पक्का साथी हो गया है। कभी गेहूँ की दलिया भी पकाता और कभी-कभी खरा गेहूँ ही सिझा लेता। दलिया से भी मेरा प्रेम वहीं हुआ और तबसे फल के बाद वह मेरा प्रधान भोजन बन गई। यदि फल हो तो ठीक ही है। नहीं तो दलिया चाहिए।

लुईकुने ने, जो जलचिकित्सा के आविष्कर्ता हैं, कहा है कि मनुष्य को अपना स्वाभाविक भोजन करना चाहिए जो फल और साग-पात के सिवाय और कुछ नहीं है। सो भी पहले हरा फल, न होने पर सूखा, उसके अभाव में खड़ा-खड़ा कच्चा गेहूँ, उसके अभाव में उसका आटा चोकर के साथ ही और आटे के अभाव में उसकी रोटी। बस, एकेबाद दीगरे यही हमारा खाद्य है। मैंने कभी कच्चा आटा भी खाया और खड़ा गेहूँ भी। मैंने अनुभव किया कि थोड़े ही गेहूँ या आटे में तृप्ति हो जाती है। असल में देर करने पर खाद्य पदार्थ में एक प्रकार की स्वाभाविक मिठास भी प्रतीत होती है। खाने का मूलमन्त्र है खूब चबा के खाना और पानी या दूध पीना जरा-जरा सा मुँह में चारों ओर चला-चला के, जिसे अंग्रेजी में सिप (Sip) करना कहते हैं। खाने और पीने में यदि ऐसा किया जाय तो अपच आदि की शिकायत तो हर्गिज रह नहीं सकती।

प्रथम श्रेणी की सुविधाओं की बात निराली ही निकली। सरकार ने एक प्रकार से लोगों को ठग ही लिया जहाँ तक खाने-पीने का प्रश्न था। पहले तो, जहाँ तक याद है, हरेक आदमी को रोजाना डेढ़ रुपये मिलते थे। मगर थोड़े ही दिनों में वह बन्द कर दिये गये। यह बात बनारस जेल में ही थी। लखनऊ जेल में आने पर, मेरे समय में तो रुपयों की जगह घी, चीनी, दूध वगैरह सामान मिलने लगा था। मैं नहीं जानता कहाँ तक सही है, क्योंकि मेरे सामने की बात नहीं है, लेकिन जैसा कि मुझे बताया गया कि जब रुपयों को केवल खाने-पीने में न लगाकर हमारे कुछ साथी और तरह से भी खर्च करने या जमा करने लगे तो सरकार ने उनके बजाय सामान (Ration) देना शुरू कर दिया। लेकिन यह बात भी बराबर जारी न रही। कुछ समय बीतने पर एकाएक सरकार की ओर से कहा गया कि मामूली कैदियों के ही खाने-पीने का सामान आप लोगों को भी मिलेगा। यदि ज्यादा खाना-पीना है तो घर से मँगाकर खा-पी सकते हैं!

मैंने देखा कि बहुतेरे लोग तो मुर्झा गये। वे बाहर से मँगा सकते न थे। फिर

भी कुछ लोगों ने तो बाहर से मँगा-मँगा के खाया ही। आखिर करते भी क्या? आदत तो बिगड़ गई थी। बिना मँगाये काम चलता न था। सरकार ने भी हमारी कमजोरियाँ खूब समझीं। वह जान गई कि ये लोग अब चसक गये हैं। खामख्वाह घर से मँगा के खायेंगे ही, यदि चाहेंगे। इस प्रकार उसने भिगा-भिगा के हमें मारा चाहे हमें होश भले ही नहीं हुआ। मैंने तो देखा कि सब प्रकार से मैं ही अच्छा रहा। उस मौके पर जो आनन्द मुझे हुआ वह वर्णनातीत था। मैंने साफ देखा कि यह तो 'गुनाह बेलज्जत' वाली बात थी और मैं बाल-बाल इससे बचा।

(11)

जेल के विशेष अनुभव

ऊपर लिखी अपने लोगों की कमजोरियों के अलावे और भी कई बातें वहाँ देखीं। जाने के थोड़े ही दिनों बाद हमने देखा कि कुछ लोगों की एक **'हलवा पार्टी' बनी। उसे ही वे लोग 'राक्षस पार्टी' भी कहते थे।** बहुत लोगों को घी, दूध, आदि एक जगह जमा करके हलवा वगैरह पकता और खाया जाता था। इसी से 'हलवा पार्टी नाम' पड़ा। हँसी-मजाक और ऊधम तो मचता ही रहता था। कभी नाटक, कभी स्वांग और कभी कुछ और हरकतें होती रहती थीं। दिन-रात कुहराम मचा रहता था। उसी से उसे 'राक्षस पार्टी' भी कहते थे। आखिर राक्षसों का तो काम ही है भोग करना, ऊधम मचाना। इस हलवे की बीमारी की यह हालत हो गई कि जब सरकार ने घी वगैरह देना बन्द कर दिया तब भी हलवा बनना न रुका। सबों को जो थोड़ा-थोड़ा तेल मिलता था उसी को जमा करके हलवा बनाते थे।

यह भी देखा कि जो लोग खान-पान में छूत-छात की बात रखते थे उनके चौके में राक्षस पार्टी के लोग बलात् घुसकर भोजन छू देते और उन लोगों को दिक करते थे। इससे भी हो-हल्ला होता था। बात बुरी भी थी, ऐसा कहा जा सकता है। **मगर मैं भी तो छूत-छात वालों में ही था।** पर, मुझे कभी किसी ने इस प्रकार दिक न किया। बात असल यह थी कि और लोगों की छूत-छात एक प्रकार की बनावटी चीज थी। क्योंकि जब सुन्दर मिठाइयाँ या इस प्रकार की चीजें कहीं से किसी के पास आती थीं तो वे लोग भी उनमें शामिल हो जाते थे। मगर रोटी, भात में छुआछूत मानते थे। लेकिन मैं तो सभी में समान व्यवहार रखता था। इसलिए उन लोगों के ढोंग को राक्षस लोग मिटाना चाहते थे। पर, मेरा तो ढोंग न था। फिर मुझे क्यों दिक करते?

जेल में ही पं. जवाहर लाल नेहरू से विशेष बातचीत और परिचय का मौका मिला। एक दिन हमारी-उनकी बातें दोपहर को, खाने के बाद, होने को थीं। वे दूसरे

वार्ड में रहते थे। मैंने कहा कि धूप ज्यादा है, आपको आने में कष्ट होगा। मैं ही चला आऊँगा। मैंने समझा था कि आनन्द भवन में पले हैं। उनने चट उत्तर दिया कि वकील की हैसियत से खाने के बाद ही मध्य दोपहरी में कचहरियों में दौड़ने की तो आदत हई। फिर तकलीफ का क्या प्रश्न? अतः मैं ही आऊँगा आप के पास। मैं इस उत्तर के लिए तैयार था नहीं। फलतः अवाक् रह गया। उनकी इस एक ही बात ने मेरे दिल में उनके लिए बहुत उच्च स्थान बना दिया। बहुत कम लीडर और नेता ऐसे बेतकल्लुफ और बाहरी दिखावे से अलग रहते हैं। यह हमारी राजनीति की बड़ी भारी कमी है। जन साधारण का और साधारण कार्यकर्त्ताओं का जो असल में सब कुछ करने वाले होते हैं, हृदय कभी जीता नहीं जा सकता बिना इस सादगी और दिखाऊपन के अभाव के। **अमीरी तो हमारी राजनीति के लिए प्लेग है।**

वहीं पर रहते समय असौढ़ा (मेरठ) के **चौधरी रघुवीर नारायण सिंह** भी आये। मेरा-उनका पुराना परिचय था। वे बहुत बड़े जमींदार और रईस हैं। अमीरी भी उनकी खूब रही है। मैंने उनसे पूछा कि आप अपना आराम छोड़कर भला इसमें क्यों पड़े? वे पढ़े-लिखे तो अच्छे हैं और बुद्धि भी उनकी काफी तेज है, मगर अंग्रेजी-दाँ नहीं हैं। इसीलिए मुझे आश्चर्य हुआ कि इस राजनीति में वे कैसे फँसे मगर उनकी बातों से पता लगा कि वे खूब समझबूझ के इसमें पड़े थे। उनकी तीक्ष्ण बुद्धि ने जमाने का रुख उन्हें बता दिया था। **फलतः उनने समझ लिया था कि जमींदार बच नहीं सकते यदि वे मुल्क की जन आजादी में न पड़ें।** इसलिए उन्होंने अपना फर्ज अदा किया और अपने जमींदार भाइयों को भी न सिर्फ जबानी, बल्कि अमली उपदेश दिया। इससे उन पर मेरी श्रद्धा बढ़ गई। मैंने यह भी देखा कि आराम तलब धनाढ्य लोगों पर भी राजनीति का अच्छा असर है। फलतः इस राजनीति में स्वयं मेरी लगन और तेज हो गई।

वहीं पर प्रोफेसर धर्मवीर जी एम.ए. मिले। शान्त और पानी के जैसे ठण्डे स्वभाव के आदमी और सादगी के मूर्ति स्वरूप मैंने उन्हें पाया। ऐसे योग्य सज्जन को पुलिस ने जब पकड़ा था तो कमर में रस्सी बाँधकर पैदल ही हिन्दू कॉलेज से सुनसान रास्ते से थाने लाई थी! इससे लोगों ने समझा कि कोई मुस्टण्ड चोर-डाकू है! वे दिन-रात स्लेट लेकर गणित में ही रमते रहते थे। उन्हें दूसरा काम रुचता ही न था।

बहुत से मौलाना लोग साथ ही थे। फलतः इसलाम के बारे में चर्चा होती रहती थी। **बात कुछ ऐसी है कि हम लोग एक-दूसरे के धर्मों को ठीक-ठीक जानते नहीं। इसीलिए उनके बारे में बहुत बदगुमानी रहती है। बेशक वह बेबुनियाद होती है। जो कट्टर धार्मिक होते हैं वह तो और भी अपने धर्म के सिवाय अन्य धर्मों को जानते ही नहीं। अगर कुछ जानते भी हैं तो उलटा ही।** बचपन में मेरी भी यही हालत थी। मैं इसलाम से सख्त नफरत करता था। उसे बुरा मानता था। मेरा खयाल

था कि वह तो जोर-जबर्दस्ती और मारकाट सिखाता है। उसमें अन्य धर्मों के प्रति सहनशीलता तो कतई है नहीं। बेशक आज तो यह धारणा जड़ से खत्म हो गयी है! मगर राजनीति में आने के पूर्व तक यह बनी थी।

असहयोग के युग में मौलानाओं के कुछ लेक्चर कहीं-कहीं सुनकर और हिन्दुओं की कदर करते उन्हें देखकर उस धारणा पर थोड़ा सा धक्का जरूर लगा था। मगर फिर भी वह बनी हुई थी। जेल में जाने पर वह निर्मूल हो गयी। उसके बाद तो मुझमें धीरे-धीरे उस मामले में आमूल परिवर्तन हो गया। **असल में वहाँ मौलाना लोगों ने कुरान शरीफ की आयतें पढ़कर यह दिखाया कि मन्दिर, और गिर्जे आदि धर्म स्थानों की इज्जत करने या उनकी तौहीनी (अप्रतिष्ठा) न करने का आदेश उसी कुरान में दिया गया है। उन्होंने यह भी कहा कि कुरान का कहना है कि हर मुल्क में समय-समय पर पैगम्बर हुआ करते हैं।** वे उसी मुल्क की भाषा में लोगों को उपदेश देते हैं। इससे उनने यह दिखाया कि राम, कृष्ण, ईसा आदि को पैगम्बर न मानने की वजह कहाँ है? प्रत्युत इससे तो सिद्ध होता है कि वह भी पैगम्बर थे। संस्कृत या यहूदी भाषा में, जो उन मुल्कों की भाषा थी, लोगों को उपदेश दिया। इस प्रकार वह भी एक जमाना हमारे मुल्क में था जब हरेक धर्मों के दोषों को न देख उनके गुणों को ही ढूँढ़ निकालने की कोशिश होती थी। मैंने तो स्वयं इसका अनुभव किया। और आज भी एक जमाना है जब हम ठीक उलटे चलने लगे हैं।

हाँ, तो मुझे तो इससे बड़ा लाभ हुआ। पीछे तो मैंने स्वयमेव कुरान का हिन्दी अनुवाद आद्योपान्त पढ़ा और अपने दिल को साफ किया।

लखनऊ जेल में भी मैं साथियों के एक दल को गीता पढ़ाता था। वह दल अच्छे-अच्छे अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का था। उनमें अनेक लोकमान्य तिलक का गीता रहस्य पढ़ चुके थे। वह यह भी जानते थे, कम-से-कम उनमें कुछ तो जरूर ही, कि मैंने गीता रहस्य की कई बातों का युक्ति-युक्त खण्डन समाचार-पत्रों के द्वारा किया था। इसलिए वे विशेष रूप से मुझसे तर्क-वितर्क करते थे। शांकर सिद्धान्त से कहाँ क्या मतभेद तिलक को है यह जानना भी चाहते थे। इस प्रकार अच्छा आनन्द आता था। मेरे पास तो वही नन्हीं सी गीता थी। उसी के आधार पर उनका समाधान करता था।

असल में गीता रहस्य के बारे में मेरी खास शिकायत एक ही है कि **तिलक ने शंकर के सिद्धान्त को न समझकर ही उन पर कटाक्ष किये हैं।** बात यह है कि आम तौर से लोगों में श्री शंकराचार्य के मत के प्रति भ्रान्त धारणा है। लोग मोटी तौर से ही उनके सिद्धान्त को जानते हैं। तिलक भी दुर्भाग्य से उसी धारणा के शिकार हो गये थे। **शंकर का तो जीवन ही कर्ममय और कर्मयोगी का रहा। उनने अपने गीता भाष्य के आरम्भ में ही साफ कह दिया है कि ज्ञानियों के कर्म को तो मैं कर्म मानता ही नहीं,** जिस प्रकार भगवान् कृष्ण के क्षत्रियोचित कर्मों को कर्म नहीं मानता,

'ज्ञानिनां कर्म तु कर्मैव न भवति, यथा भगवतः कृष्णस्य क्षात्रं चेष्टितम्'। **शंकर तो कर्म उसे ही कहते हैं जो कर्ता को अपना फल सुखदुखादि देने में समर्थ हो। ज्ञानी का, और इसलिए कृष्ण का भी कर्म तो कर्म है नहीं। क्योंकि वह उन्हें सुख-दुख बन्धन में डाल नहीं सकता।** इसीलिए जहाँ एक ओर शंकर ने ऐसे कर्म का समर्थन और आजीवन स्वयं अनुष्ठान किया, तहाँ दूसरी ओर अज्ञान या आसक्ति मूलक कर्म के त्याग या संन्यास का सारी शक्ति लगाकर समर्थन भी किया। ऐसी दशा **में शंकर को कर्मयोग का विरोधी कहना उनके साथ घोर अन्याय नहीं तो और क्या है?**

उस जेल में कुछ ऐसे साथी भी मिले जिनने आगरे की तरफ तथा संयुक्त प्रान्त की दूसरी जगहों में शुद्धि का काम किया था। यों चाहे जो भी हो, लेकिन जब वे लोग अपने-अपने अनुभव सुनाते और बातें करते तो कम-से-कम उस समय कट्टरता का पता मालूम नहीं होता था। जिस प्रकार मुसलमानों की कट्टरता उस समय जाती रही। ठीक उसी प्रकार कट्टर से कट्टर आर्य समाजियों की कट्टरता भी मालूम न पड़ती थी। इसे ही कहते हैं एक ही विपत्ति (Common enemy) के मारे लोगों का एका तथा मतभेद का भुला देना। इसीलिए पाण्डवों की विजय के बाद जब कृष्ण मथुरा जाने लगे तो कुन्ती ने बहुत क्लेश से कहा कि हमारे लिए तो विपत्तियाँ ही अच्छी थीं जब बराबर आपका दर्शन होता रहता था। आज तो उनके हट जाने पर आप चलने को तैयार हैं 'विपदःसन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो। भवतो दर्शनं यस्मादपुनर्भव-दर्शनम्'। **आज जो फिर हिन्दू-मुसलिम एक-दूसरे के खून के प्यासे से मालूम पड़ते हैं उनके लिए तो असहयोग युग ही ठीक था।** काश, वह आज भी समझ पाते कि दोनों का उस समय का एक ही शत्रु आज भी बरकरार है।

(12)
जल चिकित्सा

यहीं पर प्रसंगवश जलचिकित्सा का कुछ वर्णन कर देना जरूरी है। असल में उसने मुझे न सिर्फ लाभ ही किया, प्रत्युत अपना भक्त सदा के लिए बना लिया। मैंने उसकी पूरी पद्धति का अच्छी तरह अभ्यास किया। उस पर नोट भी तैयार किये। उसके आचार्य लूईकुने (Louis kuhne) की दोनों किताबें 'आरोग्यता की नयी विद्या' (New science of Healing) और 'मुखाकृति विज्ञान' (Science of Facial Expression) मैं अच्छी तरह पढ़ के समझ चुका था। इतना ही नहीं। मैंने उसकी एकाध बातों और सिद्धान्तों के आधार पर पीछे एकाध उपसिद्धान्त ढूँढ़ निकाले और उनसे लाभ उठाया, उठवाया। दृष्टान्त के लिए उसने जो कहा है कि शुद्ध रेत यदि भोजन

के बाद ज्यादे-से-ज्यादा एक तोला चुभलाकर खाया जाय तो कठिन-से-कठिन कोष्ठबद्धता (Constipation) को हटा देता है, उसकी मैंने अनेक लोगों पर परीक्षा की। उसमें सफल होने पर पेट के दर्द और मसूढ़े फूलने पर भी मैंने उस बालू का प्रयोग करके सफलता पायी। असल में विकृत वायु या अधिक वायु को सोख लेना बालू का काम है ऐसा समझते ही मैंने दर्द आदि में उसका प्रयोग किया। हाँ, बालू में मिट्टी का अंश जरा भी न हो। वह खूब धो के साफ किया गया हो। न बहुत मोटा हो और न अत्यन्त महीन। गंगा की रेत सबसे अच्छी होती है। दाँत के दर्द, मसूढ़ों की सूजन और पेट की पीड़ा में भी वही विकृत वायु कारण है। इसलिए उसका प्रयोग लाभदायक है। हाँ, कुने ने जो दूध को मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं माना है मैं उसे नहीं मानता। मेरा खयाल है कि लाखों वर्ष तक बराबर दूध पीने के कारण मनुष्य का एक तरह का स्वाभाविक भोजन दूध भी बन गया है।

मैंने कुने की इस चिकित्सा का निरन्तर प्रयोग करके यह निष्कर्ष निकाला है कि यदि हम भोजन में संयम रखें, ऊलजलूल न खायें और अच्छी तरह भूख लगने पर खूब चबाकर खायें तो रुपये में बारह आने बीमारी तो इसी से ही दूर रहेगी। शेष में पौने चार आने नियमित रूप से व्यायाम करने या टहलने से। सिर्फ एक ही पैसा मौका रह जाता है औषधि के लिए।

व्यायाम में भी टहलना सबसे उत्तम है ऐसा मेरा अनुभव हुआ है। मैंने दण्ड-बैठक, दौड़, आसन आदि सभी का अभ्यास करके इस टहलने से मिलाया और इसे सर्वोत्तम पाया है। यह स्वाभाविक भी है।

अगर ये बातें हम करें और जलचिकित्सा न करें तो भी सदा नीरोग रहेंगे ऐसा मेरा विश्वास है। मैंने अपने बारे में ऐसा करके देखा है भी। केवल दिमागी ही बात नहीं करता हूँ। मेरा जो शरीर रोगों का घर हो गया था वही आज इतना स्वस्थ है कि 10-12 वर्षों से कभी बुखार आया ही नहीं। फोड़े, फुंसी या जख्म वगैरह का तो कहना ही क्या? इसके लिए मैं जलचिकित्सा का सदा ऋणी रहूँगा, हालाँकि बहुत दिनों से वह छूट गयी है।

मैं घड़ों में ठण्डा पानी रख के उसी में हिप्‌वाथ लेता था। गर्मियों में सिट्ज बाथ तो होता ही नहीं। इसके लिए तो बहुत ठण्डा जल चाहिए जो जाड़े में ही सम्भव है। इसीलिए जब जाड़ा आया तो सिट्ज़बाथ शुरू किया। हिप्‌बाथ में कमर को पानी में डुबोकर पेड़ू पर भीगे कपड़े से धीरे-धीरे रगड़ते हैं और सिट्ज़बाथ में मूत्रेन्द्रिय पर। मगर सिट्ज़बाथ में पानी से ऊपर बैठना होता है। जब दाँतों में दर्द होता था तब या यों भी स्टीमबाथ (भाप से) लेता था। स्टीमबाथ के बाद तो हिप्‌बाथ जरूरी है। मैंने वहीं ऐसा करते देखा और पीछे तो स्वयं अनुभव भी किया कि सख्त-से-सख्त ज्वर भी तीन बार थोड़ी-थोड़ी देर या यों कहिये कि दिन भर में स्टीमबाथ के साथ हिप्‌बाथ लेने पर ज्वर खामख्वाह भाग जाता है। जल में भी ऐसा किया गया था।

बाहर तो मैंने कई बार ऐसा किया, कराया है।

इससे शीघ्र ही मेरी आम वाली शिकायत दूर हो गयी और भूख तेज हो गयी। बाथ दिन में तीन बार, सुबह, शाम, दोपहर को लेता था और खूब टहलता था। मैंने देखा कि बच्चों की तरह बाथ के बाद दौड़ने का जी चाहता था। बाथ के बाद शरीर में गर्मी लाना जरूरी है। फिर चाहे दौड़ के हो, टहल के हो या कसरत करके। बीमार लोगों को तो कम्बल वगैरह से देह ढँकने से ही ऐसा हो सकता है। मैंने यह देखा कि अगर दाँतों में दर्द हो या मसूढ़ों में सूजन हो तो किसी बर्तन में पानी खूब गर्म करके उसका मुँह बन्द रक्खा जाय और उसे खोलकर वह भाप मुँह के भीतर ली जाय तो फौरन दर्द भागता है। मगर ठण्डा होने पर फिर हो जाता है। इसलिए रह-रह के बार-बार ऐसा करने पर सूजन भी चली जाती है और दर्द भी हट जाता है।

मुझे तो पहले-पहल बाथ के अभ्यास के बाद ही दाँतों में दर्द हुआ। उससे पूर्व कभी न हुआ था। फिर तो वह दर्द बराबर होता रहा है। सिर्फ कुछी दिनों से उसने पिण्ड छोड़ा है। सो भी जब मैं उसके बारे में काफी सजग हो गया हूँ। अब भी लापरवाही करने पर फौरन हो जायगा। असल में पायरिया की बीमारी की यही हालत है। वह भीतर-ही-भीतर थी। बाथ लेने पर प्रकट हो गयी। दबी बीमारियाँ उसमें अवश्य प्रकट होतीं और काफी तेज हो जाती हैं। इसे हीलिंग-क्राइसिस कहा जाता है। इसका अर्थ है कि वह बीमारी उभर गयी और कुछी दिनों में सदा के लिए खत्म हो जायगी, यदि हम घबड़ाकर जलचिकित्सा छोड़ न दें। जितनी ही जल्द और तेज यह हीलिंग-क्राइसिस होगी उतना ही शीघ्र वह रोग हटेगा यही माना जाता है। इसीलिए कम उम्र में इस चिकित्सा का ज्यादा असर होता है। शरीर में जीवन शक्ति जितना अधिक होगी उतना ही शीघ्र यह क्राइसिस होकर बीमारी चली जायगी।

कुने की यह भी मान्यता है कि फॉरेन मैटर या मल ही बीमारी है। और वह एक है। ज्वर, दर्द, प्लेग, हैजा आदि उसी के विभिन्न रूप हैं। इसलिए वह इसी बात की कोशिश करता है कि शरीर में नया मल जमा होने न पाये और पूर्व संचित मल निकाल दिया जाय। यही जलचिकित्सा का मूल सिद्धान्त है। भोजनादि के संयम और दूसरी बातें इसी के लिए उसने बतायी हैं। भोजन में गर्म मसाले का वह सख्त दुश्मन है। उससे भी ज्यादा नमक का। आयुर्वेद ने भी यही माना है कि सभी रोगों की जड़ मल ही है 'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः'। इसीलिए संयम पर उसने भी जोर दिया है। पुराने वैद्य लोग तो ज्वरादि की दशा में अनशन को ही प्रधान उपाय मानते हैं। इसलिए कुने का मत बहुत कुछ आयुर्वेद से मिलता-जुलता है। कुने ने यह भी कहा कि बाथ का नागा भी सप्ताह में एक दिन या महीने में दो-चार दिन होना चाहिए।

हमने यह देखा है कि हिन्दी में बहुत सी किताबें इस बारे में लिखकर उनमें

खाने-पीने के बारे में ऊलजलूल लिख मारा गया है। नमक आदि खाने की राय दी गयी है। यह बात गलत है। यह ठीक है कि शीघ्र-से-शीघ्र लेकर देर-से-देर समय में बीमारियों से छुटकारा इस चिकित्सा से हो सकता है। शरीर की जीवन शक्ति और बीमारी के पुरानेपन ही पर यह निर्भर है। बहुतेरे तो 12 तथा 16 वर्ष निरन्तर यह प्रयोग करने के बाद नीरोग हुए हैं।

(13)

मेरा निष्कर्ष

खैर, लखनऊ जेल में निरन्तर आठ-नौ महीने तक यह धमा-चौकड़ी, यह उच्छृंखलता और यह मनमानी घरजानी देखकर मैंने कुछ निष्कर्ष निकाला। वहाँ मैंने देखा कि शायद ही कोई जेल नियमों की अवहेलना न करता हो। चोरी से अखबार तो आते ही थे। सरकार जिन समाचार-पत्रों को भेजती थी उनके सिवाय दूसरे भी आते थे। आपस में चन्दे करके एक-एक अंक के चार-चार आने खर्चे जाते थे। यह भी देखा कि जेल अधिकारी जिसी पर रंज हुए उसी को हटाकर नैनी जेल भेज दिया। नैनी जेल तो उस समय जेलों का जेल माना जाता था। वहाँ लोगों को बड़े कष्ट दिये जाते थे। इसीलिए पीछे तो ऐसा देखा कि कितने ही लोग जेलवालों की चापलूसी में लगे रहते थे, ताकि नैनी जाना न पड़े। कोई किसी की सुनता तो था नहीं। चोरी से चिट्ठियाँ तो लिखी ही जाती थीं। इन सब बातों से शायद ही कोई बचा हो।

इससे मैं इस नतीजे पर जेल में ही पहुँचा कि राजनीति को नैतिक (Relegious and moral) रूप देकर इतनी जल्दी जो गांधी जी ने इसे सार्वजनिक बना दिया वह बड़ी गलती हुई। उन्हें अपना कदम पीछे ले जाना पड़ेगा। यदि इसे ठीक-ठीक ले चलना है तो अब तक का बना-बनाया सारा महल गिरा देना होगा। सिर्फ नींव रखनी होगी। उसी पर धीरे-धीरे फिर से महल खड़ा करना होगा। नहीं तो यह आन्दोलन कोरी राजनीति, दूषित राजनीति के सिवाय और कुछ रह न जायगा। यदि गांधी जी ने शीघ्र पीछे कदम न उठाया तो उन्हें पछताना होगा। मैंने जो कुछ गुप्त समितियों के सख्त नियमों के बारे में सुना और रौलट रिपोर्ट में पढ़ा था उसी के आधार पर सोचता था कि गांधी जी को उसी सख्ती से काम लेना होगा। यदि मेम्बरों के बनाने में वैसी कड़ाई न की गयी तो बुरा होगा। मैंने साफ देखा कि हमारी राष्ट्रीयता केवल जबान पर ही है। हममें जाति-पाँति की बातें इतना ज्यादा घर कर गयी दीखीं कि मुझे दर्द हुआ। ऐसी दशा में राजनीति को नैतिक बनाना तो सपने की चीज मालूम हुई। जब राजनीति ही अपना स्थान हमारे भीतर ठीक-ठीक न कर सकी, तो फिर उसे सुधारने का क्या अर्थ हो सकता था?

मेरी धारणा तो थी कि ये सब त्रुटियाँ मालूम होते ही गांधी जी उपाय करेंगे। हालाँकि पीछे के अनुभवों ने बताया कि मेरे ख्याल गलत थे। गांधी जी ने सभी बातें जानीं और बखूबी जानीं। मगर क्या किया? **अखबारों में लिखने और लेक्चर देने से सामूहिक आन्दोलन में, जो जन-आन्दोलन है, नैतिक परिवर्तन हो नहीं सकता। वह तो कुछ चुने हुए लोगों में ही हो सकता है।** इसके लिए तो बेमुरव्वती से कसौटी तैयार करके उसी पर परखना और तब कहीं सदस्य बनाना ठीक था। मगर तब तो यह जन-आन्दोलन रही नहीं जाता। 'हाँ' सम्भव था, धीरे-धीरे समय पाकर फिर जन-आन्दोलन का रूप इसे मिल जाता। मगर कुछ साल तक तो यह बात होने की न थी।

गांधी जी के लिए दूसरा रास्ता यही था कि राजनीति को नैतिकता या धर्म-नीति का जामा पहनाने का विचार ही वे छोड़ देते। **मगर गण आन्दोलन भी बनाये रखना और उसे धर्मनीति के मार्ग पर ले चलने की आशा भी करना, ये दोनों बातें, एक साथ चलने की नहीं। असम्भव हैं। तो भी गांधी जी ने यही किया है।** परिणाम आँखों के सामने है। सत्य, अहिंसा और सदाचार के नाम पर कांग्रेस में केवल दम्भ, प्रवंचना, हिंसा और असत्य का बाजार गर्म है। खूबी तो यह कि जो लोग स्पष्ट वक्ता हैं उनके लिए गांधी जी के दल में स्थान नहीं और बगला भगत लोग सर्वेसर्वा बने बैठे हैं! धर्म के नाम पर ये चीजें होती ही थीं। मगर जब धर्म आ गया राजनीति में, तो यहाँ भी वही बाजार गर्म है।

इसे गांधी जी जैसा अनुभवी एवं व्यवहारकुशल आदमी न जानता हो यह बात दिमाग में समाती ही नहीं। इसीलिए बहुतों के लिए यह एक भीषण पहेली हो रही है कि ऐसा क्यों होता है? गांधी जी इसे क्यों चलने देते हैं? मेरे लिए भी बहुत दिनों तक यही पहेली थी। पर, अब तो मैं सही बातें समझ गया। सच्ची बात तो यह कि राजनीति और धर्म-नीति का विरोध पुराने लोग मानते आये हैं। **याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में इसीलिए धर्मविरोधिनी राजनीति का मौका आने पर उसे छोड़ देने को कहा है, 'अर्थशास्त्रातुबलवद्धर्मशास्त्र मिति स्थितिः'। दोनों का सामंजस्य करना ही भूल है।**

(14)

जेल से बाहर

बारह महीने के बाद सन् 1923 ई. के शुरू में ही मैं लखनऊ जेल से बाहर आया। मेरा जुर्माना पच्चीस रुपये था। किसी ने बिना मुझसे पूछे ही दे दिया था। फलतः एक मास और जेल में रहने का मौका ही न लगा। बाहर आने पर पहले तो गाजीपुर

आया। जुलूस बनाकर लोग स्टेशन पर लेने आये। अच्छी उमंग थी।

मगर बाहर का वायुमण्डल दूषित और मनहूस हो गया था। जेल से निकलने के बाद देशबन्धु दास और पं. मोतीलाल नेहरू के उद्योग से सत्याग्रह जाँच कमिटी कांग्रेस की तरफ से बनी थी। उसने देश के कोने-कोने में जाकर सत्याग्रह की तैयारी की जाँच तो क्या की, उसे छोड़ फिर कौंसिलों में जाने का रास्ता साफ करना शुरू किया! गांधीवादियों का तो खासकर, और दूसरों का भी, कहना था कि वह तो बड़ी ही मनहूस चीज थी। उसने देश के वायुमण्डल को और भी दूषित कर दिया। इसी गड़बड़ी में गया में सन् 1922 ई. के दिसम्बर में देशबन्धु की अध्यक्षता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। मगर देशबन्धु की कौंसिल—प्रवेश-नीति उसमें स्वीकृत न हो सकने से और भी गड़बड़ी हुई।

उस समय कांग्रेस में दो प्रचण्ड दल थे। एक दास साहब और नेहरू का परिवर्तनवाही (Pro changer) और दूसरा श्री राजगोपालाचारी आदि का अपरिवर्तनवादी (No changer) दोनों की लड़ाई बहुत वर्षों तक चलती रही। आज तो समय ने ऐसा पलटा खाया है कि राजगोपालाचारी पक्के से भी पक्के परिर्तनवादी बन गये हैं। दास, नेहरू की भी नाक काट रहे हैं!

मगर असली दिक्कत सत्याग्रह जाँच कमिटी के करते नहीं हुई। वह जिस परिस्थिति के फलस्वरूप थी वही परिस्थिति या उसके उत्पन्न करने वाले लोग ही असल में जवाबदेह थे इस मनहूस वातावरण के लिए। हालाँकि, उस समय मैं इस बात को समझ न सका। जिस समय सेना उमंग से बढ़ती जा रही हो और सारे मुल्क में जोश लहरें मार रहा हो, ठीक उसी समय बिना लक्ष्य-प्राप्ति के ही, एकाएक 'रुक जाओ' की आज्ञा देकर हथियार रखवा देने की बात का परिणाम दूसरा होई क्या सकता था? जब मैं बनारस जेल में था तभी चौरी-चौरी की घटना हुई। फलस्वरूप गांधी जी ने बारदोली में सत्याग्रह स्थगित करने की घोषणा कर दी। उसी का परिणाम यह था। हम लोग तो यह घोषणा पढ़कर स्तब्ध और क्षुब्ध थे। हालाँकि गांधी जी जो करेंगे ठीक ही करेंगे यह अटल-विश्वास उस समय मेरा जरूर था। **अचानक लड़ाई रोक देना जब कि हार का भी कोई लक्षण न हो, निराली बात थी! इसीलिए आगे बढ़ने वाली शक्तियाँ इधर-उधर अपना रास्ता ढूँढ़ने लगीं।**

अहिंसा के बाल की खाल गांधी जी की तरह खींचना तो कोई जानता न था। अतः जन-साधारण के और देशबन्धु तथा नेहरू जैसे नेताओं की भी समझ में यह बात न आ सकी। इसीलिए वे लोग क्षुब्ध थे और लड़ाई को ऐसा रूप देना चाहते थे जिसमें आन्तरिक प्रेरणा या दैवीं पुकार जैसी किसी चीज की जरूरत न हो। वह निरा भौतिक हो। इसीलिए उन लोगों ने पुनः कौंसिल प्रवेश का प्रश्न उठाया। सन् 1923 के बीतते-न-बीतते वे लोग इसमें सफलीभूत भी हुए। रूस आदि देशों के इतिहास में भी यह देखा गया है कि जब बाहर कोई जबर्दस्त भिड़न्त नहीं होती और जनता

में कुछ ठण्डक रहती तो **पार्लियामेण्टों** और धारा सभाओं में ही घुसकर बाहर आग बनाये रखने की कोशिश की जाती थी।

हाँ, तो गाजीपुर में मैं काम करता रहा और लोगों को जगाने में तल्लीन था। लेकिन खाना-पीना अब कुछ ऐसा हो गया था कि बाहरी दौड़-धूप बर्दाश्त नहीं कर सकता था। मेरा ऐसा अनुभव हुआ कि दूध के बिना दिमागी काम करने के लायक आमतौर से हमलोग रही नहीं जाते। मैंने तो न सिर्फ दूध, किन्तु मसाला वगैरह सभी छोड़ दिया था। मसाला तो बहुत पहले ही छूटा था। पर, नमक जेल में छूटा। वह अब तक छूटा ही है। शायद बाहर आने पर नमक खाने की कोशिश होती। मगर उसी साल नमक पर टैक्स बढ़ जाने से एक और भी कारण मिल गया और नमक का त्याग जारी रहा। इन सब चीजों का फल यह हुआ कि मैं कमजोर बहुत हो गया। फिर भी घूमना जारी था। फलतः सन् 1923 ई. की गर्मियों में लू का थोड़ा असर हो जाने से खाना-पीना कुछ भी रुचता ही न था। प्यास लगती थी। मगर पानी भी अच्छा नहीं लगता था। बड़ी परेशानी हुई। अन्त में मैं फिर बक्सर के इलाके में सिमरी चला गया। वहाँ जौ की पतली सी दलिया पानी में पकाकर खाता और आम भून कर उसके गूदे से देह की मालिश करता रहा। इस प्रकार धीरे-धीरे लू का असर गया और मैं फिर काम करने लायक हो गया। इसके बाद **मैंने गौ के दूध का सेवन पुनः शुरू कर दिया।** बाकी खान-पान पूर्ववत् रहा। मुझे फिर कोई बाधा नहीं हुई।

लेकिन मैं गाजीपुर पुनरपि चला गया। वहाँ कुछ पैसे जिला कांग्रेस कमिटी के लिए जमा किये। इस समय दो घटनाएँ हुईं। एक तो मैंने पं॰ जवाहर लाल नेहरू से लिखा-पढ़ी शुरू की कि प्रान्त के सभी जिलों और जिलों के भी सभी हिस्सों में काम जारी रखने के बजाय हमें थोड़े ही इलाके में सारी शक्ति लगानी चाहिए। गांधी जी का तो यही बल है कि वह अपनी कमजोरी को साफ स्वीकार करते हैं। हमें भी वही करना चाहिए। मेरा अनुभव बताता था कि यदि हम थोड़ी दूर में ही जगह-जगह जम के (intesive) काम करें तथा सफलता प्राप्त करें तो बाकी जिले या जिलों के हिस्से-स्वयमेव आकृष्ट हो जायँगे और हमारी पद्धति अपनायेंगे। इस प्रकार अन्त में हम सफल होंगे।

मगर जवाहर लाल जी का कहना था कि जहीं पर काम न होगा उसी स्थान का बुरा असर (re-action) काम वाले इलाके में पड़ेगा और वहाँ भी गड़बड़ी होगी। इसीलिए वे समूचे प्रान्त में विस्तृत (Extensive) काम के हिमायती थे। इस प्रकार जेल से आने के थोड़े ही दिनों बाद से लेकर बहुत दिनों तक मेरा-उनका पत्र व्यवहार बराबर चलता रहा। अन्त में उन्होंने मेरे दृष्टिकोण को स्वीकार किया। मगर तब तक तो रही-सही शक्ति भी क्षीण हो चुकी थी और थोड़ी सी जगहों में भी जम के काम करना असम्भव था।

लू से अच्छे होने और पैसा एकत्र करने के बाद दूसरी बात यह हुई कि हमारे कार्यकर्त्ता लोग इन पैसों को यों ही खर्च कर देना चाहते थे। मगर मैं इसका विरोधी था। जनता के पैसे की एक-एक कौड़ी मैं पवित्र मानता हूँ और उसे ज्यादे से ज्यादा लाभकारी कामों में खर्चने का हिमायती हूँ। इसलिए मैंने साथियों का विरोध किया। जब देखा कि वे लोग नहीं मानते तो जिला कांग्रेस कमिटी का ऑफिस गाजीपुर शहर से हटाकर मुहम्मदाबाद (यूसूफपुर) में काजी निजामुलहक साहब के बँगले पर लाया। वे उसके प्रेसिडेण्ट थे। जमींदार होते हुए भी कांग्रेस के साथ बराबर रहे। शरीफ तो इतने बड़े कि कहिये मत।

प्रसिद्ध नेता डॉ. अंसारी का असली घर यूसूफपुर में ही था। काजी साहब के वे दामाद भी थे। उनसे मेरी खूब पटती थी। वहीं रह के मैंने सोचा कि जो भी पाँच-सात सौ रुपये हैं इन्हें खादी में लगा दूँ। नहीं तो खर्च होई जायँगे। कांग्रेस का कोई और कार्यक्रम था भी नहीं। सिमरी में मैंने पहले से ही खादी का काम शुरू कर दिया था। बस, वही काम बढ़ाया और सब पैसे उसी में लगा दिये। असल में गाजीपुर में खादी का कोई काम न होने से सिमरी में ही चालू करना पड़ा। वहाँ काम तो था ही। सिर्फ विस्तार किया और खादी तैयार होने लगी। वहाँ रूई भी होती थी, चर्खे भी चलते थे। अब खादी बुनी जाने भी लगी। लेकिन साथियों से तनातनी तो चलती ही रही। असल में ऐसे झमेले तो मुझे बराबर ही करने पड़े हैं। खासकर सार्वजनिक कोष को ही लेकर। आज भी उनसे पिण्ड नहीं छूटा है। आगे भी छूटने की आशा नहीं दीखती।

मैं 1923 और 1924 में गाजीपुर में ही रहा और वहीं से युक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी और आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी का मेम्बर था। वहीं से अहमदाबाद वाली आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी की बैठक में गया था। इसका उल्लेख पहले हुआ है। आगे भी होगा। उन दिनों गांधी जी का जोर था कि कांग्रेस के मेम्बर वही हों जो चार आने के बजाय अपने हाथ का कता सूत दें। श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन इसके समर्थक थे। युक्त प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन जो गोरखपुर में 1924 में हुआ उसमें उन्होंने इसे पास करवाना चाहा। मगर वहाँ के प्रमुख लीडर बाबा राघव दास इसके विरोधी थे, हालाँकि जेल में चर्खे के पीछे उनने बड़े झमेले किए कि चर्खा मिले। वे बराबर कातते भी थे। पर इधर उनकी धारा पलट गयी थी। टण्डन जी ने देखा कि मैं ही सूत वाला, जिसे 'यार्न फ्रेंचाइज' (yarn franchise) कहते थे, प्रस्ताव पेश करूँ तो ठीक हो। एक बाबा (संन्यासी) इधर और दूसरे बाबा उधर। मैं बराबर तकली कातता भी था। वहाँ भी साथ ही थी। उनने मुझसे कहा कि वह प्रस्ताव न लाइयेगा? मैं तैयार हो गया और लाया। राघव दास जी ने विरोध किया। जिला भी उन्हीं का था फिर भी मेरा प्रस्ताव पास हो गया। इस पर कुछ प्रेसवालों ने मुझे अलग ले जाकर मुझ तकली कातते हुए का फोटो बलात् लिया।

उसी समय एक मजेदार घटना हो गयी। काशी के श्री शिवप्रसाद गुप्त ने मजाक में कहा कि संन्यासी होकर यह क्या सूत की बात लाते हैं? मैंने चट उत्तर दिया कि मैं अपना धर्म बखूबी जानता हूँ और आपका भी। आपसे मुझे सीखना नहीं है। सभी हँस पड़े। वे चुप हो गये!

आखिरकार परिवर्तन और अपरिवर्तनवादियों का गृह-कलह किसी प्रकार शान्त हो इसका रास्ता कोई न निकला। दास-नेहरू प्रयत्न जोरों से जारी था। उधर श्री भगवान दास जी काशी वाले बराबर गांधी जी पर जोर देते रहे कि स्वराज्य की परिभाषा कर डालिए, नहीं तो खतरे हैं। मगर गांधी जी ने तब तक न सुना। तब उनने अपनी योजना तैयार करके दास साहब को दी। उनकी पार्टी ने उसे पास भी कर लिया। फिर सोचा गया कि कांग्रेस में बिना दो में एक पार्टी की जीत के शान्ति न होगी। सो भी दास साहब की ही पार्टी की जीत से यह सम्भावना थी। अन्त में दिल्ली में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन करके फैसले की बात तय पायी। मौलाना अबुल कलाम आजाद उसके अध्यक्ष चुने गये। मैं भी उसमें शामिल था। बड़ी चहल-पहल थी। मौलाना ने अपने भाषण में कौंसिल पक्ष का समर्थन किया। फिर क्या था, दास साहब को विजय की आशा हुई। अन्त में गांधी जी ने दोनों दलों का समझौता करा दिया। तय पाया कि कांग्रेस मैन चाहें तो कौंसिलों में जा सकते हैं या लोगों को भेज सकते हैं। मगर यह काम कांग्रेस के नाम से नहीं होगा। फलतः स्वराज्य-पार्टी के जन्म का सूत्रपात हुआ। उसी पार्टी की ओर से कौंसिल चुनाव की लड़ाई आगे लड़ी गई। यहाँ यह कह दूँ कि मैं उस समय पक्का अपरिवर्तनवादी था।

दिल्ली में यह जो दोनों दलों में समझौता हुआ वह दास-नेहरू के अधिक प्रयत्न का फल था। वहीं मैंने देखा कि स्वराज्य पार्टी का काम जोरों से चलाने के लिए दास साहब ने अंग्रेजी के नये फॉरवर्ड (Forward) नामक दैनिक पत्र का विज्ञापन आदि खूब बँटवाया। तभी से वह पत्र चालू हुआ। वही पीछे नाम बदल कर 'लिबर्टी और एडवांस' के रूप में क्रमशः निकलता आया है। सरकार के आक्रमण के कारण नाम बदलने पड़े थे।

कलकत्ते के पं. श्यामसुन्दर चक्रवर्त्ती कट्टर अपरिवर्तनवादी थे। जब उन्होंने दोनों दलों के समझौते की बात जानी तो अपने अंग्रेजी पत्र (Servant) में लिखा कि श्री चित्तरंजन दास और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी में, जो दो विरोधी दलों के नेता हैं, कौन-सी समानता आ गयी, सिवाय इस बात के कि दोनों ही संक्षेप में सी. आर. (C.R.) कहे जाते हैं? फिर दोनों में कैसे समझौता हो गया? बात तो ठीक ही थी।

(15)

गांधी जी जेल में और बाहर

सन् 1922 से लेकर 1924 के बीच में दो प्रसिद्ध घटनाएँ और उल्लेखनीय हैं। बारदोली में सन् 1922 की फरवरी में असहयोग की लड़ाई स्थगित करके गांधी जी ने दिल्ली में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की मीटिंग सम्भवतः मार्च में बुलाई थी। उसमें उन्होंने कांग्रेस के ध्येय का स्पष्टीकरण अपने मतानुसार करना चाहा। लड़ाई स्थगित करने के समर्थन में जो प्रस्ताव था उसमें उन्होंने यह जोड़ना चाहा कि कांग्रेस के ध्येय में जो लेजिटिमेट (Legitimate) और पीसफुल (Peaceful) शब्द हैं—उनके अर्थ हैं क्रमशः ट्रुथ फुल (Truth ful) और नानवायोलेंट (Non violent) मगर कमिटी ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस पर अपने साप्ताहिक यंग इण्डिया में उन्होंने एक लम्बा लेख लिखा और कहा कि हम कहाँ-से-कहाँ चले जा रहे हैं इसका पता नहीं जानते। अगर हम समय रहते नहीं चेते तो अतल समुद्र में जा डूबेंगे। हम सरकार को कमजोर करने के बजाय देश की प्रगति के बाधक हो रहे हैं सत्य और अहिंसा को न मानकर।

मगर इसका लोगों पर तो कुछ असर हुआ नहीं। हाँ, सरकार ने बखूबी समझ लिया कि गांधी जी का प्रभाव गिर गया है। बस, उसने 6 साल के लिए उन्हें जेल में ठूँस दिया! तबसे लेकर अब तक जहाँ तक मैं जानता हूँ कांग्रेस या आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी ने कभी भी कांग्रेस के ध्येय के उन दोनों शब्दों का गांधी जी वाला अर्थ साफ-साफ स्वीकार नहीं किया है और न किसी ने इस बात की खुली कोशिश ही की है। मगर फिर भी आज तो कांग्रेस के ध्येय के नाम पर सत्य और अहिंसा का ढिंढोरा ही पीटा जाता है। इसे ही कहते हैं समय की गति!

दूसरी घटना हुई गांधी जी के जेल से 2 साल के भीतर ही लौट आने पर। सन्! 1924 ईस्वी में अहमदाबाद में आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी की बैठक थी। मैं भी उसका सदस्य था। वहाँ गया था। मैंने जो नज्जारा वहाँ देखा वह भूलने का नहीं। बंगाल के श्री गोपीनाथ साहा नामक प्रसिद्ध क्रान्तिकारी युवक को फाँसी हुई थी। दास साहब ने उसके हिंसात्मक कार्यों की नहीं, पर उसके ध्येय की प्रशंसा का एक प्रस्ताव पेश किया था गांधी जी की हिंसा की भर्त्सना को मानकर ही। बहुत गर्मागर्म बहस हुई। अन्त में राय लेने पर प्रस्ताव गिर गया। सभापति थे मौलाना मुहम्मद अली। बस, इतना होते ही देशबन्धु, पं. मोतीलाल नेहरू आदि के साथ एक बड़ा दल कमिटी से उठकर बाहर चला गया। इस पर गांधी जी घबराये। उन्होंने यह भी कहा कि अब गिनिये कि कितने यहाँ हैं और कितने बाहर। गिनने पर पता लगा प्रायः दोनों ही बराबर हैं, थोड़ा ही अन्तर है। यह देखते ही उन्होंने दास साहब आदि को बुलवाया और फिर से उस प्रस्ताव को रखवाकर पास करवा दिया! हालाँकि, उनके दिल पर गहरी चोट लगी।

इसके बाद ही उन्होंने एक और भी प्रस्ताव को, जो पहले गिर गया था, फिर से विचारने और पास करने की इच्छा प्रकट की थी। असल में कांग्रेसी लोग मुकदमों में पैरवी न करते थे। ऐसी ही सख्त आज्ञा कांग्रेस की थी उधर बेलगाँव में कांग्रेस होने वाली थी। उसके कर्त्ताधर्त्ता श्री गंगाधर राव देशपाण्डे की सारी जायदाद ले लेने पर सरकार तुली बैठी थी। क्योंकि वे केस तो लड़ते नहीं। इसीलिए प्रस्ताव कुछ ऐसा ही था कि खास-खास प्रकार के केसों में पैरवी की जाये। मगर कमिटी ने पहले इसे न माना था। गांधी जी उसे ही दोबारा पेश करके मनवाना चाहते थे। इस पर लोगों ने नियमों के आधार पर उज्र शुरू कर दिया और कहा कि इसी बैठक में गिरा हुआ प्रस्ताव फिर कैसे पेश होगा, आदि-आदि। गांधी जी दलीलें सुनते थे और उनका चेहरा सुर्ख होता जा रहा था! एक धक्का गोपी साहा वाले प्रस्ताव ने दिया था। अब दूसरा धक्का यह हुआ। वहाँ भी हारे और यहाँ भी वही नौबत थी। उन्होंने समझा था कि जैसे साहावाला गिरा हुआ प्रस्ताव फिर से पेश होकर पास हो गया उसी प्रकार यह भी हो जाय तो थोड़ी शान्ति मिले। वह उसे पास कराने के पक्ष में थे। मगर लोग कब सुनने वाले थे?

आखिर में वह उबल ही तो पड़े। कुछ तो क्रोध और कुछ बेचैनी इन दोनों के करते बच्चों की तरह मुँह बनाकर आग सी बरसाने लगे। उन्होंने कहा कि स्वराज्य मिलने पर यही कमिटी पार्लिमेण्ट बनेगी जो आज बच्चों का सा काम कर रही है। अभी-अभी जब साहावाला प्रस्ताव फिर पेश करके पास किया गया तो किसी ने कायदा-कानून नहीं बघारा और धीरे से उसे गले के नीचे उतार लिया। मगर जब इस प्रस्ताव के बारे में मैंने कहा तो कानून और कायदों की बदहजमी सभी लोग मिटाने लगे! बात क्या है? उस प्रस्ताव के समय यह दलीलें कहाँ थीं जो एकाएक अभी आ धमकी हैं? देशपाण्डे जैसा दक्ष कार्यकर्त्ता और लीडर तबाह हो जाय और बेलगाँव वाला कांग्रेस-सेशन होने न पाये इस बात की तैयारी हो गयी है। इसे ही मैं रोकना चाहता हूँ। इसीलिए यह प्रस्ताव फिर लाकर पास कराना चाहा। मगर आप लोगों को सूझता ही नहीं। मुझे आपने कांग्रेस में कैद थोड़े ही कर लिया है। अभी छोड़कर चला जाता हूँ। मेरे अपने विचार हैं जिन्हें छोड़कर या जिनकी हत्या करके कहीं भी रह नहीं सकता। देखें, कौन मुझे कांग्रेस में रखता है? आदि-आदि।

बस, अब क्या था? चारों ओर थोड़ी देर सन्नाटा सा रहा और गांधी जी की सिसकियाँ खत्म भी न हो पायी थीं कि चारों ओर से आरजू-मिन्नत शुरू हुई। लोग ऐसा समझ न सके थे। इसलिए घबरा कर कहीं देशबन्धु, कहीं पं॰ मोतीलाल, और कहीं अध्यक्ष मौलाना मुहम्मद अली हाथ जोड़ कर गांधी जी को मनाने लगे! मगर जब देखा कि वह सुनने को तैयार नहीं, तो मौलाना मुहम्मद अली ने अपने सिर की टोपी उनके पाँव पर रख दी। तब कहीं जाकर वह पिघले। वह दृश्य देखने ही का था। लेखनी उसे अंकित कर नहीं सकती।

(16)

मेरी छुआछूत

सन् 1923 ई. के अन्त की एक दिलचस्प और जरूरी घटना का उल्लेख कर मैं सन् 1925 में पहुँचूँगा। मौलाना मुहम्मद अली की अध्यक्षता में काकिनाड़ा (Cocanada) (आन्ध्र देश) में कांग्रेस का अधिवेशन होने वाला था। एक दल के साथ मैं भी रवाना हुआ उसमें शामिल होने के लिए। मनमाड़ जंक्शन से हैदराबाद स्टेट रेलवे में जाना और बेजवाड़ा में फिर दूसरी ट्रेन पकड़कर काकिनाड़ा पहुँचना था। हम लोगों ने मनमाड़ में बम्बे मेल छोड़ दी। पास के धर्मशाले में गये। वहीं संयोगवश काशी के प्रसिद्ध देशसेवक श्री शिवप्रसाद गुप्त भी मिल गये। बातचीत में तय पाया कि रास्ते में एलोरा की बौद्धकालीन ऐतिहासिक गुफाएँ देखना जरूरी है। सवेरे स्नानादि के बाद खा-पी के हम लोग ट्रेन में बैठे।

मैंने वहीं पहले-पहल एक दल गांधी टोपी वालों का देखा। पता लगा साबरमती के सत्याग्रह आश्रम के ये लोग हैं। मैंने सुना और पढ़ा था, वहाँ बहुत ही संयम चलता है। मिठाई वगैरह खायी नहीं जाती। मगर वहाँ तो लड्डू, बँदिया आदि का खजाना उन लोगों के पास देखा। उसे खूब उड़ा रहे थे। ताज्जुब तो हुआ कि क्या सचमुच यही लोग गांधी जी के उस ऐतिहासिक आश्रम के निवासी हैं। फिर सन्तोष किया कि आश्रम से बाहर आने पर जो थोड़ी आजादी मिली है उसी का उपभोग ये लोग शायद कर रहे हों! मगर दिल ने बार-बार कहा कि यह क्या है? कुछ दाल में काला जरूर है!

गाड़ी जब एलोरा रोड स्टेशन पर लगी तो देखा कुछ लोग एलोरा जाने के लिए उतर रहे हैं। एलोरा वहाँ से शायद आठ मील है। मगर हमें बताया गया था कि अगले स्टेशन सिकन्दराबाद ही उतरना ठीक होगा। वहाँ से ताँगे वगैरह मिल सकेंगे। हमने ऐसा ही किया। सिकन्दबाद में उतर के गुप्त जी ने कई ताँगे सबों के लिए ठीक किये। खैर, हम लोग एलोरा गये। हमने घूमघूम कर पहाड़ के उदर में उसे ही काटकर दो-दो, तीन-तीन मंजिलों के मकान देखे जिन पर रंगीन चित्रकारी अभी भी ताजी ही मालूम पड़ती थी। सचमुच बौद्ध जमाने की यह रचना अब तक फीकी न पड़ी, यह आश्चर्य है। रंग बनाने का कौन सा विज्ञान उस समय था, कौन बतायेगा? पहाड़ को काट कर कई तल्लों के लम्बे मकानात कैसे बने? यह सब देख कर हम लोग मुग्ध हो गये। घूमते-घूमते थक भी गये। इधर शाम भी हो चली। किसी ने कहा, पास ही गाँव है जहाँ पण्डे रहते हैं। वहीं ठहरना चाहिए। सबने पसन्द किया कि एलोरा गाँव में आज रात को ठहर लें। बस, वहीं किसी पण्डे के मकान में जा ठहरे।

अगले दिन सुबह उठे। शौच, स्नानादि किया। गुप्त जी के साथ काशी का

एक जवान ब्राह्मण रसोइया था। वही पूड़ी और साग भोजनार्थ बनाने लगा। उधर स्नान करके उन्होंने पायजामा पहना यह कह के कि संध्या करेंगे। संध्या भी क्या? शायद प्राणायाम किया। फिर धोती पहन ली। मैं तो किसी के हाथ का बनाया जल्दी खाता न था। मगर वहाँ खाना पकाने में दिक्कत थी। गाड़ी पकड़ने के लिए जल्दी भी थी। समझा कि ब्राह्मण रसोंइया है। गुप्त जी आर्य समाजी हैं। इसलिए यह सच्चरित्र तो होगा ही। भला दुश्चरित्र को वह कैसे रख सकते हैं? इसलिए उसके हाथ की बनी पूड़ी खा तो ली। मगर पीछे पता चला कि वह बड़ा ही दुश्चरित्र है। फिर तो बड़ी ग्लानि हुई। इसलिए मैंने हँसते-हँसते गुप्त जी से कहा कि मैंने तो आपके साथ रहने से सच्चरित्र ब्राह्मण समझ इसके हाथ की पूड़ी खा ली। मगर पीछे पता लगा कि यह है भीषण दुराचारी। इतना सुनते ही हँस के उनने कहा कि "सच्चरित्र किसे कहते हैं?" मैंने कहा, "दुराचार, व्यभिचार आदि"। उनने चट कहा कि "गाय से बच्चा पैदा हो के साँड़ बनता और उसी गाय पर चढ़ता है, तो क्या वह दुराचारी व्यभिचारी है?"

इतना सुनते ही मैं समझ गया कि यहाँ मामला बेढब है। मैं इन्हें गलती से आर्यसमाजी समझता था। इसीलिए मामूली दलील करना मैंने बेकार समझा और बोलने ही वाला था कि उनने पुनः कहा कि "यदि यहाँ श्री प्रकाश होता तो आपको और भी हैरान करता।" मैंने कहा कि "गुप्त जी मैं एक प्रश्न करता हूँ। अगर आपने उसका उत्तर दे दिया तो मैं हार जाऊँगा। मगर यह कह देता हूँ कि मुझे वैसे संन्यासी न समझिये जो अन्ध परम्परा के पिट्ठू होते हैं। मैं तो बुद्धिपूर्वक यह बात मानता हूँ।"

इसके बाद मैंने शुरू किया कि "एक ऐसा ब्राह्मण कल्पना कीजिये जो अच्छा विद्वान् वेदशास्त्रज्ञ, कर्मठ, देशभक्त, खादीधारी, परोपकारी है। वह देशसेवा में जेल भी गया है, कष्ट भोग चुका है। ऐसा आदमी सम्भव है। फलतः वह सभी लोगों को मान्य होगा। अब फिर कल्पना करें कि एक घोर जंगल में स्थित एक ग्राम के निकट झाड़ियों में दैवात् पहुँचकर कुछ करता है या अपनी थकान ही हटा रहा है। आप भी कुछ दूर पर बैठे हैं और उसकी हरकतें देख रहे हैं। मगर मूक हैं। आपकी जिह्वा में बोलने की शक्ति किसी कारण से नहीं रह गयी है। इतने में एक अमीर का नन्हा सा बच्चा सोने-जवाहरात से लदा भटक कर उस झाड़ी में आ जाता है। वह सोना जवाहरात देख के वह ब्राह्मण लोभग्रस्त हो जाता है। यह असम्भव नहीं है। अब सोचता है कि यदि छीनने की कोशिश करूँ तो बच्चा चिल्लायेगा और शायद पास में कोई हो तो पकड़ा जाऊँगा। बस, जबर्दस्त चाकू निकाल के फौरन उसकी गर्दन साफ करता और सब माल लेकर फौरन नौ दो ग्यारह होता है। आप उसकी सारी हरकत देखते, उसे पहचानते भी हैं।"

"अब अगर भविष्य में आपको पानी पीने की इच्छा हो और संयोगवश वही

ब्राह्मण मिल जाय और पीने को पानी लाये, तो क्या आपकी हिम्मत होगी कि पी लें?'' मैं रुक गया और उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा। मगर गुप्त जी की तो बोलती बन्द थी। मैंने बार-बार जोर दिया कि चुप क्यों हैं? बोलिए। मगर उनकी जबान न खुली और न खुली। मैंने कहा कि ऐसे बीसियों प्रश्न कर सकता हूँ। इसे ही चरित्र कहते हैं। मुझे यकीन है, मैंने आपको चरित्र का अर्थ समझा दिया।

इस प्रकार मैंने उन्हें निरुत्तर किया और अपने पक्ष का पूर्णतः समर्थन उन जैसे उच्छृंखल व्यक्ति के सामने कर दिया। उच्छृंखल केवल इस पानी में कि पोथी-पत्रे को जो न माने और कोरी दलील का जो कायल हो। मैंने उनसे यह भी कहा कि मैं इस छुआछूत में बाहरी और भीतरी दोनों ही प्रकार की, शुद्धियाँ मानता हूँ। बाहरी जो धोने-धाने, नहाने और स्थान आदि की सफाई को कहते हैं। भीतरी हैं चरित्र की शुद्धि के साथ ही सभी प्रकार के संक्रामक रोगों का अभाव। यह बात नितान्त परिचित के सिवांय दूसरे आदमी के बारे में जानी नहीं जा सकती। इसीलिए अपरिचित के हाथ का खाना सनातनियों में मना है। मैंने कहा कि जेल में भी मैं खाना बनाने वाले कैदियों से खाना इसलिए नहीं बनवाता था। क्योंकि सोचता था कि न जाने क्या-क्या कुकर्म करके जेल आये होंगे। नल (कल) का पानी भी मैं इसीलिए पीता हूँ नहीं। क्योंकि जहाँ लोटे वगैरह को बाहर-भीतर बराबर मलते हैं। नहीं तो धातु में जहर पैदा हो जाने और गन्दा होने का डर रहता है। वहाँ नल के भीतर या बाहर कभी मला दला नहीं जाता। क्या कोई बिना मले-दले लोटे का पानी पीने की हिम्मत कर सकता है? फिर नल के पानी के पीने की हिम्मत मैं कैसे करूँ? काशी आदि शहरों में तो पाखाने आदि के नलों (drains) के साथ ही पानी के नल चलते हैं। इसीलिए और भी जी नहीं चाहता। नदियों में भी गन्दी चीजें पड़ती हैं सही। मगर वहाँ धातु की बात नहीं है। साथ ही, धारा जारी रहने से पानी में आन्तरिक (chemical action) क्रिया होकर शुद्धि हो जाती है। इसी से कहा है ''बहता पानी निर्मला, बँधा सो गन्दा होय''।

लेकिन तभी से मेरे दिल पर एक विचित्र असर हो गया, यह पहले न था। तभी से मैं छुआछूत के मामले में और भी सख्त और बेमुरव्वत हो गया। क्योंकि वह मेरी दलील मेरे दिमाग के सामने बराबर ताजी रहती है। पहले यह बात न थी। इसलिए आदमियों के आचरण की उतनी सख्ती से खोज ढूँढ़ नहीं करता था। बेशक, मेरे खान-पानी की छुआछूत का अर्थ यह नहीं कि मैं किसी आदमी या जाति को सदा के लिए अस्पृश्य मानता हूँ। यह तो गलत बात है। न तो पोथियों से ही इसकी सिद्धि मेरे विचार के अनुसार हो सकती है। और न स्वतन्त्र रूप से विचार करने से ही। मैं तो केवल खाने-पीने में ही छुआछूत मानता हूँ। इसका कारण भी बताया ही है। मेरी यह छुआछूत विचार मूलक है, बुद्धिपूर्वक है। मैंने इस पर बार-बार सोचा है और जितना ही विचारा है उतना ही इस मामले में सख्त हो गया हूँ। हालाँकि

वर्तमान युग में इससे बदगुमानी मेरे खिलाफ बहुत फैली है। यहाँ तक कि लोगों ने समझ लिया है कि नीच, ऊँच, हिन्दू, मुसलिम आदि भेद बुद्धि के कारण ही मेरी यह छुआछूत चलती है। लेकिन यह लोगों की धारणा गलत है।

मैं जाति या वर्ण के करते नीच-ऊँच या स्पृश्य-अस्पृश्य किसी को नहीं मानता। मुसलमानों या अन्य धर्मवालों को अस्पृश्य मानने की नादानी भी नहीं कर सकता हूँ। मगर किसी को शक हो तो एक बार कोई भी जाति या धर्म का आदमी मेरी रोटी या मेरा पानी छूकर देख ले कि मैं उसे खाता-पीता हूँ या छोड़ देता हूँ। मगर सदा इस प्रकार का छुआ खाने-पीने की हिम्मत मुझमें होती ही नहीं। कुछ मेरा अब स्वभाव ही ऐसा हो गया है। आखिर लगातार 50 वर्षों तक जिसका पालन निरन्तर किया, और इधर आकर तो अत्यन्त बुद्धिपूर्वक किया, वह स्वभाव न हो जाय तो हो क्या? इससे स्वयं मुझे कष्ट होता है। मगर उसका आखिर परिणाम अच्छा ही होता है। इससे खान-पान में मेरा संयम बना रहता है। उससे स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। इसलिए अब तो खान-पान की इस भीषण कट्टरता को मैं अपने स्वास्थ्य की रक्षा के लिए ढाल मानता हूँ। फलतः इसे छोड़ना नहीं चाहता, ताकि नीरोग रह के ज्यादा काम कर सकूँ। नीरोग रहता हूँ भी।

आगे बताऊँगा कि किस क्षण में मैं इस कट्टरता को त्याग दिया करता हूँ और क्यों? इसके दृष्टान्त आगे मिलेंगे। बेशक, मेरी यह कट्टर छुआछूत की बात इस जमाने के लिए है नहीं। इस जमाने में यह असम्भव सी चीज है। इसे बड़ी ही दिक्कत से मैं निभा रहा हूँ। इसीलिए इस अर्थ में मैं दकियानूसी हूँ। सो भी पक्का। ऐसा मानने में मुझे जरा भी हिचक या शर्म नहीं है। यही कारण है, कि मैंने और किसी को भी इसके पालन की राय कभी नहीं दी है! ऐसी भारी भूल मैं हर्गिज कर नहीं सकता। जो लोग कट्टर वैष्णव, आचारी होकर भी बाजार की इमिरती आदि चीजें या डॉक्टरी दवाइयाँ खाते हैं उन्हें मैं ढोंगी मानता हूँ। वे चीजें कैसे बनती हैं और मीलों की चीनी कैसे तैयार होती है यदि वे यह सोचते तो शायद वह यह ढोंग नहीं करते। या तो साफ-साफ सभी खाद्य पदार्थ खाते या छोड़ देते। मैं तो ये चीजें छूता भी नहीं। इसीलिए मैं यह भी मानता हूँ कि या तो मेरी जैसी छुआछूत हो या नहीं तो नये ढंग के खान-पान का तरीका जारी हो। बाजार और हलवाई की चीजें खा के और हिन्दू होटलों में ब्राह्मण के हाथ का बना भोजन हजम करके जो लोग मानते हैं कि छुआछूत का पालन करते हैं वे ढोंगी और नादान हैं। मुझे तो इस छुआछूत के चलते लम्बी यात्रा में रेल में बड़ी दिक्कत होती है। अतएव या तो बीच में ट्रेन छोड़ के खाने-पीने का प्रबन्ध करता हूँ या चौबीस घण्टे यों ही रह जाता हूँ। उसी यात्रा में सिकन्दराबाद से चलकर बेजबाड़ा शाम को पहुँचा। तब कहीं पाखाना गया, दतवन की। फलतः दाँतों का दर्द बेतहाशा बढ़ गया।

(17)

फिर पुरोहिती का प्रश्न

सन् 1924 ई. बीतते-न-बीतते मेरा सम्बन्ध पुनः बिहार से स्थापित हो गया। यों तो यू. पी. में भी आता-जाता ही रहा। कांग्रेस का काम तो कुछ था नहीं। चर्खे और खादी का काम भी क्या कोई ऐसा काम है जो जनता को आकृष्ट कर सके? वह तो राजनीतिक चहल-पहल चाहती है। जन्म से मरणपर्यन्त जिसे जीविकार्थ प्रति दिन जमीन, हवा, सूर्य, पानी और आदमियों के साथ भीषण संघर्ष करना पड़ता है वही जनता संघर्ष के सिवाय दूसरी चीज को अपना वास्तविक कल्याणकारी कैसे समझे? इसीलिए जहाँ एक ओर चुनावों का प्रश्न जोर पकड़ता जा रहा था, तहाँ कांग्रेस में वह पुरानी गन्दगी फिर सिर उठाने लगी जो लड़ाई के समय दबी थी। कहते हैं कि संघर्ष के समय हमारी कमजोरियाँ जेल के भीतर चली जाती हैं। हम वहीं इनका प्रदर्शन करते और इनके शिकार होते हैं। मगर जब संघर्ष न हो तो बाहर ही वे कमजोरियाँ हमें धर दबाती हैं।

इधर कांग्रेस संघर्ष में मेरे पड़ जाने के कारण भूमिहार ब्राह्मणों के पूर्व आन्दोलन के विरोधियों की हिम्मत बढ़ गयी थी। वे जहाँ-तहाँ इन्हें दबाने लगे थे। पुरोहितों ने न सिर्फ पुरोहिती न करने की धमकी दी, प्रत्युत बहुत जगह भूमिहार ब्राह्मणों की पुरोहिती विवाह श्राद्धादि—कराना छोड़ ही दिया। इससे समाज में एक प्रकार का हाहाकर सा मच गया। विरोधी समझते थे कि अब तो स्वामी जी इस काम में पड़ेंगे नहीं। समाज के लोग भी कुछ ऐसा ही समझने लगे थे। इन लोगों ने बड़ी करुणवाणी में अपनी स्थिति बार-बार मुझे सुनाई। फलतः मेरा दिल फिर पसीज गया। एक तो कोई राजनीतिक काम था नहीं। दूसरे यदि जलियांन वाले बाग के करुण-क्रन्दन ने मुझे उधर घसीटा था तो इनका क्रन्दन इधर घसीटने लगा।

जिस आत्मसम्मान पर चोट होने से मैं और मेरे साथ सहस्रों जेलों तक में हँसते-हँसते गये उसी आत्मसम्मान पर फिर दूसरी तरफ से दूसरे प्रकार का चोट हुआ जिससे लोग विचलित हुए। सरकार की धमकी यदि कुछ न कर सकी तो पुरोहितों की धमकी कैसे विचलित करती। पुरोहित समझते थे कि इनमें कोई पौरोहित्य तो जानता नहीं। फलतः हारकर इन्हें गिरना ही होगा। फिर तो मनमानी शर्तें मनायेंगे। ठीक जैसा सरकार समझती थी।

पुरोहितों ने और उनके साथियों ने यह भी प्रचार किया कि स्वामी जी तो सब काम यों ही बीच में ही छोड़कर अलग हो जाते हैं। मैंने देखा कि इस प्रचार का असर भी हो रहा है। फिर तो यह ललकार मुझे बर्दाश्त न हो सकी और एक बार फिर सामाजिक काम में कूदना पड़ा। इसी समय एक चातुर्मास्य में परिश्रम करके सिमरी में रह के बारह सौ पृष्ठों की पुस्तक 'कर्मकलाप' लिखी गयी। इसका जिक्र

पहले आया है। यह पुस्तक दूसरी बार इस काम में कूदने पर ही लिखी गयी।

हाँ, तो मैंने युक्त प्रान्त और बिहार में घूम-घूम कर सैकड़ों सभाएँ कीं और भूमिहार ब्राह्मणों को ललकारा कि आत्मसम्मान का तकाजा है कि स्वयं पुरोहिती करो। मैंने प्रयाग के पण्डों आदि का दृष्टान्त भी दिया कि आखिर वे भी तो भूमिहार ही हैं। बस, लोगों की आँखें खुलीं और इस काम में रुजू हो गये।

मगर, इसमें अब सबसे बड़े बाधक पुराने खयाल के कुछ बूढ़े, जमींदार एवं राजे-महाराजे थे। ये लोग नादानी के कारण पुरोहिती को बुरा बताते थे। हालाँकि घृणित से घृणित काम भी पैसों के लिए कर डालते थे। दलीलों से वे मानते न थे। इसलिए सोचा गया कि भूमिहार ब्राह्मण सभा से ही इस बात को पास कराना चाहिए। सौभाग्य से युक्त प्रान्तीय भूमिहार ब्राह्मण सभा का अधिवेशन 1925 की गर्मियों में काशी में होने को था। मैंने जोर लगाया कि वहाँ सफलता हो। सौभाग्य से मेरा साथ गाजीपुर के प्रायः सभी पढ़े-लिखे लोगों ने दिया, सिवाय एकाध के। लेकिन दुर्भाग्य से काशी में सभा के स्तम्भ और अधिवेशन के प्रबन्धक बाबू कवीन्द्र नारायण सिंह इस बात के विरोधी थे। उनने वहाँ के लोगों को भी अपनी तरफ कर लिया। फिर भी युवक दल मेरे साथ ही था, यहाँ तक कि उन्हीं का बड़ा लड़का भी। आत्मसम्मान और स्वावलम्बन की बात जो थी और चैलेंज का जवाब जो देना था। ऐसी बातें सदा युवकों को अपील करती हैं। उधर कवीन्द्र बाबू निश्चिन्त बैठे कि काशी में वे बाजी मार ले जायँगे ही। मगर सभा में एकाएक प्रस्ताव पर मैंने हृदय में बिंध जाने वाला भाषण दिया। फलतः बहुत वाद-विवाद के बाद राय लेने पर प्रस्ताव पास हो गया। फिर तो खूब आनन्द हुआ। मगर कवीन्द्र बाबू ने इसे अपना घोर अपमान समझा। क्योंकि बाघ की माँद में ही उसे नथिया पहनाई गयी। इस लिए, चाहे जैसे हो, बदला चुकाने की उन्होंने ठान ली।

उनके सौभाग्य से उसी साल दिसम्बर में युक्त प्रान्त के बस्ती जिले में अखिल भारतीय भूमिहार ब्राह्मण महासभा का अधिवेशन होने को था। खलीलाबाद में हुआ भी। उन्होंने पूरी तैयारी शुरू कर दी। बस्ती वालों से सट्टा-पट्टा भी किया। इधर मकसूदपुर (गया) के राजा चन्द्रेश्वर प्रसाद नारायण सिंह को सभापति चुनवाया, यह कह के कि वह भूमिहार ब्राह्मण शिक्षा कोष के लिए साठ हजार रुपये देंगे। उनकी चाल थी कि इससे युवक लोगों पर असर होगा और राजा के भाषण में पुरोहिती का विरोध करवा के बाजी मार लेंगे। तैयारी होने लगी। मैं भी बस्ती में सभा के लिए जा डटा। क्योंकि आग्रह करके लोगों ने बुलाया कि चन्दे की वसूली में मदद दीजिये। बस्ती एक ऐसा जिला है जहाँ बस्ती शहर से कुछ ही मील दक्षिण-पूर्व के कई गाँवों के भूमिहार ब्राह्मणों का विवाह सम्बन्ध सरयूपारियों के साथ बराबर होता आया है। मगर फिर भी समय की ऐसी गति कि वे भूमिहार ब्राह्मण शेष बाबुओं की नजर में छोटे गिने जाने लगे थे। मैंने उनके घर जा के उन्हें उत्साहित किया।

वे लोग भी सभा में आये। उधर कवीन्द्र बाबू ने अपनी तैयारी में कुछ भी कोर कसर न छोड़ी। बाहर से अपने पढ़े-लिखे दोस्तों को बुलाया जिनका एकमात्र काम था सभा के समय तरह-तरह से लोगों को फुसलाना और बरगलाना।

इधर चारों ओर से मेरे समर्थक भी बहुत आये। बिहार से तो एक खासा दल पं० धनराज शर्मा के साथ आया। बाकायदा अपने काम में सभी लोग लग भी गये। अधिवेशन में सभापति जी ने जो लिखित भाषण पढ़ा उसमें दिल खोलकर पुरोहिती के प्रचार का विरोध किया। यहाँ तक लिख मारा कि "कुछ मनचले लोग हमारे समाज में इसका प्रचार करना चाहते हैं।" इस पर लोग बहुत बिगड़े। यहाँ तक कि भाषण से 'मनचले' शब्द जब तक निकाला न गया, उन्हें आगे बढ़ने न दिया! यह हमारी पहली विजय थी। इससे उस दल में खलबली मची, फिर तो भीतर-ही-भीतर स्थानीय लोगों को यह कहा गया कि सभा में सभी जात के लोगों को ला के भर दीजिये और विरोध में वोट दिलवाइये। दोस्तों ने इसकी पूरी तैयारी भी कर ली। मुझे यह बात पीछे विदित हुई, हालाँकि मेरे साथी पहले भी जानते थे।

सभा में जब प्रस्तावों का समय आया तो अपार भीड़ थी। बाबू कवीन्द्र नारायण सिंह ने स्वयं पुरोहिती के प्रस्ताव का विरोध किया और दबाव डालकर राजा साहब तमकुही से उस विरोध का समर्थन कराया। तमकुही, गोरखपुर में है और बस्ती का पड़ोसी होने से उनका असर बस्ती जिले वालों पर अच्छा था। वे राजा भी ठहरे। प्रस्ताव को मैंने ही खुद पेश किया था। पेश करने के समय भी मैंने अच्छा भाषण दिया। मगर पूरी बहस हो चुकने के बाद जब मुझे उत्तर देने को कहा गया तो पं० धनराज शर्मा ने कहा कि जरा भावुकता भरी (feeling) अपील कीजिये। सचमुच जो भाषण मैंने उस समय दिया, उस विषय का वैसा भाषण शायद ही कभी दिया हो। मैं देर तक बोला और ऐसा बोला कि पत्थर भी पसीज जाय। पता लगा कि उस भाषण के बाद कवीन्द्र बाबू के कट्टर समर्थकों तक ने उनसे कह दिया साफ-साफ, कि अब हममें हिम्मत नहीं है कि विरोध करें। सबों के दिल में बात बिंध गयी।

तब कवीन्द्र बाबू ने सोचा कि सभापति तो हमारे आदमी हैं। अतः वोट लेने में गड़बड़ी करवाके, या यों ही, जैसे-तैसे, घोषणा करा ही देंगे कि प्रस्ताव पास न हो सका, यही हुआ भी। वोट का समय आया तो हाथ उठवाये गये। विरोध में थोड़े हाथ थे और पक्ष में असंख्य। फिर भी उनने कान में सभापति जी से कुछ कह के घोषित करवा दिया कि, प्रस्ताव गिर गया! इस पर हमारे साथियों ने विभाग करवा के अलग-अलग गिनवाने की माँग पेश की। पर, एक न सुनी गयी। तीन बार कोशिश करने के बाद हमने और यत्न करना बेकार समझा। इस प्रकार कवीन्द्र बाबू की मोंछ किसी प्रकार रह गयी। सभा खत्म हुई। मगर हम लोग खत्म होने से पहले ही कानपुर कांग्रेस में सम्मिलित होने के लिए ट्रेन से भागे।

कानपुर से लौटकर मैंने साथियों से राय की कि कवीन्द्र बाबू की शैतानियत

का बदला सूद सहित शीघ्र ही चुकाया जाना चाहिए। बात ठीक याद नहीं कि किस कारण से महासभा का अधिवेशन सन् 1926 ई. की गर्मियों में ही करने का निश्चय हुआ। खलीलाबाद में निमन्त्रण तो बिहार की ही तरफ से पड़ा था। मगर दिसम्बर में न हो के गर्मियों में उसका अधिवेशन करने का निश्चय शायद इसलिए किया गया कि दिसम्बर में कांग्रेस का अधिवेशन होने से कांग्रेसी भूमिहार ब्राह्मण महासभा में शामिल हो नहीं सकते। खलीलाबाद से कानपुर तो निकट था। इसलिए जा सके सो भी किसी प्रकार। मगर दूर-दराज प्रदेशों में होने पर जाना असम्भव था। इसलिए गर्मियों के अलावे दूसरा समय था नहीं। कवीन्द्र बाबू के दुर्भाग्य से बदला लेने का समय जल्दी ही आ गया। अधिवेशन की तैयारी जोरों से होने लगी।

दुंदा सिंह की ठाकुरबाड़ी, बाकरगंज (पटना) में ही अधिवेशन करने का निश्चय हुआ। उसी में सर गणेशदत्त सिंह का डेरा था। एक बात बता दूँ कि प्रायः 1924 ई. में जब पुरोहिती का आन्दोलन चल पड़ा तो कुछ जमींदारों ने उसके बाद सर गणेशदत्त सिंह से शिकायत की कि स्वामी जी तो बड़ी तेजी के साथ भूमिहार ब्राह्मणों को पुरोहिती की ओर घसीटे जा रहे हैं। एक दिन उनके डेरे पर कुछ लोगों के साथ मैं भी बैठा था कि इसी की चर्चा छिड़ गयी। इस पर सर गणेश ने कहा कि आप तो हमारे समाज को चौपट कर रहे हैं। लड़कों और जवानों का पढ़ना छुड़ाया। उन्हें तथा औरों को ज्यादा तादाद में जेल भिजवाया। अब भिखमंगी वाला पुरोहिती का काम सिखाकर रहे-सहे को भी चौपट करना चाहते हैं! मैंने कुछ कहना चाहा कि यह क्या कह रहे हैं। मगर वह आवेश में बोलते ही गये। यहाँ तक कह डाला कि यदि बाभन (भूमिहार ब्राह्मणों को बिहार में बाभन ही कहते हैं) का बच्चा कथा बाँचकर पैसा ले और खाये तो शर्म की बात होगी, डूब मरने की चीज होगी।

इस पर मुझे भी आवेश आया। मैंने साफ-साफ सुना दिया कि बाभन का बच्चा यदि कथा बाँचकर जीविका करे तो वह उसके लिए डूब मरने के ब्रजाय गौरव की बात होगी। कारण, वह तो ब्राह्मण है और कथा बाँचना ब्राह्मण का ही धर्म होने से वैसा करने के लिए अन्ततोगत्वा उसे मजबूरी है। अगर जो ब्राह्मणपन का दावा करे, चोंगा पहन के इजलास पर गंगा तुलसी उठवा के झूठी कसम खिलवाये और उसके मेहनताने के पैसे को ले तो उसे चिल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिए। इतना कहके मैं वहाँ से चला आया। सर गणेश उन दिनों मिनिस्टर थे और पहले वकालत करते थे। मगर तब तक 'सर' न बने थे। उन्हीं को लक्ष्य करके मैंने कहा था। इससे वह जल-भुन गये। मेरा और उनका तभी से खासा मनमुटाव हो गया था।

खैर, स्वागत-समिति के सदस्य सर गणेश भी थे। समिति के सामने सवाल था कि अधिवेशन का सभापति कौन हो? मैं चाहता था कि कोई राष्ट्रवादी कांग्रेसी हो। इसीलिए असौढ़ा (मेरठ) के चौधरी रघुवीर नारायण सिंह को मैं अध्यक्ष बनाना चाहता था। मगर अब तक सभा का सूत्र जिनके हाथों में था वे राजे-महाराजे और

उनके सलाहकार सर गणेश वगैरह इसे सहन नहीं कर सकते थे। वह तो जी-हुजूर होने के नाते कोई वैसा ही सभापति चाहते थे। पहले सभा में हर साल राजभक्ति का प्रस्ताव पास होता था। उसे तो हमने कभी खत्म करवा दिया था। अब सभा को थोड़ा और सामयिक बनाना चाहते थे। मगर वह लोग विरोधी थे। असल में दृष्टिकोण और स्वार्थ का तकाजा यही था। इसमें दोष किसी का नहीं। चौधरी रघुवीर नारायण सिंह पुरोहिती के मामले में मेरा समर्थन करते ही। क्योंकि यह तो आत्मसम्मान का प्रश्न था और वह थे पक्के असहयोगी और जेलयात्री। उनके लड़के की शादी तो गौड़-जमींदार के ही घर हुई थी। फिर उन्हें हिचक क्यों होती?

जिस दिन आखिरी फैसला होने को था कि कौन चुना जाय, उस दिन की मीटिंग में सर गणेश न आये सही, पर, यह कह के टहलने चले गये कि मेरा समय तो अब टहलने का है। इसलिए बाकी लोगों की मीटिंग हुई। ज्यादातर धनी लोग ही थे। एकेबाद दीगरे नामों को लोग पेश करने लगे। महाराजा बनारस से शुरू करके क्रमशः ग्यारह नाम रक्खे गये। उसके बाद भी जब चौधरी साहब का नाम न रख एक साधारण सज्जन का नाम रखा जाने लगा तो मैं इसे बर्दाश्त न कर सका और बोला कि यह तो अनर्थ हो गया। यहाँ मैं न मानूँगा और बारहवाँ नाम तो उनका ही रहेगा। खैर, लोगों ने मान लिया। आगे किसी का नाम नहीं दिया गया। सभी समझते थे कि ग्यारह में कोई-न-कोई होई जायगा। सभी एकबारगी इनकार थोड़े ही करेंगे। फलतः चौधरी साहब न होंगे। वे लोग सोचते थे कि सरकार का बागी यदि सभापति बना तो गजब हो जायगा! पुश्त-दर-पुंश्त की सरकार की खैरख्वाही खत्म हो जायगी! लेकिन उन्हें क्या पता था कि उनके सभी लोग न आ सकेंगे और मजबूरन चौधरी साहब को ही सभापति बनाना पड़ेगा।

इस तरह सभापतियों के नामों को तय करके जब हम लोग दूसरी बातों का विचार कर रहे थे तब सर गणेश भी मीटिंग में आ गये। आते ही पूछा कि क्या हो रहा है? बताया गया। चौधरी साहब का नाम सुनते ही वे चौंक पड़े और उसमें फिर कुछ गड़बड़ी करनी चाही। इस पर मैंने सभापति का ध्यान आकृष्ट किया कि वह बात तो खत्म हो चुकी। नियमानुसार हम लोग उसे उठा नहीं सकते। बस, इतने से ही सर गणेश चिढ़ कर बोले यदि आप मुझे नहीं चाहते तो जाता हूँ, और उठने लगे। इस पर मैंने कहा कि नहीं चाहने की तो कोई बात नहीं, मैं तो नियम की बात बोलता हूँ। फिर भी मगर आप चले जायँगे तो दुनियाँ खाली थोड़े ही हो जायगी। खैर, उसके बाद वे चले गये या नहीं यह याद नहीं। मगर लोगों ने हम दोनों को ठण्डा किया और काम पूरा किया। पर, सर गणेश ने बखूबी समझा कि यह संन्यासी बड़ा ही बेढंगा है। उसके बाद से उन्होंने उस ढंग से मेरे साथ पेश आना सदा के लिए छोड़ ही दिया। क्योंकि दो बार तो उन्हें करारा जवाब मिला था। मन में दुःख तो था ही। मेरा प्रभाव समाज पर था तो करते क्या? यह ठीक है कि असहयोग

युग में प्रायः पचहत्तर प्रतिशत जेल जाने वाले भूमिहार ब्राह्मण ही थे। प्रायः उसी प्रकार लड़कों ने भी स्कूल कॉलेज छोड़े थे। मुझे तो इसका फख्र था कि जिस समाज की सेवा के करते बदनाम हुआ उसने मौके पर मेरा साथ दिया और मुल्क का सिर ऊँचा करने में वह आगे रहा। मगर सर गणेश जैसों को तो इस बात का दुख था ही। फिर भी लाचारी थी।

इसके बाद यारों ने दौड़धूप शुरू की। ग्यारहों महाशयों के पास पत्र गये, याददाश्तें गयीं और कइयों के पास तो एकेबाद दीगरे आदमी भी भेजे गये। अगर इनकी बदकिस्मती से उनमें कोई भी आने को रवादार न हो सका। इससे बड़ी घबड़ाहट हुई। पुनरपि खास तौर से कोशिशें की गयीं। मगर फिर भी बेकार! अब बुरी गत थी। सरकार के बागी को ये लोग चाहते न थे और शेष ग्यारहों में एक भी मिलता न था। इस प्रकार चौधरी साहब को रो गाके किसी प्रकार गले के नीचे उतारना ही पड़ा।

इसी दरम्यान में एक दिन सभा के काम से ही जब मैं उसके ऑफिस में गया, जो सर गणेश के डेरे में ही था, तो उन्होंने कहा "स्वामीजी, मुझे कोरा गया गुजरा ही न समझिये। मैं भी मानता हूँ कि पहले मुल्क, पीछे जातपाँत "First country, then community." ये उनके शब्द हू-ब-हू हैं। वह समझते थे कि मैं उन्हें देश का शत्रु और अपनी जाति की तरफदारी करने वाला जानता था। बात थी भी कुछ ऐसी ही। इसीलिए उन्होंने ऐसा कहा। इस पर कुछ और बातें हुईं और जैसी कि मेरी आदत है मैंने उनकी बात मान ली। तब से मेरा रुख उनके प्रति बदला। इसीलिए आना-जाना जो बन्द था वहाँ फिर जारी हो गया। फिर तो सन् 1929 ई. की गर्मियों के बाद एक प्रकार से सदा के लिए बन्द हो गया। इसकी कहानी आगे मिलेगी। सन् 1926 और 1929 के बीच के 3 वर्षों तक मैं उनकी बात पर विश्वास करके उन्हें बहुत नजदीक से देखता रहा।

अस्तु, सभापति चौधरी साहब पटने आये। उनका शानदार स्वागत हुआ। सभा स्थान खूब सजा-धजा और लम्बा-चौड़ा था। लोग आश्चर्य में भी थे और खुश भी थे। मगर मुझे तो पुरोहिती वाली बात की फिक्र थी। कवीन्द्र बाबू से सूद के साथ बदला चुकाना था। इसीलिए उसी में लगा था। इधर पटने में कवीन्द्र बाबू की नातेदारी होने और बिहार के अन्य जमींदारों से निकट का सम्बन्ध रहने के कारण वे भी पूरी तैयारी में थे। मुझे यहाँ तक पता चला कि टेकारी के महाराज कुमार श्री गोपाल शरण सिंह के पास ऐसी झूठी खबर भेजी गयी थी कि आपके विरुद्ध सभा में प्रस्ताव लाया जायगा। क्योंकि उनकी शिकायतें बहुत फैली थीं। इस प्रकार उनसे कहा गया कि रेलगाड़ी में हजारों आदमी भेजिये कि मौके पर आपके पक्ष में वोट दें। उधर पटने के धरहरा गाँव में उनके लड़के की शादी होने के कारण वहाँ के जालिम जमींदारों ने अपने किसानों के दल के दल सभा में आने के लिए तैयार किये। सबका एक

ही मतलब था कि पुरोहिती वाले प्रस्ताव के विपक्ष में वोट दिलाया जाय। इतना ही नहीं। स्वयं कवीन्द्र बाबू ने ऐसी घोषणा की कि खलीलाबाद के बचन के अनुसार राजा चन्द्रेश्वर प्रसाद नारायण सिंह से साठ हजार रुपये का कागज लिखवाकर ला रहा हूँ और महासभा को उसे सौंप दूँगा। शर्त केवल एक ही होगी कि पुरोहिती वाला प्रस्ताव गिर जाय।

सुना था कि तलवार के बल से धर्म का प्रचार पहले होता था। लोभ दिलाकर लोग पथभ्रष्ट किये जाते थे। मगर उसका ज्वलन्त दृष्टान्त सामने आया। फिर भी उनकी एक न चली। अन्त में वे विफल मनोरथ हुए। बात यों हुई कि सभा के एकाध दिन पहले से ही उत्तर बिहार से हजारों हजार लोग रेल से, पैदल, नाव से आने लगे। ताँता बँध गया। उनसे जो ही पूछता कि कहाँ आये हैं और क्या करने, उसे साफ जवाब देते कि भूमिहार ब्राह्मण सभा में आये हैं पुरोहिती का प्रस्ताव पास करवाने! ये बातें सुनते-सुनते, कवीन्द्रबाबू के दल में खलबली और आतंक छा गया। उनने सोचा कि, दस-बीस हजार या जितने आ रहे हैं सभी का एक ही मन्त्र है पुरोहिती। फिर तो खुली सभा में मुँह की खानी होगी। इसलिए सुलह की बात उन्होंने सोची। खैर, बाबू रामदयालु सिंह ने, जो मेरे पत्र के समर्थक थे, पर, जिन पर उनका भी विश्वास था, समझौते की बात मान ली और एक ऐसा प्रस्ताव बनाया जिसमें मेरी सभी बातें थीं। बल्कि जितना मैं चाहता था उससे ज्यादा थीं। यह प्रस्ताव दूसरे दल को भी स्वीकार था। अन्त में वही पेश हुआ और बिना वाद-विवाद के ही सभापति की ओर से पास कर दिया गया। वे लोग डरते थे कि वाद-विवाद में मामला और भी बेढब हो जायगा। इसलिए धीरे से पास करवा लेने में ही खैरियत समझी गयी। ताकि कोई सुने, कोई न सुने। मैंने भी मान लिया। इस प्रकार पुराना झमेला खत्म हो गया और महासभा की मुहर पुरोहिती पर लग गयी। चौधरी साहब ने अपने भाषण में भी इसका समर्थन बहुत सुन्दर ढंग से किया था।

इसके बाद तो उसका काम ऐसा बढ़ा और लोगों की अपने ही दल के पुरोहितों की माँग इतनी बढ़ी कि यदि मेरा 'कर्मकलाप' न होता तो बड़ी कठिनाई होती। लोगों को निराशा होती जिसका परिणाम बुरा होता। बेशक, इस अधिक माँग के सिलसिले में कुछ लोग समाज में ऐसे भी निकल आये जिन्होंने पुरोहिती के नाम पर लोगों के नये जोश से अनुचित लाभ उठाया, उठाना चाहा। मगर यह अनिवार्य था। कुछ समझदार लोगों नें मुझसे यह भी कहा कि आपने मूर्खों और स्वार्थियों को जमने का यह मौका देकर गलती की। एक ऐसा दल तो पहले से ही जमा था। अब आपने उसकी जगह एक वैसे ही दूसरे को जम जाने का मौका दे दिया। हम तो पहले दल को उखाड़ना चाहते थे। खैर, वह तो उखड़ा या उखड़ने लगा। मगर ये नये लोग तो न उखड़ सकेंगे। क्योंकि इनका नया दावा है। क्योंकि इनकी नयी जरूरत आपने पैदा कर दी है। मैंने उन्हें उत्तर दिया कि जिन लोगों ने वंश परम्परा

से गद्दी नशीन पुराने लोगों को उखाड़ फेंका वही नये लोगों को भी न रहने देंगे, यदि ये नालायक हुए। यहाँ तो "बुढ़िया के मरने की बात नहीं है यम का रास्ता जो खुल गया।" इसीलिए यकीन रखिये, जिन लोगों ने शालग्राम को भून दिया उन्हें बैंगन भूनने में देर न लगेगी। पुराने लोग यदि शालग्राम थे, तो नये लोग (पुरोहित) बैंगन हैं। बहुत जगह ऐसा ही हुआ भी और नये पुरोहित जी को हटाकर लोगों ने स्वयं अपनी पुरोहिती कर ली! इस प्रकार मेरी बात सच निकली!

(18)

श्री सीतारामाश्रम–क्रान्ति का प्रतीक

प्रसंगवश यहीं पर मैं एक महत्त्वपूर्ण बात कह देना चाहता हूँ। यद्यपि क्रम के हिसाब से सन् 1927 ई. की घटनाओं के अवसर पर ही इसे कहना चाहिए। तथापि उपयुक्त अवसर यही है। उस अवसर पर यह मजा न आयगा। मैं पहले कही चुका हूँ कि आत्मसम्मान की भावना एवं पुकार ने ही मुझे भूमिहार ब्राह्मणों के सामाजिक कार्य में कुछ समय के लिए घसीटा। उसमें कोई प्रति हिंसा, स्वार्थ या तुच्छ राजनीति की भावना न थी। केवल गिरे या यों कहिये कि बलात् गिराये गये समाज को उठाना था और उसमें आत्मगौरव की रूह फूँकनी थी जो बहुत अंशों में खत्म हो चुकी या हो रही थी। मैंने किताबें पढ़ के राजनीति, यहाँ तक कि उग्र राजनीति भी, नहीं सीखी है। इसका मुझे या तो मौका ही न मिला, या इसमें मेरी प्रवृत्ति ही नहीं हुई। मैं तो धीरे-धीरे आगे बढ़ा हूँ। मेरे अनुभवों ने ही मेरे गुरु, शिक्षक और पुस्तकों का काम दिया है। बेशक, स्वभावतः मेरी प्रवृत्ति बराबर अग्रसर होने की थी। आज भी है। मगर एकाएक अन्धकाराच्छन्न राजनीतिक दुनियाँ में कूद कैसे जाता? हाँ, यदि बचपन से कुछ ऐसी शिक्षा मिली होती या ऐसा संसर्ग रहा होता, तो शायद एकाएक राजनीति में कूद सकता था। मगर सो तो था नहीं। 25-30 वर्ष की उम्र तक की मेरी दुनिया तो कोरी धार्मिक और दार्शनिक थी। सो भी कट्टर सनातन धर्म की। फलतः संसर्ग भी ऐसे ही लोगों का रहा जो राजनीति को जानते तक न थे। वे तो उलटे ऐसे कार्यों के सख्त दुश्मन होते हैं। ऐसी दशा में स्वभाव के जोर मार पर भी, अन्य उपयुक्त साधनों के अभाव में, अनुभव प्राप्ति के बल पर ही एकाएक सीढ़ीं चढ़ते-चढ़ते ऊपर बढ़ सका हूँ। लेकिन इतना कह सकता हूँ कि बराबर आगे बढ़ता रहा हूँ यह प्रक्रिया बराबर जारी है। इसलिए बिहार के एक अखबार नवीस को, जो मेरा सख्त समालोचक है और मुझे जली-कटी सुनाने में लगा ही रहता है, एक बार स्वीकार करना पड़ा था कि "स्वामी जी चाहे और कुछ हों या न हों, मगर निरन्तर आगे बढ़ने वाले जरूर हैं, Swami is nothing if he is not progressive."

जो लोग मेरी इस कमी को, जिसे साधनों की कमी कह सकते हैं, मगर जिसे मैं कदापि कमी नहीं मानता, नहीं जानते कि राजनीतिक पुस्तकों के पढ़ने का मौका मुझे नहीं मिला, वह मुझे ठीक-ठीक समझने में भूल करते हैं। वे तन्मूलक भ्रान्त समालोचना भी कर बैठते हैं। लेकिन अनुभवों के सहारे आगे बढ़ने का सुन्दर परिणाम यह हुआ है कि मेरा आधार मजबूत हुआ है और पीछे जाने की सम्भावना रह नहीं गयी है जिसका बहुत बड़ा खतरा राजनीति में रहता है।

हाँ, तो जब पुरोहित दल ने इधर आ के सीधा तथा असहयोग शुरू किया और इस प्रकार भूमिहार ब्राह्मणों को और फलतः मुझे भी बलात् झुकाना एवं गिराना चाहा, तो मैंने निश्चय कर लिया कि ऐसा होने न दूँगा। इसी के फलस्वरूप पुरोहितों के तीव्र आन्दोलन की बात पहले कही गयी है। मैंने सोचा कि पुरोहितों के विरुद्ध क्रान्ति या बगावत कर देना ही ठीक है। बस, क्रान्ति का झण्डा मैंने बुलन्द किया।

इसी बीच यह भी खबरें आयीं कि काशी में तथा अन्य जगह भी भूमिहार ब्राह्मणों को संस्कृत पढ़ाना बन्द सा है। जानकर तो कोई नहीं पढ़ाता। यों अनजान में कोई भले ही पढ़ा ले। इसी को यों कहते सुना कि इन्हें संस्कृत पढ़ाना साँप को दूध पिलाना है। इसका साफ अर्थ था कि सारे पुरोहित समाज ने बड़ा भारी षड्यन्त्र कर लिया था कि वे लोग कहीं भी संस्कृत पढ़ने न पायें। फिर देखें, अपनी पुरोहिती, अपने श्राद्ध-विवाहादि कैसे कराते हैं। यहाँ तक हालत थी कि यदि स्वतन्त्र संस्कृत पाठशालाएँ खुलवाकर उनके लिए पण्डित ढूँढ़े जाते तो या तो मिलते ही न थे और अगर बड़ी मुश्किल से अधिक वेतन पर मिलते भी तो पाठशाले में ही गड़बड़ी करते थे। भूमिहार ब्राह्मणों के बच्चों को या तो वहाँ भी ठीक-ठीक पढ़ाते ही न थे, या इधर-उधर की बातें करके उन्हें संस्कृत पढ़ने से विरक्त कर देते थे।

ऐसी दशा में मेरे सामने भारी समस्या थी। वह पहाड़ की तरह खड़ी थी, मुझे उसे या तो हल करना था या विरोधियों के सामने झुकना था। यह हल केवल कर्मकलाप के लिखने से आंशिक रूप में ही हल हो सका था। पूर्णतया हर्ज होना तो अभी बाकी ही था। ऐसी दशा में बगावत का झण्डा कैसे ऊँचा हो यह सोचना पड़ा। **श्री सीतारामाश्रम, विहटा, पटना उसी सोच-विचार और चिन्ता के फलस्वरूप मेरी इस क्रान्ति के प्रतीक के रूप में ही स्थापित किया गया। यही कारण है, कि जेल में बैठे-बैठे भी उसी की चिन्ता मुझे बनी है, कारण, उसके साथ इस प्रतीक होने के नाते ही स्वभावतः मेरी अपार प्रीति है। हालाँकि अब इसके लिए विशेष रूप से कुछ करता-धरता नहीं। क्योंकि न तो ऐसा करने का अवसर ही मिलता और न अब ऐसी जरूरत ही समझता हूँ जैसा कि पहले उसके लिए करता था। फिर भी क्रान्ति का वह प्रतीक बराबर कायम रहे, वह झण्डा बराबर उड़ता रहे यह तो चाहता ही हूँ।**

बात यों है कि जब मैं सन् 1926-27 में इसी चिन्ता में निमग्न था कि किस प्रकार सफलता के साथ इस बगावत का झण्डा खड़ा करूँ तभी पटने के एक वकील

पं. रामबहादुर शर्मा ने, जो मेरी इस वेदना को उस समय बखूबी समझते थे, एक दिन अचानक सन् 1927 ई. की गर्मियों में मुझसे मिलकर कहा कि विहटा (राघवपुर) में एक परमहंस जी रहते हैं। उनका नाम श्री सीताराम दास है। उनका एक बाग और उसमें मकान वगैरह हैं। वह भूमिहार ब्राह्मण हैं। वह वृद्ध हैं और चाहते हैं कि मृत्यु से पूर्व उन सब चीजों को किसी ऐसे आदमी को सौंप दें जो वहाँ ब्रह्मचर्याश्रम बनाकर भूमिहार ब्राह्मणों के बालकों को वेद, शास्त्रादि पढ़ा सके। उन्होंने कहा कि उनके पास प्रायः दो सहस्र रुपये भी हैं। वे उन्हें भी सौंपने को तैयार हैं। फिर क्या था? सहसा मेरी आँखें चमक उठीं, जो चाहता था वही मिला। मैं तो चाहता ही था कि एक ब्रह्मचर्याश्रम खोलकर सैकड़ों को संस्कृत के प्रौढ़ विद्वान् और वेद वेदांग-पारंगत बनाऊँ। जहाँ तक पण्डित मिल सकें उनसे काम लूँ। नहीं तो स्वयं भी पढ़ाऊँ। तभी तो पुरोहितों के आक्रमण और असहयोग का ठीक उत्तर दिया जायगा। बस, मैं राजी हो गया। शीघ्र ही परमहंस जी से मिलने की बात हुई। तारीख भी ठीक हो गयी कि कब मिला जाये। पं. रामबहादुर शर्मा तथा एक फोटोग्राफर के साथ मैं एक दिन विहटा जाकर मिला भी। बातचीत भी हो गयी। उस समय का मेरा और परमहंस जी का एक सम्मिलित फोटो मौजूद है। हाँ, यह बात ठीक याद नहीं कि फोटो पहली ही बार लिया गया या पीछे से, मगर लिया गया जरूर।

परमहंस जी से कई बार बातें हुईं। अन्त में तय पाया कि सारी जायदाद को एक पंचायत के हवाले कर दें और एक पंचायतनामा (trust deed) लिख दें। यही हुआ भी। सर गणेशदत्त सिंह वगैरह नौ आदमियों की एक पंचायत कायम करके उसी के नाम से लिखा-पढ़ी और रजिस्टरी हो गयी। पंचायत में मेरा और पं. रामबहादुर शर्मा का भी नाम है। उसमें साफ-साफ लिखा गया कि ब्रह्मचर्याश्रम खोला जायगा जिसमें केवल भूमिहार ब्राह्मणों के लड़कों को ही खर्च दिया जायगा और वही पढ़ाये जायँगे। एक मन्दिर बनाने की भी बात उसमें लिखी गयी। मगर मैंने उनसे और दूसरों से साफ कह दिया कि यदि अन्य लोग चाहें तो ठाकुरबाड़ी बनवा दें। मुझे उज्र न होगा। मगर मैं तो सिर्फ ब्रह्मचर्याश्रम के ही चलाने और बढ़ाने की कोशिश करूँगा, हुआ भी यही। मन्दिर तो किसी ने बनवाया नहीं। हाँ, आश्रम चला, आज भी जारी है। उक्त परमहंस जी की यादगार में ही मैंने उसका नाम श्री सीतारामाश्रम तय करवाया, क्योंकि उनका नाम सीताराम दास था। परमहंस जी के पास पैसे तो थे जो इधर-उधर पड़े थे, कुछ हैण्डनोट आदि भी थे। मगर उन्होंने एक कौड़ी भी न दी, उनके मरने पर वह रुपये यों ही जहीं-तहीं रह गये। वह इतने सीधे थे कि इतना भी न समझ सके कि लिखा-पढ़ी कर दें तो मरने के बाद वसूल हो जायँगे। वह समझते थे कि लोग दे ही देंगे। मगर देता कौन है?

उस समय तो उतना नहीं, बीच में बहुत ज्यादा और आज भी लोग मेरे ऊपर कटाक्ष करते हैं कि मैं तो हृदय से जातिवादी और भूमिहार ब्राह्मणों का पक्षपाती

हूँ। इसमें पुराने आन्दोलन के अलावे आश्रम का ही सबूत देते हैं कि उसमें सिर्फ भूमिहार ब्राह्मणों के ही लड़के क्यों पड़ते हैं और उन्हें ही खर्च क्यों मिलता है। जबकि मैं ही उसका अध्यक्ष और सर्वेसर्वा हूँ।

लेकिन ऐसे लोग कई बातें भूल जाते हैं या जानबूझ कर भुला देते हैं। कुछ लोग तो वे बातें जानकर ही यह आक्षेप करते हैं। आन्दोलन का रहस्य तो मैं बता ही चुका हूँ। रह गयी आश्रम की बात। सो तो ऐसी ही है कि उसमें पढ़ने की मनाही किसी के लिए भी नहीं है। सरयूपारियों और कान्यकुब्जों के लड़के भी पढ़ते हैं। हाई स्कूल के और दूसरे कितने ही बनिये या दूसरे लड़के जब चाहते हैं वहाँ के पण्डितों से पढ़ जाते हैं। खुशी से पण्डित लोग पढ़ा देते हैं। अतः पढ़ने में कोई भेदभाव नहीं है।

रह गयी खर्च की बात। सो तो जिस परिस्थिति में वह आश्रम खुला और पंचायतनामे में जो शर्तें लिखी गईं उन पर ध्यान देने पर अनिवार्य है। परिस्थिति उस समय ऐसी थी कि दूसरी बात लिखी जा सकती नहीं थी और पंचायतनामे के विरुद्ध मैं अब कुछ कर सकता नहीं।

मेरे सर्वेसर्वा होने की बात तो निराधार है। ठीक है कि प्रबन्ध और अर्थ संग्रह अधिकांश मैंने ही बराबर किया है। फिर भी सर्वेसर्वा तो पंचायत (trustees) ही है। मैं तो उन्हीं का नियत किया गया प्रबन्धक मात्र हूँ। जिस समय चाहें वे मुझे वहाँ से हटा दे सकते हैं और पंचायत से भी निकाल सकते हैं। पंचायत (ट्रस्ट) का तो कानून ही ऐसा है। लोगों को यह कहाँ मालूम है कि यद्यपि आश्रम को राजनीति से कोई ताल्लुक नहीं, तथापि मेरी राजनीति और किसान आन्दोलन के करते मुझे स्वयं डर बना रहता है कि मुझे भी वहाँ से हटाने की कोशिश ट्रस्टी लोग कहीं कर न बैठें। क्योंकि आज भी उन ट्रस्टियों में बहुमत ऐसे लोगों का ही है जो किसी न किसी कारण से मेरे विरोधी हैं। बहुतेरे तो बड़े जमींदार हैं या उन्हीं के पिट्ठू। इसीलिए मैं आश्रम को साक्षात् रूप से राजनीति में जानबूझकर पड़ने नहीं देता। यह ठीक है कि मुझे हटाना टेढ़ी खीर है। फिर भी वैसा वे लोग कर सकते हैं, अगर मौका पा जायँ। फलतः मेरी दिक्कतें बढ़ सकती हैं।

फिर भी जब लोगों ने बार-बार मुझसे ये सवाल किये तो मैंने कहा और घोषणा भी कर दी कि उस आश्रम में तो दूसरे दलों के लड़कों को ट्रस्ट के नियमों के अनुसार खर्च नहीं मिल सकता। मगर, अगर आक्षेपकर्त्ता लोग कोशिश करके कुछ धन एकत्र करें तो उसमें मैं भी सहायता कर दूँगा। फिर तो उसी धन से उस आश्रम का परिशिष्ट दूसरा आश्रम उसी से मिला हुआ खोलकर सभी जातियों को खर्च देने का प्रबन्ध करवा दूँगा। पढ़ना तो उसी में होता ही और पीछे भी होगा। मगर यह करता है कौन? हालाँकि मेरी यह घोषणा आज भी ज्यों की त्यों बनी है और मैं तैयार हूँ।

लेकिन मैं अकेला ही वह काम करूँ यह तो असम्भव है। एक तो अब फुर्सत

ही नहीं। जब उसके ही लिए अब धन संग्रह करना असम्भव सा हो रहा है और पहले ही किये गये प्रबन्ध से जैसे-तैसे चल रहा है, तो नये के लिए क्यों और कैसे संग्रह करूँ? पहले के लिए जो कारण थे वह तो दूसरे के लिए हैं भी नहीं कि उसी खयाल से पड़ जाऊँ। बेशक, यदि किसी और जाति या दल के साथ उसी प्रकार के आत्मसम्मान का सवाल आज भी होता और तदर्थ वेदवेदांग पढ़ना जरूरी होता तो मैं खामख्वाह वैसा काम आज भी कर देता। लेकिन सो तो है नहीं। तब उसमें क्यों पड़ूँ? यह भी तो सोचना चाहिए कि दूसरों के लिए तो हजार जगहें हैं, जहाँ, खाना, कपड़ा, मकान वगैरह भी मिलता है और पढ़ाने वाले भी हैं। मगर भूमिहार ब्राह्मणों के लिए तो दरवाजा बन्द ही था जब आश्रम शुरू किया। आज भी तो थोड़ी-बहुत गड़बड़ी चलती ही रहती है।

यदि मैथिल, सरयूपारी आदि पण्डित आश्रम में रहेंगे तो फिर भी खटपट और गड़बड़ी चलेगी जैसा कि और जगह हुई है। इसलिए सोचा गया कि आश्रम में केवल भूमिहार पण्डित ही रखे जायँ। ऐसा ही हुआ। वैयाकरण, ज्योतिषी, वैदिक पण्डित मिल गये भी। फिर भी मुझे समय-समय पर पढ़ाना भी पड़ता था, खासकर न्याय या अन्य दर्शन। लेकिन उसमें कोई राजनीतिक बातें कभी न आईं। फलतः जातीय पक्षपात की दृष्टि से सोचने का अवसर ही कहाँ आया। और अगर कोई राजनीति अप्रत्यक्ष रूप से रही है या है तो केवल किसान और मजदूर सभा की। गुप्त जाँच करके कोई भी पता लगा सकता है।

आश्रम के कितने ही मददगार भूमिहार ब्राह्मणों ने जो सभी मिलाकर साल में हजारों रुपये देते थे, आज केवल इसीलिए न सिर्फ वह चन्दा ही बन्द किया और कराया है, वरन् वे इस आश्रम के जानी दुश्मन हो गये हैं। इनमें से कितने ही तो उसके पड़ोस में ही रहते हैं। यह इसीलिए हुआ कि उनके जुल्मों से कराहने वाले ग्वाले और दूसरे किसान मेरे पास आये और मैंने उनका पक्ष लेकर जमींदारों के विरुद्ध एक तूफान खड़ा किया। आज कोई भी आसपास में जाकर जाँच ले कि पीड़ित लोगों का, चाहे वह किसी जाति और धर्म के हों, मेरे ऊपर और इसीलिए आश्रम पर भी पूरा विश्वास है या नहीं। फिर जातीयता का प्रश्न वहाँ क्यों उठेगा?

वह आश्रम एक तो क्रान्ति का प्रतीक होने से मुझे प्रिय है। दूसरे किसान आन्दोलन को लेकर जब जमींदार रंज हुए और उन्होंने खुद चन्दा देना बन्द किया और दूसरों का भी, जहाँ तक हो सका बन्द करवाया, ताकि अर्थाभाव से वह आश्रम ही टूट जाय, तो मैंने तय कर लिया कि न तो जमींदारों के पैसे लेने किसी को कहीं भेजूँगा और न आश्रम को टूटने दूँगा। जमींदारों के मद को इस प्रकार चूर करने के लिए मैंने तय कर लियां और उनकी तनिक भी परवाह नहीं की। हाँ, जो जमींदार स्वयं चन्दे दे जायँ उसका चन्दा लौटाया नहीं जाता। मगर जमींदारों के पास चन्दे के लिए अब किसी को भी नहीं भेजता हूँ। फिर भी गृहस्थों और किसानों की सहायता

से वह चलता ही है और चलता ही रहेगा। सैकड़ों रुपये से ज्यादा अभी भी मासिक व्यय होता है। इसलिए उसके साथ मेरा और भी प्रेम और ममत्व हो गया है।

आश्रम के प्रति जमींदारों के विरोध ने मुझे यह भी प्रत्यक्ष बताया कि जातीय सभाएँ और जाति और धर्म के नाम पर दिये जाने वाले दान का क्या अर्थ होता है। इन सभाओं को धनिक और चलते-पुर्जे लोग अपने हाथ के खिलौने बना कर रखते हैं और समय-समय पर कुछ पैसे देकर अपनी जमींदारी, अपना व्यापार और अपना प्रभुत्व दृढ़ कर लेते हैं। न कि परलोक या उपकार के लिए कुछ भी करते हैं। 'किसानों के फँसाने की तैयारियाँ' नामक पुस्तिका में मैंने इसी अनुभव का सविस्तर वर्णन किया है।

पहले जो चन्दे से पैसे आते थे उनमें कुछ न कुछ हर साल बचते थे। चन्दे के लिए मैं प्रत्यन भी अधिक करता था। मैंने जो चार-पाँच पुस्तकें लिखी हैं उनकी बिक्री के भी चार-पाँच हजार रुपये आश्रम फण्ड में ही जमा हैं। इस प्रकार सब मिलाकर प्रायः सोलह हजार रुपये आश्रम के नाम से कई आदमियों के पास जमा हैं और कुछ रैयती जमीन लेने में लगा दिये गये हैं। इस प्रकार छः रुपये सैकड़े सालाना सूद और जमीन की पैदावार से कुल मिलाकर प्रायः सौ रुपये प्रति मास आ जाते हैं। अलावे चन्दे से थोड़ा-बहुत रुपया और गल्ला मिल ही जाता है। **सभी पुस्तकें मैंने आश्रम को सौंप दी हैं। उनकी बिक्री के भी कुछ पैसे आ जाते हैं 'लोक-संग्रह' पत्र निकालने के समय जो प्रेस लिया था पीछे उसे चौबीस सौ रुपये में पं. यमुनाकार्यी जी के जिम्मे कर दिया और उन रुपयों की किस्त कर दी। फलतः कुछ रुपये उस तरह आ जाते हैं। इस प्रकार काम चलता रहता है। कोई विशेष यत्न मुझे न तो करना पड़ता है और न इसके लिए मेरे पास अवकाश ही है। जरूरत भी नहीं है।**

इतना कह सकता हूँ कि आश्रम के लिए मैंने सब कुछ किया है सही। फिर भी उसका न तो एक पैसा और न एक छटाँक अन्न कभी अपने जानते अपने लिए खर्च किया है। आगे भी ऐसा ही विचार है। पुस्तकों के पैसे में से भी एक कौड़ी अपने काम में पहले भी नहीं लगाई। **अब तो पुस्तकें आश्रम की सम्पत्ति बना दी गई हैं।**

(19)

एक दुःखद घटना

सन् 1926 ई. के ही अन्त में कौंसिलों का चुनाव होने को था। स्वराज पार्टी के नाम से कांग्रेस के लोग चुनाव लड़ने वाले थे। कांग्रेस के नाम से तो कर नहीं सकते

थे। ऐसा ही दिल्ली का समझौता हुआ था। लेकिन कम से कम बिहार में उस चुनाव में जो-जो अनर्थ हुए वे कभी भूलने को नहीं। भीतर ही भीतर गुटबन्दी थी। कांग्रेस के प्रमुख लोग जाति पाँति की बात भीतर ही भीतर करते थे। खुल के तो कर सकते नहीं थे। वही चुनाव नहीं, उसके बाद भी आज तक कितने चुनाव हुए हैं उन सबों के अनुभव से मैं कह सकता हूँ 'गुस्ताखी माफ हो' कि अधिकांश बिहारी राष्ट्रवादी नेता भीतर ही भीतर जातिवादी भी हैं। ठीक भी है। राष्ट्रीयता और जातीयता में बहुत ही कम अन्तर है। जाति छोटी है और राष्ट्र बड़ा। बस, इतना ही अन्तर है। यह भी ठीक है कि 'ठगठग मौसेरे भाई' के अनुसार प्रायः सबों का अपनी-अपनी जाति के पक्षपात में सट्टा-पट्टा भी लग जाती है। इसीलिए कोई किसी को कुछ भी खुल के कहता नहीं। इसीलिए उस बार भी कुछ ऐसी ही बात देखने में आई।

मुझे तो पहले इसका पता न था। लेकिन पीछे मैंने देखा कि सर गणेशदत्त से कुछ कायस्थ लोग बुरी तरह खार खाते थे। यह बात आज भी है। कुछ लोग तो ऐसे हैं जो भूमिहार ब्राह्मणों की तरक्की फूटी आँखों देख नहीं सकते। फलतः उन्हें गिराने की पूरी कोशिश करते रहते हैं। यह भी सही है कि कुछ भूमिहार भी कायस्थों या औरों को गिराने में नहीं चूकते। पहले किधर से यह बात शुरू हुई इसका विचार बेकार है। लेकिन स्थिति ऐसी ही है। खासकर 1926 में तो थी ही।

बिहार में दुर्भाग्य से राजनीति के भीतर दो पार्टियाँ हैं, हालाँकि प्रकट रूप से नहीं। फिर भी बड़ी मुस्तैदी से चलती हैं। एक पार्टी है कायस्थ, राजपूत, मैथिल, ग्वाला, कुर्मी आदि की जो भूमिहारों के खिलाफ हैं। दूसरी है भूमिहार और राजपूतों की जो कायस्थों के विरुद्ध है। कुछ भूमिहार मुसलमानों को मिलाकर भी कायस्थों आदि का जवाब देना चाहते हैं। भीतर ही भीतर यह पैंतरेबाजी खूब चलती है। राजपूतों में दो दल हैं, एक कायस्थों के साथ, दूसरा भूमिहारों के साथ। यह हमारे लिए, प्रान्त के लिए और मुल्क के लिए बड़ी बदकिस्मती की बात है। मगर साथ ही साथ यह बात है। इसे कोई ईमानदार आदमी इनकार नहीं कर सकता, यदि वह भीतरी बात जानता है। यों तो बाहरी प्रमाण इस बारे में देना आसान नहीं।

इसी के अनुसार 1926 में कौंसिल के उम्मीदवार चुनने में कांग्रेसी लीडरों ने भूमिहार ब्राह्मणों के साथ अन्याय किया। पं. धनराज शर्मा जैसे पक्के कांग्रेसियों को न चुनकर ऐसों को चुना जिनसे कांग्रेस का कोई नाता नहीं था और जो पहले कांग्रेस के शत्रु थे। कुछ ऐसी ही बात और भी हुई। सर गणेशदत्त कहीं से भी चुने न जा सके इसकी भी पूरी बन्दिश की गई। श्री नन्दन बाबू (छपरे वाले) जिला कांग्रेस कमिटी के उप सभापति थे। पर, उन्हें न लेकर ऐसे सज्जन को लिया गया जिनकी योग्यता यही थी कि वह कुछ बड़े लोगों के सम्बन्धी ठहरे। उनके बारे में और भी शिकायतें पीछे पाई गईं। कम से कम मुझे इसी प्रकार की बातें कही गईं। मेरे सामने ऐसा ही चित्र खड़ा किया गया क्योंकि उस समय भीतरी बातें जानता न था।

दुर्भाग्य या सौभाग्य से कहिये, लेकिन मैं तो इसे अब दुर्भाग्य ही मानता हूँ, कि उस समय सर गणेश के साथ मेरा मनमुटाव, जैसा कि बता चुका हूँ, कुछ समय के लिए हट चुका था। कभी-कभी मेरा आना-जाना भी उनके डेरे पर हो जाता था। एक दिन जो मैं सवेरे ही पहुँचा तो कुछ कांग्रेसी, कुछ जमींदार और अन्य भूमिहार ब्राह्मण सर गणेश के साथ बैठे यही बातें कर रहे थे। करम का मारा न जानें मैं क्यों पहुँच गया। लोगों ने मुझे खामख्वाह रोक के यह चुनाव वाली दास्तान सुनाई। मैं तो कुछ जानता न था। मैं था अपरिवर्तनवादी। साथ ही ऐसी गन्दी बातों से सदा अलग रहा। मैं तो राजनीति केवल कांग्रेस की ही चीज मानता था। फिर जानता कैसे ये बातें? मुझे विश्वास भी न था कि कांग्रेस के बड़े-बड़े लीडर कभी जातीय पक्षपात या द्वेष की बात उसमें लायेंगे। मैं उन्हें ऐसी बातों से बहुत ऊपर मानता था।

सच बात तो यह कि मैं समझ भी न सकता था कि कांग्रेस में जातिपाँति की बात कैसे लाई जा सकती है। सो भी जहाँ बड़े से बड़े त्यागी हैं। इसीलिए उन लोगों ने बार-बार मुझे समझाने और विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया। कुछ कांग्रेसी भी वहाँ थे। उनकी बात सुनकर विश्वास होने लगा। साथ ही आश्चर्य भी हुआ। पीछे तो ऐसी बातें बताई गईं कि विश्वास होई गया। फिर तो मैंने साफ कह दिया कि अच्छा, तो मैं इसमें आप लोगों का साथ दूँगा और उन लोगों की नीचता का भण्डाफोड़ करूँगा। वे लोग बहुत ही प्रसन्न हुए। जैसा मेरा स्वभाव है मुझे इस कपट और पक्षपात पर कांग्रेसी लीडरों के ऊपर बड़ा क्रोध हुआ। उसी का वह फल था कि मैंने वचन दे दिया। यह बात चारों ओर फैल गई। कांग्रेसी लोगों को कुछ घबराहट भी हुई जरूर।

मगर मुझे तो छिपाना न था। इसीलिए जब एक दिन स्टीमर पर बैठा बेगूसराय जाने के लिए पहलेजा घाट जा रहा था तो स्टीमर पर ही कांग्रेस के एक चलता-पुर्जा लीडर मिले। वे इस तुम्बाफेरी में बहुत रहते हैं। उनकी यह बात सभी जानते हैं। वे इसीलिए बदनाम भी हैं। उनने पूछा कि कहाँ चले महाराज! मैंने उत्तर दिया कि कांग्रेस में बैठ के आपने जो बेईमानी और पक्षपात किया है उसी का भण्डाफोड़ करने। फिर तो वे चुप हो गये। मैंने उस चुनाव में तीन जगह खुल के स्वराज्य पार्टी का विरोध किया और जी जान से काम किया। फलतः श्री नन्दन बाबू और सर गणेशदत्त सिंह चुने भी गये, हालाँकि मेरा ज्यादा जोर श्री नन्दन बाबू के ही जितवाने में था।

यद्यपि यह चुनाव कांग्रेस के नाम में न था किन्तु स्वराज्य पार्टी के नाम में। एक बात और थी। उस चुनाव में पंजाब केसरी लाला लाजपत राय और पं॰ मदनमोहन मालवीय ने भी स्वराज्य पार्टी का विरोध किया और स्वतन्त्र राष्ट्रीय दल के नाम से वह चुनाव वे लोग लड़ते रहे। उसी दल में श्री नन्दन बाबू वगैरह भी शामिल थे। तथापि आज तो मैं मानता हूँ कि वह तो एक प्रकार से कांग्रेस की ही ओर

से चुनाव था और स्वराज्य पार्टी का विरोध कांग्रेस का ही प्रकारान्तर से विरोध था। मैं तो अब यह भी मानता हूँ कि मैंने गलती की। क्योंकि राजनीति का और दुनियाँ का भी पूरा अनुभव उस समय मुझे था नहीं। कांग्रेस के लीडरों को भी ठीक-ठीक समझ न सका था। अगर आज वैसी बात होती तो मैं कदापि विरोध नहीं करता। ऐसी बातें तो राजनीति में हुआ ही करती हैं। गांधी जी के आने या कहने से राजनीति का दूषित रूप बदल थोड़े ही गया है। इधर तो मैंने 1926 से भी गई-गुजरी बातें इस चुनाव में पाई हैं। फिर भी अलग ही रहा हूँ, या कांग्रेस की मदद की है।

इसलिए जिस आधार पर मैंने वह विरोध किया था वह कच्चा था। राजनीति में उसका खयाल कभी नहीं करना चाहिए। हाँ, सिद्धान्तों की बात हो तो उसका विचार होना चाहिए। मगर वे सिद्धान्त बहुत ही ऊँचे हों, आर्थिक और सामाजिक हों, क्रान्ति के समर्थक या विरोधी हों। तभी उनके अनुसार समर्थन या विरोध करने का अधिकार हो सकता है। सो भी बहुत सोच-विचार कर। खुशी की बात यही है और सन्तोष भी मुझे इसी से है कि उसके बाद फिर कोई दूसरा मौका ऐसी भूल करने का नहीं हुआ। हालाँकि अनेक साथियों को जो क्रान्ति और रेवोल्यूशन की बातें करते हैं, ऐसी बातें कभी छिप के और कभी प्रकट रूप से बराबर करते देखा है। ये अवसर मुझे विचलित न कर सके, यह मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ।

सन् 1926 ई. की दो और घटनाएँ प्रसंगवश संक्षेप में बता के आगे बढ़ूँगा। इन दोनों का सम्बन्ध इस दुःखद घटना से साक्षात् नहीं है। असल में जाति-पाँति की चिल्लाहट मचाने और धर्म की दोहाई देने वाले धनियों एवं उनके समर्थकों के संसर्ग से ही मुझे इस शोचनीय घटना का शिकार होना पड़ा और उन्हीं से उन घटनाओं का भी सम्बन्ध है। जैसे उस घटना के सम्बन्ध में मैंने अनेक बातें देखीं और सीखीं, ठीक उसी तरह ये बातें भी सामने आयीं।

एक तो 1926 वाली भूमिहार ब्राह्मण सभा के पण्डाल की ही है। मेरी ही बगल में धरहरा के राय बहादुर बाबू चन्द्रधारी सिंह सिर पर चन्दन (भस्म) लगाये बैठे थे। उन्होंने मुझे एक बार कहा कि आप संन्यासी हैं। आपको तो काशी रहना चाहिए। मैं चुप रहा कि बूढ़े आदमी से क्या बोलूँ। फिर वह दुबारा यही बात कहने लगे। मैं पुनरपि चुप रहा और सोचने लगा कि इस आदमी को तमीज नहीं। मुझे धर्म सिखाने की हिम्मत करता है। हालाँकि इस धर्म के ढोंग के पीछे इसका भौतिक स्वार्थ है। क्योंकि एक तो इसने देखा कि पुरोहिती के मामले में इसी के सम्बन्धी श्री कवीन्द्र नारायण सिंह ने मुँह की खाई है। दूसरे यह स्वयं पहले दर्जे का जुल्म अपनी जमींदारी में करता है, ऐसा सभी कहते हैं। तब तक तीसरी बार उनने फिर वही बात ज्यों ही निकाली कि मैंने साफ सुना दिया कि आपको शर्म नहीं आती? किससे बातें करते हैं? मैं आपसे अपना धर्म सीख नहीं सकता। फिर तो बेचारे एकाएक सटक गये। इन धनियों की अजीब खोपड़ी होती है। यह सबों को एक ही तराजू

पर तौलना चाहते हैं। और है वह तराजू पैसे का।

दूसरी घटना का ताल्लुक भी उस सभा से हीं है। यह पहला ही मौका था कि सरकार का बागी उसका सभापति था और यह पहला ही अवसर था जब सभी अमीर, गरीब एक ही सतह में बिछे एक ही प्रकार के बिछौने पर बैठे थे। सभापति के सिवाय किसी भी और के लिए ऊँची या खास जगह न थी। हो भी क्यों? वह तो जातीय सभा थी और जाति के नाते तो सभी बराबर हैं। फिर कोई ऊँचे और कोई नीचे क्यों बैठे? यह भेदभाव क्यों? इस प्रकार लड़कर मैंने सभा में समानता और गणतन्त्र ला दिया था।

लेकिन बाबुओं के लिए यह जहर की घूँट थी, ज्वलन्त अपमान था कि साधारण लोगों के साथ एक ही बिछौने पर बैठें। वे लोग मर से गये थे और लाठी से पिटे, पर लोहे के पिंजड़े में बन्द काले नाग की तरह भीतर ही भीतर फू-फू कर रहे थे। लेकिन आखिर करते क्या? बस सभा समाप्त होते ही उन लोगों का प्रस्ताव हुआ कि जो लोग साल में बारह रुपये दें वही इसके मेम्बर और प्रतिनिधि हो सकते हैं। अब तक केवल एक ही आना चन्दा था। इस प्रकार गरीबों को और जनता को सभा से निकालकर फिर उसे अपना गढ़ बनाने की बात वे लोग करने लगे।

मैंने कहा कि यह नहीं हो सकता। हो भी क्यों? तब कहा गया कि राजा, महाराजे, धनी और गरीब सब बराबर बैठते हैं। किसी की इज्जत नहीं रह गई। मैंने कहा कि इसके लिए सभा को एकमात्र धनियों की चीज बनाने का यह द्रविड़ प्राणायाम क्यों किया जाय? दर्शकों के चन्दे हजार-पाँच सौ से लेकर पचास-पचीस रुपये तक रख दीजिए। उसी के अनुसार कुर्सियों, गद्दों आदि का प्रबन्ध कर दिया कीजिए। जो जितना ज्यादा रुपये देगा वह उतने ही आराम से बैठेगा। ऐसा तो कांग्रेस में भी होता ही है। इतना सुनते ही वे लोग चुप हो गये। इस प्रकार उनकी कलई मैंने खोल दी और देख भी ली।

जातीय सभाएँ पहले तो सरकारी अफसरों को अभिनन्दन पत्र देने और राजभक्ति का प्रस्ताव पास करने के लिए बनी थीं। इस प्रकार कुछ चलते-पुर्जे तथा अमीर लोग जातियों के नाम पर सरकार से अपना काम निकालते थे। अब जमाना पलटने से यदि वह न हो सके तो चुनावों में उनकी मदद से वोट तो मिलना ही चाहिए। मुझे खुशी है कि हमने भूमिहार ब्राह्मण सभा के जरिये दोनों कामों का होना बन्द कर दिया। सन् 1929 ई. की गर्मियों में मुंगेर में तो उसे दफना ही दिया। ताकि 'रहे बाँस न बाजे बाँसुरी'। फिर भी कुछ लोग यदि मेरे ऊपर जातीय पक्षपात का दोष लगाते हैं तो मैं उन्हें रोकने में असमर्थ हूँ।

(20)

लोकसंग्रह

सन् 1926 ई. अन्त में मैं दरभंगा जिले के समस्तीपुर में रहने लगा। वहाँ कुछ साथियों के कहने-सुनने तथा स्वयं अनुभव न रहने से मेरे ऊपर यह भूत सवार हुआ कि एक साप्ताहिक समाचार-पत्र हिन्दी में निकालूँ और उसके लिए प्रेस आदि का प्रबन्ध करूँ। पीछे मेरे अनुभव ने बताया कि यह कितनी बड़ी भूल थी। मैंने प्रायः देखा है कि प्रेस चलाने की धुन बहुतों को हुआ करती है और अखबार निकालने की भी। लेकिन इतने दिनों के कटु अनुभव के बाद मैं यही कह सकता हूँ कि एक तो प्रेस रखना ही भूल है। लेकिन यदि वह किसी दशा में क्षम्य भी हो तो भी 'पत्र' निकालना तो साधारणतः अक्षम्य अपराध है! 'लोक संग्रह' के अनुभव के बाद तो मैंने यही तय कर लिया था कि इन दो भूलों का शिकार हर्गिज न बनूँगा। लोगों को भी बराबर यही सिखाता रहा। खास कर 'पत्र' निकालने के झमेले से बचने की तो बराबर ही शिक्षा देता रहा हूँ। अगर इधर आकर 'जनता' में मैं फँसा, तो अपनी मर्जी के खिलाफ दोस्तों के द्वारा बलात् फँसा दिया गया। मेरी भूल यही हुई कि मैंने बेमुरव्वती से अन्त तक इनकार नहीं किया। अगर इसका परिणाम और अनुभव तो कटुतम हुआ है, यह खेद की बात है। इस 'जनता' ने तो न सिर्फ मुझे, पर मेरे कितने ही सच्चे साथियों को भी रुलाया है, सो भी खून के आठ-आठ आँसू। पं॰ पद्म सिंह शर्मा कहा करते थे कि जिसे कोई काम न हो और लीडर बनना एवं नाम कमाना हो वह कोई संस्था खोल ले। लेकिन भले आदमी को तो ये संस्थाएँ मारे डालती हैं। मैंने इस कटुसत्य का अक्षरशः अनुभव रो-रो के किया है।

हाँ, तो पत्र निकालने की धुन सवार हुई। इसीलिए प्रेस की भी। सन् 1926 के मेरे आखिरी चन्द महीने और सन् 1927 के शुरू के कुछ महीने इसी फिक्र में गुजरे। स्वभाव के अनुसार मैं सारी शक्ति लगाकर उसमें पड़ गया। यह मेरा दोष भी है और गुण भी कि एक समय एक ही काम कर सकता हूँ और उसमें सारी शक्ति लगा देता हूँ। सफलता भी उसी से मिलती है। यद्यपि श्री बच्चू नारायण सिंह, समस्तीपुर, ने यह प्रेरणा की और कुछ हद तक मेरा साथ भी दिया। फिर भी उनकी तो एक सीमा थी। उसके आगे जा नहीं सकते थे, लेकिन मैं तो अब पीछे हटनेवाला न था। वे तो यह काम भी करते और दूसरे भी। वह बहुकार्यी तो थे ही। आखिर सन् 1927 ई. की गर्मियों के आते न आते प्रेस भी हो गया और साप्ताहिक समाचार-पत्र की तैयारी भी हो गई। गीता का 'लोक संग्रह मेवापि सम्पश्यन्कर्त्तुमर्हसि' श्लोक ही हमारा मोटो (पथ प्रदर्शक वाक्य) बना और 'पत्र' का नाम 'लोक संग्रह' रखना तय पाया। यह ठीक है कि इस प्रकार का नाम रखने में कुछ मराठी पत्रों से हमें

प्रेरणा मिली थी। बाकायदा पत्र निकलने भी लगा। मैं ही उसका सम्पादक बना। मगर शुरू करते ही दिक्कतें आईं। शीघ्र ही पता लगा कि समस्तीपुर जैसी जगह में प्रेस रखना और पत्र निकालना बड़ी भारी भूल थी। इसलिए थोड़े ही दिनों के बाद प्रेस और पत्र पटना लाना पड़ा।

मगर इस बीच की कुछ घटनाएँ उल्लेखनीय हैं। समस्तीपुर में एक पुराना प्रेस था जिसका नाम 'नेमनारायण प्रेस'। नरहन (विभूतपुर) के बाबू कामेश्वर नारायण सिंह, जमींदार, का वह प्रेस था। अपने स्वर्गीय पिता के नाम पर उन्होंने उसका नामकरण किया था। प्रेस खराब था। मगर इसका पता मुझे पीछे चला। प्रायः बन्द ही रहता था। बच्चू बाबू की राय हुई कि विभूतपुर चलकर उक्त बाबू साहब से वही प्रेस माँगा जाय। वह चन्दे में प्रेस ही दे दें। परिचय तो गाढ़ा था ही। हम दोनों गये और उनसे कहा। उन्होंने देने की राय जाहिर तो की। मगर शर्त यह रखी कि नाम 'नेमनारायण प्रेस' ही रहे। वह तो होशियार थे। देखा कि रद्दी प्रेस देकर बाप का नाम तो अमर कर लें। मगर हम दोनों इसे समझ न सके। फलतः शर्त मानने को तैयार हो गये।

लेकिन अभी तो और शर्त्तें बाकी ही थीं। जब हम लोग खाने बैठे तो बाबू साहब ने यह कहा कि इस बात का भी पक्का इन्तजाम हो जाना चाहिए कि किसके जिम्मे वह प्रेस रहेगा। इस पर मुझे गुस्सा आया और मैंने सुना दिया कि जिसे वह प्रेस मुझे देना हो वह दे, नहीं तो अपने पास रखे। मुझे नहीं चाहिए। बस, फिर तो वे ठण्डे हो गये और प्रेस मिल गया।

लेकिन कुछ ही दिन बार उन्होंने बुरी तरह मुझे धोखा दिया। प्रेस की कीमत आठ या नौ सौ रुपये आँकी गई थी। उन्होंने मेरे साथी, जो उनके भी पूरे साथी हैं, बच्चू बाबू के द्वारा कहला भेजा कि एक सज्जन (जिनका नाम बताना मैं नहीं चाहता) एक पुस्तक मुझे समर्पित करने वाले हैं। उनकी छपाई के रुपये मैं दे दूँ यही शर्त उनसे है। छपाई में वही आठ या नौ सौ रुपये लगने वाले हैं। पीछे तो पुस्तक छपने पर बेचकर ये रुपये वह लौटा ही देंगे। मुझे इसमें खटका मालूम हुआ। आगा-पीछा में पड़ गया फौरन कोई उत्तर न दे सका। इसी बीच बच्चू बाबू (बच्चू नारायण सिंह) ने रुपये उन्हें दे दिये। क्योंकि उन्हीं के पास प्रेस के लिए एकत्रित रुपये जमा थे। उनने मुझसे पूछा तक नहीं! जब मालूम हुआ तो मुझे रंज तो बहुत हुआ। मगर आखिर करता क्या? जिन्होंने पुस्तक के लिए मुझसे वे रुपये लिये वे भी मेरे पूर्ण परिचित हैं। मगर हजार तकाजा करने पर भी उन्होंने रुपये नहीं ही लौटाये। पुस्तक भी नहीं छपवाई। पीछे तो ऊबकर मैंने माँगना ही छोड़ दिया। लेकिन इस घटना ने मुझे चौंका दिया। बच्चू बाबू के प्रति भी मेरा विश्वास जाता रहा। आखिर ये पैसे सार्वजनिक थे। फिर मैं उनके सम्बन्ध में यह हरकतें बेजा बर्दाश्त कैसे करता?

लेकिन उस रद्दी प्रेस से तो काम चलने का था नहीं। दूसरा प्रेस और टाइप चाहिए था। प्रेस के और भी सामान चाहिए थे। इधर जो रुपये थे उन्हें बच्चू बाबू ने गँवा ही दिया। अब क्या हो? मुझे बड़ी चिन्ता हुई। यहाँ तक कि रात में नींद नहीं आती थी। यह नींद का न आना मेरे लिए खास बात थी। चाहे कैसा हूँ काम हो उसको करता हूँ खूब। मगर रात में बराबर भरपूर सोता हूँ। बावन साल की उम्र में भी पूरे सात घण्टे की एक गाढ़ी नींद आती है! पहले भी ऐसे ही सोता था। रात में कोई फिक्र न रखता था। मगर यह फिक्र ऐसी हुई कि दिल में उसने घर कर लिया। इसी से रात की नींद हराम हो गई। यह खतरे की बात थी।

इसी बीच पटने में एक ने कह दिया कि आप तो यों ही शुरू करते मगर पूरा नहीं कर सकते। बात तो गलत थी। मगर चुभ गई। बस, कलकत्ते गया। वहाँ सोना पट्टी में श्री हरद्वार राय के यहाँ ठहरा। पहले भी वहाँ ठहरता था। वे पुराने परिचित हैं। कलकत्ते में और लोग भी परिचित हैं सोचा वहीं से जरूरत भर रुपये मिलें तो काम चले। रुपये मिले भी। मगर छोटी-मोटी नौकरी करने वाले आखिर देते ही कितने? फिर भी हजारों रुपये जमा हुए। लेकिन तीन सौ की कमी रह गई। अब क्या हो? रात में बेचैन रहा। पर, यह बात श्री हरद्वार राय को मालूम हो गई कि चिन्ता से नींद नहीं आती। क्योंकि प्रेस लेने का संकल्प मैंने कर लिया है। बस फिर क्या था? उनने एक मुश्त तीन सौ रुपये फौरन दे दिये। उनकी चाँदी, सोने की अच्छी दूकान है। अब तो मेरा काम हो गया। वहाँ सारा सामान खरीद कर और पटने से एक और प्रेस लेकर समस्तीपुर आ गया।

इस प्रेसवाले झमेले के प्रसंग से एक पुरानी, लेकिन दिलचस्प बात याद आ गई। वह भी प्रेस से ही सम्बन्ध रखती है। जहाँ तक याद है, सन् 1915 ई. में एक प्रेस में मैं काशी में और भी फँसा था। उससे मासिक पत्र 'भूमिहार ब्राह्मण' निकाला था। काशी के तीन युवकों ने जो विद्यार्थी थे और पीछे नौकरी-चाकरी में लग गये, अपने पास से बीस-बीस रुपये जमा किये। इस साठ ही रुपये की पूँजी से ही हमने वह पत्र निकाला। वह चल पड़ा और बहुत मुद्दत तक कायम भी रहा। मेरे साथ वह लोग भी लगे रहते थे। 'पत्र' छपाया जाता था शुरू में किसी और प्रेस में। पीछे तो उसका अपना प्रेस हो गया। ईमानदारी के साथ यदि किसी काम में लगा जाय तो पैसे के बिना वह रुक नहीं सकता यह मेरा सदा का अनुभव है। फिर वह पत्र भी इसी का एक उदाहरण है।

पीछे जब मैंने 'भूमिहार ब्राह्मण परिचय' पुस्तक लिखी तो उन तीनों में एक ने उसके छपवाने वगैरह में कुछ ज्यादा परिश्रम किया। छपाई के कुछ रुपये बाकी भी रहे जो पीछे पुस्तक बेचकर दिये गये। मगर पुस्तक की बिक्री से जो और रुपये आये उन्हीं से यह प्रेस खरीदा गया। उसी से वह पत्र पीछे निकलने लगा था। बाद में मैंने पुस्तक के रुपयों का हिसाब माँगा और प्रेस तथा पत्र का भी। इस हिसाब

माँगने में शेष दो साथी भी शामिल हो गए। बस उसी वक्त उस तीसरे सज्जन ने टालमटूल किया और अन्त में हिसाब नहीं ही दिया। पुस्तक के प्रायः डेढ़ हजार रुपये उनने हड़प लिये। प्रेस एवं 'पत्र' को भी हथिया डाला। शेष दो साथी देखते ही रह गये!

खैर, बची-बचाई पुस्तकें उनसे जैसे-तैसे लेकर मैं अलग हुआ। काशी के ही एक भले आदमी के पास पुस्तकें रख दीं। पीछे तो उनके साथ भी झमेला हुआ और बड़ी दिक्कत से उनसे पुस्तकों के रुपये निकल सके। फिर भी कुछ तो रही गये। कुछ ही सौ रहे, ज्यादा नहीं। इसी प्रकार एक-दो और धर्मात्मा एवं धनी कहे जाने वालों ने पुस्तकों के दाम रख लिये और नहीं ही दिया! इस तरह प्रायः तीन सहस्र रुपये, जिन्हें मैं सार्वजनिक काम में ही लगाता, न कि अपने व्यक्तिगत मसरफ में, लोगों के गले के नीचे उतर गये और मैं देखता रह गया। इन बातों को बहुतेरे जानते हैं, ये कोई गुप्त नहीं हैं।

असल में रुपया ऐसी ही चीज है। यह बड़े-बड़ों के ईमान को हिला देने वाली वस्तु है। इतने दिनों के अनुभव ने मुझे तो यही सिखाया है कि यदि किसी की परीक्षा लेनी हो तो उसके पास थाती के तौर पर कुछ रुपये रख दीजिये और पीछे माँगिये। रुपये मिलने में जो दिक्कतें होंगी वह आप ही जानेंगे। फिर भी शायद ही कहीं-कहीं से मिलें। अतएव रुपये-पैसे यदि किसी को उधार भी देना हो तो यह समझ के ही देना चाहिए कि वे वापस न मिलेंगे। फिर भी अगर मिल गये तो गनीमत।

अच्छा, तो अब फिर 'लोक संग्रह' की बात लें। समस्तीपुर से वह निकला तो सही। मगर जैसा कह चुका हूँ शीघ्र ही दिक्कतें पेश आईं। जहाँ कई प्रेस न हों और जहाँ उसके सामान तथा कागज वगैरह इफरात से मिल सकते न हों वहाँ प्रेस खोलना बला मोल लेना है। यदि एक भी कम्पोजीटर बीमार हो, या हटे तो काम ही बन्द। यदि दुश्मन लोग बहकें तो प्रेसवालों को कह दें कि काम बन्द कर दो तो आफत आई। छपाई के लिए काम भी ऐसी जगह कम ही मिलते हैं। इन्हीं सब बातों से मुझे हैरानी पर हैरानी होने लगी।

'पत्र' में विज्ञापन तो देता नहीं था। इसलिए उसके लिए दरबारदारी से तो जान बची थी। मेरा सदा से विचार रहा है कि विज्ञापन मालूम होता है, जैसे 'पत्रों' की छाती पर कोदो दलने बैठे हों। विज्ञापन देने वाले भी नाकों चने चबवाते हैं। खुशामद करते-करते जी ऊबता है। फिर भी टाल देते हैं। स्वाती की बूँद को जैसे पपीहा देखे सोई हालत रहती है विज्ञापन चाहने वालों की। भला यह जिल्लत की जिन्दगी कौन स्वाभिमानी बर्दाश्त करे। सो भी सच्चा जनसेवक और राष्ट्रवादी। इसीलिए मैंने विज्ञापन को शुरू में ही प्रणाम कर लिया।

लेकिन ग्राहक बढ़ाने और समूचे पत्र में समाचार लिख आदि देने में ज्यादा मिहनत पड़ती थी। सभी कुछ प्रायः मुझे ही करना पड़ता था। मेरे साथी बच्चू बाबू

की कुछ अजीब हालत थी। वे ज्यादा कुछ कर न सकते। हालाँकि, मैनेजर वही थे। इस तरह मैं ऊब गया और एकाध अन्तरंग दोस्तों से राय करके पटना उसे लाने का निश्चय कर लिया। मगर बच्चू बाबू इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि समस्तीपुर से वह हटे। अब बड़ी दिक्कत थी कि क्या हो? कोई छोटी-मोटी चीज हो तो झटपट हटा भी दी जाय। यह तो ठहरा प्रेस। दो प्रेस और उनके सारे सामान को इतनी दूर भेजना खेल न था। दो मालगाड़ियों का सामान था। सो भी भारी लोहे का सामान। कहीं उठाने-पठाने में गिरे तो चलो काम ही तमाम हुआ।

इसी उधेड़बुन में था कि बच्चू बाबू कहीं बाहर दो-तीन दिनों के लिए चले गये। बस मैंने फुर्ती की और अंगारघाट स्टेशन के पास डिहुली ग्राम के श्री गया बाबू की मदद से चटपट समूचा प्रेस उखड़वा के सारा सामान रेल पर पहुँचवा दिया। वह पटना रवाना भी हो गया। असल में यदि गया बाबू न होते तो कुछ न होता। आदमी वगैरह की सहायता और रेलगाड़ी ठीक करने और लदवाने में उनने सारी ताकत लगा दी। लोगों को भी अचानक यह देखकर ताज्जुब हुआ। मगर करते क्या फलतः जब बच्चू बाबू लौटे तो सब सूना पाकर सन्न हो रह गये। क्योंकि यह तो छूमन्तर जैसा काम हुआ। वे रंज तो बहुत हुए। पर, करते क्या? मैं तो सारे सामान के साथ तब तक पटने में मौजूद था। इस प्रकार पटना सामान आया और दुन्दा सिंह की ठाकुरबाड़ी में किराये पर मकान लेकर वहीं रखा गया। फिर वहाँ जगह की तंगी के करते न्यू एरिया (कदमकुआँ) में एक मकान लेकर वहाँ लाया गया। आखिर तक वहीं रहा।

पटने में दिक्कतें कम तो हो गईं। मददगार भी मिले। श्री वशिष्ठनारायण राय 'एडवोकेट' मेरे पुराने परिचित हैं। काशी से ही उनसे साथ रहा है। उस समय एडवोकेट होने की तैयारी में थे। 'लोक संग्रह' के सम्पादन में उन्होंने कई महीने तक मेरी भरपूर मदद की, खास कर समाचारों के संकलन में। इससे मेरा भार हल्का हुआ। असल में प्रेस का मैनेजर भी मैं ही खुद था। 'सम्पादक' तो पत्र का था ही। इस पर भी तुर्रा यह कि मैं बराबर बिहटा चला जाया करता, जब से वहाँ आश्रम का श्रीगणेश हुआ। प्रेस आया सन् 1927 ई. का आधा बीतते न बीतते और उसके पटने में पहुँचने पर बरसात जल्दी ही आई। इधर बिहटा का आश्रम नियमित रूप से खुल गया श्रावण महीने की गुरु पूर्णिमा को ही। हालाँकि मैं रहने लगा था वहाँ पहले से ही।

पाँच बजने के पहले मैं प्रेस से चल पड़ता। पैदल ही स्टेशन प्रायः 20-25 मिनट में जाता। सुबह दस बजे के पहले ही ट्रेन से आ जाता और स्टेशन से पैदल ही प्रेस पहुँच जाता। मासिक टिकट लेकर आना-जाना होता था। हाँ, जिस दिन पत्र निकलना होता उसकी पहली रात को आधी रात की ट्रेन से ही आना पड़ता था। तब एक ट्रेन आधी रात में बिहटा से चलती थी। मगर प्रतिदिन बिहटा जाना जरूरी

था। आश्रम की खबर लेने के सिवाय हमेशा देहात में ही रहने का मेरा स्वभाव सा रहा है। फलतः शहर में ठीक नींद ही नहीं लगती। पटने में मच्छरों की भरमार तो अलग ही है।

ऐसी दशा में प्रेस और पत्र का—दोनों का चलाना कितना कठिन था यह आसानी से समझा जा सकता है। मेरी मदद के लिए एक अर्दली रखा गया था। जो दौड़-धूप करता था। प्रेस में बाहरी छपाई भी कुछ न कुछ होती ही थी। क्या आज इतने थोड़े, या प्रायः नहीं के बराबर आदमी रख के साप्ताहिक पत्र और प्रेस चलाये जा सकते हैं? यह प्रश्न पूछा जा सकता है। इसका जवाब तो साफ है कि वर्षों से ज्यादा मैं चलाता रहा। केवल वशिष्ठ बाबू की थोड़ी सहायता और एक अर्दली की मदद से सारा काम किया। समय पर न पहुँचने या न मिलने की शिकायत 'लोक संग्रह' के बारे में शायद ही कभी होती। मैंने ऐसा प्रबन्ध ही कर रखा था। विज्ञापन न होने से सारा खर्च ग्राहकों से ही चलता था। बाहरी काम तो बहुत थोड़ा छपता था।

फिर भी जिस समय पं॰ यमुनाकार्यी को मैंने वह 'पत्र' और प्रेस चौबीस सौ रुपये में दिया उस समय और भी टाइप तथा नये सामान उसमें लगाये जा चुके थे। इसका सीधा अर्थ है कि सब खर्च चलाकर बचत भी हुई थी। असल में मासिक टिकट के सिवाय मैं तो एक पैसा लेता न था, यहाँ तक कि खाना, कपड़ा भी नहीं। नौकर तो ज्यादा थे नहीं। मैंने यह भी देखा कि काम चलाने के लिए दो और आदमी जिनमें एक मैनेजर हो रख लेने पर भी घाटा नहीं हो सकता था। लेकिन आजकल तो विज्ञापन और चन्दे के पैसे (ग्राहकों के पैसे के सिवाय) लेकर भी साप्ताहिक पत्र दिवालिए बने रहते हैं। वे बन्द भी हो जाते हैं।

मैं तो मानता हूँ कि हम लोग पत्रों की और सार्वजनिक कार्यों की जवाबदेही ठीक-ठीक महसूस ही नहीं करते। सार्वजनिक पैसे के साथ तो हम एक प्रकार का खिलवाड़ करते हैं। यही कारण है पत्रों के दिवालिएपन था। 'पत्र' न तो लीडरी के साधन हैं और न पैसे कमाने या कुछ लोगों के गुजर के लिए। ये तो लड़ाई के अस्त्र हैं। फलतः उनका उपयोग यदि उसी दृष्टि से हो तो कोई दिक्कत न हो। जनता के पैसे को साग-मूली या हलवा समझ के बेमुरव्वती से उड़ाने का नतीजा यही होता है कि सैकड़ों कुकर्म और घृणित उपायों से पैसे लाने पड़ते हैं। विज्ञापनों और दूसरी बातों के लिए झूठ-सच बोलना पड़ता है। फिर भी दरिद्रता बनी ही रहती है।

आखिर में एक वर्ष से ज्यादा काम करने के बाद मैंने देखा कि मैं किस बेढंगे काम में फँसा कि दूसरा काम बन्द हो गया। न तो कहीं आ सकता, न जा सकता था! एक प्रकार से बिहटा से पटना तक के कैदखाने में बन्द हो गया! परिश्रम भी अत्यधिक हुआ। अतः विश्राम के लिए दिल चाहने लगा। यह ठीक है कि काम से तो मैं कभी घबराया नहीं। उसके सिलसिले में कभी बीमार भी नहीं पड़ा। इधर तो,

खैर, बीमार पड़ता ही नहीं। लेकिन पहले भी जब कभी बीमार पड़ा तो उसी समय, जब प्रायः फुर्सत थी—जब कामों का भार सर पर न था। लेकिन उस समय एक ही तरह के निरन्तर के काम से मैं ऊब गया। सो भी खासकर घूमना-फिरना बन्द हो जाने से। यदि घूमना-फिरना जारी रहता तो कोई बात न थी। क्योंकि वह तो मेरे जीवन का खास अंग है। फलतः उसके रहने पर ऊब सकता नहीं और न थकता ही हूँ। मगर वह बन्द हो जाने से ऊब सा गया और एक प्रकार की थकान आ गई। इसीलिए पं॰ यमुनाकार्यी बी.ए. दरभंगा के जिम्मे प्रेस और लोक-संग्रह दोनों ही कर दिया। प्रेस का दाम चौबीस सौ रुपये तय पाया। यह लिखा-पढ़ी भी हो गई कि किश्त करके वह श्री सीतारामाश्रम को धीरे-धीरे दे देंगे। उन्होंने पत्र की नीति आदि ज्यों की त्यों रख उसे चलाने का वचन दिया। चलाते भी रहे। प्रेस मुजफ़्फ़रपुर ले गये। वहीं उसका कारबार रखा। सन् 1930-32 के सत्याग्रह के समय एक दूसरा प्रेस भी उन्होंने 'सुलभ प्रेस' के नाम से रख लिया। अब तो वहीं नाम रही गया और 'नेम नारायण प्रेस' नाम गायब सा हो गया। ठीक ही है। अब यह नाम रखने का तो कोई कारण है नहीं। जैसा कि कह चुके हैं। जब रुपये देने पड़े, सो भी घुमाफिरा कर लिये गये, तो फिर नाम क्यों रहे? तो भी मैंने अपने वचन के अनुसार नाम नहीं बदला। हाँ, कार्यी जी ने पीछे बदला तो बुरा क्या किया?

प्रेस और 'लोक संग्रह' के सिलसिले में एक बात और भी उल्लेखनीय है। जब मैं स्थिर हो के पटने में रहने लगा तो असौढ़ के चौ. रघुवीर नारायण सिंह ने अपने दोनों पोतों—श्री सुखवंश नारायण सिंह और श्री मुखवंश नारायण सिंह को मेरे पास भेज दिया कि उन्हें कुछ पढ़ा-लिखा दूँ और उनका चरित्र ठीक कर दूँ। उन्हें पढ़ने-लिखने की अपेक्षा चरित्र का ही अधिक खयाल था। इस बारे में मेरे ऊपर उनका पूरा विश्वास था। वे राष्ट्रवादी बनें यह पहला खयाल उनका था। सरकारी तथा नीम-सरकारी स्कूलों में पढ़ाने के खिलाफ वह थे। उनका यह विचार पक्का था कि स्कूलों में जाने पर लड़के किसी काम के नहीं रह जाते। भ्रष्टचरित्र तो अक्सर होई जाते हैं। इन्हीं सब कारणों से मेरे पास भेजा। मैंने मुरव्वत के कारण बड़ी कठिनाई के बाद कबूल कर लिया और बराबर पाँच-छः महीने साथ ही पटने में प्रेस के मकान के ही एक भाग में उन्हें अलग रखा। लड़के अच्छी तरह रहे। असल में उनके उपनयन संस्कार में मैंने ही गायत्री की दीक्षा दी थी। इसीलिए मेरे ही पास खास तौर से भेजना और भी जरूरी हो गया और मेरा स्वीकार कर लेना भी। मैं भी खान-पान वगैरह में बड़ी सख्ती से पेश आता था ताकि लड़के वाहियात चीजें खा-पी के बीमार या रोगी न हो जायँ। काम भी शुरू में चलता रहा ठीक। मगर मैंने देखा कि अमीर के बच्चे हैं और उनकी दादी की ज्यादा मुहब्बत है। फलतः कभी-कभी मेरा नियम चुपके से वे लोग तोड़ते भी थे। फलतः मैंने अपनी जवाब-देही से हाथ खींच लिया और उन्हें उनके घर वापस कर दिया।

उत्तर भाग–मध्य खण्ड

(21)

पश्चिम पटना किसान-सभा

इस प्रकार मैं सन् 1927 ई. के उत्तरार्द्ध में आ जाता हूँ। वह साल बीतने के पहले तथा प्रेस एवं पत्र को भी दूसरे को सौंपने के पूर्व ही एक अन्य जरूरी और ऐतिहासिक कार्य का भी सूत्रपात मैंने किया, जिसका रूप आज न केवल बिहार में, वरन् भारत भर में विस्तृत हो गया और हो रहा है। मेरा मतलब है किसान-सभा से।

पटना जिले के जिस इलाके में बिहटा-आश्रम है, वह पटना जिले का पश्चिमी भाग होने के साथ ही जालिम जमींदारों का इलाका भी है। पटना और शाहाबाद जिले की प्राकृतिक सीमा, सोन नदी बिहटा से तीन ही मील पश्चिम है। ईस्ट इंडियन रेलवे की कलकत्ता-दिल्ली वाली मुख्यलाइन का बिहटा स्टेशन पटना जिले का आखिरी है। उससे पश्चिम का स्टेशन कोइलवर सोन के पश्चिम पार शाहाबाद जिले में पड़ता है। वैसे तो अब रेल के सिवाय पटने से बस सर्विस भी बिहटा के लिए हैं। वहाँ तारघर के सिवाय चीनी की एक बड़ी मिल, साउथ बिहार सूगर मिल्स के नाम से कई वर्षों से चल रही है। लेकिन पहले वह इलाका गुड़ बनाने का प्रधान केन्द्र था। साल में कई लाख मन गुड़ भारत के सभी भागों में वहाँ से जाता था। आज भी लाखों मन जाता है। मगर अब पुरानी बात नहीं है। वहाँ की मनेरिया ऊख, जो मनेर परगने के नाम से प्रसिद्ध थी, बहुत ही नामी ऊख थी। पुराने जमाने से ही वह इलाका उस ऊख के लिए प्रसिद्ध है। अब तो वह खत्म हो गई। अब देश के सभी भागों की तरह उस मनेर में भी कोयम्बटूर वाली ऊख आ गई। गुड़ वहाँ का बहुत अच्छा होता है। और भारत की दो-चार गिनी-चुनी जगहों में एक बिहटा भी अच्छे गुड़ के लिए मशहूर है। उसके अलावे, पहले भी और अब भी, हफ्ते में दो बार वहाँ गल्ले का बाजार होता है खासकर चावल का। 40-50 मील तक के गाड़ीवान बैलगाड़ियों पर चावल लाते और बेचकर चले जाते हैं।

उसी बिहटा से दक्षिण सात-आठ मील जाने पर मसौढ़ा परगना शुरू हो जाता है। वह दक्षिण में दूर तक गया जिले में भी चला गया है। इस मसौढ़ा परगने के जमींदार बहुत पहले से ही जालिम मशहूर हैं। आज भी उनका बहुत कुछ जुल्म चलता ही है। हालाँकि, किसान-सभा ने न सिर्फ उनके होश दुरुस्त किये हैं, प्रत्युत किसानों को भी काफी जगा दिया है और उनमें हिम्मत ला दी है। मगर जिस समय की बात मैं कह रहा हूँ उस समय तो वहाँ के किसान इतने पस्तहिम्मत थे कि जमींदारी ज़ुल्म के विरुद्ध खुल के जबान भी नहीं हिला सकते थे। यह वही जमींदार हैं जिन्होंने

किसानों की लड़कियाँ और बहनें बिकवाकर लगान वसूल किया है। इसकी दास्तान कांग्रेस जाँच कमिटी के सामने सन् 1937 के पहले पेश हुई थी, जब वह उस इलाके में गई थी। वहाँ जमींदारों के (पटवारी, बराहिल, अमले आदि) ही सब कुछ थे और उनसे किसान थर्राते रहते थे। वहीं के एक जमींदार ने सरौती (गया) के सभी किसानों को सिर्फ एक कटहल के फल के करते बर्बाद कर दिया! उनने ही सन् 1921 ई. में कांग्रेस के कुछ लीडरों की मीटिंग तक वहाँ न होने दी!

उनका ऐसा कायदा था कि किसानों के घरों पर पारी बँधी रहती थी कि किस दिन कौन-कौन से किसान उनके दरबार में दिन-रात बेगार करने के लिए जायँगे। जिसके द्वार पर जमींदार का आदमी मोटा सा डण्डा शाम को रख आया, बस उसे नोटिस हुई और दूसरे दिन सुबह सारा काम छोड़कर जाना ही होगा, चाहे वज्र ही क्यों न गिरता हो। अगले दिन वह डण्डा दूसरे के द्वार जा धमकता था। यही क्रम था। एक दिन दुर्भाग्य से रात में ही डण्डेवाले किसान के घर में कोई मर गया। फलतः सुबह बेगारी में जाने के बदले मृतक को जलाने और संस्कार के लिए सारे परिवार को बीस माईल दूर गंगा किनारे जाना पड़ा। धर्म की आखिर बात थी न? फिर तो गजब हुआ। जमींदार ने गुस्से में आकर सारे गाँव को अनेक उपायों से तहस-नहस कर दिया। मसौढ़ा के जमींदारों का जुल्म वहाँ और पास के इलाकों में दूर तक प्रसिद्ध है। यहाँ तक कि कोई भला किसान अपनी लड़की उस मसौढ़ा में पहले ब्याहता न था। फलतः बड़ी दिक्कत से शादी हो पाती थी। लड़की की इज्जत खतरे में कौन डाले?

उनके जुल्म के दो-एक नमूने और सुनिये। फसल तैयार होकर खलिहान में जमा है और जमींदार के आदमी ने उस पर गोबर लगा दिया जिसे छापा कहते हैं। फिर जब तक जमींदार का हुक्म न होगा तब तक किसान की क्या बिसात कि उसे छुए, चाहे वह सड़, गल या जल ही क्यों न जाय? इस प्रकार एक गाँव, पैपुरा की सारी फसल खलिहान में जल गई और किसानों को दाना न मिला। रब्बी की फसल कई महीने उस छापे के चलते पड़ी रही और बरसात में सड़ने लगी फिर भी जमींदार ने हुक्म न दिया कि उसे दौनी करके ले जाओ। फलतः किसी ने आग लगा दी।

वहाँ एक तरीका है दानाबन्दी का। वहाँ ज्यादातर जमीनों का लगान नकद न होकर भावली है। इससे किसानों को रुपये के बदले जमींदार को तयशुदा गल्ला ही देना पड़ता है। वह कितना हो इसको ठीक करने का तरीका दानाबन्दी कहा जाता है। जमींदार के अमले (नौकर) ने फसल वाले खेत पर जाकर अन्दाज से कह दिया कि इस खेत में इतने मन गल्ला होगा और वही बज्रलीक हो गया! यदि अमले की पूजा किसान ने न की तो पाँच मन की जगह आठ मन तो वह अमला जरूरी ही कहेगा। वही बात एक कागज पर नोट कर लेता है। उसे खेसरा कहते हैं। कभी-कभी तो जमींदार की कचहरी में बैठकर जाली खेसरे बना करते हैं। खासकर भावली खेतों

के लगान की नालिश के समय। और असली खसरे फाड़ दिये जाते हैं! क्योंकि नालिश के समय पाँच मन की जगह पचीस मन तो बताना ही होगा, ताकि ज्यादा रुपयों की डिग्री हो। वही खसरे अदालत में सबूत के तौर पर पेश किये जाते हैं। इस दानाबन्दी का नतीजा होता है कि किसान को खेत के साथ-साथ, गाय, बैल, बकरी आदि और कभी-कभी तो लड़कियाँ तक बेचकर, जमींदार का पावना चुकाना होता है! जमींदार की शान ऐसी कि यदि वह कुर्सी या चारपाई पर बैठा हो तो किसान चाहे ब्राह्मण ही क्यों न हो, बहुत दूर हट के नीचे खाली जमीन पर ही बैठेगा। सो भी हाथ जोड़कर!

सन् 1927 ई. के अन्त तक मुझे इन जुल्मों का पूरा ब्योरा तो ज्ञात न था। मगर इतना जरूर जानता था कि वहाँ किसानों पर जुल्म बहुत होता है। कुछ खास जुल्मों का पता भी था। ऐसी दशा में मैंने सोचा कि यहाँ बराबर रहना है और गंगा स्नान, क़चहरी जाने, मुर्दे को गंगा किनारे ले जाने, बाजार में आने तथा मेले में (क्योंकि वहाँ फागुन और वैशाख में शिवरात्रि का बड़ा मेला ब्रह्मपुर की ही तरह लगता है) आने के समय किसान खामख्वाह अपनी बातें सुनाया करेंगे। अगर उनके दुःख सुनकर कोई तेज आन्दोलन चलाया ग़या तो जमींदार और किसान के झगड़े खड़े हो जायँगे और इस तरह आजादी की लड़ाई में बाधा पहुँचेगी। कारण गृहकलह और आपसी झगड़े तो उसे कमजोर करेंगे ही। और अगर मैं यह सब बातें सोचकर न भी पड़ा तो बहुत से लोग जिनका यही पेशा है कि झगड़े लगाया करें और इस प्रकार लीडरी और नाम दोनों ही कमा लें, यह काम जरूर ही करेंगे। फिर तो कांग्रेस और उसकी लड़ाई खामख्वाह कमजोर होगी और मेरी दिक्कतें बढ़ेंगी। तब तक किसानों के नाम पर झूठे आन्दोलन चलाकर कइयों ने किसानों को काफी ठग लिया था और इसकी जानकारी भी मुझे हो चुकी थी। इसीलिए यह खतरा मुझे मालूम हुआ। मैंने देखा, यहाँ तो बारूद का खजाना है। कहीं से अगर एक चिनगारी भी उसमें पड़ गयी, जो बहुत सम्भव है, तो बड़ा भयंकर भड़ाका होगा और सारा गुड़ गोबर हो जायेगा। इसीलिए कोई उपाय होना चाहिए यह फिक्र मुझे हुई। कुछ और साथियों से भी राय की।

अन्त में तय पाया कि यदि हम स्वयं किसानों की एक सभा यहाँ कायम करें और उनका आन्दोलन चलायें तभी खैरियत होगी। क्योंकि ऐसी दशा में एक तो समझ-बूझकर हम पाँव बढ़ायेंगे जिससे किसान-जमींदार संघर्ष न होगा, गृहकलह न होगी और दोनों को समझा-बुझाकर झमेला तय करा दिया जायगा जैसा कि कांग्रेस का सिद्धान्त है। खासकर गांधी जी तो ऐसा ही मानते और कहते हैं। मेरे लिए तो वही पथ दर्शक थे भी। दूसरे ऐसी दशा में गैरजवाबदेह गैर लोगों को यहाँ घुसने और उत्पात मचाने का मौका ही न मिलेगा। क्योंकि वह हमारे आन्दोलन और हमारी सभा को देखकर यहाँ आने की हिम्मत न करेंगे। बस, इसी निश्चय के अनुसार हमने किसानों की सभाएँ जहाँ-तहाँ करना शुरू कर दिया और उनका आन्दोलन जारी

किया।

यह भी सोचा गया कि कौंसिल के लिए पटना जिला दो चुनाव क्षेत्रों में बँटा है, पूर्व पटना और पश्चिम पटना। लेकिन हम तो पश्चिम पटना में ही थे। वहीं काम भी करना था। चुनाव में वोट को लेकर झगड़े होते हैं। गर्मी भी किसानों के बीच काफी पैदा की जाती है। फलतः उस चुनाव के समय भी हम फायदा उठा सकते हैं अगर हमारी सभा यहाँ हो। सारे जिले की फिक्र क्यों करें? हमें तो सिर्फ पश्चिम पटना को देखना है। इसी खयाल से पश्चिम पटने में ही हमारा किसान आन्दोलन सन् 1927 ई. के बीतते-न-बीतते शुरू हो गया। इसके कुछ ही दिन चलने के बाद हमने नियमित रूप से पश्चिम पटना किसान-सभा का जन्म ता. 4-3-28 को दिया। हमने उस समय उसकी नियमावली आदि बनाई। उसका उद्देश्य क्या हो, उसके मेम्बर कौन हों इत्यादि बातें भी तय पायीं।

जो लोग यह तारीख देखकर किसान-सभा का जन्म सन् 1928 में मानते हैं, वह भूलते हैं। उस समय तो उसका विधान आदि बन गया और पूरा रूप खड़ा हो गया। मगर इसके लिए तैयारी भी तो चाहिए और उसमें कुछ समय तो लगता ही है। इसीलिए किसान-सभा का जन्म असल में सन् 1927 ई. के अन्तिम दिनों में ही, आखिरी महीनों में ही, हुआ इतना तो पक्का है। हाँ, ठीक तारीख और महीना याद नहीं कि कब हुआ। असल में ऐसी बातों की ठीक तारीखें याद रहती हैं भी नहीं। वह तो तभी याद होती हैं जब संस्थाओं की बैठकें बाकायदा शुरू होती हैं।

इस प्रकार साफ है कि शुरू में जब हमने किसान-सभा का जन्म दिया तो किसानों तथा जमींदारों के समझौते और उनके हकों के सामंजस्य को सामने रखकर ही यह काम किया यही कांग्रेस का उस समय सिद्धान्त था और आज भी है कि किसान, जमींदार, पूँजीपति-मजदूर, अमीर-गरीब आदि सभी के परस्पर विरोधी हकों, अधिकारों और हितों का सामंजस्य करना और उन्हें मिलाना। उसके मत से जो असल में ये अधिकार, ये हक और ये हित परस्पर विरोधी हुईं नहीं। किन्तु केवल ऊपर से ऐसे मालूम पड़ते हैं। अतः उसका काम है इसी मालूम पड़ने को हटा देना। वह इन दलों के संघर्ष को बहुत बुरा मानती और इससे डरती है। इसे वह आजादी की लड़ाई का बड़ा बाधक समझती है। मेरी भी दृष्टि उस समय ठीक इसी तरह की थी। मैं सपने में भी दूसरे प्रकार का खयाल कर न सकता। मैं सोचता था कि हमारे यत्न से यह सामंजस्य हो जायगा और यह संघर्ष असम्भव हो जायगा।

लेकिन मुझे क्या पता था कि एक दिन यही किसान-सभा परिस्थिति के वश हो इस विचार को त्यागने को मजबूर होगी और इस विरोध को स्वाभाविक तथा असली चीज समझ इस संघर्ष का स्वागत करेगी। यहाँ तक मैं कैसे पहुँचा और मेरे साथ किसान-सभा भी कैसे पहुँची, आगे के पृष्ठ इसी बात को बतायेंगे। पर, यहाँ इतना ही कहना है कि मेरे मन में जो पहले पहल किसान आन्दोलन और किसान-

सभा का खयाल आया वह पक्के और कट्टर सुधारक या सुधारवादी (Reformist) की हैसियत से ही न कि सपने में भी क्रान्तिकारी की हैसियत से। तब तो मैं क्रान्ति (revolution) को समझता भी न था कि वह असल में क्या चीज है?

(2)

विश्राम–बुलन्दशहर में

'लोक संग्रह' और प्रेसकार्यी जी को सौंप कर मैं विश्राम के लिए सुलतानपुर (शाहाबाद) चला गया। फिर सोचा कि पास में रहने से बराबर लोग आते ही जाते रहेंगे। इसलिए वहाँ से भी राँची चला गया और सर गणेश के डेरे में महीनों पड़ा रहा। फिर वहाँ से लौटकर सिमरी रहा। सर गणेश के यहाँ जाने की बात आगे विस्तार से लिखी है। उसका सिलसिला आगे की बातों से मिलेगा। यहाँ एक प्रासंगिक बात लिख देता हूँ। मैं सन् 1929 की गर्मियों में बुलन्दशहर जिले के तौली ग्राम में जो अनूपशहर से 6-7 मील पश्चिम है, चला गया। बरसात के दो महीने वहीं कटे। मेरे एक चिर परिचित दण्डी जी हैं स्वामी सोमतीर्थ जी। वे पहले योगाभ्यास करते थे। उसमें उन्हें कुछ सफलता भी मिली। मगर उसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि गर्मियों में उन्हें कष्ट ज्यादा रहता है। क्योंकि शरीर में गर्मी का असर उस अभ्यास के करते ज्यादा हो गया। फिर भी बड़े ही शान्त और एकान्तवासी हैं। इधर कुछ दिनों से पता नहीं उनकी क्या हालत है? उसी अभ्यास के चलते रोगी तो होई गये हैं। हाँ, तो इस बार हम और वह दोनों ही एक ही साथ तौली गये और वहीं रहे। वहाँ के रईस चौधरी रघुवीर सिंह वगैरह असौढ़े के चौधरी रघुवीरनारायण सिंह के नातेदार पड़ते हैं। इसलिए उन लोगों से पहले ही परिचय था। उनसे आग्रह किया कि उन्हीं के गाँव पर कुछ समय रहा जाय। इसी से वहाँ गये। सचमुच ही वह निरी एकान्त जगह मिली। स्टेशन से बीसियों मील दूर! बुलन्दशहर से ही वहाँ जाना पड़ता है। सड़क तो पक्की है। पर, उन दिनों बहुत ही खराब थी। सिर्फ, ताँगे से ही वहाँ जाना पड़ा।

वहाँ दो चीजें देखने में आयीं। एक तो जिनके यहाँ हम लोग गाँव से अलग हटकर एक बगीचे में ठहरे थे, उनके ही यहाँ नील की खेती देखी। पहले तो बिहार में और दूसरी जगह भी नील की खेती खूब होती थी। इससे रंग तैयार होता था। मगर पीछे जब विलायती रंग चला तो वह चीज जाती रही। फलतः हमें उसका दर्शन वहीं मिला। उन लोगों ने उसकी खेती जारी रखी थी। उससे कुछ नील का रंग भी तैयार करते थे। मगर उन्होंने जो नील की खेती का असली लाभ बताया उससे मैं बहुत आकृष्ट हुआ। बात आज भी ताजी ही है। वे लोग खूब ज्यादा खेती करते हैं। खेतों में खाद देने का सबसे उत्तर साधन नील की खेती समझ उन्होंने उसे नहीं

छोड़ा। पारी-पारी से सभी खेतों में नील बोते हैं। उसकी जड़ें जमीन में सड़कर अलग खाद का काम देती हैं और खेत में गिरी हुई पत्तियाँ जुदाही खेत की पैदावार बढ़ाती हैं। ये दोनों बातें अनिवार्य हैं अगर नील बोया जाय। पत्तियाँ गिरेंगी ही और जड़ें सड़ेंगी ही।

फिर जब नील काट कर हौज में सड़ाते और उसके बाद सड़ा हुआ पानी छानकर बहा देते हैं तो वह भी जमीन को सोना बना देता है। मैं उस पानी की बात तो पहले सुन चुका था। लेकिन जड़ों और पत्तियों की नहीं। यों तो सन की खेती करके थोड़ा बढ़ने पर ही यदि खेत जोत दें जिससे सन का पौधा मिट्टी के नीचे पड़ के सड़ जाय तो अच्छी खाद होती है। इसे ही हरी खाद (green manure) कहते हैं। मगर नील तो उससे कहीं अच्छी हरी खाद का काम देता है। अफसोस कि किसान नील और सन की खाद भूलकर विलायती खादें पैसे से खरीद कर देने लगे हैं।

वहाँ मैंने दूसरी चीज देखी गुड़ और भूरा बनाने का चूल्हा। बिहार और यू. पी. के दूसरे जिलों में मैंने मामूली चूल्हे देखे हैं। इनमें ईंधन ज्यादा लगता है। आँच खराब भी जाती है। मगर वहाँ तो निराला चूल्हा देखा जिसमें ईंधन कम लगता, आँच कहीं तेज होती और वह नुकसान भी नहीं होती। एक चूल्हे के पीछे थोड़ी आँच निकलने के लिए एक जरूरी सूराख होता है। उससे जो आँच निकलती है वह जाया ही होती है। इसलिए वहाँ वह सूराख न बना कर पहले चूल्हे के पीछे थोड़ी ऊँचाई पर दूसरा चूल्हा, उसके पीछे इसी तरह तीसरा, फिर चौथा, पाँचवाँ आदि सात चूल्हे बने थे। भीतर-ही-भीतर एक से दूसरे का सम्बन्ध था। फलतः ईंधन पहले में देने से ही आँच भीतरी सम्बन्ध से दूसरे में, वहाँ से तीसरे में इस प्रकार सभी चूल्हों में जाती थी। पहले चूल्हे पर कड़ाही में ऊख का रस देते थे। थोड़ा गर्म होते ही ऊपर वाले चूल्हे की कड़ाही में उसे बदलकर पहली में नया रस देते थे। फिर दूसरा वाला तीसरी में, चौथी में। इस तरह बदलते-बदलते आखिर में जाकर गुड़ या रवा (राब) की चासनी तैयार हो जाती थी। तब उसे निकालकर नीचे से क्रमशः दूसरा, तीसरा रस लाते रहते थे। इस प्रकार आँच जरा भी जाया होती न थी। वह तेज तो इतनी होती थी कि ऊख की पत्तियों को जलाने पर उन्हीं की राख की झामा बना मैंने वहीं देखा! सभी किसानों को इस प्रकार के चूल्हे का ही प्रयोग करना चाहिए।

मैं वहाँ एक और चीज देखकर मुग्ध हुआ। पुराने ढंग के चरखे वहाँ बराबर चलते पाये। देहाती हाटों में बहुत ज्यादा सूत ला-लाकर औरतें बेचा करती थीं। उन्हीं की बनी शुद्ध खादी भी बहुत ही सस्ती वहाँ मिलती थी। कपास तो उधर बहुत ही काफी होती है। चरखे भी बन्द हुए न थे। इसलिए खादी के लिए वहाँ नये उद्योग की जरूरत ही न थी। सिर्फ सूत खरीदने का काम था। फिर तो जितना चाहिए कता-कताया पाइयेगा। तब तक तो गांधी आश्रम और चरखा संघ वालों का वहाँ दर्शन न हुआ। शायद पीछे पहुँचे हों। वहाँ का बहुत ही सस्ता सूत और सस्ती खादी

काम की चीज थी। यह ठीक है कि मोटी खादी ही बनती थी। महीन सूत नहीं कतता था। यह भी मालूम हुआ कि लिहाफ या रजाई में एक-दो साल तक रूई रख के उसे निकाल लेते और उसमें नयी रूई देते थे। उसी निकली रूई को धुलाकर धुन लेते और सूत कातते थे। इससे सूत भी सस्ता पड़ता था और रूई का अच्छा आर्थिक उपयोग भी होता था। वह जरा भी खराब या नष्ट होने न पाती थी। किसानों को ऐसी समझ हो ताकि अपनी हरेक चीज का खूब ही उपयोग करें तो कितना अच्छा हो।

एक साधु की कहानी है कि वह कपड़े की पहले धोती बनाता। धोती फटने पर उसके गमछे। गमछे फटें तो लँगोटियाँ। लँगोटियाँ फटीं तो उन्हें बाटकर रस्सी और रस्सी टूटने पर उसे जलाकर भस्म बनाता और सिर तथा देह में उस भस्म को लगा लेता था। यह कितनी सुन्दर बात है। वहाँ कि किसान थोड़ा-बहुत ऐसा ही करते थे। अस्तु, वर्षा के बाद मैं वहाँ से पुनः बिहार लौट आया।

(3)

सर गणेश से मनमुटाव

पहले कहा जा चुका है कि सर गणेशदत्त सिंह से सन् 1926 की गर्मियों में मेरा कुछ हेलमेल हो गया था कई वर्षों के मनमुटाव के बाद। इसीलिए 'लोक संग्रह' से छुटकारा पाते ही सन् 1928 की गर्मियों में मैं राँची गया उनके ही आग्रह से, और कुछ दिन वहाँ ठहरा। गर्मियों के दिन बीत रहे थे और बरसात आने ही वाली थी। मैंने अगस्त वाला कौंसिल का अधिवेशन भी वहीं देखा। फिर वापस आया।

राँची में रह के मैं बराबर सुबह-शाम आस-पास के गाँवों में दूर-दूर तक घूमने जाया करता था। मैं हर मुण्डा या उरांव को जो वहाँ के निवासी हैं, देखकर उनके सिर पर नजर दौड़ाता यह देखने के लिए कि चोटी (शिखा) है या नहीं। वहाँ ईसाई काफी हैं। उस समय भी थे। इसीलिए देखता था। चोटी देखकर मैं एकाएक अनायास रो पड़ता और सोचता था कि हिन्दुओं की शिखा उनके पूर्वजों के सिर पर न जानें कब आयी थी। इधर तो हजारों वर्षों तक हिन्दुओं के धर्म के ठेकेदारों ने इनकी खबर भी न ली! फिर भी चुटिया कैसे पड़ी है! आश्चर्य है! धर्म तो सिखाया सही, मगर पशुवत् जीवन बना रहने दिया! मुद्दतों तक पूछा भी नहीं कि मरते हो या जीवित हो। फिर भी अंधविश्वास के करते यह शिखा पड़ी है। मगर सभ्यता का एक धक्का लगते ही उड़ जायेगी यह खयाल होता था।

मैं स्त्री, पुरुष, सबों को हट्टाकट्टा देखकर मुग्ध हो जाता था और सोचता कि यदि इन्हें सुन्दर भोजन मिलता तो कैसे अच्छे जवान और मजबूत होते। स्त्रियाँ भी

कितनी तगड़ी होतीं। चाहे धर्म-प्रचार के ही खयाल से सही, मगर घोर जंगलों में सैकड़ों वर्ष पूर्व, जब न रेल थी और न तार, ईसाई यहाँ आये। उन्होंने डेरा जमाया! यह गैरमामूली हिम्मत और बहादुरी थी, अध्यवसाय प्रियता थी। इसीलिए उनकी इस मर्दानगी, धुन और कर्तव्यपरायणता के सामने मैंने सिर झुकाया। लोगों का केवल दोषोद्घाटन और छिद्रान्वेषण कदापि उचित नहीं कि मिशनरी लोग सीधे लोगों को तरह-तरह से फुसलाकर ईसाई बनाते हैं। उन्हीं की तरह त्याग और हिम्मत चाहिए लगन चाहिए और धुन का पक्का होना चाहिए। तभी काम चलेगा। केवल ऐसे ही धुनी को हक है कि ईसाइयों का दोष दिखाये!

मुझे वहाँ पहले-पहल मालूम हुआ कि छोटा नागपुर के आदिवासी (मुण्डा, उराँव) आदि में तीन गुण थे, जो अब धीरे-धीरे लुप्त हो रहे हैं। जैसे-जैसे सभ्यता की हवा पहुँचती जाती है! एक समझदार आदमी ने मुझसे एक बार वहीं कहा था कि हिन्दुओं ने तो इन लोगों को पशु बना रखा था। मगर मिशनरियों ने उन्हें, या कम-से-कम उन लोगों को, जो ईसाई बने, आदमी तो बनाया। बात तो ठीक ही है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि उनका पशु जीवन मिटाकर सभ्य बनाया। उनके पढ़ने-लिखने का प्रबन्ध किया। मगर खेद इतना ही है कि इसी के साथ उनमें पहले से चले आने वाले तीन अपूर्व गुणों को भी खत्म कर दिया! लेकिन इसमें उनका क्या दोष? सभ्यता तो इसे ही कहते हैं और अगर ईसाई वहाँ न भी जाते तो भी ये तीन गुण मिट ही जाते, जैसा कि अन्यत्र हुआ है। सभ्यता पिशाची उन्हें मिटा ही छोड़ती!

वे तीन गुण हैं झूठ कभी न बोलना, व्यभिचार से दूर रहना और मर्दानगी। कहते हैं कि चाहे कुछ भी हो जाय लेकिन वे लोग बात कभी छुपाते न थे। असत्य कभी बोलना जानते न थे। इसीलिए चोरी कर न सकते थे। वह तो छिपाने की चीज है। मर्दानगी की तो यह बात बतायी जाती है कि यदि चाहे पड़ोसी से या किसी गैर से मारपीट हो गयी और कोई मर गया तो मारने वाला डर के छिपने के बजाय, पुलिस या अधिकारियों से जा के साफ कह देता कि हमने मारा है। किसी के धमकाने-डराने से वे डरते न थे। इसी प्रकार व्यभिचार के वे सख्त दुश्मन थे। व्यभिचारी की जान तक ले लेते थे।

इस सम्बन्ध में दो कहानियाँ प्रायः उसी समय मुझे बतायी गयीं। जब सरकारी मकान बन गये और मिनिस्टर तथा गवर्नर गर्मियों में वहाँ रहने लगे तो आम सड़क के पास खड़े किसी मिनिस्टर के अर्दली ने सड़क से जाने वाली एक स्त्री से दिल्लगी की। इतने ही पर पीछे से आने वाले एक आदिवासी ने अर्दली पर धावा बोलकर उसे पछाड़ ही तो दिया। अनन्तर मजबूर करके जमीन पर नाक रगड़वाई तथा प्रतिज्ञा करवाई कि फिर कभी ऐसा न करेंगे! तब कहीं उसकी जान बख्शी! दूसरी घटना गवर्नर की कोठी की बतायी जाती है। उसमें झाड़ू देने वाली एक स्त्री पर किसी चपरासी ने आक्रमण करना चाहा तो बगल में रखे लम्बे चाकू को निकालकर वह

दुर्गा जैसी उस पर कूद पड़ी। अगर वह नौ-दो ग्यारह न हो जाता तो खैरियत न थी! मगर अब ये गुण चले गये, चले जा रहे हैं। सभ्यता के लिए हमें यह बड़ी गहरी कीमत चुकानी पड़ी है!

हाँ, तो सर गणेश की बात सुनिये। बेशक सरकार परस्ती उन्होंने खूब ही की। नहीं, तो उनका त्याग बिहार में तो सानी नहीं रखता। साथ ही, उन जैसा अतिथि-सत्कार करने वाला और प्रतिज्ञा को पूरा करने वाला मनुष्य मैंने नहीं देखा। जो दान देना बोलेंगे उसे फौरन पूरा करेंगे। समझ भी सुन्दर। चालाक भी काफी।

एक दिन उन्होंने गया के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की बात मुझसे राँची में ही छेड़ी। बोले कि श्री अनुग्रह नारायण सिंह, चेयरमैन के करते बहुत गड़बड़ी हुई है। फलतः उस बोर्ड के तोड़ने (Superession) की बात चल रही है। मैंने पूछा कि आखिर इलजाम क्या है? उनसे उन पर कोई कैफियत (reply) भी माँगी गयी है या नहीं? उन्होंने कहा कि अभी तक नहीं। लेकिन सारे इलजाम कौंसिल मेम्बरों के पास भेजे जायँगे। मैंने पूछा कि यह तो बहुत ही अच्छी बात होगी। मगर सबसे बड़ी बात यह होगी कि उनसे उन आरोपों (Charges) के बारे में सफाई जरूर तलब की जाय। बिना सफाई का मौका दिये बोर्ड के खिलाफ कोई भी काम करना निहायत नामुनासिब होगा। उन्होंने स्वीकार किया और कहा कि आरोप और उनकी सफाई दोनों ही कौंसिल के मेम्बरों के पास भेजने के बाद ही कोई काम बोर्ड के बारे में किया जायगा।

बस इतनी बात के बाद मैं तो राँची से आ गया और श्री अनिरुद्ध शर्मा के पास उनके गाँव पर नये बगीचे में बने नये मकान में जा के रहने लगा। शर्मा जी ने मेरे ही लिए गाँव से बाहर एक सुन्दर बँगला और उसके भीतर एक तहखाना (गुफा) बना दिया था। वहाँ मैं गर्मियों में बहुत बार रहा हूँ। उसमें हवा तो जाती ही थी। तरी भी बनी रहती, जब कि बाहर लू चला करती थी। बक्सर से सोलह मील दक्षिण वह जगह है। वहाँ इक्के भी आसानी से नहीं जा सकते। वैसी सड़क नहीं है। वर्षा में तो वह स्थान और भी दुष्प्रवेश है। उसका नाम सुलतानपुर है। वहाँ का डाकखाना धनसोई है। वह बाजार भी है। शर्मा जी ने तब से न सिर्फ मेरी अपार सेवा की है, वरन् कांग्रेस और खासकर किसान-सभा के मामले में मेरा पूरा साथ दिया है। वे सुखी और चलता-पुर्जा आदमी भी हैं, खासकर उस इलाके में।

इस समय कह नहीं सकता, कि सन् 1928 का दिसम्बर था, या कि 1929 ई. की जनवरी। तारीख याद नहीं। भरसक 1929 के जाड़े का ही समय था, जब पटने में कौंसिल की बैठक हो रही थी। कौंसिल जनवरी से मार्च तक प्रायः हुआ करती थी। मैं गंगा के उत्तर किसी सभा में जा रहा था और पटना उतरा। उसी समय पता लगा कि गया के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को सरकार ने हथिया लिया और चेयरमैन वगैरह हटाये गये। मैं घबराया कि यह क्या बात! न तो उनसे सफाई तलब होने की बात कहीं पढ़ी और न कौंसिल के मेम्बरों के पास सारी बातें भेजने की ही।

फिर अचानक यह क्या हो गया? मैं फौरन सर गणेश के बँगले पर गया। वहाँ नीचे ही बैठा। खबर भिजवायी कि मैं आया हूँ। थोड़ी देर में वे ऊपर से उतर कर आये। कहीं बाहर जाने की तैयारी में थे। मुझसे खड़े-खड़े बातें हुईं। मैंने तो देर तक काफी बातें करने की सोची थी। मगर वे शायद जल्दी में थे। इसीलिए खड़े-खड़े बातें हुईं।

मैंने पूछा, "यह गया के बोर्ड का क्या माजरा है?" उत्तर मिला, "तोड़ दिया गया।" मैंने कहा कि "सो तो ठीक है। मगर क्या आपने उन्हें सफाई का मौका दिया था!" उनने कहा, "नहीं।" 'क्यों?" मैंने पूछा। उत्तर दिया कि "ऐसी बात हो गयी कि गवर्नर राँची से गया आने को थे। वहाँ कोई अभिनन्दन-पत्र उन्हें मिलने वाला था। उसके उत्तर में बोर्ड के बारे में सरकार का क्या फैसला है उन्हें यह भी सुनाना जरूरी था। इसीलिए उन्होंने मुझसे फौरन कोई निर्णय करने को कहा। जब मैं स्वयं इतनी जल्दी कुछ न कर सका तो कार्यकारिणी की मीटिंग में उन्होंने यह मामला पेश कर दिया। उसमें हम दो मिनिस्टर फौरन तोड़ने के फैसले के विरुद्ध रहे। बाकी वे तीन पक्ष में हो गये। फलतः मैं लाचार हो गया।" मैंने उत्तर दिया कि "लेकिन वह विभाग तो आपका है। अतः जवाबदेही आप ही की मानी जायगी न?" उन्होंने कहा, "सो तो ठीक है। मगर गवर्नर की बात भी तो आखिर थी। मैं करता क्या?" मैंने फिर कहा, "आप ही ने इसी कौंसिल के चुनाव के जमाने में एक गोपनीय बात मुझसे कही थी कि गवर्नर ने झरिया के कोयले की खानों की सभा वाले अंग्रेजों को वचन दे दिया था कि मानभूम से झरिया को अलग करके स्वतन्त्र जिला उसे बना देंगे। मगर मैं इस बात पर डट गया कि ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि तब तो झरिया जिला काफी पैसे वाला होने से अफड़ के मरेगा और बाकी मानभूम पैसे बिना भूखों मर जायगा। फलस्वरूप, आखिर गवर्नर को झुकना पड़ा। गो उनकी बात झूठी हुई। तो फिर यहाँ भी वही क्यों न किया?" तब उन्होंने कहा कि मैं कारण बताऊँगा। इस पर मैंने कहा कि मुझसे तो आपकी यही बात थी। सो उसका क्या हुआ? उन्होंने कहा कि यह भी पीछे बताऊँगा। ऐसा कह के वे चलते बने।

मुझे बड़ा गुस्सा आया। सोचा कि उस समय तो मुझे ठगने के लिए इस शख्स ने अपनी शाबासी की कितनी ही बातें सुनाईं। यों हम भी देशभक्त हैं इसका प्रमाण पेश किया। मगर आज क्या हुआ। माना कि अनुग्रह बाबू या औरों से हमारा मनमुटाव है। मगर यह तो समूचे कांग्रेस की और न्याय की बात थी। फिर इसको कैसे बर्दाश्त किया जा सकता है? बस, मैंने तय कर लिया कि अब फिर सर गणेश के पास नहीं आऊँगा। मैंने इनका असली रूप पहचान लिया। मुझे शायद सीधा-सादा और बेवकूफ समझते हैं। इसी से पीछे कहने और समझाने की बात कर गये हैं। उसके बाद जो वहाँ से आया तो फिर कभी गया ही नहीं। पीछे 'सर्च लाइट' में तथा दूसरे समाचार-पत्रों में एक लम्बा खुला पत्र भी छपवाया। उसमें सारी बातें लिख दीं। उसके

बाद सुना कि लोगों से सर गणेश कहते थे कि स्वामी जी तो तानाशाही (Dictatorship) चाहते हैं। जो उनका हुक्म न माने उस पर रंज हो जाते हैं। भला, इसमें तानाशाही का क्या सवाल था? मगर मुझे तो बहुतों ने ऐसा समझा है! सो भी ऐसी ही बातों को लेकर! ताज्जुब!

(4)

भूमिहार-ब्राह्मण-सभा का खात्मा

सन् 1929 ई. के गर्मियों के दिन थे। मैं सुरताँपुर (सुलतानपुर) में श्री अनिरुद्ध शर्मा के बँगले में था। पहले से बात तय थी कि इस बार चातुर्मास्य में मेरठ की तरफ जा के स्वामी सोमतीर्थ जी के साथ रहूँगा। जैसा कि बुलन्दशहर के तौली मौजे में जाने और रहने की बात पहले ही कह चुका हूँ। इधर अखबारों में पढ़ा था कि श्री सुन्दर लाल जी की 'भारत में अँग्रेजी राज्य' पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है। वह सोलह रुपये में मिलेगी। लेकिन जो पहले ही ग्राहक बनेंगे उन्हें बारही रुपये में लब्ध होगी। इसलिए मैं ग्राहक बन चुका था और उसके आने की प्रतीक्षा में ही था कि एकाएक उड़ती खबर मिली कि मुंगेर में भूमिहार ब्राह्मण महासभा का अधिवेशन होगा और सर गणेशदत्त सिंह उसके सभापति होंगे। मैं ताज्जुब में आया और घबराया भी। मेरी समझ में यह बात असम्भव थी!

बाबू श्री कृष्ण सिंह और बाबू रामचरित्र सिंह ये दोनों ही उस जिले के कांग्रेस नेता और कौंसिल के सदस्य थे। सर गणेश रामचरित्र बाबू के विरुद्ध कौंसिल के उम्मीदवार भी हुए थे। कौंसिल में ये दोनों सर गणेश को खूब खरी-खोटी सुनाते भी। इधर श्री कृष्ण सिंह ही भूमिहार ब्राह्मण सभा की स्वागत समिति के अध्यक्ष थे। इसीलिए विश्वास नहीं होता था कि जीती मक्खी वे लोग निगलेंगे और अपने विरोधी एवं पक्के सरकार परस्त आदमी को सभापति बनाने को राजी होंगे। मैंने सोचा कि और न सही, तो बाहरी दुनिया में होने वाली बदनामी से तो डरेंगे। क्योंकि लोग खामख्वाह कहेंगे कि कौंसिल में तो विरोध करते हैं पर, घर में उसी आदमी को सिर चढ़ाते हैं! फिर ऐसों का विश्वास क्या! एक बात और भी थी। आगे एकाध ही वर्ष में फिर कौंसिल चुनाव होने को था। ऐसी दशा में सर गणेश को सभापति बनाना साँप को दूध पिलाना ही था। क्योंकि उसके करते समाज में प्रिय और ऊँचे बन के फिर कौंसिल के चुनाव के समय विरोध करेंगे।

इसी उधेड़बुन में था कि सभा का समय आ धमका। उधर दैवात् 'भारत में अंग्रेजी राज्य' की बी.पी. आ गयी। फिर तो, बी.पी. छुड़ा के पास में पुस्तक रखी और मुंगेर जाने के लिए बक्सर स्टेशन को रवाना हो गया। पीछे पता चला

कि बी.पी. छुड़ाने के फौरन ही पुलिस डाकखाने में पहुँची कि वह बी.पी. कहाँ गयी, इसका पता लगाये। मगर तब तक तो 'चिड़ियाँ चुग गयी खेत'। मैं सुलतानपुर में था भी नहीं कि पुलिस दौड़-धूप करती और पुस्तक उठा ले जाती। छपते-छपते ही वह जब्त हो गयी यह निराली बात थी। हालाँकि जो बातें उसमें लिखी हैं वह अंग्रेजी की मेजर बोस की 'राईज ऑफ दी क्रिश्चियन पॉवर इन दी ईस्ट' में मिलती हैं। मगर वह जब्त नहीं है! असल में हिन्दी में होने से जनसाधारण के लिए यह सुलभ हो गयी। इसीलिए सरकार सतर्क हो गयी कि कहीं जनता की आँखें खुल न जायँ। वह तो अब तक आँख मूँदे तेली के बैल की तरह एक निश्चित दायरे के भीतर ही घूमती थी। अब कहीं फाँद के बाहर न निकल जाये, यह डर था।

जब मैं गाड़ी में बैठ के मोकामा आया तो गाड़ी में चढ़ के मुंगेर सभा में चलने वाले परिचित लोगों से ही पता लग गया कि सर गणेश दत्त सिंह ही सभापति होंगे, यह तय पाया गया है। अब तो मेरे क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। सिर्फ इसलिए नहीं कि मेरा उनके साथ विरोध था। यह कोई व्यक्तिगत बात या कारण न था। असल में मैंने देखा कि इधर लगातार चार-पाँच सभाओं में फिर चाहे वे प्रान्तीय हों या अखिल भारतीय, वह एक ही आदमी सभापति होता चला आता था। यह बात बुरी तरह खटकने वाली थी। क्या समाज में कोई और पढ़े-लिखे, योग्य या धनी नहीं रह गये कि एक ही आदमी के हाथ में वह बिक गयी? यह एक बड़ा अपमान उस समाज का था जिसे ज़गाने और स्वात्माभिमान युक्त बनाने में मैंने काफी परिश्रम किया था और जिसे बगावत का झण्डा गाड़ने के लिए भी तैयार किया था।

एक बात और थी। अगले वर्ष कौंसिल चुनाव होने को था। एक बड़े समाज का सरताज बन के वह चुनाव में काफी गड़बड़ी करते और कांग्रेस के विरुद्ध समाज की जनता को सफलतापूर्वक भड़काते। ताकि फिर मिनिस्टर बन जायें। तीसरी बात थी, श्री कृष्ण बाबू की बड़ी बदनामी की। लोग खामख्वाह कहते कि ये ऊपर से तो राष्ट्रवादी बनते हैं। मगर भीतर से कांग्रेसी और जी हुजूर सब एक हैं। यदि यह अक्ल उन्हें न आयी तो मैं क्यों अन्धा बनूँ और उन्हें न बचाऊँ! आखिर उनको बचाना तो कांग्रेस को बचाना था। बस, इन्हीं सब कारणों से मैंने तय कर लिया कि जब खुली सभा में सभापतित्व के लिए सर गणेश का नाम आयेगा तो मैं उसका विरोध जरूर करूँगा। यह बात मैंने न सिर्फ गाड़ी में ही लोगों से कह दी। प्रत्युत मुंगेर के पूर्व सराय स्टेशन पर जो लोग प्रबन्धकर्त्ता के रूप में मिले उनसे भी कह दी।

एक दिन जो आदमी कांग्रेस या, यों कहिये कि स्वराज्य पार्टी के खिलाफ सर गणेश को कौंसिल में जिताने गया था, वही दो ही वर्ष के बाद आज उन्हीं सर गणेश को देख नहीं सकता और भरी सभा में उन्हें अपमानित करने पर तुला बैठा है! वह नहीं चाहता कि वह फिर कौंसिल में जायँ और मिनिस्टर बनें! ऐसा आदमी जातिवादी

(communalist) हो सकता है या नहीं, यह निष्पक्षपात लोग ही बता सकते हैं।

अब तो मुंगेर पहुँचते ही हो-हल्ला मच गया। ऐसी सनसनी फैली कि सभी लोग बेचैन थे। लोगों को यह तो निश्चय होई गया कि मैं विरोध करूँगा ही और उसके वोट लेने पर सर गणेशदत्त सिंह कदापि सभापति चुने न जायँगे। लोग दल के दल मुझे समझाने आये। मगर निरुत्तर हो के चले गये। अब हमारे दोस्तों और लीडरों को, रामचरित्र बाबू को और श्री कृष्ण बाबू को, यह फिक्र हुई कि उनके जिले में आकर यदि सर गणेश की छीछालेदर हुई तो समाज में उनकी बदनामी होगी। मगर इसका अपराधी कौन! उन्होंने ऐसा होने ही क्यों दिया? वे लोग समझाने आये तो मैंने साफ कह दिया कि मुझे तो यह कह के बदनाम किया गया कि मैं कांग्रेस-विरोधी और सर गणेश का पिट्ठू हूँ। मगर आप तो कांग्रेस के लीडर हैं। फिर यह उलटी बात क्यों? मैं सर गणेश का विरोध करूँ और आप लोग उससे हैरान हों? आप उनके समर्थक हों? मैंने अनजान में उनका समर्थन किया और जान लेने पर आज उनका पक्का विरोधी हूँ। मगर आप लोग जानकर क्यों उनके साथी बनते हैं? दुनिया आपको क्या कहेगी? इसका उत्तर वे लोग क्या देते? मैंने उनसे साफ कह दिया कि इतना ही नहीं। चुनाव में वे जहाँ खड़े होंगे मैं उनका विरोध सारी ताकत लगा के करूँगा और देखूँगा कि मिनिस्टर बन के वे आगे सरकार-परस्ती कैसे करते हैं। इस पर वे लोग चले गये। फिर बाबू राम दयालु सिंह को मेरे पास भेजा। क्योंकि जानते थे कि उनकी बात मैं शायद मान सकूँ।

श्री राम दयालु सिंह मेरे पास आये। देर तक बातें होती रहीं। आखिर में मैंने यह कहा कि सभा में जाने पर तो मैं उनके सभापतित्व का विरोध अवश्य करूँगा। क्योंकि यह बात कह चुका हूँ। उसे टाल नहीं सकता। पर यदि आप लोगों की यही मर्जी है कि वे सभापति बनें ही तो लीजिये मैं सभा में जाऊँगा ही नहीं। आप लोग सँभालें और करें। वह खुश हुए। यह जानकर औरों की चिन्ता घटी। मगर सभा में जब लोग खचाखच भर गये और मुझे न पाया तो कानाफूँसी होने लगी कि स्वामी जी क्यों नहीं आये? सर गणेश सभापति तो बन ही चुके थे। किसी ने उनसे पूछा कि स्वामी जी यहाँ आ के भी सभा में क्यों नहीं आये? उनका जैसा स्वभाव है, रंज हो के कह दिया कि स्वामी जी की बात मैं क्या जानूँ! आप उनसे पूछिये! फिर क्या था? कोई इधर उठा, कोई उधर और सवाल होने लगे। आवाज आयी कि स्वामी जी को बुलाकर लाया जाय। बराबर लोगों ने कहा। उन्होंने कहा कि स्वामी जी के बिना सभा का काम रुक नहीं सकता। इस पर और गड़बड़ी मची और मेरे बूढ़े गुरु भाई स्वामी परमानन्द सरस्वती ने उठ के कहा कि स्वामी जी ने समाज को जगाया, और उन्हीं के बिना काम नहीं रुकेगा? आप ही काम चलाइयेगा? और क्रोध से सभापति की ओर वह बढ़े। फिर तो ऐसी गड़बड़ी मची कि सर गणेश को अपने ऊपर खतरा मालूम पड़ा। फलतः सभा भंग कर दी और पुलिस! पुलिस!! पुकार

के उठ खड़े हुए। किसी प्रकार लोगों ने घेर-घार कर उन्हें बचाया और डेरे पर पहुँचाया।

इस प्रकार भूमिहार ब्राह्मण महासभा भंग हो गयी। हालाँकि, मैं बाहर ही था। मेरे पास दौड़े-दौड़े एक सज्जन पहुँचे कि 'सभा में तूफान है, चलिए शान्त कीजिये' मैं समझ न सका। पीछे उनसे कहा कि मैं जल्दी में चला आया हूँ। शायद सर गणेश पिट गये। हालत नाजुक है। इस पर मैं दौड़ के सभा में पहुँचा तो हंगामा देखा। मुझे देखते ही लोग ठण्डे हो गये। लोग यही तो चाहते थे कि मैं आऊँ। खैर मैंने समझा-बुझा के शान्त किया और न आने का कारण बताया। गड़बड़ी करने वालों को फटकारा भी। लेकिन यह तो ठीक ही है कि सभा सदा के लिए भंग हो गयी। अच्छा ही हुआ। उससे भलाई तो कुछ होती न थी। हाँ बुराई जरूर हो जाया करती। अब इधर सुना है, दस वर्षों के बाद उसे फिर जिलाने का यत्न हो रहा है। नहीं जानता कि वह सफल होगा या नहीं। दस वर्षों तक तो मेरे डर से सभा का नाम लेने की किसी को हिम्मत होती न थी। लोग जानते थे कि यदि उन्होंने सभा की मैं जाकर उसमें विरोध करूँगा और उनकी एक न चलने दूँगा। इस प्रकार उसे फिर भंग कर दूँगा। मगर अब जब सबों को पता लग गया है कि मुझे उससे अब कोई वास्ता नहीं है और उसमें जाऊँगा ही नहीं। तब शायद हिम्मत बँध रही है!

(5)

बिहार प्रान्तीय किसान-सभा

मुंगेर की घटना के बाद सर गणेश के पिट्ठू लोग अखबारों में कुछ ऊलजलूल बातें लिखते रहे। उसका जवाब उन्हें दिया गया, सो भी मुँहतोड़। फिर तो वे लोग चुप्पी साध गये। मुंगेर के बाद श्री कृष्ण सिंह को पटने में लोगों की बातें, उन लोगों की जो कटु समालोचक और छिद्रान्वेषी थे, सुनने के बाद मैंने यह कहते खुद ही सुना या यों कहिये मेरे ही सामने उन्होंने कहा कि विरोधी लोगों ने भी स्वीकार किया है कि आप लोगों ने साफ सिद्ध कर दिया कि आपका समाज पक्का राष्ट्रवादी है, "They have proved that they are nationalists" लेकिन यदि मैं न रहता तो यकीन करना चाहिए कि ठीक उलटी बात कही जाती। क्योंकि वह काण्ड होता ही नहीं। फिर तो एक ही नतीजा निकाला जाता कि ये सभी जातिवादी हैं।

उसके बाद, जैसा कि लिख चुका हूँ, तौली चला गया। वहाँ से सितम्बर में लौटा। ठीक उसी समय कौंसिल के मेम्बर स्वराज्य पार्टी की तरफ से श्री रामदयालु सिंह, बाबू श्री कृष्ण सिंह, श्री बलदेव सहाय वगैरह थे। काश्तकारी कानून में सुधार करने के लिए उसी कौंसिल में एक बिल सरकार की तरफ से आने वाला था। चारों ओर उसकी चर्चा थी। क्या किया जाना चाहिए यह सोचा जा रहा था। इतने ही

में नवम्बर का महीना आ गया। सन् 1929 ई. के नवम्बर का महीना बिहार प्रान्तीय किसान-सभा के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। मैं अचानक किसी कार्यवश मुजफ्फरपुर गया हुआ था। पं. यमुनाकार्यी के मकान में जहाँ प्रेस भी था, ठहरा था। छत के ऊपर वाली कोठरी में था। वह मकान 'कल्याणी चौक' पर था। भूकम्प में ध्वस्त हो गया। सवेरे का समय था। श्री रामदयालु बाबू आ गये और कार्यी जी के साथ मेरे स्थान पर पहुँच कर बातों के सिलसिले में शुरू किया कि बिहार प्रान्तीय किसान-सभा की नींव दी जानी चाहिए। उन लोगों ने समझ लिया था कि बिना किसान-सभा के सरकार मानेगी नहीं, काश्तकारी कानून में खतरनाक तरमीम (संशोधन) करके किसानों का गला रेत देगी और हम लोग कुछ कर भी न सकेंगे। कारण, बहुमत कौंसिल में है नहीं। इसीलिए बिहार प्रान्तीय किसान-सभा की बात सूझी।

मैंने कहा, ठीक है बनाइये। सभा तो बननी ही चाहिए। फिर सोचा गया कि उसके पदाधिकारी कौन हों। उन्हीं लोगों ने बाबू श्री कृष्ण सिंह को जेनरल सिक्रेटरी तथा पं. यमुनाकार्यी, श्री गुरु सहाय लाल, श्री कैलाशबिहारी लाल को डिवीजनल सेक्रेटरी चुना। इसीलिए कि यदि हर डिवीजन या कमिश्नरी के लिए एक-एक मन्त्री रहें तो काम ठीक चले। इसके बाद सभापति कौन हो यह सवाल आया। मैंने कहा कि बाबू राजेन्द्र प्रसाद को सभापति बना लीजिये। इस पर वे लोग कुछ देर चुप रहे। फिर रामदयालु बाबू ने कहा कि सभापति तो आपको ही बनना चाहिए। मैं ताज्जुब में आया कि मेरा नाम क्यों लेने लगे। मैंने सपने में भी यह सोचा न था कि प्रान्तीय किसान-सभा बनेगी और मैं उसका अध्यक्ष बनूँगा। इसीलिए तैयार होने की बात सोची तक न थी। मैंने फौरन इनकार किया कि मैं इसमें पड़ नहीं सकता। फिर तो कहा-सुनी चली। दोनों आदमियों का हठ होने लगा कि मेरे बिना सभा का काम ठीक नहीं चल सकता। वह जैसी चाहिए बन नहीं सकती।

लेकिन मेरा जैसा स्वभाव है धीरे-धीरे आगे बढ़ता हूँ। मैं उसी की जवाबदेही लेता हूँ जिसे अच्छी तरह सँभाल सकूँ। अभी तक तो एक जिले की भी किसान-सभा न चलाकर सिर्फ आधे पटने की ही पश्चिम पटना किसान-सभा चलाता रहा। फिर एकाएक प्रान्त भर की जवाबदेही कैसे लेता? इसीलिए मैं बराबर नाहीं करता रहा। उधर वह लोग भी कहते ही रह गये कि आप ही को बनना होगा। बात तय न पायी। फिर सोचा गया कि सोनपुर का मेला इसी नवम्बर में ही होने वाला है। इसलिए अभी से नोटिसें बाँटी जायँ और तैयारी की जाय कि मेले में ही इस सभा को बाकायदा जन्म दिया जाय। तदनुसार ही नोटिसें छपीं और बँटने लगीं। अखबारों में भी खबर निकली। तैयारी भी होने लगी। मेला भी आ गया। वहाँ हम लोग ठीक समय पर पहुँच भी गये।

खासा लम्बा शामियाना खड़ा था। लोगों का जमावड़ा भी अच्छा था। एक तो सभा, दूसरे मेला। फिर जमावड़े में कमी क्यों हो? मैं ही उस मीटिंग का सभापति

चुना गया। रामदयालु बाबू बहुत मुस्तैद थे। मेरा भी भाषण हुआ और बाकी लोगों का भी। बिहार प्रान्त में किसान-सभा की जरूरत बतायी गयी। काश्तकारी कानून में किये जाने वाले खतरनाक संशोधनों का भी जिक्र किया गया। यदि किसान-सभा के द्वारा किसानों का संगठन न होगा तो काश्तकारी कानून बहुत ही खराब बन जायगा। लोगों में काफी जोश था। नयी चीज थी। सभी चाहते थे। कुछ लोगों ने सभा बनाने का विरोध भी किया औरों की तो याद नहीं। लेकिन श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने तो खासा विरोध किया। कांग्रेस के रहते किसान-सभा कायम करने की कोई जरूरत नहीं यह बात उन्होंने कही। उनका खयाल था कि कांग्रेस ही सब कुछ कर सकती है। फिर किसान-सभा अलग क्यों बनें? कांग्रेस में तो अधिकांश किसान ही हैं। असल में वही तो किसान-सभा है। अलग किसान-सभा बनने से कांग्रेस कमजोर हो जायगी। क्योंकि जो लोग किसान-सभा में काम करेंगे वह कांग्रेस का पूरा काम न कर सकेंगे। कांग्रेस के लिए आगे खतरा भी किसान-सभा से हो सकता है, यह भी कहा गया। उन दिनों श्री बेनीपुरी से मेरा कोई विशेष परिचय न था। विशेष परिचय तो हुआ तब जब वह सोशलिस्ट नेता बने और भूकम्प के बाद सन् 1934-35 में किसान-सभा के समर्थक हुए।

आखिर में राय ली गयी और सभा स्थापित करने का फैसला हुआ। इसके बाद पदाधिकारी चुने गये। मैं बराबर ही अस्वीकार करता रहा। लेकिन मैं ही सभापति और पूर्वोक्त सज्जन मन्त्री आदि चुने गये। सदस्यों में बाबू राजेन्द्र प्रसाद से लेकर जितने प्रमुख कांग्रेसी थे सभी का नाम दिया गया। तय किया गया कि सभी लोगों से फौरन इसके बाद ही पूछकर स्वीकृति भी ले ली जायगी। किया भी ऐसा ही गया। सबने स्वीकार किया। किसी ने भी इनकार नहीं किया सिवाय बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद के। उन्होंने कहला भेजा कि मेरा नाम हटा दिया जाय। सोनपुर वाली इस मीटिंग की पूरी कार्यवाही लिखी-लिखायी पड़ी है, जिसमें सभी के नाम हैं। इतना ही नहीं। उसके बाद की हर मीटिंगों की कार्यवाही लिपिबद्ध पड़ी हुई है।

एक दिलचस्प बात इसी सम्बन्ध में हुई। कुछ कांग्रेसी लोगों के नाम मेम्बरों में न दिये जा सके और छूट गये। दृष्टान्त के लिए बाबू मथुरा प्रसाद का नाम छूटा था। उन्होंने इसका उलाहना दिया। फिर तो बाबू बलदेव सहाय के डेरे पर जो मीटिंग शीघ्र ही हुई उसमें उनका नाम भी सदस्यों में जोड़ दिया गया।

आज तो मेरे और कार्यी जी के सिवाय उन लोगों में शायद ही कोई हैं जो इस बिहार प्रान्तीय किसान-सभा के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विरोधी न हों। अब तो वे लोग इसे फूटी आँखों देख नहीं सकते, इसे बर्दाश्त नहीं कर सकते और जड़-मूल से मिटा देना चाहते हैं। मगर इसका इतिहास साफ कहता है कि शुरू में वही लोग इसके आश्रयदाता और कर्त्ताधर्त्ता थे। शुरू में ही क्यों? सन् 1934 ई. तक बराबर इस सभा के साथ रहे, इससे सहानुभूति रखते रहे और इसमें रहना चाहते थे। उन्होंने

इसकी बड़ाई की, इसका समर्थन किया। लेकिन समय एक सा नहीं रहता। वह तो बदलता रहता है। पाँच-छः वर्षों तक जिस सभा का समर्थन किया उसका विरोध उन्हीं लोगों को करना होगा और उसके खिलाफ जेहाद करना होगा यह पता उस समय किसी को भी कहाँ था? जिन लोगों ने मुझे घसीट कर इसमें आगे किया, आज वही मेरी टाँग पकड़ के बेमुरव्वती से खींच रहे हैं। यह भी एक जमाना है और वह भी एक समय था। पता नहीं मैं आगे गया, सभा आगे गयी, या वही लोग पीछे चले गये? कौन बतायेगा? शायद इतिहास लिखने वाले बतायें! समय तो बतायेगा ही। लेकिन इसमें तो शक नहीं कि मैं और सभा दोनों ही आगे गये। हाँ, उन लोगों के हिसाब से हो सकता है, हम बहुत आगे चले गये हों।

(6)

श्री बल्लभ भाई का दौरा

सोनपुर के बाद हमने पटने में कार्यकारिणी की मीटिंग की और कुछ लोगों के नाम और जोड़े। एक प्रस्ताव के द्वारा यह भी तय पाया कि **राजनीतिक मामलों में किसान-सभा कांग्रेस के विरुद्ध न जायगी। इस प्रकार किसान-सभा कांग्रेस की समकक्ष स्वतन्त्र राजनीतिक संस्था न बन जाय इस खतरे को रोकने या मिटा देने की कोशिश हुई।**

लेकिन, हम सम्बन्ध में एक बहुत जरूरी बात कहनी है। सन् 1929 ई. के दिसम्बर में लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन होने वाला था। उसके ठीक पहले और सोनपुर के बाद ही सरदार बल्लभ भाई पटेल का दौरा बिहार में हुआ। उनके लिए हर जिले में मीटिंगों का प्रबन्ध किया गया। ठीक उसी अवसर पर मैंने भी दौरा किया और उनके आने के पहले हर जगह किसानों को किसान-सभा का महत्त्व समझाया। यह भी जान लेना चाहिए कि उस समय के बल्लभ भाई आज वाले न थे। दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है। उस बल्लभ भाई ने तो हाल में ही बारदौली में किसानों की लड़ाई जीती थी—उनके हकों के लिए सत्याग्रह संग्राम लड़कर उसमें विजय पाई थी। फलतः सब जगह किसानों की ही बातें बोलते थे। उन्होंने एक सभा में तो 'एक संन्यासी' कह के हमारी किसान-सभा का उल्लेख भी किया था और अगर मैं भूलता नहीं तो इस संन्यासी के काम का स्वागत किया था। लोगों को यह भी कहा था कि इसमें मदद करें। हालाँकि, आज तो इस संन्यासी को और इस किसान-सभा को वे सहन नहीं कर सकते।

उन्होंने सीतामढ़ी की सभा में साफ ही कहा था कि बिहार में या हमारे मुल्क में इन जमींदारों की क्या जरूरत है? ये लोग कौन-सा काम हमारे मुल्क के लिए करते हैं? सुना है, किसानों को बहुत सताते हैं और इनसे किसान बहुत डरते हैं।

इनसे क्या डरना? ये तो बड़े कमजोर हैं। यदि हाथ से इनका सिर पकड़ के दबा दिया जाय तो भेजा बाहर निकल आये।

इतना ही नहीं। मुंगेर में बिहार प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन था। और किसान सम्मेलन भी। वे जब किसान सम्मेलन में शामिल हुए तो उन्होंने साफ कहा कि किसानों की जो माँगें वहाँ पेश की जा रही हैं वह राजनीतिक सम्मेलन में ही क्यों नहीं पेश की जाती हैं? और अगर जैसा कि बताया गया है, वहाँ ये पेश की जा सकती हैं नहीं, तो फिर राजनीतिक सम्मेलन की जरूरत ही क्या है। लेकिन वही बल्लभ भाई अब ऐसी भूल शायद ही करेंगे। कदाचित् उस समय उन्हें इतना अनुभव न था जितना अब है! अनुभव ने शायद उन्हें गम्भीर और दूरन्देश बना दिया है। वह बारदौली वाली गर्मी भी तो थी। 'सरदार' भी तो हाल में ही उसी के करते बने थे। फिर इतनी जल्दी उसे भूल कैसे जाते? बम्बई में, बिहार जैसी प्रत्यक्ष रूप में जमींदारी प्रथा न रहने के कारण वे इसे समझ भी नहीं सकते थे कि क्या बला है, भारत के तीन चौथाई से अधिक बाशिन्दे तो किसान ही हैं और उनकी मदद से कांग्रेस को शक्तिशाली बनाना अभी बाकी ही था भी तो। खैर, चाहे जो भी हो। उनके दौरे से हमारी बिहार प्रान्तीय किसान-सभा को काफी सहायता मिली। हमें प्रोत्साहन भी पूरा प्राप्त हुआ।

उसके बाद ही हम लोग लाहौर कांग्रेस में सम्मिलित होने के लिए गये। वहाँ जो जोश और उमंग देखने का मौका मिला वह अकथनीय है। खासकर पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रस्ताव के पास होने पर तो दुनियाँ ही पलट गयी, ऐसा प्रतीत हुआ। मैं तो चुपचाप गौर से कांग्रेस की कार्यवाही को देखता रहा। **अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी का मेम्बर होते हुए भी कुछ बोला-चाला नहीं। मैं तो शुरू से ही प्रायः उस कमिटी का सदस्य और कांग्रेस का प्रतिनिधि बराबर ही रहा हूँ। मगर सन् 1934 ई. वाली बम्बई की कांग्रेस के पहले कभी न बोला था।**

1934 ई. में गांधी जी कांग्रेस से हटने के पूर्व उसके विधान का जो आमूल परिवर्तन कर रहे थे, उसमें मुझे खतरा दीखा किसानों और गरीबों के लिए। इसीलिए पहले-पहल वहीं बोला और उसका विरोध किया। तब से यह बोलना और विरोध किसी-न-किसी रूप में बराबर जारी रहा है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि कांग्रेस के विवाद में अगर मेरी दिलचस्पी शुरू हुई तो किसानों और शोषितों की बात को लेकर ही। यह संयोग की बात है कि कांग्रेस को विशेष रूप से जब पहले मैंने देखा और पहचाना तो किसानों या दलितों के विरोध के रूप में ही। फिर चाहे वह विरोध आंशिक ही क्यों न हो? लेकिन था बुनियादी। क्योंकि मैंने कांग्रेस की उस नयी मेम्बरी को ही ऐसा देखा, जिसे गांधी जी नये सिरे से कांग्रेस में ला रहे थे। आज वह मेरा भय कितना सच्चा निकला!

लाहौर कांग्रेस से लौटते ही ता. 26-1-30 को पहले-पहल 'पूर्ण स्वतन्त्रता दिवस' देश भर में मनाये जाने को था। इसलिए उससे पहले ही हमने किसान-सभा की मीटिंग

की और उसमें दो जरूरी काम किये। एक तो एक प्रस्ताव के जरिये हमने कौंसिल में पेश नये काश्तकारी कानून के संशोधन बिल को अस्वीकार किया और उसका विरोध किया। सरकार से यह भी माँग की कि उसे वापस ले ले। दूसरा काम यह किया कि देश के वातावरण का खयाल करते हुए कुछ समय के लिए किसान-सभा का काम एक प्रस्ताव के जरिये स्थगित कर दिया। ताकि अबाध रूप से सभी लोग आजादी की आने वाली लड़ाई में भाग ले सकें। किसान-सभा का काम चालू रहने से कुछ लोग तो उसमें फँस जाते ही। इस प्रकार शुरू में जो कुछ लोग यह सोचते थे कि किसान-सभा के करते कांग्रेस के काम में बाधा पहुँचेगी उनके डर को हमने व्यवहारतः निर्मूल सिद्ध कर दिया।

असल बात तो यह थी कि बिहार प्रान्तीय किसान-सभा को जो जन्म दिया गया उसमें यह खयाल ही था कि इसके द्वारा कांग्रेस काफी मजबूत हो। सभी लोग यही सोचते थे। अपना विचार तो मैं पहले ही कह चुका हूँ। लेकिन हमें तो इतने दिनों बाद मालूम हुआ है कि कांग्रेस को कैसा होना चाहिए, यदि वह किसान-सभा की सहायता बराबर चाहती है। पहले यह बात कौन समझ सकता था? कांग्रेस की प्रतिद्वन्द्विता किसान-सभा न करे, यह प्रस्ताव पास होने की भी बात तो पहले ही कह चुका हूँ।

हमारी बैठक के बाद ही स्वराज्य पार्टी ने कौंसिल में जाकर उस काश्तकारी कानून के संशोधन का विरोध किया। फिर तो सरकार ने यह कह के उस बिल को लौटा लिया कि जब किसान-सभा और कांग्रेस दोनों ही उसके विरोधी हैं तो सरकार को क्या पड़ी है कि उसे पेश करे या पास करे इस प्रकार किसान-सभा के जन्म के साथ ही एक तो उसे पहली खासी सफलता यही मिली और वह बिल खत्म हुआ। दूसरे, सरकार ने किसान-सभा के अस्तित्व को मान लिया कि वह किसानों की ओर से बोलने वाली संस्था है, सभा के इतिहास से यह सिद्ध है कि उसने अपने इस कर्त्तव्य को कितनी सुन्दरता से पाला है। उससे यह भी सिद्ध है कि पहले पहल टेनेन्सी बिल को खत्म करने के रूप में जो विजय इसे जन्म काल में मिली वह बार-बार मिलती रही। न जानें, कितने ऐसे बिलों को या तो इसने ध्वंस किया, या उनके जहर का अधिकांश खत्म किया।

इतना तो पक्का ही है कि लड़ने वाली संस्था के रूप में इसका जन्म हुआ और आज भी वह लड़ने वाली ही है। अन्तर इतना ही है कि शुरू में हम लोगों ने जिस लड़ाई का सपने में भी खयाल न किया था वही लड़ाई आज इसकी अपनी हो गयी है। इसीलिए इसके पुराने सूत्रधार प्रायः सभी के सभी आज इसके शत्रु हैं। लड़ाई के दौरान में जन्म लेने के कारण ही यह लड़ाकू सिद्ध हुई है। यह भी खुशी की बात है कि किसी भी उद्योग में इसे अब तक विफलता नहीं मिली है। पूरी यह आंशिक सफलता बराबर मिलने से ही आज यह इतनी मजबूत भी है।

(7)

सन् 1930 वाला स्वातन्त्र्य-संग्राम

किसान-सभा का काम समेट कर भी स्वतन्त्रता के संग्राम के लिए कमर बाँध के तैयार हो गया। बिहार प्रान्तीय किसान-सभा के कायम होते ही पश्चिम पटना किसान-सभा की अलग जरूरत न रही। वही धीरे-धीरे पटना जिला किसान-सभा बन गयी। इसमें शक नहीं कि किसानों के लक्ष्य, किसान-सभा की सदस्यता आदि के बारे में ज़ो कुछ उस सभा में पहले सोचा और तय किया था उससे प्रान्तीय सभा के विधान आदि के बनाने में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। लेकिन अब तो सरकार से मुठभेड़ की बात सोची जा रही थी। किसान-सभा की बात कौन सोचता?

न जाने जन्म से ही मेरा स्वभाव कुछ ऐसा क्यों हो रहा है कि संघर्ष वाली जगहें मुझे सदा पसन्द आयी हैं। कांग्रेस में भी शुरू में खूब लगा रहा, जब तक वहाँ असली संघर्ष और गुत्थमगुत्थ था। मगर जैसे-जैसे वह भिड़न्त उससे जाती रही वैसे-वैसे मैं भी उससे कुछ उदासीन होता गया। यहाँ तक कि बीच के दो-एक अधिवेशनों में गया तक भी नहीं। लेकिन ज्यों ही 1930 में वह फिर जबर्दस्त संघर्ष की ओर बढ़ी, त्यों ही मैं सब काम छोड़ के, यहाँ तक कि सबसे प्यारी किसान-सभा और श्री सीतारामाश्रम को भी छोड़ के उसमें जुटने के लिए तैयार हो गया और बड़ी तेजी से चारों तरफ घूम के लोगों को तैयार करने लगा। मेरा कार्य क्षेत्र तो पटना जिला ही था। खासकर बिहटा के चारों ओर का इलाका। इधर यह भी घोषणा हो गयी कि गांधी जी अपने आश्रमवासियों के साथ डाँडी के लिए मार्च करेंगे और वहीं नमक का कानून तोड़ेंगे। उसी के बाद बाकी लोगों को सबसे पहले बिना लाइसेंस नमक बना-बना के उस कानून को तोड़ना होगा।

तब तक 26 जनवरी आ गयी। बड़ी मुस्तैदी से सभाएँ करके और जुलूस आदि निकाल के 'पूर्ण स्वतन्त्रता दिवस' मनाया गया। पूर्ण स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा की छपी लाखों प्रतियाँ बँटीं और एक लहर-सी उमड़ पड़ी। लेकिन मैंने एक अजीब ढिलाई देखी। अप्रैल आते-न-आते मुल्क की काया पलट हो गयी और धरपकड़ जारी हुई। राष्ट्रीय सप्ताह में ही गांधी जी डाँडी पहुँच के नमक कानून भंग करने वाले थे। उसके बाद ही 9 से 13 अप्रैल तक सत्याग्रह की धूम मचने वाली थी। मगर देखा कि पटना जिले के नामधारी लीडरान के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती है! बाबू जगतनारायण लाल जिला कांग्रेस कमिटी के सभापति थे। मगर उनका पता न था। चारों ओर मुर्दानगी छायी थी। वायुमण्डल काटे लेता था। मैंने ऊबकर इधर-उधर से कहलवाया कि वे आगे आयें। मगर कौन सुनता था। लोग अनेक प्रकार की बातें उनके बारे में कहते थे। लाचार, मैंने हारकर सोचा, चलो मुजफ्फरपुर या दरभंगा जिले में जहाँ झूम-झूम के सभी लोग मस्ती से काम में जुटे हैं। वहीं से जेल जाना

ठीक है। यहाँ मुर्दानगी के बीच कौन मरे? एक दिन शाम के समय पटना पहुँच भी गया कि गंगा पार जाऊँ। लोगों को यह खबर लगी और दल बाँध के मेरे पास रोकने आये कि न जायँ। मैंने कहा कि एक ही शर्त पर रह सकता हूँ कि जगत बाबू आगे आयें और मुझसे पहले जेल जायँ! आखिर हारकर वे राजी हुए तब मैं रुका। फिर तो बिहटा के पास बड़ा गाँव (अमहरा) में ही नमक कानून तोड़ने की तैयारी में लग गया।

बहुत स्वयंसेवक आने वाले थे। अतः उनके खाने और रहने का प्रबन्ध चाहिए था। सो तो गाँववालों ने ही आपस में बाँट लिया। रुपया-पैसा रखने के लिए एक 'प्रबन्धक समिति' भी बना दी। इधर-उधर से मैंने दौड़ धूप के काफी पैसे भी जमा कर लिये। अमहरा पुराना गाँव माना जाता है। रईसी के लिए प्रसिद्ध भी था। हालाँकि, अब तो वह हालत नहीं। ऐसी दशा में वहीं के कुछ लोगों ने कहा कि "स्वामी जी, आप का साथ अमहरा न दे के धोखा देगा।" खानदानी कहे जाने वाले गाँव सरकार से डरते हैं। इसीलिए उनका भय ठीक ही था। मगर मेरे मुँह से निकल पड़ा कि मेरा विश्वास है कि मुझे अमहरा हर्गिज धोखा न देगा। आखिर, गत दस वर्षों के और उस समय के भी अनुभव ने बताया कि अमहरा ने बराबर साथ दिया और जम के दिया। सत्याग्रह के जमाने में तो उसने कमाल किया। लोग जेल गये सो तो गये ही। तबाह किये गये। यहाँ तक कि मिस्टर डॉनी (Danluey) नाम के असिस्टेंट सुपरिन्टेण्डेण्ट पुलिस ने बाबू रामजी सिंह के घर के खपड़े उजड़वा दिये। क्योंकि उन्हीं का दरवाजा इस संघर्ष का केन्द्र था। मगर फिर भी अमहरा डटा रहा। पीछे जेल से लौटकर मैंने उन सज्जन से कहा कि मेरी बात सच निकली या आपकी? वे हार गये।

आखिर राष्ट्रीय सप्ताह में ही वहीं बाग में बाबू जगत नारायण लाल ने नमक कानून तोड़ा और जेल गये। इसके बाद मैंने तय कर लिया कि अब मुझे भी जाना चाहिए। जहाँ तक याद है, वह तो 13 अप्रैल को पकड़े गये। उसके फौरन बाद ही मैंने भी तैयारी कर ली। लेकिन मैंने अमहरा के बजाय विक्रम के आश्रम में ही जो वहाँ से 6 मील दक्षिण कांग्रेस की.जगह है, नमक बनाने की तैयारी और घोषणा कर दी। तारीख भी नियत हो गयी और समय भी। मैंने खारा जल एक हँड़िया में आग पर चढ़ाकर पकाना शुरू किया। मेरे साथ और भी कार्यकर्त्ता थे। पुलिस का ए.एस.पी. सदल-बल हाजिर हो गया। इधर पहले से ही तय था कि नमक छीनने न दिया जायगा। ऐसी ही गांधी जी की आज्ञा थी। जब पुलिस ने मुझसे अंग्रेजी में सवाल किया तो मैंने कहा कि हिन्दी बोलिए तभी उत्तर दूँगा। फिर हिन्दी में उसने पूछा कि नमक क्यों बनाते हैं? आदि-आदि। मैंने उचित उत्तर दिया। फिर हँड़िया छीनने की कोशिश उसने की। मैंने रोका। मुझे धीरे से पुलिस ने अलग कर लिया। फिर तो अमहरा के श्री रामचन्द्र शर्मा के साथ औरों ने हँड़िया पकड़ ली और पुलिस

के साथ गुत्थमगुत्थी में भी न छोड़ी। फलतः रामचन्द्र जी के हाथ में चोट आ गयी। अन्त में हँड़िया टूट-फूट गयी। वही टुकड़े उठाकर मेरे साथ पुलिस ले ही गयी। मुझे पुलिस दल के साथ बस में बैठा के वहाँ से मनेर थाने में ले जाया जाकर वहीं रख दिया गया। शाम हो गयी थी। रात में वहीं रहा।

अगले दिन वहाँ से श्री आर. जगमोहन, एस. डी. ओ., दानापुर के सामने मैं एकाएक पेश किया गया और जब तक कोई पहुँचे-न-पहुँचे तभी तक छः महीने की सख्त सजा देकर बाँकीपुर जेल में भेज दिया गया। जहाँ तक मुझे याद है एस.डी.ओ. के डेरे पर ही मेरा केस हुआ। उसी समय मैंने देखा कि कसम खा के पुलिस के अफसर कैसी झूठी गवाही देते थे! ताकि कानूनी रस्म पूरा हो। हालाँकि, न तो मुझे केस लड़ना था और न उस अदालत को ही मैं न्याय की जगह समझता था। मैंने तो साफ-साफ नमक बनाना स्वीकार कर लिया। फिर भी ये झूठी गवाहियाँ, सो भी बाइबिल की कसम खा के, एक अंग्रेज को देते देख मुझे हँसी आयी और दया भी। देखा कि सरकारी नौकरों की कितनी दयनीय दशा है। उनसे, जैसा चाहा कहवाया गया। सरकार डरती भी इतनी थी कि चुपके से केस कराया, जो कानूनन जायज न था, अगर हम इतराज करते। एक तरफ तो सारा काम चुपके-चुपके कानून की अवहेलना, करके किया गया और दूसरी ओर झूठी गवाही दिलायी गयी। बात तो ठीक ही थी। मगर कई बातें इधर-उधर से जोड़नी पड़ीं। इसीलिए सच-झूठ की खिचड़ी बनी।

(8)

फिर जेल में–बाँकीपुर

जब मैं बाँकीपुर जेल में पहुँचा तो दो-एक साथी वहाँ पहले से ही थे। जहाँ तक मुझे याद है, वहाँ महीनों रहना पड़ा। मजिस्ट्रेट ने शायद फैसले में मेरे लिए कोई श्रेणी न लिखी थी और गवर्नमेन्ट को ही फैसला करना था। ठीक नहीं याद है। लेकिन देर होने से यही कहना उचित होगा कि सरकार को ही फैसला करना था। गर्मी के दिन और पुराने मच्छरों की सेवा इन दो बातों के खयाल के साथ शाम को ही बैरक में बन्द हो जाने की मिलान करने पर कैदियों के कष्टों का कुछ आभास मिल सकता है। मैं और हमारे साथी तो मसहरी लगाने के आदी थे। इधर गर्मी की हालत यह कि शाम को ही ज्यादा होती है। जैसे-जैसे रात बीतती जाती है वह कम होने लगती है। लेकिन अप्रैल का अन्त और मई ये काफी गर्म होते हैं। उधर मच्छरों का ज्यादा जोर भी शाम को ही होता है। ज्यादा रात बीतने पर उसका हमला धीमा पड़ जाता है। फिर सुबह होने के पहले कुछ जोर लगाते हैं। उनकी ज्यादा

हनहनाहट शाम को और प्रकाश के पहले सवेरे रहती है।

पटने के मच्छर भी पुराने मुछन्दर हैं। ये जाड़े में भी मरते नहीं। इसलिए अपने काम में काफी अनुभव रखते हैं। जब कि और जगहों में जाड़े में नाममात्र को ही या बिलकुल ही मच्छर रह नहीं जाते। तभी पटने में सबसे ज्यादा होते हैं! और जब बरसात में अन्यत्र उनकी महती सेना अजेय बन के खड़ी हो जाती है, तो पटने में ये सबसे कम पाये जाते हैं। गर्मियों में जाड़े की अपेक्षा पटने में कम रहते हैं और बाकी दुनिया में जाड़े से ज्यादा। बरसात से कम गर्मियों में पाये जाते हैं। लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि क्या इस बात में सचमुच पटना 'तीन लोक से मथुरा न्यारी' को चरितार्थ करता है? लेकिन बात सही है। सभी का यह अनुभव है। बिहार के गया, मुजफ्फरपुर आदि प्रमुख शहरों की भी प्रायः यही दशा है। मगर पटने की तो ठीक ही यही है। इसका कारण भी है।

म्युनिसिपलिटी का प्रबन्ध ऐसा रद्दी है कि गन्दे पानी की नालियाँ खुली हुई रहती हैं। उनमें बराबर पानी रहने से वहीं मच्छर पैदा होते हैं। इन नालियों को भीतर जमीन में बन्द रखने का कोई प्रबन्ध अब तक भी नहीं हो सका है। हालाँकि, पटना बिहार की राजधानी है। गया आदि भी की यही दशा है। ये नालियाँ जाड़े में ज्यादा गन्दा पानी रखती हैं। इसीलिए सबसे ज्यादा मच्छर जाड़े में पाये जाते हैं। गर्मियों में धूप के कारण प्रायः छोटी नालियाँ सूख जाती हैं और बड़ी नालियों में भी कम गन्दगी रह पाती है। इसी से मच्छरों की सेना कम हो जाती है। लेकिन वर्षा में तो पानी पड़ने से बराबर ही नालियाँ यों ही धुलती रहती हैं और गन्दा पानी रख पाती हैं नहीं। इसीलिए सबसे कम मच्छर उसी समय रह जाते हैं।

हाँ, बैरक में बन्द हो जाने पर नींद कैसे आये और मच्छरों से पिण्ड कैसे छूटे, यह भारी समस्या आ खड़ी हुई। मसहरी तो मिल नहीं सकती थी, जैसी कि अब मिल रही है। गर्मी का तो कोई उपाय और भी न था। पंखा भी मिले तो रात भर चलाता कौन रहे? फिर तो नींद ही हराम हो जाय। पंखे मिलें भी कैसे? सरकार का कानून भी तो कुछ निराला ही था।

कहते हैं कि जरूरत ही सब चीजें पैदा करती हैं। हमें भी नींद की जरूरत थी। नहीं तो मर ही जाते। यह भी ठीक ही है कि नींद और मौत समान ही हैं, जहाँ तक तकलीफों के महसूस करने का सवाल है। और अगर इन्सान खूब थका-माँदा और पस्त हो तो नींद बिना बुलाये ही आती है। इसीलिए मैं बैरक के भीतर ही घण्टों टहलता रहता। इससे व्यायाम भी होता और कुछ समय भी कट जाता था। थकावट तो होई जाती थी। फिर तो गहरी नींद आ जाती और न मच्छर ही मालूम पड़ते, न गर्मी। इसी प्रकार हमने उस भारी समस्या को सुलझा ही तो लिया।

बाहर जाना तो जेल में यों ही मना है सिवाय काम के लिए जाने के। अपने ही बैरक में या उसके हाते में रहो। तिस पर तुर्रा यह कि हम तो ठहरे राजनीतिक

बन्दी। इसलिए हमारे लिए तो और भी मनाही थी कि किसी से मिल न सकें। बैरक में ही चरखा चलाने का काम करते थे।

जेल में जाते ही मेरे साथ एक और समस्या खड़ी हुई। वह थी खान-पान की। पहली बार तो उसमें सख्ती रही। अपने ही हाथ से पानी भर के कुएँ से लाता था। खाना-पीना पूर्ववत् चलता था। उसमें छूतछात चलती ही थी। वह निभ भी गयी। अब यह दूसरा मौका यू.पी. के बजाय बिहार में पड़ा, जहाँ क्षमा हो, ख़ान-पान में हजार चौका-चूल्हा रखने पर भी बड़ी गन्दगी रहती है। सनातनी लोग छूतछात का ढोंग तो बहुत करते हैं। मगर लोहे की बालटी जो शुरू में आई तो टूट जाने तक मिट्टी से कभी मली नहीं जाती! कुएँ पर पड़ा या लटका हुआ डोल या कुण्डी तो गंगा की धारा ही होती है! उसमें तो सभी जाति और धर्म के लोग पानी पीते हैं! यहाँ तक कि हाथ से निकाल-निकाल के पीते हैं! मैंने दरभंगा और दूसरी जगहों की संस्कृत पाठशालाओं तक में यही देखा है। हालाँकि, वहाँ कुलीनता की नाक काटने वाले ब्राह्मण पण्डितों के जत्थे रहते हैं। फिर भी छुआछूत का पाखण्ड बहुत रहता है। विपरीत इसके, ज्यों-ज्यों पश्चिम में जाइये त्यों-त्यों यह ढोंग और चौके की लीपा-पोती कम होती जाती है। मेरठ वगैरह में तो प्रायः खत्म ही है। मगर जगह कपड़े और बर्तनों की सफाई वहाँ खूब रहती है। बिहार के भनसिया (रसोइया) का कपड़ा जितना ही गन्दा होता है, पश्चिम वाले का उतना ही साफ। जगह भी साफ रखते हैं, बर्तन की तो एक दास्तान ही सुनाये देता हूँ।

बिहार के एक साथी के साथ मैं मुजफ्फर नगर जा रहा था। मेरठ में गाड़ी से उतर के पास की धर्मशाले में गया। कुएँ पर डोल पड़ा था। बगल में साफ मिट्टी भी थी। जोई आता था वह मिट्टी डोल में लगाता, उसे पानी से धोता और पानी निकाल के पीता। फिर चला जाता। घण्टों यह बात मैं देखता रहा। साथी को भी दिखाया। डोल भी तांबे का था। जो चमचमाता था। फिर भी कुएँ पर पड़ा रहने के कारण जो ही आता उसे पानी पीने के पूर्व धो लेना जरूरी समझता। यों भी ज्यादातर पक्की कलई वाले बर्तन ही वे लोग काम में लाते हैं। वे देखने में साफ मालूम होते हैं। यहाँ तो लोट्या, थाली वगैरह देखते ही तबीयत बिगड़ जाती है। मालूम पड़ता है कभी धोये जाते ही नहीं। कभी राख या मिट्टी से मले ही नहीं जाते। गन्दे धातु के बर्तन तो जहरीले होते हैं। हाँ, यह ठीक है कि धीरे-धीरे धोने-धाने का यह रिवाज भी उठता जा रहा है।

मैंने असहयोग के जमाने में छूतछात की यह सख्ती तो की थी और उसे निभाया भी था। मगर कई कटु अनुभव मुझे हुए। एक तो मैंने देखा कि मेरी देखादेखी और लोगों ने दूसरी बातों के लिए जेल में अड़ंगे डाले और नाहक जेलवालों को बारबार तंग किया। अड़ंगे तो दो-एक बार मुझे भी डालने पड़े। मगर सिर्फ खान-पान की सफाई और छूतछात के ही लिए। जेलवालों ने इसे समझ कर माना भी। मगर दूसरे

लोगों ने इस बात को उन्हें दिक करके के मानी में लिया और तरह-तरह से दिक किया। गोया, मैंने उनके लिए एक प्रकार से रास्ता साफ कर दिया! यह बात मुझे खटकी। यह भी देखा कि जब जेल में लोग यों ही सैकड़ों तरह के अड़ंगे खड़े कर रहे हैं तो मैं भी उसी श्रेणी में खामख्वाह गिना जाऊँगा। क्योंकि दुनिया उस छुआछूत को तो समझ सकती नहीं। साथ ही, जेल वालों को मेरे चलते कभी-कभी बड़ी दिक्कतें उठानी पड़ीं। क्योंकि कुएँ का पानी मिलना सर्वत्र आसान न था। जेल में कुएँ रहें और वे खुले हों तो साधारण कैदी उनमें गिर के मर जायँ। इसलिए जेलवालों को इसका खयाल करके ही सब प्रबन्ध करना पड़ता है। और फिर मेरे जैसे वहाँ जाते ही कौन हैं?

इसलिए मैंने सोचा कि कोई रास्ता आपद्धर्म का निकालकर इस बला से बचना चाहिए। मैंने पहले बृहदारण्यकोपनिषद् में एक आख्यान पढ़ा था कि लगातार सख्त ओले पड़ने से एक बार कुरु देश में बारह वर्ष के लिए अकाल पड़ गया। दाने बिना लोग मरने लगे। मर-मिटे। वहाँ 'रैक्व' नाम के एक ऋषि अच्छे विद्वान् थे। वे कई दिनों के भूखे थे। इसी बीच कहीं किसी को वैदिक योग कराने का मौका आया। फलतः, दूर से दूत आया उन्हें लेने। मगर भूखों चलना असम्भव था और उन दिनों सवारी कहाँ? अगर हों भी तो ऋषि लोगों को उससे क्या काम? उन्होंने सोचा, कहीं से कुछ खाना ढूँढ़ लाऊँ और खाकर देह में बल लाऊँ। तब चलूँ। मगर खाना मिलता कहाँ? बड़ी मुश्किल से हाथीवानों के गाँव में गये और एक से कहा कि खाने की कोई चीज दो। उसने उत्तर दिया कि मेरे पास इस समय कुछ है नहीं। यही उड़द थी जो हाथी के सामने पड़ी है और वह खा रहा है। उन्होंने उस जूठी उड़द में से ही माँगा। हाथीवान ने दे दी। उसके बाद जब वह अपने घड़े से पीने का पानी देने लगा तो ऋषि ने कहा कि तुम्हारे घड़े के जल को पीने से मेरा ब्राह्मणधर्म चला जायगा! इस पर उसने पूछा कि इसी घड़े के जल में भिंगी हुई जूठी उड़द के खाने से तो धर्म नहीं गया। मगर यही पानी पीने से चला जायगा? ऋषि ने उत्तर दिया कि हाँ, चला जायगा। प्राण की रक्षा करनी है और खाना तो और कहीं कुछ मिला नहीं। इसलिए उड़द ले ली। मगर पानी तो बहुत मिलता है। तब यदि तुम्हारा पानी लूँगा तो जरूर धर्म नष्ट हो जायगा। यह कह के चलते बने। मनु आदि ने भी कहा कि 'प्राणस्यान्नमिदं सर्वम्'। जरूरत पड़ने पर प्राणरक्षार्थ सभी चीजें खाई जा सकती हैं। उन्होंने विश्वामित्र आदि अनेक ऋषियों के अभक्ष्यभक्षण का उल्लेख भी किया है जो उन लोगों ने आपत्काल में किया था।

बस, इन्हीं सबों के आधार पर मैंने जेल आने से पूर्व ही तय कर लिया था कि इस बार जेल के भीतर वैसी छुआछूत नहीं रखूँगा। वहीं की बनी रसोई खा लूँगा और कल का जल पी लूँगा। हाँ, स्वयं जितनी सफाई कर सकता हूँ उतनी फिर भी करूँगा। मगर जेल में गड़बड़ी का मौका न दूँगा। फलतः, बाँकीपुर जेल से ही मैंने

वैसा ही खाना-पीना शुरू कर दिया। हाँ, यह ठीक है कि पानी लाकर अलग सुराही में रखता था और साथियों को कह दिया था कि आप लोग अलग सुराही रख लें। जूठे या गन्दे हाथों से कृपया मेरी सुराही न छुएँ। इस प्रकार वह संकट तो टला। नहीं तो अनशन करना ही पड़ता जैसा पहली बार यू.पी. में करना पड़ा था। तब कहीं मेरा प्रबन्ध हो सका था।

मैंने यह भी तय कर लिया था कि जेल में भरसक कभी अनशन नहीं करना चाहिए। एक तो बनारस के अनशन का कटुतम अनुभव था। दूसरे बात-बात में लोग अनशन करते रहते थे और इस प्रकार उसके महत्त्व को खत्म कर दिया था। मैंने सोचा कि इस बार न तो स्वयं यह काम करूँगा और न औरों को ही मौका दूँगा। मगर खानपान के नियमों की सख्ती रखने से तो खामख्वाह करना ही पड़ता। इसलिए 'रहे बाँस न बाजे बाँसुरी' हो गयी।

(9)

हजारीबाग सेण्ट्रल-जेल

प्रायः एक महीने के बाद एक दिन हुक्म आया कि 'ए' और 'बी' डिवीजन वालों को हजारीबाग जाना होगा। हम दो-चार साथी रेल से रवाना हो गये। वह हजारी बाग रोड स्टेशन पर सवेरे पहुँच गयी। हम लोग पुलिस के साथ वहीं उतरे। मेरे साथ जगत बाबू भी थे। हमें न तो हथकड़ी-बेड़ी लगाई गयी और न कमर में हमारे रस्सी ही बँधी, जेल से लेकर यहाँ तक, या हजारीबाग जेल तक। मगर थोड़ी देर में भागलपुर से श्री रामेश्वनारायण अग्रवाल उतरे, तो देखा कि उनकी कमर में रस्सा बँधा हुआ है! ताज्जुब हुआ। एक ही सरकार और यह विचित्रता! वही कानून, वही पुलिस और उसी प्रकार के हम सभी राजबन्दी! फिर यह विषमता हम समझ न सके। मगर सरकार को समझना आसान नहीं। यही समझ के सन्तोष किया। खैर, अग्रवाल जी से दण्ड-प्रणाम हुआ। सबने वहीं स्नानादि किया।

वहीं पर मैंने बाबू जगतनारायण लाल की विचित्र पूजा देखी। घण्टों सिर झुमाना और रम, रम, रम, रम, (राम, राम, राम, राम) करना सो भी निराले ढंग से, मेरी समझ में न आया। हालाँकि, मेरा जीवन पूजा में ही बीता है। उन्होंने कहा कि भगवान् को रिझाता हूँ। मैंने रिझाने का यह तरीका अनोखा पाया, जो तमाम शास्त्र, वेदों और पुराणों में कहीं नहीं मिला था। सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि वह प्रत्यक्ष ही कोई झूठी बात बोलते या खराब काम करते थे। फिर यह कह के सन्तोष कर लेते थे कि मैं अपने भगवान् को रिझाकर क्षमा करवा लूँगा। ऐसा मौका उसके बाद कई बार जेल में लगा था। मैं तो ऐसे भगवान् को भी समझ न पाया। मेरे

लिए वह भगवान्, उनके रिझाने के लिए वह पूजा और वह पुजारी तीनों ही पहेली ही रहे और आज तक भी हैं।

हाँ, तो स्टेशन से हम हजारीबाग सेण्ट्रल जेल में पहुँचे। ऑफिस में ही हमारी सब चीजें रख ली गयीं। मैंने अपना 'दण्ड' पहली बार और इस बार भी साथ ही रखा था। इसलिए जेल में भी वह रहा। वह ऑफिस के एक कमरे में पहले ही की तरह टँगा था। कपड़े तो जेल के ही मिले। केवल मेरे दो लँगोटे मेरे साथ रहने पाये। अब तो नियम बदल गये हैं। मगर पहले कुछ वैसी ही बातें थीं। सिर्फ 'ए' डिवीजन वाले ही अपने कपड़े रख सकते थे। कुर्सी, मेज, गद्दे, खाट आदि तब नहीं मिलते थे। मामूली कैदियों जैसे ही सामान रहते थे। पीछे, जहाँ तक खयाल है, बदले। मगर मैं तो बराबर वही कपड़े रखता था और वही सामान। इसका कारण बताऊँगा। जेल के ऑफिस से मैं स्पेशल सेलों के दो नम्बर के वार्ड में लाया गया। वहीं एक सेल में डेरा डाला। कुछ परिचित लोग पहले ही से थे। उनसे भेंट और बातें भी हुईं।

मगर पहुँचते न पहुँचते मुझे वहाँ बदली हुई दुनियाँ मालूम पड़ी। मालूम पड़ता था मैं एक निराले संसार में पड़ गया हूँ। पहले ही बता चुका हूँ कि सन् 1922 ई. में जेल में मुझे कटु अनुभव हुए और सोचा कि गांधी जी की बात तो चलती नहीं। लोगों पर उनका असर है नहीं आदि-आदि। मगर सोचता था कि गत दो वर्षों में लोगों ने उन सिद्धान्तों को हृदयंगम किया होगा और बहुत कुछ उस मामले में आगे बढ़े होंगे। गांधी जी तो अपने को बड़ा ही सख्त और बेमुरव्वत बताते हैं, जहाँ तक वसूलों की बात है। वह स्वराज्य को छोड़ दे सकते हैं। मगर अपने सिद्धान्त छोड़ नहीं सकते। ऐसी हालत में लड़ाई शुरू करने के पहले उन्होंने जरूर ही देख लिया होगा कि पहले की खामियाँ अब नहीं हैं, या नाममात्र को ही हैं। तभी तो लड़ाई छेड़ी होगी। वे तो इस बात का दावा करते हैं कि उनका जीवन ही अनुभव का है और वे सभी बातें बखूबी समझते हैं, चाहे हम लोग भले ही छिपायें।

ऐसी दशा में स्वभावतः मुझे आशा थी कि लोग नियमों की पाबन्दी और सत्य आदि के मामले में बहुत कुछ उन्नति कर गये होंगे। मगर यहाँ तो उलटा ही पाया और देखा कि दस साल के भीतर लोग ठीक उलटे चले हैं। फलतः जहाँ सन् 1922 में थे वहाँ से बहुत पीछे हट गये हैं। मेरे लिए यह बड़ा ही दर्दनाक दृश्य था। उस समय मेरे दिल की क्या दशा थी यह कौन समझ सकता था? **मेरे जैसा आदमी जो अनुभवों के सहारे आगे बढ़ता आया हो और जिसे गांधीवाद में अटूट श्रद्धा हो कैसे इस पतन के लिए तैयार हो सकता था? इस भीषण दृश्य को बर्दाश्त कैसे कर सकता था? आखिर, मैं तो धर्म दृष्टि से ही राजनीति में कूदा था। मगर यहाँ तो ऐसी गन्दगी पायी कि हैरान हो गया। मुझे मालूम पड़ा कि मैं धोखे में पड़ गया।**

बात यह है कि मुझे सन् 1922 ई. के अन्त तक होने वाले अनुभवों के आधार पर यह खयाल हो आया था कि एकाएक गांधी जी ने तथा परिस्थितियों ने भी कस

के धक्का मारा और सारा मुल्क बहुत आगे बढ़ गया। लीडर भी और जनता भी दोनों ही बहुत आगे चले गये। उसके बाद लीडर लोग तो धीरे-धीरे पीछे खिसकने लगे मगर जनता जहीं की तहीं रह गयी। प्रत्युत वह धीरे-धीरे आगे ही जा रही है।

यह जान लेना चाहिए कि जनता जितनी दूर बढ़ी थी उससे कहीं आगे कई अर्थों में लीडर लोग चले गये थे। जनता में राजनीतिक चेतना और प्रगति बहुत हुई थी। मगर सत्य और अहिंसा आदि को उसने उतना कभी नहीं समझा था। वह समझती भी नहीं। उसका ऐसा स्वभाव ही नहीं कि इन गहरी बातों में माथापच्ची करे। उसका उसे मौका ही नहीं। भौतिक और आर्थिक मामलों को वह खूब समझती है। मगर दार्शनिक रहस्यों को वह क्या जानने गयी? उन्हें वह बेकार से समझती है। इनसे उसकी रोटी तो हल होती है नहीं। वह तो यह भी मानती है न, कि धर्म के ये सभी मामले उसकी पहुँच के बाहर हैं? इसीलिए यह भी मानती है कि बड़े लोगों को खिला-पिता देने, पैसे दान करने, और उनकी आज्ञा से थोड़ा कष्ट भोग लेने से ही उसका काम चल जायगा--उसका कल्याण हो जायगा। क्योंकि बड़े लोग ये बातें जानते ही हैं और उन्हीं के पुण्य प्रताप में से कुछ मिल ही जायगा, उन्हें इस तरह मानने से। मगर बड़े लोग, नेता लोग, कार्यकर्त्ता लोग--सारांश, चुने लोग--तो शौक से और चाह के साथ सत्य, अहिंसा आदि में पड़ते हैं। उन्हें जनता को ले चलना जो है। इसीलिए वह इस मामले में जनता से आगे बढ़ जाते हैं। कम-से-कम ऐसे प्रतीत होते हैं।

लेकिन वह बढ़े थे अपने बल से नहीं, दूसरे के बल से परिस्थितियों के दबाव से। फलतः जब तक वह दबाव था वे अपनी जगह पर रहे। मगर दबाव कम होते ही निराधार वस्तु की तरह गिरने लगे। कमजोरियाँ थोड़ी देर दबी रहीं। मगर अब मौका पाकर उन्होंने नेताओं को दबाना शुरू किया। इसीलिए मैंने कहा है कि वह गिरने लगे। उनकी अहिंसा और उनके सत्य का पर्दाफाश होने लगा! उनकी कलई खुलने लगी। मगर जनता का क्या? उसकी कलई क्या खुले? अगर कोई हो तब न? इसीलिए वह पीछे हटना नहीं जानती। किन्तु धीरे-धीरे आगे ही बढ़ती है। मगर नेता पीछे हटने लगते हैं। जनता यदि धीरे-धीरे न बढ़े तो उसमें मजबूती न आवे और उसकी मजबूती से तो काम चलता है। लीडर तो आते जाते हैं। एक नहीं तो दूसरा लीडर होगा।

गिरने का मौका जेल में सबसे ज्यादा होता है। यानी असलियत यहीं आसानी से खुलती है। जेल में कुछी लोग ऊपर जाते हैं। कुछी अपनी जगह पर रह जाते हैं। मगर ज्यादा लोग नीचे चले जाते हैं। यह पक्की बात है। अब तक यही हुआ है। आगे की राम जानें। गांधी जी कब इस बात को समझेंगे पता नहीं? कभी भी समझ सकेंगे या नहीं यह भी कौन बताये?

दूसरी बार जेल में आते ही जो नजारा देखा उससे मेरी पुरानी आशाओं पर

पानी फिर गया और मेरा जो पुराना खयाल था जिसे अभी बताया है वह पक्का हो गया। मैंने मान लिया कि यह नाव तो डूबने वाली है। गांधी जी का सत्य और उनकी अहिंसा, ये चीजें हर्गिज चलने की नहीं। जरा-जरा सी बातों के लिए लोग क्या-क्या न कर डालते थे? जरा सी सुविधा के लिए आकाश-पाताल एक कर डालते थे। पावरोटी, मक्खन और अण्डे के लिए अनेक फरेब रचे जाते थे, अनेक बहानेबाजी होती थी। कोई किसी की सुनता न था। सब अपने-अपने मालिक। गांधी जी के बताये नियम, कायदे तो कतई भूली गये थे। मानों, उन्हें कभी किसी ने सुना या जाना ही न हो! उनकी परवाह तो सचमुच किसी को भी न थी। चाहे गांधी जी भले ही समझते थे कि साबरमती आश्रम के कुछी लोगों ने, या उनके एकाध परिचिततम ने ही किताबें पढ़ने के लिए जेल का काम करना बन्द कर दिया और नियम तोड़ा! जैसा कि सत्याग्रह स्थगित करने के कारणों में उन्होंने सन् 1934 ई. में बताया था। उन्हें क्या पता था कि पद-पद पर सभी नियमों की धज्जियाँ बेरमुरव्वत से जानबूझकर उड़ायी जाती थीं। इसके अपवाद शायद हो दो-चार हों। जबर्दस्ती किसी की शिखा काट लेना और जनेऊ (यज्ञोपवीत) तोड़ देना तो मामूली बात थी। जिसके हाथ में गीता देखी, बस, लोग उसी के पीछे पड़ गये और उसके नाकों दम कर छोड़ा। अजीब हालत थी। मैंने देखा कि बाबू राजेन्द्र प्रसाद परेशान और लाचार थे। उनकी कोई सुनता ही न था। फिर दूसरे की कौन गिनती?

मेरे सामने तो वहाँ जाते ही एक और प्रश्न आया। मैंने सन् 1922 ई. में ही विशेष प्रकार का खाना वगैरह इनकार कर दिया था। उसके कारण भी बताई चुका हूँ। हजारीबाग आने पर मैंने फिर इनकार किया। और मामूली खाना वगैरह ही लेना शुरू किया। इस पर बड़ा तोबातिल्ला मचा। लोगों ने इधर-उधर से बहुत कुछ समझाना चाहा। मगर किसी की न चली। फिर तो सभी चुप रहे।

खैर, यह तो एक बात थी। मगर जब मैंने पीछे यह जाना कि बहुतों को यह मेरी बात बुरी तरह खटकती थी। इसमें वे अपनी अप्रतिष्ठा देखते थे। वह समझते थे कि इससे उनका प्रभाव साधारण कार्यकर्त्ताओं में कम हो जायगा और इस एक आदमी का बढ़ेगा। और भी जाने क्या-क्या सोचते थे। **फलतः अप्रत्यक्ष रूप से न जानें उनने कितने उपाय किये कि मैं भी उन्हीं जैसा खान-पान स्वीकार करके पथभ्रष्ट हो जाऊँ। लेकिन वे लोग अन्त तक सफल न हुए। तब झूठी बातें फैला के मुझे बदनाम करना चाहा। मुझे इस नीचता का पता लगा तब तो अपार वेदना हुई और सोचा कि कहाँ चला जाऊँ। पर बेबस था।**

परिणाम यह हुआ कि मैं अपने सेल से बाहर निकलता ही न था। केवल पाखाने और स्नान के समय को छोड़, शेष समय उसी के भीतर ही पड़ा रहता था। ऐसी तकलीफ थी और बाहर का दृश्य इतना असहनीय था कि बाहर निकलने की हिम्मत ही न होती थी। भीतर ही बैठा सूत कातता और पढ़ने-लिखने का काम करता रहता

था। एकाध जवानों को कुछ पढ़ाता भी था। सूत तो मैंने काफी काता और बाहर जाने के समय पैसे देकर जेल से उसे खरीद लिया भी। चालीस नम्बर (काउण्ट) का सूत काता था। उसका बारह गज कपड़ा चौवालीस इंच अरज वाला तैयार कराया। छः आने गज बुनाई देनी पड़ी।

मेरी मानसिक वेदना कभी-कभी इतनी बढ़ जाती कि माफी माँग कर बाहर चले जाने की बात सोचने लग जाता। माफी केवल इसलिए, कि मुझे देशद्रोही समझ फिर ये लोग न मेरे पास कांग्रेस के सम्बन्ध में आयेंगे और न फिर मैं कभी आगे इस नरक यातना में पड़ूँगा। यों तो खामख्वाह आयेंगे और घसीटकर फिर मुझे इस दोजख में लायेंगे। लेकिन फिर सोचता कि माफी माँगने का परिणाम देश के लिए घातक सिद्ध होगा। जिस देश के लिए इतना किया उसी की हानि करूँ यह ठीक नहीं। उसने क्या बिगाड़ा है कि उसे हानि पहुँचाऊँ? बिगाड़ने वाले तो ये लोग हैं। तो फिर इन पर होने वाला क्रोध देश के मत्थे नाहक क्यों उतरे? बस यही समझकर रुक जाता।

लेकिन चलने से पहले, और छ: ही महीने की तो सजा थी यह तय कर लिया कि चाहे जो हो मगर कांग्रेस में न रहूँगा। उससे तो अलग होई जाऊँगा। उसका या देश का तो कोई नुकसान जानबूझकर नहीं करूँगा। लेकिन कांग्रेस से अलग जरूर हो जाऊँगा। उसकी राजनीति से कोई नाता नहीं रखूँगा। यह बात लोगों को मालूम भी हो गयी कि स्वामी जी लोगों पर बहुत ही रंज हैं। उन्हें डर हुआ कि बाहर जाकर कहीं कांग्रेस का विरोध न करें। क्योंकि मेरे स्वभाव से वे लोग परिचित थे और मानते थे कि यदि मैंने ऐसा तय कर लिया तो फिर मुझे कोई रोक नहीं सकता। इसलिए जब जेल से चलने के समय लोगों ने यह प्रश्न किया तो मैंने यही उत्तर दिया कि वर्तमान समय में कांग्रेस और देश का तो कभी भी विरोध आत्मघात है और मैं आत्मघाती नहीं बन सकता। तब कहीं जाकर लोगों को चैन मिला।

मेरे स्वास्थ्य की हालत यह हो गयी कि मैं काला पड़ गया। केवल हड्डियाँ रह गयीं। मानसिक वेदना और चिन्ता ऐसी ही वस्तु होती है। पहले पढ़ा था कि 'जल गये लोहू-मांस गयी रह हाड़ की ठट्टी'। लेकिन उसका प्रत्यक्ष अनुभव जेल में इस बार हुआ। जेलवाले घबरा गये। श्री नारायण बाबू जेलर ने मुझसे पूछा कि हमें आपको मरने से बचाना है। हमारे ऊपर जिम्मेदारी है। इसलिए बतलाइये कि आप बाहर क्या खाते-पीते थे? जेल में मैं रोटी मात्र लेता था और थोड़ा दूध लेकर खा लेता था। नमक, दाल, साग, चटनी तो खाता न था। उनकी जगह दूध लेता था। जब उनने पूछा तो कुकर की चर्चा मैंने की और कहा कि उसी में पका के दलिया खाता था और कभी-कभी केले आदि फल भी। फिर तो बिहटा लिखवा कर मेरा कुकर उन्होंने मँगवा दिया और दलिया वगैरह का प्रबन्ध कर दिया। इससे, जो स्वास्थ्य गिर रहा था वह रुक गया सही। मगर उसमें उन्नति न हो सकी।

लेकिन जब और कुछ न मिला तो यह कुकर वगैरह देख के ही कुछ दोस्तों ने चुपके-चुपके कहना शुरू किया कि आखिर रिआयतें तो स्वामी जी ने भी स्वीकार किया ही! इससे मुझे बड़ा दर्द हुआ और इतना भी मौका न देने के लिए मैं तैयार हो गया। इसलिए जेलर को लिखा कि आप कृपा करके वे सभी चीजें, जो रिआयत के रूप में हैं, लौटा लें। इस पर उसने कहा कि यहाँ रिआयत का सवाल है कहाँ? हमने जेल के कायदे के अनुसार प्रबन्ध किया है। उसे वापस नहीं ले सकते। क्योंकि आपकी शरीर रक्षा की जवाबदेही भी तो आखिर हमारे ऊपर है। इस पर विवश हो के मैं चुप हो गया।

आज तो मैं मानता हूँ कि मेरी वह सख्ती कुछ दृष्टियों से गलत थी। राजनीतिक बन्दी, जिन्हें जेलों में, ज्यादा समय अक्सर गुजारना पड़ता है, यदि सुविधाएँ न पायें तो मर ही जायँ और खत्म ही हो जायँ। उनके लिए तो यह जरूरी है कि आराम से रहें। बाहर रहने पर तो कामों के भार से फुर्सत रहती ही नहीं। स्वास्थ्य गँवाकर ही उन्हें काम करना पड़ता है। ऐसी दशा में तो जेल में ही स्वास्थ्य सुधारने का मौका उन्हें मिल सकता है। और अगर ये सुविधाएँ न रहीं तो आमतौर से सबका स्वास्थ्य सुधरने के बजाय चौपट ही हो जायगा। इसीलिए तो जेल में जहाँ तक हो सके अधिकारियों से कोई खट्पट न होने देने का मैं कट्टर पक्षपाती हूँ। क्योंकि नाहक परेशानी उठानी पड़ती है और दिल, दिमाग एवं शरीर तीनों पर ही उसका बुरा असर पड़े बिना नहीं रहता। जेल में अनशन का कट्टर विरोधी भी मैं इसीलिए हूँ कि दिल, दिमाग और शरीर तीनों पर ही उससे आघात होता है। सिवाय प्राणों से भी प्यारी चीज के और बात के लिए तो अनशन करना ही न चाहिए। प्राणों से प्रिय वस्तु के लिए भी बहुत सोच-विचार की जरूरत है। भरसक उसे भी टालना ही चाहिए। खूब पढ़ना-लिखना, पुराने विचारों को नये सिरे से फिर उधेड़बुन करके उन्हें पक्का करना या छोड़ना, नये विचारों को स्थान देना और व्यायाम, संयमादि के द्वारा शरीर को मजबूत करना यही काम जेल में होना चाहिए। बाहर के काम की चिन्ता छोड़ ही देना चाहिए। नहीं तो नाहक परेशानी होती है। कुछ कर भी तो पाते नहीं।

लेकिन जन-आन्दोलन में जेल की सुविधाओं का विचार जरूरी हो जाता है। क्योंकि आम जनता पर हमारे जेल के व्यवहारों का काफी असर हो जाता है। और भी कई कारण मैं पहले ही कह चुका हूँ। फिर भी यह बात चल नहीं सकती। जब गांधी जी जैसों का प्रभाव कुछ कर न सका तो औरों की क्या बात? **और हमें तो व्यावहारिक बनना चाहिए। केवल आदर्शवादी बनने से इस भौतिक दुनिया का काम कभी नहीं चल सकता। इसीलिए मैंने अपने को अब ऐसा बना लिया है कि जेल में कोई कुछ भी ऊधम करे या सच-झूठ से काम ले, मेरे दिल पर उसका पहले जैसा असर अब नहीं होता। मैं तो मानता हूँ कि दुनिया का यही रूप ही है। इसके बिना वह एक क्षण भी टिक नहीं सकती। गांधीवाद का भूत और आदर्शवाद की सनक**

ये दोनों चीजें अब मेरे ऊपर से उतर गयी हैं। इनके लिए बेकार माथापच्ची करना मैं भूल समझता हूँ फिर भी स्वयं ऐसी बातें कर नहीं सकता। मेरी हिम्मत ही नहीं होती कि झूठ बोलूँ या कोई जाल-फरेब करूँ। ऐसा खयाल मन में लाते ही आत्मा धँसती सी मालूम पड़ती है।

जेल में मुझे और भी अनुभव हुए। आज जो लोग राजनीति के लीडर बने हुए हैं और बिहार के अनेक जिलों या समूचे प्रान्त के कर्ताधर्त्ता होने का दावा करते हैं, जहाँ तक राजनीति से सम्बन्ध है, वह प्रायः सभी हजारीबाग जेल में ही थे। जिस प्रकार युक्त प्रान्त के कई सौ चुने-चुनाये लोगों से फैजाबाद, लखनऊ और बनारस जेलों में साबका पड़ा था और मैंने अनेक अनुभव प्राप्त किये। ठीक उसी प्रकार बिहार के कई सौ दोस्तों से हजारीबाग जेल में काम पड़ा था। वे तो आज प्रायः सभी लीडर हो गये हैं। इसलिए इन्हें नजदीक से जिस प्रकार आचरण और गांधीवाद के सिद्धान्तों के पालन के सम्बन्ध में मैंने देखा, ठीक उसी तरह उनकी राजनीतिक मनोवृत्ति के अन्तस्तल की झाँकी करने का भी मौका मिला। इस मामले में उनके दिल और दिमाग कैसे हैं, उनकी मानसिक रचना कैसी है, इसके जानने का खासा अवसर वहाँ मिला। फलतः मैं उनकी ऊँची-ऊँची बातों से धोखे में पड़ नहीं सकता।

चाहे किसी भी कारण से हो, लेकिन मेरी धारणा, उस समय थी कि वह लड़ाई जल्दी ही खत्म होगी—एक साल से ज्यादा न चलेगी। मैंने दो-एक समझदार लोगों से, जो मुलाकात करने आये थे, कहा भी था। बात भी कुछ ऐसी ही हुई। तब से तो मेरी यह पक्की धारणा हो गयी है कि गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाली आजादी की लड़ाई लगातार जारी रह नहीं सकती। खैर, उन दिनों तो मैं समझौता, सुधार और क्रान्ति की बातें विशेष रूप से जानता भी न था। और न यही जानता था कि गांधी जी समझौतावादी एवं सुधारवादी हैं। मैं तो उन्हें पक्का क्रान्तिकारी मानता था, जैसा कि आज भी कुछ अच्छे और समझदार लोग मानते हैं। **फिर भी यह धारणा दृढ़ हो चली थी कि जम के लड़ते रहना गांधी जी के लिए असम्भव है। लेकिन जो आजादी हम चाहते हैं वह तो बिना मुड़े, झुके और समझौता किये ही लड़ाई जारी रखने से ही मिल सकती है।**

हाँ, तो जब कभी अखबारों में कोई समझौते की बात आती और गांधी जी उसमें 'नाहीं' कर देते या अन्यमनस्कता दिखाते तो हमारे दोस्त लोग जो उन्हीं के नाम पर जेल गये थे और आज भी उन्हीं की एकमात्र दुहाई देते हैं, उन पर कुढ़-कुढ़ के मरते थे। वे लोग रंज हो के कह दिया करते थे कि वह सुलह क्यों नहीं कर लेते? बाल की खाल क्यों खींचते हैं? हठ क्यों करते हैं? बहुत बार यह भनक और यह खबर मुझे मिलती रही। बातचीत भी तो आखिर कभी-कभी होई जाती थी और साफ मालूम होई जाता था। मगर दूसरे लोग भी सुनाया करते थे। **गांधी जी तो यों भी कहते हैं कि मेरी रग-रग में समझौते का भाव भरा है। वह तो मेरे स्वभाव**

का एक भाग ही है। मगर उनसे भी जो लोग हजार कदम आगे बढ़े हों उन्हें क्या माना जाय? वह पीड़ित जनता को आजादी दिलायेंगे, यह कौन मान सकता है? उस आजादी को समझौते से भला क्या ताल्लुक? आज तो यह साफ है कि उस आजादी के चाहने वाले मानते हैं कि गांधी-अरविन समझौता एक भारी भूल थी। फिर भी हमारे दोस्तों का दावा है कि वह पीड़ितों के लिए—ही मर रहे हैं और उन्हें आजादी दिला कर ही दम लेंगे।

जहाँ तक पढ़ने-लिखने का मेरा ताल्लुक था, जैसा कह चुका हूँ, कुछ लोगों को गीता या संस्कृत पढ़ाता था। मौलनिया (चम्पारन) की राजनीतिक डकैती केस के तीन राजबन्दी वहाँ थे। उनमें एक को मैं संस्कृत पढ़ाने के साथ ही आतंकवाद के विपरीत शिक्षा भी देता था। इस बात का उसके दिल पर कुछ असर भी हुआ था। वह अभी बहुत ही कम उम्र का था। आजकल वह घर पर है। उसका नाम कपिलदेव है। दूसरा 'गुलाली' नाम का जवान कभी-कभी कुछ बातें कर जाता था। श्री ननकू सिंह नाम के तीसरे सज्जन कुछ गीतें कभी-कभी सुना जाते थे। "घूँघट के पट खोल रे तोहि राम मिलेंगे!" को बड़े प्रेम से वे गाते थे। इस समय ये तीनों ही राजनीति से विरक्त से हैं और शायद घर-गिरस्ती की चिन्ता में हैं।

मैंने स्वयं वही चिरपरिचित नन्हीं-सी गीता का आलोड़न-प्रत्यालोड़न किया। उस पर बहुत से महत्त्वपूर्ण नोट 'गीता हृदय' के लिए तैयार किये। आज भी पुनः इस जेल में वे नोट मेरे सामने पड़े हुए हैं। महाभारत का मैंने आद्योपान्त पारायण किया। उससे भी कई स्फुट एवं उपयोगी बातों के नोट तैयार किये। ज्यादा समय मिल न सका कि और कुछ करता। मानसिक स्थिरता भी न थी कि कुछ ज्यादा कर पाता। इस प्रकार जैसे-तैसे छः महीने गुजर गये। लखनऊ जेल में अमेरिका के श्री जेम्सएलेन को 'the by ways to bliss' का हिन्दी अनुवाद 'आनन्द की पगडण्डियाँ' और दूसरी किताबें पढ़ने का जैसा मौका मिला था और रूसो, रस्किन आदि की भी कुछ किताबें पढ़ी थीं, वैसा मौका यहाँ न लगा। क्योंकि मानसिक अशान्ति बहुत थी।

प्रसंगवश एक बात कह के जेल की यह दास्तान खत्म करूँगा। जेल की तीन बातों ने मुझे सदा आकृष्ट किया है और जब-जब मौका लगा है, मैंने इन पर विचारा है, इन्हें गौर से देखा है। वे तीन बातें हैं सफाई, समय का पालन (punctuality) और चोरी। जितना जोर पहली दो बातों पर जेल में दिया जाता है उतना शायद ही और कहीं होता हो। वहाँ सफाई और समय को पाबन्दी ये दोनों, मौजूदा हालत में एक तरह से आदर्श कहे जाते हैं। समय की पाबन्दी की तो इतनी सख्ती है कि कभी-कभी तो आदमी मशीन की तरह काम करते हैं और तबीयत झल्ला उठती है। चोरी की भी वही दशा है। मैंने देखा है कि तमाखू की सख्त मनाही होने पर भी सभी कैदी उसे पा ही जाते थे। इसी प्रकार और-और बातों को ले लीजिए। मैंने

लखनऊ जेल की बातें पहले लिखी ही हैं। कहते हैं जेलवाले भी सभी प्रकार की चोरी करते हैं। इन तीन बातों के सिवाय एक और भी कैदियों को आदमी न समझने की। जेलवाले उन्हें पशु से भी बदतर समझते थे। मगर वह बात अब प्रायः खत्म हो गयी। पाँचवीं बात है कैदियों के मार्के (Remission) की। रेमिशन को 'मार्का' कहा जाता है। वे दिन-रात उसी के लिए मरते रहते हैं। मारपीट भले ही बर्दाश्त कर लेंगे। मगर एक दिन का मार्का नहीं कटना चाहिए! राजनीतिक हलचलों के करते रात में सोने के समय उनका हिसाब तो बराबर लगता ही रहता है कि हम लोग अब छूटेंगे तब छूटेंगे। इसके बारे में तरह-तरह की बेसिर-पैर की बातें उनमें चलती रहती हैं।

(10)

जेल से बाहर–राजनीति से विराग

जहाँ तक याद है सितम्बर के महीने में मैं रिहा हुआ और कोडरमा तक बस में जा के वहीं से रेल से रवाना हुआ। दूसरे ही दिन सवेरे बिहटा पहुँच गया। पटने से लेकर बिहटा तक बहुत लोग मिलते गये रिहाई की खबर सभी को थी। बिहटा में तो स्वागत के लिए अपार भीड़ थी। अभी तक सत्याग्रह जारी रहने के कारण जोश बना था। उस दिन आश्रम के बगल में एक अच्छी सभा हुई थी। मगर मैं उस सभा में नहीं गया। लोगों के प्रेम और उमंग का आभारी मैं जरूर बना। हालाँकि दिल के भीतर जो वेदना थी वह अवर्णनीय थी। मैं उसे किस पर प्रकट करता? खुशी इस बात की थी कि उस इलाके के लोगों ने जैसा साथ दिया था वैसी ही मुस्तैदी नजर आती थी! मैंने सभी से मिल-मिलाके और उनके चन्दन, फूल, माला आदि को स्वीकार करके उन्हें खुश किया। मेरा स्वास्थ्य देखकर लोगों को घबराहट बहुत हुई। मगर अब तो चिन्ता न थी। उसे ठीक होने में ज्यादा देर न लगी। फिर भी कई महीने तो लगी गये। इस बीच कोई भी साथी मुझे छेड़ने न आये कि काम में लगिये। आते भी कैसे? शरीर की हालत तो देखते ही थे। फिर भी सरकार तो सतर्क थी ही।

अखबारों के द्वारा ही मेरा राजनीतिक संसार से सम्बन्ध था। इसी बीच पं. मोतीलाल नेहरू की हालत खराब हुई। वे मरणासन्न हुए। इधर गांधी जी समझौते में लगे थे। दिल्ली में जमावड़ा था और बातें होती थीं। गांधी जी, वायसराय लार्ड अरविन से प्रायः मिलते थे। पं. नेहरू को यह जानकर खुशी हुई कि वे मर तो रहे हैं, मगर उनका ध्येय सिद्ध हो रहा है। उन्हें क्या पता था कि वह मृगमरीचिका थी और उसका बदला सूद सहित देश को, खासकर उनके प्रान्त को आगे चुकाना पड़ा।

खैर उनका शरीरान्त हुआ।

मैंने पढ़ा कि मरण से पूर्व गायत्री जपने में वे लगे थे। हम लोगों में—आदमियों में—धार्मिक भावना कितनी निरूढ़ और मूलबद्ध है इसका इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि जो जीवन भर धर्म की बातों से अलग रहे वह भी मरण काल में गायत्री या नमाज पढ़ने लगे। यह हमारी कमजोरी की निशानी है कि जिन्दगी भर कुछ खयाल न करके अन्त में उसे सोचें और मानें। कुछ कट्टर नास्तिकों के बारे में भी सुना है कि अन्त में उन्हें कहना पड़ा कि "यदि कोई भगवान् है तो वह मुझे बचाये—If there be any God, O god save me" लेकिन क्रान्तिकारी और गैरक्रान्तिकारी नेतृत्व का पता भी इसी से लग जाता है। यह न होता तो सभी नेता क्रान्तिकारी ही माने जाते।

हाँ तो, राम-राम करके सन् 1931 ई. के प्रथम चतुर्थांश के बीतते-न-बीतते सरकार से सुलह हो गयी और सभी लोग जेल से बाहर आ गये। सरकार ने जो सपनों में भी न सोचा था वह जागृति और त्याग देखकर वह चक्कर में बह पड़ी। फिर तो उसने उससे निकलने का अच्छा मौका ढूँढ़ा ताकि आगे के लिए तैयारी कर ले। इस बार तो अनजान में और धोखे में वह भरपूर तैयारी न कर सकी थी। कांग्रेस ने आक्रमण किया और उसने अपनी रक्षा की। अब आगे उसने स्वयं आक्रमण करने की ठानी और कांग्रेस को अपनी रक्षा करने की फिक्र में डालने का विचार कर लिया। इसीलिए साइमन कमीशन की रिपोर्ट को बेकार समझ गोलमेज कॉन्फ्रेंस का पँवारा उसने फैलाया। ताकि उसी में फँसा के उसके पर्दे में इसी दरम्यान में अपनी पूरी तैयारी कर ले। तब एकाएक कांग्रेस पर छापा मारे।

कहते हैं, नमक कानून का राजनीति से क्या सम्बन्ध? फिर भी उसी के करते हमारे देश में नवजीवन आया। मगर उसी जाल में फँस के सन् 1932 ई. में हमने धोखा भी तो खाया। सरकार ने नमक की रियायतें कुछ मान लीं और हमने अपनी जीत समझी। यदि यह बात न रहती और कोई असली राजनीतिक या आर्थिक प्रश्न को लेकर लड़ाई जारी हुई रहती तो न सरकार उस पर झुकती और न हम घपले में पड़ते। इसीलिए बुद्धिमानी इसी में है कि राजनीति में सदा वैसे ही प्रश्न सामने लाये जायें और उन्हीं को लेकर लड़ा जाये। गैर-राजनीतिक सवाल खड़े करके लड़ाई कभी न छेड़ी जाय। इसमें सदा खतरा है।

इधर मेरा ज्यादा समय आश्रम में ही उसी के कार्य में बीतता था। राजनीति से तो मैं अलग था ही। लड़ाई बन्द होने पर तो उसकी जरूरत भी न थी। मगर बिहार प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी की ओर से बाबू श्री कृष्ण सिंह बाबू राजेन्द्र प्रसाद आदि ने गया जिले में और पटने के मसौढ़ा परगने में जिसका वर्णन पहले कर चुका हूँ, दौरे किये और किसानों की समस्याओं की जाँच की। बल्कि एक प्रकार की जाँच कमिटी बनाकर जाँच की गयी। उनके सामने बड़ी भीषण बातें पेश हुईं। किसानों

से उनने प्रतिज्ञा की कि हम तुम्हारे दुःख दूर करेंगे। कहते हैं कि वे लोग हालात देख-देखकर सचमुच रोये! यह भी बताया जाता है कि गया जिले में जब वे लोग गये तो एक विधवा बाभनी (ब्राह्मणी) सामने आयी और कहने लगी कि एक बकरी पाली थी कि उसे बेच कर गुजर करती। लेकिन टेकारी राज के कर्मचारी उसे बलात् ले जाकर चट्ट कर गये! अब मैं क्या करूँ? इस पर उन लोगों को खून के आँसू बहाने पड़े। मगर इसका नतीजा क्या हुआ सो तो आगे बतायेंगे। असल में गरजने वाले तो बरसते नहीं!

बात असल में यह थी कि सन् 1930 ई. में जो लहर मुल्क में आयी उसके करते किसानों में अभूतपूर्व जागृति हुई। फलतः उनकी समस्याएँ खामख्वाह ऊपर आ गयीं, जो अब तक दबी पड़ी थीं। जब उन्होंने नेताओं के कहने से त्याग और बलिदान किया तो उन्हें हिम्मत हुई कि नेताओं से भी हम कुछ कहें और अपने दुखड़े सुनायें। इसी का नतीजा था कि यह जाँच-पड़ताल हुई। आखिर नेता लोग इनकार कैसे कर सकते? अभी तो किसानों से उन्हें बहुत काम लेने थे। इसीलिए उनकी बातों को लेकर जाँच-पड़ताल की और उन्हें आश्वासन दिया। इसी बीच युक्त प्रान्त में भी किसानों का यह प्रश्न उठा और बड़ा भीषण हो गया। यहाँ तक कि युक्तप्रान्त की सन् 1932 ई. वाली लड़ाई किसानों के प्रश्नों को लेकर ही हुई और कर बन्दी चली। और-और प्रान्तों में भी यह बात जरूर आयी। मगर जहाँ किसानों में जागृति ज्यादा थी वहाँ यह प्रश्न भी तेज हो गया।

लेकिन इस जाँच-पड़ताल से मेरा कोई सम्बन्ध न था। न मैं पूछा गया और न उसमें शामिल हुआ। यह ठीक है कि गया जिले के डॉ॰ युगलकिशोर सिंह मुझसे हजारीबाग जेल में किसानों की बातें बहुत करते थे। वहाँ किसान-सभा तथा किसान आन्दोलन को चलाने की चर्चा बराबर होती थी। मगर मैं तो अब विरागी था। कांग्रेस या राजनीति से जो भीषण विराग हुआ उसने किसान-सभा से भी विरागी बना दिया। मुझे भी ताज्जुब है कि उस विराग से किसान-सभा का तो कोई नाता था नहीं? कांग्रेस का भले ही था, किसान-सभा तो उस समय राजनीतिक संस्था थी भी नहीं। सपने में भी यह सोचा न जा सका था कि उसे राजनीति में घसीटा जाय। फिर राजनीति से होने वाले विराग का शिकार वह क्यों हुई यह एक पहेली है।

मालूम पड़ता है, यह स्वाभाविक सूचना थी इस बात की, कि सभा को गहरी राजनीति में पड़ना है। शायद इसीलिए यह न जानते हुए भी मैं उससे विरागी बन गया। मैं सबको एक ही समझता था, और मानता था कि किसान आन्दोलन में जाने पर फिर वहीं खिंचकर चला जाऊँगा। इसीलिए किसान-सभा से भी अलग ही रहा।

इसी बीच सन् 1932 ई. के आते-न-आते दूसरा सत्याग्रह संग्राम छिड़ गया। सरकार का दमन चक्र तेजी से चलने लगा। वह चक्र ऐसा तेज था कि जरा सा शक होते ही किसी की भी खैरियत न थी! मैंने देखा कि शायद मैं भी न बच सकूँ

और खामख्वाह सरकार का कोपभाजन बनूँ। फलतः आश्रम को भी सरकार हड़प लेगी और मैं पूरा बेवकूफ बनूँगा! इसीलिए मैंने आश्रम औरों को सौंपा और उन्हें पत्रादि लिख दिया। इसके बाद अलग जा बैठा। कुछ दिनों तक तो बिहटा आया ही नहीं। कभी सुरतापुर, कभी सिमरी और कभी और जगह रहा। मेरे पास अभी तक कोई जाता भी न था। मगर जब फिर आश्रम में आकर रहने लगा और प्रान्त के सभी नेता लोग पकड़े जा चुके, कुछ ही बचे थे, तो मेरे पास पैगाम पर पैगाम आने लगे। कई बार लोग आकर मिले कि चलिए और प्रान्त को डिक्टेटरशिप स्वीकार कीजिये। जिस चीज से मैं हजारीबाग जेल में डरता था वही हुई और दबाव पड़ने लगा। मगर मेरा वैराग्य और क्रोध इतना ज्यादा था कि अभी तक शान्त न हो पाया था। इसलिए हजार कहने पर भी मैंने साफ इनकार कर दिया और नहीं ही शामिल हुआ।

उस समय कुछ लोगों से इस बारे में जो मेरी बहस हुई और मैंने अपना जो दृष्टिकोण उनके सामने रखा वह बड़ा ही मजेदार तथा सुनने लायक है। मेरा कहना था कि कांग्रेस के भीतर बहुत ही अनाचार और धाँधली है। उसके नाम पर अनेक कुकर्म किये जाते हैं। यद्यपि मैं कट्टर गांधीवादी था। तथापि ये शिकायतें तो गांधीवादी न होने पर भी नैतिक दृष्टि से उचित ही थीं। मगर गांधीवादी होने के कारण ये मुझे विशेष अखरती थीं। मैंने यह भी कहा कि मैं जैसे चाहूँ उस संस्था को चला सकता हूँ नहीं। क्योंकि मेरी आवाज वहाँ सुनता कौन है? और जिस संस्था को अपनी मर्जी के अनुसार न चला सकें उसमें रहना उचित नहीं। क्योंकि रहने का सीधा अर्थ होता है उन अनाचारों और कुकर्मों की जवाबदेही लेना। अनजान में यह बात हो भी सकती थी। लेकिन जब मैंने ये बातें जान लीं तब कैसे रह सकता हूँ? जान-बूझ कर जवाबदेही लेना होगा ही। अगर इस प्रकार समझने वाले लोग संस्था से हट जायँ तो वह खत्म हो जाय। फिर तो उसके नाम पर कोई गड़बड़ी ही न हो सके। इसीलिए जान-बूझ कर उसमें रहने वालों के ऊपर जवाबदेही खामख्वाह आ ही जाती है। वह उससे बच नहीं सकते। इसलिए मेरे विचार से उन सब बातों की सबसे बड़ी जवाबदेही गांधी जी पर ही होनी चाहिए।

मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं हजार कोशिश करने पर भी लोगों को इस मामले में समझा न सका। आज भी शायद ही किसी को समझा सकूँ। मगर मेरा कुछ ऐसा स्वभाव है कि आज भी मैं ऐसी बात किसी-न-किसी प्रकार मानता ही हूँ। तब से लेकर आज तक के अनुभवों ने मुझे बताया है कि जान-बूझकर तरह देने का नतीजा बहुत बुरा होता है। यह ठीक है कि उस समय मैं अतिवादी था और अनेक बातों को सिद्धान्त के रूप में मानता था। यह बात आज नहीं है। फिर भी सार्वजनिक चरित्र (Public Morality & Character) नाम की एक चीज ऐसी है, जिसके बिना कोई सार्वजनिक संस्था चल नहीं सकती, अपना ठीक उद्देश्य पूरा

कर नहीं सकती। फलतः अगर उसमें ऐसे लोग ज्यादातर आ जायँ, तो इस बड़ी सी बात से, इस महान् गुण से शून्य हों तो या तो उससे अलग हो जाना या उसे तोड़ देना, दो में एक ही चीज होनी चाहिए। नहीं तो नष्ट चरित्र लोग दूसरों के नाम पर मजा उड़ाते ही रहेंगे। इस मामले में मनुष्य कमजोरियाँ बहुत दिखाता है। कभी-कभी मुझे भी इन कमजोरियों का शिकार होना पड़ा है। मगर अन्त में मैंने सीखा है कि कमजोरी दिखाना भी वैसा ही अपराध है बल्कि उससे भी भारी। आखिर सार्वजनिक सेवकों की और क्या बात हो सकती है जिसके बल पर लक्ष्यसिद्धि की आशा की जाय, यदि यह पब्लिक मोरैलिटी और कैरेक्टर ही न रहा? हममें तो इसकी आज बड़ी कमी है। शायद गुलाम देशों में ऐसा ही होता है। लेकिन हमें आजाद भी तो आखिर होना है। इसीलिए तो यह चरित्र निहायत जरूरी है।

(11)

युनाइटेड पार्टी और नकली किसान-सभा

इस प्रकार मैंने जो पहले ही संकल्प कर लिया था वह ज्यों का त्यों बना रहा। लाख कोशिश होने पर भी मैं कांग्रेस में या उसकी लड़ाई में सन् 1932 ई. में शामिल न हुआ। मगर जो तूफान था और जनता के जोश को ठण्डा करने के लिए आर्डिनेन्स राज्य के जरिये सरकार ने जो आतंक कायम कर रखा था वह वर्णनातीत था। लाठीचार्ज, गोली काण्ड, जेल, जायदाद की जब्ती और जुर्माने आदि के जरिये सरकार ने इस बार आन्दोलन को दबाया ही आखिर। फलतः सन् 1930 ई. वाला रंग न रहा। बेशक इस बार जो प्रोग्राम एके बाद दीगरे लड़ाई के लिए आते गये वह शुद्ध राजनीतिक थे। युक्त प्रान्त की लगान बन्दी और बिहार में चौकीदारी टैक्स का जहाँ-तहाँ बन्द किया जाना, नमक बनाने जैसी अराजनीतिक चीज थोड़े ही थी। रेलगाड़ियों की जंजीर खींचकर उन्हें रोक देना तो और भी उग्र चीज थी। सारांश आन्दोलन गहराई में पहुँच रहा था। उसी के साथ दमन भी भीषण रूप धारण कर रहा था।

ऐसी हालत में सत्य की बात कहाँ तक निभ सकती थी और अहिंसा भी कहाँ तक चल सकती थी? यह ठीक है कि हिंसा का बाहरी रूप असम्भव और घातक था। मगर भीतर से दबाव डाल के करवाना और धमकी आदि से काम लेना जरूरी हो गया। अगर सरकार अधीर एवं उतावली (desperate) थी तो नेताओं और कार्यकर्त्ताओं का भी वैसा ही हो जाना स्वाभाविक था। इसलिए छिपकर काम होने लगा। विलायती कपड़े पर शराब डालकर पहनना तथा इस प्रकार डाक ले जाने में सुविधा प्राप्त करना आम बात थी। इसी प्रकार चोरी-चोरी सभी काम होने लगे। यह बात अनिवार्य थी। जब आजादी की लड़ाई गहराई में पहुँचती है तो ऐसा होता

ही है। यह बात गांधी जी को भी मालूम होती रही। सत्याग्रह स्थगित करने में यह भी एक कारण उन्होंने बताया था।

खैर, मैं लड़ाई में तो शामिल न हुआ। मगर उसका परिणाम भी दूसरे रूप में अच्छा ही होने वाला था। जब बिहार की सरकार ने देखा कि कांग्रेस इसमें फँसी है और प्रायः सभी नेता जेलों में बन्द हैं तो उसने एक चाल चली। उसने अपने दोस्त जमींदारों की पीठ ठोंक के खड़ा किया कि यही मौका है, बिहार प्रान्त में अपना नेतृत्व और अपनी धाक जमा ले। मैदान खाली है। इसलिए एक नयी पार्टी बनाकर उसके द्वारा अपना प्रभुत्व कायम करें। पटने में तो सलाह हुई ही। मगर जाड़ा आते-न-आते राँची में भी सभी बड़े जमींदार और सरकार के पिट्ठू जमा हुए। वहीं गवर्नर से गुपचुप सलाह-मशविरा करके 'युनाइटेड पार्टी' (संयुक्त दल) की स्थापना की घोषणा की गयी। यह प्रचार किया गया कि इस पार्टी में जमींदार, किसान, पूँजीपति, मजदूर, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई सभी शामिल हैं। इसीलिए यही तो असली संयुक्त दल है। सीधा मतलब इसका यह था कि कांग्रेस को भी नीचा दिखाया जाय। जहाँ-तहाँ इसके लेक्चर भी हुए और समाचार-पत्रों आदि के द्वारा खूब ढिंढोरा भी पीटा गया।

मगर इतने से ही तो कुछ होने-जाने का था नहीं। पार्टी को आगे बढ़ाने के लिए कोई आधार और जरिया भी तो होना चाहिए। फिर सोचा गया कि सिवाय टेनेन्सी (काश्तकारी) कानून के संशोधन के और हो क्या सकता है? यह झमेला बहुत दिनों से चलता था कि किसानों को पेड़ों में हक मिले या नहीं, जमीन की खरीद-बिक्री वे बेरोकटोक करें या नहीं, ईंट, खपड़ा, कुआँ, तालाब और पक्का मकान अपनी कायमी जमीन में बनावें या नहीं। जमींदार भी चाहते थे कि सर्टिफिकेट का हक उन्हें आसानी से मिले, सलामी काफी पायें और जोत जमीन का दस प्रतिशत तक जीरात बना सकें। ये और इसी प्रकार की बातें किसान जमींदार समस्या को सदा पेचीदा बनाये रहती थी। यारों ने सोचा कि यही मौका है, किसानों को थोड़ी-बहुत ये चीजें देकर अपनी जड़ मजबूत कर लें, खास कर जीरात और सर्टिफिकेट के बारे में।

मौजूदा कानून के अनुसार जमींदार की जीरात, जिसे कामत और सीर भी कहते हैं, एक इंच भी बढ़ नहीं सकती थी। जो पहले थी, वही रह सकती है। सर्टिफिकेट का अधिकार कहने को तो था मगर मिलता न था। उसके लिए जो दिक्कतें थीं, उन्हें दूर करना जमींदारों के लिए जरूरी था। ऐसा होने पर, बकाया लगान की नालिश करने की जरूरत रही न जायगी। बेखटके वसूली हो जायगी। इसके लिए किसानों को कायमी जमीन में मकान, ईंट, खपड़ा वगैरह बनाने का हक कुछ शर्तों के साथ देने, पेड़ों और बाँसों में भी कुछ ऐसा ही करने और एक मुकर्रर सलामी देने पर जमीन की खरीद-बिक्री का हक स्वीकार कर लेने में भी कोई हर्ज नहीं, ऐसा उन्होंने तय किया। ये अधिकार देने में कुछ-न-कुछ कानूनी दाँव-पेंच तो रखे ही जाते। कान

छेदने के समय जब बच्चे रोते हैं और छटपट करके छेदने नहीं देते तो गुड़ या मिठाई के बहाने वे शान्त किये जाते हैं। वही चाल यहाँ भी चलने के लिए सोचा गया।

मगर, आखिर यह हो कैसे? सोचा गया, कांग्रेस ने तो संशोधन का विरोध किया था। किसान-सभा का तो कहना ही क्या? लेकिन कांग्रेस तो लड़ाई में फँसी है। फलतः वह तो कुछ कर सकती नहीं। वह किसान-सभा भी तो इस समय खटाई में पड़ी है। उसका काम बन्द है। उसका सभापति इन कामों से विरागी हो रहा है। ऐसी दशा में जो उसके एकाध और आदमी हैं उन्हें मिलाकर एक नकली (bogus) किसान-सभा खड़ी की जाय। फिर जो बिल युनाइटेड पार्टी के नाम से जमींदार तैयार करें उस पर उसी बनावटी किसान-सभा और उसके स्वयंभू लीडरों की मुहर दिला कर उसे ही कौंसिल में पास कर लिया जाय। कौंसिल में कांग्रेस पार्टी के न रहने से जैसा भी बिल चाहेंगे पास कर ही लेंगे। इस प्रकार जमींदारों और सरकार के दोस्तों का काम भी बन आयगा और यह ढिंढोरा भी चारों तरफ पिट जायगा कि किसानों को जो हक कांग्रेस और पुरानी किसान-सभा न दिला सकी उसे ही युनाइटेड पार्टी ने इस नयी किसान-सभा और उसके नेताओं की सहायता से दे दिया। इसका अनिवार्य परिणाम यही होगा कि यूनाइटेड पार्टी और उसकी पुछल्ला यह नकली किसान-सभा, ये दोनों ही, किसानों में प्रिय बन जायँगी। बस, यही तो चाहिए। इतने से ही तो काम बन जायगा।

इसके बाद उन लोगों ने—जमींदारों और उनके सलाहकारों ने दो काम किये। एक तो किसानों के नाम पर कभी-कभी कौंसिल में बोलकर सस्ती किसान लीडरी का सेहरा अपने सिर बाँधने वाले श्री शिवशंकर झा, जो पहले भी करते थे और आज भी जमींदारों की सहायता और मैनेजरी करते हैं को, और बाबू गुरुसहाय लाल, जो हमारी सभा के सहायक मन्त्रियों में एक थे को, युनाइटेड पार्टी का मेम्बर बना लिया। गो यह बात छिपाई गयी। क्योंकि इससे किसान और दूसरे लोग भड़क जाते। दूसरे उन्हें और खासकर श्री गुरुसहाय बाबू को उकसाकर तैयार किया गया कि चटपट एक नकली किसान-सभा बना डालें। बाद में उसी की ओर से बिहार के किसानों के नाम पर जमींदारों से टेनेन्सी कानून के बारे में समझौता करने का ढोंग रचकर युनाइटेड पार्टी का मनोरथ पूरा करें। जहाँ तक याद पड़ता है सन् 1933 ई. के शुरू में ही बनावटी सभा खड़ी की गयी।

आगे बढ़ने के पहले प्रसंगवश एक बात कह देना जरूरी है। सन् 1931 ई. में पहला सत्याग्रह स्थगित होने के बाद जब कांग्रेस की तरफ से पटना एवं गया में किसानों की तकलीफों की जाँच हुई तो उस समय कुछ नये लोग, जिनका कांग्रेस से सम्बन्ध था और पीछे तो सोशलिस्ट बनने का भी दावा करने लगे थे, किसान सेवक बन बैठे। ये लोग किसान-सभा चलाने के स्वप्न भी देखने लगे थे। उनकी हरकतें यों तो बाहर खुली तौर पर मालूम न हुईं। फिर भी इधर-उधर की बातों से

उनकी इस दिली अरमान और तमन्ना का पता लगता रहता था। उनमें कुछ ने एकाध बार मुझसे भी शिष्टाचार के नाते कहा कि हमारा पथ प्रदर्शन करें। श्री अम्बिकाकान्त सिन्हा ने तो यह भी कहा कि हमें जमींदार फुसला लेंगे। इसलिए हमें रास्ता बताते चलिए। मैं तो खूब समझता था कि उनके कथन का क्या मतलब है और वे कहाँ तक किसानों की सेवा कर सकते हैं। फिर भी मैंने उसमें पड़ने से साफ इनकार किया। उन्हीं की तरह एक और भी सज्जन, श्री देवकी प्रसाद सिन्हा किसान नेता होने का सपना देखते थे। कभी-कभी वह भी किसानों की भाषा बोल चुके थे। वकील तो थे ही। बस, नये सिरे से सेहरा बाँधने के लिए इतना ही पर्याप्त था।

जमींदार तो इस ताक में थे ही कि कुछ लोग मिल जायें जिससे बिहार प्रान्तीय किसान-सभा के नाम पर आसानी से धोखे की टट्टी खड़ी की जा सके। उनके लिए ये दोनों सिन्हा और गुरुसहाय बाबू पर्याप्त थे। उनने इनकी पीठ ठोंक दी। इन्हें पैसे भी दिए। ताकि उसी से ये लोग सभा बनायें। फलतः एक दिन अचानक सन् 1932 के अन्त या सन् 1933 के शुरू में अखबारों में पढ़ा कि पटने में बाबू गुरुसहाय लाल के घर पर किसानों और किसान सेवकों का जमाव हुआ और पुनपुन (पटने के निकट) के श्री डोमा सिंह किसान की अध्यक्षता में सभा होकर बिहार प्रान्तीय किसान-सभा की स्थापना हुई। जिसके सभापति वही डोमा बाबू बने और मन्त्री पूर्वोक्त तीन महारथी—श्री अम्बिकाकान्त सिन्हा, श्री देवकी प्रसाद सिन्हा और श्री गुरुसहाय लाल बनाये गये। किसी अजनबी स्वामी का भी नाम पढ़ा कि मीटिंग में मौजूद थे। पहले तो एक किसान को कहीं से ढूँढ़ लिया, ताकि लोग समझें कि सचमुच किसान-सभा बनी। दूसरे असली चीज—मन्त्री—यार लोग जो बने!

मुझे पढ़ कर हवा के रुख का कुछ पता लगा। क्योंकि हजार अलग रहने पर भी किसानों की बात थी न? इसलिए उस पर दृष्टि रखना मेरे लिए स्वाभाविक था। युनाइटेड पार्टी की बातों को भी बड़ी सतर्कता से देख रहा था। मुझे सारा अन्दाज लग गया कि कैसा षड्यन्त्र है और क्या होने जा रहा है। मगर थोड़ा ताज्जुब जरूर हुआ कि श्री गुरुसहाय लाल जैसे वकील और पढ़े-लिखे आदमी ने, जो अभी तक हमारी सभा के सहायक मन्त्री थे, ऐसा काम कैसे कर डाला और एक प्रतिद्वन्द्वी किसान-सभा बना डाली। तुर्रा तो यह कि न तो हमसे पूछा ही और न हमारी सभा से इस्तीफा ही दिया। वे कौंसिल में स्वराज्य पार्टी के मेम्बर भी रह चुके थे और उसी की आज्ञा से कौंसिल से इस्तीफा भी दिया था। उन्हें ऐसा करने के पूर्व या तो हमारी सभा से पहले इस्तीफा देना था, या कम-से-कम हमसे पूछना तो था। नहीं तो उसी की मीटिंग बुलाकर यह प्रश्न उसी में पेश करना था। इससे मरी धारणा और भी दृढ़ हो गयी कि इन लोगों ने पूरी तैयारी कर ली है और कुछ-न-कुछ होने वाला है। लेकिन फिर भी मैं तटस्थ ही रहा और इसकी परवाह न की कि क्या हो रहा है। हालाँकि, न जाने क्यों दिल थोड़ा सा बेचैन सा हो जाता था।

इसके बाद एकाएक एक दिन पूर्व के अखबारों में पढ़ा कि ता. 14-2-33 को बिहार प्रान्तीय किसान-सभा की बैठक गुलाबबाग, पटना में दोपहर के बाद होगी। उसी में किसान-जमींदार समझौते पर विचार होगा। मुझे पीछे यह भी मालूम हुआ कि इस बारे में एक छोटी सी छपी नोटिस भी हिन्दी में बँटी थी। खास कर बिहटा के आस-पास के इलाके में। लेकिन मुझे इस सभा की खबर न मिले इसकी पूरी कोशिश की गयी। इसीलिए न तो मेरे पास ही नोटिस पहुँची और न बिहटा में ही या पास के गाँवों में ही। हाँ, उसी रास्ते बिक्रम और मसौढ़ा में जाकर कोई बाँट आया। यह भी पता लगा कि कुछ लोगों ने किसानों के नाम पर जमींदारों से कोई समझौता किया है। उसकी कुछ शर्तें भी ठीक की गयी हैं। मगर सिवाय आश्चर्य करने के मैंने और कुछ नहीं किया। देखता रहा कि क्या होता है।

इस बीच एक घटना घटी, जिसने यारों के सारे किये-किराये पर पानी ही फेर दिया। किसान-सभा के इतिहास में इससे एक भारी पलटा भी हुआ। इसी के करते मैं उसमें फिर सारी शक्ति के साथ खिंच आया। या यों कहना ज्यादा ठीक होगा कि असली बिहार प्रान्तीय किसान-सभा और किसान-आन्दोलन का इसी से सूत्रपात हुआ। मैं पहले गया के डॉ॰ युगल किशोर सिंह का जिक्र कर चुका हूँ। ठीक 13 फरवरी को ही उनने, पं॰ यदुनन्दन शर्मा ने जो आज हमारे किसान आन्दोलन के प्रधान स्तम्भ हैं, तथा अन्य कई किसान सेवकों ने भी पटने की इस किसान-सभा में किसानों के लिए भारी खतरा देखा और क्या अब करना चाहिए, सोचा। अन्त में यही तय किया कि डॉ. युगल किशोर सिंह फौरन स्वामी जी के पास जाकर यदि किसी प्रकार उन्हें उस किसान-सभा में लाने में सफल हों तभी यह खतरा टल सकता है। दूसरा उपाय है नहीं; फलतः डॉक्टर साहब को मेरे पास भेजा। उनके पाँव में भारी जख्म था। फिर भी न जानें कैसे वे मरते-जीते चल पड़े और पटने में पहुँचे। सबसे पहले देवकी बाबू के डेरे में गये जहाँ अम्बिका बाबू भी हाजिर थे। उन्होंने सभा के बारे में पूछताछ की खासतौर से यह जानना चाहा कि स्वामी जी और कार्यी जी को खबर दी गयी है या नहीं और वे लोग इसमें शामिल होंगे या नहीं। उनसे मिथ्या ही कहा गया कि जरूर खबर दी गयी है और वे लोग जरूर आयेंगे। आप निश्चिन्त रहें। डॉक्टर साहब ने मिलने पर मुझसे ये बातें कही थीं। लेकिन उन्हें कुछ शक हुआ। फलतः बिहटा चलने के लिए इच्छा जाहिर की। इस पर वे रोके गये कि जाने की जरूरत नहीं। स्वामी जी तो कल आयँगे ही। मगर जब उन्होंने हठ किया कि खामख्वाह जायँगे तो हारकर वे लोग चुप हो गये। इस प्रकार डॉक्टर साहब 13 फरवरी सन् 1933 ई. की शाम को मेरे पास पहुँचे और दण्ड प्रणाम के बाद बैठे।

जब मैंने उनसे आने का कारण पूछा तो सारी दास्तान उनने सुनाई। पटना कल जरूर चलिए यह भी कहा। मैंने साफ इनकार किया और कहा कि नहीं जाता।

एक तो मैं किसान-सभा से अलग हूँ, गो इस्तीफा नहीं दिया है। दूसरे जब मुझे उन लोगों ने खबर तक देना उचित नहीं समझा, हालाँकि, सभी जानते हैं कि यहीं हूँ, तो फिर मेरा वहाँ बिना बुलाये जाना उचित नहीं। इसलिए हर्गिज नहीं जा सकता। इस पर उस बेचारे की मानसिक दशा क्या हुई यह कौन बताये? मैंने कोरा उत्तर दे तो दिया मगर वे ठण्डे न पड़े। रह-रह के आह भरने जैसे एकाध शब्द बोलकर चलने का आग्रह करते। वह शब्द भी आधा बाहर होता और आधा मुँह के भीतर ही रह जाता। पाँव के जख्म से उन्हें ज्वर भी हो आया था। इसलिए दो कष्टों के बीच आहें भरते थे। कभी कहते 'किसान मारे जायँगे'। कभी बोलते 'चलते तो भला होता' फिर कराहते कि 'उन्हें कौन बचायेगा?' सारांश, जब तक मैं जगा रहा वह ऐसा ही करते रहे। पर मैं इनकार ही करता रहा। फिर सो गया। मगर उनकी मार्मिक व्यथा पूर्ण अपील ने धीरे-धीरे मुझ पर असर किया। खासकर बीमारी की दशा में जो आह निकलती थी वह हृदय में जा बिंधी। फलतः सवेरे उठने पर नित्य कर्म करते-करते मैं पिघला और उनसे कह दिया कि "लो अब चलूँगा।" फिर तो उनका चेहरा खिल गया।

आखिर, खा-पी के दोनों ही दस बजे के करीब ट्रेन से रवाना हुए और पटने में पहुँचकर इधर-उधर घूमते-घामते निश्चित समय से पूर्व ही गुलाब बाग में पहुँचे। वहाँ देखा कि तीनों मन्त्री बैठे हैं और सारी तैयारी है। देखते ही, 'आइये आइये' हुआ। मैंने गुरु सहाय बाबू और अम्बिका बाबू के पास बैठकर फौरन कहा कि "भई, खबर भी न दी। यह क्या? यह तो डॉक्टर का काम था कि सत्याग्रह करके बलात् घसीट लाया"। इस पर जो भी बहानेबाजी हो सकती थी दोस्तों ने की। इतने में ही मेरी आँख एक लेटरपेपर पर सहसा गयी तो देखा कि बाबू गुरु सहाय लाल का नाम धाम उस पर छपा है और उसी के नीचे अंग्रेजी में कई बातें हाथ से लिखी हुई हैं। नीचे किसी का हस्ताक्षर नहीं था। तब तक उन्होंने उसे उठाकर उस पर छपा हुआ अपना नाम और पता फाड़ दिया। बाकी छोड़ दिया। उस समय मैं इसे समझ न सका। परन्तु पीछे इसका रहस्य मालूम हो गया।

असल में तथाकथित समझौते की शर्तें उस पर लिखी थीं और कहीं मैं यह न समझ लूँ कि गुरु सहाय बाबू ने ही वह शर्तें तय की हैं फलतः वह भी उनमें एक पार्टी हैं, इसीलिए अपना नाम-धाम उनने फाड़ लिया। इतने में ही देखा कि बिहार लैण्ड होल्डर्स असोसियेशन के स्तम्भ श्री सच्चिदानन्द सिन्हा और राजा सूर्यपुरा, श्री राधिकारमण प्रसाद सिंह भी सभा में पधारे। मैं आश्चर्य में था और कुछ समझ न सका कि ये महानुभाव यहाँ क्यों पधारे जब कि यह किसान-सभा है। मगर कुछ बोला नहीं।

(12)

नकली का भण्डाफोड़ और असली सभा फिर

फिर सभा का काम शुरू हुआ। बिहार प्रान्तीय किसानों की सभा क्या थी, खासी दिल्लगी थी। थोड़े से शहर के लोग थे। दो-चार बाहर के भी थे और शायद दस-बीस किसान। चटपट गुरु सहाय बाबू ने कहा कि किसान-सभा का अध्यक्ष किसी किसान को ही होना चाहिए। अतः मैं बाबू डोमा सिंह का नाम इसके लिए पेश करता हूँ। देवकी बाबू ने समर्थन किया और श्री डोमा सिंह अध्यक्ष बने। उसी समय मैंने जाना कि यही डोमा सिंह हैं। इसके बाद फौरन मैंने सवाल उठाया कि एक बिहार प्रान्तीय किसान-सभा पहले से है। हममें कुछ लोग उसके पदाधिकारी आदि भी हैं। ऐसी दशा में बिना उसे या उसके मेम्बरों और पदाधिकारयों को एक मौका दिये ही दूसरी सभा खड़ी करने से आगे खतरा हो सकता है। इसलिए या तो दोनों को मिलाकर नयी सभा बने या कम-से-कम पुराने लोगों को एक मौका दिया जाय कि वे क्या करना चाहते हैं? ताकि पीछे उन्हें कुछ करने का न्यायोचित हक न रह जाय। इस पर गुरु सहाय बाबू ने कहा कि "ठीक"।

मगर देवकी बाबू घबराये। वे अपनी लीडरी खतरे में देख बोल बैठे कि वे लोग तो कुछ करते-धरते नहीं। फिर हम क्यों रुकें रहें? मैंने कहा कि सो तो ठीक है। मगर कायदे के अनुसार उन्हें मौका देने के लिए रुकना ही चाहिए। वे बोले, क्या हम लोग भी बैठे ही रहें, यदि वे लोग कुछ नहीं करते? मैंने कहा, खुशी से काम कीजिये, खूब कीजिये, बैठने को कौन कहता है? मगर दो सभाएँ बन के आपस में ही न लड़ें, इसके लिए एक मौका उन्हें दीजिये। इसमें आप ही को लाभ है। इस पर लोगों ने मान लिया और पुराने पदाधिकारियों आदि को खबर देने की ठहरी। जहाँ तक याद है, 29 फरवरी को फिर दोनों की संयुक्त मीटिंग करने का निश्चय हुआ। इससे वहाँ बैठे राजा सूर्यपुरा और दूसरे लोग घबराये सही। मगर करते क्या? यह तो कायदे की बात ठहरी।

फिर प्रश्न उठा कि जमींदारों के साथ किसानों के समझौते की जो शर्तें हैं, उन पर विचार हो। लोग हाँ-हाँ कर बैठे और अम्बिका बाबू ने चटपट वही कागज पर लिखी उसकी तथाकथित शर्तें पढ़ सुनाईं। फिर राय देने लगे कि जहाँ तक ये शर्तें किसानों को अधिकार देती हैं वहाँ तक तो मान ही लेना चाहिए और ज्यादे के लिए आन्दोलन भी जारी रखना चाहिए। यह निराली दलील थी। मैं हैरान था कि समझौता भी हो और उसके बाद उससे अधिक हक के लिए आन्दोलन भी जारी रहे वह अजीब समझौता है। इसे विरोधी (जमींदार) कैसे मानेंगे कि हम आन्दोलन जारी रखेंगे।

लेकिन इस पचड़े में पड़ने के बजाय मैंने फिर कायदे-कानून का ही प्रश्न उठाया

और इस सवाल को फिलहाल स्थगित करना चाहा। मैंने कहा कि कुछ भी निश्चय करने के पूर्व आखिर हमें मालूम भी तो हो कि क्या शर्तें हैं। आप यहाँ एक कागज पर लिखी बातें सुना रहे हैं और कहते हैं कि यही शर्तें हैं। मैं माने लेता हूँ कि यही हैं। मगर जब तक इन्हें छाप कर आपने किसानों में बाँटा नहीं और उन्हें इनकी जानकारी कराई नहीं, तब तक उन्हीं के नाम पर इन्हें स्वीकार करने की बात आप कैसे कर सकते हैं? आखिर लोगों को पहले से इनकी जानकारी भी तो हो। साथ ही पहले से जानकारी रहने पर इनके बारे में सोच-समझ कर यहाँ लोग आते। मगर जो लोग यहाँ हैं उन्हें भी तो इनकी जानकारी पहले थी नहीं ताकि वे तैयार होकर आते और अपनी राय इनके बारे में देते। भला यह भी कोई तरीका है कि इतने महत्त्वपूर्ण और प्रान्त भर के किसानों के जीवन-मरण से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों के बारे में हम फैसला करने बैठे और उन पर पहले जरा सा गौर भी नहीं किया?

अब तो लोग दंग थे। सबों के मनोरथ पर पाला पड़ता नजर आया। केवल गुरुसहाय बाबू बोले कि हाँ, यह तो ठीक है। मगर देखा कि राजा सूर्यपुरा बुरी तरह बेचैन हैं और चाहते हैं कि शर्तों के बारे में कुछ-न-कुछ फैसला यहीं हो जाय। उन्हें गुरुसहाय बाबू से बड़ी आशा थी। मगर वह तो मेरे चंगुल में आ गये। बाकी दो उनके बिना बेकार साबित हुए। इससे राजा साहब को गुरुसहाय बाबू पर गुस्सा हुआ जो भीतर ही रहा। बाहर आता भी कैसे? तब तो सारी कलई जो खुल जाती। मगर पीछे निकाला गया जब कौंसिल में उनका नामिनेशन न करवा के बाबू शिवशंकर झा का करवाया गया। क्योंकि, जैसा पीछे पता चला, गुरुसहाय बाबू को नामजद कराने का वचन जमींदार दे चुके थे।

यद्यपि राजा साहब मजबूर थे और कुछ कर न सकते थे। तथापि उनने दलील शुरू की और कहा कि अच्छे काम में देर करना ठीक नहीं, खतरा हो सकता है। मैंने कहा कि "राजा साहब, मजबूरी है, या करें?" बोले, "शर्तें तो सामने हैं"। मैंने कहा कि "आखिर सोचें भी तो, क्या यों ही राय दें। कहीं किसानों का गला कटा तो?" उनने फिर कहा, "आखिर समझौता ही तो है। इसमें 'गिव एण्ड टेक' (Give and take) की बात है। कुछ आप छोड़ें, कुछ हम छोड़ें, और काम चले।" मैंने कहा, "राजा साहब, सो तो ठीक है। मगर, यही तो सोचना है कि किसे कितना छोड़ना है। आपका और गरीब किसानों का छोड़ना—दोनों बराबर नहीं हो सकता। हाथी के सामने पाँच मन खाने के लिए चावल पड़ा था और चींटी के सामने सिर्फ एक चावल था। बात-ही-बात में हाथी ने चींटी से कहा कि ले मैं भी एक चावल छोड़ता हूँ और तू भी छोड़ दे। बस, हमारी और तेरी बहस खत्म। तो क्या यह ठीक होगा? देखने में तो दोनों का समान ही त्याग है। मगर एक चावल छोड़ने से जहाँ हाथी का कुछ न होगा, वहाँ चींटी का सारा परिवार भूखों मर जायगा। फलतः हमें यही तो सोचना है कि ये शर्तें चींटी के परिवार को कहीं मारने वाली तो नहीं हैं? इसीलिए

समय चाहते हैं। साथ ही, जमींदार-सभा के प्रतिनिधि आप लोग चुनें और किसान-सभा के हम चुनें और जरूरत हो तो काफी बातचीत करके कमी-बेशी या उज्र पूरा किया जाय, यहाँ किससे पूछें? जमींदार-सभा ने किसी को चुना है या नहीं कौन कहे? यह कौन है यह भी कैसे जानें?"

बस फिर तो राजा साहब की बोलती बन्द हो गयी। उन्होंने पहली बार देखा कि यह तो गजब के आदमी से पाला पड़ा। मैंने भी पहली ही बार उन्हें देखा और उनकी दलील सुनी। यों तो बहुत सुन रखा था कि वे खूब ही होशियार और चलते-पुर्जे हैं। मैंने देखा कि वे निराश-से हो रहे हैं। लेकिन इससे क्या? आखिर उसी 29 फरवरी को ही तो मिल कर फैसला करने का निश्चय हुआ। तब तक मन्त्री जी को हुक्म हुआ कि समझौते की शर्तें छपवा कर बाँटें। उन्हीं के साथ 29वीं की मीटिंग की सूचना भी हो। यह भी आदेश रहे कि लोग अपने-अपने इलाकों में सभाएँ करके किसानों को ये शर्तें समझायें और उनकी राय लेकर आयें। खूब आन्दोलन और प्रचार हो यह बात भी तय पायी। ये शर्तें छपीं और बँटीं भी।

मगर अब जो सबसे बड़ी दिक्कत पेश आई वह यह कि ये शर्तें किसके दरम्यान तय पाइं और इनमें पार्टी कौन-कौन हुए। यह प्रश्न उठना जरूरी था। मैं तो चाहता ही था कि सब बातों की सफाई हो। इसीलिए तो मौका लिया गया। मगर यहाँ तो तबेले में लतियाहुज शुरू हो गयी। पता ही नहीं चलता था कि कब और किसके दरम्यान ये शर्तें तय पायी थीं। यह भी नहीं पता चला कि आया यही शर्तें थीं या कि कुछ और। यह भी नहीं मालूम हुआ कि कभी ये या और शर्तें दो पार्टियों के बीच किसी कागज पर लिखकर उस पर उन दोनों के हस्ताक्षर भी हुए थे। यहाँ तक नौबत पहुँची कि कुछ शर्तों के बारे में गुरुसहाय बाबू का कहना कुछ था और चन्द्रेश्वर बाबू का कुछ दूसरा ही। यही नहीं, जमींदारों की तरफ से भी इन शर्तों के विभिन्न रूप छपे और अन्त में मैंने देखा कि तथाकथित समझौते की शर्तों के तीन स्वरूप लोगों के सामने समय-समय पर आये जिनमें एक दूसरे में कुछ-न-कुछ अन्तर जरूर था। बात यह थी कि यों ही जबानी गोलमटोल बातें करके जमींदार लोग किसानों को ठगना चाहते थे। उधर जो लोग किसानों की तरफ से बोलने का दम भरते थे उन्हें न तो इसकी तमीज थी और न परवाह। उन्हें तो अपना मतलब अलग ही साधना था। जमींदारों की अक्ल के सामने वह टिक भी नहीं सकते। फलतः, आसानी से चकमे में आ गये।

खैर, सभा का काम तो इस प्रकार पूरा हुआ और मेरा जो मतलब था वह सिद्ध हो गया। डॉ. युगलकिशोर सिंह जिस मतलब से मुझे लेने बिहटा गये थे वह सोलहों आना पूरा हुआ। साथ ही जिन लोगों ने अपना मतलब गाँठने के लिए यह कुचक्र रचा था वे भग्न मनोरथ भी हो गये। उनके दिल पर क्या गुजरती थी इसका पता गैरों को क्या हो सकता था? लेकिन अभी कुछ होना बाकी था और वह भी

पूरा हो के रहा।

अब तक हममें किसे पता था कि बिहार लैण्डहोल्डर्स असोसियेशन के कर्णधारों के पैसे से ही यह किसान-सभा बुलाई गयी थी और यही किसानों के भाग्य का निपटारा टेनेन्सी कानून के पेचीदे मामले में करने वाली थी। सो चलते-चलाते उसका भी भण्डाफोड़ होई गया। बात यों हुई कि यारों ने सोचा, शिष्टाचार के अनुसार कुछ लोगों को धन्यवाद तो दे लें। इसलिए विसर्जन होने के पूर्व धन्यवाद दान चला और याद नहीं कि किसे-किसे धन्यवाद दिये गये। मगर आखिर में देवकी बाबू ने कहा कि सिन्हा साहब (श्री सच्चिदानन्द सिन्हा) को भी धन्यवाद दिया जाय। मैंने कहा, किसान-सभा को उन्हें धन्यवाद देने से क्या ताल्लुक? उन्होंने पुनरपि हठ किया कि नहीं, धन्यवाद तो देना ही चाहिए उन्हें भी। मैंने साफ कहा कि यह अनुचित है। तब हारकर चुपके से उनने मुझसे कह दिया कि उन्होंने सभा के काम के लिए रुपये जो दिये थे। इस पर मैंने धीरे से उनसे कह दिया कि तब तो और भी बुरा होगा, यदि आपने उनका नाम लिया। क्योंकि लोग समझ जायँगे कि आपकी यह सभा जमींदारों के ही पैसे से बनी है। इस पर चुप हो गये और सभा विसर्जन हुई।

इसी दरम्यान तथाकथित समझौते के आधार पर एक टेनेन्सी बिल तैयार करके श्री रायबहादुर श्यामनन्दन सहाय ने जमींदारों की तरफ से कौंसिल में पेश भी कर दिया था। उसका अधिवेशन चालू था। और खासतौर से बाबू शिवशंकर झा वकील (मधुबनी, दरभंगा) इसके समर्थन के लिए किसानों के प्रतिनिधि के नाम में जमींदारों के ही द्वारा नामजद भी करवाये गये थे। बाबू गुरुसहाय लाल ने जो कमजोरी हमारी सभा में उस दिन दिखायी उसके करते जमींदारों ने उन्हें पहले नामजद नहीं कराया। मगर पीछे मालूम होता है, भीतर-ही-भीतर उनने भी दरबारदारी की। अतः आखिर में वह भी नामजद किये गये। उस सभा के बाद एक दिन वह मेरे पास बिहटा आश्रम में भी आये और पूछने लगे कि क्या करना चाहिए। मैंने कहा कि आप तो हमारे आदमी हैं। इसलिए युनाइटेड पार्टी में हर्गिज शामिल न हों। नहीं तो बुरा होगा। उन्होंने कहा, मैं ऐसा कभी कर नहीं सकता। वहीं पहली बार मैंने उनसे कहा कि आपका और सर गणेश का चुनाव क्षेत्र एक ही है और मैं चाहता हूँ कि उनके मुकाबिले में आप आगामी चुनाव में जीतें, मैं आपको जिताऊँ। इसीलिए आपको सजग किये देता हूँ। इसके बाद वह चले गये।

उसके उपरान्त समझौते के नाम पर जो शर्तें छपीं और बँटीं उनका जिक्र पहले ही कर चुका हूँ। याद रहे, सत्याग्रह जारी था और धरपकड़ चलती ही थी। फिर भी मैंने सारी शक्ति लगाकर उस समझौते का भण्डाफोड़ किया। प्रान्त में जगह-जगह सभाएँ कीं। इधर देखा कि जमींदार के दलाल भी काफी मुस्तैद थे। कभी-कभी अखबारों में पढ़ते थे कि पूर्णिया तथा और जगहों में किसान-सभाओं के नाम से उस समझौते के समर्थन हो रहे हैं। ऐसी सभाओं की खबर कई बार पढ़ी और चौंके भी। उधर

बाबू गुरुसहाय लाल भी धीरे-धीरे जमींदारों की गोद में चले गये, मगर चुपके से। क्योंकि प्रत्यक्ष होने पर कहीं के न रहते। फिर तो उनकी कोशिश होने लगी कि प्रान्तीय किसान-सभा मीटिंग में उस समझौते का समर्थन हो जाय। इसीलिए अपने साथियों को तैयार किया कि उस दिन सबको जमा करो और ज्यादा किसान लाओ जो पक्ष में वोट दें। इससे दूसरे लोग घबराये। एक दिन बाबू बलदेव सहाय, वकील शाम को बिहटा तक पहुँचे भी यही खबर लेने कि ऐसा न हो कि मैं हार जाऊँ। उन दिनों बाबू विनोदानन्द झा प्रान्तीय कांग्रेस के डिक्टेटर थे। उनका सन्देशा भी मिला कि चाहें तो कुछ खास मदद की तैयारी की जाय। मैंने सबों को धन्यवाद दिया और निश्चिन्त रहने को कहा। हाँ, सभी जिलों में प्रचार हो जाय और समझदार लोग आ जायँ, यही बात कर देने को मैंने कहा। फिर वे चले गये।

ठीक समय और तारीख पर मीटिंग हुई। जोश बहुत था। उधर तैयारी थी कि आज जीतना है चाहे जैसे हो। इसीलिए गुरुसहाय बाबू के दोस्त नौजवान वकील लोग बहुत गर्म हो रहे थे और मुस्तैदी दिखा रहे थे। 5-6 घण्टे तक झमेला और वाद-विवाद होता रहा। बड़ी तनातनी थी। आखिर में मजबूर होकर गुरुसहाय बाबू को मेरी यह दलील माननी पड़ी कि यों जब चाहें जिस किसी को यों ही खड़ा करके जमींदार इसी तरह समझौते का ढोंग रच सकते हैं। यही समझौता उनके लिए पक्का दृष्टान्त हो जायगा। और इस तरह वे किसानों को तबाह करते रहेंगे। इसलिए आज इस समझौते के गुण-दोष को न देख इस सिद्धान्त के आधार पर ही इसका विरोध होना चाहिए। इसीलिए मैंने कहा कि जमींदार लोग फिलहाल इसे रद्द करें। फिर फौरन बाकायदा किसान-सभा से समझौता करें। उसमें आप ही हमारे प्रतिनिधि रह सकते हैं। हमें उज्र न होगा। आज तो इसका समर्थन करना किसानों के लिए भविष्य में भारी खतरा तैयार करना होगा। बस, वे चुप रहे। करते भी क्या? वोट लेने पर भी जब हारने का लक्षण उन्होंने देखा तो यही बात मान ली।

फिर जो प्रस्ताव पास हुआ उसमें साफ लिखा गया कि किसान-सभा सिद्धान्त की दृष्टि से इस समझौते को गलत समझ इसका घोर विरोध करती है और सरकार से माँग पेश करती है कि इसके आधार पर टेनेन्सी बिल को रोक दे। गुरुसहाय बाबू को सभा के मन्त्री की हैसियत से कौंसिल में इस बिल के विरोध करने का आदेश दिया गया। पर सरकार यदि न माने और बिल पर विचार होने ही लगे तो उन्हें इस्तीफा देने की आज्ञा दी गयी। एक ही प्रस्ताव में यह सभी बातें लिखी गयीं और अन्त में यह भी कहा गया कि श्री शिवशंकर झा किसानों के प्रतिनिधि नहीं हैं।

अगले ही दिन कौंसिल में बिल पेश होने को था और उससे पहले यह प्रस्ताव सरकार को और सभी मेम्बरों को मिल जाना चाहिए था। इधर रात के नौ बजे थे। और प्रेस बन्द थे। फिर राय हुई कि रातोंरात किसी प्रेस में छपवाने की कोशिश

हो। एक पत्र (Covering letter) के साथ ही यह प्रस्ताव अंग्रेजी में छपे और तड़के मैं बिहटा से आ के सभापति की हैसियत से पत्र पर हस्ताक्षर करूँ। उसके बाद फौरन ही कौंसिल में इसे पहुँचाया जाय। यही हुआ। रात में मैं बिहटा गया। वहाँ से सवेरे ही आकर पत्र पर हस्ताक्षर किया। मगर करते-कराते देर हो गयी।

फिर जब स्वयं एक आदमी के साथ कौंसिल भवन में गया तो उसका काम शुरू हो चुका था। इसलिए मेम्बरों को साक्षात् देना असम्भव समझ उसके सभापति के द्वारा बँटवाने का प्रबन्ध किया गया। तब तक तो सनसनी मची ही थी और सभी जान रहे थे। सभापति थे बाबू निरसू नारायण सिंह। उन्होंने उसे मेम्बरों को दिया ही नहीं। कौंसिल के बीच में स्थगित होने पर बाहर इसके लिए मुझसे उन्होंने यह कह के क्षमा माँगी कि कौंसिल के एक मेम्बर पर (उनका अभिप्राय श्री शिवशंकर झा से था) इस प्रस्ताव में आक्षेप होने के कारण मैं इसे बँटवा न सका। यह जान कर मुझे गुस्सा आया और सोचा कि जब यह हजरत अगले चुनाव में खड़े होंगे तो देखूँगा कि कैसे चुने जाते हैं। मगर संयोग ऐसा हुआ कि उसके बाद वे गवर्नर की कार्यकारिणी के सदस्य बन गये। इससे खड़े ही न हुए। उस सदस्यता से हटने पर तो वह चुनाव से अलग ही हो गये।

कौंसिल भवन में ही मैं श्री गुरु सहाय बाबू से मिला और पूछा कि आप तो ठीक हैं न? रात में जो तय हुआ उसी के अनुसार चलेंगे न? क्योंकि उन्होंने पहले ही कह दिया था कि सरकार न मानेगी और बिल पर विचार जरूर ही होगा। इसलिए मैंने उनसे पूछा कि इस्तीफा देंगे न? इस पर वे कुछ बिगड़कर बोलने लगे। मैंने उनका रंग बदरंग देखा। फिर तो साफ कहा कि आप बिगड़ते किस पर हैं? आप ही ने सभा की। आप उसके मन्त्री हैं। सर्वसम्मति से गत रात्रि में ही प्रस्ताव पास हुआ। आपने उसे माना और इस्तीफे का वचन भी दिया। अब बिगड़ने की क्या बात है? सभा का प्रस्ताव और सबके सामने दिया हुआ अपना वचन इन दोनों को ही तोड़ कर कहाँ रहियेगा? आप ही खत्म होइयेगा। मैं तो आप ही के लिए यह कह रहा हूँ। मगर उलटे आप बिगड़ रहे हैं? मुझे क्या? मैं जाता हूँ। आपकी जो मर्जी हो कीजिये।

बस, इसके बाद मैं हट गया और वह कौंसिल में चले गये। मुझे पता चल गया कि सभा के बाद जमींदारों से उनकी भेंट हुई और इन्हें समझाया गया कि सभा में तो आपने भूल की। स्वामी ने आपको फिर ठग लिया, अब अगर विरोध करेंगे या इस्तीफा देंगे तो ठीक न होगा। असल में किसानों के नाम से समझौते के कर्त्ता-धर्त्ता तो वही हजरत बने ही थे। हालाँकि, छिपाते चलते थे? इसलिए जमींदारों के सामने उसका विरोध या उससे इनकार करने की उनमें हिम्मत कहाँ थी? इसीलिए उसका समर्थन किया और कहीं के न रहे?

उसी दिन वहीं राजा, सूर्यपूरा से बहुत कुछ बातें हो गयीं। वे तो बहुत ही

चतुर और व्यवहारकुशल आदमी हैं। इसलिए उन्होंने चाहा कि बाबा गुरु सहाय लाल की ही तरह मुझे भी अपने चंगुल में फँसा लें। जहाँ तक याद है, वही युनाइटेड पार्टी के मन्त्री थे। मगर उस पार्टी और जमींदारों की सभा (लैण्ड होल्डर्स असोसियेशन) में दरअसल कोई फर्क न था। कहने मात्र के ही लिए दो संस्थाएँ और दो नाम थे। बेशक, युनाइटेड पार्टी में कुछ ऐसे लोगों के भी नाम थे जो जमींदार न थे और कहने के लिए किसानों का प्रतिनिधित्व करते थे। मगर यह सब काम चलाने के तरीके थे। इसीलिए वह बिल उस पार्टी की ही तरफ से, कहने के लिए पेश किया गया था।

हाँ, तो बातचीत में राजा साहब ने कहा कि ये किसान-जमींदार झगड़े कब तक चलाइयेगा? क्या ये खत्म नहीं किये जा सकते? मैंने कहा, मैं तो एक क्षण भी इन्हें चलने देना नहीं चाहता। इससे तो किसानों की हानि ज्यादा है। आप लोग तो बड़े हैं, धनी हैं। इसलिए हानियों को बर्दाश्त कर सकते हैं, कर लेते हैं। मगर किसान तो तबाह हो जाते हैं। कारण, वे गरीब जो ठहरे। इस पर वे बहुत खुश हुए और बोले कि तो फिर यह झगड़ा आखिर मिटेगा कैसे? मैंने कहा, आप युनाइटेड पार्टी या जमींदार सभा की तरफ से पाँच आदमी चुन दें और हम किसान-सभा की ओर से। उन्हें पूरा अधिकार हो कि जो कुछ तय कर लें हम दोनों दल वाले उसे ही मान लें। यह सुनकर कम-से-कम ऊपर से तो वह खुश ही हुए और बोले कि हाँ, कुछ तो होना ही चाहिए। मैंने कहा कि मेरा तो यह प्रस्ताव ही है। क्या आप इसे स्वीकार करते हैं? उन्होंने कहा, सोचकर जवाब दूँगा। मैंने कहा, अच्छा। उन्होंने उसी दिन रेल में या पटना स्टेशन पर उत्तर देने को कहा, जब मैंने उत्तर की अवधि पूछी। स्टेशन पर वे मिले भी और उसी ट्रेन से आरा गये, जिससे मैं बिहटा गया। दानापुर में उनने मुझसे कहा कि महाराजा दरभंगा से पूछकर मैं लिखूँगा।

इसके बाद तो मैंने उन्हें कितने ही पत्र लिखे कि क्या आपने महाराजा से पूछा? और अगर हाँ तो क्या तय पाया? पहले तो वे अब मिलूँगा, तब मिलूँगा करते रहे। लेकिन मैं कब छोड़ने वाला था। सन् 1933 ई. की गर्मियों में जब वे नैनीताल थे, मेरा पत्र वहीं उन्हें मिला था जो सूर्यपुरा भेजा गया था। उन्होंने वहाँ से आने पर महाराजा से मिलने की बात लिखी। उसके बाद मैंने अखबारों में पढ़ा कि वे वहाँ से लौटे और महाराजा के ही पास दरभंगा गये भी। मगर कोई पत्र नहीं लिखा। मैंने कुछ दिन और प्रतीक्षा करके आखिरी पत्र उन्हें लिख दिया कि शायद आप लोग किसान-सभा के सभापति से पत्रव्यवहार करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। इसीलिए तो वचन दे-देकर भी न तो उत्तर देते और न साफ बातें लिखते हैं। आखिर, नाहीं या हाँ लिखने में क्या लगा है? यह तो मामूली शिष्टाचार मात्र है। इससे तो मैं अब यह भी मानने को विवश हूँ कि मेरा प्रस्ताव आप लोगों को स्वीकृत नहीं। इसीलिए अब और पत्र आपको न लिखूँगा।

हमारी और उनकी इस सम्बन्ध की लिखा-पढ़ी की फाइलें मेरे पास सुरक्षित हैं। किसान-सभा के विस्तृत इतिहास में उन्हें स्थान दिया जायगा, या कभी जरूरत होने पर प्रकाशित की जायँगी। इस आखिरी पत्र की स्वीकृति तक उनने न भेजी।

असल बात तो यह थी कि वह मुझे व्यक्तिगत रूप से बातचीत में फाँसकर अपना काम निकाल लेना चाहते थे, जैसा कि जमींदार लोग तब तक बराबर करते आये थे। इसीलिए चर्चा उनने छेड़ी भी थी। मगर मैं तो इस चकमे में फँसने वाला था नहीं। मेरी व्यक्तिगत हैसियत थी भी और आज भी क्या है, सिवा एक घर-बारहीन भिक्षुक के? फिर उस हैसियत से मैं सोचता भी कैसे? और बिहार प्रान्तीय किसान-सभा को जब तक धोखा देना नहीं चाहता तब तक सिवाय सभापति की हैसियत के दूसरे रूप में बात भी कैसे कर सकता था? मेरी दृष्टि में तो केवल सभा ही थी और अगर मैं कुछ भी था या अगर मुझे उन्होंने पूछा भी तो उसी के करते। ऐसी हालत में मैं उसे ही कैसे भूल जाता? उन लोगों का ऐसा सोचना ही भूल थी। मगर वह तो इस चाल में पहले सफल हो चुके थे। इसीलिए इस बार भी वही चाल चली गयी। पर उन्हें पता क्या था कि पहले की सभाएँ नकली और धोखे की थीं और यह असली है? साथ ही, वे यह न समझ सके कि इस बार निराले आदमी से काम पड़ा है जो घर-बार, और यहाँ तक कि भगवान् के ढूँढ़ने का पुराना तरीका भी छोड़ के इस काम में पड़ा है। इसीलिए, इस बार उन्हें ही धोखा हुआ और मुँह की खानी पड़ी। लेकिन, हमेशा के लिए यह चाल तभी से खत्म भी हो गयी।

(13)

गया के किसानों की करुण कहानी

पहले कहा जा चुका है कि सन् 1931 ई. में प्रान्तीय कांग्रेस ने गया जिले के प्रमुख किसान सेवकों के आग्रह से वहाँ और पटने में भी किसानों की दयनीय दशा की जाँच की थी। मगर उसका फल क्या हुआ यह आज तक पता न चला। न तो उन लोगों ने कोई रिपोर्ट ही प्रकाशित की और न अखबारों में ही एक अक्षर भी उसके सम्बन्ध में लिखा। **असल में प्रान्तीय कांग्रेस नेताओं की तो सदा से ही यह चाल रही है कि मौके पर किसानों से काम ले लेना, उनके दुःखों को हटाने के लिए सब कुछ करने का आश्वासन दे देना, और अन्त में चुप्पी मार जाना।** जिस प्रकार पहली जाँच का कोई फल न निकला और पीछे बहाना ढूँढ़ निकाला गया कि सन् 1932 के सत्याग्रह संग्राम में पुलिस वे सब कागजात ऑफिस से ले गयी और वापस न कर सकी। ठीक उसी प्रकार दूसरी लम्बी जाँच का भी नतीजा कुछ न हुआ, हालाँकि, इस बार तो कागजों के चले जाने का बहाना भी न था। ये बातें आगे आयेंगी।

अब सन् 1933 ई. की गर्मियों के बीतते-न-बीतते प्रान्तीय किसान-सभा की कार्यकारिणी (किसान कौंसिल) की एक मीटिंग पटने में हुई। उसमें तय पाया कि गया के किसानों के दुःख-दर्द की पूरी जाँच करके उसकी रिपोर्ट किसान-सभा छपवाये और उचित कार्यवाही करे। उसके लिए एक जाँच-कमिटी भी पाँच सदस्यों की बनी, जिसमें मैं, पं. यमुना कार्यी, पं. यदुनन्दन शर्मा, डॉ. युगल किशोर सिंह और बाबू बदरी नारायण सिंह यही लोग थे। कार्यी जी मन्त्री और संयोजक थे।

बरसात सिर पर थी। मगर यह भी सोचा गया कि जाँच में देर न हो। उसका काम खामख्वाह शुरू होई जाय। फलतः, जिले में चारों ओर खबर देने, कहाँ-कहाँ जायँ यह ठीक करने, किसानों को पहले से ही वहाँ जमा करने, सभा करने और प्रोग्राम को ठीक-ठीक पूरा करने के लिए प्रबन्ध करने आदि का भार पं॰ यदुनन्दन शर्मा पर डाला गया। उन्होंने अपनी स्वभावसिद्ध तत्परता से यह काम ऐसा ठीक किया कि हम सब हैरत में थे। बरसात के समय में भी घोर देहात का एक प्रोग्राम भी सफल होने बिना न रहा। ऐसी कामयाबी हुई कि हम दंग रह गये। जहाँ पहुँचते वहाँ आगे के लिए पहले से ही सवारी आदि का प्रबन्ध रहता। सोलह-सोलह, बीस-बीस मील तक के फासले पर विकट देहात में लगातार जाना पड़ा! यह भी नहीं कि बीच में एकाध दिन विश्राम हो। वर्षा के दिनों में पालकी, घोड़ी आदि ही सवारियाँ हो सकती थीं और उनका पूरा प्रबन्ध रहता था।

पाँच सदस्यों में बदरी बाबू तो आये ही नहीं। हम समझ भी न सके कि गया के दोस्तों ने उनका नाम क्यों दिलवाया था? शुरू से अन्त तक न तो वे जाँच में ही या कमिटी की बैठक में ही आये और न पत्रादि के द्वारा कोई कारण ही बताया। मगर शेष चार जाँच में शामिल रहे। डॉ. युगल किशोर सिंह बीच-बीच में गैरहाजिर भी रहे। मगर मैं, कार्यी जी और शर्मा जी ये तीनों शुरू से अन्त तक साथ रहे, यहाँ तक कि पीछे विचारने और रिपोर्ट की तैयारी के समय भी। लेकिन रिपोर्ट तो मैंने और कार्यी जी ने ही तैयार की।

जहाँ तक मुझे याद है, ता. 15 जुलाई को हमने जाँच का काम शुरू किया। हम चारों ही जहानाबाद स्टेशन से उतरकर उससे पूर्व और उत्तर के इलाके के धनगाँवा आदि गाँवों के दो केन्द्रों में दो दिन रहे। उसके बाद मखदुमपुर के इलाके में महम्मदपुर गये। वह कुर्था थाने में पड़ता है। उसके बाद, जब कि पानी पड़ रहा ही था, हम मझियावाँ (पं. यदुनन्दन शर्मा के गाँव) के लिए सवेरे ही रवाना हो गये और भीगते-भीगते पैद ही वहाँ पहुँचे। रास्ते वाले नाले में गर्दन भर पानी था। उसमें घुसकर ही उसे पार किया। मझियावाँ की दशा वर्णनातीत थी। फिर टेकारी थाने में भोरी गये। वहाँ से परसावाँ और परैया जाना पड़ा। उसके बाद फतहपुर थाने में खास फतहपुर गये। जाँच की बात तो, 'गया के किसानों की करुण कहानी' के रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। वह पढ़ने ही लायक है। वे बातें यहाँ नहीं लिखी जा सकती

हैं। लेकिन दो-चार खास बातें लिखेंगे।

हमने प्रायः दस दिन लगाये? इस बीच ज्यादातर मौजे टेकारी राज के ही मिले जो अब सोलहों आने राजा अमावाँ के ही हाथ में हैं। उनके साठ मौजे हमने देखे। वहाँ किसानों के लिखित बयानों के सिवाय गवाहियाँ भी लीं। दूसरे छोटे-मोटे जमींदारों के और खास महाल के भी कुछ मौजे खासकर परैया में हमें मिले। टेकारी के जो मौजे श्रीमती शहीदा खातून को मिले हैं, उन्हें भी देखा। अमावाँ के एक पटवारी ने हमसे कहा कि यहाँ तो हम बेमुरव्वती से लगान वसूलते हैं। मगर हमारे घर पर लगान में ही हमारी जमीन बिक गयी। क्योंकि ज्यादा होने से दे न सके और पैदावार भी मारी गयी थी।

अमावाँ राज के ऐसे भी गाँव मिले जहाँ किसान की जमीन जबर्दस्ती छीनकर राज की कचहरी उसी पर बना ली गयी थी। मगर लगान किसान से उस जमीन का लिया जाता ही था।

ईकिल में एक नाई ने कहा कि हम जमींदार (अमावाँ राज) के बराहिल (नौकर) को रोजाना रात में तेल लगाया करते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि वह कहीं चले गये थे। अतः हम राज की कचहरी में न गये। लौटने पर उनने पता लगाया और बुलवा कर हमें गैरहाजिरी के लिए सजा दी। हमने जब कहा कि आप थे ही न, फिर आते क्यों? तो उत्तर मिला कि आते और इस खम्भे में तेल लगा कर चले जाते। क्योंकि आने और तेल लगाने की आदत तो बनी रहती।

कई जगह यह शिकायत आयी कि जमींदार के अमले किसानों के बकरों के गले में लाल धागा बँधवा देते हैं। फिर तो वह उनका हो जाता है। किसान पालपोस के सयाना करता है। पीछे चार आने देकर उसे ले जाते हैं? कहीं गड़बड़ हुई तो दण्ड होता है।

पैंतालीस प्रकार की गैरकानूनी वसूलियों का पता लगा। धनगाँवा में पास ही पास के दो खेतों को देखा तो पता चला कि एक का लगान साल में पूरे साढ़े बारह रुपये और दूसरे का साढ़े तीन ही है। दूसरा पुराना था और पहला हाल का बन्दोबस्त किया हुआ। हालाँकि, जमीन एक ही तरह की और पैदावार भी बराबर ही थी।

मझियावाँ में कंकड़ीदार खेत का लगान फी बीघा साढ़े तेरह रुपया पाया! उसमें पाँच मन पैदा होना भी असम्भव था! हजार रुपये साल में लगान देने वाले किसान का घर पाखाने से भी बदतर था। वह खाने बिना तबाह था! परसामा में नदी के किनारे निरी बालू वाली जमीन हमने आँखों देखी। उसमें जंगली बेर लगे थे। मगर लगान सम्भवतः पूरे ग्यारह या तेरह रुपया फी बीघा! परैया के इलाके में देखा कि खास महाल में मिट्टी दिलाने और आब पाशी का प्रबन्ध होता है। मगर पास ही में अन्य जमींदार कुछ नहीं करते। कई गाँवों में खास महाल और टेकारीराज की शामिल ही जमींदारी मिली। उसमें खास महाल का लगान नगद पाया और जमींदार

की भावली। जहाँ किसानों के साथ ही जमींदार की भी खेती (जिरात) होती है वहाँ का जुल्म देखा कि किसानों के हल-बैल मौके पर जमींदार बेगार में ले जाते हैं। फलतः, किसानों की खेती बिगड़ जाती है। धान के लिए पानी पहले जमींदार लेता है और बचने पर ही किसान पाता है। नहीं तो उसका धान सूख जाता है।

इस प्रकार जाँच करके हम लोग पटने लौट आये। इस जाँच से किसानों की भीतरी जर्जर दशा की और जमींदारों के जुल्मों की भी प्रत्यक्ष जानकारी तो हुई ही। साथ ही, हमने किसानों को जो स्वयं मुस्तैदी से हमारी जाँच-सभा और अन्य बातों का प्रबन्ध करते देखा उससे हमारे दिल पर पहले पहल यह असर हो गया कि यदि कोशिश हो तो किसान जल्द जग पड़ेंगे। क्योंकि क्षेत्र तैयार है। हमें चट्टान से सिर टकराना या निरे मुर्दों को जगाना नहीं है। हमारा अन्दाज हुआ कि समय के धक्के से उनकी नींद टूटी है। वे आलस्य में पड़े हैं। किसी जगाने वाले की प्रतीक्षा में हैं। यह उसी समय की हमारी धारणा है जो ज्यों की त्यों याद है।

लौटकर एक तरफ तो हम विस्तृत रिपोर्ट की तैयारी में लगे। दूसरी ओर राजा अमावाँ को एक पत्र लिखा। वह मसूरी गये थे। वहीं पत्र भेजा। पत्र और उसके उत्तर दोनों ही सुरक्षित हैं। कई वर्षों के बाद जब एक दिन अकस्मात् वह पत्र मुझे मिल गया और मैंने पढ़ा तो मुझे अपार आश्चर्य हुआ। मैंने सोचा कि मैं वही हूँ या दूसरा, मैं बदल गया या दुनिया ही बदली। पत्र की भाषा और बातें ऐसी हैं कि आज मुझे उसे पढ़ने में शर्म आती है और यदि उसे कोई आज का साथी, जो प्रगतिशील विचार वाला है, देखे तो मुझे पक्के दकियानूसी के सिवाय दूसरा समझ सकता ही नहीं। फलतः या तो मुझ पर और मेरी बातों पर आज सहसा विश्वास ही न करेगा, या यह मानेगा कि यह स्वामी सहजानन्द सरस्वती कोई और है, न कि उस पत्र का लेखक। फिर भी बात ऐसी नहीं है।

असल में उन दिनों मेरे विचार वैसे ही थे। मैं ईमानदारी से मानता था कि जमींदारों को समझाकर तथा उनसे मिल-मिलाकर किसानों के कष्ट दूर किये जा सकते हैं। उसके आगे न तो मैंने कुछ जाना था और न सोचा ही था। इसी भाव से मैंने राजा सूर्यपुरा से भी समझौते की कोशिशें की थीं। पर विफल रहा। इसी भाव से एक बार मैंने राजा अमावाँ को पहले भी समझाया था कि बेगार और दूध-दही वगैरह वसूलना बन्द करें। वे ऐसा न करें कि उनके ग्वाले (यादव) किसान अपने को अपमानित समझें। मेरे पास बिहार शरीफ की एक शिकायत यादव-सभा के मन्त्री ने लिखी थी कि राजा अमावाँ के अमले यादवों के स्त्री-पुरुषों के सिर पर दही की हँड़ियाँ रखवा कर उन्हें दही पहुँचाने को बुलाते हैं। यह आत्मसम्मान के खिलाफ है।

उसी भाव से मैंने सन् 1933 के उत्तरार्ध में मसूरी पत्र भी लिखा कि मेरे सामने अँधेरा है कि क्या करूँ, कोई रास्ता नहीं सूझता कि किसानों के कष्ट कैसे दूर करूँ। मेरा खयाल है कि सारी बातें जानकर आपका दिल अवश्य द्रवीभूत होगा और उनके

कष्ट आप दूर कर देंगे। आपके यहाँ से निराश होने पर ही दूसरा उपाय ढूँढ़ूँगा जो अभी तो कतई नजर आता ही नहीं। भला इससे ज्यादा दकियानूसीपन और क्या चाहिए? लेकिन यह ठीक है। मैंने अपने हृदय के सच्चे भाव लिखे थे। क्योंकि 'मन में आन और मुख में आन' वाली बात मैंने आज तक जानी ही नहीं। पर इसका परिणाम क्या हुआ सो तो आज सबों के सामने ही है।

राजा अमावाँ का उत्तर लेकर उनके प्राइवेट सेक्रेटरी और मेरे पुराने परिचित पं॰ रामबहादुर शर्मा एम. ए. आये। राजा साहब भी तो पुराने परिचित ही थे। शायद इसीलिए ऐसा हुआ। उन्होंने अपने पत्र में साफ लिखा भी कि मैं आपको पहले से ही जानता हूँ। इसलिए आपकी बात में मुझे विश्वास है, अधिक विश्वास दिलाने की जरूरत नहीं, जैसा कि पत्र के द्वारा आपने किया है आदि-आदि। मगर उन्होंने पूरी रिपोर्ट की एक प्रति माँगी ताकि अपने ऑफिस में भेज कर सारी बातों की जाँच पहले से करवा लें और अफसरों एवं अमलों से कैफियत पूछ लें। उन्होंने यह भी लिखा कि इस बीच में यह करके सितम्बर में पटने में आपसे मुलाकात तथा बातें करूँगा।

आखिर, हमें रिपार्ट की दो प्रतियाँ लिखनी पड़ीं। बहुत बड़ी चीज थी। मगर करते क्या? जल्द-से-जल्द एक प्रति उनके पास भेजी गयी। उसके बाद सितम्बर में जब वे पटने लौटे तो चौधरी टोले वाले टेकारी के मकान में ठहरे। वहीं मिलने के लिए मेरे पास सन्देश गया। मैं गया और पूरे साढ़े तीन घण्टे तक बातें होती रहीं। मगर नतीजा कुछ न निकला। बातचीत के समय उनके मैनेजर बाबू केदारनाथ सिंह भी मौजूद थे। राजा साहब की अजीब हालत थी। कभी तो इलजामों को मानते और कहते कि हो सकता है ऐसा होता हो और कभी कहते कि इतना बड़ा इन्तजाम है। इसमें स्थायी नौकरों पर विश्वास करना ही पड़ता है। उसके बिना काम चल नहीं सकता।

मैंने जो कुछ आरोप लगाये थे वह तो मौके पर जा के देखने के बाद ही। मैंने यह भी कहा कि अगर कभी-कभी अचानक किसी मौके पर आप खुद पहुँच जायें और किसान को एकान्त में बुलाकर उसके सुख-दुःख पूछें तो बहुत कुछ पता लग जाय कि मेरी बातें सही हैं या नहीं। इससे यह भी होगा कि आपके अमले थर्राते रहेंगे। मैंने फिर कहा कि यदि किसानों का विश्वास अपने ऊपर लाना या कायम रखना है तो मजिस्ट्रेट वगैरह के कहने से दस-बीस हजार रुपये अस्पताल में देने की अपेक्षा, अपनी जमींदारी के गाँवों में हैजे आदि के समय दस ही पाँच रुपये की दवा किसानों में अपनी ओर से बँटवाइये और उसका असर देखिये। बातें तो ठीक थीं और थीं उन्हीं के काम की। मगर इन्हें स्वीकार करना उनके लिए असम्भव था।

मैंने कहा, आपके जो नौकरान दस-बीव रुपये महीना पाते हैं जरा उनका ठाटबाट

देखें। वह तो सैकड़ों कमाने वालों को मात करता है। फिर ये रुपये आते कहाँ से हैं यदि वे जुल्म नहीं करते? उनके पास इसका उत्तर क्या था, सिवाय मौन हो जाने के? मैंने फिर कहा, जमींदारी आपकी खराब होगी या बिक जायगी। इसमें नौकरों की क्या हानि है? वह तो उसी के यहाँ नौकरी करेंगे जो आपकी जमींदारी खरीदेगा। इसलिए उसकी फिक्र आप नहीं करें, और उस नौकर से उमीद करें यह तो आपकी भूल है। मगर वे चुपचाप सुनते रहे।

फिर मैनेजर साहब ने कोशिश की कि सारा प्रबन्ध दूध का धोया सिद्ध करें और यह बतायें कि मैं ही भ्रम में हूँ। इसलिए उनने बहुत भूमिका बाँधी। अन्त में कहा कि आप दूसरे दिन फिर बातें करें तो मैं कागज वगैरह लाकर अपना पक्ष साबित करूँगा और आपको विश्वास दिलाऊँगा, "I shall convince you" कि कोई गड़बड़ी नहीं है। मैंने उत्तर दिया कि जो बातें आँखों देख आया, उन्हें सोलहों आना गलत और भ्रम मान लूँ, यह तो अजीब बात है! यह दूसरी बात है कि सौ इलजामों में दस-पाँच या दो-चार को भी आप सही मान लें तो आगे बातें कर सकता हूँ। मगर सभी गलत मान कर बातें करने की उम्मीद मुझसे आप करें, या चाहें कि मुझे विश्वास दिलायेंगे, यह ठीक नहीं। मैं ऐसी बात के लिए तैयार नहीं। यकीन रखिये, आपके द्वारा ऐसे यकीन को प्राप्त करने के लिए मैं हर्गिज तैयार नहीं, "I am not going to be convinced by you" ऐसी दशा में और बातें करना बेकार है। यही कह के मैं चला आया और फिर कभी आज तक उन लोगों से मिला ही नहीं।

मुझे आश्चर्य हुआ कि ये लोग कितने बेशर्म और पक्के हैं। जरा भी टस से मस होने को तैयार नहीं। उलटा मुझे ही बेवकूफ बनाने की कोशिश कर रहे थे! मगर मेरी आँखों का तो पर्दा ही खुल गया। सारी आशाओं पर पानी फिर गया। मुझे साफ दीखा कि ये लोग लाइलाज मर्ज में फँसे हैं। अब समझौते से शायद काम न चलेगा। उसकी कोई आशा ही नहीं। अब तो कोई दूसरा रास्ता सोचना ही पड़ेगा। मुझे ताज्जुब हुआ कि मैंने किस भाव से और किन शब्दों में उन्हें लिखा था और उसका नतीजा क्या हुआ! असल में मुझे यही अनुभव हुआ है कि जो लोग इन्हें दबायें उनके सामने तो ये झुकते हैं। मगर जो दोस्ताना ढंग से इनसे बातें करके इन्हें समझाना और मनाना चाहें उन्हें उलटे ये लोग उल्लू बनाने की कोशिशें करते हैं। ऐसे मौके अनेक मिले हैं, जिनसे मेरी यह धारणा हुई है। खैर, उस बातचीत के बाद पहला काम मैंने यह किया कि उस रिपोर्ट की सभी प्रमुख बातें लेकर 'गया के किसानों की करुण कहानी' लिखी और फौरन छपवा डाली।

(14)

आन्दोलन, टेनेन्सी बिल आदि

सन् 1933 ई. के बीतने के पहले कई बातें हुईं। एक तो हमने ऐसा घोर आन्दोलन किया कि जमींदार और सरकार दोनों ही को घबराहट हुई। उनके मददगार नामधारी नेता कुछ न कर सके। कई जगह उनकी मीटिंगें हो न सकीं। खुल के किसी सभा में वे लोग अपना समर्थन कर न सके।

दरभंगा जिले के फूलपरास (थाने) में एक विचित्र घटना हो गयी जिसने श्री शिवशंकर झा और उनके दोस्तों को निराश कर दिया। जाड़े के दिन थे। दरभंगा जिले में मेरा दौरा था। कमतौल की मीटिंग के बाद अगली मीटिंग फूलपरास में थी। उसी दिन रात को ट्रेन से मुझे पटना लौटना भी जरूरी था। क्योंकि अगले दिन देहात में वहाँ सभा थी।

प्रोग्राम के मामले में मैं इतना पक्का रहता हूँ कि मर-जी के चाहे जैसे हो उसे पूरा करता ही हूँ। मैंने किसानों और कार्यकर्त्ताओं को कह रखा है कि जो मीटिंग मैं ठीक करूँगा उसमें या तो जिन्दा पहुँचूँगा, नहीं तो, मेरी लाश तो जरूर ही पहुँचेगी! इसीलिए चाहे देर भले ही हो, मगर उन्हें सर्वत्र विश्वास रहता है कि मैं जरूर पहुँचूँगा। आज तक मैं ऐसी एक भी मीटिंग में पहुँचे बिना न रहा।

इसीलिए फूलपरास भी जाना जरूरी था और पटना पहुँचना भी, मगर बिना मोटर के उस दिन समय पर रेल पकड़ना असम्भव था। सवा सौ माईल की दौड़ लगा के समस्तीपुर गाड़ी पकड़नी थी। मोटर का प्रबन्ध पहले था नहीं। फूलपरास जाने की इसी से आशा भी न थी। मगर मैं तो संकल्प किये बैठा था। खैर, पं. यमुना कार्यी के दोस्त एक मुसलमान सज्जन ने अचानक मोटर दी और कमतौल से लहेरियासराय आ के पेट्रोल लिया गया। फिर हम लोग फूलपरास चले। मैं था और कार्यी जी। वह तो शुरू से लेकर आज तक मेरे साथी रहे हैं। किसान-सभा में अभी तक वे मेरे सबसे पुराने साथी हैं।

आगे जाने पर जहाँ मधुवनी वाली सड़क हमारी सड़क में मिली वहीं एक मोटर मधुवनी की ओर से आकर आगे चली गयी। हमने सोचा, कौन है। पीछे अन्दाज लगा कि बाबू शिवशंकर झा शायद उसी सभा में अपने पक्ष के समर्थन में जा रहे हैं। फूलपरास के निकट जाने पर तो ठीक ही हो गया कि अपने मित्र श्री कपिलेश्वर शास्त्री के साथ विजय का सेहरा अपने माथे बाँधने झा जी आये हैं। उन्हें शास्त्री ने कहा था कि वह मेरा इलाका है और वहाँ मैथिली ही अधिकांश बसते हैं। इसलिए आज स्वामी जी को जरूर पछाड़ा जाय। लोग खामख्वाह हमारी बात मान लेंगे। हमें भी कुछ घबराहट हुई कि यह अचानक हमला हुआ। खैर, डाकबँगले में जाकर ठहरे। सभा में काफी भीड़ हुई। हम खाने-पीने में लगे। मगर कार्यी जी से कहा कि सभा

में पहले ही चलना चाहिए। नहीं तो कहीं, वही उस पर दखल जमा ले तो बुरा होगा। मगर जब तक हम लोग वहाँ जाने ही को थे तभी तक श्री शिवशंकर झा और उनके दोस्त जाकर जम गये और अपने ही एक मित्र को सभापति भी चटपट बना लिया! हम तो बुरी तरह छके। यद्यपि हमने सभा बुलाई थी, इसलिए उन्हें ऐसा करना उचित न था। मगर वह तो युद्ध करके विजयी बनने आये थे और युद्ध में औचित्य की क्या बात? वहाँ तो घात लगने की ही बात असल है और घात उन्होंने लगा ही लिया। खैर, खबर पा के हम लोग भी फौरन जा पहुँचे।

अजीब परिस्थिति थी। हम दोनों ही आमने-सामने डँटे थे। मगर सभा पर उनका दखल था। सभापति उनके अपने थे। बात उठी कि पहले कौन बोलेगा। मैं चुप रहा। झा ने कहा कि पहले स्वामी जी ही बोलें। वह समझते थे कि पीछे वह बोलेंगे और मेरी बातों को काट छाँटकर परिस्थिति अपने अनुकूल बना लेंगे। मैं भीतर ही भीतर खुश हुआ। मगर कार्यी जी कुछ बोलना चाहते थे कि पहले झा ही बोलें। मैंने उन्हें धीरे से रोक दिया। अन्त में सभापति ने तय कर दिया कि पहले स्वामी जी ही अपनी बात कहें। मैंने देखा कि अब तो सभापति की आज्ञा हो जाने पर यह बात टलेगी नहीं। तब मैंने कहा कि मैं आपकी आज्ञा मानूँगा। मगर जो पहले बोलता और प्रस्ताव लाता है उसे पीछे उत्तर देने का हक होता है। झा और उनके दोस्त चौंके। मगर करते क्या? अन्त में मानना ही पड़ा कि पीछे मैं उत्तर दूँगा।

इसके बाद मैंने लोगों को सारी चीजें समझाईं। खास तौर से बकास्त और जिरात तथा सर्टिफिकेट वाली धाराओं के खतरे लोगों के सामने रखे। जिस तरीके से यह समझौता किया गया उसकी भी पोल खोली और बताया कि अगर आज यह समझौता किसानों के पूरे फायदे का हो तब भी इसे मानना भूल होगी। किसानों की पीठ के पीछे फिर कभी ऐसे ही समझौते के द्वारा ये सभी चीजें छीनी जा सकती हैं और किसानों का गला काटा जा सकता है। तब हमें बोलने का मुँह न रहेगा। क्योंकि 'मीठा-मीठा गप्प, कड़वा-कड़वा थू' कर नहीं सकते। फिर झा जी बोलने उठे तो उन्हें कुछ उत्तर तो देना था। कुछ बेसिर-पैर की बातें बोलने के बाद लोगों को अपने पक्ष में लाने के लिए उन्हें उभाड़ने और कलह की बातें बोलने लगे। मुझे ताज्जुब हुआ जब उन्होंने खुदकास्त और बकाश्त को दो चीजें माना और वकील होकर ऐसी मोटी गलती की। मैंने टोका भी। मगर कुछ बेशर्मों की सी बात करते रहे।

इसके बाद जब मैं उत्तर देने उठा तो सभापति से कहलवाया कि पाँच मिनट से ज्यादा वक्त न लें, खैर, मैंने मान लिया और इस प्रकार कहना शुरू किया कि किसानों के दिल में बातें धँस गयीं। पाँच मिनट होने पर जब सभापति ने इशारा किया कि समय हो गया तो श्रोताओं ने तूफान किया कि और बोलिए, और बोलिए। सभापति जी मजबूर हो गये और मेरी धारा चली। जब कुछ देर के बाद फिर रोकना चाहा तो सभी लोग उन्हीं पर बिगड़ गये। नतीजा हुआ कि सभापति और झा जी

को तथा उनके दोस्तों को मामला बदरंग नजर आया। तब उनने सोचा कि बीच में ही उठ चलें और सभा में हुल्लड़ मचा कर उसे तोड़ दें। फलतः, वे लोग बीच में ही उठे। मगर उनके दुर्भाग्य से उनके साथ शायद ही दस-बीस लोग उठे हों। बाकी मन्त्र मुग्धवत् सुनते रहे। फिर वे बाहर जाकर अपनी मोटर से देर तक गरगराहट की आवाज निकालते रहे। लेकिन जब इतने पर भी कुछ होते न देखा तो धीरे से मोटर पर चढ़ के निकल भागे। फिर तो हमारी विजय हुई। सभा के बाद मैं भी खुशी-खुशी मोटर से भागा। क्योंकि ट्रेन पकड़नी थी बहुत दूर जाकर रात के ग्यारह बजे ठेठ समस्तीपुर में। ट्रेन पकड़ी भी।

इस सभा से दिल पर पहलेपहल जबर्दस्त असर हुआ और मुझे विश्वास हो गया कि अब ये अपढ़ और सीधे-सादे किसान ज्यादा दिनों तक ठगे नहीं जा सकते। जहाँ मैं जीवन में पहली ही बार गया और किसान-सभा की जहाँ चर्चा तक न थी, यहाँ तक कि जहाँ के लोगों से खास परिचय भी हमारा न था, वहीं बाघ अपनी माँद में पछाड़ा गया। झा जी की बातें न सुनकर किसानों ने हमारी बातें सुनीं यह घटना किसी की भी आँखें खोल सकती थीं, श्री शिवशंकर झा के दिल पर क्या गुजरी यह कौन बताये?

इसका और इस बढ़ते आन्दोलन का नतीजा यह हुआ कि वह टेनेन्सी बिल लटकता रहा। किसी की हिम्मत नहीं हुई कि वह पास किया जा सके। प्रायः दो वर्ष के बाद सिर्फ सर्टिफिकेट की धारा रख के जिरात वाली निकाल दी गयी। दूसरे भी अनेक सुधार करके तब कहीं वह सन् 1934 ई. के अन्त में कानूनी जामा पहन सका। जिरात के बारे में अन्तिम बार बिहारी जमींदार हारे और सदा के लिए हारे। युगों से इसका आन्दोलन कर रहे थे। मगर आखिर में निराश हो गये। इसी आन्दोलन का फल हुआ कि इधर आकर सर्टिफिकेट की धारा भी खत्म हो गयी। अनेक और बातें भी उसी समय हुईं। फलतः बिहार का काश्तकारी कानूनी सभी प्रान्तों से अपेक्षाकृत कहीं अच्छा है।

सन् 1933 ई. के अन्त में जेल से बाहर आने पर बाबू श्री कृष्ण सिंह ने हमारे आन्दोलन की सराहना करते हुए एक सभा में साफ कह दिया कि "प्रान्त ने आन्दोलन करके बता दिया है किं वह जीवित है और सब कुछ कर सकता है।" इतना ही नहीं। युनाइटेड पार्टी को तो हमने दफना ही दिया। कुछ लोगों ने जो उसके बड़े हामी थे, थोड़े दिनों बाद ही ऐसी गर्म आहें उसके नाम पर अखबारों में भरी थीं कि दया सी आ जाय। पीछे तो हमें यह भी मालूम हुआ कि प्रान्त के दो-एक प्रसिद्ध कांग्रेसी नेताओं ने, जिनकी दोस्ती जमींदारों के साथ गहरी थी और है, इशारा भी किया था कि हाँ, इस समझौते के आधार पर बना हुआ बिल कानून बन सकता है! इसीलिए तो जमींदारों को हिम्मत थी और देर तक डटे रह के मजबूरन पीछे हटे।

उस समय एक बात और हुई। प्रान्त के एक डिक्टेटर ने जहाँ मेरी मदद शुरू

में करनी चाही थी वहाँ पीछे दूसरे डिक्टेटर श्री सत्य नारायण सिंह ने ऐसी एक नोटिस छपवा दी कि कोई कांग्रेसी कांग्रेस के सिवाय और किसी भी आन्दोलन में इस समय भाग न ले। इससे कांग्रेस और उसकी लड़ाई कमजोर होगी। इसका सीधा अर्थ था किसान आन्दोलन से रोकने का और जमींदारों की हिम्मत बढ़ाने का। इन भलेमानसों ने इतना भी न समझा कि उनकी हरकतों के करते न सिर्फ रद्दी सा कानून बन के किसानों को सतायेगा, प्रत्युत इससे युनाइटेड पार्टी सदा के लिए मजबूत होकर कांग्रेस की जड़ खोदेगी। यदि इसे राजनीतिक दिवालियापन कहें तो?

(15)

प्रथम प्रान्तीय किसान कॉन्फ्रेंस और बाद

आगे बढ़ने के पूर्व पहली बिहार प्रान्तीय किसान कॉन्फ्रेंस की बात कह देना जरूरी है। वह सन् 1933 ई. की बरसात में बिहटा में ही हुई। मैं ही उसका सभापति था। उसमें बाबू सुधाकर प्रसाद सिंह, मुजफ्फरपुर ने मेरी बहुत सहायता की। हालाँकि वे रायबहादुर श्यामनन्दन सहाय के पक्के दोस्त थे और सहाय जी नये टेनेन्सी बिल और युनाइटेड पार्टी के असली स्तम्भ थे। एक तो हमारी सभा की प्रारम्भिक दशा थी। दूसरे कांग्रेस के भीतर और बाहर जो स्वार्थों का संघर्ष चल रहा था उसके फलस्वरूप भी उनने मेरी सहायता की थी और अन्त तक करते रहे। हालाँकि शीघ्र ही उनका देहान्त हो गया। वे कॉन्फ्रेंस में शामिल भी हुए। मगर दूसरे ऐसे लोग भी शामिल थे जो किसानों के कागजी लीडर कभी बन चुके थे और उस समय भी दावा करते थे। बहुत बड़ी रुकावट और बाधा की परवाह न करके सुधाकर बाबू आये थे। एक ही दिन में कॉन्फ्रेंस का काम पूरा हुआ। आश्रम के पास ही श्री नारायण साहु के गोले में वह हुई थी।

हमने पीछे अनुभव किया कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और कौंसिल की मेम्बरी में मदद मिलने के खयाल से ही कितने लोग हमारी सभा में उस समय मिले थे। दलबन्दी और किसी जमींदार के साथ लड़ाई हो जाने पर उसे बदनाम करने और बदला चुकाने के लिए भी कुछ शामिल हुए। यह भी देखा कि कांग्रेस के लीडरों ने टेनेन्सी बिल का सवाल हल हो जाने पर लोगों को किसान-सभा से यह कह के रोका और उसका विरोध किया कि वह तो सिर्फ टेनेन्सी बिल के विरोध के लिए बनी थी अब उसकी जरूरत ही क्या है?

इधर निरा यह रवैया था कि आगे बढ़ते जाना। लेकिन उसी के साथ प्रान्त के ख्यातनामा नेताओं से कोई भी विरोध न होने देना। मेरी बराबर कोशिश थी कि सभा के बारे में उन लोगों के दिल में कोई बदगुमानी कभी होने न पाये। इसीलिए

कभी एक शब्द भी ऐसा न बोला और न भरसक बोलने दिया जिससे वे लोग खुलम-खुल्ला चिहुँक जायँ। क्योंकि मैं जानता था कि कुछ लीडर ऐसे हैं जो शुरू से ही इसे नहीं चाहते। ऐसी हालत में अगर उन्हें जरा भी मौका मिला तो तूफान खड़ा करके हमें आगे बढ़ने न देंगे इसीलिए ऐसे कामों और शब्दों से उनका हाथ अनजान में ही सही मजबूत करने के बजाय हमें ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि मुँह खोलने का मौका ही उन्हें न मिले। फलतः वे इक्के-दुक्के ही रह जायँ। अपने साथी बढ़ा न सकें। मुझे आनन्द है कि इस काम में मुझे पूरी सफलता मिली और वे लोग विरोध करने के लिए तब खड़े हुए जब किसान-सभा काफी मजबूत हो चुकी थी।

सन् 1934-35 में ऐसे भी मौके आये जब मेरे साथियों ने जमींदारी मिटाने के प्रस्ताव किसान कौंसिल और किसान सम्मेलन में कई बार पेश किये। मगर मैंने सख्त विरोध किया और वे गिर गये। लेकिन एक बार तो जवानों ने जोश में आकर किसान कौंसिल में सन् 1934 ई. में पास भी कर दिया बहुमत से एक प्रस्ताव। तब मैंने कहा कि सभापतित्व से मेरा इस्तीफा ले लीजिये। मैं मेम्बर रहूँगा सही। मगर इस प्रस्ताव पर अमल करने की जिम्मेदारी नहीं ले सकता। इसके बाद फिर उन लोगों ने मेरी बात मान ली और इस प्रस्ताव को फिर से लाकर गिरा गया। मैं यह बात कह दूँ कि उन जवानों में प्रायः सभी ऐसे ही थे जो तुरन्त ही सभा में शामिल हुए थे। कुछ ने तो पहले खुद सभा की ही मुखालफत की थी कि उसकी जरूरत नहीं है और कुछ पीछे इससे न सिर्फ हटे ही, वरन् आज इसके सख्त शत्रु हैं और इसके गिराने के लिए कोई भी कुकर्म कर सकते हैं।

जेल से रिहा होने के बाद सन् 1934 ई. की जनवरी में बाबू श्री कृष्ण सिंह ने मुझसे कहा कि "स्वामी जी, किसान-सभा में हमारे भी कुछ आदमी रखियेगा या नहीं।" मैंने कहा सभा तो आपकी है। आज भी इसे आपको सुपुर्द करने को तैयार हूँ। फिर तय पाया कि इसके बारे में तथा आगे कैसे काम हो इसके सम्बन्ध में भी बातें की जायँ। मगर जरा निश्चित रूप से बैठकर इस तरह कुछ लोगों के मन में इस सभा को लेकर जो शक हैं वह दूर किये जायँ। मैं तैयार हो गया। ता. 13-1-34 को दोपहर के बाद हरिजन संघ के कार्यालय, कदमकुआँ, पटना में बातें करने का निश्चय हुआ और तय पाया कि बाबू ब्रज किशोर प्रसाद और श्री बद्रीनाथ वर्मा भी बातचीत में रहेंगे। इन्हीं लोगों को ज्यादा शक था। पहले महानुभाव ने तो शुरू में ही अपना नाम किसान-सभा से हटवा लिया था।

इसी निश्चय के अनुसार 13 जनवरी को हम लोग ठीक समय पर वहीं मिले। श्री शार्ङ्गधर प्रसाद सिंह भी थे। देर तक बातें होती रहीं। उन लोगों को जो कुछ पूछना था उन्होंने पूछा और मैंने साफ-साफ उत्तर दिया। मैंने कुछ छिपाया नहीं। छिपाने की कोई बात भी तो हो। मैंने फिर कहा कि अब तक मैंने सभा चलाई और जहाँ तक बन पड़ा उसे मजबूत किया। आप लोग तो जेल में थे। इसीलिए मुझ

से जो हो सका किया। मगर अब बाहर आ गये। लीजिये, आज ही इसे आपको सौंपता हूँ। खुद थोड़ा विश्राम करने जाता हूँ। क्योंकि बहुत हैरान हुआ हूँ। लेकिन इस काम में सदा साथ दूँगा।

इस पर श्री बाबू आदि ने कहा कि नहीं, नहीं, सभा की जिम्मेदारी तो आप ही के ऊपर रहेगी। हाँ, हम लोग और हमारे आदमी भी उसमें रहेंगे। इसके बाद कुछ काम की बातें और एक वक्तव्य निकालने का निश्चय हुआ, ताकि काम तेज हो और मुझसे कहा गया कि ये सभी बातें और वक्तव्य लिख कर हम लोगों के पास शीघ्र भेज दें। फिर मैं बिहटा चला गया।

सन् 1934 ई. की पन्द्रहवीं जनवरी कभी भूलने की नहीं। उसी दिन दोपहर को बिहार में ऐसा भूकम्प आया कि 'न भूतो न भविष्यति' मैंने ठीक उसी दिन भूकम्प से पहले उन लोगों के कहने के मुताबिक सारी बातों को और वक्तव्य को भी लिखा था। आश्रम के मकान में बैठ कर उसी पत्र के लिफाफे पर गोंद लगा के चिपका ही रहा था जिसमें यह बातें लिख कर भेजी जाने को थीं, कि एकाएक धरती हिल गयी और मैं बाहर भाग आया। वह चिट्ठी तो खटाई में ही पड़ी रह गयी और एक दूसरा ही तूफान सामने आ गया। अब चिट्ठी की परवाह किसे थी? नहीं कह सकता उस वक्तव्य और पत्र का हमारी सभा पर क्या असर पड़ता। वक्तव्य तो प्रेस में जाने वाला था, सो भी सबों की राय से और सबों की ओर से। उसमें यह दैवी बाधा आ गयी। फलतः, वह रुका ही रह गया। सभा में एक नया कदम बढ़ रहा था। शायद आगे इसका परिणाम अच्छा न होता। इसीलिए यह विघ्न आया, या क्या बात थी कौन बताये?

मेरी इस नीति का सबसे बड़ा नतीजा यह हुआ कि भूकम्प के बाद जब पटने की पीली कोठी में रिलीफ कमिटी का ऑफिस था तो महाराजा दरभंगा ने चाहा कि श्री राजेन्द्र बाबू से बातें करके टेनेन्सी बिल का प्रश्न ऊपर ही ऊपर हल कर लें और किसान-सभा ताकती ही रह जाय। वह बातचीत हुई भी। मगर राजेन्द्र बाबू ने महाराजा और जमींदारों से कहा कि मैं किसान-सभा के नेताओं से बातें करके ही आपको कोई जवाब दे सकता हूँ कि क्या हो क्या न हो। उन्होंने हम लोगों से खास तौर से बातें की भी। अन्त में हमारा दृष्टिकोण जानकर उन्होंने इस झमेले में पड़ने से इनकार करते हुए महाराजा को जो पत्र इसके सम्बन्ध में लिखा था उसमें और बातों के सिवाय यह साफ ही लिखा था कि "असल कठिनाई इस झमेले के सुलझाने में यह है कि आप लोग बिहार प्रान्तीय किसान-सभा के संचालकों को किसानों का प्रतिनिधित्व करने वाले मानने को तैयार नहीं!" यह पत्र अखबारों में उसी समय निकला था। राजेन्द्र बाबू उसी के बाद सन् 1934 ई. में ही कांग्रेस के सभापति चुने गये थे। इस प्रकार उनके द्वारा हमारी सभा के बारे में यह कहा जाना हमारी बड़ी भारी नैतिक जीत थी।

(16)

गांधी जी से बातें—मैं गांधी जी से अलग

हाँ, तो भूकम्प के बाद तो सारी बातें भूल गयीं। हम सभी जनता को मदद देने में लग गये। मैं चटपट चारों ओर दौड़ गया। उत्तर बिहार में जो भयंकर दुर्दशा थी उसका पता देहातों में जाकर लगाया। कुछ पैसे भी बिहटा के इलाके से वसूले। जगह-जगह सहायता भी पहुँचाता रहा। चीनी की मिलों के खराब हो जाने से किसानों की ऊख जो खेतों में पड़ी रह गयी। उसका गुड़ बने इसके लिए अच्छी और सस्ती कलें बनवाने का काम बिहटा में श्री भत्तू मिस्त्री के द्वारा मैंने ही बिहार रिलीफ कमिटी की ओर से शुरू किया और कलें उत्तर बिहार में पहुँचाई गयीं।

भूकम्प के बाद मुझे ऐसे मौके मिले जब निराश्रय गरीबों को देहातों में सहायता देने के समय कुछ जमींदार ऐसा कहते पाये गये कि यदि इन्हें खाना मिल जायगा तो ये हमारा काम न करेंगे! उनका मतलब था नाममात्र को कुछ देकर सारे दिन उन्हें खटाने से और भूकम्प ने उन्हें इसका अच्छा मौका दिया था! सिर्फ हमीं लोग इन निराश्रयों को सहायता देकर इन बाबुओं के इस रास्ते में बाधक हो रहे थे!

मैंने देखा कि लाखों किसान बर्बाद हैं। उनके झोंपड़े और घर गिर गये हैं। घरों में पड़ा थोड़ा-बहुत अन्न जमीन की दरारों में घुस गया है। खेतों में बालू आने से वे खराब हो गये हैं। खलिहान में ही पड़ा गल्ला जमीन में धँस गया है और खेत में ही खड़ा बालू के नीचे चौपट है। वे दाने-दाने को मुहताज हैं। फिर जमींदारों के द्वारा बेमुरव्वती से लगान की वसूली बची-बचाई लोटा-थाली, बकरी, मवेशी आदि बेचवाकर और कर्ज लिवाकर जैसे हो जारी है। यहाँ तक कि रिलीफ कमिटी से या सरकार के द्वारा खेतों से बालू हटाने के लिए जो भी पैसे किसानों को मिलते हैं वह फौरन ही उसी जगह जमींदारों के अमलों द्वारा छीने जा रहे हैं। मैंने एक जमींदार का ऐसा ही हुक्मनामा पकड़कर उसे अखबारों में छपवा दिया भी था। उसमें उसने अपने अमलों को लिखा था कि रिलीफ या बालू वाले कर्ज के मिलने पर किसानों से लगान वसूली का अच्छा मौका है। उसे हर्गिज गँवाया न जाय। झोंपड़ों को फिर से छाने के लिए लकड़ी, बाँस, फूस आदि किसानों को जमींदार लेने न देते थे। रोक देते थे। इसके लिए हमें बड़ा हो-हल्ला मचाना पड़ा।

इन सब बातों को देखकर मेरे दिल में खयाल आया कि एक ओर तो दो-चार, दस-बीस या कुछ ज्यादे रुपये से हम किसानों को सहायता देते हैं। दूसरी ओर जमींदार उनकी जमीनें और पशु आदि धड़ाधड़ नीलाम करवा रहे हैं। सहायता के पैसे भी तो छीन ही लेते हैं। इसलिए यह तो धोखा है। फलतः जब तक हम किसानों की सभायें जगह-जगह करके धूम न मचायें तब तक उनकी खैरियत नहीं। हम देख ही चुके थे कि आन्दोलन से ही वे लोग दबते हैं। मगर दिक्कत यह थी कि सभी लोग

रिलीफ के काम में फँसे थे। फिर सभाएँ कौन करे? इसलिए सोचा कि रिलीफ के कार्यकर्त्ताओं से ही इस काम में मदद ली जाय तभी ठीक होगा। मगर इसमें नेताओं की मंजूरी चाहिए और राजेन्द्र बाबू ने साफ कहा कि गांधी जी की आज्ञा के बिना यह हो नहीं सकता। इसलिए मैंने तय किया कि गांधी जी से ही बातें करके हुक्म ले लूँ। वे तो दरिद्रनारायण के सेवक ठहरे ही। अतः यह आज्ञा सहर्ष देंगे। बात करने की तारीख और समय भी ठीक हो गये। वह पटने में ही बिहार रिलीफ कमिटी के ऑफिस, पीलीकोठी में ही उस समय ठहरे थे।

आखिर, बातें हुईं और मुझे भयंकर निराशा हुई। जब मैंने सारी बातें उनसे कह सुनाईं तो बोले कि आर्डिनेन्स के करते मीटिंगें नहीं हो सकती हैं। उन्हें यह पता क्या था कि हमने गत दो वर्षों में मीटिंगों के द्वारा जमींदारों के नाकों दम कर दिया था! मैंने कहा कि हम करेंगे और सरकार रोकेगी तो देखेंगे। फिर बोले, चुपके से नहीं करना होगा, किन्तु नोटिसें बाँट के। मैंने कहा, जी हाँ, नोटिसें जरूर बँटेंगी और खूब बँटेंगी। तब कहने लगे कि सच्ची शिकायतें ही सामने लाई जायें। मैंने उत्तर दिया कि झूठी क्यों लायेंगे? सच्ची ही इतनी ज्यादा हैं कि सबको ऊपर कर नहीं सकते। कहने लगे, लेकिन हरेक शिकायत की खूब जाँच हो ले। तब कुछ कहा जाय। मैंने कहा, कार्यकर्त्ता जाँचकर बतायेंगे। तब कहने लगे कि वह गलती कर सकते हैं। मैंने इस पर साफ कह दिया कि लाखों-करोड़ों शिकायतें हैं। अगर सत्य की ऐसी फिक्र में हम पड़ें कि खुद जाँचें तो असम्भव है। ऐसी दशा में किसानों को फायदा पहुँचा नहीं सकते। फलतः, कार्यकर्त्ताओं पर तो विश्वास करना ही होगा।

फिर उन्होंने कहा कि ये शिकायतें यदि महाराजा दरभंगा को मालूम हो जायँ तो (क्योंकि मैंने उनका ही नाम लिया था) मुझे विश्वास है, वे जरूर इन्हें दूर करेंगे। श्री गिरीन्द्रमोहन मिश्र उनके मैनेजर हैं। वे कांग्रेसी हैं। मैंने कहा, देखूँगा। मैं तो चाहता ही हूँ कि वह दूर कर दें। फिर कह उठे कि गोल-मोल बातें न करके किस किसान को क्या कष्ट है यह नाम-ब-नाम बताना होगा। इस पर मैंने कह दिया कि मैं हर्गिज ऐसा कर नहीं सकता। क्योंकि दो-चार किसानों के नाम मिलते ही वह उनके कष्ट तो क्या दूर करेंगे, उलटे उन्हें ऐसा दबायेंगे कि फिर कोई किसान शिकायतों का नाम भी न लेगा। मैं जमींदारों के हथकण्डे और तरीके खूब जानता हूँ। बस, बात यहीं पर खत्म हो गयी।

इस वार्तालाप से मुझे बड़ा धक्का लगा! इससे मेरी आँखें खुल गईं। उनके "जमींदार किसानों के कष्ट दूर करेंगे। उनके मैनेजर कांग्रेसी हैं। इसलिए कष्टों को जरूर हटा देंगे," इत्यादि बातों से पता चला कि जमींदारी मशीनरी कैसे काम करती है इसका पता उन्हें कतई नहीं था! किसानों को वह कैसे रौंदती है वह जानते तक न थे। कांग्रेसी होकर क्या कोई मशीन को बदल देगा? वह तो उसका एक पुर्जा बनेगा, यह मोटी बात भी वह समझते न थे। हमने तो हजारों कांग्रेसियों को किसानों

को बर्बाद करते देखा। मगर उन्हें यह मालूम ही नहीं। सत्य की फिक्र उन्हें इतनी कि उसके करते काम असम्भव हो जाने का उन्हें खयाल तक नहीं। यदि जमींदार या उनके नौकर शिकायत करने वालों का सुराग पा जायँ तो उन पर झपट पड़ते हैं, यह मामूली बात भी वे नहीं जानते थे। जो किसानों को निर्दयता के साथ आज भी लूटता है और उन्हें भूखों मार के अपनी मोटर दौड़ाता है वही उनके दुख दूर करेगा, यह उनकी धारणा मुझे आश्चर्यचकित करने वाली थी। मेरे दिल ने पुकारा कि क्या यही दरिद्रनारायण के सेवक हैं?

मेरी धारणा हो गयी कि ये चीजें गांधी जी जरा भी नहीं जानते, हालाँकि, जानकारी की बातें बहुत करते हैं। उस दिन की बात के बाद उन पर मेरी अश्रद्धा हो गयी और उसी दिन से मैं सदा के लिए उनसे अलग हो गया। उस भूकम्प के बाद ही यह दूसरा मानसिक भूकम्प मुझमें हुआ। एक धक्का तो मुसलिम नेताओं के सम्बन्ध के पत्र के उनके उत्तर से लग ही चुका था। यह दूसरा और आखिरी धक्का था। पीछे पता लगा कि मधुबनी में जाने पर एक सभा में लोगों ने उनसे जब जमींदार महाराजा दरभंगा के अत्याचार की बात कही तो वही उत्तर उन्होंने दिया जो मुझे दिया था। खैर, अच्छा ही हुआ। प्रायः चौदह वर्षों की बनी-बनाई गांधी भक्ति आज खत्म हुई।

(17)

जीवन की तीन घटनाएँ

जमींदारों की लूट और गांधी जी के सत्य की पुकार के प्रसंग में मैं यहाँ अपने जीवन की तीन महत्त्वपूर्ण घटनाएँ लिख देना चाहता हूँ जिन्होंने मेरे हृदय पर अमिट छाप डाली, बहुत अंशों में मेरे जीवन को पलटा, और मुझे उग्रपन्थी बनाया। पहली घटना सन् 1917 ई. की है, जब मैं गाजीपुर जिले के विश्वम्भरपुर गाँव में रहता था। वहाँ सुखी जमींदार रहते हैं। उनके मौजे मोरा में जो 3-4 मील पर है, मैंने जाड़ों में एक हलवाहे को मरा देखा। 60-70 साल का रहा होगा। टूटी झोंपड़ी में जमीन पर पड़ा था। इनफ्लुएंजा से मौत हुई थी। यह बीमारी और जाड़े का दिन। मगर कमर में सिर्फ एक लँगोटी थी! ओढ़ने को कुछ नहीं! कहीं से एक फटा बोरा मिला था। उसी में सिर और टाँगें डाल के पड़ा-पड़ा मर गया! पीठ और चूतड़ खुले ही थे! बिस्तर, चारपाई, दवा वगैरह की तो बात ही नदारद! मेरा दिल रोया। मैंने सोचा कि इसने इन 60-70 वर्षों में लाखों आदमियों की खुराक का गेहूँ, चावल, दूध, घी पैदा किया होगा और अपार धन कमाया होगा! मगर दुनिया कैसी जल्लाद और लुटेरी है कि इसने शायद ही जीवन-भर में कभी गेहूँ, घी खाया हो, अच्छा कपड़ा पहना

हो! और मरने के समय नंगा ही रह गया, सो भी जाड़े में। टूटी खाट भी नहीं। अब इसे कफन भी देने वाला कोई नहीं! यह दुनिया डूब जाय! ऐसा घोर अन्याय! यह अन्धेर! ऐसी निर्दयता! यह लूट!!

दूसरी घटना सन् 1935 ई. की है। मुंगेर जिले में चकाय थाना है, ठेठ पहाड़ों में। वहाँ से संथाल परगना और हजारीबाग जिले निकट हैं। वहाँ देहातों में काले-काले प्रायः नंगे और बिष्टी पहने पहाड़ी संथाल वगैरह रहते हैं। वहीं एक-दो दिन रहना पड़ा। शाम को देहातों में टहलने जाया करता था। जब उन नग्नप्राय गरीब और परिश्रमी किसानों को दशा की पूछताछ की तो पता चला कि पहाड़ और जंगल काट के खेत बनाते और धान उपजाते हैं। मगर कभी एक आना पैसा और कभी सेर भर चावल दे के दोई चार साल में सारे खेत बनिये लिखवा लेते हैं। फलतः वे या तो बनियों के हलवाहे बन जाते या कहीं और जाकर फिर उसी तरह खेत बनाते, जिन्हें पुनरपि बनिये ले लेते हैं। यही क्रिया सैकड़ों वर्षों से चालू है। वे इतने परिश्रमी, सच्चे और सीधे हैं! इसी से लुट जाते हैं और बराबर नंगे ही रहते हैं! मेरे दिल से आवाज आई कि इस दुनिया में सत्य और न्याय कहाँ है? अहिंसा कहाँ है? दीनबन्धु भगवान् कहाँ हैं? इनसे बढ़ के दीन कौन है? इनका सत्य तो इन्हें लुटवाता है और बनिये का जाल और छल उसे हलवा देता है। क्या भगवान्, सत्य, न्याय नाम की कोई वस्तु सचमुच है?

तीसरी घटना मुंगेर के बेगूसराय इलाके की है, सन् 1937 ई. की। मैंने रास्ते में देखा कि एक मुर्दे को टूटी खाट में सुलाये और चिथड़ा ओढ़ाये कुछ लोग गंगा की ओर लिये जा रहे हैं। उनके पास न तो मुर्दा जलाने के लिए लकड़ी है और न दूसरा ही सामान। एक मुट्ठी या मामूली सी रद्दी लकड़ी है। मेरे दिल ने पुकारा कि ओह यह जुल्म! यह लूट! यह हृदय हीनता! जिसने जीवन में धनियों तथा सत्ताधारियों के लिए भोग-विलास का सामान और लाखों के खाने के लिए गेहूँ, मलाई पैदा की उसकी ही यह दशा कि कफन तक नदारद! ऐसा तपस्वी और त्यागी कि दूध, गेहूँ पैदा करके भी स्वयं न खाया, किन्तु मदमत्तों को दिया। उन्हीं का इसके प्रति ऐसा व्यवहार! इस समाज को मिटाना होगा। यही सबसे बड़ा धर्म, सबसे बड़ी अहिंसा, सबसे बड़ा सत्य है। इन्हीं गरीबों की सेवा करते-करते मरना होगा। इन्हें छोड़ मेरे दिल में भगवान् कहाँ? मेरे भगवान् तो यही हैं!

(18)

सरकार से भिड़न्त–पहली बार 144

एक महत्त्वपूर्ण बात छूट गयी। उसका जिक्र जरूरी है। सन् 1929 के बाद जो सस्ती

शुरू हुई और उसके चलते तो बर्बादी किसानों की हुई वह वर्णनातीत है। हमने लगान घटाने का आन्दोलन तभी से जोरों से चलाया था। भूकम्प के चलते उसके लिए और भी कारण मिल गया। हमने तो भूकम्प के बाद जमींदारों की मालगुजारी में भी कमी करानी कुछ काल के लिए जरूर ही चाही। मगर उन लोगों ने, जरूरत होते हुए भी, इसका विरोध किया। क्योंकि उन्हें डर था कि यदि हमने कमी करा ली तो परमानेंट सेट्लमेंट (दमामी बन्दोबस्त) टूट जायगा और जरूरत होने से पीछे हमारी जमा सरकार बढ़ा भी सकेगी।

लेकिन किसानों के बारे में तो हमें कोई ऐसा खतरा था नहीं? साथ ही हम तो 1933 से ही इस पर जोर दे रहे थे जब भूकम्प आया था नहीं। इस पर सरकार ने कमिश्नरों की मीटिंग करके उनकी राय माँगी। मीटिंग हुई और हमने अखबारों में पढ़ा कि जब तक किसानों में बहुत ज्यादा असन्तोष 'A serious type of unrest' नहीं होता तब तक लगान घटाने का सवाल नहीं हो सकता। यह बात हमें बुरी तरह खटकी। अतएव, हमने फौरन ही सरकार को ललकारा कि हम इस भयंकर असन्तोष का प्रमाण दिये देते हैं। सन् 1933 के अगस्त में ही हमने पं॰ यदुनन्दन शर्मा वगैरह से राय करके एक नोटिस छपवाई। उसे गया जिले में बाँट कर लाखों किसानों को गया शहर में जमा होने का ऐलान किया। जहाँ तक याद है, 15 अगस्त इसके लिए नियत किया गया। हमारा यह पहला ही प्रयत्न इस तरह के जमाव के लिए था।

लेकिन जिले के कोने-कोने में बिजली दौड़ गयी और हमारे आश्चर्य की सीमा न रही। जब हमने देखा कि सचमुच लाखों किसान जमा हो गये। गया शहर की गलियों में चारों ओर किसान ही किसान नजर आते थे। गया वालों ने आश्चर्यचकित नेत्रों से देखा कि बिना पितृपक्ष के ही यह कैसी भीड़! यह कैसा निराला पितृपक्ष! लेकिन उन्हें क्या पता कि आज सरकार को किसान-सभा की शक्ति का प्रमाण दिया जा रहा है! वे जानते क्या थे कि लगान की अधिकता आदि सैकड़ों जुल्मों से कराहने वाले किसान अपनी सभा की एक पुकार पर अपने भयंकर असन्तोष का ज्वलन्त प्रमाण देने आये हैं? आश्विन का महीना था। कई दिनों से लगातार पानी पड़ रहा था। हवा भी तेज चल रही थी। जगह-जगह नदी-नाले एकाएक भर गये थे। नावें न थीं कि पार हो सकें। रेलों के लिए सरकार की मनाही से टिकट मिलते न थे! बसें और दूसरी सवारियों पर भी रोक थी कि किसानों को यहाँ ला नहीं सकते। जगह-जगह थानों में पुलिस का दल किसानों को रोकता और डरवाता था कि मत जाओ। वहाँ गोली चलेगी। गया शहर के बाहर चारों ओर पुलिस की सेना गश्त लगाकर सबों को आने से रोक रही थी। पास में वस्त्र नहीं कि पानी और हवा के संयोग से पैदा होने वाली कँपकँपी से तन को किसान बचा सकें। हजारों जगह जमींदारों के नौकर अलग ही रोकते और धमकाते थे।

फिर भी जैसे-तैसे बिना टिकट के ही रेल पर चढ़ के, पैदल, बैलगाड़ी से,

नदी नाले तैर कर सचमुच ही लाखों किसान पहुँचे। सरकार चकित और स्तब्ध थी। हमने कचहरी में जमा होने के लिए नोटिस में लिखा था। इसलिए कचहरी के चारों ओर संगीन लिये लाल पगड़ी ही नजर आती थी। हमने दूसरे दूसरे लोगों से पूछा कि कितने लोग होंगे। सबों ने साठ हजार से लेकर एक लाख तक बताया। सो भी घर बैठे नहीं। घूम के, देख के, जाँच के कहा।

पं॰ यमुना कार्यी के साथ मैं उस दिन सवेरे की ट्रेन से पटने से गया पहुँचा था। स्टेशन के पास के धर्मशाले में पहली बार ठहरा। तब से तो वहाँ सैकड़ों बार ठहरने का मौका लगा है। सरकार बेचैन थी। उसके हवास दुरुस्त न थे। डरती थी कि कहीं कचहरी और खजाना न लूट लें। उसे भय था कि यदि मैं कुछ बोला तो आफत हो जायगी। बस, सदल-बल पुलिस धर्मशाले में पहुँची और दफा 144 की नोटिस मुझे दे गयी। यह पहला ही मौका था, जब 144 का ताला लगाकर हमारा मुँह बन्द करने की कोशिश सरकार ने की।

अब हमारे सामने गम्भीर प्रश्न उठा कि क्या करें। स्वभाव के अनुसार मजिस्ट्रेट की इस हरकत से झल्लाहट हुई और चाहा कि, फौरन इस नोटिस की धज्जियाँ उड़ायें और जरूर उड़ायें। मगर दूसरी ओर देखा कि लाखों किसान जमा हैं। ऐसी हालत में इसे तोड़ने पर धर-पकड़ होगी। फिर तो किसान खामख्वाह उत्तेजित होंगे। न भी हों तो सरकार कोई बहाना लगाकर कहीं गोली चलवा दे तो? तब तो जिले भर में आतंक छा जायगा और उसका असर प्रान्त में भी फैले बिना रहेगा नहीं। सरकार इस मौके पर कुछ-न-कुछ चाल चलेगी, ताकि किसानों की बढ़ती हुई लहर दब जाय। फिर तो हमें पछताना होगा।

इस प्रकार दोनों विचारों की चक्की में मैं पिस रहा था। बड़ी बेचैनी थी। आत्म प्रतिष्ठा मजबूर कर रही थी कि दबना ठीक नहीं। जुलूस में चलो और सभा करो। नतीजा कुछ भी हो। साथियों से भी सलाह की। वह भी अजीब घपले में थे। अन्त में, बहुत सोच-विचार के बाद मैंने तय कर लिया कि आज 144 को तोड़ना भूल होगी। इसमें खतरा है। फिर जीवन भर पछताना होगा। साथियों ने भी समर्थन किया। मगर पुलिस बेचैन थी। उसका आना-जाना दौड़-धूप जारी थी।

मगर किसान किसी की सुनने वाले थोड़े ही थे। उन्होंने कचहरी में मेरी पूछताछ की। जब पता लगा कि धर्मशाले में हूँ तो कुछ देर प्रतीक्षा करके एक दल मेरे पास आया और बाहर ही से डाँटकर बोला कि हमें बुलाकर यहाँ क्यों बैठे हैं? बाहर आना, जुलूस ले चलना और सभा करना ही होगा। ठीक ही था। वह तो मेरे मालिक ही ठहरे। मेरे भगवान् ठहरे। उनकी आज्ञा तो वैसी चाहिए ही। मैं भीतर-ही-भीतर खुश हुआ कि ये किसी को भी छोड़ने वाले नहीं। देखिये, आज मेरे पर भी बिगड़ रहे हैं। ठीक है, जब तक नेता लोगों की छाती पर भी चढ़ने और उन्हें तमाचे लगाने की जरूरत होने पर ये तैयार न होंगे तब तक इनका निस्तार होगा। इसलिए उस

दिन की उनकी इस मनोवृत्ति का, इस गुस्से का मैंने हृदय से स्वागत किया और भीतर बुला कर समझाना चाहा। लेकिन यह काम आसान नहीं था। ऐसी पेचीदगी वे क्या जानने गये? बड़ी कोशिश और घण्टों की मिहनत के बाद तब कहीं कुछ लोगों को समझा पाया। फिर दूसरा, तीसरा, चौथा जत्था—एके बाद दीगरे आता ही रहा। अन्त में सबों ने समझा। इसलिए मुझे छोड़ बाकी लोग जुलूस एवं मीटिंग में गये और सब काम किया। मैं क्यों न आया यह भी उनने ही सबों को समझाया। इस प्रकार वह रैली, वह पहला जमाव सफल हुआ और सरकार को तमाचे लगे।

लेकिन मैंने जो इस बार 144 धारा को मान लिया इससे जमींदारों की, मजिस्ट्रेट की और पुलिस की हिम्मत बढ़ गयी। फलतः, सन् 1934 ई. में और 1935 में कुछ समय तक—सब मिलाकर प्रायः 2 वर्ष तक—गया जिले में मेरी मीटिंगें उनने असम्भव कर दीं। जभी ऐसा हो, तभी 144 का ताला लग जाय और मैं चुप रह जाऊँ। एक बार तो यहाँ तक कर दिया कि न तो मैं जहानाबाद के इलाके में गया ही और न मेरा प्रोग्राम ही बना। फिर भी वह धारा लगायी गयी। पढ़ के क्रोध और ताज्जुब हुआ। सरकार की नादानी पर हँसी भी आयी।

जमींदार लोगों को तो अब खासा बहाना ही मिल गया कि स्वामी जी तो यहाँ अब आने ही न पायेंगे। आखिरी नोटिस सन् 1934 ई. के अन्त में अरवल में हुई, जब एक बड़ी सभा में वहीं भाषण देने के लिए बिहटा से ही नहर के रास्ते मोटर से आ रहा था। एकाएक अरवल से पहले ही पुलिस ने मोटर रोक के नोटिस तामिल की। फलतः, वहाँ की सभा का सभापतित्व कर न सका। जाकर चुपचाप बैठा रहा। मगर मैंने तय कर लियां कि इसके बाद अब न मानूँगा। और अगर फिर नोटिस हुई तो उसे जरूर तोड़ूँगा। इसीलिए कुछ दिनों के बाद जब फिर अरवल में ही सभा की गयी तो जमींदारों ने तूफान मचाया और प्रचार किया कि स्वामी जी आने न पायेंगे। क्योंकि उन पर तो 144 की नोटिस तामील हो गयी। मगर मैं पहुँचा और इस प्रचार का पता लगने पर सभा में ही कह दिया कि यदि फिर कभी सरकार ने 144 की हिम्मत की तो उसकी धज्जियाँ उड़ेंगी, याद रहे। लेकिन तब से आज तक यह मौका लगा ही नहीं।

(19)

सोशलिस्ट दोस्त किसान-सभा में

सन् 1934 में ही बिहार में ही आल इंडिया कांग्रेस कमिटी की बैठक हुई और अन्तिम बार पूर्ण रूप से सत्याग्रह स्थगित किया गया। हालाँकि, व्यक्तिगत सत्याग्रह भी कुछ सफल न रहा और एक प्रकार से उसे पहले से ही बन्द कहना चाहिए। मगर बाकायदा

अन्त्येष्टि वहीं की गयी जाड़े के दिनों में। साथ ही कौंसिल और असेम्बली का प्रश्न पुनरपि क्राँग्रेस में उठा। अखिल भारतीय सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना और कॉन्फ्रेंस भी उसी समय हुई। असेम्बली में प्रवेश और उस पार्टी का जन्म ये दोनों चीजें परस्पर विरोधी सी हैं। मगर दोनों ही शाखाएँ कांग्रेस से ही निकलीं सत्याग्रह बन्द होने पर ही। खैर, सत्याग्रह के बाद कौंसिलें तो पहले भी आयी थीं। मगर सोशलिस्ट पार्टी नयी चीज थी। यों तो सोशलिस्ट पार्टी बिहार में पहले से ही थी। मगर भारत भर में उसी समय बनी। उसी वक्त बिहार के कुछ सोशलिस्ट मित्रों ने, जिन्होंने पहले किसान-सभा का विरोध किया था, मुझसे एक-दो बार कहा कि क्या हमें किसान-सभा में शामिल न कीजियेगा? मैंने कहा कि सदा 'स्वागतम्' है। आइये भी तो। मैं तो गांधीवादियों के लिए सदा ही हाजिर रहा। फिर सोशलिस्टों की क्या बात? ठीक याद नहीं, शायद 1934 के बीतते-न-बीतते ही वे लोग किसान-सभा में आ गये। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरा भार हल्का हुआ। अब ये लोग काम सँभालेंगे। उन्होंने खूब उत्साह दिखाया भी।

गांधी जी की एक बात का पहले ही जिक्र कर चुका हूँ कि उन्होंने कहा था कि मुझे पता लगा है कि मेरे कुछ विश्वसनीय लोगों ने भी जेल के नियम न माने और जेल के काम छोड़ कर पढ़ते रहे। इसीलिए सत्याग्रह का समय नहीं रहा। क्योंकि ऐसी कमजोरियाँ सत्याग्रह की विरोधिनी हैं। मुझे हँसी आयी और आश्चर्य भी हुआ कि उनके जैसा अनुभवी आदमी इस मोटी तथा सर्वप्रसिद्ध बात को, जो सन् 1921 से ही न सिर्फ चालू है वरन् उत्तरोत्तर वृद्धि पर है, आज तक नहीं जाना। लेकिन गांधी जी महात्मा ठहरे और लाला जी के शब्दों में 'वह सबों को महात्मा ही मानते हैं!'

मुझे सन् 1934 ई. की उनकी एक और चीज भी समझ में नहीं आयी। बिहार रिलीफ कमिटी की मीटिंग थी। उसमें उन्होंने रिलीफ (भूकम्प में सहायता) के लिए सरकार से सहयोग का प्रस्ताव किया। यह तो ठीक ही था। मगर 'सम्मानपूर्वक सहयोग' (Respectful Cooperation) में जो उन्होंने 'सम्मानपूर्वक' (Respectful) विशेषण लगाया वह मुझे बुरी तरह खटका। मुझे याद है कि नागपुर के डॉ. खरे भी मेम्बर थे। उन्हें भी खटका था। मैंने पीछे पत्र लिख के गांधी जी के पास भेजा और लिखा कि जिस सरकार के प्रति सम्मान का और ससम्मान सहयोग के अभाव का पाठ आपने 14 वर्ष तक पढ़ाया उसी के प्रति आज सम्मान कैसा? उसका सम्मान तो हम भूल ही गये। यहाँ तो उसकी जरूरत भी नहीं थी। केवल 'सहयोग' शब्द ही काफी था। उन्होंने उत्तर दिया कि यह तो शिष्टाचार मात्र है। पर यह चीज मैं समझ न सका और इसी कारण एक पत्र लिख के मैंने उस कमिटी से इस्तीफा भी दे दिया। बिना जरूरत और बेमौके ऐसा शिष्टाचार मेरे लिए बराबर पहेली ही रही है। मगर अब पता लगा है कि गांधी जी की अहिंसा के भीतर यह भी आता है और इसी

की घूँट हमें बराबर बच्चों की तरह वे जबर्दस्ती पिलाते रहे हैं। हालाँकि फल, कुछ न हुआ है। जिसे उन्होंने बराबर शैतान कहा उसी के प्रति सम्मान की बात वही बोल सकते हैं। यह बात साधारणजनों के तो सामर्थ्य से बाहर की ही चीज है।

सन् 1934 की गर्मियों के बीतने पर गया में कुछ नये सोशलिस्टों के क्षणिक जोश के करते किसान-सभा में एक नयी बात होने वाली थी। बिहार के एक ऐसे ही सज्जन, जो प्रायः सोशलिज्म की बातें करते और श्री जवाहर लाल का जिक्र बार-बार करते थे, ऐसा स्वप्न देख रहे थे कि आल इण्डिया किसान-सभा बने और **श्री पुरुषोत्तम दास जी टण्डन** के साथ इसी सिलसिले में वे भारत भर की यात्रा करें। शायद अखिल भारतीय सभा के मन्त्री बनने की भी उनकी लालसा थी। टण्डन जी तो सभापति होते ही। इधर मैं उसका सख्त दुश्मन था। मेरी धारणा थी कि अभी उसका समय नहीं है। तब तक, जब तक प्रान्तों में किसान-सभाएँ नहीं बन जाती हैं। क्योंकि ऐसी दशा में उस सभा में गलत आदमी आ जायँगे, जिन्हें हम जानते तक नहीं और जिनके बारे में कह नहीं सकते कि आया वे किसान-सेवक सचमुच हैं या अपने मतलब के यार! प्रान्तों में सभाएँ बन जाने पर सभी जगह असली किसान-सेवक निकल आयेंगे, और उनके कामों से हम उन्हें जान लेंगे। तब कहीं भारतीय किसान-सभा के संगठन का मौका आयेगा। नहीं तो धोखा होगा और हम गलत रास्ते पर जायँगे, यही डर है। **मगर टण्डन जी की तो एक केन्द्रीय किसान-सभा उस समय भी थी। या यों कहिये कि उसका एक ऑफिस उनने खोल रखा था।** उनकी तरफ से सन् 1935 में हमें समझाने के लिए पटने में श्री मोहनलाल गौतम भी एक बार आये थे। मगर हमारी किसान कौंसिल का रवैया देख चुपके से चले गये।

हाँ, तो वे सज्जन यह भी समझते थे कि बिना हमारे सहयोग के कुछ हो नहीं सकता। क्योंकि हमारी ही सभा पुरानी और काम करने वाली है। वह भी हमारी सभा में आ गये थे। न जाने किस प्रकार **श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन को उन्होंने द्वितीय बिहार प्रान्तीय किसान सम्मेलन का सभापति अखबारों में घोषित करवा दिया।** क्योंकि नियमानुसार न तो वह चुने ही गये और न हमारी किसान-सभा ने इस बारे में कोई राय ही दी। हम बड़े पसोपेश में पड़े। विरोध करना भी ठीक न था। गया में सम्मेलन था और वह हजरत गया में घूमकर कुछ कार्यकर्त्ताओं से सट्टा-पट्टा कर चुके थे। हम चुप रहे। सम्मेलन की तैयारी हुई। **टण्डन जी आये। सभापति बने। भाषण हुआ। यहाँ तक तो ठीक।**

मगर जब जमींदारी प्रथा मिटाने की बात उठी और उसका एक प्रस्ताव टण्डन जी की राय से उक्त सज्जन तथा दूसरों ने तैयार किया तो दिक्कत पैदा हुई। टण्डन जी जमींदारी प्रथा को मुआवजा या दाम देकर मिटाने के पक्ष में थे। ऐसा ही प्रस्ताव भी लिखा गया। इधर हमारी किसान-सभा अभी तक जमींदारी प्रथा हटाने के पक्ष में न थी। यह सिद्धांत की तथा बड़ी बात थी। मेरा व्यक्तिगत खयाल यह था कि

जमींदारी अगर मिटानी हो तो फिर उसका दाम कैसा? यों ही छीन ली जानी चाहिए। मगर अभी वह सवाल उठाने का समय मेरे जानते नहीं आया था।

नतीजा यह हुआ कि हमारे सभी साथी इस बात के विरोधी बन गये। उसके और भी कारण थे जिनका उल्लेख यहाँ करना ही चाहता। अन्त में प्रस्ताव तो विषय समिति में ही पास न हो सका। मगर टण्डन जी इसके बारे में बोल तो चुके ही थे। इसलिए दूसरे दिन मैंने भाषण किया और किसान-सभा की एवं अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी। मैंने साफ-साफ कह दिया कि व्यक्तिगत रूप से मैं क्या चाहता हूँ और क्यों? टण्डन जी को मेरा भाषण सुनके आश्चर्य हुआ और लोगों से उनने कहा भी कि यह विचित्र संन्यासी है। एक और तो जमींदारी छीनना चाहता है और दूसरी ओर अभी दाम देकर भी उसे मिटाने की बात किसान-सभा में आने देने को रवादार नहीं। लेकिन मेरा पहला विरोध सुनकर जो धारणा मेरे बारे में उन्हें पहले हुई थी, वह तो मिट गयी। क्योंकि किसान-सभा में यह प्रश्न न लाने का कारण भी मैंने स्पष्ट कर दिया था।

मुझे खयाल है कि गौतम जी से मैंने वहीं एकान्त में पूछा था कि क्या टण्डन जी भी अन्त तक क्रान्ति में साथ देंगे? उनने कहा कि गणतन्त्र क्रान्ति (Democratic revolution) तक तो साथ देंगे ही। लेकिन सच बात तो यह कि मैं क्रान्ति की भीतरी बातें जानता, समझता ही न था। खैर, सम्मेलन हो गया और टण्डन जी वगैरह इलाहाबाद चले भी गये। मगर उसका विवरण हमारे पास लिखा ही न गया। शायद उक्त गड़बड़ियों के ही करते। फलतः, अखबारों में जो छपा, वही रहा।

सन् 1934 के अन्त में बम्बई अखिल भारतीय कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और मैं पहली बार बम्बई गया। जहाँ वर्ली में कांग्रेस थी, वहीं पास की एक ठाकुरबाड़ी में बम्बई के मित्रों ने मेरे लिए स्थान नियत किया था। क्योंकि मुझे तो कूप-जल चाहिए था। और वहाँ सुन्दर बावड़ी थी। बाबू राजेन्द्र प्रसाद उस अधिवेशन में सभापति थे। उसी के बाद गांधी जी कांग्रेस से अलग हो रहे थे। इसीलिए चर्खा संघ के सिवाय ग्रामोद्योग संघ को वहीं उनने जन्म दिया। ताकि, इधर से छुट्टी पाकर उसके काम वह चलाते रहें। मगर आज तक का इतिहास बताता है कि वस्तुतः कांग्रेस से अलग हुए या और भी उसे अपने हाथ में कर लिया। खूबी तो यह कि उसके चवनियाँ सदस्य तक नहीं हैं। यह भी एक पहेली ही है। लोगों ने पीछे उन्हें यह बातें लिखीं भी और उन्होंने अपने पक्ष का समर्थन भी किया कि ऐसा क्यों करते हैं। मगर हमारे जैसे आदमी तो उनकी यह महिमा और यह अपरम्पार माया समझ न सके। हमारे जैसों के समझने की यह बात है भी नहीं! फलतः, हम इस माथापच्ची में नाहक क्यों मरें?

उसी कांग्रेस में असेम्बली प्रवेश की भी बात आयी। कांग्रेस में उसे स्थान भी मिला। साथ ही, गांधी जी की राय से ही वह बात आयी। समय में कितना

अन्तर हो गया! कहाँ तो वे पहले उसके कट्टर शत्रु थे और कहाँ आज उसके समर्थक बन गये! कांग्रेस का विधान भी वहीं ढाला गया। इस प्रकार स्थिर स्वार्थ वाले जमींदारों और पूँजीपतियों की जड़ कांग्रेस में जमाने का सूत्रपात वहीं हुआ। मैं आल इंडिया कांग्रेस कमिटी का सदस्य था। अतः विषयसमिति में मैंने इस बात का विरोध किया और यह खतरा सुझाया। मैं पहली बार वहीं कांग्रेस में बोला। मैंने कहा कि अब जब चार आने पैसे देकर बने-बनाये मेम्बर ही कांग्रेस पर अधिकार जमा सकते हैं, तो किसानों और गरीबों को उसमें कहाँ गुंजाइश होगी? वह तो जमींदारों और धनियों के हाथ में चली जायगी। क्योंकि मालदार लोग अपने पास से रुपये खर्च करके नकली मेम्बर ज्यादा बना लेंगे और इस तरह कांग्रेस पर कब्जा कर लेंगे। पूने के एक सदस्य ने मेरी इस बात को समझा और अपने भाषण में इसका उल्लेख भी किया। मगर सुनता कौन था? बात वही हुई जो गांधी जी ने चाही।

लोगों ने यह भी सोचा, गांधी जी जब कांग्रेस छोड़ ही रहे हैं, तो यह आखिरी बार उनकी बात मान ही ली जाय। मगर तब से मेरी यह धारणा बराबर दृढ़ होती गयी कि "परतेहुँ बार कटक संहारा"। आज तो कांग्रेस उन्हीं के हाथ की चीज है जो न क्रान्ति चाहते, न किसान-सभा को फूटी आँखों देख सकते और न मजदूर सभा को बर्दाश्त कर सकते। हाँ, नकली किसान-मजदूर सभाएँ अवश्य चाहते हैं। क्योंकि समय की पुकार जो ठहरी। इससे जनता आसानी से भुलावे में पड़ सकती है। इसीलिए मेरा डर अक्षरशः सही निकला। मैंने अनुभव के बल से ही यह आशंका की थी।

अन्त में यहाँ पर सन् 1935 ई. के शुरू की एक महत्त्वपूर्ण घटना कह के दूसरे खण्ड में पदार्पण करना है। महीना तो ठीक याद नहीं। पटने की ही बात है। बिहार प्रान्तीय किसान कौंसिल की एक महत्त्वपूर्ण बैठक थी। उसमें हमारे सोशलिस्ट ,दोस्तों के सिवाय वह सज्जन भी, जो अखिल भारतीय किसान-सभा बनाने के लिए उतावले थे, सदस्य की हैसियत से हाजिर थे। विचारणीय विषयों में कई बातों के सिवाय जमींदारी प्रथा मिटाने का प्रश्न भी था। इसलिए सभी तैयार होकर आये थे। बहुत बहस हुई। सबने अपना दृष्टिकोण रखा। मैंने भी रखा। इसका विरोध करते हुए मैंने कहा कि मेरे जानते अभी समय नहीं आया है कि हम यह बात उठायें। क्योंकि किसान-सभा की बात है। जब हम निर्णय करेंगे तो सारी शक्ति से उसमें पड़ना होगा। मगर मैं उसके सामान दुर्भाग्य से अभी नहीं देखता और न परिस्थिति ही अनुकूल पाता हूँ। लेकिन यदि आप लोग या बहुमत चाहे तो मैं खामख्वाह अड़ंगा नहीं डाल सकता। अन्त में राय ली गयी और बहुमत आया जमींदारी मिटाने के पक्ष में।

मैंने कहा ठीक है। मुझे खुशी है, आप लोगों ने यह निर्णय किया। मगर इसका उत्तरदायित्व भी लीजिये। मैं तो ले नहीं सकता जैसा कि कह चुका हूँ, हाँ, इसमें

आप लोगों की सहायता जरूर करूँगा। इसलिए कौंसिल का सदस्य तो जरूर रहूँगा। मगर सभापति नहीं रह सकता। तब तो जवाबदेही लेनी होगी। सभापति किसी और को बनाइये। इस पर सन्नाटा हो गया। कोई भी तैयार न हुआ कि सभापति बने। मुझे ताज्जुब हुआ कि मेरे विरोध पर भी प्रस्ताव पास करना और जवावदेही न लेना यह निराली बात है। फलतः, मित्रों को विवश हो के यह प्रस्ताव वापस लेना पड़ा। मैंने उन्हें दिल से इसके लिए धन्यवाद दिया। पर क्या पता था कि इसी सन् 1935 ई. के बीतने से पहले ही मैं स्वयं बिना एक पैसा दिये ही इस जमींदारी पिशाची का नाश करने का प्रस्ताव करूँगा?

उत्तर भाग–उत्तर खण्ड

(1)

जमींदारी खत्म हो

जिस ईमानदारी और नेकनीयती के साथ विश्वासपूर्वक मैंने जमींदारी और जमींदारों के सुधारने और किसानों एवं उनके बीच सद्भाव लाने की कोशिश की थी, उसका परिणाम सिवाय परेशानी और भयंकर निराशा के दूसरा कुछ न हुआ। उलटे जमींदारों का कुचक्र दिन-रात बढ़ता ही गया। भूकम्प के बाद जिस हृदय-हीनता का परिचय उन्होंने दिया, वह मेरी आँखों के भी सामने आज नाचता है। बिहार में सरकार के ही कथनानुसार गल्ले का दाम साठ फीसदी गिर गया। फलतः, किसानों को ढाई रुपये की जगह सिर्फ एक रुपया दाम मिलने लगा। भूकम्प ने अच्छी जमीनें बालूमय कर दी थीं, जिससे पैदावार भी मारी गयी। उसके बाद ही ऐसी बाढ़ आयी कि किसान तबाह हो गये। भूकम्प के करते जमीन की सतह ऐसी खराब हो गयी कि बरसात और बाढ़ का पानी बह जाने के बजाय स्थान-स्थान पर जमा होकर खेतों को चौपट करने लगा। इसी के साथ हमने आन्दोलन करने में कोई भी कसर नहीं उठा रखी। मगर सरकार और जमींदार दोनों ही वज्र बहरे हो गये। दूसरे प्रान्तों ने किसानों को आराम देने के लिए कुछ-न-कुछ किया। बहुतों ने तो ज्यादा किया। मगर बिहार की सरकार ने, यहाँ के जमींदारों ने और कौंसिल ने भी गोया कसम खा ली कि वह टस से मस न होंगे। सचमुच उनके कान पर जूँ तक न रेंगी।

फलस्वरूप, मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि जमींदार नाम की चीज ही बुरी है। वह रहने लायक नहीं। उसे खत्म करना चाहिए। मनुष्य के नाम से या और नामों से कोई, रहे भले ही। मगर इस नाम से नहीं। मेरी धारणा हो गयी कि यदि मिट्टी का भी जमींदार हो तो वह भी उतना ही खतरनाक होगा। इसलिए तय कर लिया

कि जमींदारी का खात्मा करना ही होगा और समय आ गया है कि किसान-सभा इस मामले में अपनी आवाज बुलन्द करे। सन् 1935 ई. के बीतने के पहले ही मैं इस नतीजे पर पहुँचा। आखिर, दुनिया में और खास कर बम्बई आदि प्रान्तों में बिना जमींदारी के ही लोग खाते-पीते रहें। तो फिर, यहाँ जमींदार बन के क्यों किसानों की छाती पर कोदो दलते रहें? रोजगार, व्यापार करके क्यों न खायें-पियें? शैतान से आदमी क्यों ने बन जायँ?

उस साल मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर में तृतीय बिहार प्रान्तीय किसान सम्मेलन होने वाला था। नवम्बर का महीना निश्चित था। मैं ही सभापति चुना गया था। इसलिए मौका अच्छा मिला। मैंने साथियों से कहा कि अब जमींदारी मिटाने की बात साफ़-साफ़ बोलिए। मैंने अपने भाषण में, जो छपा था, यद्यपि इस बात को साफ़-साफ़ नहीं कहा। तथापि इशारा जरूर किया। मेरा खयाल था और आज भी है कि महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक बातों के बारे में कोई व्यक्ति न बोलें। इस बारे में किसान-सभा या ऐसी संस्थाएँ ही पहले पहल निर्णय करें तो ठीक हो। खास कर सभापति के बोल देने पर और लोगों पर एक भार हो जाता है और उन्हें स्वतन्त्र निर्णय करने में दिक्कत होती है। यों तो प्रचार के लिए सभी लोग बोल सकते हैं। यही कारण था कि भाषण में मैंने स्पष्ट बात नहीं कही।

यों तो हाजीपुर का इलाका छोटे-मोटे जमींदारों का है। अतएव किसानमय नहीं कहा जा सकता, जैसा कि दरभंगा, गया आदि के अनेक इलाकों को कह सकते हैं। मुजफ्फरपुर में भी ऐसे अनेक भाग हैं। फिर भी सम्मेलन अच्छा जमा और उसने एक क्रान्तिकारी कदम आगे बढ़ाया जो किसान-सभा के इतिहास में अमर रहेगा। यह तो कही चुका हूँ कि मेरा भाषण छपा था। हमारे सम्मेलन को यह पहला ही अवसर ऐसा मिला था। जब मैंने वह भाषण लिख लिया तो छपने के पहले साथियों को उसे दिखला दिया। केवल यह जानने के लिए कि वह उसे पसन्द करते हैं या नहीं। तभी से एक रूढ़ि सी हमारी किसान-सभा में हो गयी है कि सम्मेलनों के सभापतियों के भाषण हम पहले ही देख लेते हैं। शायद कभी-कभी कुछ संशोधन भी उनमें करते हैं। इससे नीति में सामंजस्य बना रहता है और कोई गैर-जवाबदेही की बात सभापति जैसे उत्तरदायी व्यक्ति के मुँह से नहीं निकल पाती।

हाँ, तो मेरा भाषण साथियों ने पसन्द किया, केवल समाजवाद के बारे में एक अंश उन्हें कुछ जरूरी न जँचा और मुझे कहा गया कि उसे निकाल दूँ तो अच्छा हो। मगर मैंने ऐसा नहीं किया। असल में मैंने अपने व्यक्तिगत विचारों के सिलसिले में लिखा कि मेरे जानते समाजवाद में धर्म का स्थान नहीं हो सकता। चाहे, उसका विरोध वह भले ही न करें। धर्म का सम्मिश्रण होते ही उसमें गड़बड़ियाँ आयँगी और अपने लक्ष्य से वह च्युत हो जायगा। मैंने यह भी लिखा कि भौतिक दर्शन जितने हैं, उनमें यही सबसे सही है। मगर धर्म को उसमें स्थान न होने से मेरे जैसों के

लिए उसमें जगह नहीं है। इस अंश को हटाने को मैं तैयार न था। यदि समाजवाद या मार्क्सवाद पर कोई आक्षेप रहता तो ज़रूर हटा लेता। मगर यह तो उसके एक पहलू पर मेरे निजी विचार थे जो किसी को खटक नहीं सकते थे। धर्म के मामले में आज भी मेरे विचार बहुत कुछ वैसे ही हैं। फिर भी उस कारण से उसमें शरीक होने में मुझे तो अब कोई बाधा नजर नहीं आती, हालाँकि, अब तक शरीक हूँ नहीं और इसके दूसरे ही कारण हैं।

(2)

धर्म की बात

यह धर्म का प्रश्न इतना पेचीदा और खतरनाक है कि लोगों को इससे भ्रम हो सकता है। उस भाषण से कई लोग भ्रम में पड़े भी हैं, यह मैं जानता हूँ। इसलिए प्रसंगवश यहीं उसके बारे में दो-चार शब्द कह देना चाहता हूँ। कहते हैं कि आत्मा की भूख की शान्ति के लिए धर्म का आविष्कार हुआ। फिर उसके दो आकार हुए—एक वैज्ञानिक और दूसरा व्यावहारिक। पहले में दर्शन और दार्शनिक विचार आ जाते हैं। उन्हीं विचारों को अमली जामा पहनाने के सिलसिले में बाहरी तथा व्यावहारिक पूजा-पाठ आदि आते हैं।

चाहे, शुरू में इसका कुछ भी रूप क्यों न रहा हो, इसका उद्देश्य भी कितना ही पवित्र और ऊँचा क्यों न रखा गया हो और कुछ लोगों ने ठीक वैसा ही अमल भी क्यों न किया हो, लेकिन इन सब बातों का हमें आज कतई पता नहीं है। उन्हें न हमने पहले देखा था और न आज ही देखते हैं। प्रत्यक्ष तो यही देखते हैं कि धर्म में तर्क, दलील और विचार को स्थान नहीं है। यही उसका व्यावहारिक रूप है। पण्डित, मौलवी और धर्माचार्य जो कहें, उसे आँख मूँद कर मानो। नहीं तो तुम्हारे विरुद्ध फतवा निकल जायगा। चीं-चपड़ मत करो। "ऊँट बिलाई ले गयी तो हाँजी हाँजी कहना!" ये धर्माचार्य, गुरु, पण्डित वगैरह भी कैसे, कि अक्ल से उन्हें ताल्लुक ही नहीं। और ये चीजें पुश्तैनी हो जाने से उनके लिए पढ़ना-लिखना भी जरूरी नहीं। फलतः, वे लोग प्रायः निरक्षर भट्टाचार्य ही होते हैं। मगर मन्तर और दीक्षा देकर बैकुण्ठ भेजने का, बहिश्त पहुँचाने का दावा जरूर रखते हैं। यहाँ तक कि सर्वाधिकार संरक्षित! फलतः, धर्म के नाम पर सबसे ज्यादा अँधेर खाता देखते हैं। वह व्यक्तिगत न होकर सामूहिक हो गया है। भेड़ों की ही तरह हिन्दू, मुसलिम, क्रिस्तान आदि के समूह होते हैं। इस प्रकार धर्म दिल की चीज न होकर बाहरी और दिखावटी वस्तु हो गयी है। हम शिखा और दाढ़ी से ही प्रायः हिन्दू और मुसलमान का परिचय करते हैं।

मगर मैं इस धर्म को कतई नहीं मानता। बल्कि कह सकते हैं कि मैं ऐसे धर्म को समाज, देश और मानवता का शत्रु मानता हूँ। यह हमारी आजादी का भी बन्धक है। जहाँ विवेक को स्थान नहीं और फतवा या आदेश चले, मैं उस चीज को नहीं मानता। यदि बुद्धि ही कुण्ठित कर दी गयी और विवेक को ही स्थान न रहा, तो फिर सब खत्म ही हो गया! मैं विवेक के ऊपर लगाम और जाब चढ़ाना बर्दाश्त नहीं कर सकता और जो बात बुद्धि में न समाये, विवेक में न आये, उसे धर्म के नाम पर मानने, मनवाने का मैं सख्त दुश्मन हूँ। इसीलिए बच्चों को धार्मिक शिक्षा—जिस मानी में आज धर्म कहा जाता है, उसकी शिक्षा—देने का विरोधी हूँ। धर्म तो मेरे विचार से सोलहों आने व्यक्तिगत वस्तु है, जैसे अक्ल, दिल, आँख, नाक आदि। दो आदमियों की एक ही बुद्धि या आँख नहीं हो सकती। तो फिर धर्म कैसे दो आदमियों का एक होगा? और जैसे रोगग्रस्त शरीर में अन्न की भूख नहीं होती उसी तरह पराधीन तथा विवेकहीन आत्मा में धर्म या अध्यात्म की भूख कहाँ, कि उसकी शान्ति का यत्न हो? इसीलिए मेरा धर्म विचित्र है। उसके सम्बन्ध में लोगों को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए।

साथ ही साथ, मैं यह भी मानता हूँ कि जिस धर्म को आज हम देखते हैं। उसका भी सीधे विरोध करना बड़ी भारी भूल है। उसके विकृत पहलुओं का एक-एक करके विरोध किया जा सकता है, न कि सामान्य रूप से धर्म का ही। इसमें बड़ी हानि हो सकती है। पहलुओं का विरोध भी तर्क और दलील के बल पर होना चाहिए और जिन्हें धर्म के मामले में कहने और बोलने का अधिकार है, जिनके बारे में लोग ऐसा मानते हों, वही यदि यह विरोध और खण्डनमण्डन करें तो अच्छा हो। दूसरों को प्रायः इसमें नहीं पड़ना चाहिए। उन्हें इससे बचना चाहिए। हाँ, अमल तो सभी कर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार का जैसी कि उनकी धारणा है। उसमें कोई खतरा या बाधा नहीं। परन्तु समूह के ऊपर सहसा भयंकर प्रतिघात जिससे हो, वह काम बचाया जाय, खासकर समूह की जानकारी में। जहाँ ऐसा खतरा न हो वहाँ वह भी किया जा सकता है, अगर उसे ठीक मानते हों। जो लोग जनता में काम करते हैं, उन्हीं के लिए मेरा यह विचार है। बाकी लोग जो भी चाहें, कहें या करें। मुझे उनकी फिक्र नहीं।

हाँ, तो जमींदारी मिटाने के प्रस्ताव के साथ ही अनेक महत्त्वपूर्ण निश्चय करके वह हाजीपुर वाला सम्मेलन सम्पन्न हुआ। **यह समझ लेना चाहिए बकि उसके पहले कई बार ऐसा मौका आया जब कि साधारण किसान-सभाओं और जिला किसान सम्मेलनों में जमींदारी के विरुद्ध प्रस्ताव आये थे और पास भी हुए थे। इस प्रकार वायुमण्डल तैयार किया गया था। विशेष रूप से मुजफ्फरपुर के मनियारी मौजे में जो सम्मेलन जिले के किसानों का हुआ था, उसमें तो इस बारे में खूब चहल-पहल रही।** वहाँ पहले-पहल यह सवाल उठाया गया था। कांग्रेस के कुछ ख्यातनामा लीडरों

ने, जो जमींदारों के दोस्त और खुद नाममात्र के जमींदार हैं, इस प्रस्ताव के विरुद्ध सारी शक्ति भी लगायी थी। मगर फिर वे बुरी तरह असफल रहे जिसका उन्हें सपने में भी खयाल न था। मैं भी वहाँ था और मेरे विचार से वे लोग फायदा उठाना चाहते थे। मगर वह भूलते थे कि मेरे विचारों के क्या मानी हैं।

(3)

आल इण्डिया किसान-सभा और किसान बुलेटिन

सन् 1935 ई. के बीतते-न-बीतते एक और महत्त्वपूर्ण घटना किसान-सभा के इतिहास में हुई। वामपक्ष के अनेक प्रमुख नेता मेरठ में एकत्र हुए और अन्य बातों के सिवाय उन्होंने यह भी तय किया कि अखिल भारतीय किसान-सभा का संगठन होना चाहिए। उनमें बिहार के भी कुछ मेरे साथी थे, जो आखिरकार इस बात में सहमत हो गये। वहाँ इस काम के लिए जो संगठन-समिति बनी, उसके मन्त्री, उन्होंने, मुझे, श्री एन. जी. रंगा को और श्री मोहनलाल गौतम को नियुक्त कर दिया। जिस परिस्थिति ने हमें जमींदारी के मामले में खामख्वाह आगे बढ़ाया उसी परिस्थिति ने और भी आगे जाने को विवश किया। मैं तो इसका विरोधी था। लेकिन किसान-सभा में अब तक मेरी बराबर नीति यही रही है कि साथियों की राय के बिना कुछ न करना और जिसमें वे सहमत हो जायँ, उसमें ज्यादा आगा-पीछा न करना, बशर्त्ते कि कुछ पेचीदा पहेली जैसी बात न हो, जिसका बुरा असर हमारी सभा पर पड़ने का खतरा हो। इसलिए मैंने मान लिया कि आल इण्डिया सभा भी बने। देखा जायगा।

इसके बाद अप्रैल के महीने में सन् 1936 ई. में लखनऊ में कांग्रेस के अधिवेशन के समय ही पहला आल इण्डिया क़िसान सम्मेलन करने का भी फैसला उन लोगों ने कर लिया। शायद यह बात मेरठ में ही तय पायी हो। सिर्फ आखिरी निश्चय पीछे कर लिया गया हो। लेकिन यह बात हुई और अखबारों में खबरें भी निकल गयीं। कुछ खास प्रबन्ध तो करना न था। कांग्रेस की तैयारी थी ही। विषय-समिति के पण्डाल में ही सम्मेलन करना तय करके स्वागत समिति से इस कार्य के लिए आज्ञा ले ली गयी थी। यह भी उन्हीं लोगों ने तय कर लिया था कि उसका सभापति मैं ही बनाया जाऊँ। इसकी सूचना भी तार द्वारा मुझे दी गयी। मगर तार मिलने के पहले ही मैं लखनऊ जा पहुँचा था। क्योंकि कांग्रेस की विषय-समिति आदि में सम्मिलित होना था। और लोग भी पहुँचे ही थे। वहाँ जाने पर ही मुझे सब बातें मालूम हो गयीं। हरेक प्रान्त के वामपक्षी लोगों से खास तौर से वहाँ परिचय प्राप्त किया।

तब से लेकर आज तक के मेरे पक्के साथी प्रो. रंगा और श्री इन्दुलाल याज्ञिक से पहले मुलाकात वहीं हुई। यों तो एक बार रंगा जी दो मास पूर्व बिहार आने को

थे। पर न आ सके। श्री इन्दुलाल जी से तो लिखा-पढ़ी पहले ही से चलती थी। असल में वह बम्बई में एक प्रचार संस्था बना के किसानों के सम्बन्ध की एक विज्ञप्ति कभी-कभी उसी संस्था के द्वारा प्रकाशित करते थे। मुझे भी उसे कुछ दिन से भेजने लगे थे। उन्होंने वहाँ मिलने पर उसके भेजने का कारण यह बताया कि कभी किसी अंग्रेजी अखबार में मेरे किसी भाषण का वह अंश उन्हें पढ़ने को मिला, जिसमें मैंने और बातों के साथ यह कहा था कि रोटी भगवान् से बड़ी है। इसी से आकृष्ट हो के उनने मुझे पत्र लिखा और पीछे वह अंग्रेजी विज्ञाप्ति भेजने लगे।

मैं तो सशंक था कि यह कैसा आदमी है। मगर साथियों ने बताया कि वह तो हमारा ही आदमी है। तब मुझे विश्वास हो गया। पीछे तो लखनऊ में और उसके बाद हम दोनों में वह घनिष्ठता हो गई जो शायद ही और किसी के साथ हो? किसान-सभा इस बात की चिरऋणी रहेगी कि श्री इन्दुलाल जी ने शुरू में अपने ही उद्योग से आल इण्डिया किसान बुलेटिन अंग्रेजी में निकाल कर किसान आन्दोलन की अपूर्व सेवा की। वह पन्द्रहवें दिन निकलती है।

हाँ, तो सम्मेलन तो सम्पन्न हुआ अनेक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव भी पास हुए। आल इण्डिया किसान कमिटी का जन्म भी वहीं हुआ। उसमें हर प्रान्त के तात्कालिक उत्साही किसान कार्यकर्त्ता लिये गये। उसका काम और अधिकार यही रहा कि जब किसान-सभा न मिल सके तो उसकी जगह वही समझी जाय। पीछे तो नियमावली बना के सम्मेलन को ही आल इण्डिया किसान-सभा का वार्षिक अधिवेशन नाम दे दिया गया। उस समय आल इण्डिया किसान-सभा के तीन मन्त्री चुने गये। स्थायी सभापति रखने की बात उस समय तय नहीं पाई। सोचा गया कि अधिवेशन के समय के ही लिए सभापति का पद हो, न कि स्थायी। हालाँकि, पीछे तो विधान में सभापति का पद स्थायी हो गया। वे तीनों मन्त्री थे, वही पुराने तीन—मैं, प्रो. रंगा और गौतम। गौतम जी के जिम्मे ऑफिस सौंपा गया। मगर थोड़े ही दिनों बाद वह बीमार पड़े और ऑफिस मेरे जिम्मे आ गया। **तब से बराबर मैं ही उस सभा का जेनरल सेक्रेटरी रहा हूँ और ऑफिस मेरे पास ही रह गया है।** सिवाय सन् 1938-39 ई. के, जब मैं कोमिला के अधिवेशन में फिर सभापति चुना गया और प्रो. रंगा प्रधानमन्त्री। उसी दरम्यान में केवल एक साल ऑफिस रंगा जी के साथ रहा। **लखनऊ के बाद फैजपुर में ही श्री इन्दुलाल याज्ञिक अन्य साथियों के साथ उसके संयुक्तमन्त्री चुने गये। तब से बराबर उस पद पर हैं।**

लखनऊ में ही सोचा गया कि आल इण्डिया किसान दिवस मनाया जाय। लेकिन तैयारी के लिए कुछ समय चाहिए। इसलिए पहली सितम्बर ठीक हुई। तब से बराबर ही भारत भर में पहली सितम्बर को आल इण्डिया किसान दिवस मनाया जाता है। यों तो 'मे डे' में हम बराबर ही मजदूरों का साथ देते हैं।

आल इण्डिया किसान-सभा का ऑफिस ज्योंही मेरे हाथ में सन् 1936 में आया

कि मैं उसे दृढ़ बनाने में लग गया। बिहार प्रान्तीय किसान-सभा के कार्य से जितना समय बचा पाता, उसी में लगाता। प्रायः सभी प्रान्तों में दौरे भी किये—कहीं एक बार और कहीं तो अनेक बार। ज्यादातर जगहों में अनेक बार ही गया। इस मामले में मैंने श्री इन्दुलाल याज्ञिक को बहुत ही मुस्तैद पाया। वे मुझसे जबर्दस्ती काम लेते। उन्हीं के करते मुझे खामख्वाह समय निकालना पड़ता। जब मैं दूसरी बार सभापति चुना गया तब भी यह मेरी कोशिश पूर्ववत् रही। अभी-अभी तो गत वर्ष इतनी कोशिश के बाद दो-एक को छोड़ सभी प्रान्तों में बाकायदा किसान-सभा के मेम्बर बनवा के उनसे आल इंडिया का हिस्सा वसूल किया है। इसके पहले प्रायः व्यक्तिगत चन्दे से, तथा कुछ प्रान्तों से यों ही वसूल किए पैसों से ही किसी प्रकार ऑफिस चलता था।

मगर मैं इस बात का विरोधी हूँ। जनता की संस्थाएँ और गण-आन्दोलन, जिन्हें किसानों, मजदूरों और अन्य शोषितों के हाथ में पूर्ण-रूपेण राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकार दिलाना है या यों कहिये, कि जिन्हें लड़ के औरों से उनके द्वारा ये अधिकार छीनना है, वह तब तक मजबूत नहीं हो सकती हैं, और न अपने लक्ष्य को ही प्राप्त कर सकती हैं, जब तक दूसरों के चन्दे से बाहरी आदमियों के द्वारा उनका संचालन होता है। इसीलिए कभी-कभी साथियों के कोप का भाजन बन के भी मुझे जबर्दस्ती यह काम करना पड़ा है। फलतः, स्वावलम्बी बनने के रास्ते पर कुछ दूर तक भारतीय किसान-सभा को लाने में मैं समर्थ भी हुआ हूँ।

(3)

बिहटा की चीनी-मिल

यों तो सन् 1932 ई. में ही बिहटा में चीनी बनाने की मिल का सूत्रपात हुआ। मिल के संचालक श्री रामकृष्ण डालमिया आदि ने मुझसे थोड़ी-बहुत मदद भी शुरू से कुछ दिनों तक ली। मगर उस मिल से मैंने जो कुछ सीखा और वहाँ जो कुछ मुझे करना पड़ा, वह मेरे जीवन-संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। वहीं मैंने सीखा है कि मालदार और स्थिर स्वार्थ वाले पूँजीपति किस प्रकार चालाकी से जनता का शोषण करते हैं। बड़े-बड़े नेता और महात्मा उनके शिकंजे में किस प्रकार फँस के उनकी मदद भी इस शोषण में करते हैं! फिर भी समझ नहीं सकते कि वह ऐसा कर रहे हैं! प्रत्युत, उलटे यह मानते हैं कि वे पूँजीपतियों का प्रयोग जनता के लाभार्थ कर रहे हैं! हालाँकि, दरअसल पूँजीपति ही उनका प्रयोग अपने लाभ तथा पीड़ितों के शोषण के लिए करते हैं!

सबसे पहले मिल के लिए जमीन मिलने में उन्हें दिक्कत हुई। असल में बिहटा

के जमींदार बड़े काइयाँ हैं। वे किसी की सुनते नहीं। मेरे पास मिलवाले पहुँचे कि सहायता करें। मैंने कहा, देखा जायगा। इतने में एक दिन एक भलेमानस ने, जो दानापुर लोकलबोर्ड के वाइसचेयरमैन थे, मुझसे बात-बात में यों ही कह दिया कि आप आश्रम के लिए चन्दे के पीछे हैरान क्यों हैं? मिलवालों को जमीन दिलवा दीजिए। फिर तो आपको पैसे की कमी न रहेगी! मेरे खून में यह सुनते ही आग लग गयी। बस, चट उन्हें सुना दिया कि "तो क्या मिलवालों की नौकरी या गुलामी कर लूँ? या कि उनकी दरबारदारी करूँ?" वे बेचारे तो सकपका गए और उस बात का और ही मतलब लगाना शुरू किया। मैंने फिर कहा कि यदि मैं उचित या कर्त्तव्य समझ के न कर सकूँगा, तो पैसों के लोभ से नहीं ही कर सकता। ऐसे पैसों पर पेशाब करता हूँ।

इस आखिरी बात का सिर्फ यह पहला ही मौका न था। 'लोक-संग्रह' के प्रेस के सिलसिले में ऐसी बात सुनाने का मौका आया था, जिसका उल्लेख हो चुका है। उसी प्रेस के सिलसिले में पटने के एक अच्छे जमींदार ने मुझे छः सौ रुपये दिये थे। मगर मैंने उन्हें बचा रखा था। जब वह प्रेस मैंने कार्यी जी को सौंपा तो किसी के कहने-सुनने पर कुछ रंज होकर उलाहना देते हुए उन्होंने मुझे पत्र लिखा कि प्रेस में मैंने रुपये इसलिए नहीं दिये थे कि वह गैरों को दिया जाय। मैंने उन्हें भी यही लिखा था कि ऐसे रुपयों पर पेशाब करता हूँ, जो मुझ पर किसी प्रकार का दबाव डालें और मेरी आजादी संकुचित करें। आप जब चाहें, सूद सहित आपके रुपये लौटा दूँ। आपने जिस प्रेम से उपकार के लिए, दिया था, उसी प्रेम से मैंने उन्हें बचा रखा और इस आश्रम को सौंप दिया है। यह बात आश्रम की रिपोर्ट में आप देख सकते हैं। इस पर वह बुरी तरह झेंपे और मुझसे क्षमा माँगी।

खैर, मैंने जमींदारों से कह के जमीन तो दिलवा दी। उन्होंने कीमत आदि के लिए ज्यादा झमेला भी छोड़ दिया। मैंने समझा कि चीनी की मिलें तो अब विलायती चीनी पर प्रायः साढ़े छः रुपये मन टैक्स लग जाने के कारण यहाँ खुलेंगी ही। लेकिन यदि कोई विदेशी आकर खोले तो उससे कहीं अच्छा यह डालमिया है, जो गांधीटोपी तो पहनता और अपने को कांग्रेसी तो बताता है! लोग भी उसे ऐसा मानते हैं। मगर इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। उसे इससे हिम्मत हुई। फिर तो मुझे फँसाने के लिए उसने अनेक उपाय किये। शायद लोगों ने उसे कह दिया कि यह स्वामी विचित्र है। यों न सुनेगा। जाओ और धीरे-धीरे उससे हेलमेल करो, तो शायद चकमे में आ जायँ। यों तो रुपये-पैसे का नाम लेने पर जूते से ही बातें करेगा।

यही हुआ और डालमिया परिवार ने धीरे-धीरे आश्रम में आना-जाना शुरू किया। फिर प्रस्ताव किया कि मेरी बहन का यह लड़का यहीं आश्रम में ही रहे। मैंने कहा, देखा जायगा। बाद में लड़के की माँ और दादी से भी कहलवाया। मगर मैं टालता गया। एक दिन तो यहाँ तक बात उनने कह डाली कि मैं उसके लिए अलग मकान

यहीं बनवा दूँगा। फिर आश्रम के एकाध शुभचिन्तकों से यह कह दिया कि अब लड़के को रखवाइये। उन्होंने 'हाँ' भी कह दिया। इस पर मैंने कह दिया कि "लेकिन बिना मेरी आज्ञा के वह यहाँ नहीं आ सकता।" इस पर वे लोग चकराये कि यह क्या? और जब एक दिन उन्होंने पूछा तो मैंने साफ कह दिया कि यहाँ गरीबों के लड़के रहते हैं, बारह मास सवेरे ही उठते हैं और आश्रम का सारा काम अपने हाथों ही करते हैं। यहाँ कोई नौकर है नहीं। आपका लड़का यह कर नहीं सकता। मैं उसके साथ रियायत करके परलोक में या दुनिया को क्या उत्तर दूँगा? मैं ऐसा कर नहीं सकता। इसलिए उसे यहाँ रख नहीं सकता। इस प्रकार यह बला टली।

फिर भी आना-जाना जारी रहा। वे लोग दस-बीस दिनों के बाद पाँच-छः रुपये लड़कों के लिए दे जाते कि इनका भोज कर दीजिये। ये ब्रह्मचारी लोग खायेंगे। कारण बताते कि आज अमुक पूजा है, आज अमुक आदमी का जन्मदिन है, आज घर में ब्याह है, आज भोज है, आदि-आदि। मैंने सोचा कि यह दूसरी बला आयी और अगर ऐसे ही महीने-पन्द्रह दिन बाद बराबर इनके रुपये आते रहे तो अच्छा न होगा। क्योंकि इन रुपयों में बड़ी मोहनी शक्ति है। फलतः, मुझमें इनके प्रति मुरव्वत और रियायत धीरे-धीरे आ जायगी। इन्हें यहाँ मिल में मजदूरों से काम लेना और किसानों से ऊख लेनी है। उस समय जब ये मजदूरों और किसानों को कष्ट देंगे, उन पर ज्यादतियाँ करेंगे तो मेरे लिए ये रुपये खतरनाक और जाल सिद्ध होंगे। इन्हीं के करते मुरव्वत के मारे बोलने की हिम्मत न होगी। कहते हैं कि चोर जब चोरी करने चलते हैं तो साथ में गुड़ ले लेते हैं और जब कहीं रास्ते में कुत्ते भूँकते हैं, तो वही गुड़ उनके आगे फेंक देने पर उनका भूँकना रुक जाता है। वे गुड़ खाने में फँस जो जाते हैं। ठीक यही बात ये पूँजीपति करते हैं। ये हमें भूँकने वाले समझ पहले ही से गुड़ डालते हैं। इसलिए मैंने एक दिन बेमुरव्वत हो के कह दिया कि आप आइये, जाइये खुशी से। मगर खुदा के लिए वे रुपये न दिया कीजिये। नहीं तो एक दिन आप यहाँ गरीबों पर जुल्म करेंगे और इन रुपयों की मोहनी मेरा मुँह उस समय बन्द कर देगी। उन्हें यह सुनकर आश्चर्य तो हुआ। मगर फिर उनने रुपये कभी न दिये। इस प्रकार यह दूसरी बला भी खत्म हुई।

मिल के संचालकों ने बाबू राजेन्द्र प्रसाद को भी मिल का एक डायरेक्टर बना दिया। उसका उद्घाटन पं॰ मदनमोहन मालवीय करेंगे यह भी घोषणा हो गयी। उधर यह भी प्रचार किया गया कि यहाँ तो मिल के मजदूरों के लिए आदर्श निवास स्थान बनेंगे। उनके बच्चों के पढ़ने के लिए स्कूल आदि का पूरा प्रबन्ध होगा। मुझ से बातों में वे यह भी कहा करते थे कि वेग सदरलैण्ड आदि अंग्रेजों की जो मिलें हैं उनमें खर्च ज्यादा होता है। हम तो खर्च कम करेंगे। फलतः किसानों को काफी पैसे देकर ऊख लेंगे, मजदूरों को पर्याप्त वेतन देंगे और इतने पर भी हमारी चीनी उनकी चीनी से सस्ती होगी। खैर, मालवीय जी तो नहीं आये।

इधर जब मिल बहुत कुछ बन गयी तो एक दिन बातचीत में बोले किसान तो तीन आने मन की दर से ऊख देंगे! क्योंकि उन्हें पैसे की जरूरत जो है। हमने कहा कि वेग सदरलैण्ड तो छः आने देता है। आप तीन ही आने की बात कैसे करते हैं? कहने लगे कि इतने ही में परता पड़ेगा। मेरे यह कहने पर, कि अभी तो कुछ दिन पूर्व कहते थे कि हमारा खर्च कम होने से हम काफी पैसे देकर भी सस्ती चीनी बेचेंगे। तो फिर आज क्या हो गया? बोले कि आमद और माँग (Supply and demand) का सिद्धान्त भी तो देखना है। मैंने कहा, कि सिर्फ ऊख के बारे में ही यह वसूल लागू होगा या चीनी के बारे में भी? विदेशी चीनी पर गहरा टैक्स लगाने पर ही तो आपकी मिल खुल सकी है! यह बात भूल गये इतनी जल्दी? चीनी के बारे में भी यही सिद्धान्त लगाकर मिल खोल लें तो देखूँगा। और अगर आपकी यही नीयत है तो मैं अभी से किसान को तैयार करूँगा कि मिल में ऊख न दें। तब कहने लगे आपकी कौन सुनेगा? वह तो गर्ज का बावला, खामख्वाह जिस दाम पर हम चाहें उसी दाम पर ऊख देगा ही। मैंने कहा, मैं मानता हूँ आपके पास पैसे हैं। इसलिए सरकार और पुलिस भी आपकी सहायता करेगी। आपको ऐसे लोग भी मिलेंगे जो किसानों को फुसलायेंगे। आप नोटिसें आदि छपवाकर और अखबारों के द्वारा भी अपना काम निकाल लेंगे और शुरू में ऊख पा जायँगे। फिर भी मैं अपना यत्न न छोड़ूँगा। तब हँसकर कह बैठे कि, तो फिर यत्न से लाभ ही क्या, जब मुझे ऊख मिल ही जायगी? इस पर मैंने सुना दिया कि पचास वर्ष पूर्व जब कांग्रेस बनी तो उसे कोई पूछता न था। मगर लगे रहने का फल हुआ कि आज सरकार को वह चैलेंज देती और झुकाती है। यदि किसी के घर में लगातार दस-पाँच बार लोग बीमार हों और डॉक्टर, वैद्यादि के यत्न होने पर भी मर जायँ, तो इसका अर्थ यह थोड़े ही होगा कि उसके बाद कोई बीमार पड़े तो डॉक्टर वगैरह बुलाये ही न जायँ। इस पर वे चुप हो गये और मैं चला आया।

लेकिन बाघ के जबड़े का पता चल गया। और मैं पूरा सजग हो गया। मेरा प्रचार किसानों में खूब हुआ। बीसियों नोटिसों और सैकड़ों सभाओं के द्वारा मैंने उन्हें आगाह किया कि खतरा है। उधर उनने भी जोर लगाया। गुड़ बनाना किसान बन्द कर दें तो मिल के गुलाम बन जायँ, इस चाल से उन्होंने उनमें झूठे प्रचार करने में सारी ताकत लगा दी कि गुड़ न बनाओ। मैंने पूँजीवाद का नग्न रूप वहाँ देखा। ऐसे-ऐसे गन्दे और झूठे प्रचार किसानों को धोखा देने के लिए किये गये कि मैं दंग रह गया। अन्त में यह भी प्रचार हुआ कि मैं मिल से दो हजार रुपये माँगता था और न मिलने पर ही विरोधी बन गया। मगर "यहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं"। किसान तो मुझे खूब जानते हैं। फलतः उसकी एक न चली और गुड़ बनाना जारी रहा। यह मेरी पहली जीत पहले ही वर्ष हो गई। उसके बाद तो मैंने, उसी साल, और आगे भी, मिल वालों को मजबूर करवा के सात और आठ आने मन तक ऊख

का दाम किसानों को दिलवाया। जबकि पाँच और छही आने दूसरी जगह मिलते थे। सरकार ने भी इतना ही नियत किया था। इस प्रकार, जानें कितने लाख रुपये मिल से छीनकर किसानों को दिलाया। यों मेरी जीत पर जीत रही। उनके साथ मेरी लड़ाई जारी हो गई। मैंने उनसे साफ कह दिया कि चैन से न रहने दूँगा।

उसके बाद वहाँ तीन हड़तालें हुईं, सन् 1936 की जनवरी में पहली, सन् 1938 की पहली जनवरी को दूसरी और सन् 1938-39 में तीसरी। पहली तो सिर्फ किसानों की थी। उसमें महीनों ऊख बन्द रही! लाखों रुपये उनके (मिल के) स्वाहा हो गये। बारह और चौदह आने मन ऊख की कीमत उन्हें दूर से मँगाने में पड़ी! फिर भी सूख गयी! फलतः उनकी सब गर्मी उतर गयी! किसानों के पाँव पड़ते-पड़ते बीता। तब कहीं हड़ताल टूटी। किसानों के साथ जो बदसलूकी मिल वाले करते थे, वह बहुत कुछ जाती रही। हालाँकि, वह हड़ताल सफल नहीं हुई। असल में मेरी अनुपस्थिति में बिना मुझसे पूछे ही एकाएक किसानों ने मिल की शैतानियत से ऊबकर वहीं मारपीट की और ऊख बन्द कर दी। जब मैं लौटा तो हालत देखी। आखिर करता क्या? किसानों का साथ तो देना ही था। फलतः ऐसा संगठन, ऐसी पिकेटिंग और ऐसी मुस्तैदी महीनों रही कि पुलिस की मदद से गाँवों से ऊख की गाड़ियाँ मँगानी पड़ीं कितने ही स्वयंसेवक पिकेटिंग में पकड़े गये। हमने भी हड़ताल की पहली शिक्षा पायी।

दूसरी हड़ताल तो किसानों और मजदूरों—दोनों—की ऐसी सफल हुई कि 48 घण्टे में मिल वाले थर्रा गये और मजदूर संघ के सभापति श्री श्यामनन्दन सिंह एम.एल.ए. से सुलह करके मजदूरों की सभी शर्त्तें उनने मान लीं। मजदूरों की बात लेकर ही हड़ताल थी। मगर किसानों ने पूरा साथ दिया। जब हुक्म मिला तभी फिर मिल में ऊख आने लगी।

मगर इसके बाद भीतर-ही-भीतर मिलवालों ने बदला चुकाने की बन्दिश की। कुछ नामधारी नेताओं को, जो गांधीवादी और सोशलिस्ट सब कुछ बनते हैं और असेम्बली एवं कौंसिल के कांग्रेसी मेम्बर तथा पार्लिमेण्टरी सेक्रेटरी भी हैं, बुलाकर एक नकली यूनियन खड़ी कर ली। इसके बाद दूसरी हड़ताल के बाद की गयी शर्त्तें धीरे-धीरे तोड़ने लगे। टालमटूल में नाकों दम कर दिया। जब 1938-39 का सीजन (ऊख पेरने का समय) शुरू हुआ तो हमारी यूनियन के नेता लोगों ने केवल मजदूरों की हड़ताल कराई। मगर भीतर-ही-भीतर मार-पीट दबाव के करते सिर्फ दो-ढाई सौ के सिवाय और मजदूर हड़ताल न कर सके। फलतः वह विफल हुई। मुझे बड़ा कष्ट हुआ। यूनियन के काम से मेरा ताल्लुक न रहने से और उसके लिए समय न दे सकने के कारण मैं सारी बातें जानता न था। दूसरे साथी तो उसमें थे ही और उन्हीं पर मेरा विश्वास था, मगर वे लोग काम ठीक-ठीक करते न थे। इसी से गड़बड़ी हुई। अब तो शर्म के मारे वे लोग भागने को तैयार हो गये।

मुझे यह बात बर्दाश्त न हो सकी। मैंने कहा कि किसानों की ऊख बन्द करवा के और रेल से आने वाली ऊखँ की पिकेटिंग करके मिलवालों को दुरुस्त करूँगा। मगर दोस्तों को इसमें विश्वास न था। वे इतने पस्त थे कि कहने लगे कि आप भी बेइज्जत होंगे। कोई सुनेगा नहीं और पचीस-पचास आदमी जेल में जाने के बाद टाँय-टाँय फिस हो जायगा! मैंने दिन भर उनसे दलीलें करके उन्हें विश्वास दिलाना चाहा कि किसान ऐसा न करेंगे, मेरा विश्वास है। मगर मानने को वे लोग तैयार न थे। बड़ी दिक्कत के बाद शाम को माना। और मैंने घोषणा कर दी? फिर तो बिजली दौड़ गयी और 48 घण्टे के भीतर पिकेटिंग में दो-ढाई सौ आदमी जेल गये, ऊख की गाड़ियाँ कतई बन्द हो गयीं। मिलवालों ने फिर तो थर्रा कर सुलह की। वे मेरे पास दौड़े आये और सुलह की बात चलाकर मामला तय किया। इस प्रकार जैसे-जैसे मजदूरों की रक्षा पुनरपि किसानों ने की। सबकी इज्जत रख ली। पीछे तो साथी लोग भी शर्माये।

जनसमूह का काम करने वालों को जनता में, अपने लक्ष्य में और अपने आप में अपार विश्वास रहना चाहिए। तभी सफलता मिलती है। मुझे तो किसानों में अमिट विश्वास है। फलतः, कभी भी मुझे निराश होना नहीं पड़ा है। उन्होंने बराबर साथ दिया है। पहली हड़ताल के समय तो बड़े-बड़े दलाल मिल की तरफ से मुझे ठगने आये। एक ने तो जरा गुस्ताखी भी की। गो बाकी लोग चालाकी से ही बातें करते रहे। उसने ज्यों ही कहा कि आश्रम को दस हजार रुपये एकमुश्त और दो सौ मासिक दिये जायँगे, कि मैं गुस्से में आकर तड़पा कि जबान खींच लूँगा रे नीच, नहीं तो भाग जा। मुझे ठगने आया है? किसानों के खून का पैसा लेने वाला मैं? फिर तो सिटपिटाकर वह भाग गया।

मैंने मिल के साथ संघर्ष करके अनुभव किया है कि स्थिर स्वार्थ वाले बड़े ही कमजोर होते हैं। यदि हिम्मत करके डटिये तो शीघ्र बम बोल जाते हैं। मैंने यह भी देखा किसानों और मजदूरों के परस्पर सहयोग के बिना सफलता नहीं मिल सकती। सबसे बड़ा अनुभव यह हुआ है कि नेताओं को ठगने का उनका तरीका मालूम हो गया! वह मीठी छुरी जैसा है। अगर मैं जरा सा ढीला पड़ता तो दो-चार सौ रुपये महीने और कुछ हजार एकमुश्त लेकर आश्रम में सुन्दर मकान बनवा देता, कई पण्डित रख के सैकड़ों लड़कों को पढ़वाता, सुन्दर पुस्तकालय बनवा देता। फिर तो चारों तरफ इसका शोर हो जाता कि स्वामी जी बड़ा काम कर रहे हैं! मगर असल में क्या होता? यही न, कि मिलवाले आठ और बारह आने के बजाय तीन ही चार आने फी मन के हिसाब से ऊख खरीदते और मजबूरन किसान उन्हें देते। क्योंकि गुड़ बनना बन्द हो जाने से उनके लिए दूसरा चारा रही नहीं जाता। चाहे सरकार कुछ भी दाम ठीक करती, मगर तिकड़मबाजी से मिलवाले बहुत कम पैसे देते। और मैं? मैं तो चुप रह के टुकटुक देखा करता, यह सारी लूट, यह सारी तबाही! मुझे

हिम्मत न होती कि जीभ खोलूँ। क्योंकि फिर वे पैसे बन्द हो जाते जो! अनेक लीडर वहीं यही बात कर भी रहे हैं। फल यही होता कि एक ही साल में किसानों के कितने ही लाख पैसे लुटकर मिलवालों को मिल जाते और उसी खून में से दो-चार बूँदें वे हमें देते रहते! यही बात सब जगह होती है। जो धनियों एवं पूँजीपतियों से पैसे लेकर सार्वजनिक सेवा का ढोंग रचते हैं वह गरीबों का खून इसी प्रकार लुटवाकर उसी में से दो-चार बूँदे पाते हैं। यह ध्रुव सत्य है।

(4)

केन्द्रीय असेम्बली का चुनाव

मिलवालों के साथ जो मेरा संघर्ष शुरू हो गया उसका परिणाम सभी दृष्टि से अच्छा हुआ। हमारे कांग्रेसी नेता ऐसे संघर्षों से बहुत डरते और इन्हें होने देना नहीं चाहते। इनमें मुल्क की, कांग्रेस की और जनता की भी हानि का भूत उन्हें नजर आता है। मगर यहाँ हमने उलटा ही पाया। सन् 1935 ई. में जो केन्द्रीय असेम्बली का चुनाव हुआ और जिसने लार्ड विलिंगटन का 'कांग्रेस खत्म हो गयी' वाला हिसाब गलत ठहरा दिया, उसमें पटना और शाहाबाद इन दो जिलों से कांग्रेस की तरफ से बाबू अनुग्रह नारायण सिंह खड़े थे। उनके विरोध में रुपयों के बल पर श्री रामकृष्ण डालमिया और हिन्दू हितों की ठेकेदारी के बल पर हिन्दू महासभा के मन्त्री और योद्धा बाबू जगतनारायण लाल डँटे थे। डालमिया का यह भी खयाल था कि बिहटा और डेहरी-आन सोन की दो मिलें और उनके हजारों आदमी भी उसकी मदद करेंगे। इधर इन दो जिलों से अनुग्रह बाबू का कोई खास ताल्लुक न था। इसीलिए कांग्रेसी लीडर डरते थे। मगर फिर भी वह जीते और बहुत अच्छी तरह जीते। उधर दोनों ही प्रतिद्वन्द्वी न सिर्फ हारे, प्रत्युत बाबू जगतनारायण लाल की जमानत तक जब्त हो गयी! पटने में जो वोट डालमिया को मिले उनसे तो उसकी भी जमानत जब्त हो जाती, यदि शाहाबाद में भी उसी हिसाब से मिलते। मगर वहाँ कुछ ज्यादा वोट मिल गये। इसलिए राम-राम करके उसकी जमानत रह गयी!

इस चुनाव में कुछ मजेदार बातें हो गयीं। बिहटा से दक्षिण पालीगंज में एक सभा थी। उसमें अनुग्रह बाबू और बाबू श्रीकृष्ण सिंह मौजूद थे। लेक्चर हुए। किसानों ने सुना। उसके बाद एक किसान ने मुझसे साफ कहा कि आपकी बात तो हम मानेंगे ही और अनुग्रह बाबू को ही वोट देंगे। मगर यह तो बताइये कि यह भी जमींदार ही तो नहीं है? मैं सहमा। लेकिन अन्त में जैसे-तैसे करके उसे विश्वास दिलाया। नहीं कह सकता कि उसे मैं सन्तुष्ट कर सका या नहीं। मगर इस घटना से मुझे अपार खुशी हुई कि किसानों में यह चेतना आ गयी। अब आसानी से जमींदारों

के चकमे में वह आ नहीं सकते।

मगर उसका भय तो ठीक ही था। क्योंकि वह जानता था कि यह भी जमींदार ही हैं। पीछे तो मुझे उलाहने भी मिले। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के जामने में अट्ठारह वर्ष के एक उसी इलाके के कोइरी के जवान लड़के ने अजीब चेहरा बना के मुझे सुना दिया कि आप ही के कहने से तो वोट दिया और अब यह हालत? मैंने उससे स्वीकार किया कि वोट लेकर धोखा जरूर दिया है। मगर उस परिस्थिति में दूसरा होई नहीं सकता था। हाँ, अब आगे ऐसा हर्गिज नहीं होगा।

दूसरी बात यह थी मिस्टर डालमियाँ ने जैसा, कि पीछे अनेक जरियों से पता चला, प्रायः एक लाख रुपया चुनाव में खर्च कर डाला! इतनी बसें, मोटरें और दूसरी सवारियाँ लाई गयीं कि औरों को उस समय सवारियाँ मिलना कठिन हो गया! बनारस तक की बसें उनके काम में आई थीं। रुपये पानी की तरह बहाये जाते थे। जैसा कि धनी आदमियों का होता ही है, कुछ जी-हुजूरों की दरबारदारी वाली बातों पर ही उनने विश्वास कर लिया था कि जीतेंगे। यह भी अभिमान उन्हें था ही कि रुपये से जो चाहें कर सकते हैं। लोगों ने उनसे रुपये भी, वोट दिलाने के बहाने, खूब ही कमाये। मगर मेरा विरोध तो तेज था। फलतः, वे अंटाचित्त गिरे। अगर मेरा संघर्ष उनसे न रहता तो यह बात कदापि न हो पाती। उनके कांग्रेस विरोध का नतीजा यह हुआ कि श्री राजेन्द्र बाबू को मैं बिहटा मिल की डाइरेक्टरी से हटाने से समर्थ हुआ। जब उस मिल की नीति किसान विरोधी हो गयी, तभी मैंने भूकम्प के बाद ही उन्हें हट जाने को कहा था। पर टालमटूल कर रहे थे। लेकिन अब क्या करते?

हिन्दू महासभा के महारथी को बड़ा गर्व था कि जरूर जीतेंगे। उस इलाके से वे एक बार डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेम्बर चुने जा चुके थे। साथ ही उधर उनका बराबर आना-जाना और सट्टापट्टा रहा करता था। नमक सत्याग्रह में वहीं पकड़े भी गये थे। इसलिए कई बार दृढ़तापूर्वक राजेन्द्र बाबू से उनने कह भी दिया था कि अनुग्रह बाबू जरूर हारेंगे, आप उन्हें हटा लें। मगर हमने विश्वास दिलाया था। इसलिए वे डँटे रहे। उस समय जो गन्दी नोटिसें कांग्रेस के विरुद्ध वे निकालते रहे, वह उन्हीं का काम था। कांग्रेस का सीमाप्रान्त की पठान जातियों के साथ एक करके उन्होंने दिखलाया और कहा कि कांग्रेस की जीत होने पर न गाय बचेगी न मन्दिर, न बहू-बेटियाँ, न किसी का शिखासूत्र और न हिन्दूपन का एक भी चिह्न! मन्दिरों में घड़ियाल भी बजने न पायेगा! मगर उनकी एक न चली। न जाने पीछे कैसे फिर कांग्रेस की ही पूँछ पकड़ के प्रान्तीय असेम्बली में पहुँचने की उन्हें हिम्मत हुई! किस विचार से नेताओं ने, न सिर्फ उन्हें मेम्बर बनाया, प्रत्युत पार्लिमेंटरी सिक्रेटरी भी! यह तो रहस्य ही रह जायेगा। कम-से-कम जनसाधारण के लिए तो खामख्वाह।

(5)

बैनामी सूबा

पहले पहल मुझे बम्बई की कांग्रेस में एक अजीब बात सुनने को मिली। लोगों ने मुझे गांधी जी और राजेन्द्र बाबू आदि का विरोध करते देख कई बार यह कहा कि आप तो बैनामी सूबे के हैं! वहाँ तो राजेन्द्र बाबू की आज्ञा चलती है और अपना विचार ताक पर रखा जाता है। मतलब यह कि बिहार प्रान्त उनके हाथ बैनामा किया हुआ या बिका है। मुझे हँसी आयी सही। मगर यह बात चुभी बुरी तरह से। लेकिन आखिर करता क्या? इल्जाम लगाने वालों ने ऐसा ही अनुभव किया था। बात भी कुछ ऐसी ही थी। तब तक बिहार का एक भी आदमी उनके विरोध में जबान न हिलाता था। सभी एक साथ ही वोट करते थे।

इसके बाद लखनऊ कांग्रेस में युक्त प्रान्त के तथा अन्यत्र के प्रतिनिधियों तक ने वही ताना मारा। वहाँ भी तो हमने उनका विरोध किया था। आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी के सदस्यों के चुनाव में जो आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional representation) का नियम था उसे लीडर लोग निकालकर फिर पूर्ववत् बहुमत से चुनाव रखना चाहते थे। हमने इसका सख्त विरोध किया। और भी बातें थीं जिनका विरोध करना पड़ा था। और बातों में तो हम लोग हारे। मगर आनुपातिक प्रतिनिधित्व में जीते। इतने पर भी लोगों को यह कहते पाया कि बिहार बैनामी सूबा है! हालाँकि लखनऊ के बाद फिर यह ताना न सुना गया। शायद यह कलंक धुल गया।

लेकिन फिर भी मेरे लिए यह पहेली ही रह गयी कि इतना बड़ा कलंक इस सूबे के मत्थे क्यों मढ़ा गया! विचारों का संघर्ष तो जरूरी है। सो भी कांग्रेस जैसी संस्था में। जहाँ सभी विचार के लोगों को आने और बोलने का न सिर्फ मौका है, प्रत्युत वे सभी बार-बार नेताओं के द्वारा आमन्त्रित किये जाते हैं कि आयें, अपने खयाल जाहिर करें और कोशिश करके बहुमत अपने पक्ष में करें। इसीलिए तो आनुपातिक प्रतिनिधित्व कांग्रेस में रखा गया था कि सभी विचार के लोग आ सकें। शुद्ध बहुमत के नियम से तो उनका आना असम्भव था।

मगर लखनऊ के बाद, जो श्री कृष्णवल्लभ सहाय का एक लम्बा पत्र मिला, खास लखनऊ में जो घटनाएँ हुईं और उसके बाद भी जो बराबर जारी रहीं उनने इस पहेली को सुलझा दिया। फिर तो मुझे मानना पड़ा कि यह कलंक सही था। श्री कृष्णवल्लभ बाबू हजारीबाग के नेता और राजेन्द्र बाबू के भक्त हैं। उन्होंने मुझे लिखा कि बिहार जो भी आगे बढ़ा है, उसे जो भी प्रतिष्ठा मिली है वह सिर्फ इसलिए कि हम लोगों ने उनकी प्रतिष्ठा की है और आँख मूँद कर उनका साथ दिया है। मगर अब वह बात नहीं रही, इसकी वेदना मुझे है। यह बड़े ही दर्द की बात है कि आप एक ओर और राजेन्द्र बाबू दूसरी ओर हों और कांग्रेस में यह कुश्ती हो!

यह बात बन्द हो जाय तो अच्छा। मुझे इसे पढ़कर ताज्जुब हुआ। मैंने उन्हें उत्तर दिया कि प्रतिष्ठा और प्रेम तो दिल की चीजें हैं। वह हाट में खरीदी नहीं जाती हैं। मैं आज भी राजेन्द्र बाबू से प्रेम रखता तथा उनकी वैसी ही प्रतिष्ठा करता हूँ। मगर बम्बई या लखनऊ में जो कुछ बोला या विरोध किया, वह तो सिद्धान्त की बात थी। विचारों का संघर्ष तो अच्छा है। उसके स्वागत के बजाय विचारों को कुचलने की यह चेष्टा बहुत ही बुरी है, आदि-आदि। लेकिन उसी के साथ मेरी आँखें भी खुल गयीं।

लखनऊ में आनुपातिक प्रतिनिधित्व हटाने की जो कोशिश नेताओं की तरफ से की गयी और वहाँ हारने पर भी जो कोशिश बराबर जारी रही, जब तक कि गत वर्ष बम्बई में वे सफल न हो गये, उसने साफ बताया कि **वे लोग असल में प्रगतिशील विचारों को कांग्रेस में देखना नहीं चाहते! उनसे उनके नेतृत्व और अस्तित्व के लिए खतरा मालूम हो रहा है! दिल्ली की आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी के बाद, जो सन् 1937 के मार्च में हुई, तो गांधी जी ने साफ ही लिख दिया कि कांग्रेस में एक राय और एक मत चाहिए।** उसके बाद से तो यह 'एक ही खयाल और एक ही राय' वाली बात ऐतिहासिक बन गयी है। इसी को लेकर त्रिपुरी में और उसके बाद बड़े-बड़े काण्ड हुए और श्री सुभाषचन्द्र बोस के विरुद्ध जेहाद बोला गया! इससे पता लगता है कि शुरू से ही अन्धानुसरण तो नेता लोग चाहते ही थे और बिहार इसमें आगे था। मगर लोगों को शक न हो इसलिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व दिया। लेकिन जब उसके करते खतरा नजर आया तो चट करवट बदली।

(6)

किसानों की माँगें—फैजपुर का कार्यक्रम

सन् 1936 के अगस्त में आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी की बैठक बम्बई में हुई। उसमें आगे के असेम्बली चुनाव के लिए घोषणा-पत्र तैयार किया गया। बेशक चुनाव को दृष्टि में रख के जो बातें उसमें लिखी गयीं, वह मुल्क के लिए बहुत कुछ प्रगतिशील थीं। मगर किसानों और मजदूरों के लिए जो कुछ और खास बातें रखी जाने का आग्रह प्रगतिशील विचारवालों ने किया वह न मानी गयीं! फलतः सारा यत्न बेकार गया! फिर भी वही हमारी आल इण्डिया किसान कमिटी की बैठक में विधान के सिवाय हमने भारत के किसानों की जो माँगें (Gharter of rights) तैयार कीं, वह महत्त्वपूर्ण हैं और सदा हमारी सभा के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगी। उस दृष्टि से वह बम्बई की बैठक ऐतिहासिक है।

लेकिन जब फैजपुर में सन् 1936 के दिसम्बर में कांग्रेस हुई और पं॰ जवाहर

लाल फिर सभापति चुने गये तो एक बार हमने फिर कोशिश की कि किसानों की बातें कांग्रेस खास तौर से उठाये। लखनऊ में एक प्रस्ताव के द्वारा कांग्रेस ने प्रान्तीय कांग्रेस कमिटियों को हिदायत की थी कि अपने-अपने सूबे में किसानों की दशा की जाँच करके सिफारिशें आल इण्डिया कांग्रेस को लिख भेजें, ताकि उसी के अनुसार कोई कार्यक्रम भारत भर के लिए तैयार किया जाय। यह लखनऊ कांग्रेस में हमारी लड़ाई और वहाँ पर आल इण्डिया किसान-सभा करने का ही फल था और आल इण्डिया सभा की यह पहली जीत थी। उसके अनुसार बिहार प्रान्त में एक जाँच कमिटी बनी भी थी। और उसने हर जिले में जाँच भी की थी, मगर उसकी रिपोर्ट नहीं छापी गयी थी! इसका विवरण आगे मिलेगा।

इसलिए ज्योंही आल इण्डिया कमिटी का काम पूरा करके सभापति विषय समिति के आरम्भ की घोषणा करने उठे त्योंही मैंने उनका ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया कि फैजपुर के बाद ही असेम्बली चुनाव होने वाला है और ज्यादातर वोटर किसान ही हैं। मगर उनके बारे में कांग्रेस का कोई खास प्रोग्राम न होने के कारण हम क्या लेकर उनके पास वोट के लिए जायँगे? लखनऊ में जो प्रस्ताव हुआ था उसके अनुसार जाँच होने पर भी कम-से-कम बिहार में तो कोई रिपोर्ट न निकली और न वहाँ से सिफारिश ही आयी कि किसानों की क्या माँगें हों और उनके लिए क्या किया जाय। अधिकांश प्रान्तों की यही दशा है।

इस पर बिहार के कुछ नेता बिगड़ पड़े। मगर मैंने उनका मुँहतोड़ उत्तर दे दिया। फिर सभापति जी ने इस महत्त्वपूर्ण बात की ओर ध्यान दिलाने के लिए मुझे धन्यवाद देकर आश्वासन दिया कि हम लोग इस कांग्रेस में कुछ-न-कुछ प्रोग्राम किसानों के लिए खास तौर पर बनायँगे। फलतः वर्किंग कमिटी की ही ओर से एक प्रस्ताव आया जिसमें लखनऊ के प्रस्ताव का हवाला देते हुए जिन प्रान्तीय कमिटियों ने अब तक जाँच करके रिपोर्ट न तैयार की उनके काम पर खेद प्रकट किया गया और फौरन रिपोर्ट भेजने की ताकीद की गयी। मर जब तक़ रिपोर्ट नहीं आ जाती तब तक के लिए उसी प्रस्ताव के अन्त में एक विस्तृत कार्यक्रम किसानों के सम्बन्ध में जोड़ा गया वह 'फैजपुर किसान कार्यक्रम' के नाम से पीछे प्रसिद्ध हो गया। बेशक उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण बातें किसानों के हकों के सम्बन्ध में हैं। मगर पीछे कांग्रेस की मिनिस्ट्री बनने पर उन बातों के बारे में प्रायः लीपापोती ही की गयी। उनके अनुसार ठीक-ठीक अमल न हुआ।

फैजपुर में आल इण्डिया किसान-सभा का दूसरा वार्षिक अधिवेशन हुआ। प्रो. रंगा अध्यक्ष थे। अहमद नगर के श्री महादेव विनायक भुसकुटे स्वागताध्यक्ष थे। वहाँ महाराष्ट्र के कुछ जवान सोशलिस्टों की सरगर्मी के करते और डाक्टर भुनेकर की स्वभाव सिद्ध स्पष्टवादिता के फलस्वरूप कुछ गड़बड़ी होते-होते बची और हमारा काम निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। वहीं हमने तय कर लिया कि कांग्रेस का पुछल्ला बनाने

से हमारी सभा शक्तिमती नहीं हो सकती। कांग्रेस के अधिवेशन के समय मुख्य काम उसी का होने के कारण न तो सभा के काम को महत्त्व ही मिलता है और न हम उसमें पर्याप्त समय ही दे सकते हैं। फलतः स्वतन्त्र रूप से आल इण्डिया किसान-सभा का वार्षिक अधिवेशन करना तय पाया गया।

फैजपुर में जो सबसे महत्त्वपूर्ण काम हुआ और जो उसके बाद बराबर कांग्रेस अधिवेशन के समय चालू है, वह था किसानों की लम्बी पैदल यात्रा और प्रदर्शन (Kisan marchs and procession)। श्री भुसकुटे के अथक परिश्रम से दो और तीन सौ माइल से पैदल चलकर किसानों के जत्थे फौजी ढंग से मार्च करते हुए ठीक समय पर फैजपुर आ गये। श्री रंगा, श्री याज्ञिक आदि के साथ मैं तीन-चार मील आगे ही जाकर जत्थे से मिला। हमारे साथ स्त्री-पुरुषों का एक खासा दल उन लोगों की अगवानी करने गया। वहाँ से पैदल ही सब लोग लौटे। गये भी पैदल ही थे। कांग्रेस नगर के झण्डा चौक में बड़ी जबर्दस्त सभा हुई। उसके सभापति प्रो. रंगा थे। हम सभी ने अवसर के अनुसार ही भाषण दिया। अपार भीड़ थी। राष्ट्रपति पं. जवाहरलाल नेहरू भी थोड़ी देर के लिए वहाँ आये और शामिल हुए। दो-चार शब्द कह के चले भी गये।

लखनऊ में हमने कोशिश करके किसानों के लिए कांग्रेस में जो मुफ्त टिकट खुले अधिवेशन के लिए प्राप्त किये गये थे, वह बात यहाँ न हो सकी। लाख कोशिश करने पर भी हमें निराश होना पड़ा। देहात में यह पहली कांग्रेस थी। किसानों के ही बल पर कांग्रेस की ताकत बनी और बनने वाली थी। फैजपुर के बाद ही फौरन किसानों के ही वोट से कांग्रेस को विजयी होना भी था। कई सौ मील से पैदल चल के किसान आये भी थे। मगर उनकी कतई परवाह नहीं की गयी! कांग्रेस और उसकी स्वागत समिति के नेताओं की मनोवृत्ति पर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। देहात की कांग्रेस किसके लाभार्थ है, इस बात की कुंजी वहीं इस बात से मिल गयी।

(7)

बिहार की किसान जाँच कमिटी

फैजपुर के बाद जो असेम्बलियों का चुनाव हुआ उसका उल्लेख करने के पहले, जैसा कि पूर्व में जिक्र किया गया है, बिहार की किसान जाँच कमिटी का हाल देना जरूरी है। क्योंकि उसका सम्बन्ध फैजपुर के प्रोग्राम से है। और भी अनेक बातें हैं। पहले कह चुका हूँ कि लखनऊ कांग्रेस के समय हमारी कोशिशों के फलस्वरूप जाँच का प्रस्ताव पास हुआ था। वहाँ हमने वर्किंग कमिटी की कई बातों का खासा विरोध किया था और हम खूब लड़े थे। मुझे याद है, लाहौर में ज्यादा सर्दी के कारण गरीब

दर्शकों और प्रतिनिधियों को बड़ा कष्ट हुआ था। इसलिए गांधी जी के जोर देने पर वहीं तय पाया कि फरवरी-मार्च में ही गर्मियों के शुरू में ही कांग्रेस हुआ करे। पाँच रुपये से एक रुपया प्रतिनिधि शुल्क भी उन्होंने ही किया और कहा कि गरीबों की कांग्रेस है। गरीब पाँच रुपये कहाँ से देंगे? मगर लखनऊ में फिर दिसम्बर में कांग्रेस करने का प्रस्ताव नेताओं ने ही किया। सो भी गांधी जी की राय से ही! प्रतिनिधि शुल्क भी पाँच रुपया कर दिया और कांग्रेस के चुने मेम्बरों एवं पदाधिकारियों को खद्दर पहनना भी जरूरी किया गया।

इस पर मैंने कहा कि ठीक ही है। अब तो कांग्रेस को गरीबों से काम हई नहीं। इसीलिए तो फिर दिसम्बर में होने की बात है। अब तो कौंसिल की गद्दी तोड़ने वालों का जमाना है और फरवरी, मार्च में उन्हें फुर्सत नहीं रहती! पाँच रुपये भी वही दे सकते हैं। खद्दर तो महँगा होने से गरीब पहन ही नहीं सकते! फलतः कांग्रेस धनियों और महाजनों के हाथ में जायगी! सो भी गांधी जी की राय से! वे अच्छे दरिद्रनारायण के पुजारी निकले! इस पर डॉ. पट्टाभिसीतारमैया ने मुझसे धीरे से कहा कि आप भयंकर स्वामी हैं "You are a terrible swami"!

खैर, लखनऊ के बाद पटने में बिहार कांग्रेस की कार्यकारिणी की मीटिंग हुई और लखनऊ के प्रस्ताव के अनुसार किसानों के सम्बन्ध में जाँच कमिटी बनाने का प्रस्ताव तय पाया। कमिटी में कौन-कौन मेम्बर रहें, जब यह बात आयी तो स्वभावतः किसानों के दृष्टिकोण से मैं ही रह सकता था। मैं कार्यकारिणी का मेम्बर तो था ही। मगर मेम्बर होना तो जरूरी था भी नहीं। इस पर राजेन्द्र बाबू ने कहा और बाकी लोगों ने उसी की हामी भरी कि आपके रहने से हो सकता है कमिटी की रिपोर्ट सर्वसम्मत न हो और हम चाहते हैं कि वह हो सर्वसम्मत। ताकि उसकी कीमत हो, उसका वजन हो। एक बात और। आपके रहने से जमींदारों की और सरकार की भी चिल्लाहट होगी कि यह रिपोर्ट तो किसान-सभा की है! अतः आप न रहें तो अच्छा हो।

मगर मुझे यह दलील समझ में न आयी। रिपोर्ट सर्वसम्मत हो, यह अजीब चीज थी! ऐसा तो कहीं देखा नहीं। शायद बिहार की 'बैनामी' वाली बीमारी यहाँ भी काम कर रही हो! लेकिन मेरे अकेले ही के करते सारी रिपोर्ट किसान-सभा की कही जायगी, यह भी निराली दलील थी! क्या मैं इतना खतरनाक और प्रभावशाली था कि बिहार कांग्रेस के आठ बड़े नेता मेरे असर में आ जाते और नौ मेम्बरों की लिखी रिपोर्ट किसान-सभा की बन जाती? फिर भी देखा कि इस बात पर बहुत जोर दिया जा रहा है और अगर नहीं मानता तो शायद सारा काम ही रुक जाय।

लेकिन मुझे पता भी न चले और कांग्रेस कमिटी की रिपोर्ट छप जाय खास किसानों के बारे में, यह भी असह्य बात थी। यह कैसे होगा? न जानें क्या ऊलजलूल लिख मारा जाय? गारंटी क्या? मैंने यह भय बताया। इस पर कहा गया कि रिपोर्ट

लिखने के पूर्व आपको कमिटी मौका देगी कि सारी बातों पर उसके साथ बहस कर लें। रिपोर्ट प्रकाशित होने के पूर्व भी आपको देखने तथा उसमें संशोधन सुझाने का मौका दिया जायगा। इस पर मैंने स्वीकार कर लिया और राजेन्द्र बाबू की अध्यक्षता में नौ सज्जनों की जाँच कमिटी बनी। मगर पटना, गया का कोई जरूर रहे, इसलिए हमारे सोशलिस्ट दोस्त श्री गंगा शरण भी उसके एक मेम्बर बनाये गये। यह भी बात निराली थी कि एक सोशलिस्ट किसान-सभावादी के रहने पर भी अब जो रिपोर्ट तैयार होगी वह किसान-सभा की न कही जायगी।

कमिटी ने सारे सूबे में घूम-घूम कर पूरी जाँच की। पटने में तो मैं भी कई जगह रहा। उसकी जाँच की बातें अखबारों में भी छपती रहीं। कई जगहों में बहनों और लड़कियों को बेच कर जमींदार का लगान देने के बयान किसानों ने दिये, जो अखबारों में भी छपे थे। दरभंगे में तो एक औरत ने यहाँ तक कहा कि महाराजा दरभंगा के तहसीलदार ने मुझे और मेरे ससुर को बुलाकर लगान माँगा। न दे सकने पर हुक्म दिया कि इसके कपड़े छीनकर इसे नंगी करो और ससुर की टाँग में इसकी टाँग बाँध दो! पीछे जो लोग मिनिस्टर बने उन्हीं के सामने यह बयान दिया गया! सारांश यह कि, जमींदारी जुल्म का कच्चा चिट्ठा सामने आ गया। किसानों की जो माँगें थीं वह भी साफ हो गयीं।

पीछे कमिटी के मन्त्री ने मुझे पत्र लिखा कि रिपोर्ट तैयार हो रही है। उसकी एक प्रति आपके पास जायगी। मुझे आश्चर्य हुआ कि तैयार होने के पूर्व मुझे मौका क्यों न दिया गया, जैसा कि बात तय पायी थी। फिर भी दूसरे मौके को भी मैंने गनीमत समझा। लेकिन आज तक उस रिपोर्ट का दर्शन न हुआ और मैं ताकता ही रह गया! सुना है कि रिपोर्ट लिखी गयी और उसकी प्रतियाँ मेम्बरों के पास भेजी भी गयीं! मगर मैं वंचित ही रहा! तकाजे भी किये। मगर अब तब की बात होती रही। आखिर नहीं ही छपी। इसीलिए तो मैंने फैजपुर में साफ-साफ सुना दिया था। क्योंकि जला-भुना तो था ही। और इसीलिए दो-एक हजरत ने झल्ला कर कुछ कहना भी चाहा। मगर कहते क्या? कांग्रेस के प्रस्ताव, बिहार की कार्यकारिणी के प्रस्ताव एवं अपने वचनों पर पानी फेरने और बार-बार वादाखिलाफी करने वालों को मुँह था ही क्या कि बोलें? यदि फैजपुर की कांग्रेस के प्रस्ताव के बाद भी वह रिपोर्ट छाप देते तो भी एक बात थी। मगर सो भी न कर सके। इस प्रकार लगातार दो कांग्रेसों के प्रस्तावों को पाँव तले बेमुरव्वती से रौंदा। फिर भी गैरों को कांग्रेस के बागी कहने की हिम्मत करते हैं।

बात असल यह है कि उन लोगों ने एक बार सन् 1931 ई. में भी तो जाँच की थी। मगर रिपोर्ट न छापी। क्यों? कहा गया कि सत्याग्रह छिड़ गया और रिपोर्ट छापने का मौका ही न लगा! क्योंकि बीच में ही पुलिस सब कागज पत्र उठा ले गयी जो फिर वापस न मिली। और जब दोबारा कांग्रेस के प्रस्तावों के अनुसार जाँच

हुई तब? तब तो पुलिस का बहाना था नहीं। फिर क्या बात थी? बात तो बहुत बड़ी थी और है। बिहार के कांग्रेसी लीडर जमींदार और जमींदारों के पक्के आदमी हैं। एक-एक के बारे में गिन-गिन के कहा जा सकता है। और वे आखिर रिपोर्ट लिखते भी क्या? जमींदारी प्रथा के चलते जमींदारों ने इतने पाप और अत्याचार किसानों पर किए हैं और अभी भी करते हैं कि इन्सान का कलेजा थर्रा जाता और मनुष्यता पनाह माँगती है। अब अगर वे सारी बातें लिखी जातीं तो अपनी, अपने सम्बन्धियों की और अपने दोस्तों की ही छीछालेदर करनी पड़ती। फलतः अपने ही मुँह में कालिख पोतना होता! अगर ये बातें न लिखते तो किसानों में और बाहरी दुनियाँ में मुँह दिखाना असम्भव हो जाता! साथ ही, असेम्बली के चुनाव में कांग्रेस के वोट भी किसान नहीं ही देते। फिर मन्त्रिमण्डल कैसे बनता? यही दोनों ओर की आफत थी जिसने उनकी कलई खोल दी।

एक बात और भी थी। गो कांग्रेस ने निश्चय नहीं किया था। फिर भी भीतर-ही-भीतर मन्त्रिमण्डल बनाने की सारी तैयारी हो चुकी थी। ऐसी दशा में यदि उस रिपोर्ट में यह साफ सिफारिश होती कि किसानों के लिए क्या-क्या किया जाना चाहिए तो वे लोग बन्धन में पड़ जाते। क्योंकि अगर केवल छोटी-मोटी सिफारिशें रखते तो किसान लोग उस रिपोर्ट को उठा कर लीडरों के मुँह पर ही बेमुरव्वती से फेंक देते। और अगर किसानों की मनचाही सिफारिशें करते तो किसान तो खुश होते और वोट भी देते। मगर पहले से ही भावी मन्त्रियों का हाथ बँध जाता। फिर तो वह सभी बातें पूरा किये बिना गुजर न होती।

लेकिन ऐसी दशा में 'किसान-जमींदार' समझौता के नाम से जमींदारों से इन नेताओं की गुटबन्दी और गँठजोड़ा कैसे होता? इसीलिए सोचा गया कि कुछ मत लिखो। सारी चीजें गोलमटोल रखो। चुनाव की घोषणा में राजबन्दियों की रिहाई की बात साफ लिखने के कारण ही तो इस्तीफे की नौबत आ गयी! किसानों की बातों को लेकर तो प्रलय ही मच जाती! किसानों से जो वोट लेना था। सो तो काम चुनाव के पहले जाँच करने से होई गया। अब रिपोर्ट छाप कर नादानी क्यों की जाती?

(4)

असेम्बलियों का चुनाव

सन् 1937 ई. के शुरू में ही नये विधान के अनुसार, प्रान्तीय असेम्बलियों का चुनाव हुआ। बिहार में प्रान्तीय कांग्रेस की कार्यकारिणी के ही माथे कांग्रेसी उम्मीदवारों को नामजद करने का काम था। मैं भी उसका एक सदस्य था। फलतः, उम्मीदवारों की नामजदगी और चुनाव में जो कटु अनुभव मुझे हुए वह उल्लेखनीय है। बहुत

पहले से बातें चलती थीं और कभी-कभी गांधीवादी लोगों में किसी-किसी ने, जो प्रान्त की पूरी खबर आज भी रखते हैं और पहले भी रखते थे, मुझसे कहा था कि आपको तो मिनिस्टर बनना और खेती वगैरह का चार्ज लेना चाहिए। क्योंकि किसानों की बात आप ही समझते हैं।

साथ ही एक बात और थी। पटना के बिहटा वाले इलाके से अब तक जो हजरत चुने जाते थे उन्हें तथा गया के श्री रामेश्वर प्रसाद सिंह को हराना भी जरूरी था। मगर किसी को भी हिम्मत न थी कि वहाँ खड़ा हो। बड़े-बड़े लीडर आज चढ़ा-बढ़ा के बातें भले ही करें। मगर सबों की रूह काँपती थी। इसलिए एक जगह तो मैं ही खड़ा होऊँ यह इशारा भी होता था। लेकिन मेरा सदा उत्तर यही होता कि मैं वैसे कामों के सर्वथा अयोग्य हूँ। मुझे तो जनता में काम करना चाहिए।

फिर भी मैं चौंक पड़ा था कि मौके पर दबाव पड़े और कहीं मुझमें कमजोरी आ जाय तो ठीक न होगा। इसलिए जब वोटरों की लिस्ट बन रही थी तभी मैंने बड़ी ताकीद के साथ अपना नाम उस लिस्ट में न आने दिया। हालाँकि, साथियों का बड़ा हठ था। मेरी धारणा यही है कि मेरा नाम वोटर लिस्ट में कभी न आये। फिर भी लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि कांग्रेसी मन्त्रियों के जमाने में जब मुझसे और प्रान्तीय कांग्रेस के लीडरों से तनातनी चली तो सत्य और अहिंसा के पुजारियों ने चम्पारन, सारन और दूसरे जिलों में यहाँ तक प्रचार कर डाला कि मैं तो मिनिस्टर बनना चाहता था और जब ऐसा न हो सका तो कांग्रेस का शत्रु बन गया!

हाँ, तो प्रान्तीय कार्यकारिणी जब कांग्रेसी उम्मीदवार चुनने लगी तो मैंने गजब का तमाशा देखा! मुझे पता ही न चला कि किस सिद्धान्त पर उम्मीदवार नामजद हो रहे हैं। कहीं तो खाँटी कांग्रेसी जो जेल गये और तबाह हुए, छोड़ दिये गये और बड़े जमींदार एवं उनके दोस्त ले लिये गये, जो न जेल गये और न कल तक खद्दर ही पहनते थे? कहीं ऐसे लग लिये गये जो अपने जुल्म के लिए किसानों में मशहूर थे। कहीं जो खद्दर तक न पहनते थे एवं गवर्नर के स्वागत एवं दरबार में शामिल रहते थे तथा आगे भी रहे उनको भी लेने की सिरतोड़ कोशिशें बड़े-बड़े नेता करते थे। कहीं ऐसी गुटबन्दी की गयी कि वैसों के खिलाफ कोई उम्मीदवार मिलने न पाये, ताकि वही लिये जायँ! मुझसे तो कइयों ने, जो पूरे जवाबदेह थे, यहाँ तक कहा डाला कि 'लाला' के खिलाफ कोई खड़ा न होगा। 'लाला' एक निराले सज्जन का नाम है जो बड़े महाभारत के बाद कांग्रेस उम्मीदवार बनने से वंचित रहे। कहीं जाति-पाँति की बात चलती थी, तो कहीं अपने प्रिय पात्रों और सगे-सम्बन्धियों की।

ऐसी पैंतरेबाजी मैंने कभी न देखी थी। इसलिए हैरान था। रह-रह के सोचता था कि क्या यही लोग मुल्क को आजाद करेंगे और क्या इसे ही राष्ट्रीयता कहते हैं? असल में जातीयता (Communalism) और राष्ट्रीयता (Nationalism) इनमें

बहुत ही कम अन्तर है, जो एक दशा में जाकर लापता सा हो जाता है!

मेरे सामने तो तीन कसौटियाँ थीं और तीनों पर खरे उतरने वाले ही मेरे लिए सबसे अच्छे थे। नहीं तो दो पर और अन्त में एक पर भी। मैं चाहता था कि उम्मीदवार लोग सबसे पहले तो कांग्रेस और देश के लिए जेल जुर्माने की सजा आदि काफी भुगत चुके हों, गरीब हों या गरीबों के पूरे हिमायती और किसान-सभावादी हों। यदि ये तीनों गुण न मिलें तो किसान-सभावादी होना छोड़ देता और दो भी न मिलने पर गरीब होना भी छोड़ता था। जो मुल्क के लिए तबाह बर्बाद न हुआ तो उसे तो मैं देख भी न सकता था। मगर दिक्कत यही थी कि मैं अकेला ही इस विचार का था। फलतः बार-बार जहर के घूँट पीने पड़ते थे। सोचता था, कांग्रेस की प्रतिष्ठा की बात है। यदि कहीं विरोध करके इस झगड़े से अलग हो जाऊँ तो गड़बड़ हो सकती है। इसीलिए बर्दाश्त करता गया। लेकिन आते-आते जब अति हो गयी तो मैंने साफ कह दिया कि अब नहीं चलने का। मामला यहीं बिगड़ेगा। 'I have reached here the breaking point' फिर भी दोस्तों के गले के नीचे बात न उतरी और मैं इस्तीफा दे के कार्यकारिणी से अलग हो गया। उसमें साफ लिख दिया कि इसका मतलब यह नहीं कि मैं कांग्रेस का विरोध करूँगा या उसकी मदद न करूँगा। विरोध की तो बात ही नहीं। मदद भी करूँगा। मगर इन नामजदगियों की जवाबदेही नहीं ले सकता और जहाँ-जहाँ उचित समझूँगा वहीं मदद करूँगा। इस्तीफा देकर उत्कल चला गया। पुरी में उत्कल प्रान्तीय किसान सम्मेलन का सभापतित्व करना था।

जब वहाँ से लौटा तो बाबू राजेन्द्र प्रसाद की सात पृष्ठ की चिट्ठी मिली। उसमें नामजदगियों को ठीक ठहराने की कोशिश के साथ ही मुझसे इस्तीफा वापस लेने का आग्रह किया गया था। मैंने कभी बहुत पहले उनसे कहा था कि इस साल आप प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष बनें तो हमारे साथ न्याय होने के साथ ही कांग्रेस की जीत की आशा भी हमें है। इसी बात की याद उनने दिलाई और कहा कि आप ही के कहने से सभापति बना और आपने बीच में ही साथ छोड़ दिया! मैं बीमार हूँ। अब सोचिये मुझ पर क्या गुजरती होगी। इस इस्तीफे का असर बुरा होगा। मुझे यह भी पता चला कि जिस दिन मैंने इस्तीफा दिया उस दिन वे सारी रात सोये नहीं। फलतः मैंने उन्हें लिखा कि आपकी दलीलों का तो मुझ पर कोई असर नहीं हुआ। लेकिन यदि आप सोचते हैं कि मेरे इस्तीफे का असर कांग्रेस की सफलता पर जरूर पड़ेगा तो लीजिये उसे लौटाये लेता हूँ। और इस्तीफा वापस ले लिया।

उसके बाद चुनाव में मैंने सारी ताकत लगा दी। जिन जमींदारों के विरुद्ध मैंने किसान को काफी लड़ाया था और उन्हें उन जमींदारों के शत्रु बनाया था जब उन्हीं जमींदारों को वोट दिलाने के लिए मैं स्वयं गया, क्योंकि अन्यथा हार जाने की नौबत थी, तो मेरे सामने पहेली खड़ी हो गयी। विरोधियों के उकसाने से और स्वभावतः भी किसानों ने मुझसे पूछा कि इस जल्लाद को ही वोट दें, ऐसा आप

कहते हैं? क्यों इसे भूल गये? जमींदारों के सामने ही ऐसा सुनाया। मैंने उन्हें बड़ी कठिनाई से समझा कर राजी किया। कहा कि बातें तो ठीक हैं। किसान-सभा की दृष्टि भी वही है। मगर यहाँ तो कांग्रेस की बात है न और कांग्रेस बड़ी है। वे मान गये और कहा कि आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।

मैं आज सोचता हूँ कि मैंने ठीक किया था या उन्हें धोखा दिया। क्योंकि वह जमींदार आज तो कई गुना भयंकर बन गये हैं और वे किसान रो-रो के मेरे पास आते हैं। लेकिन बात असल यह है कि हमें उस परिस्थिति से गुजरना बहुत जरूरी था। एक-न-एक दिन वैसी बात करनी ही पड़ती। चलो अच्छा हुआ और पहले ही वह बात गुजर गयी। अब वैसा मौका नहीं ही आयेगा, यह ध्रुव सत्य है। फिर भी हमारी इतनी भूल तो जरूर थी कि हमने किसान-सभा के कुछ गिने-चुने भी स्वतन्त्र उम्मीदवार खड़े न किये।

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने के पहले इस चुनाव के सिलसिले में ही, बीच की चन्द किसान आन्दोलन सम्बन्धी जरूरी बातों को छोड़, कुछ दूसरी बातें यहाँ कहना जरूरी है। बीच की और बातें पीछे लिखी जायँगी। चुनाव में कांग्रेस का बहुमत हुआ। एकाध को छोड़ सभी उम्मीदवार जीत गये। गया के रामेश्वर बाबू को, जो ललकारते रहते थे, हमने एक मध्यम कोटि के उम्मीदवार को ही खड़ा करके बुरी तरह हराया और उनकी बुरी गत की। उन्हें अन्त में कहना पड़ा कि किसान-सभा ने सब मामला चौपट कर दिया। नहीं तो देखते कि कांग्रेस कैसे जीतती। बिहटा के इलाके में श्री रजनधारी सिंह इस तरह हारे कि होश न रहा! जमानत बची यही गनीमत! हालाँकि, उन्हें अत्यधिक विश्वास था कि खामख्वाह जीतेंगे। जिन पर उनका पूरा विश्वास था वह भी उनके विरोधी हो गये! सबसे अच्छा अनुभव हमें उस चुनाव में यह हुआ कि जो लोग पैसे के लोभ से जाली (bogus) वोट उनकी ओर से देने गये थे उनमें भी तीन चौथाई ने कांग्रेसी उम्मीदवार श्री श्याम नन्दन सिंह को ही वोट दिया। उनमें जो पकड़े जाते थे वह हाथ जोड़ के कहते थे कि हम गरीब हैं पैसे के लिए जाते हैं। जाने और खाने दीजिये। मत रोकिये। उसी चुनाव में यह गीत भी खूब ही प्रचलित हुई कि 'मगर कोठरी में जाकर बदल जायँगे।' इसका मतलब है कि अगर दबाव के करते विरोधी की ओर से ही जाना पड़े, वही खिलाये, पिलाये और सवारी पर चढ़ाये तो कबूल कर लो। मगर वोट देने की कोठरी में जाकर कांग्रेस को ही वोट देना। इसका असर खूब ही हुआ। वह उसी वक्त से ऐतिहासिक चीज बन गयी है।

गया के जहानाबाद इलाके से बड़ी मुश्किल से हमारे पुराने किसान-सभावादी डॉ. युगल किशोर नामजद किये जा सके। कांग्रेस के लीडरों ने तो औरों से यहाँ तक कह डाला कि डॉ. युगल किशोर को नामजद करवाया जो जिद्द करके। मगर वह हारेंगे जरूर और कांग्रेस एक जगह खो बैठेगी! पता नहीं, उनकी आँखें नतीजा

देखकर भी खुलीं या नहीं कौन बताये? जहानाबाद के इलाके में तो किसान-सभा का कुत्ता भी जीत सकता था। मगर हमारे दोस्तों के दिमाग ही निराले हैं! अन्य सभी जगह हजारों हजार रुपये कांग्रेस के चुनाव कोष से फूँके गये। मगर जहानाबाद में एक कौड़ी भी न दी गयी! यह दूसरा जुल्म था। मगर किसानों ने जिताया ही और बहुत अच्छी तरह जिताया।

(9)

मसरख कॉन्फ्रेंस तथा कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल

चुनाव खत्म होते ही सारन (राजेन्द्र बाबू के) जिले के मसरख में प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन हुआ। उसमें एक प्रस्ताव था कि कीमत देकर जमींदारी खत्म की जाय। उस पर जो संशोधन किसान-सभा वालों का था कि बिना कीमत दिये ही जमींदारी खत्म की जाय वही पास हुआ। असली प्रस्ताव गिर गया! अजीब जोश था। लोग हमारा भाषण सुनने को आतुर थे। कुछ जमींदारों ने पुरानी पोथियों से जमींदारी सिद्ध करनी चाही। मैंने मुँहतोड़ उत्तर दिया! मगर नेता लोगों ने उस प्रस्ताव को अमल में ठुकरा दिया। यह भी देखा कि मन्त्री बनने के पूर्व किसानों की सभाओं और कॉन्फ्रेंसों में भावी मन्त्री लोग जाते थे और जमींदारी मिटाने का प्रस्ताव पास करवाते थे! हालाँकि, सभी जानते हैं कि दिल से वे लोग नहीं चाहते थे। पर, किसानों पर मोहनी डालने का यह अच्छा रास्ता था। लेकिन मन्त्री होते ही जमींदारों से समझौते पर समझौते होने लगे! ऐसी पैंतरेबाजी! ऐसी नटलीला!

चुनाव के बाद कुछ ही दिन के लिए दूसरा मन्त्रिमण्डल बन पाया था। क्योंकि हमारे दोस्तों के लिए कुछ अड़चनें थीं। पीछे वे हट गयीं और कांग्रेसी लोग गद्दी पर आ विराजे। पहले तो कांग्रेस का फैसला कुछ हुआ न था। इसीलिए सन् 1937 के मार्च में दिल्ली में आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी की मीटिंग हुई। वहीं इसका फैसला हो गया कि कांग्रेसी लोग मन्त्री पद स्वीकार कर सकते हैं! उस बैठक में जो दलीलें मन्त्रीपद के लिए दी जाती थीं उन्हें सुन के हँसी आती थी। खद्दर का खूब प्रचार होगा। सरकारी इमारतों पर राष्ट्रीय झण्डे उड़ेंगे। गोया, राजनीति और आजादी की लड़ाई का यही अर्थ है। "किसानों और मजदूरों को कानून आदि के जरिये आराम देंगे। वह थक गये हैं। परेशान हैं। कुछ राहत उन्हें देना जरूरी है। हमीं यह काम बखूबी कर सकते हैं"। आदि की लेक्चरबाजी खूब ही हुई! असल में थके थे तो लीडर लोग और उनके दोस्त। मगर किसानों के मत्थे पार हो रहे थे। यही आसान बहाना जो था!

लेकिन हुआ क्या? सरकारी मकानों पर राष्ट्रीय झण्डे उड़े? क्या गवर्नर के

मकान, सेक्रेटेरियट, असेम्बली के मकान और कचहरियों पर ये झण्डे दीखे भी? और जगह तो, तथा खासकर युक्त प्रान्त में कॉलेजों पर ये झण्डे उड़े भी। मगर बिहार में वह भी नहीं हुआ! कचहरियों आदि का तो कहना ही नहीं। प्राइवेट स्कूलों वगैरह की बात छोड़िये। वहाँ भी कहीं-कहीं उड़े। मगर पीछे तो खटाई में पड़ गये। कहा गया कि मैनेजिंग कमिटी चाहे तो तिरंगे झण्डे लगा सकती है। तो फिर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल को क्या करना था? दिल्ली में तो भावी मन्त्रियों ने ही यह बीड़ा उठाया था। अब मैनेजिंग कमिटी के मत्थे वह बला फेंकी गयी। सो भी यदि लड़कों में मतभेद न हो तभी! सारांश, जितनी ज्यादा राष्ट्रीय झण्डे की अप्रतिष्ठा कांग्रेसी मन्त्रियों के काल में हुई, उतनी कभी न हुई थी! जलाये और पाँव तले रौंदे तक गये वही झण्डे, जिनकी शान के लिए मुल्क ने पहले बड़े-से-बड़ा त्याग किया था! कहीं-कहीं तो हमारे लीडरों ने अपने हाथों स्कूल से यह झण्डा उतारा, जब कि और कोई तैयार न हुआ! इस तरह झण्डे वाली बात तो यों गयी।

रह गयी किसानों और मजदूरों की बात। सो तो बम्बई और कानपुर की गोली और आँसू लाने वाली गैस के प्रयोग आदि ही बताते हैं कि मजदूरों ने क्या पाया। उनकी हड़ताल को तोड़ने, विफल बनाने में बम्बई में सारी ताकत लगा दी गयी। कानून भी ऐसा बना कि मजदूरों को उसका खुले आम विरोध करना पड़ा और जब उनने उसके विरोध में हड़ताल की तो कांग्रेसी सरकार और कांग्रेस की सारी ताकत उसे तोड़ने में लगी! हालाँकि, फिर भी उनकी हड़ताल सफल हो के ही रही! जमशेदपुर, झरिया, डेहरी, बिहटा आदि के मिलों के मजदूर बिहार मन्त्रिमण्डल को क्या कभी भूलेंगे?

किसानों की सेवा की बात तो कुछ कहिये मत। मन्त्रिमण्डल की तारीफ के पुल तो बहुत बाँधे गये कि यह किया, वह किया। मगर इस सम्बन्ध में मैंने दो पुस्तिकाएँ अंग्रेजी में लिखकर सारा पर्दाफाश कर दिया है। उनका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। उनके नाम हैं (1) 'The other side of the shield' (2) 'Rent reduction in Bihar : How it works.' दोनों में एक की भी एकाध बात का भी उत्तर न तो अब तक मन्त्री लोग ही दे सके हैं और न उसके पृष्ठपोषक ही।

जमींदारों से इस बीच में दो-दो बार गठबन्धन करके किसानों के गले पर जो भोथरी छुरी चलाई गयी उसे कौन नहीं जानता? खड़ी फसल की जब्ती को कानून के जरिये आसान करके किसानों को जो लाभ पहुँचाया गया उसे तो वे पुश्त दर पुश्त न भूलेंगे। लगान घटाने में जो गोलमाल मचा तथा सब मिलाकर अन्त में किसानों के हाथ कुछ भी न लगा, वह कभी भूलने का नहीं! जो भी कानून की एकाध बातें किसानों के फायदे की बनी, उनकी भी शब्दावली ऐसी बनी कि जमींदारों ने सब कुछ मिट्टी में मिला दिया। भावली जमीन की नगदी में आसानी की गयी। मगर हजार चिल्लाने पर भी फसल के काटने की मजदूरी और दूसरी बातों का कोई निर्णय न

करने से किसानों को लेने के देने पड़ गये।

इन बातों का तो लम्बा इतिहास है, जो बिहार प्रान्तीय किसान-सभा के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। मगर संक्षेप में ये सभी और दूसरी बातें उक्त दोनों पुस्तिकाओं में लिखी गयी हैं।

लोग कहते हैं कि मैंने तो शुरू से ही तय कर लिया था कि मन्त्रियों का विरोध और उनकी बदनामी करूँगा। मगर मेरे विचार का पक्का सबूत तो यह है कि जुलाई के अन्त में, मन्त्रिमण्डल बनने के बाद ही, मैं पंजाब होता विश्राम के लिए काश्मीर चला गया। साथियों से विश्वासपूर्वक कहता गया कि फैजपुर का प्रोग्राम और कांग्रेस की चुनाव घोषणा ये दोनों तो हईं। वे लोग इन पर अमल करेंगे ही। आप लोग सलाह देते रहेंगे। फिलहाल मेरा काम ही क्या है? थोड़ा विश्राम कर आऊँ।

इतना ही नहीं। वहाँ से आकर प्रीमियर से दो बार मिला और मैंने साफ कहा कि एक-दो वर्ष या जितने दिनों के भीतर, एके बाद दीगरे जो कुछ करना चाहते हैं वह हमें साफ बता दें। ताकि हम किसानों को समझा दें कि कब क्या होगा। क्योंकि किसान घबराये हुए हैं। हमें भी कोई जानकारी न होने से हम भी उन्हें क्या कह के समझायें? मगर कुछ उत्तर न पा सके। तब आखिर करते क्या? हमें तो उनके साथ डूबना न था। हमारी मजबूरी थी। फिर भी जिस ठण्डक से हमने काम लिया उसे लोग जानते हैं। यों तो बदनाम करनें का काम कुछ लोगों ने उठा ही लिया है।

हम तो दिल्ली होते हुए पंजाब गये। वहाँ लाहौर तथा रावलपिण्डी में सभाएँ करके श्रीनगर चले गये। एक महीने के बाद ही कई कारणों से वहाँ से वापस आना पड़ा। काश्मीर यात्रा की बात दिलचस्प होने से आगे उसे लिखेंगे। लौटने पर हमें मालूम हुआ कि मन्त्रियों पर प्रभाव डालने के लिए हमारे साथियों ने 23-8-37 को पचास हजार किसानों का एक अच्छा प्रदर्शन किया खास पटने के मैदान में। किसानों को लेकर असेम्बली भवन तक भी गये! मगर परिणाम कुछ न हुआ! जरा-सा आगे बढ़के मन्त्री लोग किसानों से मिले तक नहीं और न उन्हें ढाँढ़स ही दिया! उलटे बदनाम किया! इन प्रदर्शनों का भी संक्षिप्त जिक्र आगे मिलेगा। इससे क्षोभ होना जरूरी था।

इसी बीच में 24-8-37 को काश्मीर से लौट आया। देखा कि न कुछ हुआ और नहीं लक्षण ही अच्छे हैं। इसलिए मुझे गुस्सा जरूर आया। मैं घबराया और सोचने लगा कि समूचे कार्यक्रम पर कहीं पानी तो न फिरेगा। आखिर मन्त्रियों को जानता तो खूब ही था। जमींदारों से उनका सट्टापट्टा पहले से था ही। इधर और भी चलने लगा था। इसलिए पहली सितम्बर को सन् 1937 ई. में जो आल इण्डिया किसान दिवस मनाया गया उस समय मैंने गया में किसानों के एक बहुत बड़े जमाव में कस के सुनाया और साफ कह दिया कि हम यों न मानेंगे। अगर यही रवैया

रहा तो नतीजा बुरा होगा! इससे मन्त्री दोस्तों और उनके पिट्ठुओं को बहुत बुरा लगा कि खुले आम शिकायत की गयी। मगर करता क्या? मेरी तो मजबूरी थी।

खैर, उसके बाद साथियों की राय और आग्रह से मन्त्रियों से बातें हुईं। मैंने उनसे साफ कहा कि मैं सरकारी आदमियों से मिलता शायद ही हूँ। इसी से अब तक न मिला। फिर भी जब जरूरत होगी और आप लोग चाहेंगे आ सकता हूँ। मेरे स्वभाव की मजबूरी ही तो ठहरी। उनने कहा कि हम सरकारी आदमी हैं? मैंने कहा कि जरूर!

खैर बातें हुईं और कह दिया कि जो कुछ पूछना हो मेरे साथियों से पूछ लें। यह भी बात तय हुई कि कास्तकारी कानून में संशोधन करने का बिल मुझे दिखा कर बातें करने के बाद यदि उसे प्रकाशित करें तो दिक्कत कम होगी। नहीं तो खुल के विरोध करना पड़ेगा। मगर क्या कुछ किया गया? उलटे संशोधन में लगान वसूली के केसों को दिवानी अदालतों से हटाकर माल महकमे के अफसरों के जिम्मे करने की कोशिश की गयी! ऐसा बिल बन भी गया! पीछे बड़ी दिक्कत से वह रुक सका!

पार्लिमेंटरी सेक्रेटरी श्रीकृष्ण वल्लभ सहाय ने दलील में कहा कि मालमहकमा तो हमारे अधीन होगा! इसलिए अफसरों से जो चाहें करवा लेंगे। मगर अदालतें तो स्वंतन्त्र हैं! मैंने उत्तर दिया कि क्या स्वराज्य मिल गया? सदा गद्दी पर बैठे ही रहियेगा? अब आजादी के लिए लड़ना नहीं है? और अगर आप गद्दी पर हों तो क्या होगा? जरा सोचिये तो भला। इस पर चुप रहे। मगर उनकी बात से यह भी पता चला कि अब उन लोगों ने लड़ने का खयाल छोड़ ही दिया है।

एक और सुन्दर घटना हो गयी और मैंने उन लोगों के दृष्टिकोण का अन्दाज पा लिया। जब एक-दो बार बड़े-बड़े प्रदर्शन पटने में हो गये जिनमें लाखों किसान आये तो बाद में मुलाकात होने पर प्राइम मिनिस्टर ने मुझसे कहा कि स्वामी जी, इस हंगामे (Mob) से सजग रहिये! मैं चुप सुनता रहा! मगर भीतर-ही-भीतर सोचा कि एक दिन इसी किसान समूह को मास (Mass) कहते थे यही लोग। आज वही माब (Mob) हो गया! ये किसान समूह पहले भी माब ही थे। बीच में प्रयोजनवश मास बने! फिर वही माब के माब रह गये! क्योंकि शायद अब इनकी जरूरत इन नेताओं को नहीं और जिनकी जरूरत न हो उन्हें इसी नाम से स्थिर स्वार्थ वाले सदा से पुकारते ही चले आते हैं! सरकार भी इन्हें सदा माब कहती है और अब हमारे मन्त्री लोग भी सरकार बने हैं! शायद इसलिए भी यह माब शब्द आ गया है! लेकिन किमाश्चर्यमतः परम्।

जो सबसे पहला संशोधन काश्तकारी कानून में किया गया और उसके लिए जो बिल पेश हुआ वह कांग्रेस पार्टी के सामने मंजूरी के लिए कभी आया ही नहीं! यह विचित्र बात थी! इस पर हमने श्री यमुनाकार्यी एम.एल.ए. के द्वारा असेम्बली के दो तिहाई (69) सदस्यों के हस्ताक्षर के द्वारा प्रार्थना करवाई कि वह पार्टी में

पेश किया जाय। मगर नतीजा कुछ न हुआ! इन्हीं मेम्बरों ने उसी प्रार्थना में फैजपुर प्रोग्राम और कांग्रेस की चुनाव घोषणा के आधार पर किसानों की माँगों को गिनाकर उनकी पूर्ति की माँग भी की। मगर कौन सुने?

कर्ज के बारे में जो कानून बना वह किसानों के लिए तो खास तौर से बना ही नहीं! मगर उसमें सूद की दर जो दस्तावेजी और गैर दस्तावेजी कर्जों के लिए 9 और 12 फीसदी रखी गयी थी उसे कांग्रेस पार्टी ने यद्यपि 6 और 7॥ कर दिया। फिर घुमाफिराकर वही रखी गयी। वह कानून तो इतना रद्दी बना कि दो-दो बार हाईकोर्ट को उसकी जरूरी धाराएँ गैर-कानूनी बतानी पड़ीं। तीसरी बार तो उसकी ऐसी टीका उसने की है कि शर्म मालूम पड़ती है!

वे लोग (मन्त्रीगण और उनके साथी) फैजपुर के प्रोग्राम को तो भूल ही गये। कई बातें उन्हें याद दिलानी पड़ीं। फिर भी आश्चर्य है कि 'ऐसा है?' कह के भी कोई परवाह न की! आखिरकार विवश होकर टेनेन्सी कानून के संशोधनों में दो-तीन मौके ऐसे आये जब कांग्रेस पार्टी के किसान-सभावादी सात-आठ सदस्यों ने किसान कौंसिल की राय से पार्टी की आज्ञा के विरुद्ध भाषण किया और पार्टी के साथ वोट नहीं किया! मगर उनके विरुद्ध कुछ करने की हिम्मत वे लोग कर न सके!

(10)

काश्मीर यात्रा

काश्मीर यात्रा की बात कह चुका हूँ। उसका कुछ हाल यहाँ देकर और बातें लिखने का विचार है। पहले तो दो दिनों में रावलपिण्डी से श्रीनगर बस ले जाती थी। मगर अब एक ही दिन में रात होते-होते वहाँ पहुँच जाते हैं। सो भी प्रातःकाल ही चल कर। पहाड़ों की चढ़ाई और उतराई खूब है! मरी होकर जाना पड़ता है। मरी पहुँचने पर मेघ से मुलाकात जरूर होती है। यात्रा बड़ी ही मनोरम होती है। दोनों तरफ खड़े पहाड़ और हरे-भरे जंगल चित्त को मोह लेते हैं। अधिकांश तो झेलम के किनारे-किनारे ही सड़क बनी है। उसका कलरव खूब दिलचस्प होता है।

बीच में दो मेल नामक स्थान है। यहीं से काश्मीर राज्य शुरू होता है। बड़ी सख्ती से हर चीजों की जाँच करके तब कहीं लोग और बसें आगे बढ़ने पाती हैं! हर आदमी से पूछते हैं कि किसलिए जाते हैं। कोई लेक्चर देना हो तो जाने में दिक्कतें हैं। मुझसे भी सवाल हुआ कि वहाँ लेक्चर तो न देंगे? मैंने 'नाहीं' किया। क्योंकि पूर्ण विश्राम करना था। असल में पंजाब की खुफिया पुलिस की खबर उन्हें न मिली थी। तभी तक हम वहाँ पहुँचे। नहीं तो दिक्कत होती ही। श्रीनगर पहुँचते ही खुफिया वाले दूसरे दिन सुबह हाजिर आये। फिर तो बराबर एक-दो बार दिन में आते ही

रहते थे। जब हम पहलगाँव होते हुए अमरनाथ के लिए रवाना हो गये तो एकाएक वे बड़े ही घबराये। मगर जब हम लौटे तब उन्हें शान्ति मिली!

हमें वहाँ की वे खास-खास बातें लिखनी हैं जिनका हमारे ऊपर असर हुआ। हमने सर्वत्र गन्दगी बहुत ज्यादा पायी। यहाँ तक कि तबीयत ऊब जाती थी। वहाँ वादी (वायु) की बहुतायत ऐसी थी कि पेट अफड़ता रहता और हर चीज फीकी लगती। नीबू बहुत महँगा था। बाहर से ही आता था। मगर टमाटो वगैरह सभी साग-तरकारियाँ काफी और सस्ती मिलती थीं।

जो लोग वहाँ चाय नहीं पीते उन्हें वादी की तकलीफ खूब ही भोगनी पड़ती है। मैं तो चाय पीता नहीं। इसीलिए बराबर यह कष्ट रहा। वहाँ के निवासी गरीब-से-गरीब भी चाय दिन-रात में पाँच बार पीते हैं। दूध और चीनी तो उनके लिए दुर्लभ है। इसलिए नमक डाल के ही पीते हैं। हम चलाने वाले खेतों में ही ले जाते और वहीं पीते हैं।

स्त्री और पुरुष की पोशाक तो एक सी होती है। हाँ, यदि टोपी पहने तो पुरुषों में विशेषता होती है। वहाँ समूचे काश्मीर में 95 प्रतिशत मुसलमान बसते हैं, और हैं वे बड़े ही गरीब। यदि शिकारें (नावें) और ताँगे न चलायें, हाउस बोट (नाव के ही घर) किराये पर यात्रियों को न दें, ऊनी कपड़े न तैयार करें और फल वगैरह न पैदा करें, तो वे भूखों मर जायँ!

और जब कभी हिन्दू मुसलिम दंगे हों तो भूखों मरने की नौबत आ ही जाती है। क्योंकि उस दशा में बाहर से यात्री जाते नहीं। फिर किराये पर किसे दें और सब चीजों को खरीदे कौन? इसीलिए दंगे से वहाँ की मुसलमान जनता बहुत डरती और खार खाती है! मैंने पहलगाँव से लौटते हुए 'बस' में एक मुसलमान जवान के, जो ऊनी कपड़े बेचने गया था, इस सम्बन्ध के उद्‌गार सुने और गद्‌गद हो गया। वह भुक्तभोगी था। क्योंकि ऊनी कपड़े बनाता था।

वहाँ किसानों को महाजन बहुत सताते हैं जो कर्ज पर रुपये देते हैं। किसानों की भाषा तो समझना कठिन था। मगर उनसे बातें करके देखा कि सूदखोरों के नाम पर वे उबल पड़ते थे। राज्य का कर और लगान भी भरपूर है। फिर भी किसानों के लिए विशेष रूप से कुछ किया नहीं जाता। प्रायः ढाई करोड़ की आय में साठ लाख तो सिर्फ महाराजा को ही अकेले चाहिए। फिर शिक्षा और स्वास्थ्य की कौन पूछे? उसके लिए पैसे आये भी कहाँ से?

वहाँ मुसलमानों की दो पार्टियाँ पाईं। एक तो मुहम्मद अब्दुल्ला साहब की। वह अब काश्मीर नेशनल कॉन्फ्रेंस को चलाती है। जातीयता की बात उसने छोड़ दी है। यही वहाँ आज जबर्दस्त पार्टी है। दूसरे एक मौलवी साहब हैं। मगर एक बार सत्याग्रह शुरू करके पीछे राज्य से माफी माँग लेने के कारण वह दब गये हैं। पर, अब्दुल्ला साहब तो बराबर डटे हैं। दो-एक अच्छे और काम के सिख और हिन्दू

भी इनके साथ हैं। इसीलिए इनका प्रभाव अच्छा है। सरदार बुध सिंह की बड़ी तारीफ सुनी। मगर उनसे मिल न सका। वहाँ आजादी का आन्दोलन प्रारम्भिक दशा में है। फ़लतः मध्यम श्रेणी के हाथ में ही है।

दो-तीन नौजवानों से, जो या तो ग्रेजुएट थे या कॉलेज में पढ़ते थे तथा एक मौलवी साहब से, जो एक उर्दू अखबार के सम्पादक थे, बातें करके तबीयत बहुत खुश हुई। देखा कि वे लोग जमाने को खूब ही समझते हैं। उनमें धर्म की कट्टरता हुई नहीं। यह भविष्य की अच्छी निशानी है। मौलवी साहब वहाँ के किसानों की समस्याओं को समझते थे यह भी खुशी की बात थी।

श्रावण की पूर्णिमा को बाबा अमरनाथ का दर्शन करते हैं। उसी दिन वहाँ के साधुओं का बड़ा सा दल अन्य लोगों के साथ वहाँ पहुँचता है। उसे छड़ी कहते हैं। असल में जब वह दल रवाना होता है तो उसके आगे-आगे एक सुन्दर छड़ी या लाठी लेकर एक आदमी चलता है। उस पर फूल आदि चढ़ाये रहते हैं। इसी से उस दल को ही छड़ी कहने लगे। मैं और मेरे साथी कुछ पहले ही रवाना हो गये। क्योंकि छड़ी के साथ जाने में पड़ावों पर जगह और सामान आदि मिलना असम्भव हो जाता।

पहलगाँव तक तो मोटरें और बसें चलती हैं। वहाँ से या तो पैदल चलना पड़ता है, या टट्टुओं पर। सामान लादने के लिए टट्टू रहते ही हैं। प्रायः 8-10 मील पर एक पड़ाव (चट्टी) रहती है। वहीं लोग टिक जाते हैं। पहली चट्टी चन्दनबाड़ी है। हम वहाँ टिके। अगले दिन प्रायः सीधे दो-ढाई मील की चढ़ाई पार की और शेषनाग की चट्टी पर जाकर दोपहर खाया-पीया। शाम को पंचतरणी पहुँच गये।

बीच में सबसे ज्यादा ऊँचाई पर जाते ही पानी और छोटे-छोटे ओले से भेंट हो गयी! पंचतरणी से कुछ ही पहले यह स्थान है। प्रायः रोज ही ऐसा होता है। एक मील के फासले पर टिन के दो कमरे बने हैं। जिनमें दौड़ के छिप जाते हैं। हम भी छिपे।

पंचतरणी के पहले, बल्कि चन्दनबाड़ी के आगे ही पहाड़ों पर बर्फ ही बर्फ नजर आती है। हवा खूब तेज चलती है। न पेड़, न पत्ते। नीचे से (चन्दनबाड़ी से) ही लकड़ी ले जाकर उधर जलाते हैं। थोड़ी दूर तक भोजपत्र के वृक्ष थे। फिर वह भी गायब! मगर काई जैसी घास थी जिसे भेड़ें चरती थीं उसे ही धीरे-धीरे चरती हुई पहाड़ों पर चढ़ जाती थीं। भेड़ों वाले खेमे डालकर रात-दिन पड़े रहते हैं। कभी-कभी रात में ज्यादा बर्फ पड़ने से खतरा होता है और मर भी जाते हैं। हमने देखा, उस भयंकर सर्दी में भी टट्टू रात भर वही घास चरते रहते थे!

रास्ते में सर्दी ऐसी कि जो ही अंग न ढका हो वही सुर्ख हो जाता है। पीछे वहाँ से लौटने पर सुर्ख भाग के ऊपर से पपड़ी सूखकर छूटती है। हमारे मुँह की यही दशा हुई। हमने एक पंगु को सो के घिसकते हुए जाते देखा! वाह-री हिम्मत!

वह नज़दीक तक जा चुका था।

अमरनाथ की गुफा में एक बगल में एक बिहारी बाबा थे। यह रात-दिन वहीं रहते थे! और तो कोई रात में वहाँ ठहरता नहीं। जो जाते वही उन्हें कुछ खाने का सामान और लकड़ियाँ दे जाते। रात-दिन लकड़ियाँ जलाते रहते थे और उन्हीं के आधार पर पड़े थे।

गुफा चौड़े द्वार की है। उसके कोने में कुछ बर्फ जमी रहती है। उसी पर पानी की बूँदें रह-रह के टपकती हैं, शायद पहाड़ पर बर्फ गलने के कारण ही। इसी से वह बर्फ बराबर बनी रहती है और कुछ भी नहीं देखा। वही बर्फ बाबा अमरनाथ के नाम से ख्यात है।

नहाने-धोने के लिए पास में ही सुन्दर, पर, सर्द जल का कुण्ड है। मैना या चकोर के ढंग के कुछ पक्षी नजर आये। सो भी बहुत कम। मन्दिर में कुछ कबूतर दीखे। रास्ते में कौओं की ही शकल के पक्षी मिले। मगर टाँग का निचला हिस्सा और चोंच सफेद थी। आवाज भी अजीब सी थी। सामान ले चलने वाले तो गरीब मुसलमान थे। दूसरे उधर हई कौन? मगर उनमें स्वाभिमान देखकर दिल खुश हो आया।

श्री भीष्म जी साहनी, एम.ए. नाम के एक युवक ने श्रीनगर और उस यात्रा में हमारी सबसे ज्यादा फिक्र की और हमें आराम से रक्खा। वे रावलपिण्डी के रहने वाले हैं। वहाँ अपनी नातेदारी में थे।

जब वहाँ से हम लौटे तो रावलपिण्डी से ही खुफिया वाले हमारे पीछे थे। लाहौर में तो आधे दर्जन गाड़ी के सामने खड़े रहे जब तक ट्रेन न छूटी। एक-दो तो बराबर ट्रेन में चलते थे। यहाँ तक कि मेरठ के बाद भी जब हमने बार-बार उन्हें स्टेशनों पर आते देखा, यहाँ तक कि हाथरस के आगे बढ़ने पर भी, तो गुस्सा आया कि कांग्रेसी मिनिस्ट्री भी क्या चीज है, जो ये पुलिसवाले हमें चैन से रहने नहीं देते! फिर जब मैं ऊपर वाले बर्थ पर जाकर सवेरे ही सो गया, तब कहीं उनसे पिण्ड छूटा।

(11)

प्रान्तीय किसान कॉन्फ्रेंसें

सन् 1935 ई. में हाजीपुर में जो प्रान्तीय किसान कॉन्फ्रेंस हुई थी उसके बाद अगले साल बीहपुर (भागलपुर) में होने को थी। वह साल बीतते न बीतते हो भी गयी। श्री जयप्रकाश नारायण सभापति थे। यहाँ तक कोई खास दिक्कतें न हुईं। वह तो आगे आने वाली थीं! हाँ, बीहपुर में ही 'जनता' नामक साप्ताहिक पत्र हिन्दी में निकालने और उसके लिए 'जन साहित्य संघ' स्थापित करने का विचार मित्रों ने

किया। मगर मैंने साफ कह दिया कि मैं उसमें पड़ नहीं सकता। अखबारों और संस्थाओं के जो कटु अनुभव मुझे हुए थे उनके बल पर ही मैंने 'नाहीं' की। खास कर पैसे का प्रश्न था और सार्वजनिक पैसे को जिस लापरवाही से हम लोग देखते और प्रयोग या दुरुपयोग करते हैं वह मुझे बराबर अखरता है। हजार कहने पर भी और कुछ दोस्तों के रंज हो जाने पर भी, क्योंकि मैंने उनके गुण-दोष साफ सुना दिये, मैंने 'हाँ' नहीं ही किया। फिर भी श्री जयप्रकाश नारायण ने मेरा नाम उसमें मेरी रजामन्दी के बिना ही दे दिया। मैं मुरव्वतवश इनकार न कर सका। यही मेरी भूल थी। उसका फल भी चखना पड़ा।

हाँ, तो बीहपुर में दूसरे दिन सभापति जी किसी अनिवार्य काम से चले गये और मुझे ही अध्यक्षता करनी पड़ी। हमारी सभा में झण्डे का सवाल पहले से ही छिड़ा था। वहाँ वह तेज हो गया कि कौन-सा झण्डा रखा जाय। बहुत लोग लाल और तिरंगे को एक ही साथ रखने के पक्ष में थे। इसको लेकर वहाँ बड़ी चख-चुख रही। कुछ कांग्रेसी दोस्तों ने बड़ी गड़बड़ी भी मचाई। प्रस्ताव तो यही रखा गया था कि इस मामले में सभी सभाओं से राय माँग कर फैसला करें। मगर कॉन्फ्रेंस में ऊधम मचाया गया। शाम का समय था। फिर रात हो गयी। घण्टों कुछ लोग, कुछ जवानों और छात्रों को बहका के (हू-हू) और शोर करते रहे। मेरे साथी बार-बार घबराये। मगर मैं ठण्डा रहा। कई बार समझाया, हाथ जोड़ा। पर, जब वे लोग चुप न हुए तो मैंने कहा कि इन्हें थक जाने दो। फिर काम होगा। हुआ भी वही। जब वे लोग थक के ठण्डे पड़े तो फिर काम शुरू हो के पूरा हुआ। यदि मैं घबराता, तो सारा गुड़ गोबर ही हो जाता।

सन् 1937 में हमारी कॉन्फ्रेंस मुंगेर जिले के बछवारा में होने को थी। महन्त सियाराम दास स्वागताध्यक्ष थे और पं० यदुनन्दन शर्मा सभापति। लेकिन मुंगेर जिला कांग्रेस कमिटी, प्रान्तीय कार्यकारिणी और प्रधानमन्त्री की सारी ताकत लगाकर उसका विरोध किया गया, ताकि वह विफल हो जाये। फिर भी परिणाम यह हुआ कि किसान-सभा के इतिहास में वह अद्वितीय कॉन्फ्रेंस हुई। उसमें लाखों से ज्यादा किसान सम्मिलित हुए! हाँ लाखों से ज्यादा!

बात यह थी कि उसी साल मुंगेर जिला कांग्रेस कमिटी ने प्रस्ताव कर दिया कि कोई भी कांग्रेसी किसान-सभा में भाग न ले। पीछे उसका समर्थन प्रान्त की कार्यकारिणी ने भी कर दिया। प्रधानमन्त्री का तो वह जिला ही ठहरा! इधर वहाँ के हमारे प्रमुख किसान कर्मी ठहरे पं. कार्यानन्द शर्मा जो पक्के कांग्रेसी हैं। स्वागताध्यक्ष का भी वही हाल! इसलिए कठिनाई हुई। स्वागताध्यक्ष ने वहाँ के कांग्रेसी नेताओं के पाँव पड़ के आरजू की कि सम्मेलन होने दीजिये। मगर वे तो अभिमान में चूर थे। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड उनका, कांग्रेस कमिटी उनकी और मन्त्री लोग उन्हीं के! फिर तो 'करैला नीम पर चढ़ गया'!

इतना ही नहीं कि सिर्फ वह प्रस्ताव पास हुआ। हमारे बछवारा सम्मेलन को विफल करने के लिए कांग्रेस की सारी ताकत लगी। महीनों पहले सैकड़ों स्वयंसेवकों के जत्थे बाजे-गाजे के साथ उस इलाके में भेजे गये, ताकि लोगों को गुमराह करें, रोकें। मगर नतीजा उलटा हुआ और उन्हें मुँह की खानी पड़ी। स्वागताध्यक्ष ने अपने भाषण में सबको रुला दिया, जब उन्होंने सारी दास्तान सुनाई। स्वयं भी आँसू बहाते रहे। सभापति का भाषण तो निराला ही रहा। उसमें सुधारवादी नेताओं की मनोवृत्ति की कड़ी समालोचना थी।

सारांश, उस सम्मेलन ने हमारी धाक जमा दी। जब लोग लम्बे से पण्डाल में अँट सके नहीं, तो अलग भी मीटिंग करनी पड़ी! लाउडस्पीकर के होने पर भी यह हालत थी!

वहीं बिहार प्रान्तीय प्रथम ऊख सम्मेलन पं. यमुना कार्यी की अध्यक्षता में हुआ। उसके बाद नेताओं तथा मन्त्रियों ने हमारे दमन की आशा छोड़ किसानों का फायदा पहुँचाने की ओर ध्यान देना शुरू किया।

छठा बिहार प्रान्तीय किसान सम्मेलन दरभंगा जिले के बैनी (पूसा रोड स्टेशन) में सन् 1939 के शुरू में हुआ। दरभंगा जिले के कांग्रेसी नेता तो सदा से ही किसान-सभा को फूटी आँखों देख न सकते थे। फलतः सारी ताकत से उसका विरोध किया। फिर भी लाखों किसान आये और हम पूर्ण सफल रहे। पण्डाल और उसकी सजावट वहाँ की खास बात थी। पं॰ रामनन्दन मिश्र स्वागताध्यक्ष थे। उनके तथा पं॰ धनराज शर्मा, पं. यमुनाकार्यी, डॉ. रामप्रकाश शर्मा एवं उनके साथियों के अटूट परिश्रम और पूर्ण तत्परता का नतीजा था कि शत्रुओं की एक भी न चली। उसके अध्यक्ष थे बड़हिया-टाल सत्याग्रह के योद्धा पं. कार्यानन्द शर्मा। खूबी यह रही कि सभापति अपने लाल कुर्ती वाले सैकड़ों किसान सेवकों के साथ प्रायः अस्सी मील पैदल चलकर नंगे पाँव ही वहाँ पहुँचे थे!

वहीं श्री श्यामनन्दन सिंह एम.एल.ए. की अध्यक्षता में द्वितीय प्रान्तीय ऊख सम्मेलन भी हुआ।

सन् 1939 के अन्त में होने के बजाय सन् 1940 के फरवरी मास में सातवाँ प्रान्तीय सम्मेलन चम्पारन जिले के मोतीहारी में खूब ठाट-बाट के साथ हुआ। मोतीहारी में किसान आन्दोलन का जन्म तो सन् 1927 ई. के बहुत कुछ बीतने पर हुआ ही। साथ ही, उसे गांधीवादियों के जिस प्रबल और संगठित विरोध का सामना करते हुए आगे बढ़ना पड़ा वह एक निराली चीज है। वह गांधी जी का जिला माना जाता है। वहाँ गांधीवाद के सिवाय और बातों का नाम लेना भी पाप समझा जाता था! फिर तो किसान-सभा की बात 'काबे में कुफ्र' की बात हो गयी! इसीलिए सारी दिक्कतें हुईं! मगर हमारे बहादुर और धुनी कार्यकर्त्ताओं ने खूब ही किया। आज तो वहाँ किसान-सभा काफी दृढ़ है। फलतः सम्मेलन के पण्डाल आदि की रचना

तो दर्शनीय थी ही। उसकी सफलता भी अच्छी रही और कुछ बाहरी नेता भी आये। स्वागताध्यक्ष थे श्रीमहन्त धनराजपुरी और सभापति श्री राहुल सांकृत्यायन।

वहीं पर मेरी अध्यक्षता में बिहार प्रान्तीय तृतीय ऊख सम्मेलन बहुत जम के हुआ। मेरा भाषण छपा था। उसमें ऊख वाले किसानों की सारी समस्याओं का पूरा विचार है। असल में ऊख वाले किसानों की समस्या अब इतनी गहरी और पेचीदी हो गयी है कि उसे अच्छी तरह हाथ में लिये बिना काम नहीं चल सकता। सचमुच प्रान्तीय ऊख-सम्मेलन असल में मोतीहारी में ही हुआ। दस-बारह प्रस्ताव भी पास हुए जो सारी समस्याओं पर पूरा प्रकाश डालते हैं। एक उपसमिति भी बनी जो विधान तैयार करेगी। नियमित रूप से पदाधिकारी भी चुने गये। इसका सबसे सुन्दर परिणाम यह है कि बिहटा के इलाके में जो बाकायदा ऊख संघ अब तक न था वह बन गया और फी बीघा एक आना पैसा देकर ऊख वाले किसान उसके सदस्य बने हैं। उसकी सफलता के फलस्वरूप प्रान्त भर में ऐसे ही ऊख संघ शीघ्र बनेंगे। बिना ऐसा किये काम चल नहीं सकता।

(12)

किसानों के प्रदर्शन

सन् 1937 और सन् 1938 में बिहार में किसानों के अनेक विराट प्रदर्शन पटना शहर में हुए, जिनमें प्रान्त के कोने-कोने से लाखों किसान जमा हुए। तारीफ तो यह कि किसान कोष के लिए वे लोग पैसे भी साथ लेते आये। सिपाहियों की ही तरह कतार बाँध कर शहर में आये, जिससे रास्ता भी बन्द न हुआ और लोग प्रभावित भी खूब हुए! यों तो दूसरे शहरों में भी प्रदर्शन हुए। गया के पहले विराट प्रदर्शन की बात सन् 1933 ई. में ही कह चुके हैं। पटने के पहले प्रदर्शन की बात भी लिखी चुके हैं।

19वीं नवम्बर को–सन् 1937 में ही किसान-माँग-दिवस प्रान्त भर में शान से मनाया गया। हमने तय किया कि जितने चुनाव-क्षेत्र असेम्बली के हैं, प्रत्येक में किसानों का जमाव एक ही दिन और एक ही समय हो। वहाँ से चुने गये कांग्रेसी प्रतिनिधि भी उसमें शामिल रहें। यों न आयें तो किसान उन्हें खामख्वाह बुलायें और उन्हीं के सामने अपनी माँगें वे पेश करें। हमने सभी स्थानों के लिए एक सम्मिलित माँग तैयार की थी। एक ही दिन प्रान्त के सैकड़ों स्थानों से उन्हें दुहरवाया। कोशिश यह रही कि चुनाव-क्षेत्र के कोने-कोने से लोग जमा हो जायँ। गाजे बाजे, किसान गाने और नारों के साथ प्रदर्शन में आये। इसमें हमें पर्याप्त सफलता मिली। फिर 26-11-37 को पटने में एक लाख किसानों का दूसरा प्रदर्शन हुआ।

इसी प्रकार सन् 1938 ई. में भी पटने में दो भारी प्रदर्शन हुए। पहला तो हुआ गर्मियों में बाँकीपुर के मैदान में। दूसरा भी वहीं हुआ, मगर बरसात में। गर्मियों में जो जमाव हुआ था उसका जुलूस भी सभा के बाद शहर में निकला बड़े ठाट के साथ। किसान-सभा के कार्यालय में आ के उसकी समाप्ति हुई। इसमें कांग्रेसी मिनिस्टर डॉ. महमूद आदि भी शामिल थे और कुछ बोले भी। उन्हीं के सामने हमने किसानों की माँगें पेश कीं और उन्हें मौका दिया कि वे क्या जवाब देते हैं। पीछे हमने उनकी बातों का जवाब दिया और किसानों से राय भी ली।

जब बरसात में हमने ता. 15-7-38 को प्रदर्शन की सूचना निकाली तो जमींदारों और सरकार ने बहुत विरोध किया। असल में मेरे सम्बन्ध की 'लट्ठ हमारा जिन्दाबाद' वाली बात तब तक काफी फैलाई जा चुकी थी। फलतः जमींदारों के अखबार ने झूठे ही लिख के सरकार को उभाड़ा कि किसान लोग भाले, बर्छे और लाठी से लैस होकर आ रहे हैं। हमने इसका खण्डन तो कर दिया और किसानों को यह भी आदेश दिया कि रास्ते में कहीं कोई छेड़े भी तो न बोलें। क्योंकि पैदल ही आने वाले थे। फिर भी सरकार ने पटने में पुलिस ऐक्ट और 144 धारा लगा ही तो दी। शहर से बाहर और देहातों में जमींदारों के आदमी और पुलिसवाले किसानों को भड़काते और डरवाते रहे कि मत जाओ, गोली चलेगी। ताहम कौन मानता है। खेती के दिन, बरसात और यह सभी कुचक्र होते हुए भी पचासों हजार किसान जमा हुए।

खड़ी फसल की जब्ती वाला कानून बन रहा था। हमें उसका तीव्र प्रतिवाद करना था। इसीलिए सारी शक्ति हमने लगा दी। हर प्रदर्शन के समय इसी तरह की खास बातें रहती थीं। इस बार तो कांग्रेसी लोग भी विरोध कर रहे थे। मिनिस्टरों के बँगलों के चारों ओर और असेम्बली भवन को भी घेर कर लाल पगड़ीवाले खड़े थे। घुड़सवार और दूसरे हथियारबन्द भी थे। मिनिस्टरों की यह हालत देख किसानों की आँखें खुल गयीं!

खैर, सभा हुई। हसबमालूम मैं ही सभापति था। हर बार मैं ही होता था, सिवाय पहली बार के। क्योंकि था नहीं। उसी में यह भी तय पाया था कि इस बार असेम्बली भवन, हाईकोर्ट, सेक्रेटेरियट की ओर जुलूस चलेगा और मैं ही आगे-आगे चलूँगा। किसी ऊँची सवारी पर चढ़ के, ताकि किसान इधर-उधर न जायँ और असेम्बली में न घुसें, जैसा कि पहली बार जा घुसे थे। वही हुआ। एक मील लम्बा जुलूस था और खूबी यह कि बहुत ही चौड़ी खचाखच सड़क भरी थी। थोड़ा-थोड़ा पानी भी पड़ता था। कई घण्टे लगे। मैंने इतने नारे लगाये कि मुझे भी ताज्जुब था कि क्या हो गया था। खूब मस्ती थी। हमने सरकारी महल्ले को उस दिन हिला दिया।

गत दोनों प्रदर्शनों में दानापुर के गोलेदार लोग भीगा चना, हरी मिर्च और नमक ला के बाँटते थे, ताकि दूर से आये और भूखे किसान जलपान कर लें।

मुझसे पीछे भेंट होने पर भी मुल्कराज आनन्द ने कहा कि इन प्रदर्शनों के

समय वे स्पेन में तथा दूसरे मुल्कों में थे। वहाँ वे इनका वर्णन पढ़ के उछलते थे। कहते थे कि एक-एक प्रदर्शन से स्पेन की लड़ाई में वहाँ की किसान मजदूर सरकार को काफी सहायता मिली। क्योंकि इनसे पता चलता था कि जब किसानों में असन्तोष और बगावत के भाव भर रहे हैं तो अंग्रेजी सरकार कमजोर हो रही है और उसके कमजोर होने का मतलब ही था स्पेनवालों की हिम्मत का बढ़ना एवं उन्हें अधिक सहायता का मिलना! प्रदर्शनों का इतना बड़ा महत्त्व है!

(13)

बुद्धिभेद–लट्ठ हमारा जिन्दाबाद

सन् 1937 की फरवरी में चम्पारन जिला कांग्रेस कमिटी ने एक प्रस्ताव के द्वारा यह तय किया कि स्वामी सहजानन्द सरस्वती का जो दौरा चम्पारन में होने वाला है वह रोका जाय, उसमें कोई कांग्रेसी भाग न ले और स्वामी जी को लिखा जाय कि आपके दौरे से यहाँ के लोगों में 'बुद्धि भेद' पैदा होने का डर है। अतः यहाँ दौरा न करें! मेरे पास वहाँ से कोई पत्र तो न आया। मगर मेरे दौरे को विफल करने में वहाँ के कांग्रेसियों ने सारी शक्ति लगा दी! असल में चम्पारन ने तो पथ-प्रदर्शन मात्र किया। मगर यह बात प्रान्त के कांग्रेस के लीडर नहीं चाहते थे कि किसान-सभा कायम रहे। इसीलिए चम्पारन के बाद ही सारन में भी यही बात हुई और मुंगेर की तथा प्रान्त की कांग्रेस कमिटी ने भी ऐसा ही किया। यह तो पहले ही लिखा जा चुका है।

चम्पारनवालों ने गीता के 'न बुद्धिभेदजनयेद्' का अच्छा अर्थ लगाया। उन लोगों ने चाहा कि गांधीवाद के सिवाय वहाँ कोई आवाज सुनाई न पड़े, जैसी कि तब-तक हालत थी। मगर मेरे पहले-पहल होने वाले दौरे के बाद किसान-सभा स्थापित हो जाने पर उसमें खतरा था।

मगर मेरा प्रोग्राम तो रुकता नहीं। अतः शुरू मार्च से चौबीस मीटिंगें जिले भर में करने का प्रोग्राम शुरू हो गया! विरोध भी सारी ताकत लगाकर किया गया! न सिर्फ लोगों को रोका गया, वरन् काले झण्डे का प्रदर्शन भी जगह-जगह किया गया! अजीब चहल पहल थी! मगर मेरी तो हालत है कि 'रोके भीम होय चौगुना'। जहाँ तक याद है, चौबीस में बाईस मीटिंगें तो हुईं! तीन मीटिंगें न हो सकीं और एक अन्य नयी मीटिंग हो गयी। ऐसा भी हुआ कि लौरिया जैसी जगहों में केवल 25-50 आदमी ही रहे। बाकी दूर खड़े तमाशा देखते थे, गोया मीटिंग में जाने से पाप लगेगा! कुछ मीटिंगों में तो हजारों लोग आये, खासकर शहरों में और कई देहातों में भी। मोटे अन्दाज से फिर भी 40-50 हजार लोगों ने मेरी बातें सुनीं। तारीफ

थी हमारे नये कार्यकर्त्ताओं और प्रबन्धकों की। 'जिमि दशनन महँ जीभ बेचारी' की दशा में भी उनने सारी ताकत लगा दी। पीछे हम मीटिंगें करते थे, और आगे वे लोग बढ़ते जाते थे।

भित्तिहरवा में तो जगह तक न मिल सकी! तब नूरमुहम्मद नामक एक मुसलमान जवान ने, जो मुझे जानता तक न था अपने खेत की कच्ची मटर उखाड़ डाली और वहीं सभा करने को कहा! उस पर कितना दबाव पड़ा था वह पीछे पता चला। बायकाट की धमकी के सिवाय उसके भाई के जो कुछ रुपये कहीं पड़े थे, उन्हें हड़प लेने तक की धमकी हुई, पर, उसने एक न सुनी। उसके तैयार होने पर तो पीछे सड़क के ही पास जमीन मिली और शामियाना भी। मैंने वहीं सभा भी की। मगर सभा के बाद सभी के साथ मैं उस खेत पर गया और उसकी मिट्टी सिर पर लगाकर कहा कि किसान-सभा के इतिहास में यह खेत और यह मुसलमान जवान अमर रहेंगे। ऐसे ही लोग इसकी जड़ दृढ़ करेंगे। वह जवान उसके बाद इस साल मोतीहारी में कॉन्फ्रेंस के समय मिला।

एक सभा में तो जब विरोधियों की कुछ न चली तो मीटिंग में ही शोरगुल करते रहे और बोलना चाहा। मैं बोलना बन्द करके चला आया। पीछे न जाने क्या-क्या बक गये।

इसी दौरे में जिला किसान-सभा का जन्म हुआ। दस दिन में दौरा खत्म हुआ। इसके बाद दूसरा दौरा सन् 1938 के गर्मियों में हुआ। तब तक तो हमारे आदमी मजबूत हो चुके थे। कांग्रेस के लोगों ने भी वैसा विरोध न किया। फिर भी मोटरें दौड़ीं। मुकाबले में दूसरी सभाएँ की गयीं। लोगों को धमकियाँ दी गयीं। मगर सुनता कौन था? पहली बार जो न आये वह पीछे पछताते रहे। अतः इस बार उन्होंने प्रायश्चित्त किया। उसके बाद तो जब मैं आश्विन में विजयादशमी के समय बेतिया मेले के समय सभा करने गया तो सभा में ही वहाँ के नेता श्री प्रजापति मिश्र ने पूर्व की भूलों के लिए क्षमा माँग ली। फिर तो झमेला ही खत्म हुआ। उनकी माफी ने किसान-सभा की धाक जमा दी। उन्होंने गांधीवाद के सिद्धान्त के अनुसार क्षमा माँग ली थी। ठीक ही था। मैं भी पिछली बातें भूल ही गया!

चम्पारन के पहले दौरे के बाद सारन (छपरा) जिले में भी दौरा हुआ। वहाँ भी कांग्रेस के नेताओं ने खासा विरोध किया। राजेन्द्र बाबू और प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी का हुक्म छपवा कर बाँटा गया और इस तरह लोग रोके गये। काले झण्डे भी कई जगह दिखाये गये! भैरवा में तो उनके साथी मारपीट पर उतारू थे। फलतः सभा छोड़ देनी पड़ी। आगे-आगे मोटर पर कांग्रेस के नेता लोग दौड़ते जाते, सभा स्थान पर हुक्मनामा सुनाते और मना करते थे। मगर उनके जाने के बाद फिर लोग जमा हो जाते और मेरे जाने पर मेरी बात सुनते थे। कटया में काले झंडे लेकर लड़के लोग नाकों (रास्ते की मोड़ों) पर खड़े थे। मगर जब लोग टूट पड़े तो वे भी शामिल

हो गये। वहीं 'स्वामी जी लौट जाइये' सुनाई पड़ा। मगर पहली बार के दौरे में भी हमारा काम बन गया। जब 1938 की फरवरी में हम दोबारा गये तो विरोध का वह तरीका छोड़ दिया गया! मगर शराबबन्दी वाली सरकारी लौरी पर चढ़कर उसी के प्रचार के बहाने नेता लोग गये और हमारे चले आने पर एक-दो सभाओं में ऊलजलूल बोले भी। पहले तो नहीं। मगर पीछे हमें मालूम हुआ, फिर तो तीसरी या चौथी सभा में ही उनकी दुर्दशा हुई। भैरवा में भी इस बार उन्हें मुँह की खानी पड़ी। सिवान में तो वे लोग बोलने ही न पाये। लोग मेरे बाद उनकी सुनने को तैयार न थे। गोपालगंज में मेरी सभा के बगल में ही सभा करके मेरे ही साथ जिला कांग्रेस कमिटी के सभापति चिल्लाते थे। पर, नतीजा कुछ न हुआ।

एक जरूरी बात, मेरे सामने एक भीषण समस्या इधर कुछ वर्षों से खड़ी थी। मैं समझने लगा था कि कांग्रेस के नेता अन्त में किसानों को धोखा देंगे। नतीजा होगा कि कांग्रेसी होने के नाते हम किसान-सभा वालों पर भी किसानों का अविश्वास हो जायगा। फलतः इसका उपाय होना चाहिए। मगर रास्ता सूझता न था। यदि किसान-सभा को कांग्रेस से अलग किसानों की खास संस्था कहते तो वे लोग खामख्वाह कांग्रेस की अपेक्षा सभा में ज्यादा प्रेम करते! फलतः कांग्रेस कमजोर होती! अगर ऐसा कुछ न कहते तो अन्त में गड़बड़ी का खतरा था। अजीब पहेली थी। मेरी परेशानी तथा मनोवेदना बेहद्द थी।

इसी बीच सारन, चम्पारन और मुंगेर में उक्त घटनाएँ हुईं, जिन पर प्रान्तीय कांग्रेस ने एक प्रकार से मोहर लगा दी! फलतः, कुछ रास्ता साफ हुआ। **लेकिन मेरे ऊपर हिंसा का इलजाम लगाकर सन् 1938 की फरवरी में जो मेरी और किसान-सभा की निन्दा का प्रस्ताव प्रान्तीय कार्यकारिणी ने खास राजेन्द्र बाबू की अध्यक्षता में पास कर दिया उससे मेरा रास्ता कतई साफ हो गया!** उन लोगों ने ही किसान-सभा को कांग्रेस से अलग सिद्ध कर दिया! इसका खूब प्रचार भी किया। उनके ही आदमी कहने लगे कि अमुक व्यक्ति किसान-सभा वाले हैं और अमुक कांग्रेसी।

मैंने उस प्रस्ताव के बाद प्रान्तीय कार्यकारिणी से इस्तीफा दे दिया। बात यह थी कि मैं उसका मेम्बर था। फिर भी बिना मुझे एक मौका दिये ही मेरी अनुपस्थिति में ही वह प्रस्ताव पास किया गया। अतः वह अक्षम्य था। मेरे पास उस मीटिंग की खबर तक न पहुँची! फलतः, मैं पूर्वोक्त दौरे के लिए छपरा चला गया। शायद ठीक मीटिंग के दिन वह नोटिस बिहटा गयी हो। मगर इससे क्या? मुझे तो खबर नहीं ही मिली। यदि ऐसी ही जरूरत थी तो मुझे तार क्यों न दिया गया? मैं जानता हूँ कि और मेम्बरों को तार दिया गया था और पीछे यह खबर छपी थी। चाहे जो भी हो, मुझे तो खास तौर से खबर देना जरूरी था। मीटिंग टल नहीं सकती थी क्या? क्या इतना जरूरी था कि 13 फरवरी को ही प्रस्ताव पास हो? क्या बिगड़ रहा था? क्या छपरे वाले मेरे प्रोग्राम को जानबूझ कर चौपट करना था, क्योंकि उसकी

खबर पहले से ही छपी थी? किसी भी हालत में मैं उस घोर अन्याय को बर्दाश्त क्यों करता? **मेरा स्वाभिमान मुझे कहता था कि ऐसी कमिटी से फौरन हटो।**

अब जरा 'लट्ठ हमारा जिन्दाबाद' या डण्डा कल्ट (Danda cult) की बात सुनिये। वह मेरे सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक चीज हो गयी है। उसकी ओर न सिर्फ कार्यकारिणी के उक्त प्रस्ताव में इशारा था। प्रत्युत कानपुर में एक लम्बा वक्तव्य देकर स्वयं बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने मेरे सम्बन्ध में उसका स्पष्ट उल्लेख किया था! कहा गया कि मैं किसानों से कहता फिरता था कि जमींदारों से साफ कह दें कि 'कैसे लोगे मालगुजारी, लट्ठ हमारा जिन्दाबाद'। मगर मेरी सभी स्पीचों की शार्टहैण्ड रिपोर्ट तो बराबर दो सी.आई. डी. के इंस्पेक्टर लिखा करते थे। अतः मैंने ललकारा कि उसे पढ़ कर यह चीज सिद्ध कीजिये तब जानूँ। श्री महादेव देसाई ने 'हरिजन' में इसी बारे में लम्बा लेख मेरे ही सम्बन्ध में लिखा था। मैंने उनका जवाब भी करारा दिया था। वह हरिपुरा कांग्रेस के समय अखबारों में निकला था। न जाने यह चीज कहाँ से और कैसे गढ़ी गयी! मिथ्याप्रचार की हद की गयी! वाह रे सत्य! धन्य रे अहिंसा!

लेकिन यह जरूर है कि मैं किसानों को आत्मरक्षार्थ लाठी या डण्डा चलाने को कहता था। करता भी क्या? किसान थर्राते रहते, जमींदार के अमले जूतों तथा डण्डों से उन्हें दुरुस्त करते और घर की चीजें लूट लेते थे! यहाँ तक कि बहू-बेटियों की इज्जत नहीं बच पाती थी! मैंने हजारों सभाओं में उन्हें समझाया सही कि यह गैरकानूनी काम है। इसे बन्द कीजिये। नहीं तो ठीक न होगा। मगर सुने कौन? किसान तो मुकाबिला करेंगे नहीं। वे गरीब हैं, कमजोर हैं, इसलिए केस में भी पार पायेंगे नहीं। फिर क्या परवाह, यही वे सोचते थे।

तब मैंने आत्मरक्षार्थ डण्डे आदि का प्रयोग किसानों को खुलेआम बताना शुरू किया। जाब्ता फौजदारी कानून इसका समर्थन करता है यह भी उन्हें समझाया। फिर तो किसानों की आँखें खुलीं। दो-एक जगह शैतानों को उनने दुरुस्त भी किया। फलतः यह शैतानियत और वह आतंक राज्य सदा के लिए खत्म हुआ। यही है मेरा डण्डावाद या डण्डाकल्ट। इससे गांधीवादी बिगड़े जरूर। यहाँ तक कि मेरे साथी लोग भी काँय-काँय करने लगे कि अब इसे बन्द करें। मगर मैंने साफ कह दिया कि यह उपदेश तो किसानों के लिए अमृत है। इसे क्यों छोड़ूँ? यह तो कानूनी हक है। फिर क्या बात? लोगों ने कहा, कांग्रेस इसे रोकती है। मैंने जवाब दिया कि वह अहिंसा केवल आजादी की लड़ाई के लिए ही है।

मगर इधर कुछ ऐसा हो गया था कि सर्वत्र अहिंसा के नाम पर नामर्दी का पाठ पढ़ाया जाने लगा था कि कहीं मत बोलो। हालाँकि, गांधी जी ने ही अहिंसा के नाम पर नामर्दी की अपेक्षा हिंसा को अच्छा कहा है। सो भी बार-बार। मगर सुनता कौन था? लेकिन खुशी है कि इसी जून सन् 1940 ई. में पुनः वर्किंग कमिटी ने साफ कह दिया है कि अहिंसा का प्रयोग सिर्फ आजादी के युद्ध के ही लिए है,

न कि और जगह के लिए भी। आज हमारे आका लोग भी इसे पसन्द करते हैं। क्योंकि उन्हें जर्मनी के विरुद्ध सशस्त्र युद्ध की जरूरत है न?

यही है मेरा डण्डाकल्ट और डण्डावाद। असल में मैं तो दण्डी संन्यासी कहाता ही हूँ। मेरे पास बाँस का एक दण्ड सदा रहता है। मगर वह अब तक धार्मिक था। लेकिन अब वह राजनीतिक और आर्थिक हो गया! इसीलिए उसी बुद्धि से मैंने उसे अभी तक अपना रखा है। इस डण्डावाद ने उसमें मेरा नया प्रेम और मेरे लिए नया महत्त्व पैदा कर दिया है। इसी के सम्बन्ध से शायद यह डण्डावाद मेरे नाम से प्रसिद्ध होने को था!

(14)

बड़हिया, रेवड़ा

सन् 1936 से लेकर 1939 तक बिहार में कई महत्त्वपूर्ण लड़ाइयाँ किसानों ने लड़ीं, जिनके करते न सिर्फ वे, प्रत्युत बिहार की किसान-सभा काफी प्रसिद्ध हुई। यों तो उनकी छोटी-मोटी सैकड़ों भिड़न्तें जमींदारों और सरकार के साथ हुईं। उनमें बड़हिया, रेवड़ा और मझियावाँ के बकाश्त संघर्ष (सत्याग्रह) ऐतिहासिक हैं। उनसे मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध भी रहा है। इसीलिए उनका संक्षिप्त वर्णन जरूरी है।

बड़हिया—इनमें बड़हिया टाल का आन्दोलन सबसे पुराना है। वह कांग्रेसी मिनिस्ट्री बनने के बहुत पहले सन् 1936 ई. के जून में शुरू होकर सन् 1939 ई. के मध्य तक चलता रहा। अभी भी आग भीतर-ही-भीतर सुलग रही हैं। बड़हिया मौजा पटना से पूर्व ई. आई. आर. का स्टेशन तथा मुंगेर जिले का बहुत बड़ा गाँव है। उससे दक्षिण-पूर्व-पश्चिम और लाइन से दक्षिण की लाखों बीघा जमीन को बड़हिया टाल सकते हैं। वह सख्त काली मिट्टी वाली है और उसमें सिर्फ रब्बी की फसल होती है। वर्षा के शुरू में ही सारी जमीन पानी से भर जाती है और अक्टूबर में सूखती है। उसे जोतने की जरूरत नहीं। सिर्फ बीज बो देते और फागुन-चैत में तैयार फसल काट लेते हैं। फसल खूब उपजती है। इसीलिए हजारों बीघे की खेती एक-एक जमींदार आसानी से करते हैं।

टाल में टापुओं की तरह दूर-दूर पर गाँव बसे हैं। उनमें वर्षा में नाव से ही आ-जा सकते हैं। सिर्फ एक हड़ोहर नदी बीच से गुजरती है। उसी का पानी प्रायः सभी पीते हैं। शायद ही किसी-किसी गाँव में कुआँ है। फलतः गन्दा पानी पीना ही पड़ता है। मुंगेर जिले में कांग्रेसी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड 15 वर्षों से है। मगर गरीबों की खबर कौन ले? वहाँ पक्की सड़क का भला पता कहाँ? वहाँ के बाशिन्दे अधिकांश धानुक, ढाढ़ी, मल्लाह वगैरह हैं। पुराने जमाने में वही जमीन के मालिक थे। बड़हिया

तथा और गाँवों के जमींदारों ने कल, बल, छल से उनकी पीछे जमीनें छीन लीं। फिर भी बटाई के नाम पर उन्हें देते थे। फलतः, काश्तकारी कानून के अनुसार उन जमीनों पर उन किसानों का कायमी हक हो गया है। क्योंकि 12 वर्ष से ज्यादा तो सभी ने वे जमीनें जोती हैं।

बिहार के जमींदारों के कब्जे में जो जमीनें हैं वे जिरात (सीर) और बकाश्त (खुदकाश्त) दो ढंग की हैं। सन् 1885 ई. से पहले जो जमीनें जमींदारों की खेती में लगातार 12 वर्ष रहीं, वही जिरात कहाती हैं। वे तो निश्चित हैं। घट-बढ़ नहीं सकती हैं। मगर जो जमीनें ऐसी न होने पर भी उनके कब्जे में कागजों में लिखी हैं वही बकाश्त हैं। कानून यह है कि लगातार 12 वर्ष जिस बकाश्त जमीन पर कोई रैयत (किसान) खेती करे वह उसकी कायमी (occupancy) हो जाती है। वैसा किसान फिर जिस बकाश्त को 1 साल भी जोतेगा वह भी उसकी कायमी हो जायगी। असल में किसान के पास कोई मौरूसी या कायमी जमीन रहने पर ही जो भी जमीन वह जोतेगा वही कायमी होगी। किसी मौजे में जिसके परिवार में 12 वर्ष तक लगातार खेती होती रहे वह ज्योंही बकाश्त जमीन जोतता है त्योंही उसका कायमी हक उस पर हो जाता है।

इसी कानून के अनुसार टाल के किसानों का हक हो गया था। मगर वे इसे जानते न थे। जमींदारों को भी इसकी फिक्र न थी कि वे कभी जमीन पर दावा करेंगे। जमींदारों ने प्रायः किसी के भी पास इसका सबूत रहने न दिया कि वह जमीन जोतता है। रसीद या कागज-पत्र पर कुछ लिख के देते न थे! सारा काम जबानी रहता था! फिर उन्हें फिक्र हो क्यों? वे लोग कांग्रेसी और प्राइम मिनिस्टर के लाड़ले हैं! इसलिए तो 'करैला नीम पर ही चढ़ गया'।

इधर किसान आन्दोलन ने जब किसानों में चेतना पैदा की और उन्हें उनका हक समझाया तो उन्होंने उन जमीनों पर दावा किया। उधर जमींदारों ने उनका हक साफ इनकार किया। बस, यही झगड़े की जड़ है। किसान केस तो लड़ सकते न थे। कारण, कागजी सबूत उनके पास न था। फलतः वहाँ के हमारे योद्धा पं. कार्यानन्द शर्मा की राय से उन्होंने सत्याग्रह (सीधी भिड़न्त) शुरू किया। ऐसे ही बकाश्त सत्याग्रह बिहार के रेवड़ा आदि गाँवों में हजारों जगह चले हैं। किसानों ने, उनके सेवकों ने मारे खाईं, हड्डियाँ तोड़वाईं, वे जेल गये, लूटे गये! मगर फिर भी जमीन पर से न तो हटे और न मार-पीट का उत्तर ही दिया। सैकड़ों लालवर्दी वाले स्त्री-पुरुष इस संघर्ष का संचालन पं. कार्यानन्द शर्मा के नेतृत्व में करते रहे। उनने हँस-हँस के सब कष्ट भोगे, स्वयं कार्यानन्द जी को दो बार उसी सिलसिले में जेल जाना पड़ा। दो-दो बार घुड़सवार और हथियारबन्द पुलिस का धावा टाल में हुआ। पहली बार सन् 1937 के मार्च में सैकड़ों की संख्या में, और दूसरी बार सन् 1939 में भी उन्हीं दिनों में। कभी तीन और कभी पाँच खास मजिस्ट्रेट भी लगातार वहाँ रखे गये। यों तो जब

फसल बोने का समय अक्टूबर-नवम्बर में आया तभी खास पुलिस, मजिस्ट्रेट और सवार भी पहुँचते ही रहे।

शर्मा जी पहली बार सन् 1937 ई. में 5वीं फरवरी को पकड़े गये और जून में छोड़े गये। उन पर तथा 19 और साथियों पर 120 बी., 117, 107 आदि धाराओं के अनुसार केस चले थे। वे पीछे खत्म हो गये! दो-ढाई सौ किसान भी पकड़े गये। उन पर प्रायः झूठे केस चले। पीछे अधिकांश खारिज हो गये। दूसरी बार शर्मा जी ता. 2-5-39 को गिरफ्तार हुए। उनके साथी भी पकड़े गये।

टाल के ही सम्बन्ध में सन् 1936 के अक्टूबर में मुंगेर में, सन् 1937 की फरवरी में शेखपुरा में, 1937 के अक्टूबर में लखीसराय में, 1938 के नवम्बर में लखीसराय में और 1939 के फरवरी में टाल में ही पाली में किसान सम्मेलन हुए। लखीसराय वाले सम्मेलन में आते हुए सौ किसानों का जत्था श्री पंचानन शर्मा की नायकता में बड़हिया में बुरी तरह पीटा गया! यों तो टाल के सत्याग्रह में बूढ़े स्त्री-पुरुषों की हड्डियाँ भी टूटीं। मगर वे इतने शान्त रहे कि सरकार के अफसरों को लाचार हो के कहना पड़ा कि सचमुच यही शान्ति सेना है।

दूसरी गिरफ्तारी के बाद ही पं. कार्यानन्द शर्मा और श्री अनिल मिश्र ने 'किसान-मजदूर बन्दी राजबन्दी करार दिये जायँ' इस माँग के लिए पूरे डेढ़ मास तक जेल में अनशन किया। अन्त में कांग्रेसी मन्त्रियों ने उन्हें मरणासन्न समझ कर छोड़ा! 'किसान बन्दी राजबन्दी' इस माँग के लिए श्री राहुल सांकृत्यायन को भी दो बार दस और अट्ठारह दिनों तक अनशन करना पड़ा। वह हालत खराब होने पर ही जेल से दोनों बार छोड़े गये। इसी सिलसिले में श्री जगन्नाथ प्रसाद और ब्रह्मचारी रामवृक्ष (दोनों ही सारन जिले के हैं) ने पूरे 90 दिनों की भूख हड़ताल जेल में की और मृत्युशय्या पर ही ये लोग भी रिहा हुए। यह सारी घटनाएँ कांग्रेसी मन्त्रियों के समय में हुईं! मगर वे टस से मस न हुए! उनने किसान या मजदूर बन्दियों को राजबन्दी नहीं ही माना!

पहली बार श्री कार्यानन्द जी की गिरफ्तारी के बाद पं. यदुनन्दन शर्मा को हमने प्रान्तीय किसान-सभा की ओर से टाल में भेजा। वे वहाँ चारों ओर घूमकर देखभाल करते रहे। मुझे तो न जाने कितनी बार टाल में जाना पड़ा है।

सन् 1937 के जून में श्री राजेन्द्र बाबू, श्री कृष्ण सिंह आदि की एक कमिटी बनी। उनने कुछ फैसले भी किये, गो किसानों को उनसे ज्यादा लाभ न था। फिर भी हमने उन्हें मान लेने की राय दी। मगर जमींदारों ने ही न माना। पीछे तो उस कमिटी का वह फैसला ही दबा दिया गया।

फिर सन् 1938 के अक्टूबर में मुंगेर के कलक्टर ने एक दूसरी पंचायत बनाई और फैसले का भार उसे सौंपा। उसने भी काफी गुड़ गोबर किया और बड़ी दिक्कत तथा दूसरी बार शर्मा जी की अध्यक्षता में मुंगेर कचहरी पर ही धरना देने के लिए

किसानों के अनेक जत्थे पर जत्थे जाने लगे और शर्मा जी आदि की गिरफ्तारी के बाद ही उसने कुछ किया। मुश्किल से केवल एक हजार बीघे जमीन पर उसने किसानों का अधिकार बताकर उन्हें दिया। अभी उससे कुछ ज्यादा ही जमीन पर किसानों का दावा बना है। कमिटी कुछ न कर सकी। हाँ, इसी बीच बड़हिया टाल से मिले कुसुम्भा टाल में 1800 बीघे जमीन पर जमींदार ने, जो पटने के कोई नवाब साहब हैं, किसानों का हक मान लिया है।

सन् 1936 के जून में टाल के किसानों ने कलक्टर के पास पहली दरखास्त भेजी। उनके दो जत्थे जाकर कलक्टर से मिले भी। उसी के बाद जमींदारों की नादिरशाही शुरू हुई और इंच-इंच जमीन छीन ली गयी! फिर 1937 के बीतते-न-बीतते कमरपुर में किसान खूब पिटे। उलटे 32 के ऊपर 107 का केस भी जमींदारों ने चलाया। बस, सारा गाँव उजड़कर बाल-बच्चे, पशु आदि के साथ रवाना हुआ। साथ में लम्बे-लम्बे पोस्टरों पर जमींदार का नाम और अत्याचार मोटे अक्षरों में लिखा था! कई दिन चलकर वे लोग मुंगेर पहुँचे। रास्ते में ही धूम मची। मुंगेर में जब हर गली में नारे लगाते हुए वे लोग घूमे तो खासी सनसनी फैल गयी! अन्त में कलक्टर के दबाव से कुछ कांग्रेसी नेताओं की एक तीसरी कमिटी पंचायत करने के लिए बनी। वह तो आज तक खटाई में ही पड़ी है।

इस प्रकार बड़हिया टाल में जमींदारों के दुराग्रह एवं सरकार तथा मन्त्रियों की कमजोरी, बल्कि उनके द्वारा जमींदारों को प्रोत्साहन देने और लीपापोती के कारण ही किसानों के साथ न्याय न हो सका। हालाँकि उनने मर्दानगी से कष्ट भोगे और लड़ाई लड़ी। उनके पथ-दर्शक भी पक्के मिले। सबसे बुरी दशा रेपुरा गाँव की है। वहाँ के स्त्री-पुरुषों की मर्दानगी से मैं दंग रह गया। मगर उन्हें एक इंच भी जमीन न मिली! वे भूखे नंगे हैं! तुम धन्य हो न्याय! धन्य हो शोषण!

रेवड़ा—सन् 1938 ई. के अन्त में मसौढ़ी जिला पटना में पटना जिला किसान सम्मेलन होने को था। उसके पूर्व ही बड़हिया टाल की परिस्थिति नाजुक हो गयी थी। न तो मन्त्री लोग ही कुछ कर सके और न पंचायत कमिटियाँ या कांग्रेसी लीडर ही! किसान ऊब रहे थे। वे भूखों मर रहे थे। हमने भी किसान-सभा की ओर से अभी तक उन्हें सिर्फ उपदेश ही दिया था। बड़हिया टाल का सत्याग्रह व्यक्तिगत रूप से शर्मा जी और हम लोग चलाते रहे सही। मगर किसान-सभा ने उसे खुल कर अपने हाथ में लिया न था। असल में उसने तब तक सत्याग्रह तक कदम नहीं बढ़ाया था। बिहार के हर कोने में यही हालत थी। कांग्रेसी मन्त्रियों के जमाने में तो जमींदारों की हिम्मत और भी बढ़ी थी। खास कर कांग्रेस-जमींदार समझौतों के करते। इसलिए जुल्म बढ़ रहा था। जमीने धड़ाधड़ छिन रही थीं। फलतः किसान सर्वत्र ऊब चुके थे। खतरा था कि यदि हम शान्तिपूर्ण संघर्ष में उन्हें सभा की ओर से न लगाते तो वे मारपीट और लूटपाट पर आ जाते। इधर दो-तीन मास पूर्व से

ही पं. यदुनन्दन शर्मा ने हार कर रेवड़ा में, जो गया जिले के नवादा सबडिवीजन में वारिसलीगंज से 8-10 मील उत्तर है, किसानों को तैयार करने के लिए अपना कैम्प भी खोल दिया था। वहाँ किसान-सेवक भर्ती करके उन्हें तालीम दे रहे थे।

रेवड़ा की हालत यह थी कि वहाँ प्रायः डेढ़ हजार बीघा जमीन थी और सभी जमींदार ने नीलाम करवा ली थी। वारसलीगंज के पड़ोसी साम्हे गाँव के श्री रामेश्वर प्रसाद सिंह वगैरह उसके जमींदार हैं। गाँव में 5-6 सौ आदमी चिथड़ा पहने भूखों मरते थे। ब्राह्मणों की लड़कियाँ बेची गयीं और जमींदार ने उसमें भी आधा मूल्य जमींदारी हक में ले लिया! शेष बाकी लगान में! फिर भी जमीन न बची! बूढ़ी होने पर उनमें जो बची हैं उनने अपनी कहानी हमें सुनाई! दो कद्दू कहीं छप्पर पर फला तो एक जमींदार का हो गया! दो बकरे हुए तो एक उसका! गाँववालों से एक बार उसने दूध माँगा। मगर नहीं मिला। था नहीं। उसने कहा, जैसा कि मुझे बताया गया, कि औरतों को दुह लाओ!

जमींदार के पास, मजिस्ट्रेट के पास और मन्त्रियों तथा लीडरों के पास दौड़ते-दौड़ते किसान थक चुके थे। अन्त में उनने पं. यदुनन्दन शर्मा को पकड़ा। उन्होंने भी जमींदार को बहुत समझाया। तीस रुपये फी बीघा सलामी देकर भी जमीन लेने को किसान तैयार हुए। इस प्रकार जमींदार चालीस हजार रुपये एक मुश्त पा जाता! किसान कर्ज ला के या किसी प्रकार देते ही! मगर कौन सुने!

तब शर्मा जी ने कहा कि खेत जोत लो और फसल काट लो, जो भी थोड़ा सा धान बोया है। किसानों ने उत्तर दिया कि हम उपदेश नहीं चाहते। हमने तो समझा था, आप कोई रास्ता पकड़ायेंगे। मगर जब आप भी लेक्चर ही देते हैं, तो जाइये। हमें मरने दीजिये। और अगर नहीं तो आगे हल लेकर चलिये और जोतिये। धान काटिये। पीछे हम भी रहेंगे, आपके साथ ही मरेंगे। शर्मा जी को यह बात लगी और वहीं डँट गये। मुझे खबर भेज दी कि अब मैं जेल जाऊँगा। ऐसी ही हालत है। आप एक बार आयें और देख जायँ। बिना पूछे पड़ गया, एतदर्थ क्षमा चाहता हूँ। असल में दोनों शर्मा (कार्यानन्द और यदुनन्दन) ने अभी तक बिना मुझसे पूछे ऐसा कदम कभी न बढ़ाया और न कोई खास काम ही किया था। मैं वहाँ गया और पचीस हजार किसानों—स्त्री, पुरुष, लड़कों की अपूर्व सभा थी! मैं भी हालत देख के दंग रह गया।

उसके बाद मसौढ़ी कॉन्फ्रेंस के समय मैंने पहला वक्तव्य दिया कि अब कोई चारा नहीं कि किसान-सभा आगे बढ़े और किसानों की सीधी लड़ाई—सत्याग्रह—का नेतृत्व करे। नहीं तो किसान हमसे भी निराश हो जायँगे, यही समझ के कि हम भी सिर्फ लेक्चर ही देते हैं। ये लेक्चर और प्रस्ताव तो पढ़े-लिखों के ही लिए हैं। वह इससे ऊबते नहीं। मगर जनता तो सदा काम करती है और बोलती कम है। इसलिए अब उसे काम देना हमारा फर्ज है। हम कांग्रेसी मन्त्रियों को परेशान करने

के लिए नहीं, किन्तु अपनी हस्ती कायम रखने और अपना फर्ज अदा करने के लिए ही आगे बढ़ेंगे। और जरूर बढ़ेंगे।

बस, मन्त्रियों और जमींदारों में खलबली मच गयी। मुझे बहुत बुरा-भला सुनना पड़ा। मगर सम्मेलन में मैंने अपील की कि रेवड़ा सभी किसानों का तीर्थ बने और पुकार होते ही किसान पैदल ही चारों ओर से दौड़ पड़ें। अन्न, धन की सहायता करें। हुआ भी ऐसा ही। सैकड़ों आदमी वहाँ खाते रहते। जेलयात्रियों की धूम थी। मैं भी ज्यादातर वहाँ जाता। शर्मा जी की गिरफ्तारी के बाद तो वहीं रहने भी लगा। प्रान्तीय किसान कौंसिल की एक बैठक भी वहीं हुई। सभी किसान नेता और कार्यकर्त्ता जमा हुए। सरकार परेशान थी। सैकड़ों पुलिस के जवान, उनके अफसर, खुफिया वाले और दो मजिस्ट्रेट वहाँ रखे गये थे। मगर किसान आगे बढ़ते ही गये।

वहाँ की स्त्रियों ने हमें विश्वास दिलाया कि मर्द पीछे जायँ तो जायँ। मगर हम तो आपका साथ सदा देंगी। ह्विटेकर साहब जिला मजिस्ट्रेट बन के हमें वहाँ सर करने आये थे। मगर स्वयं सर होके विलायत चले गये! सभी ताज्जुब में थे कि क्या हो गया! उन लोगों को तो वहाँ खाना मिलना असम्भव था। दूसरे गाँव में रहते थे! फिर भी दुर्दशा थी! जमींदार लाठी खाये साँप की तरह फुँफकारता था, मगर बेकार। रेवड़ा जमींदार और सरकार दोनों ही के लिए आतंक बन गया!

गया जिला कांग्रेस कमिटी ने भी हमारे सत्याग्रह का समर्थन किया था। बस, प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी बिगड़ी और प्रस्ताव करके कार्यकारिणी ने उसे डाँटा। बिना आज्ञा लिये चलाये गये सत्याग्रह को उसने नाजायज ठहराया।

इससे अधिकारियों को हिम्मत आयी। स्पेशल मजिस्ट्रेट ने फौरन ही हमें हिम्मत के साथ वह प्रस्ताव दिखाया। हम हँसे और बोले कि हमने यह सब बहुत देखा है। फिर तो उनकी हिम्मत पस्त हुई।

किसानों की दशा यह थी कि उनसे जो भी कोई कुछ पूछता और सुलह की बात करता तो मुँह फेर देते और कहते कि पं. यदुनन्दन शर्मा से पूछिये। हम तो उन्हीं का हुक्म मानेंगे। किसी की एक न चली और अन्त में हम जीते।

किसानों को जमीन मिली, जो हलवाहे, चरवाहे सभी को दी गयी। बिना जमीन वहाँ एक घर भी न रहने पाया। शर्मा जी से कलक्टर ह्विटेकर साहब ने जमींदार की ओर से समझौता किया। क्योंकि जमींदार ने लिख कर उन्हें अधिकार दिया था। प्रायः डेढ़ सौ बीघा जमींदार को देकर शेष जमीन किसानों को मिली। कांग्रेस की बकाश्त जाँच कमिटी ने डेढ़ सौ बीघे पर जमींदार का कब्जा बताया था। इसीलिए मजबूरन उतनी जमीन देनी पड़ी। आखिर करते क्या? अपनी ही कमिटी ने तो पहले ऐसा बताया था।

रेवड़ा में पहले तो पुलिस हल आदि छीन ले जाती, ज्यों ही किसान खेतों पर जाते थे। क्योंकि नोटिस लगा के खेत जब्त किये गये थे। पीछे तो एक-एक हल

पर दस-बीस किसान लिपट जाते और छोड़ते न थे, क्योंकि गरीबों को घाटा था छोड़ देने में। बस, पुलिस हार गयी! जिस दिन सभी किसान नेता वहाँ थे उस दिन औरतों ने ऐसे कमाल का सत्याग्रह किया कि पुलिस शर्मिन्दा हो के लौट गयी। 'इनक्लाब जिन्दाबाद' 'जमींदारी नाश हो' का नारा औरतों ने पुलिस के सामने और पीछे भी लगाया। असल में पुलिस औरतों का लाठा रोकने गयी थी। मगर औरतें दल बाँध के डँटी रहीं और लाठा चलाती ही रहीं। वही आखिरी भिड़न्त थी। फिर तो पुलिस को हिम्मत न हुई। हम लोग सारा नजारा देखते और दूर से हँसते रहे। पीछे पास में भी गये।

त्रिपुरी कांग्रेस के समय ही शर्मा जी साथियों के साथ जेल से रिहा कर दिये गये। सरकार ने लड़ाई के दौरान में दफा 145 के द्वारा मजिस्ट्रेट से फैसला कराने का हजार प्रलोभन दिया, तारीखें रखीं, खबर भेजी। मगर किसान नहीं गये और नहीं गये। तब अन्त में जीते।

मझियावाँ और दूसरी जगहें—इन लड़ाइयों के अलावे गया के ही मझियावाँ, अनुवाँ, आगदा, भलुवा, मझवे, साँड़ा आदि गाँवों में किसानों ने सफलतापूर्वक सत्याग्रह संग्राम किया। इसके सिवाय शाहाबाद के बड़गाँव, दरिगाँव आदि में, सारन जिले के अमवारी, परसादी, छितौली आदि में, दरभंगा के राधोपुर, देकुली, पण्डौल, पड़री (विथान) आदि में, पटना के दरमपुरा, अंकुरी, जलपुरा, तरपुरा, वेलदारीचक आदि में भी किसानों ने बड़ी मुस्तैदी से यह संघर्ष किया। चम्पारन और भागलपुर में भी संघर्ष हुए और लोग जेल गये। पूर्णियाँ तो बहुत ही पिछड़ा हुआ है। वहाँ न तो किसान-सभा ही मजबूत है और न वैसे कार्यकर्त्ता ही हैं। लेकिन खेद है कि मुजफ्फरपुर में न तो कोई संघर्ष हुआ और न किसान-सभा का इधर कोई महत्त्वपूर्ण काम ही नजर आया। हालाँकि सोशलिस्ट पार्टी के प्रमुख नेता उसी जिले के हैं। इधर वहाँ की किसान-सभा ने अपने अस्तित्व का सबूत भी नहीं दिया है, यह दुःख की बात है।

मझियावाँ में तो असल में औरतों ने ही सत्याग्रह किया और न सिर्फ उस गाँव की, वरन् आसपास के गाँवों की औरतों ने उसमें पूरा सहयोग दिया। जब टेकारी राज के गुण्डे लाठियाँ लेकर खेतों पर से उन्हें हटाने गये तो डँटी रहीं और गुण्डों को दो-तीन ने मिलकर पछाड़ा भी। और जब भाड़े की औरतें जमींदार ने भेजीं तो उन बहादुर स्त्रियों ने इन भाड़ेवालियों को बात की बात में भगा दिया। पटने के दरमपुरा में भी औरतों और बच्चों ने ही लड़ाई जीती। वैसी बहादुरी मुझे और कहीं देखने को न मिली।

साँड़ा में भी औरतों ने पुलिस का घेरा तोड़ कर खेत में हल जोता और पुलिस को भगाने को विवश किया। अनुवाँ में खेतों पर ही झोंपड़े बना कर बाल बच्चों के साथ सभी किसान जा डँटे। फिर तो सभी कोशिशें करके सरकार हार गयी। उन्होंने 144, 147 और 107 आदि धाराओं की भी परवाह न की और न कचहरी या जेल

ही गये। उन्होंने कहा कि या तो इसे ही जेल बना दीजिये या पशु आदि के साथ हमें जेल ले चलिए। हम इन्हें छोड़ के कहाँ जायँ?

दरभंगा के राघोपुर में तो गोलियाँ भी चलीं। मगर खून से लथपथ होकर भी किसान डँटे रहे। पण्डौल का सत्याग्रह तो कमाल का रहा। वहीं दरभंगा महाराजा को पाठ पढ़ना पड़ा। देकुली में सैकड़ों किसान जेल गये और तबाह किये गये। लेकिन वहाँ के सूदखोर जमींदार के नाकों दम करके ही छोड़ा। उसे एक आदमी तक मिलना असम्भव हो गया! उसका ऐसा भीषण बहिष्कार किया गया। विथान में होने वाली दरभंगा राज की नादिरशाही गरीबों ने धूल में मिला दी और जमींदारी-शान खत्म कर दी। हमारे सभी प्रमुख कर्मी बराबर जेल में बन्द रखे गये। फिर भी उनने हिम्मत न हारी।

अमवारी की बात तो श्री राहुल सांकृत्यायन के उपवास को लेकर काफी प्रसिद्ध हुई। वे दो बार जेल गये और प्रतिज्ञा के अनुसार उपवास किया। पहली बार तो सरकार (कांग्रेसी) किसान बन्दियों को राजबन्दी मानने को प्रायः तैयार भी हो गयी थी। केवल राजबन्दी की परिभाषा में उसे दिक्कत थी। वह भी करीब-करीब हल हो चुकी थी। मगर पीछे चुप्पी साध गयी।

राजबन्दियों के लिए न सिर्फ हमारे 8-10 प्रमुख कर्मियों ने प्राणों की बाजी लगा दी, किन्तु हमने प्रान्त भर में घोर आन्दोलन किया, दिवस मनाया। अखिल भारतीय किसान-सभा ने भी उसमें हमारा साथ दिया। मगर सरकार टस से मस न हुई।

उस आन्दोलन से हमने बहुत कुछ सीखा। उसमें कांग्रेसी नेताओं की मनोवृत्ति की पूरी झाँकी हमें मिली। यही क्या कम था? अमवारी के सत्याग्रह से ही इसका श्रीगणेश हुआ और प्रान्त में यह बात फैली।

अमवारी में श्री रामवृक्ष ब्रह्मचारी ने जो स्त्री-पुरुषों का अपूर्व संगठन किया और वहाँ से पैदल 14 मील सीवान तक जुलूस का जो सुन्दर प्रबन्ध किया, जिसमें स्त्रियाँ भी लाल कपड़ों में थीं, सीवान शहर में हमने उस जुलूस का जो महत्त्व देखा और उसने लोगों पर जो असर किया वह सभी बातें चिरस्मरणीय रहेंगी। जब वहीं ब्रह्मचारी जी को आधी रात के बाद पुलिस पकड़ने आयी, तो औरतों ने घेरकर ऐसा रोका कि पुलिस दंग रही। पीछे समझाने पर कठिनता से हटीं। ब्रह्मचारी जी तो इस्पात के बने हैं। किसान बन्दियों को लेकर पूरे 90 दिनों तक भूखे रहे और मृत्युशय्या पर ही छूटे। न सिर्फ उनके गाँव सबलपुर को, बल्कि किसान आन्दोलन को और खासकर मुझे उन जैसा साथी पाने का गर्व है। श्री कार्यानन्द, श्री यदुनन्दन, श्री राहुल जी जैसे मेरे गिने-चुने साथियों में वह हैं। बेशक जैसे मुंगेर के लिए कार्यानन्द, और गया के लिए यदुनन्दन हैं। उसी तरह सारन (छपरा) के लिए राहुल जी हैं और उन्हें वैसा ही साथी मिला है।

(15)

इन संघर्षों से शिक्षा

इन संघर्षों में दो हजार से ज्यादा किसान और किसान सेवक स्त्री, पुरुष, बच्चे—जेल गये। बहुत ज्यादा पीटे गये। कुछ मारे भी गये। मगर किसान हिम्मत से डँटे रहे। आज भी हिम्मंत वैसी ही है। उन्होंने दिखला दिया कि क्षेत्र तैयार है, हम तैयार हैं। स्त्रियों ने जो बहादुरी दिखाई उसका मौका तो हमें और तरह से मिलता ही नहीं। किसानों में श्रेणी की भावना ऐसी जाग्रत हुई और दूर-दूर के किसानों ने उनमें ऐसा भाग लिया कि सभी दंग रहे। हलवाहे, चरवाहे—बिना जमीन वाले भी उसमें शामिल रहे। सभी जातियों एवं धर्मों के लोगों ने भाग लिया। दरभंगे में तो हाजी लोग भी जेल गये।

मैंने हाल में पटने के बेलदारीचक में देखा कि दो किसानों को खेत में ही गोली से मार दिया गया। मगर शेष किसान ठण्डे रहे और अपना काम करते ही रह गये। फलतः जमींदार को पुलिस के डर से छिपना पड़ा। मगर किसानों को कभी ऐसी दिक्कत नहीं हुई। मगर जहाँ जरा भी गड़बड़ी हुई कि उनमें भगदड़ मची और सारा काम चौपट हुआ। घर-गिरस्ती भी खत्म हुई। इसीलिए मोतिहारी के प्रान्तीय सम्मेलन में मैंने ही प्रस्ताव किया कि हर हालत में—यहाँ तक कि हमला होने पर भी, मौजूदा हालत में पूर्ण शान्ति जरूरी है। क्योंकि जमींदारों ने यह सोचा है कि हमले करें और अगर किसान जवाब दें, तो खूनखराबी में उन्हें फँसा के त्रस्त कर दें। सौ-पचास जगहें ऐसा होने पर तो सारा आन्दोलन ही दब जायगा। इसीलिए मौजूदा हालत में साधारणतया आत्मरक्षार्थ भी हिंसा को मैंने रोकने की राय दी।

इन संघर्षों में हमने मुकदमे लड़ने से इनकार कर दिया। यों तो किसानों के लिए आमतौर से मुकदमा लड़ना ही असम्भव है। असल में सत्याग्रह का खयाल और त्याग एवं हिम्मत के बढ़ाने की भी बात थी। केस लड़ने से हमारा ध्यान भी बँट जाता है और हममें कमजोरी भी आ जाती है। मगर कुछ दिनों के बाद धीरे-धीरे जब मजबूती आ गयी तो हमने वह नीति नापसन्द की और जरूरत देख के मुकदमे भी लड़ लिये। सब मिलाकर उससे फायदा ही हुआ। अब तो मैंने निश्चय कर लिया की कानूनी अस्त्र से जितनी मदद ली जा सके ली जाय। क्योंकि हमारा सत्याग्रह गांधीजी वाला तो है नहीं। हमने तो इसमें शान्ति आदि को अपनाया है केवल फायदा देख कर। मगर केस न लड़ने से आसानी से हमारे अच्छे-अच्छे कार्यकर्त्ता ही जेल में ठूँस दिये जाते हैं, ताकि पथदर्शक बिना सारा संघर्ष ही बन्द हो जाय। इसीलिए मैं मानता हूँ कि केसों को जरूरत समझ कर लड़ा जाय और जमानत पर लोग बाहर लायें जायँ।

सबसे बड़ी बात यह रही कि हमने संघर्ष शुरू करके सुलह की बात करना

अब पसन्द किया। प्रायः सर्वत्र ऐसा ही हुआ। हमने कभी इससे इनकार नहीं किया। मगर अनुभव ने बताया कि यह चीज अच्छी नहीं। उसमें फँसा कर जमींदारों और अधिकारियों ने हमें बहुत परेशान किया। दरभंगे में तो हमारे आदमियों को बड़ा ही कटु अनुभव हुआ। कमबेश यही हालत अन्यत्र भी रही। गया में भी कुछ ऐसा ही हुआ। यहाँ तक कि रेवड़ा में भी हमें पीछे अनेक दिक्कतें उठानी पड़ीं। वहाँ भी अभी तक कुछ-न-कुछ झमेला चलता ही है। इसलिए मैं तो इस नतीजे पर पहुँचा कि साधारणतया हमें सुलह के झमेले में, लड़ाई छिड़ने के बाद, पड़ना ही न चाहिए। हार भले ही जायँ। ऐसे मौके पर हार से भी फायदा होता है। क्योंकि अपनी कमजोरियाँ मालूम हो जाती हैं।

हमने यह भी देखा कि यदि मुस्तैदी और विश्वास के साथ काम करें तो रुपये, अन्न या आदमी के बिना काम नहीं रुकता। ये तीनों चीजें किसान ही मुहय्या कर देते हैं, सो भी आसानी से। हमारी बड़ी भूल है यदि हम जनता की लड़ाई गैरों के पैसे और आदमियों से जीतना चाहते हैं। मैं उस जीत को अगर वह हो भी जाय, हार ही मानता हूँ। क्योंकि किसान उसमें स्वावलम्बी तो बनेंगे नहीं और यही लड़ाई का असली उद्देश्य है। वह हक तो कभी फिर छिन जायगा जो आज गैरों के बल से मिला है। मैंने तो किसानों को देखा है कि वह सब कुछ कर सकते हैं और भूखों मर के भी हमें मदद दे सकते हैं, यदि हममें नेताओं में विश्वास और मुस्तैदी हो। अगर यह विश्वास न हो तो हम निश्चय ही हारेंगे, यह भी मैंने अनुभव किया।

(16)

कोमिल्ला, हरिपुरा, गया और पलासा

सन् 1938 ई. के मई मास में अखिल भारतीय किसान-सभा का तीसरा अधिवेशन बंगाल के पूर्वीय छोर पर कोमिल्ला में हुआ। मैं ही उसका अध्यक्ष था। मेरा भाषण अंग्रेजी, हिन्दी और बंगला में छपा था। उस पर किसान-सभा के कुछ विरोधियों ने—जो वामपक्षी कहे जाते हैं—कुछ आक्षेप भी पीछे किये थे। उसका करारा उत्तर मुझे देना पड़ा! लोग कहते हैं कि मुसलमान लोग किसान-सभा नहीं चाहते, खासकर बंगाल के मुसलमान। मगर कोमिल्ला जिले में तो 95 फीसदी मुसलमान हैं। वहाँ सरकार ने, हक की मिनिस्ट्री ने और कुछ अपने कहे जाने वालों ने भी विरोध में खूब ही प्रचार किया। यहाँ तक कि सरकार ने सभा होने में ही दिक्कतें पेश कीं। मगर बंगाल प्रान्तीय किसान-सभा के साथियों की मुस्तैदी और अथक उद्योग से उसका काम सानन्द सम्पन्न हुआ। जिस परिस्थिति में उन्होंने सफलता प्राप्त की वह असाधारण थी!

मेरे पहुँचने पर जो जुलूस स्टेशन से चलकर शहर में घूमा वह लासानी था। विरोधी लोग सोचते भी न थे कि जुलूस को वैसी सफलता मिलेगी। उसके बाद उन्हें तमाचे लगे। फलतः सभा को सफल न होने देने में उनकी सारी शक्ति लगी। शहर के चारों ओर गुण्डे तैनात हो गये और पीट-पीटकर आने वाले किसानों के जत्थे लौटाये गये। हमारे प्रतिष्ठित साथी भी शहर में राह चलते पिटे और कोई पुर्सां हाल न था! चारों ओर मुसलिम लीग वाले शोर करते और जुलूस निकालते थे। कब कौन पिट जायगा, यह खतरा बराबर बना था! फिर भी किसान आये और खूब ही आये। वहाँ मैंने जब धर्म के ढकोसले की पोल खोली तो मुसलमान किसान और मौलवी लोग लट्टू हो गये! वे उछल पड़े! मैंने साफ समझाया कि कैसे रोटी खुदा से भी बड़ी है।

मेरे भाषण का बंगला अनुवाद बीच-बीच में मेरे साथी श्री बंकिम मुखर्जी करते जाते थे। क्योंकि लिखित भाषण के अलावे मैं जबानी भी बोला था। लेकिन जब अन्त में मुझे बोलने को कहा गया तो मैंने इस शर्त्त पर बोलना स्वीकार किया कि बंगला अनुवाद न हो और मेरी सादी हिन्दी ही किसान समझ सकें। उन्होंने मान लिया और मुझे बुलवाकर ही छोड़ा। वहीं 'ओरे भाई चासी, सत्य कथा शुन' नामक बंगाली गीत पर मैं मुग्ध हो गया। न जाने उसे कितनी बार गवाया!

कोमिल्ला की यात्रा में बंगाल में न जाने कितने ही स्टेशनों पर बंगीय युवकों का दल स्वागतार्थ मिला। कई अभिनन्दन-पत्र भी मुझे मिले। मैं आश्चर्य में था। मेरी पूर्व बंगाल की, या यों कहिये कि बंगाल की ही यह पहली यात्रा थी। वे मुझसे परिचित भी न थे। थोड़ा सा जो किसानों में मैंने काम किया उसी का यह फल था।

यह चीज अच्छी भी है और बुरी भी। अच्छी तो इसलिए कि सार्वजनिक सेवकों को प्रोत्साहन मिलता है और इसी के बल पर कठिन-से-कठिन क्लेश वे भोग सकते हैं। मगर बड़ी हानि यह है कि इस तरह बरसाती मेढक की तरह नेताओं की संख्या हम बढ़ा देते हैं। जिसे हमने अच्छी तरह परखा नहीं और न ठोंक-ठाँक कर ठीक ही किया, उसे यों क्यों माना जाय? पीछे वही धोखा दे तो? आज तो किसानों तथा मजदूरों के संघर्ष में सबसे ज्यादा खतरा नेताओं से ही है।

कोमिल्ला के पहले ही उड़ीसा में प. नीलकण्ठ दास ने एक झमेला 1937 ई. की गर्मियों में खड़ा किया था। उनने स्वतन्त्र किसान-सभा का विरोध करते हुए कही डाला था कि जो कांग्रेस का मेम्बर न हो वह किसान-सभा का भी मेम्बर नहीं बने, ऐसा ही किसान-सभा चाहिए। मैंने उन्हें उत्तर दिया कि उन्हें पता नहीं कि कांग्रेस और किसान-सभा के दृष्टिकोण में यह मौलिक अन्तर है कि जहाँ कांग्रेस राजनीतिक आईने में अर्थनीति और रोटी को देखती और राजनीति से ही उस पर आती है तथा उसे राजनीति का साधन समझ के ही अपनाती है, तहाँ किसान-सभा अर्थनीति और

रोटी के शीशे में ही राजनीति को देखती और वहाँ तक पहुँचती है उसे साधन समझकर ही। इसीलिए स्वतन्त्र किसान-सभा अनिवार्य है।

पं॰ जवाहर लाल ने राष्ट्रपति की हैसियत से एक वक्तव्य में स्वतन्त्र किसान-सभा का समर्थन तो किया था। मगर लाल झण्डे पर आक्रमण किया और कहा था कि किसानों का झण्डा तिरंगा ही होना चाहिए। इसी के बाद ही सन् 1937 में ही आल इण्डिया किसान कमिटी की बैठक नियामतपुर आश्रम (गया) में हुई। उसने किसान-सभा सम्बन्धी मेरे उड़ीसा वाले वक्तव्य का समर्थन करते हुए झण्डे के बारे में पं॰ नेहरू का लम्बा जवाब दिया। उसमें लाल झण्डे का समर्थन भी किया। वहीं पर आल इण्डिया किसान-सभा का विधान हमने पास किया। उसके बाद नवम्बर में कलकत्ते में उसकी फिर बैठक हुई और लाल झण्डा किसान रखें, यह प्रस्ताव पास हो गया।

सन् 1938 के फरवरी में मैंने गुजरात का पहला दौरा किया। हरिपुरा कांग्रेस के समय किसानों के जत्थे पैदल चल के आये और सुन्दर प्रदर्शन हो इसकी तैयारी भी की। श्री इन्दुलाल जी याज्ञिक और उनके साथियों के अदम्य उत्साह एवं कार्यपरता के कारण वह प्रदर्शन अपूर्व रहा। 20-25 हजार किसानों ने उसमें भाग लिया। सरदार बल्लभ भाई की आज्ञा थी कि कांग्रेस नगर में कोई जुलूस नहीं निकाल सकता। मगर हमने उसे न माना और खूब ही जुलूस घुमाया। शाम को सभा करके भाषण भी हुए।

गुजरात की उसी यात्रा में मुझे पता लगा कि बारदोली का किसान सत्याग्रह केवल 10-15 फीसदी मध्यम श्रेणी और धनी किसानों की ही चीज थी। वहाँ के असली किसान तो रानीपरज, दुबला और हाली कहे जाते हैं। इनकी जमीनें छिन कर केवल 10-15 फीसदी लोगों के हाथ चली गयी हैं। असली किसान लोग तो फसल का अर्द्धभाग बँटाई में देकर उन्हीं से धनियों से वही जमीनें लेते और जोतते हैं! जुल्म यह कि मूँगफली और रुई की फसलों में भी आधा देना पड़ता है। अगर फसल मारी गयी तो वे लोग नगद रुपये ही देने को बाध्य किये जाते हैं! उनकी ओर अब तक न तो सरदार बल्लभ भाई का, न गांधी जी का और न कांग्रेस का ही ध्यान गया है।

ये हाली और दुबला लोग महाजनों और धनियों के गुलाम होते हैं और उनकी राय के बिना कहीं आ-जा नहीं सकते! यदि गये तो पकड़ मँगाये जाते हैं। कोई उन्हें रखता भी नहीं!

मेरा दौरा गुजरात के कई जिलों में खूब सफल रहा। उसी साल गुजरात प्रान्तीय किसान-सभा की नींव पड़ी उसे श्री इन्दुलाल और उनके साथियों की लगन ने आज तो काफी मजबूत कर दिया है। हमारी सभा के करते ही हाली लोगों की गुलामी बहुत कुछ खत्म हो गयी है और साहूकारों की नादिरशाही नहीं के बराबर रह गयी। हालाँकि, अभी भी जुल्म होते हैं। आज हालियों में हिम्मत है।

हरिपुरा कांग्रेस में श्री सुभाष बाबू अध्यक्ष थे। उनने अपने भाषण में किसान-सभा का समर्थन किया। इसके विपरीत सरदार बल्लभ भाई ने अपने भाषण में बेमौके ही हम लोगों पर आक्रमण किया। फलतः विषय समिति में ऐसा हो-हल्ला मचा कि मजबूरन सभापति ने उन्हें बीच में ही बैठा दिया! तब कहीं शान्ति स्थापित हो सकी!

सन् 1939 ई. के अप्रैल में रेवड़ा सत्याग्रह की सफलता के बाद और त्रिपुरी कांग्रेस के पश्चात् शीघ्र ही गया में अखिल भारतीय क़िसान-सभा का चौथा वार्षिक अधिवेशन आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। गया के हमारे असली स्तम्भ पं. यदुनन्दन शर्मा तो रेवड़ा सत्याग्रह के सिलसिले में जेल में थे। वे अधिवेशन से एक ही मास पूर्व छूटे थे! फलतः अधिवेशन की तैयारी का समय असल में 15 ही दिन मिला। उसी दरम्यान प्रायः 8-10 हजार रुपये और सामान आदि का संग्रह एवं सारी तैयारी करनी पड़ी। स्वागताध्यक्ष तो हमने उन्हें ही पहले ही चुना था। बेशक, हमारे कार्यकर्त्ता लोग उसमें पिल पड़े। गया शहर से उत्तर का जितना इलाका है, जिसमें कुछ हिस्सा सदर सबडिवीजन का और शेष जहानाबाद का पड़ता है, उसने धन संग्रह करने और किसान सेवक दल को तैयार करने में कमाल किया। प्रायः सब भार उसी इलाके के मत्थे पड़ा। नवादा ने भी थोड़ा-बहुत किया। औरंगाबाद तो लापता ही रहा।

जमींदारों और कुछ कांग्रेसी दोस्तों ने सारी शक्ति लगा कर उसमें विघ्न डालना चाहा। किसानों को भड़काने के सैकड़ों रास्ते निकाले गये। न जानें कितनी नोटिसें और कितने लेख विरोध में छापे गये। सभा में किसान न आये इसी पर ज्यादा जोर रहा। बात यह थी कि थोड़े ही दिन पूर्व गया में दंगा हो चुका था। इसलिए हिन्दू-मुसलिम संघर्ष की बात कह के भड़का देना आसान था।

मगर हम भी पूरे सजग थे। मीटिंगें करके गया शहर का वायुमण्डल हमने ऐसा कर दिया कि वह खतरा ही जाता रहा। सम्मेलन में सवा लाख से ज्यादा किसान आये, ऐसा अनुमान औरों का था। पण्डाल गिरजाघर के मैदान में था। कम खर्च में वह खूब ही शानदार था। सभी ने माना कि हम सब तरह से सफल रहे। किसान कोष में पैसा देने की अपील तो किसानों से की ही थी। बीसियों बक्सों में ताले लगाने के बाद ऊपर सूराख करके स्थान-स्थान पर रख दिया था। लालवर्दी वाले सेवक किसानों को चेतावनी देते थे कि किसान कोष में पैसा डालो। पैसे पड़े भी बहुत।

वहाँ मेरी राय के विरुद्ध कुछ दोस्तों ने प्रदर्शनी का झमेला खड़ा करके हमें बहुत परेशान किया। इसमें खद्दर ही रहेगा इस पर हठ करके और भी दिक्कत पैदा की। फलतः हजारों रुपये का घाटा हमें उठाना पड़ा। यदि किसानों के फायदे की चीजें रहतीं और सभी ढंग के सामान आने पाते तो घाटे के बजाय नफा रहता।

वह तो कोई कांग्रेस की प्रदर्शनी थी नहीं।

उस मौके पर पुलिस ने तो हमारे साथ पूरा सहयोग किया, यह हम कहेंगे। प्रतिनिधियों और दर्शकों के लिए ठहरने आदि का बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध था। रेलवे ने शुरू में थोड़ी गड़बड़ी की और बिना टिकट स्वागतार्थ जाने के लिए भी प्लैट फार्म पर रोक लगायी, मगर जब हम बिगड़े तब इजाजत मिल गयी। मगर थोड़ी रोक का भी नतीजा उसे बुरी तरह भोगना पड़ा। जब सभा के बाद समूची गाड़ी में बिना टिकट के किसान बैठ गये और ट्रेन रोकना पड़ा। आखिर पुलिस ने रात में हमें खबर दी और जब हमने मोटर से बजीरगंज में जाकर किसानों को समझा के हटाया, तब कहीं गाड़ी जा सकी। उनने ट्रेन ही रोक दी थी। उससे पहले मानपुर में भी ऐसा ही हुआ था। वहाँ भी पुलिस के जवान हार चुके थे। तब हमने ही किसानों को वहाँ भी हटाया था। असल में पं. यदुनन्दन शर्मा की गिरफ्तारी के बाद पटना-क्यूल लाइन पर हजारों किसान गया जाते-आते थे, जब-जब उनका केस होता था। वे कभी टिकट लेतें न थे। पहले भी हमें एकाध बार भरी ट्रेन में से उन्हें उतारना पड़ा था। वहाँ के किसानों को इसका अभ्यास हो गया है। मगर खास-खास मौके पर ही।

गया के अधिवेशन में और प्रस्तावों के साथ विधान के संशोधन के लिए एक कमिटी बनी। उसने पीछे किसान-सभा के विधान का संशोधन तैयार किया और उसे सन् 1939 ई. के जून में बम्बई में अखिल भारतीय किसान कमिटी ने पास किया। आज उसी विधान के अनुसार किसान-सभा का काम हो रहा है।

उस सभा में एक बात और हो गयी। सभापति जी ने लाल झण्डे के विपक्ष में अपने भाषण में जो छपा हुआ था, कुछ बातें कही थीं। वे कुछ साथियों को खटकीं। फिर तो गड़बड़ी होते-होते बची। बड़ी दिक्कत से हमने सँभाला। सभापति जी ने कहा था कि किसान-सभा का रुख तिरंगे झण्डे के प्रति पूर्ण सम्मानात्मक नहीं है। प्रत्युत उसे रखने का विरोधी जैसा है। मगर पीछे हमने नियामतपुर के तत्सम्बन्धी वक्तव्य और उसके बाद वाले कलकत्ते के प्रस्ताव की प्रतिलिपि उनके पास भेज कर उनसे पूछा कि इसमें आपकी लिखी बात कहाँ है और क्या कमी है जिसे आप पूरा करना चाहते हैं? मगर उनने कोई उत्तर न दिया। फलतः झण्डे के बारे में हमारी किसान-सभा का जो पहले से मन्तव्य था वही रहा। इस प्रकार लाल झण्डा, जिस पर हँशिये और हथौड़े का आकार बना हो, किसान-सभा का झण्डा मान्य हुआ। फलतः बिहार प्रान्तीय किसान-सभा को भी उसे ही मानना पड़ा। इस तरह उसका विवाद ही खत्म हो गया।

गया के बाद पाँचवाँ अधिवेशन आन्ध्र देश में आमन्त्रित हुआ। सन् 1940 ई. के मार्च के अन्त में विजगापटम जिले के पलासा स्टेशन के पास काशी बुग्गा में वह अधिवेशन हुआ। मगर उसकी ख्याति पलासा के ही नाम से रही। अधिवेशन

तो, प्रतिदिन घोर वृष्टि के बावजूद सफल हुआ। पर्याप्त संख्या में किसान उसमें सम्मिलित भी हुए। उसकी कई बातें तो उल्लेखनीय हैं। एक तो उसके मनोनीत सभापति महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन ऐन मौके पर गिरफ्तार हो जाने के कारण वहाँ पहुँच ही न सके। केवल उनका छपा हुआ भाषण ही पहुँचा और वह वितीर्ण हुआ। उनके अभाव में पंजाब के पुराने किसान सेवक वयोवृद्ध और योद्धा बाबा रोहन सिंह भकना ने सभापतित्व किया। पीछे तो सभापति इस साल के लिए वही स्थनापन्न चुन लिये गये।

दूसरी घटना यह हुई कि अधिवेशन के अन्तिम दिन जमींदारी प्रथा का पुतला जलाने की घोषणा हो जाने से सरकार घबराई और मजिस्ट्रेट ने दफा 144 के अनुसार एक नोटिस सभापति जी, स्वागताध्यक्ष श्री श्याम सुन्दर राव एम.एल. ए., श्री प्रोफेसर रंगा आदि छः आदमियों पर तामील की कि जो यह घोषणा हुई है कि किसी जमींदार का पुतला जलाया जायगा, उससे अशान्ति फैल सकती है। इसीलिए ऐसा काम न किया जाय। पुलिस और मजिस्ट्रेट को यह भी तमीज नहीं कि जमींदार का नहीं, जमींदारी प्रथा का, पुतला जलाने को था। जो पुतला बना था उस पर यही लिखा था भी। फिर भी पुलिस की बड़ी तैनाती थी और यह भी खतरा था कि रात में पुतला जलाने पर वह धरपकड़ के साथ शायद मारपीट भी करे। यह भी डर था कि जमींदारों के गुण्डे बीच सभा में बैठे हों और ठीक उसी समय गड़बड़ी करें। इसलिए सभा के अन्त में वह पुतला सभा के बीच में नहीं, किन्तु थोड़ी दूर हट के जलाया गया। अतः कोई बाधा न हुई। श्री इन्दुलाल जी ने अपने भाषण में अधिकारियों को फटकारा भी। वे अपना सा मुँह ले के रह गये। मैंने देखा कि दिन में उस पुतले को लेकर वहाँ के किसान जुलूस के साथ बाजार में घूमे और उसे जूते, लाठी आदि से पीटते थे। मैंने अजीब उमंग उनमें देखी।

उसी अधिवेशन के बाद ही श्री रंगा जी गिरफ्तार हुए और पीछे वहीं के भाषण के लिए भारत रखा कानून के अनुसार उन पर केस भी चला। हालाँकि गिरफ्तारी तो दूसरे कारण से हुई और एक वर्ष की सजा अलग ही थी। 500 रुपये जुर्माना भी था। इस प्रकार सभापति और उपसभापति दोनों ही जेल में गये। मैं बचा उसका जेनरल सेक्रेटरी, सो मैं भी पलासा से लौटने के बाद 19वीं अप्रैल को पकड़ लिया गया। लेकिन यह सब तो होना ही था और इसमें खुशी ही थी। खेद की बात सिर्फ यही हुई कि प्रायः दो ही मास के बाद पलासा के स्वागताध्यक्ष श्री श्याम सुन्दर राव को सरकार ने उनके गाँव में नजरबन्द किया और उसके बाद ही उनका शरीरान्त हो गया!

पलासा में जो प्रस्ताव हमने राष्ट्रीय युद्ध और यूरोपीय समर के सम्बन्ध में पास किया वह अखिल भारतीय किसान-सभा के इतिहास में एक ऐतिहासिक चीज रहेगी। सरकार ने उसे पीछे जब्त भी कर लिया। पलासा में मैं ज्यादा न बोला। पहले

दिन जब लाल झण्डे का उत्थान मैंने किया तो हिन्दी में बोला। फिर दूसरे दिन अन्त में 10-15 मिनट अंग्रेजी में ही भाषण किया।

(17)

प्रान्तों के दौरे

शुरू से ही मैं इस बात की पूरी कोशिश करता रहा हूँ कि भारत के सभी प्रान्तों में, यहाँ तक कि बर्मा में भी किसान-सभाएँ बनें और उनका सम्बन्ध हमारी अखिल भारतीय सभा से हो। मुझे खुशी है कि इस काम में मुझे सफलता हुई है। प्रायः सभी प्रान्तों में किसान-सभाएँ बन गयी हैं और कुछ रियासतों में भी। यह ठीक है कि पश्चिमोत्तर-सीमाप्रान्त, तमिलनाडु, आसाम, सिन्ध और महाराष्ट्र तथा महाकोशल की सभाएँ कमजोर हैं और अधिक मुस्तैदी से काम कर नहीं सकती हैं। मगर यह भी ठीक है कि बन जरूर गयी हैं। उनने थोड़ा बहुत काम भी किया है। आशा है, अचिर भविष्य में उन्हें चुस्त और मजबूत बनाने में हम सफल होंगे।

बेशक हजार चाहने पर भी मैं सीमा प्रान्त, सिन्ध, तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक प्रान्तों के दौरे अब तक न कर सका। क्योंकि अवकाश ही न मिल सका। आन्ध्र में भी सिर्फ पलासा ही जा सका। दौरा तो वहाँ भी नहीं ही कर सका। इन सभी प्रान्तों के साथी मेरे ऊपर इसीलिए रंज भी हैं कि मैं उनकी उपेक्षा करता हूँ। परन्तु मेरी मजबूरी को भी शायद वे समझते हैं। किसानों के संघर्षों के करते बिहार से अब तक फुर्सत ही कम मिलती रही है। फिर जाता कैसे? जब-जब मौका लगा तब-तब फिर भी गया ही। पंजाब में तो दो बार गया। मगर इधर तो सर सिकन्दर ने रोक ही लगा दी। पारसाल जून में दिल्ली गया था। पंजाब जाने की बात थी ही नहीं। वहाँ के साथियों ने लिखा जरूर था। पर, मैंने इनकार किया था। फिर भी दिल्ली में ही पंजाब सरकार की नोटिस एक साल वहाँ न जाने के लिए मुझ पर तामिल हो गयी! अब अगर जाता भी तो सर सिकन्दर पकड़ के फिर पंजाब से बाहर ही कहीं रख देता। तो फिर इस नाटक से क्या मतलब? इसीलिए सीमाप्रान्त वालों से क्षमा माँग ली।

यहीं पर प्रसंगवश एक जरूरी बात कह देना चाहता हूँ। जब मैं दिल्ली में ही था तो अखबारों में आश्चर्य के साथ अपने सम्बन्ध की बात पढ़ी और मैं दंग रह गया। बिहार के कांग्रेसी अंग्रेजी दैनिक पत्र 'सर्चलाइट' ने कलकत्ते से अपने विशेष संवाददाता के द्वारा ऊपर किया गया हुआ बता के एक पत्र छापा। उसके बारे में यह बताया गया कि किसी भूतपूर्व वायसराय ने भारत में किसी के पास लिखा था। उसमें लिखा गया था कि स्वामी सहजानन्द सरस्वती के विरोध से कांग्रेस कमजोर

हो रही है। सरकार इससे फायदा उठाये। उसका यह भी मतलब था कि मैं सरकार के साथ गुप-चुप सम्बन्ध रखता हूँ और जानबूझ कर उसी के इशारे पर कांग्रेस का विरोध करता हूँ! मुझे इस पर हँसी आयी। मैंने दिल्ली की खुली सभा में ही ऐसा कहने वालों को ललकारा। पीछे तो एक वक्तव्य के द्वारा उस जाली पत्र का अक्षरशः भण्डाफोड़ किया। फिर स्टेट्समैन ने भी उसे जाली बताया। लेकिन सत्यवादी लोग कहाँ तक जाल करके विरोधी को गिराने के लिए तैयार होते हैं इसका प्रमाण उस पत्र ने दिया। उफ! यह भयंकर सत्य!

गुजरात में तो दो बार घूमा और प्रायः हर जिले में सभाएँ कीं। इस साल तीसरी यात्रा थी और डाकोर के पास प्रान्तीय किसान सम्मेलन का सभापतित्व भी करना था, 20-21 अप्रैल को। तब तक 19वीं को ही सरकार ने बन्द कर दिया। वहाँ रानीपरज में मैंने सभाएँ की हैं और उन लोगों में जीवन लाने में साथियों का हाथ बँटाया है। मैंने उनका नाच और गान देखा और आतिथ्य स्वीकार किया है। सचमुच किसान-सभा ने उन्हें हाली तथा दुबला आदि को और खेड़ा के धाराला कहे जाने वाले क्षत्रियों को आत्मसम्मान और साहूकारों से त्राण दिया है। रानीपरज की एक गीत की पहली कड़ी का अर्थ ही यह है कि किसान-सभा में जरूर शामिल हो। इसका नतीजा जरूर अच्छा होगा। हमारे स्वागत में लड़के-लड़कियों और स्त्री-पुरुषों को हमने उमंग में पाया था।

युक्त प्रान्त में तो तीन-चार बार गया। कुछ ही जिलों को छोड़ बाकी सभी में कई-कई सभाएँ कर चुका हूँ। पंचास-पचास हजार किसानों की सभाओं में अवध में भाषण देने का मौका भी मिला है। श्री हर्षदेव मालवीय के साथ ज्यादातर जिलों में गया और उनने तथा उनके साथियों ने मीटिंगों का सुन्दर प्रबन्ध किया। एक दौरे में तो रात में बलिया जिले में मोटर के साथ ही एक कुएँ में गिरते-गिरते बचा था। रास्ता ही भूल गया और सारी रात मोटर भटकती रही!

महाराष्ट्र, बरार, मराठी, मध्यप्रान्त और महाकोशल में भी कहीं एक बार और कहीं दो बार जा चुका हूँ और अनेक जिलों में सभाएँ भी हो चुकी हैं। बंगाल की बात पहले कही चुका हूँ। आसाम के ग्वालपाड़ा जिले में इसी साल फरवरी महीने में गया था और जिला किसान सम्मेलन की अध्यक्षता भी की थी। उत्कल में भी दो दौरे हुए हैं। एक का तो वर्णन पहले ही आया है। दूसरी बार सन् 1939 ई. के अगस्त में गया था, जब कि कटक में सभा हुई और अकर्मण्य प्रान्तीय किसान-सभा को फिर कार्यशील बनाया।

मैंने यह देखा कि किसान सर्वत्र तैयार हैं। मगर हमारे कार्यकर्त्ता लोगों को या तो उनमें विश्वास नहीं है, या कांग्रेस और दूसरे दलों के कामों में फँसे होने के कारण उन्हें अवकाश ही नहीं है। मैंने आश्चर्य के साथ यह भी अनुभव किया है कि किसान-सभा के काम में सोशलिस्टों से अपेक्षाकृत कहीं ज्यादा दिलचस्पी और

मुस्तैदी कम्युनिस्ट विचार वाले रखते हैं। कारण, मैं नहीं कह सकता। मगर इतने दिनों के अनुभव के आधार पर ही मैं यह बात कहता हूँ। मैंने कई बार इसका उलाहना सोशलिस्ट साथियों को दिया भी है।

(18)

त्रिपुरी और उसके बाद

सन् 1939 ई. के मार्च में त्रिपुरी (महाकोशल) में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसके सभापति श्री सुभाषचन्द्र बोस चुने गये थे। यद्यपि कांग्रेस की वर्किंग कमिटी या बड़े नेताओं ने लगातार ही दूसरी बार उनका सभापतित्व नापसन्द किया और डॉ. पट्टाभि को उनके विरोध में खड़ा करके उन्हीं का समर्थन किया। फिर भी सुभाष बाबू जीत गये! यह देश के बड़े नेताओं का ज्वलन्त अपमान था। इसे वे बर्दाश्त न कर सके और अन्त में सुभाष बाबू इस्तीफा देने के लिए मजबूर किये गये। इसका घृणिततम नाटक त्रिपुरी के पहले ही खेला जाना कैसे शुरू हुआ, त्रिपुरी में उसके कौन-कौन से बीभत्स काण्ड हुए और उसके बाद कलकत्ते की आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी में तथा पहले क्या-क्या षड्यन्त्र किये गये यह मैं निकट से देख चुका हूँ। राजनीतिक गन्दगी में बड़े-से-बड़े नेता तक इतना नीचें उतर सकते हैं जब कि गांधी जी ने उस पर सत्य और अहिंसा की मुहर लगा दी है ऐसा माना जाता है, यह मैंने प्रत्यक्ष देखा। सो भी गांधी जी का नाम लेकर ही ऐसा होते देखा!

जिस प्रकार हरिपुरा में कांग्रेसी मन्त्रियों को बोलने का मुँह न रहा था; क्योंकि उनके कामों से सर्वत्र किसानों में तथा औरों में असन्तोष की अग्नि लहक रही थी, इसीलिए राजनीतिक बन्दियों की रिहाई का सवाल उठाकर सबों का ध्यान उसी ओर आकृष्ट किया गया और बिहार तथा युक्त प्रान्त के मन्त्रियों से इस्तीफे हरिपुरा के ठीक पूर्व दिलाकर गुत्थी सुलझाई गई। ठीक उसी प्रकार त्रिपुरी के पूर्व गांधी जी के राजकोट वाले उपवास की रचना करवा के, या यों कहिये कि उसकी शरण ले के सुभाष बाबू को गिराने की कुचेष्टा की गयी! गांधी जी पर कांग्रेस का विश्वास हो, भला इस बात से कौन इनकार करे? और गांधी जी तो वहाँ थे नहीं कि पूछा जाता कि आप सुभाष को चाहते हैं या नहीं? उसी बहाने से द्रविड़ प्राणायाम के रूप में सुभाष को फाँसी पर लटकाने का श्रीगणेश त्रिपुरी की मायापुरी में किया गया, जब कि वह शख्स 105 डिग्री के ज्वर से आक्रान्त मरणासन्न वहीं पड़ा था! मेरे लिए यह असह्य दृश्य था। इसीलिए बम्बई के बाद वही पहली कांग्रेस थी जिसमें मैं बिलकुल ही मौन रहा! कुछ साथियों ने भी मेरी यह मनोवेदना समझी थी।

बात यह है कि त्रिपुरी से पूर्व सुभाष बाबू से मेरी न तो बातचीत कभी थी

और न परिचय। केवल हरिपुरा के भाषण ने मुझे उनकी ओर आकृष्ट जरूर किया था। जब देखा कि गांधी जी और श्री बल्लभ भाई के गढ़ में उन्होंने किसान-सभा का अत्यन्त स्पष्ट समर्थन किया और प्रगतिशील विचारों का भी। उनकी पूर्व प्रकाशित 'इण्डियन स्ट्रगल' (Indian Struggle) को पढ़कर कोई भी ताज्जुब कर सकता है कि गांधीवाद और गांधी जी के विचारों और कामों का शुरू से ही कट्टर विरोधी होकर भी उनके गढ़ में वह शख्स कैसे राष्ट्रपति बन सका। विरोधियों ने जरूर ही उसका लोहा माना होगा।

लेकिन जब दूसरी बार उनके राष्ट्रपति होने की बात उठी तो मैं नहीं पसन्द करता था। क्योंकि डरता था कि लगातार दो बार होने पर अवश्य गांधी जी का जादू उन पर लगेगा। फलतः उनके पुराने विचार बदलेंगे, जैसा कि औरों के बारे में मैंने अनुभव किया है। मगर जब चुनाव के दो-चार ही दिन पूर्व किसान-सभा के ही काम से कलकत्ते गया और कुछ समाजवादी साथियों ने समझाया कि सुभाष के समर्थन में हार या जीत हर दशा में लाभ है, तो मैं मान गया। वहीं से लौटकर हमने और समाजवादियों ने वक्तव्य द्वारा केवल एक दिन पहले उनका समर्थन किया। उसके बाद जब वे जीते तो वही समाजवादी लोग नाचते रहे, सारी रात चैन नहीं लिया और न हमें लेने दिया। मगर फिर पीछे वही उनके सख्त विरोधी बन गये! पर, मुझे तो विरोध का कारण आज तक न मिल सका।

त्रिपुरी में उनकी भयंकर बीमारी के समय दो-एक बार उनसे बातें करने का जरा सा समय पहले पहल मिला था। मगर वह तो कुछ न था। इसलिए वहाँ जो मेरी मनोवृत्ति थी वह स्वाभाविक थी न कि उनकी घनिष्ठता के फलस्वरूप। सच बात यह है कि समाजवादी साथियों ने अन्त में वहाँ जो रुख लिया और गांधी जी पर विश्वास वाले प्रस्ताव का विषय समिति में विरोध कर के भी पीछे ऐसा न किया, वह चीज भी मैं आज तक समझ न सका। यह बात मुझे बुरी भी लगी। मगर मैंने अपना विचार वहाँ दबा रखा। प्रस्ताव के विरोध में वोट जरूर दिया। लोग जानते भी थे कि मैं उसका विरोधी हूँ। मगर किसी से भी विरोध में वोट देने को न कहा। इससे समाजवादी पार्टी में फूट होती और मैंने उसे उस समय बचाना चाहा। प्रायः दो-चार को छोड़ उस पार्टी वाले भी सभी के सभी बड़े ही क्रुद्ध थे। मगर पीछे न जानें क्या समझ कर चुप रह गये। यह तो प्रकट सत्य है। अखबारों में सभी बातें छपी थीं भी।

त्रिपुरी में ही मैंने पहली बार कोशिश की कि सभी प्रगतिशील विचार वाले एक स्थान पर बैठकर कोई सम्मिलित कार्यक्रम बनायें। मगर वहाँ असफल रहा। फिर भी पहली बार यह प्रत्यक्ष देखा कि वामपक्षीय दल के लोग एक पार्टी के सदस्य दूसरी पार्टी वालों पर कितना अविश्वास करते हैं। वहीं यह भी देखा कि बड़े-से-बड़े नेता भी किस प्रकार प्रतिनिधियों के कैम्प में जाकर कनवांसिग करते थे! बुरी तरह बेचैन थे!

त्रिपुरी के अवसर पर कई दिन पहले ही मैं जबलपुर जा पहुँचा और कटनी, मण्डला आदि में घूमा तथा सभाएँ कीं। मेरे साथी श्री इन्दुलाल जी तो थे ही। वह तो पहले ही से वहाँ जा बैठे थे। वही तो किसानों की पैदल यात्रा और प्रदर्शन का प्रबन्ध कर रहे थे। सचमुच एक दिन तो जबलपुर के पास से त्रिपुरी तक हमें भी उसी दल के साथ पैदल जाना पड़ा। वह प्रदर्शन तो खूब ही रहा। पैदल दूर-दूर से किसान आये और जुलूस एवं प्रदर्शन शानदार रहा। झण्डा चौक में सभा हुई। कांग्रेस के वालंटियरों ने हमारा साथ पूरा-पूरा दिया! कोई बाधा न रही। यह देख हमें खुशी हुई। न जानें क्यों ऐसा हुआ? शायद बाधा देने पर वे लोग न मानते। इसी से स्वागत समिति ने बुद्धिमानी की।

वहाँ के किसान कैम्प में हमारी कई सभाएँ हुईं और हमने किसानों को पूरा-पूरा तैयार तथा अपने साथ पाया। महाकोशल में किसान-सभा की जड़ त्रिपुरी में ही पड़ी।

त्रिपुरी के बाद कलकत्ते में आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी का तमाशा देखा। वहीं अन्याय की चरम सीमा देखी। सुभाष बाबू ने राष्ट्रपति के पद से इस्तीफा दिया। यह बात हम पहले नहीं चाहते थे। मगर पीछे तो हमें भी उचित जँची। वामपक्षियों के सम्मेलन की एक कोशिश फिर वहाँ भी हुई। हमें लोग मिले भी। मगर फल कुछ सन्तोषप्रद न हुआ समाजवादी और कम्युनिस्ट दोनों ही संयुक्त वामपक्ष के विरोधी थे। यह बात हम समझ न सके।

त्रिपुरी के बाद रामगढ़ में इस साल कांग्रेस हुई। बिहार को छोड़कर छोटानागपुर में उसे करने का अर्थ हमारी समझ में नहीं आया! हम तो यही मानते हैं, जैसा कि अखबारों ने लिखा भी कि किसान-सभा के डर से ही वहाँ की गयी। पटना, गया, सोनपुर आदि में तो कई लाख किसान जमा हो जाते और नेताओं की एक न चलती। हम जो कहते किसान वही करते। मगर छोटानागपुर के घोर जंगल में यह असम्भव था। वहाँ के किसान अभी पूरे जगे नहीं हैं और दो-तीन सौ मील से लाखों का जाना आसान न था। फिर भी किसानों का प्रदर्शन तो रामगढ़ में भी अच्छा हुआ। हालाँकि बिहार के लिहाज से अच्छा नहीं कहा जा सकता। ऐसा क्यों हुआ यह कहने को यहाँ मैं तैयार नहीं, हालाँकि जानता हूँ। बेशक हमारा जुलूस कांग्रेस के राष्ट्रपति के जुलूस से कहीं शानदार और लम्बा था। कांग्रेस तो मेघ के कोप से असल में हुई ही नहीं और जो कुछ हुआ वह तो निरा तमाशा था। इसे सभी मानते हैं। इधर यह पहली ही कांग्रेस थी जिसके अन्दर या कांग्रेस नगर में मैंने पाँव तक नहीं दिया।

(19)

समझौता विरोधी सम्मेलन

इधर कांग्रेस के नेताओं और वामपक्षी पार्टियों के रुख से मैं निराश हो गया था और ऊब कर सारा समय किसानों में ही लगाने का तय कर लिया था। लोगों ने और कुछ साथियों ने इस पर यह भी दोषारोपण किया कि मैं तो राजनीति को छोड़ शुद्ध अर्थनीति (Pure economism) में पड़ गया। मुझे इनकी बुद्धि पर हँसी आयी और तरस भी।

मगर बराबर राजनीति में रहने के कारण एकदम तटस्थ होना असम्भव था। सुभाष बाबू से बातें भी होती रहती थीं। इधर जब देखा कि समझौते की मनोवृत्ति कांग्रेसी नेताओं में धीरे-धीरे दृढ़ हो रही है और राष्ट्रीय आजादी का युद्ध वे अब न छेड़ेंगे, तो कुछ साथियों और सुभाष बाबू के साथ तय पाया कि रामगढ़ में कांग्रेस के समय ही समझौता विरोधी सम्मेलन हो। फलतः उसकी तैयारी होने लगी। मगर समय महीने भर का ही था। तुर्रा यह कि लोगों ने मुझे ही स्वागताध्यक्ष बना दिया। जब मैंने जवाबदेही लेने से इनकार किया तो तय पाया कि मेरा नाम तो रहे। पर, जवाबदेही औरों पर रहे। मेरा नाम रहने से असर अच्छा होगा यही कहा गया। हुआ भी ठीक यही। सम्मेलन के अध्यक्ष सुभाष बाबू का जुलूस लासानी था। प्रकृति देवी ने भी सम्मेलन पर कृपा की और उसका खुला अधिवेशन जम के हुआ। जहाँ लाखों लोग जमा थे। कांग्रेस के ठीक उलटा हुआ। हालाँकि बड़े-बड़े नेताओं और पुराने साथियों तक ने इसमें बाधा डालने में कोई कोर-कसर न की। उन्होंने बेहयाई तक कर डाली।

मेरे विचार से उस सम्मेलन की सफलता का दारमदार यों तो अनेक साथियों पर है ही। पर, पं. धनराज शर्मा यदि न रहते तो यह बात कदापि न होती। सम्मेलन में मैंने कहा था कि यही समय कूदने का है। उसी के बाद तो कूदकर मैं जेल में आ बैठा। हमने यूरोपीय युद्ध में सहायता का खुलेआम वहाँ विरोध किया और विरोध करने की प्रतिज्ञा की। फलतः राष्ट्रीय सप्ताह में शुरू से अन्त तक मैं बिहार प्रान्त में खुल के विरोध करता रहा। फलतः उसी अपराध में पकड़ा जाकर तीन साल के लिए जेल में बन्द किया गया। ता. 29-4-40 को यह दण्ड मिला।

(20)

वामपक्ष का मेल

मैं अपने इस जीवन-संघर्ष की गाथा को पूरा करने के पहले एक जरूरी बात कह

देना चाहता हूँ, जिसमें मैंने बहुत दिलचस्पी ली और अन्त में ऊब कर जिसे छोड़ा, वामपक्षी मित्र प्रायः कहा करते थे कि यदि आप चाहें तो वामपक्षीय दलों का परस्पर मेल हो सकता है। मगर मैं इसमें पड़ता न था। परन्तु जब त्रिपुरी के बाद पड़ा तो देखा कि इस मेल का विरोध होने लगा। जो सबसे समझदार थे वही ऐसा करते थे! लेकिन सन् 1939 के जून में बम्बई में जब फारवर्ड ब्लॉक की पहली कॉन्फ्रेंस हुई तो श्री नरीमान आदि ने मुझसे पूछा कि कोई कॉन्फ्रेंस वामपक्षियों की की जाय? मैंने हाँ, कहा। बम्बई जाने पर सद्भाव प्रदर्शनार्थ वहाँ गया भी और बोला भी। उसके बाद सभी वामपक्षीय दलों की बैठक सुभाष बाबू के डेरे में हुई। कई दिन की कोशिश के बाद आखिर मेल हुआ और संयुक्त वामपक्ष कमिटी (Left Consolidation committee) भी बनी। उसमें सभी दलों के प्रतिनिधि रहे। मैं और प्रो. रंगा किसी दल के न होने के कारण किसान-सभा के ही समझकर उसमें रखे गये। बम्बई में उस कमिटी का काम खूब चला। बराबर बैठकें हुईं और आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी में किस प्रस्ताव पर क्या किया जाय, कौन क्या बोले, क्या संशोधन लायें और कौन से प्रस्ताव लाये जायँ आदि बातें तय हुईं।

उसी समय आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी में वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव आये कि बिना प्रान्तीय कांग्रेस की आज्ञा के कोई सत्याग्रह न करे और न प्रान्तीय कमिटियाँ मन्त्रियों के रास्ते में दिक्कतें डालें। सीधा अर्थ था बिहार का किसान सत्याग्रह बन्द करने का और कांग्रेस को मन्त्रियों के अधीन करके वैधानिकता की छाप उस पर लगाने का। हम सबों ने दोनों का विरोध करना तय किया। बहुत साथी बोले। सुभाष भी बोले। मैंने साफ कहा कि मैं इसे मान नहीं सकता। आप साफ कहिये कि हम कांग्रेस से निकल जायँ। यह द्रविड़ प्राणायाम क्यों? इसके बाद मैं बम्बई से चला आया।

मगर वामपक्ष कमिटी ने तय किया कि 9 जुलाई को भारत भर में इन दो प्रस्तावों का विरोध हो। बस, यहीं से फिर गड़बड़ी हुई। रायसाहब का दल तो 9 जुलाई को ही उस कमिटी से अलग हुआ। दूसरे दल अलग तो न हुए। मगर 9 जुलाई को विरोध दिवस बहुतों ने न मनाया। हमने तो पटने में जम के मनाया। उसके बाद सुभाष बाबू कांग्रेस की चुनी कमिटियों से निकाले गये। फिर भी देखा कि समाजवादी लोग ढीले पड़ रहे हैं। प्रान्तों में कुछ न किया गया।

फिर कलकत्ते में उस कमिटी की बैठक हुई जिसमें सभी दल वाले थे। लेकिन वे लोग उस कमिटी से डर रहे थे ऐसा अन्दाज लगा। वहीं राष्ट्रीय-संग्राम सप्ताह मनाने का तय पाया। मगर मैंने बहुत दर्द के साथ देखा कि हमारे बड़े-से-बड़े समाजवादी पटने में बैठे रहे और मेरे लाख कहने पर भी उनने 31 अगस्त से 6 सितम्बर तक एक दिन भी उस सप्ताह में मीटिंग तक न की। मुझे बड़ी तकलीफ हुई। पीछे तो बिहार कांग्रेस ने मुझे भी कांग्रेस से अलग कर दिया, क्योंकि मैं सत्याग्रह चलाता

ही रहा। रोका नहीं।

यूरोपीय युद्ध छिड़ने पर अक्टूबर में नागपुर में साम्राज्यविरोधी सम्मेलन सभी दल वालों से पूछ कर हुआ। मगर समाजवादी उसमें न आये। हालाँकि मैंने श्री जयप्रकाश बाबू से पहले ही पूछ लिया था। मुझे खेद हुआ। फिर 11-12 अक्टूबर को हम सभी लखनऊ में मिले। मगर देखा कि समाजवादी अपनी डेढ़ ईंट की मस्जिद अलग ही बनायेंगे। मैं उन्हें समझा कर हार गया। वहाँ से बिहार में लौटा और अन्य समाजवादी साथियों से बातें कीं। वे राजी हुए कि खुशी-खुशी मिल कर लड़ें। फिर भी न जानें क्यों बात कह के भी चुप्पी साध ली! बस, 7वीं नवम्बर को मैंने एक लम्बा पत्र सबों को लिख कर सबों से नाता तोड़ लिया। पत्र में इसके सभी कारण दिये गये हैं।

(21)

उपसंहार

मेरा खयाल था कि अन्त में अपने मुख्य-मुख्य विचार भी लिख कर इस दास्तान को पूरा करूँ। मगर इसकी काया यों ही विस्तृत हो गयी। इसीलिए मजबूरन वह खयाल छोड़ना पड़ा। वे विचार अब अलग ही लिखे जायँगे ऐसा तय कर लिया है।

लेकिन इतना तो जान ही लेना चाहिए कि मैं कमाने वाली जनता के हाथ में ही, सारा शासन-सूत्र औरों से छीनकर, देने का पक्षपाती हूँ। उनसे लेकर या उन पर दबाव डाल कर देने-दिलवाने की बात मैं गलत मानता हूँ। हमें लड़कर छीनना होगा। तभी हम उसे रख सकेंगे। यों आसानी से मिलने पर फिर छिन जायगा यह ध्रुव सत्य है। यों मिले हुए को मैं सपने की सम्पत्ति मानता हूँ।

इसके लिए हमें पक्के कार्यकर्त्ताओं और नये नेताओं का दल तैयार करना होगा। मगर जो किसानों, मजदूरों आदि को आर्थिक प्रोग्राम के आधार पर कहीं-न-कहीं उनका संगठन करके उनकी लड़ाई में सीधे शामिल न हों वह लोग उनके और हमारे नेता या कार्यकर्त्ता नहीं हो सकते। मैं किताबी ज्ञान नहीं चाहता। केवल किताबी ज्ञान से धोखा होता है। मैं लड़ाई और लड़ने वाले चाहता हूँ। मैं आर्थिक लड़ाई को छोड़कर आजादी की लड़ाई का विरोधी हूँ। मैं आर्थिक युद्ध को ही आजादी के युद्ध में परिणत करना चाहता हूँ। मैं सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति चाहता हूँ और यह दूसरे तरह हो नहीं सकती। मैं वैसे ही लोगों का साथ दूँगा।

मगर दलबन्दियों से ऊब जाने के कारण किसी भी राजनीतिक दल में शामिल होने से डरता हूँ। भरसक किसी भी दल में शामिल न हूँगा।

अवशिष्ट भाग

(1)
पृष्ठभूमि

अब तक जो कुछ लिखा गया है वह सन् 1940 ई. के अप्रैल में होने वाली जेल-यात्रा तक की ही गाथा है। जेल के ये दो साल कैसे गुजरे और वहाँ कौन सी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं, यह बात बिलकुल ही छोड़ दी गयी, छूट गयी है। यह सही है कि यह जीवन-संघर्ष की कहानी जेल में ही लिखी गयी। मगर इसका श्रीगणेश वहाँ पहुँचते ही कर दिया गया। फलतः बाद वाली बातें लिखी जा सकती थीं नहीं। वे शेष रह गयीं। सन् 1942 ई. के 8 मार्च को मेरी रिहाई हुई। तब से लेकर आज सन् 1946 ई. के मध्य तक की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ लिपिबद्ध न हो सकी हैं। इसके न रहने से यह दास्तान अधूरी ही रह जायगी, यह राम कहानी अपूर्ण ही मानी जायगी। इन घटनाओं में कुछ तो बहुत ही अहम हैं, महत्त्वपूर्ण हैं और सिद्धान्त की दृष्टि से ही उनका स्पष्ट उल्लेख निहायत जरूरी है। उन पर प्रकाश न पड़ने से अनेक भ्रमों एवं मिथ्या धारणाओं के लिए गुंजाइश भी बनी ही रहेगी। इसीलिए संक्षेप में ही सभी बातें लिख कर इस राम कहानी को आप तक पहुँचा देना, (अपटुडेट बना देना) जरूरी है।

(2)
जेल के दो साल

सन् 1940 ई. अप्रैल के मध्य से लेकर सन् 1942 ई. के मार्च के दूसरे हफ्ते तक प्रायः दो साल जेल में गुजरे और अच्छी तरह गुजरे। सजा थी सख्त। फलतः कुछ-न-कुछ काम करना जरूरी था। फल भी अच्छा ही होने को था। क्योंकि इससे हर साल प्रायः तीन महीने सजा में यों ही कम हो जाया करते हैं। इसी को मुआफी या 'रेमिशन' कहते हैं। यही जेलों का नियम है और इससे लाभ न उठाना नादानी है। कुछ काम न करने से शारीरिक, मानसिक आदि हजार संकट भी आते रहते हैं। यों ही गप्प-सड़ाके में नाहक समय कटता है। यद्यपि मेरे साथ यह बात न थी, क्योंकि मैंने अपने एक-एक मिनट के सदुपयोग के लिए नियम बना लिये थे। फिर भी मैंने जेल का कुछ काम करना समय के सदुपयोग के भीतर ही डाल दिया और प्रतिदिन कुछ-न-कुछ सूत कातना तय कर लिया। मेरा चर्खा नियमित रूप से चला करता था। इस बार का सूत जेल की ही सम्पत्ति रहा। मैंने पैसे देकर उसे रिहाई के समय खरीदा नहीं। ऐसा ही विचार हो आया।

गीता-पाठ और पुस्तकें लिखना

गीता के पठन-पाठन का काम भी चलता रहा। कुछ साथियों ने हठ किया कि उन्हें गीता पढ़ा दूँ और मैंने मान लिया। उसका समय निर्धारित था और कुछ लोग चाव तथा उत्साह के साथ नियमित रूप से पढ़ने आया करते थे।

जीवनी (मेरा जीवन-संघर्ष) के सिवाय मैंने 'किसान कैसे लड़ते हैं?', 'क्रान्ति और संयुक्त मोर्चा', 'किसान-सभा के संस्मरण', 'खेत-मजदूर', 'झारखण्ड के किसान' और 'गीता हृदय' ये छः पुस्तकें और भी लिखीं। इनमें पहली दो तो प्रकाशित भी हो गयी हैं। शेष प्रकाशित होने ही को हैं। इनमें गीता हृदय तो जेल से निकलने के ठीक पूर्व जैसे लिखा जा सका। जानें मेरे दिल में रिहाई के दो मास पूर्व क्यों यह बात जम गयी कि गीता हृदय पूरा करो, नहीं तो रिहाई होने ही वाली है और फिर वह पड़ा ही रह जायगा। बस, मैंने उसमें हाथ लगा दिया। सचमुच ही मेल की गति की बात ही क्या, मैं स्पेशल ट्रेन की चाल से चलता रहा। तब कहीं यह लम्बी पुस्तक पूरी हो सकी। लिखित कॉपी (हस्तलिपि) पर रोज-रोज की तारीखें नोट हैं कि किस दिन कितना लिखा। फिर भी इसका आशय यह नहीं है कि ऊलजलूल बातें लिख मारीं। ऐसा नहीं हुआ। जो कुछ लिखा गया वह खूब समझ-बूझ के, इतने पर भी दोई भाग पूरे हुए। तीसरा लिखा न जा सका। उसके लिए कुछ खास छानबीन और अन्वेषण जरूरी था और वैसी पुस्तकें जेल में मिल न सकती थीं। मेरा अपना विचार है कि 'गीता हृदय' में लिखी बातें अपने ढंग की निराली हैं। उनमें अधिकांश विचार के परिपाक के परिणाम हैं। कुछ तो लिखते-लिखते अकस्मात सूझीं और मैं आश्चर्यचकित रह गया। उन्हें लिपिबद्ध करने में मुझे अपार आनन्द हुआ।

कुछ और भी साथी थे जिन्हें किसान-सभा के विकास का इतिहास बताता रहा और किसानों में काम करने की शिक्षा दी। जेल में ही श्री जयप्रकाश बाबू तथा अन्यान्य पुराने साथियों से कभी बातें करने और विचार विनिमय का मौका आया तो कभी वे बेहद नाखुश भी हुए। मेरी लाचारी थी। जिससे मैं न तो उनकी सभी बातें मान सकता था और न उन्हें खुश कर सकता था।

श्री जयप्रकाश बाबू ने मुझसे बार-बार अनुरोध किया कि वे एक नयी पार्टी, 'पीपुल्स पार्टी' (जनता की पार्टी) बनाना चाहते हैं जिसमें मुझे भी रहना चाहिए। मगर मैंने नाहीं की। मेरे दिल में यह बात क्यों नहीं जँची, कौन कहे? यह बात उन्हें बुरी लगी होगी जरूर। मगर इससे वे मुझसे नाखुश हुए, ऐसा मुझे मालूम न हुआ। हाँ, अन्यान्य साथी सख्त रंज थे।

राजनीतिक शिक्षा नहीं, चर्खा

हमारी जेलयात्रा के बाद महात्माजी के द्वारा कांग्रेस का व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाया

गया जिसके फलस्वरूप सभी प्रमुख कांग्रेसी जेल में आ बैठे। इस तरह हजारीबाग जेल में प्रायः तीन-चार सौ ऐसे सज्जन थे जो बिहार के चुने-चुनाये कांग्रेसजन थे। उनमें कुछ तो काफी पढ़े-पढ़ाये लोग थे। फिर भी अधिकांश राजनीति के यथार्थ ज्ञान से बहुत दूर थे। आज तो राजनीति दर्शन और विज्ञान बन गयी है। फलतः उसके अध्ययन-मन्थन की बड़ी जरूरत है। इसके बिना हमें धोखा होगा। फिर भी देखा कि सबों का जोर केवल चर्खे पर था। राजनीति में तो शायद कुछेक की रुचि थी। मैंने लोगों से कहा भी। मगर उत्तर मिला कि राजनीति तो महात्मा गांधी के ही जिम्मे है, हमें उसकी विशेष जानकारी से क्या काम? हम तो आज्ञाकारी सिपाही हैं जिन्हें केवल चर्खा चलाना है! मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने सोचा, आखिर चर्खा तो हाथ-पाँव से चलता है, न कि दिमाग से। अगर दिमाग ने भी वही काम किया तो आदमी गधा बन जायगा। क्योंकि दिमाग के विकसित न होने का नतीजा यही होता है। हमारा देश जैसे गधों का मुल्क है, जहाँ अन्धपरम्परा के पीछे हम मरे जाते हैं और सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, धर्म सभी कुछ गँवाते हैं। **जिस देश के परलोक और स्वर्ग-बैकुण्ठ का ठेका निरक्षर एवं भ्रष्टाचारी पण्डे-पुजारियों के हाथ में हो, कठमुल्ले तथा पापी पीर-गुरुओं के जिम्मे हो उसका तो 'खुदा ही हाफिज' है। यह गधों का मुल्क नहीं है तो आखिर है क्या?** मगर वहाँ मेरी बात सुनता कौन? लाचार चुप रह जाना पड़ा।

हम और साधारण कैदी

इस बार मैंने हजारीबाग जेल में एक बात और की। साधारण कैदियों के साथ आम तौर से सभी लोग लापरवाही का सलूक करते हैं। राजबन्दी लोग इसके अपवाद नहीं होते। हाँ, कुछ लोग कभी-कभी उनकी ओर नजर जरूर फेरते हैं और दो-चार मीठी बातें कर लेते या कुछ खिला-पिला देते हैं। मगर जरूरत है कि उनकी ओर सबों के रुख में परिवर्तन हो। जेल अधिकारी उनके साथ मनुष्य का व्यवहार करें और खान-पान में उनके हकों को न मारें। मैंने हजारीबाग जेल में यही प्रश्न उठाया और खुशी है कि मुझे इसमें सफलता भी मिली। एतदर्थ मुझे जेल अधिकारियों से कभी लड़ना नहीं पड़ा। दरअसल जेल सुपरिन्टेण्डेण्ट मेजरनाथ की ईमानदारी, दूरंदेशी और सज्जनता का ही फल था कि इस ओर ध्यान दिलाते ही उनने बात मान ली। नतीजा यह हुआ कि जेल में कैदियों का डिसिप्लीन बना रहा। फिर भी उनका खान-पान बहुत कुछ सुधर गया। उनके साथ सलूक भी अच्छा होने लगा। यदि जेलों में कैदियों के राशन और वस्त्रादि में अधिकारी लोग चोरी न करें तो उन्हें बहुत कुछ आराम मिले। यही बात वहाँ हुई। फलतः वे कैदी बरसों मेरे रहते आराम से रहे जिससे आज भी मुझे याद करते रहते हैं, ऐसी खबरें मिला करती हैं।

मेजरनाथ

जब साधारण बन्दियों के सम्बन्ध में मेजरनाथ का ऐसा सुन्दर रुख था, तो राजबन्दियों के बारे में कहना ही क्या? शायद ही ऐसा कोई बदबख्त राजबन्दी होगा जिसने उनसे बुरा माना। यों तो समय पर जेल के नियमों की पाबन्दी करना-कराना उनका प्रधान काम था ही और अगर इससे कोई बुरा माने तो बात ही दूसरी है। मगर पीछे चल कर इसी शराफत और भलमनसी के चलते मेजरनाथ को नाहक परेशानी उठानी पड़ी और बरसों उनके बारे में डिपार्टमेण्ट की ओर से जाँच-पड़ताल होती रही। हालाँकि आखिरकार वे शान के साथ निर्दोष साबित हुए। जेल के नियमों की पाबन्दी करते-कराते अगर उनने नियमानुसार ही राजबन्दियों को आराम दिया तो बुरा क्या किया? यदि कायदा-कानून तोड़ते तो बात दूसरी थी। मगर विदेशी सरकार जो ठहरी।

राजनीतिक पण्डागिरी

इस बार भी राजनीतिक पार्टियों की धमाचौकड़ी और उथल-पुथल भीतर-ही-भीतर जेल में खूब रही। एक राजबन्दी ने बैठे-बिठाये एक मनोरंजक कार्टून (व्यंग्य-चित्र) इस सम्बन्ध में बना डाला जो इन पार्टियों की मनोवृत्ति पर पूरा प्रकाश डालता था और पार्टियों के तथाकथित संचालक-सूत्रधार क्या करते हैं उसका खासा चित्रण था। चित्र में इन सूत्रधारों के हाथों में वंशी पकड़ा दी गयी थी और उसे लेकर ये लोग जेल के फाटक पर खड़े थे। उधर से कोई नया राजबन्दी आया कि वहीं उसके फँसाने की कोशिश शुरू हो गयी। इस काम के लिए कपड़ा-लत्ता, बीड़ी-सिगरेट आदि सभी प्रकार की चीजें इन आगन्तुकों को दी जाती थीं, ताकि वे किसी पार्टी के सदस्य बनें और कायम रहें। हर पार्टीवालों को यही कोशिश होती थी कि वह हमारे चंगुल में फँसे। गया प्रभृति तीर्थों के पण्डे अपने एजेण्टों और दलालों को स्टेशनों एवं धर्मशालाओं में भेज कर अपने-अपने यात्रियों को 'गिरफ्तार' करते हैं। यही बात यहाँ भी थी। पण्डों के दलाल यात्रियों के घर द्वार पूछ कर ही उन्हें अपने यहाँ ले जाते हैं। यहाँ भी कुछ उसी प्रकार की बातें होती थीं और आगन्तुक राजबन्दियों के साथ अपने तथा अपनों के पूर्व परिचयों से अनुचित लाभ उठाया जाता था, जबकि पण्डे ऐसा लाभ नहीं उठा सकते। इस प्रकार यह निराली राजनीतिक पण्डागिरी खूब चलती थी और अन्ततोगत्वा अधिकांश आगन्तुक किसी न किसी पार्टी में फँसी जाते थे यदि वह घोर गांधीवादी या बहुत ही पक्के विचार के न हुए। यह बात मुझे बहुत ही खलती थी, खासकर इसलिए कि धार्मिक सम्प्रदायों की ही तरह ये राजनीतिक सम्प्रदाय एक-दूसरे को गालियाँ देते और उनके नेताओं को देशद्रोही और गद्दार तक कह डालते हैं। हर पार्टी सोचती है कि देश का उद्धार एकमात्र उसी के बताये रास्ते से हो सकता है। धर्मवाले भी मुक्ति के बारे में ऐसा ही मानते हैं। एक ओर तो

ये भलेमानस देशव्यापी राष्ट्रीय एकता की बात बोलते हैं। दूसरी ओर जो लोग हिमालय-लंघन जैसी कठिन एकता के लाने में सहायक हो सकते हैं। वही आपस में जूती पैजार करते रहते हैं। आखिर इन पार्टियों तथा उनके नेताओं में ही तो समझदारी और राजनीतिक चेतना है और बाकियों को यही समझा सकते हैं। किन्तु खुद यही नासमझ बने आपसी टीका-टिप्पणी और छिद्रान्वेषण में ही सारा समय बिताते हैं! मैं इसे निरा पागलपन मानता हूँ कि किसी पार्टी में जाते ही बड़े-से-बड़ा देशभक्त देशद्रोही माना जाने लगे। मैं इतनी दूर जाने की हिम्मत नहीं रखता।

पार्टियों में क्यों नहीं

मैं यदि पार्टियों से भड़कता हूँ तो उसकी यह एक बहुत बड़ी वजह है। आज तो मैं पार्टी लीडरों को देशभक्त मानता हूँ और कल ही किसी पार्टी में घुसा कि बाकियों को गद्दार समझने की नादानी ही करनी पड़ी! कम-से-कम इस बात का 'गुरु मन्तर' तो उस पार्टी में दिया ही जाना शुरू हुआ। यह रंगीन दृष्टि बहुत ही खतरनाक है। मैं इससे डरता हूँ। यह समझ में आने की चीज भी नहीं। समझ में आये भी कैसे? पार्टीवाले व्यक्तित्व एवं व्यक्तिगत समझ को तो खत्म ही कर देते हैं। पार्टियों में इसके लिए गुंजाइश नहीं! वहाँ तो घुसते ही व्यक्ति ठेठ समष्टि बन गया! यह अजीब जादू, निराली कीमिया, विचित्र जड़ीबूटी है जो छूमन्तर करती है। हम पार्टी में गये और हमारी स्वतन्त्रता ही गायब, हालाँकि हमारा सबसे पहला लक्ष्य है यह स्वतन्त्रता ही। चालीस कोटि जनों की स्वतन्त्रता तो हम जरूर चाहते हैं! मगर इसके लिए जरूरी है कि अपनी स्वतन्त्रता, अपने सोचने-विचारने और बोलने की स्वतन्त्रता को गँवा दें—समष्टि की, पार्टी की स्वतन्त्रता में व्यक्ति की, व्यष्टि की यह आजादी हजम करवा दें। मेरे जैसा तुच्छ व्यक्ति इतना बड़ा त्याग करने की हिम्मत नहीं रखता कि जिस स्वतन्त्रता के लिए लड़े-मरे उसे ही अपने लिए खत्म कर दें, अपने को निरी मशीन बना दें और इस तरह **'बहुत ढूँढ़ा उसे हमने न पाया। अगर पाया पता अपना न पाया'** वाली वेदान्तियों की बात चरितार्थ करे। मैं मानता हूँ कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कुछ हद तक मिटाये बिना कोई संस्था नहीं चल सकती। मगर यह भी मानता हूँ कि ब्योरे की बातों में ही यह बात सम्भव है और होनी चाहिए। सिद्धान्त की बातों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता रहनी ही चाहिए। यह दूसरी बात है कि उस मामले में भी, हम संस्था या समष्टि का खुल के या संगठित विरोध न करें, खासकर ऐतिहासिक और युद्ध के समय जब कि जीवन-मरण की बात हो। हम अपना व्यक्तिगत खयाल जाहिर करके चुपचाप बैठ जायँ और सक्रिय विरोध न करें, यह तो समझ की बात है। मगर विचार ही खत्म कर दें यह भयंकर बात है।

पार्टियों की करतूतें

जेल में इस बार जो पार्टियों की करतूतों का कटु अनुभव हुआ वह कभी भूलने का नहीं। उनने भरसक कोशिश की कि जो उनमें शामिल न हों उनका जीवन नारकीय बन जाय। खासकर एक पार्टी के तथाकथित महारथियों की करनी रुलाने एवं गुस्सा लाने वाली थी। उनने कोई भी तरीका उठा न रखा लोगों को अपनी पार्टी में भर्त्ती करने और भर्त्ती न होने वालों का जीवन कष्टमय बनाने में। धमकी और मारपीट तक उतर आये। समस्त जेल का वायुमण्डल अत्यन्त दूषित बन गया और जेल की अपनी कोठरी (सेल से बाहर निकलना असम्भव था। मेरी तो दिनचर्या ही ऐसी थी कि मिनट-मिनट कामों में बँटे थे और दैनिक क्रियाएँ घड़ी की सुई की तरह ठीक समय होती थीं। फिर भी सचमुच ही मैं भयभीत था कि ये पार्टी के भूत न जाने क्या कर डालें और किस तरह कब पेश आयें। फिर भी मैंने अपना यह भय किसी पर प्रकट नहीं किया। नहीं तो मामला और बेढब हो जाता।

दिनचर्या

मेरा भोजन तो चौबीस घण्टे में एक ही बार होता था सो भी आम तौर से दलिया ही खाता था। यह मेरा चिरपरिचित प्रियतम खाद्य है। पानी में पके गेहूँ के दलिए को मैं अत्यन्त प्रेम से खाता हूँ। उसके साथ साग-तरकारी या दूध की भी जरूरत नहीं है। मीठा तो चाहिए ही नहीं। यदि कभी बिना नमक-मसाले की उबली शाक-तरकारी या गाय के दूध के साथ भी उसे खाता हूँ तो यों ही। उसकी जरूरत मुझे मालूम नहीं होती। खाने के बाद दूध पी लेता हूँ। यह एक भुक्तता का नियम अब जीवन भर चलेगा। इससे मैं नीरोग और हलका रहता हूँ। एक बार भोजन, दोनों समय मिला कर 7-8 मील टहलना और रात में सात घण्टे से कम सोना नहीं, इन तीनों का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि मैं इधर बीसियों साल से कभी बीमार न पड़ा। हाँ, दिमागी काम दूध जरूर चाहता है। इसी से रात में गौ के दूध बिना मेरा काम नहीं चलता।

हाँ, तो जेल में शाम को दूध पीकर सात ही बजे सो जाता और दो बजे रात में उठकर नित्यक्रिया, आसन और टहलना सुबह होने तक पूरा कर लेता। लोगों को आश्चर्य होगा कि हजारीबाग की सख्त सर्दी में भी मैं जाड़े में उठकर सभी कामों से फुर्सत पाने के बाद अँधेरे में ही गाय का तक्र दो गिलास पी लेता था और नीरोग रहता था। गर्मियों में तो मुझे बाहर ही सोने दिया जाता था। मगर जाड़े में भी जेल वालों का ऐसा प्रबन्ध था कि हमारी कोठरी (सेल) का ताला दोई बजे रात में खुलवा देते थे, ताकि मैं शौचादि से फुर्सत पा लूँ। जाड़े में एक बाल्टी में सोने के पूर्व ही

पानी भर के चूल्हे पर रख देता था और दो बजे वह कुछ-न-कुछ गर्म ही मिलता था—कम-से-कम हाथ-पाँव ठिठुराने वाला तो नहीं ही रहता था। फलतः उससे स्नान करने में आसानी थी।

रूस पर जर्मनी का हमला

जब हम जेल गये थे तो यही मानते थे कि इस यूरोपीय महायुद्ध के खिलाफ हमें युद्ध करना है और इस प्रकार अंग्रेजी सरकार के युद्धोद्योग में जहाँ तक हो सके बाधा पहुँचानी है। इसे ही अंग्रेजी में (war against-war) कहते हैं। मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के लेखों तथा मन्तव्यों से हमने यही सीखा था कि साम्राज्यवादी युद्ध को सफल होने न देना। हमने यह भी देखा था कि यदि सन् 1917 ई. में रूसी जनता—किसान-मजदूरों—को जारशाही एवं पूँजीशाही को उठा फेंकने में सफलता मिली तो इसी सिद्धान्त के चलते। वहाँ की जनता ने इसी पर अमल किया और वह पहले जार के और पीछे पूँजीपतियों के तख्त को उलट फेंकने में समर्थ हुई। यह तो इस मन्तव्य की ताजी परीक्षा थी। फिर हम इस पर अमल क्यों न करते? फलतः यही करते-कराते हमें जेल चला आना पड़ा। वहाँ भी हमारी यही धारणा तब तक बनी रही जब तक हिटलर ने रूस पर हमला नहीं किया। हमले के एक सप्ताह के बाद ही हमारा यह खयाल जड़ से बदल गया। 21वीं जून, सन् 1941 ई. की आधी रात के बाद यानी 22वीं जून को हिटलर का आक्रमण हुआ और जून के बीतते-न-बीतते हम स्वतन्त्र रूप से—बिना किसी से पूछे या वाद-विवाद किये ही—इस नतीजे पर पहुँचे कि हमें अब वह सिद्धान्त छोड़ना ही होगा। हिटलर और उसकी गत दो वर्षों की सामरिक गतिविधि के सूक्ष्म पर्यवेक्षण ने हमें ऐसा सोचने एवं निश्चय करने को बाध्य किया।

फासिज्म के करिश्मे

इस बात पर थोड़ा विस्तृत विचार कर लेना जरूरी है। कारण, यह अहम मसला है। युद्ध के विरुद्ध युद्ध वाला सिद्धान्त अपनी जगह पर साधारणतया पूँजीवादी परिस्थिति और युग में ठीक ही है। मगर यह युग साधारण पूँजीवाद का न होकर उसके गुण्डाशाही रूप, फासिज्म का है जिसे नात्सीज्म और फाइनान्स कैपिटल का युग भी कहते हैं। मर्केण्टाइल कैपिटल (व्यापारिक पूँजी) और इण्डस्ट्रियल कैपिटल (औद्योगिक पूँजी) के युगों को पार करके यह फाइनान्स कैपिटल (आर्थिक पूँजी) का युग आया है। मोटी तौर पर पहले को पूँजीवादी और दूसरे को साम्राज्यवादी युग भी कह सकते हैं, कहते हैं। पर तीसरा युग साम्राज्यवाद की मरणशय्या का युग है जब कि वह सरेसाम की हालत में बेहद कूदफाँद और तूफान मचाता है। इसका ध्यान मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने किया जरूर होगा और लेनिन तो विशेष

रूप से अपनी सूक्ष्म दृष्टि से यह भी देखता होगा कि यह आने ही वाला है। फिर भी उन्हें इससे पाला नहीं पड़ा था। इसीलिए इसके अनुरूप अपनी गतिविधि को बदलने का निश्चित आदेश स्पष्ट रूप से वे किसान-मजदूरों को—शोषित एवं पीड़ित जनता तथा उसके नेताओं को—दे न सके थे। यदि उन्हें इस फासिज्म के करिश्मों का प्रत्यक्ष अनुभव होता तो इससे निपटने के रास्ते वे अवश्य ही स्पष्ट लिख जाते। मगर यह बात थी नहीं।

हिटलर और उसके साथी फासिस्टों—इटली एवं जापान—के शासकों की अभूतपूर्व विजय और एतदर्थ निराले ढंग की तैयारी—जिसका पता शेष दुनिया को पहले न था। किन्तु इन विजयों के फलस्वरूप होने लगा था—हमें जेल में बैठे-बिठाये सोचने को बाध्य कर रही है कि क्या होने जा रहा है, युद्ध का परिणाम क्या होने वाला है, ये तीनों शैतान मिल-मिला के क्या करने जा रहे हैं? ये प्रश्न हमें परीशान कर रहे थे, खास कर हिटलरी चमत्कार और उसकी अपार सैनिकशक्ति हमें विवश कर रही थी कि हम वर्तमान एवं निकट भविष्य की ही परवाह न करके दूर भविष्य के बारे में भी सोचें। हमारे दिल-दिमाग हमें बताने लगे थे कि हिटलर तो संसार भर के लिए—सारी दुनिया के लिए—बला बनने जा रहा है। जब वह सीमित कोयला, लोहा, पेट्रोल आदि के बल पर ऐसी भीषण तैयारी कर सकता है, तब तो रूस, इराक, फारस आदि को जीत लेने पर संसार के ऊपर एकच्छत्र राज करेगा और स्थान-स्थान पर केवल लोगों को दबा रखने के लिए फौज (occupation army) रखेगा। केवल जर्मनों को आर्य और शेष लोगों को अनार्य मानने का उसका अभिप्राय भी यही प्रतीत होगा कि जर्मन शेष संसार के अनार्यों पर शासन करें, उन्हें कच्चा माल पैदा करने के लिए छोड़ दें और सर्वत्र जर्मनी के बने तैयार माल की मण्डियाँ खुल जायँ। हमारे दिमाग में कुछ इसी प्रकार की खलबली थी, बेचैनी थी और यह दशा रूस पर हिटलर के आक्रमण के ठीक कुछ दिन पहले से हो रही थी ज्यों-ज्यों हम हिटलर और दोस्तों की छूमन्तरी विजयों को देख रहे थे। फिर भी हमारा खयाल था कि अभी तत्काल रूस पर वह हमला न करेगा। किन्तु बाकियों को जीतकर एक-दो साल रुकेगा और पूरी तैयारी करके रूस पर धावा बोलेगा। आखिर साँस भी तो उसे लेना चाहिए।

जब रूस पर उसने एकाएक धावा बोल दिया तो हम अकचका गये। पहले तो हमें विश्वास ही न हुआ जब एक साथी ने हमसे कहा कि हिटलर ने रूस पर हमला कर दिया। तब तक हमें उस दिन का अखबार न मिला था। हमने उत्तर दिया कि सरासर झूठी बात है। जब साथी ने उसे दुहराया तब भी हम यकीन करने को तैयार न थे। जब उसने तीसरी बार कहा तो हमारे मुँह से यकायक निकल पड़ा कि हिटलर सनक गया। हमें भी समझ में नहीं आता कि हम यह कैसे बोल उठे। मगर परवर्ती घटनाओं ने बताया है कि वह जरूर सनक उठा था। वह सनक क्यों

और कैसी थी यह बात दूसरी है। हम रूस की शक्ति समझते थे कुछ-कुछ। इसलिए भी हमें ऐसा कहने का साहस हुआ। जब-जब एके बाद दीगरे लेनिनग्राड, मास्को, और स्तालिन ग्राड पर हिटलर के घेरे आगे चल कर और जेल के हमारे साथी कहा करते थे कि हिटलर ने अब लिया, तब लिया तब भी हमारा बराबर यही कहना था कि वह लेलिनग्राड को ले नहीं सकता, मास्को जीत नहीं सकता आदि-आदि। ये बातें भी सही निकलीं।

मगर अब तो हमें और भी बेचैनी हुई कि यह क्या होने जा रहा है? इस संसार मात्र की बला (World menace) का सामना कैसे किया जाय? हम इस नतीजे पर पहुँच रहे थे कि शेष संसार को आपसी मतभेद भुलाकर इस एक ही बला का सामना करना होगा। दूसरा रास्ता नहीं है। भारत पर भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद को खत्म करके जर्मन फासिज्म चढ़ बैठेगा यह हमारी मान्यता हो रही थी। फलतः हम चूल्हे से निकलकर भट्ठी में जा पड़ेंगे। यदि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों से देर-सवेर से पिण्ड छुड़ाने की आशा भी हम करते थे तो हिटलरी पिशाचों से जान बचने और त्राण पाने की सम्भावना भी नहीं है। यह बात हमने कांग्रेस के एक प्रमुख नेता से कही और घण्टों उनसे हमारा कथनोपकथन होता रहा। उनने तत्काल उत्तर न देकर सोचने और पीछे उत्तर देने को कहा।

जौनस्ट्रेची की किताब

कुछ दिनों बाद उनने हमें मि. जौनस्ट्रेची की एक ताजी किताब अंग्रेजी में लिखी भेज दी जिसका नाम हम भूलते हैं। उनने कहा कि हमने जो आशंका जाहिर की थी उसी पर उस किताब में विस्तृत विवेचन है। हम उसे गौर से पढ़ गये। दरअसल उसके लेखक मि. स्ट्रेची पहले कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। मगर लड़ाई के सम्बन्ध में पार्टी का और लोगों का क्या रुख हो यही बात लेकर उनका पार्टी के साथ गहरा मतभेद हो गया और उनने पार्टी से अलग होकर यह पुस्तक लिखी। उनका कहना था कि युद्ध विरुद्ध युद्ध का युग चला गया। फासिज्म के इस युग में आँख मूँदकर उसे मानना खतरनाक है। आज़ तो उसके विपरीत ही काम करने की जरूरत है। कल्पना कीजिये कि लेनिन के समय में गत युद्ध के वक्त कैसर की जगह हिटलर होता और उसकी ऐसी ही तैयारी रहती जैसी आज है। तो क्या लेनिन जारशाही के विरुद्ध युद्ध छेड़कर उसके युद्धोद्योग में बाधा पहुँचाता? वह हर्गिज ऐसा न करता। क्योंकि इसका नतीजा यही होता कि जार को पछाड़कर लेनिन या सोवियत के शासन की जगह हिटलर का ही शासन हो जाता। फलतः लेनिन को लेने के देने पड़ते और रूस की आजादी युग-युगान्तर के लिए खटाई में पड़ जाती। लेनिन को जार तथा कैसर दोनों की ही ताकतों का ज्ञान था और वह मानता था कि यदि जार की गद्दी खाली हो जाय तो उस पर आ धमकने की शक्ति कैसर में नहीं है। साम्राज्यवादी

युग में ऐसा देखा नहीं गया था। फिर भी लेनिन को संकटों का सामना करना ही पड़ा। लेकिन फासिज्म के युग में तो दूसरी ही बात है। यदि आज जार वहाँ रहता और उसे रूसी जनता पछाड़ती तो आसानी से हिटलर अपना अड्डा वहाँ जमा लेता। वह तो यों भी जमाते-जमाते ही न जाने कैसे फिसल गया। यही खतरा आज युद्ध के विरुद्ध युद्ध के नारे में है। इसलिए आज तो हमारा फर्ज है कि वैसा न करके उसके उलटा करें ताकि फासिज्म का चंगुल कहीं जमने न पाये। नहीं तो जनता की खैर नहीं। उनसे पुनः पिण्ड छूटना प्रायः असम्भव है। साम्राज्यवादियों से तो पीछे भी निपट सकते हैं।

मेरे दिमाग में ये बातें बैठ गयीं और मेरी बेचैनी जाती रही। मैं तो इसी ढंग से खुद सोच भी रहा था। मगर मेरा साथी कोई न था। अब मिस्टर स्ट्रेची जैसा संगी मिल गया। मेरे ये विचार दिनोंदिन पक्के हो गये और मैं जेल में सोचा करता था कि अब मौका आने पर हम ब्रिटिश सरकार को युद्धोद्योग में सहायता भी कर सकते हैं। इसमें कोई अनौचित्य मुझे न दीखता था। प्रत्युत राजनीतिक दूरंदेशी का तकाजा यही मालूम होता था। आखिर जब भारतीयों का विरोध सफल होता और अंग्रेजी सरकार यहाँ से भागती तो हिटलर या तोजो की ही सरकार यहाँ बनती, न कि गांधी, नेहरू या आजाद की। हमारे वे निहत्थे नेता उनकी अस्त्र-शस्त्र से सर्वात्मना सुसज्जवाहिनी के सामने टिक कैसे पाते? और अगर हमारा विरोध विफल हो तो अंग्रेजी सरकार हमें पीस ही देती। फलतः दोनों ही तरह से हमारी हानि ही हानि थी।

मैं यह सोच ही रहा था कि सन् 1941 ई. के आखिरी दिनों में श्री इन्दुलाल याज्ञिक का एक पत्र मुझे जेल में एकाएक मिला। उसमें भी कुछ ऐसी ही बातें थीं। फिर तो मेरी खुशी का ठिकाना न रहा कि हम दोनों ही पुराने साथी एक ही ढंग से सोच रहे हैं, सो भी एक-दूसरे से बहुत दूर बैठे-बिठाये। मैंने भी उन्हें उत्तर देकर उनके विचारों का तहेदिल से समर्थन किया। उसके बाद सन् 1942 ई. की फरवरी में नागपुर में केन्द्रीय किसान कौंसिल की होने वाली बैठक का एक प्रस्ताव प्रकाशित हुआ जिसमें कहा गया था कि युद्धोद्योग में बाधा वाली नीति छोड़ दी जाय। युद्ध में सहायता देने के बारे में कोई स्पष्ट बात उसमें न थी। सिर्फ सोवियत रूस को सहायता देने की बात थी। दरअसल प्रस्ताव पास करने वाले बाहरी स्थिति से पूर्ण परिचित थे। फलतः उनने युद्धोद्योग में सहायता करने की बात खतरनाक समझ उसे तय नहीं किया—छोड़ दिया। गो मैं यह रहस्य समझ न सका। फिर भी प्रस्ताव पढ़कर प्रसन्न हो गया।

विरोधियों की मनोवृत्ति

कुछ लोगों ने, जो अब तक किसान-सभा में साथ थे, नागपुर वाले इस प्रस्ताव का विरोध किया। उनकी मनोवृत्ति समझना मुश्किल है। इससे पूर्व आन्ध्र देश के पकाला

स्थान में सन् 1941 ई. के अक्टूबर में आल इण्डिया किसान कमिटी की बैठक में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था युद्ध के ही सम्बन्ध में उसमें वह भी साथी थे, सहमत थे। उसमें यह स्पष्ट लिखा है कि "यह कमिटी आजादी-पसन्द भारतीय जनता और विशेषतः किसानों, मजदूरों, छात्रों तथा युवकों के बहुत बड़े गिरोह पर जोर देती है वह सोवियत रूस को सभी तरह की सम्भव सहायता दें और नात्सीजर्मनी के विरुद्ध होने वाले युद्ध को सभी मोर्चों पर तेज बनाने का काम करें"—"The A.I.K.c. urges upon the freedom-loving people of India, particularly the vast bulk of Peasants and workers, students and youths, that they should render all possible to the U.S.S.R. and work for the intensification of war against Nazi Germany on all front."

नागपुर वाले प्रस्ताव से इसमें यही विशेषता है कि यह सोवियत को सभी प्रकार की सम्भव सहायता देने के सिवाय नात्सीजर्मनी के विरुद्ध इस युद्ध को सभी मोर्चों पर तेज बनाने की बात कहता है, जो बात नागपुर वाले में नहीं है। अब जरा सोचा जाय कि नात्सीजर्मनी के विरुद्ध चलने वाले युद्ध को तेज करने का क्या अभिप्राय है, सो भी सभी मोर्चों पर? इंग्लैण्ड या फ्रान्स में जो मोर्चा था उसी की मजबूती के लिए क्या करना जरूरी था? क्या यह बात उनने सोची? उस युद्ध में सभी तरह की सहायता सभी जगह देने के अलावे इसका और अर्थ क्या हो सकता था? दूसरी तरह से सभी मोर्चों पर उस युद्ध में तेजी कैसे लाई जा सकती थी? और जब सभी जगह उसमें मदद ही करना है तो फिर उस युद्ध का या उसके उद्योगों का विरोध कैसे किया जा सकता था? यह सम्भव कैसे था? उस प्रस्ताव में यही परस्पर विरोधी बात थी। कम-से-कम नागपुर में विरोध उठाने वालों के कामों और पकाला के प्रस्ताव में यही परस्पर विरोध था और इसे ही नागपुर के प्रस्ताव में रहने नहीं दिया गया यह कह कर कि "शान्ति की ही तरह युद्ध को टुकड़ों में बाँटा नहीं जा सकता"—"War like peace is indivisible." फिर उसमें मदद भी करें और विरोध भी उसका ही करें यह सम्भव नहीं। इस तरह नागपुर के प्रस्ताव ने जो पकाला के कथन और विरोधियों के काम में होने वाले पारस्परिक विरोध को मिटा दिया तो उचित था कि विरोधी लोग उसका स्वागत करते। मगर उनने विपरीत ही किया।

किसान-सभा में विरोध

जेल जीवन का संक्षिप्त विवरण खत्म करने से पूर्व किसान-सभा से सम्बद्ध दो-एक महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर प्रकाश डाल देना जरूरी है। सन् 1940 ई. के अप्रैल में जेल जाने के बाद ही यह स्पष्ट हो गया था कि यद्यपि सोशलिस्ट लोग पलासा के प्रस्ताव में साथ थे, तथापि उस पर अमल करने के वे सख्त विरोधी थे। यों तो यह बात पहले ही झलकने लगी थी। फिर भी जेल जाने के बाद स्पष्ट हो गयी। उनने सारी

शक्ति इस बात में लगा दी कि पलासा के प्रस्ताव पर अमल न हो सके। यह इतनी प्रसिद्ध बात है कि इस पर तर्क-दलीलें या प्रमाण पेश करना अनावश्यक है। फलतः किसान-सभा के शेष लोगों को जिनमें फारवर्ड ब्लॉक के भी लोग थे, यह बात बुरी तरह खटकी और इस प्रकार किसान-सभा के भीतरी विरोध ने उग्र रूप धारण किया। इसकी खबरें मुझे जेल में बराबर ही मिलती रहती थीं और मैं दुःखी होता था। पर करता क्या? विवश था। एक यह भी वजह थी जिससे 'जनता की पार्टी' का प्रश्न जेल में उठने पर मैंने उसमें जाने से साफ इनकार किया। आगे फिर मिल-जुलकर काम करने का प्रश्न जब कुछ सोशलिस्ट साथियों ने गम्भीरता के साथ उठाया तो मैंने उनसे जो 'नाहीं' कर दी उसका यह भी कारण था।

यह विरोध भीतर-ही-भीतर यहाँ तक बढ़ा कि सन् 1941 ई. की फरवरी में डुमराँव में जो प्रान्तीय किसान सम्मेलन पं. यमुना कार्यी की अध्यक्षता में हुआ उसमें से सोशलिस्ट बाहर निकल आये। बात यों हुई कि भीतर-ही-भीतर उनकी कोशिश थी कि किसान-सभा में उन्हीं का बहुमत हो जाय। उनने इसके लिए सब कुछ किया। मगर जब उस कॉन्फ्रेंस में उन्हें पता चला कि वे विफल हुए और उनकी संख्या नगण्य सी है, तो कॉन्फ्रेंस से हट जाने के अलावे उनके लिए दूसरा चारा था ही नहीं। फलतः उसके शुरू में ही निकल खड़े हुए और उलटे पाँव लौट आये। सम्भव था वहाँ पहले के कामों और चालों पर टीका-टिप्पणी होती। इसलिए उनने पहले ही चल देना उचित समझा। अब किसान-सभा में खाँटी किसान सभावादियों के अलावे केवल कम्युनिस्ट और फारवर्डब्लाकिस्ट रह गये थे। फिर भी उसका काम निराबाध चलता रहा। उधर सोशलिस्टों ने एक अलग किसान-सभा बनाने की सारी भूमिका बाँधी। उसमें वे कहाँ तक सफल हुए यह तो सभी जानते हैं। इस बारे में मुझे यहाँ कहने की जरूरत नहीं है। मेरी रिहाई के पूर्व ब्लाकिस्टों की भी आवाज किसान-सभा के विरुद्ध में उठ चुकी थी। उनके इस्तीफे भी कुछ दाखिल हुए थे। मगर उनके साथ हमारा और हमारे साथियों का नाता अभी टूटा न था। शायद कच्चे धागे से जुटा था। बिहार की किसान-सभा में तब तक कम्युनिस्टों की कोई गिनती थी नहीं। वे इने-गिने ही थे।

डुमराँव का संघर्ष

मेरे जेल में रहते ही एक और महत्त्वपूर्ण बात किसान-सभा के इतिहास में हुई जिसने मेरा कलेजा बाँसों उछाल दिया। वह थी शाहाबाद जिले के डुमराँव में खुद महाराजा की धाँधली और मनमानी घरजानी के विरुद्ध किसानों की संगठित लड़ाई जो किसान-सभा के तत्त्वावधान में हुई और जिसने सभा का सिर ऊँचा किया। किसानों की उसमें जीत भी हुई। इससे न सिर्फ किसानों का, बल्कि जनसाधारण तथा डुमराँव के बनियों का भी संकट हटा और सबों ने राहत की साँस ली।

किसान-सभा के संस्मरण

विषय-प्रवेश

आगे के पृष्ठों में किसान-सभा के संस्मरणों का जो संकलन मिलेगा वह तैयार किया था हजारी बाग जेल की चहारदीवारी के भीतर। 1940 की लम्बी जेल-यात्रा के पहले ही मित्रों एवं साथियों ने बार-बार अनुरोध किया था कि इन संस्मरणों को अवश्य लिपिबद्ध करूँ। किसान-सभा से मेरा सम्बन्ध गत बीस वर्षों की भारी मुद्दत में अविच्छिन्न रहने के कारण मैं इसके बारे में आधिकारिक रूप से लिखने वाला माना गया। इस सम्बन्ध में तरह-तरह के अनुभव सबसे ज्यादा मुझी को हुए हैं, यह भी बात है। यह अनुभव मजेदार भी रहे हैं और आगे की पंक्तियों से यह स्पष्ट है। फलतः इनके कलम बन्द करने में मजा भी मुझे काफी मिला है। जेल से बाहर समय न मिलने के कारण मित्रों की इच्छा वहीं पूरी करनी पड़ी।

जमींदारों के अखबारों ने कभी-कभी मुझे अक्ल देने की भी कोशिश की है और लम्बे उपदेश दिए हैं कि राजनीति संन्यासी का काम नहीं है। इसमें पड़ने से वह दुहरा पाप करता है। किसान-सभा के सिलसिले में होने वाले मेरे रोज-रोज के तूफानी दौरों पर व्यंग्य करके उनने उन्हें 'मनोविनोद के सैर' (Pleasure Trips) नाम दिए हैं और आश्चर्य से पूछा है कि इन सैर-सपाटों का लम्बा खर्च मुझे कौन देता है? उन्हें पता ही नहीं कि जिन्हें इन सैर-सपाटों की गर्ज है, जो इसके लिए बेचैन हैं, वही यह खर्च देते हैं—वही जो इन समाचार-पत्रों के मालिकों के महल सजाते हैं। आगे की पंक्तियाँ यह भी बतायेंगी कि ये सैर-सपाटे हैं या कड़ी कसौटी।

ये संस्मरण लिखे तो गये जेल के भीतर ही 1941 में; मगर इनके प्रकाशन में परिस्थिति-वश काफी देर हो गयी है। फिर भी इनका महत्त्व ज्यों का त्यों बना है। सोचा गया कि जिस किसान-सभा से सम्बन्ध रखने वाले ये संस्मरण हैं, उसका इतिहास यदि इन्हीं के साथ न रहे तो एक प्रकार से ये अधूरे रह जायँगे। पाठकों को इनके पढ़ने से पूरा सन्तोष भी न होगा और न वह मजा ही मिलेगा। इसीलिए भूमिका स्वरूप किसान-सभा का संक्षिप्त इतिहास और

उसका कुछ विस्तृत विवेचन भी इन संस्मरणों के साथ जोड़ दिया गया है और इस प्रकार एक पूरी चीज तैयार हो गयी।

"कहीं-कहीं किनारे पर जो अंक लिखे गये हैं वह इस बात के सूचक हैं कि किस दिन कितना भाग जेल के भीतर लिखा गया था।"

—स्वामी सहजानन्द सरस्वती

बिहटा, पटना
10-2-47

भारत में किसान-आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास

(अ)

बहुत लोगों का खयाल है कि हमारे देश में किसानों का आन्दोलन बिलकुल नया और कुछ खुराफाती दिमागों की उपज मात्र है। वे मानते हैं कि यह मुट्ठीभर पढ़े-लिखे बदमाशों का पेशा और उनकी लीडरी का साधन मात्र है। उनके जानते भोलेभाले किसानों को बरगला-बहकाकर थोड़े से सफेदपोश और फटेहाल बाबू अपना उल्लू सीधा करने पर तुले बैठे हैं। इसीलिए यह किसान-सभाओं एवं किसान-आन्दोलन का तूफाने बदतमीजी बरपा है, यह उनकी हरकतें बेजा जारी हैं। यह भी नहीं कि केवल स्वार्थी और नादान जमींदार-मालगुजार या उनके पृष्ठ-पोषक ऐसी बातें करते हों। कांग्रेस के कुछ चोटी के नेता और देश के रहनुमा भी ऐसा ही मानते हैं। उन्हें किसान-सभा की जरूरत ही महसूस नहीं होती। वे किसान-आन्दोलन को राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के संग्राम में रोड़ा समझते हैं। फलतः इनका विरोध भी प्रयत्क्ष-अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं।

परन्तु ऐसी धारणा भ्रान्त तथा निर्मूल है। भारतीय किसानों का आन्दोलन प्राचीन है, बहुत पुराना है। दरअसल इस आन्दोलन के बारे में लिपि-बद्ध वर्णन का अभाव एक बड़ी त्रुटि है। यदि सौ-सवा सौ साल से पहले की बात देखें तो हमारे यहाँ मुश्किल से इस आन्दोलन की बात कहीं लिखी-लिखाई मिलेगी। इसकी वजहें अनेक हैं, जिन पर विचार करने का मौका यहाँ नहीं है। जब यूरोपीय देशों में किसान-आन्दोलन पुराना है, तो कोई वजह नहीं है कि यहाँ भी वैसा ही न हो। किसानों की दशा सर्वत्र एक सी ही रही है आज से पचास-सौ साल पहले। जमींदारों और सूदखोरों ने उन्हें सर्वत्र बुरी तरह सताया है और सरकार भी इन उत्पीड़कों का ही साथ देती रही है। फलतः किसानों के विद्रोह सर्वत्र होते रहे हैं। उन्नीसवीं सदी के मध्य में—1850 में—शोषितों के मसीहा फ्रेड्रिक एंगेल्स ने 'जर्मनी में किसानों का जंग' (दी पीज़ेण्ट वार इन जर्मनी) पुस्तक लिखकर उसमें न सिर्फ जर्मनी में होने

वाले पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं सदियों के सन्धि-काल के किसान-विद्रोहों का वर्णन किया है, वरन् आस्ट्रिया, हंगरी, इटली तथा अन्यान्य देशों के भी ऐसे विद्रोहों का उल्लेख किया है। उससे पूर्व जर्मन विद्वान् विल्हेल्म जिमरमान की भी एक पुस्तक 'महान् किसान-विद्रोह का इतिहास' (दी हिस्ट्री ऑफ दी ग्रेट पीज़ेण्ट वार) इसी बात का वर्णन करती है। यह 1841 में लिखी गयी थी। फ्रांस में बारहवीं-तेरहवीं सदियों में फ्रांस के दक्षिण भाग में किसानों की बगावतें प्रसिद्ध हैं। इंग्लैण्ड की 1381 वाली किसानों की बगावत भी प्रसिद्ध है, जिसका नेता जौन बोल था। इसी प्रकार हंगरी में भी 16वीं शताब्दी में किसानों ने विद्रोह किया।

इस तरह के सभी संघर्ष एवं विस्फोट सामन्तों एवं जमींदारों के जुल्म, असह्य कर-भार तथा गुलामी के विरुद्ध होते रहे, और ये चीजें भारत में भी थीं। यह देश तो दूसरे मुल्कों की अपेक्षा पिछड़ा था ही। तब यहाँ भी ये उत्पीड़न क्यों न होते और उनके विरुद्ध किसान-संघर्ष क्यों न छिड़ते? यहाँ तो साधारणतः ब्रिटिश भारत में और विशेषतः रजवाड़ों में आज भी ये यन्त्रणाएँ किसान भोग ही रहे हैं।

तो क्या भारतीय किसान यों ही आँख मूँद कर सारे कष्टों को गधे-बैलों की तरह चुपचाप बर्दाश्त कर लेते रहे हैं और उनके विरोध में उनने सर नहीं उठाया है? यह बात समझ के बाहर है। माना कि आज के जमींदार डेढ़ सौ साल से पहले न थे। मगर सरकार तो थी। सूदखोर बनिए महाजन तो थे। जागीरदार तथा सामन्त तो थे। फिर तो कर-भार, गुलामी और भीषण सूदखोरी थी ही। इन्हें कौन रोकता तथा इनके विरुद्ध किसान-समाज चुप कैसे रह सकता था? भारतीय किसान संसार के अन्य किसानों के अपवाद नहीं हो सकते। फिर भी यदि उनके आन्दोलनों एवं विद्रोहों का कोई विधिवत् लिखित इतिहास नहीं मिलता, तो इसके मानी हर्गिज नहीं कि यह चीज हुई ही नहीं—हुई और जरूर हुई—हजारों वर्ष पहले से लगातार होती रही। नहीं तो एकाएक सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले, जिसके लेख मिलते हैं, क्यों हुई? और अगर इधर आकर वे संघर्ष करने लगे तो मानना ही होगा कि पहले भी जरूर करते थे।

यह भी बात है कि यदि लिखा-पढ़ी तथा सभा-सोसाइटियों के रूप में, प्रदर्शन और जुलूस के रूप में यह आन्दोलन न भी हो सकता था, तो भी अमली तौर पर तो होता ही था, हो सकता ही था और यही था असली आन्दोलन। क्योंकि 'कह सुनाऊँ' की अपेक्षा 'कर दिखाऊँ' हमेशा ही ठोस और कारगर माना जाता है और इधर 1836 से 1946 तक के दरम्यान, प्रारम्भ के प्रायः सौ साल में, जबानी या लिखित आन्दोलन शायद ही हुए, किन्तु अमली तथा व्यावहारिक ही हुए। इसका संक्षिप्त विवरण आगे मिलेगा। इससे भी मानना ही होगा कि पहले भी इस तरह के अमली आन्दोलन और व्यावहारिक विरोध किसान-संसार की तरफ से सदा से होते आये हैं। (किसान तो सदा ही मूक प्राणी रहा है। इसे वाणी देने का यत्न

पहले कब, किसने किया? कर्म, भाग्य, भगवान, तकदीर और परलोक के नाम पर हमेशा ही से चुपचाप कष्ट सहन करने, सन्तोष करने तथा पशु-जीवन बिताने के ही उपदेश इसे दिये जाते रहे हैं। यह भी कहा जाता रहा है कि राजा और शासक तो भगवान के अंशावतार हैं। अतः चुपचाप उनकी आज्ञा शिरोधार्य करने में ही कल्याण है। इस 'कल्याण' की बूटी ने तो और भी जहर का काम किया और उन्हें गूँगा बना दिया।) फलतः कभी-कभी ऊबकर उन्होंने अमली आन्दोलन ही किया और तत्काल वह सफलीभूत भी हुआ। उससे उनके कष्टों में कमी हुई।

इधर असहयोग युग के बाद जो भी किसान-आन्दोलन हुए हैं उन्हें संगठित रूप मिला है, यह बात सही है। संगठन का यह श्रीगणेश तभी से चला है। इसका श्रीगणेश तभी से होकर इसमें क्रमिक दृढ़ता आती गयी है और आज तो यह काफी मजबूत है, हालाँकि संगठन में अभी कमी बहुत है। मगर असंगठित रूप में यह चीज पहले, असहयोग युग से पूर्व भी चलती रही है। **संगठित से हमारा आशय सदस्यता के आधार पर बनी किसान-सभा और किसानों की पंचायत से है, जिसका कार्यालय नियमित रूप से काम करता रहता है और समय पर सभी समितियाँ होती रहती हैं। कागजी घुड़दौड़ भी चालू रहती है।** यह बात पहले न थी। इसी से पूर्ववर्ती आन्दोलन असंगठित था। यों तो विद्रोहों को तत्काल सफल होने के लिए उनका किसी-न-किसी रूप में संगठित होना अनिवार्य था। 'पतिया' जारी करने का रिवाज अत्यन्त प्राचीन है। मालूम होता है, पहले दो-चार अक्षरों या संकेतों के द्वारा ही संगठन का महामन्त्र फूँका जाता था। यद्यपि यातायात के साधनों के अभाव में उसे वर्तमान कालीन सफलता एवं विस्तार प्राप्त न होते थे। फिर भी हम देखते हैं कि जिन आन्दोलनों एवं संघर्षों का उल्लेख आगे है वे बात की बात में आग की तरह फैले और काफी दूर तक फैले। **संथाल-विद्रोह में तो लाखों की सेना एकत्र होने की बात पायी जाती है और यह बात अँग्रेज अफसरों ने लिखी है।** ऐसी दशा में इतना तो मानना ही होगा कि वह चीज भी काफी संगठित रूप में थी, यद्यपि आज वाली दृढ़ता, आज वाली स्थापित्ता उसमें न थी। होती भी कैसे? उसके सामान होते तब न?

जैसा कि पहले कह चुके हैं, आज से प्रायः सौ-सवा सौ साल पहले वाले किसान-संघर्षों एवं आन्दोलनों का वर्णन मिलता है। अतः हम उन्हीं से शुरू करते हैं। इसमें सबसे पुराना **मालाबार के मोपला किसानों** का विद्रोह है, जो 1836 में शुरू हुआ था। कहने वाले कहते हैं कि ये मोपले कट्टर मुसलमान होने के नाते अपना आन्दोलन धार्मिक कारणों से ही करते रहे हैं। असहयोग-युग के उनके विद्रोह के बारे में तो स्पष्ट ही यही बात कही गयी है। मगर ऐसा कहने-मानने वाले अधिकारियों एवं जमींदार-मालदारों के लेखों तथा बयानों से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि दरअसल बात यह न होकर आर्थिक एवं सामाजिक उत्पीड़न ही इस विद्रोह के असली कारण रहे हैं और धार्मिक रंग अगर उन पर चढ़ा है तो कार्य-कारणवश ही, प्रसंगवश

ही। 1920 और 1921 वाले विद्रोह को तो सबों ने, यहाँ तक कि **महात्मा गांधी ने भी, धार्मिक ही माना है।** मगर उसी के सम्बन्ध में मालाबार के ब्राह्मणों के पत्र 'योगक्षेमम्' ने 1922 की 6 जनवरी के अग्रलेख में लिखा था कि **"केवल धनियों तथा जमींदारों को ही ये विद्रोही सताते हैं, न कि गरीब किसानों को–"**

"Only the rich and the landlords are suffering in the hands of the rebels, not the poor peasants."

अगर धार्मिक बात होती तो यह धनी-गरीब का भेद क्यों होता? इसी तरह ता. 5/2/1921 में दक्षिण मालाबार के कलक्टर ने जो 144 धारा की नोटिस जारी की थी उसके कारणों में लिखा गया था कि "भोले-भोले मोपलों को न सिर्फ सरकार के विरुद्ध, वरन् हिन्दू जन्मियों (जमींदारों–मालाबार में जमींदार को 'जन्मी' कहते हैं) के भी विरुद्ध उभाड़ा जायगा"–

"The feeling of the ignorant Moplahs will be inflamed against not only the Government but also against the Hindu Jenmies (landlords) of the district."

इससे भी स्पष्ट है कि विद्रोह का कारण आर्थिक था। नहीं तो सिर्फ जमींदारों तथा सरकार के विरुद्ध यह बात क्यों होती?

बात असल यह है कि **मालाबार के जमींदार ब्राह्मण ही हैं।** उत्तरी मालाबार में शायद ही दो-एक मोपले भी जमींदार हैं। और ये मोपले गरीब किसान हैं। इनमें खाते-पीते लोग शायद ही हैं। इन किसानों को जमीन पर पहले कोई हक था ही नहीं और झगड़े की असली बुनियाद यही थी, यही है। यह पुरानी चीज है और शोषक जमींदारों के हिन्दू (ब्राह्मण) होने के नाते ही इन संघर्षों पर धार्मिक रंग चढ़ता है। नहीं-नहीं, जान-बूझकर चढ़ाया जाता है। 1880 वाले विद्रोह में मोपलों ने दो जमींदारों पर धावा किया था। उनने तत्कालीन गवर्नर लार्ड बकिंघम को गुप्तनाम पत्र लिखकर जमींदारों के जुल्मों को बताया था और प्रार्थना की थी कि उन्हें रोका जाय, नहीं तो ज्वालामुखी फूटेगा। गवर्नर ने मालाबार के कलक्टर और जज की एक कमेटी द्वारा जब जाँच करवाई तो रिपोर्ट आयी कि इन तूफानों के मूल में वही किसानों की समस्याएँ हैं। पीछे यह भी बात ब्योरेवार मालूम हुई कि जमींदार किसानों को कैसे लूटते और जमीनों से बेदखल करते रहते हैं। इसीलिए तो **1887 वाला काश्तकारी कानून बना।**

1921 तथा उसके बाद मौलाना याकूब हसन मालाबार के कांग्रेसी एवं गांधीवादी नेता थे। मगर उनने भी जो पत्र गांधी जी को लिखा था उसमें कहते हैं कि "अधिकांश मोपले छोटे-छोटे जमींदारों की जमीनें लेकर जोतते हैं और जमींदार प्रायः सभी हिन्दू ही हैं। मोपलों की यह पुरानी शिकायत है कि ये मनचले जमींदार उन्हें लूटते-सताते हैं और यह शिकायत दूर नहीं की गयी है"–

"Most of the Moplahs were cultivating lands under the petty landlords who are almost all Hindus. The oppression of the Janmies (landlords) is a matter of notoriety and a long-standing grievance of the Moplahs that has never been redressed."

इससे तो जरा भी सन्देह नहीं रह जाता कि **मोपला-विद्रोह सचमुच किसान-विद्रोह था।**

1836 से 1853 तक मोपलों ने 22 विद्रोह किये। वे सभी जमींदारों के विरुद्ध थे। कहीं-कहीं धर्म की बात प्रसंगतः आयी थी जरूर। मगर असलियत वही थी। 1841 वाला विद्रोह तो श्री तैरुम पहत्रीं नाम्बुद्री नामक जालिम जमींदार के खिलाफ था, जिसने किसानों को पट्टे पर दी गयी जमीन बलात् छीनी थी। 1843 में भी दो संघर्ष हुए—एक गाँव के मुखिया के विरुद्ध और दूसरा ब्राह्मण जमींदार के खिलाफ। 1851 में उत्तर मालाबार में भी एक जमींदार का वंश ही खत्म कर दिया गया। 1880 की बात कह ही चुके हैं। 1898 में भी उसी तरह एक जमींदार मारा गया। 1919 में मनकट्टा पहत्री पुरम् में एक ब्राह्मण जमींदार और उसके आदमियों को चेकाजी नामक मोपला किसान के दल ने खत्म कर दिया और लूट-पाट की। क्योंकि उसने चेकाजी के विरुद्ध बाकी लगान की डिग्री से सन्तोष न करके उसके पुत्र की शादी भी न होने दी।

1920 के अक्तूबर में कालीकट में जो काश्तकारी कानून के सुधार का आन्दोलन शुरू हुआ, 1921 वाली बगावत इसी का परिणाम थी। जमींदार मनमाने ढंग से लगान बढ़ाते और बेतहाशा बेदखलियाँ किया करते थे। इसीलिए सैकड़ों सभाएँ हुईं। स्थान-स्थान पर किसान-सभाएँ बनीं, कालीकट के राजा की जमींदारी में एक **'टेनेन्ट रिलीफ असोसियेशन'** कायम हुआ और मंजेरी की बड़ी कॉन्फ्रेंस में किसानों की माँगों का जोरदार समर्थन हुआ। इसी के साथ खिलाफत आन्दोलन भी आ मिला। मगर असलियत तो दूसरी ही थी। इस तरह देखते हैं कि आज से सैकड़ों साल पूर्व विशुद्ध किसान-आन्दोलन किसान हकों के लिए चला और 1920 में आकर उसने कहीं-कहीं संगठन का जामा पहनने की भी कोशिश की।

अच्छा, अब मालाबार के दक्षिणी किसान-आन्दोलन से हटकर उत्तर में बम्बई प्रेसिडेंसी के महाराष्ट्र, खानदेश और गुजरात को देखें। वहाँ भी 1845 और 1875 के मध्य किसानों में रह-रह के उभाड़ होते रहे। कोली, कुर्मी, भील, ब्राह्मण और दूसरी जाति के लोग—सभी—इस विद्रोह में शरीक थे। 1845 में भीलों के नेता रघुभंगरिन के दल ने साहूकारों को लूटा-पाटा। पूना और थाना जिलों के कोलियों ने भी समय-समय पर ऐसी लूटपाट और मारकाट की। इस सम्बन्ध में 1852 में सर जी. विन्गेट ने (Sir G. Wingate) बम्बई सरकार को लिखा था कि "बम्बई प्रेसीडेंसी के परस्पर सुदूरवर्ती दो कोनों में जो कर्जदारों ने दो साहूकारों को मार डाला है यह कोई यों

ही नहीं हुआ है, जो कहीं-कहीं महाजनों के जुल्मों के फलस्वरूप हैं। किन्तु मुझे भय है कि ये एक ओर किसानों और दूसरी ओर सूदखोर बनियों के बीच सर्वत्र होने वाले आम तनाव के दो उदाहरण मात्र हैं। और अगर ऐसा है, तो ये बताते हैं कि एक ओर कितना भयंकर शोषण-उत्पीड़न और दूसरी ओर कितना अधिक कष्ट-सहन मौजूद है"—

"These two cases of village money-landers murdered by their debtors almost at the opposite extremities of our presidency must, I apprehend, be viewed not as the results of isolated instances of oppression on the part of craditors, but as examples in an aggravated form of the general relations subsisting between the class of mone-landers and our agricultural population, And if so, what an amount of dire oppression on the one hand and of suffering on the other, do they reveal to us?"

इसी प्रकार 1871 और 1875 के मध्य खेड़ा (गुजरात), अहमदनगर, पूना, रत्नागिरी, सितारा, शोलापुर और अहमदाबाद (गुजरात) जिलों में भी गूजरों, सूदखोरों, मारवाड़ियों दूसरे बनियों तथा जालिमों के विरुद्ध जेहाद बोले गये, जिनका विवरण **'दक्षिणी किसान दंगा-जाँच कमीशन'** की रिपोर्ट में दिया गया है। **1871 और 1855** के बीच का समय भी बेचैनी का था। 1865 वाले अमेरिका के गृहयुद्ध के चलते भारतीय रुई का दाम तेज हुआ। फलतः किसानों ने काफी कर्ज लिये। मगर 1870 में उस युद्ध के अन्त होते ही एकाएक मन्दी आयी, जिससे 1929 की तरह किसान तबाह हो गये। यह भी था कि 1865 से पूर्व सरकार ने समय-समय पर सर्वे कराकर लगान भी बढ़ा दिया था। जब उसे न दे सकने के कारण किसानों की जमीन-जायदाद साहूकारों के हाथों में धड़ाधड़ जाने लगी तो उनने विद्रोह शुरू किये। फलतः सरकारी जाँच कमीशन कायम हुआ और उसी की रिपोर्ट पर दक्षिणी किसानों को सुविधाएँ देने का कानून बनाया गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि सरकार और महाजनों से किसान इसीलिए बिगड़ पड़े कि उनकी जमीनें छीनी जा रही थीं।

कहा जाता है कि बम्बई प्रेसिडेंसी में जमींदारी प्रथा है नहीं, वहाँ जमींदार हैं नहीं। रैयतवारी प्रथा के फलस्वरूप वहाँ किसान ही जमीन के मालिक हैं। मगर दरअसल अब यह बात है नहीं। वहाँ भी साहूकार-जमींदार कायम हो गये हैं और असली किसान उनके गुलाम बन चुके हैं। यह साहूकार-जमींदारी शुरू हुई थी 1845 में ही, जब किसानों की जमीनें महाजन कर्ज में छीनने लगे। किसानों के विद्रोह भी इसी छीना-झपटी को रोकने के लिए होते रहे। आज तो रैयतवारी इलाके का किसान इसी के चलते जमींदारी प्रान्तों के किसानों से भी ज्यादा दुखिया है। क्योंकि उसे कोई हक हासिल नहीं है, जब कि जमींदारी इलाके वालों ने लड़ते-लड़ते बहुत कुछ हक हासिल किया है। इसीलिए दक्षिणी विद्रोह के जाँच कमीशन की रिपोर्ट में मिस्टर आकलैण्ड कौलबिन

ने लिखा है कि "तथाकथित रैयतवारी प्रथा में धीरे-धीरे ऐसा हो रहा है कि रैयत टेनेन्ट हो गये हैं और मारवाड़ी (साहूकार) जमींदार (मालिक)। यह तो जमींदारी प्रथा ही है। फर्क इतना ही है कि उत्तरी भारत की जमींदारी प्रथा में किसानों की रक्षा के लिए जो बातें कानून में रखी गयी हैं वे एक भी यहाँ नहीं हैं। मालिक गैर जवाबदेह हैं और किसान का कोई बचाव है नहीं। फलतः रैयतवारी न होकर यह तो मारवाड़ी (साहूकारी) प्रथा होने जा रही है"—

"Under so called ryotwari system it is gradual by coming to this, that the ryot is the tenant and the Marwari is the proprietor. It is a zamindari settlement; but it is a zamindari settlement stripped of all the safeguards which under such a settlement in Upper India are though indispensable to the tenant. The proprietor is irresponsible, the tenant unprotected. It promises to become not a ryotwari but a Marwari settlement."

उत्तर भारत के बिहार-बंगाल की सम्मिलित सीमा का संथाल आन्दोलन भी, जो 1855 की 7 जुलाई से शुरू हुआ, किसान-आन्दोलन ही था। भील नेताओं के अंग संरक्षक ही तीस हजार थे। बाकियों का क्या कहना? संथालों के घी, दूध और अन्नादि को बनिये मिट्टी के मोल लेकर नमक, वस्त्र खूब महँगे देते थे। इस प्रकार उनकी सारी जमीन. बर्तन और औरतों के लोहे के जेवर तक ये बनिये लूट लेते थे, ठग लेते थे। मिस्टर हंटर ने 'देहाती बंगाल का इतिहास' में लूट का विशद, पर हृदय-द्रावक, वर्णन किया है। और जब पुलिस वालों ने भी इन बनियों से घूस लेकर उन्हीं का साथ देना शुरू किया, तो फिर इन पीड़ित संथालों के लिए विद्रोह ही एकमात्र अस्त्र रह गया था। उनने उसी की शरण ली। इस तरह हम 1836 से चलकर 1875 तक आते हैं और इसी के बीच में वह संथालों का किसान-आन्दोलन भी आ जाता है। बल्कि मालाबार वाले 1920 के विद्रोह को लेकर तो हम असहयोग-युग के पूर्व तक पहुँच जाते हैं।

हमें एक चीज इसमें यह भी मिलती है कि धीरे-धीरे यह आन्दोलन एक संगठित रूप की ओर अग्रसर होता है। मोपलों के 1920 वाले संगठन का उल्लेख हो चुका है। दक्षिणी विद्रोह में भी 1836-53 वाले मोपला विद्रोह की अपेक्षा एक तरह का संगठन पाया जाता है जिसके फलस्वरूप वे आग की तरह बम्बई प्रेसीडेंसी के एक छोर से दूसरे छोर तक बहुत तेजी से पहुँच जाते हैं, ऐसा सर विन्गेट ने तथा औरों ने भी लिखा है। मगर 1875 के बाद यह संगठन धीरे-धीरे सभा का रूप लेता है 1920 में मालाबार में; हालाँकि वह भी टिक नहीं पाता।

उत्तर और पूर्व बंगाल में नील बोने वाले किसानों का विद्रोह भी इसी मुद्दत में आता है। बिहार के छोटा नागपुर का टाना भगत आन्दोलन भी असहयोग युग

के ठीक पहले जारी हुआ था। 1917 में चम्पारन में निलहे गोरों के विरुद्ध गांधी जी का किसान-आन्दोलन चला और सफल हुआ अपने तात्कालिक लक्ष्य में। गुजरात के खेड़ा जिले में भी उनने किसान-आन्दोलन इससे पूर्व उसी साल चलाया था। मगर वह अधिकांश विफल रहा। अवध में असहयोग से पहले 1920 में बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व में चालू किसान-आन्दोलन वहाँ के ताल्लुकेदारों के विरुद्ध था, जिसमें लूट-पाट भी हुई। इस प्रकार के आन्दोलन मुल्कों में जहाँ-तहाँ और भी चले। मगर उन पर विशेष रोशनी डालने का अवसर यहाँ नहीं है।

इनका निष्कर्ष, इनकी विशेषता

असहयोग युग के पूर्ववर्ती आन्दोलनों की विशेषता यह थी कि एक तो वे अधिकांश असंगठित थे। दूसरे उनको पढ़े-लिखे लोगों का नेतृत्व प्राप्त न था। अवध वाले में भी यही बात थी। तीसरे उनने मार-काट का आश्रय लिया। तब तक जनान्दोलन का रहस्य किसे विदित था? यह भी बात थी कि ये विद्रोह और आन्दोलन पहले से तैयारी करके किये न गये थे। जब किसानों पर होने वाले जुल्म असह्य हो जाते थे और उन्हें अपने त्राण का कोई दूसरा रास्ता दिखता न था तो वे एकाएक उबल पड़ते थे। फिर तो मार-काट अनिवार्य थी। परिस्थिति उन्हें एतदर्थ विवश करती थी या यों कहिये कि जमींदार और शोषक अपने घोर जुल्मों के द्वारा उन्हें इस हिंसा के लिए विवश करते थे। यही उनकी कमजोरी थी। इसी से वे दबा दिये गये और विफल से रहे; हालाँकि उनका सुन्दर परिणाम किसानों के लिए होकर रहा यह सभी मानते हैं। कितने ही कानून किसान हित-रक्षा के लिए बने उन्हीं के चलते।

यह ठीक है कि उनमें कुछ को पढ़े-लिखों का नेतृत्व प्राप्त था। दृष्टान्त के लिए 1920 वाले मोपला-आन्दोलन को ले सकते हैं। मगर वहाँ भी छिटपुट हिंसा की शरण लेने से भयंकर ह्रास हुआ। खिलाफत और पंजाब-काण्ड के बाद ही होने तथा इनके साथ मिल जाने से भी उसका निर्दय दमन किया गया। फलतः वह बेकार-सा गया। अहिंसा की प्रचण्ड लहर का युग होने से वह उसी में डूबा, यह भी कह सकते हैं।

मगर खेड़ा, चम्पारन और युक्तप्रान्त का पं. नेहरू के द्वारा संचालित आन्दोलन शान्तिपूर्ण होने के साथ ही उदात्त नेताओं के हाथों में रहा; यद्यपि संगठित रूप उसे भी नहीं दिया जा सका। फिर भी जनान्दोलन का शान्तिपूर्ण रूप मिल जाने से ही और पठित नेतृत्व के कारण ही उन सबको कम-बेश प्रत्यक्ष सफलता मिली। उनके क्षेत्र और उद्देश्य जितने ही संकुचित या व्यापक थे, और उनमें जैसी शक्ति थी तदनुकूल ही उन्हें कम या अधिक सफलता मिली। खेड़ा का आन्दोलन तो जिले भर का था, ठेठ सरकार के विरुद्ध। फलतः उसें उतनी कामयाबी न मिल सकी। चम्पारन वाला था कुछ खास इलाके का, सिर्फ निलहों की नृशंसता एवं मनमानी घरजानी के विरुद्ध।

फलतः वह पूर्ण सफल रहा। अवध वाला था लम्बे इलाके के विरुद्ध, जिसमें बहुत जिले आ जाते हैं। युक्त प्राप्त का भी प्रश्न उसने साधारणतः उठाया। इसी से उसकी सफलता बहुत धीमी चाल से आनी शुरू हुई और अब तक भी पूर्ण रूप से पहुँच न सकी।

असहयोग के पूर्व किसान-आन्दोलन में जो दृढ़ता न आ सकी और उसे जो पूर्ण संगठित रूप मिल न सका उसके दो बड़े कारण थे, जिसका उल्लेख अब तक किया न जा सका है। एक तो किसान जनता में आत्मविश्वास न था। सदियों से कुचले, पिसे किसान आत्मविश्वास खो चुके थे। अतः विश्वासपूर्वक सामूहिक रूप से खम ठोक कर अपने उत्पीड़कों से लड़ न सकते थे। फलतः एक बार फिसले तो हिम्मत हार गये और चुप्पी मार बैठे। फिर संगठन कैसा? दूसरे, आन्दोलन चलाने के लिए बहुसंख्यक पठित कार्यकर्त्ता और नेता भी नहीं प्राप्त थे—ऐसे नेता और कार्यकर्त्ता जिन्हें आत्मविश्वास हो और जो धुन के पक्के हों कि लक्ष्य तक पहुँच कर ही दम लें।

ये दो मौलिक कमियाँ थीं, जिन्हें असहयोग आन्दोलन ने पूरा कर दिया। 1921 में बड़ी-से-बड़ी शक्तिशाली और शस्त्रास्त्र सुसज्जित सरकार को एक बार निहत्थे किसानों ने कँपा दिया, हिला दिया। फलस्वरूप उन्हें अपनी अपार अन्तर्निहित शक्ति का सहसा भान होने से उनमें आत्मविश्वास हो गया कि जब इतनी बड़ी सरकार को हिला दिया, तो जमींदार, ताल्लुकेदार और साहूकार की क्या बिसात? उन्हें चीं बुलाना तो बायें हाथ का खेल है। असहयोग ने हजारों धनी कार्यकर्त्ता भी दिए जो ऊपर आ गये—मैदान में आ गये। असहयोग की सफलता के मुख्य आधार किसान ही थे, जो पहली बार सामूहिक रूप से कांग्रेस में आये थे। इसलिए वे तथा उनके लिए कार्यकर्त्ता—दोनों ही—आत्मविश्वास प्राप्त करके आगे बढ़े।

यद्यपि ये बातें कुछ देर में हुईं। क्योंकि आत्मविश्वास और दृढ़ निश्चय के लिए समय और मनन की आवश्यकता होती है। तथापि ये हुईं अवश्य। इसीलिए, और राजनीतिक उलझनों के चलते भी, संगठित किसान-आन्दोलन किसान-सभा के रूप में 1926-27 में बिहार में तथा अन्यत्र शुरू हुआ। इतनी देर कोई बड़ी चीज न थी। 1928 वाला बारदोली का आन्दोलन भी इसी का परिणाम था। वह सफल भी रहा।

इस प्रकार हम आधुनिक संगठित किसान-आन्दोलन के युग में प्रवेश करते हैं। असहयोग आन्दोलन ने हमें—सारे देश को—जो जनान्दोलन का अमली सबक सिखाया और अपार शक्ति हृदयंगम करायी, उसके फलस्वरूप आगे चलकर किसान-आन्दोलन को भी जनान्दोलन का रूप मिला, यह सबसे बड़ी बात थी।

असहयोग के कारण कांग्रेसी लोग प्रान्तीय कौंसिलों से बाहर रहे। फलतः मद्रास, बम्बई आदि में अब्राह्मण दल के मन्त्री बने और उनने अपना प्रभुत्व जमाया। उसे

कायम रखने के लिए उन्हीं लोगों ने आन्ध्र में आन्ध्र प्रान्तीय रैयत असोसियेशन के नाम से एक किसान-सभा उस समय, 1923-24 में बनाई, ऐसा कहा जाता है। मगर उसकी कोई विशेष कार्यशीलता पायी न गयी। अलबत्ता बिहार में इस लेखक ने अपने कांग्रेसी साथियों के सहयोग से 1927 में नियमित रूप से, सदस्यता के आधार पर, किसान-सभा की स्थापना पटना जिले में करके धीरे-धीरे 1929 में उसे बिहार प्रान्तीय किसान-सभा का रूप दिया। उस समय बिहार की कौंसिल में किसान-हित-विरोधी एक बिल सरकार की ओर से पेश था और जरूरत इस बात की थी कि किसान उसका संगठित विरोध करें। इसीलिए कांग्रेसी नेताओं ने बिहार प्रान्तीय किसान-सभा की जरूरत महसूस की और इसीलिए उसका जन्म हुआ। उसमें कांग्रेस के सभी लीडर शामिल थे, सिवाय स्वर्गीय ब्रजकिशोर बाबू के। उस सभा का काम लेखक की अध्यक्षता में खूब जोरों से चला और अन्त में सरकार को वह बिल लौटा लेना पड़ा। इस तरह जन्म लेते ही सभा को अभूतपूर्व सफलता मिली। वर्तमान प्रधानमन्त्री बा. श्रीकृष्ण सिंह उस समय किसान-सभा के मन्त्री थे। आगे चलकर सभा को और भी संघर्ष करने पड़े। इस प्रकार संघर्षों के बीच वह फूली, फली और सयानी हुई।

सन् 1918-19 में ही इलाहाबाद में श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन की देख-रेख में किसान-आन्दोलन शुरू हुआ था और उसने कुछ काम भी किया। उसके बाद, असहयोग के उपरान्त, कांग्रेस जन इस काम में और भी लगे, यहाँ तक कि 1932 के सत्याग्रह से पूर्व वहाँ की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ही एक किसान समिति के द्वारा किसानों में आन्दोलन चलाती रही, तथा जरूरत होने पर उन्हें करबन्दी के लिए भी तैयार करती रही, जिसके फलस्वरूप वहाँ किसानों ने 1932 के कांग्रेस संघर्ष में करबन्दी को तेजी से चलाया। श्री टण्डन जी ने ही उसी के बाद प्रयाग में 'केन्द्रीय किसान संघ' की स्थापना की, जो भावी अखिल भारतीय किसान-सभा के सूत्र रूप में ही था। पं. नेहरू, टण्डन जी प्रभृति कांग्रेस नेता सदा से महसूस करते थे कि किसान-संगठन कांग्रेस से जुदा ही रहना ठीक है। इसीलिए यू. पी. में पहले किसान समिति बनी और पीछे केन्द्रीय किसान संघ का जन्म हुआ।

फिर लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर 1936 में अखिल भारतीय किसान-सभा की नियमित रूप से स्थापना हुई। पहला अधिवेशन वहीं पर लेखक की ही अध्यक्षता में हुआ। यह बात अब महसूस की जाने लगी थी कि संगठित किसान-आन्दोलन को अखिल भारतीय रूप दिये बिना काम चलने का नहीं। इसीलिए यह बात हुई। 1936 से लेकर 1943 तक इसका काम चलता रहा और कोई गड़बड़ी न हुई। 1936, 1938 और 1943 में लेखक इसका अध्यक्ष और शेष वर्षों में प्रधानमन्त्री रहा। 1937 में प्रोफेसर रंगा, 1939 में आचार्य नरेन्द्रदेव, 1940 में बाबा सोहन सिंह भखना, 1942 श्री इन्दुलाल याज्ञिक अध्यक्ष थे।

उसके बाद कम्यूनिस्टों की नीति ने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि वे अकेले रह गये और शेष सभी प्रगतिशील विचार वाले वामपक्षी उनसे जुदा हो गये। कुछ दिन यों ही गुजरे। इसी दरम्यान 1942 के राजबन्दी जेलों से बाहर आने लगे और 1945 के मध्य से ही आल इण्डिया किसान-सभा के पुनः संगठन का काम लेखक तथा टण्डन जी के अथक उद्योग से शुरू होकर गत 9 जुलाई 1946 को बम्बई में 'हिन्द किसान-सभा' के नाम से पुनरपि उसका संगठन हो गया है। उसके सभापति श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन और संगठन मन्त्री यह लेखक हैं। अन्यान्य मन्त्रियों तथा मेम्बरों को मिलाकर 25 सज्जनों की कमिटी भी बनी है, जिनमें चार सदस्य अभी तक चुने नहीं गये हैं।

संक्षेप में भारतीय किसान-आन्दोलन का यही क्रमबद्ध विकास है, यही उसकी रूपरेखा है। भारत के विभिन्न प्रान्तों में उसकी शाखाएँ हैं, जिनमें कुछ तो सक्रिय हैं और कुछ शिथिल। परन्तु सबों को पूर्ण सक्रिय बनाने का भार संगठन-मन्त्री पर दिया गया है। वह इस महान् कार्य में पूर्णतः संलग्न भी हैं। आज भारत के कोने-कोने में किसान संगठन की पुकार है, तेज आवाज है और यह शुभ लक्षण है।

(ब)

किसान-सभा किसानों की वर्ग संस्था है। वर्ग से अभिप्राय है आर्थिक वर्ग से, न कि धार्मिक या जातीय वर्ग से। किसान वर्ग के शत्रुओं, जमींदार-मालदारों से किसानों की रक्षा करना और उनके संगठित प्रयत्न के द्वारा उनके हकों को हासिल करना इस सभा का ध्येय है। जब तक सभी प्रकार के आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक शोषणों का अन्त होकर वर्गविहीन समाज नहीं बन जाता तब तक यह लक्ष्य हासिल नहीं होगा। फलतः इस ध्येय का, इस लक्ष्य और मकसद का पर्यवसान इस वर्ग-विहीन समाज में ही होता है जिसमें मनुष्य का शोषण मनुष्य न कर सके, सबों को अपने सर्वांगीण विकास की पूरी सुविधा हो और इस प्रकार मनुष्य मात्र की सारी जरूरतों की पूर्ति निरबाध और बेखटके होती रहे।

इसलिए सभी जाति, धर्म और सम्प्रदाय के उन लोगों की यह संस्था है जिन्हें खेती करनी पड़ती है, जो खेतिहर हैं और प्रधानतया खेती करे बिना जिनकी जीविका नहीं चल सकती है। इस प्रकार खेत-मजदूरों की भी संस्था यह किसान-सभा है। खेत-मजदूर किसानों के भीतर आ जाते हैं। वे दरअसल किसान हैं, जमीन जोतने-बोने वाले हैं, tillers of the Soil हैं। फिर वे किसान वर्ग से पृथक् कैसे रह सकते हैं? यह भी नहीं कि खेत-मजदूर हरिजन, अछूत या किसी धार्मिक सम्प्रदाय विशेष के भीतर आते हैं। आज परिस्थिति ऐसी है कि हर साल पूरे नौ लाख से भी ज्यादा

किसान अपनी जोत-जमीन गँवा कर, बिना खेत के या यों कहिये कि खेत-मजदूर बनते जा रहे हैं और वे सभी जातियों और धर्मों के हैं। उनमें कुछी लोग दूसरी जीविका कर पाते हैं। अधिकांश खेत-मजदूर ही बनते हैं—अधिकांश को मजबूरन खेत-मजदूर ही बनना पड़ता है।

धार्मिक और जातीय आधार पर किया गया मनुष्यों का वर्गीकरण धोखा देता है और झूठा है, गलत है। कानून की नजरों में टेनेन्ट या किसान मात्र के हक समान ही हैं, फिर चाहे वह क्रिस्तान, मुसलमान, हिन्दू आदि कुछ भी क्यों न हों; ब्राह्मण, शूद्र, शेख, पठान वगैरह क्यों न हों। जमींदारों के हक की भी यही हालत है। अपने-अपने हकों की लड़ाई भी इसी दृष्टि से होती है। न तो कोई हिन्दू जमींदार हिन्दू किसान के साथ रिआयत करता है और न मुसलमान मुसलमान के साथ। चाहे किसी भी धर्म का किसान क्यों न हो, उसके विरुद्ध सभी हिन्दू-मुसलमान जमींदार एक हो जाते हैं, एक ही आवाज उठाते हैं। जमींदारों के खिलाफ सभी धर्म, जाति और सम्प्रदाय के किसानों को भी ऐसा ही करना चाहिए, ऐसा ही करना होगा। इसी तरह एक ओर संगठित होकर अपनी आवाज बुलन्द करनी होगी और हक के लिए मिलकर लड़ना होगा। यही वर्ग संस्था के मानी हैं और यही संगठन किसान-सभा है। जब तक किसान एक सूत्र में बँधे नहीं हैं, संगठित नहीं हैं, तब तक अपने वर्ग के शत्रुओं के विरुद्ध वे जो कुछ भी चीख-पुकार करते हैं वह निरा आन्दोलन कहा जाता है। मगर ज्यों ही वे एक सूत्र में बँध कर यही काम करते हैं त्यों ही उसका नाम किसान-सभा हो जाता है। जितना ही जबर्दस्त उनका यह एक सूत्र में बँधना होता है उतनी ही मजबूत यह किसान-सभा होती है। इसमें उनके भी वर्ग शत्रुओं और उन शत्रुओं के मददगार साथियों के लिए कोई भी गुंजाइश नहीं है। क्योंकि तब यह वर्ग संस्था रहेगी कैसे? संस्था तो गढ़ है न? फिर उसमें शत्रु या उनके संगी-साथी कैसे घुसने पायेंगे? घुसने पर तो वह गढ़ ही शत्रुओं का हो जायगा और जिस कार्य के लिए वह बनाया गया था वही न हो सकेगा।

जिस प्रकार चूहे और बिल्ली के दो परस्पर विरोधी वर्ग हैं और एक वर्ग दूसरे को देखना नहीं चाहता, चूहे बिल्ली को और वह चूहों को खत्म कर देना चाहती है, ठीक यही बात जमींदारों और किसानों की भी है। वे एक-दूसरे को मिटा देना चाहते हैं। चाहे किसान परिवार भूखों मर जाय, दवा के बिना और कपड़े के अभाव में कराहता फिरे; फिर भी उसी की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाने वाले जमींदार उसके साथ जरा सी भी रिआयत करने को रवादार नहीं होते, एक कौड़ी भी लगान या अपने पावने में छोड़ना नहीं चाहते। सैलाब या अनावृष्टि से फसल खत्म हो गयी और महाजनों से कर्ज लेकर किया हुआ किसान का सारा खर्च मिट्टी में मिल गया। फिर भी जमींदार अपना लगान पाई-पाई वसूल करता ही है। और न्यायालय भी उसी की मदद करते हैं। किसान की फरियाद अनसुनी कर दी जाती है। विपरीत

इसके यदि किसान के पास रुपये-पैसे हों तो भी वह जमींदार को एक कौड़ी भी देना नहीं चाहता, अगर उसके बस की बात हो। यदि देता है तो विवश होकर ही, कानून और लाठी के डर से ही। वह दिल से चाहता है कि जमींदार नाम का जीव पृथ्वी से मिट जाय। जमींदार भी किसान से न सिर्फ लगान चाहता है, वरन् उसकी सारी जमीन किसी भी तरह छीन कर खुदकाश्त-बकाश्त बनाना और अपने कब्जे में रखना चाहता है। इससे बढ़कर परस्पर वर्ग-शत्रुता और क्या हो सकती है? फलतः जैसे जमींदारों ने अपने वर्ग के हितों की रक्षा के लिए जमींदार-सभाएँ अनेक नामों से मुद्दत से बना रखी हैं और उन्हीं के द्वारा अपने हकों के लिए वे लड़ते हैं; ठीक उसी तरह किसानों के वर्ग-हित की रक्षा के लिए किसान-सभा है, किसान-सभा की जरूरत है, किसान-सभा चाहिए। तभी उनका निस्तार होगा। जमींदार तो मालदार और काइयाँ होने से बिना अपनी सभा के भी अपनी हित-रक्षा कर सकते हैं। वह चालाकी से दूसरी सभाओं में घुसकर या उन पर अपना असर डाल कर उनके जरिये भी अपना काम बना सकते हैं। रुपया-पैसा, अक्ल और प्रभाव क्या नहीं कर सकते? मगर किसान के पास तो इनमें एक चीज भी नहीं है। इसीलिए किसान-सभा जरूरी है।

कहा जाता है कि जब अंग्रेजों से लड़ने और उन्हें पछाड़ने के लिए कांग्रेस मौजूद ही है और उसके 90 फीसदी मेम्बर किसान ही हैं, तो फिर उससे जुदी किसान-सभा क्यों बने? यह भी नहीं कि कांग्रेस किसानों के लिए लड़ती न हो। फैजपुर वाला उसका किसान-कार्यक्रम (Agrarian Programme) और हाल में जमींदारी मिटाने का उसका निश्चय इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि वह किसानों की अपनी संस्था है। यदि उसमें जमींदार या उनके मददगार भी हैं तो इससे क्या? वह फिक्र तो रखती है किसानों के लिए। यदि कहा जाए कि कांग्रेस कमिटियों पर ज्यादातर कब्जा और प्रभुत्व मालदारों का ही रहता है, तो यह भी कोई बात नहीं है। यह तो किसानों की भूल है, उनकी नादानी है कि चुनावों में चूकते हैं। जब अधिकांश कांग्रेस-सदस्य वही हैं तो फ़िर सजग हो के चुनाव लड़ें और सभी कमिटियों पर कब्जा करें। जब देश के लिए कांग्रेस के द्वारा लड़ने-मरने वाले अधिकांश किसान ही हैं तो फिर कांग्रेस उनकी नहीं तो और किसकी है, किसकी हो सकती है? इसीलिए मानना ही होगा कि कांग्रेस ही सबसे बढ़कर किसानों की संस्था है, किसान-सभा है—Congress is the Kisan organisation par excellence.

ऊपर से देखने से बात तो कुछ ऐसी ही मालूम पड़ती है। यह सही है कि कांग्रेस ने जमींदारी मिटाने का निश्चय किया है। इससे पहले किसान-हित के प्रोग्राम भी उसने बनाये हैं। आगे भी वह ऐसा करेगी, इसमें भी विवाद नहीं। वह प्रगतिशील संस्था है, यह भी मानते हैं। तभी तो प्रतिदिन बदलती दुनिया में वह टिक सकती और आजादी का सफल संग्राम चला सकती है। इसीलिए किसान उस कांग्रेस से

चिपकते हैं, उन्हें उससे चिपके रहना चाहिए जब तक जंगे आजादी जारी है और हम स्वतन्त्र नहीं होते। कांग्रेस कमजोर हुई कि आजादी की आशा गयी। गुलामी के विरुद्ध समस्त राष्ट्र के विद्रोह की प्रतीक और प्रतिमूर्त्ति ही कांग्रेस है। आजादी के लिए सारे देश की दृढ़ प्रतिज्ञ और बेचैनी का बाहरी या मूर्त्त रूप ही कांग्रेस है। राष्ट्रीयता ने हममें हरेक की रगों में प्रवेश किया है, हमारे खून में वह ओत-प्रोत है। वह हमारी रग-रग में व्याप्त है। यह राष्ट्रीयता जितनी ही व्यापक और संघर्ष के लिए व्याकुल-लालायित (militant) होगी, आजादी हमें उतनी ही शीघ्रता से मिलेगी। इसीलिए हर किसान को इस राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत होना ही और कांग्रेसी बनना ही चाहिए ताकि हमारा मुल्क जल्द-से-जल्द पूर्ण स्वतन्त्र हो। गुलाम भारत में किसान-राज्य या समाजवाद की आशा महज नादानी है।

इस प्रकार जब किसान कांग्रेस को शक्तिशाली बनायेंगे सीधी लड़ाई के द्वारा और चुनावों में मत देकर भी, तो इसके बदले में कांग्रेस को भी उनका खयाल करना ही होगा। और उनके हकों के लिए समय-समय पर लड़ना ही होगा। इन कार्यक्रमों को और जमींदारी मिटाने की बात मानकर कांग्रेस यही करती भी है। कांग्रेसी नेता खूब समझते हैं कि यदि वे ऐसा न करेंगे और जमींदारी न मिटायेंगे, तो उन्हें खुद मिट जाना होगा, उनकी लीडरी जाती रहेगी और कांग्रेस भी खत्म हो जायगी। यह ठोस सत्य है। राष्ट्रीयता सर्वथा उपादेय और सुन्दर चीज होने पर भी वह भावुकता की वस्तु है, भावना और दिमाग की चीज है, महज खयाली पदार्थ है। वह कोई ठोस भौतिक पदार्थ नहीं है, ठीक जिस प्रकार धर्म, ईश्वर और स्वर्ग-नर्क आदि हैं। ये भी महज खयाली हैं। इसीलिए समय-समय पर भौतिक पदार्थों—जर, जोरू, जमीन के सामने ये टिक नहीं सकते, इनकी अवहेलना होती है और लोग जमीन-जायदाद के लिए गंगा-तुलसी, कुरान-पुरान आदि उठाकर झूठी कसमें खाते हैं। इसी प्रकार भौतिक हितों के निरन्तर विरोध में यह राष्ट्रीयता टिक नहीं सकती, इसे मिट जाना होगा। यही वजह है कि कांग्रेसी लीडर किसानों के भौतिक हितों की बातें समयानुसार करते रहते हैं। भावनामय कोरी राष्ट्रीयता भौतिक स्वार्थों को साथ लेकर ही टिक सकती है, लक्ष्य-सिद्धि में कामयाब हो सकती है। यदि इन भौतिक स्वार्थों को वह छोड़ दे या उनसे टकरा जाय, तो उनके लिए भारी खतरा बेशक पैदा हो जायगा।

मौत बुरी है, बड़ी खतरनाक है। उसके मुकाबले में जूते की काँटी का चुभना कोई चीज नहीं है। फिर भी मौत से बचने के लिए कोई शायद ही फिक्रमन्द दिखता है। मगर काँटी के कष्ट से बचने का यत्न सभी करते हैं। यही ठोस सत्य है और हम इसे भुलाकर भारी धोका खायँगे। ठीक राष्ट्रीयता को भी इसी तरह भारी धक्का लगे, अगर वह किसानों की तात्कालिक माँगों और तकलीफों का खयाल करके उनके सम्बन्ध में अपना प्रोग्राम स्थिर न करे। राष्ट्रीयता को अमली और व्यावहारिक जामा पहनना ही होगा और भौतिक दुनिया को देखकर ही चलना होगा। तभी वह पूर्ण

स्वतन्त्रता के युद्ध में सफल होगी। यही वजह है कि राष्ट्रीय नेता जमींदारी मिटाने की बातें करते और जमींदारों के गुस्से का सामना करते हैं। इसमें उनकी चालाकी और व्यवहार-कुशलता की झाँकी मिलती है।

यह भी न भूलना होगा कि फ्रांस में जमींदारी का खात्मा नेपोलियन जैसे साम्राज्यवादी के हाथ से हुई। उसे कोई नहीं कह सकता कि वह किसान मनोवृत्ति का था, या उसकी संस्था किसान-सभा जैसी थी। उसकी सरकार घोर अनुदार, पर दूरंदेश थी। उसने देखा कि फ्रांस के प्राचीन राजघराने के लोग दो दलों में विभक्त होकर एक जमींदार वर्ग का समर्थक है तो दूसरा मध्यमवर्ग, बुर्जुवा या कल-कारखाने वालों का। किसानों का पुर्सां किसी को न पा उसने जमींदारी मिटाकर उन्हें अपने साथ किया और फौज में किसान युवकों को भर्ती करके महान् विजयों के द्वारा साम्राज्य-विस्तार किया। इसमें उसकी व्यवहार-कुशलता एवं दूरंदेशी के सिवाय और कुछ न था। वह न तो किसान था और न किसान-मनोवृत्ति का, और इसका पता एक मुद्दत गुजरने पर किसानों को तथा दुनिया को भी लग गया जब उसी के बनाये 'नेपोलियन वाले कानूनों' के द्वारा उन्हीं किसानों की जमीनें धड़ाधड़ बैंकों एवं महाजनों के पास चली गयीं। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका की सरकार ने तो वहाँ जमींदारी प्रथा होने ही न दी और अधिकांश किसानों को, विशेषतः पश्चिमी भाग में, मुफ्त जमीनें दीं। यह बात लेनिन की चुनी लेखमाला के अंग्रेजी संस्करण के बारहवें भाग के 194 पृष्ठ में स्पष्ट लिखी गयी है। **अन्यान्य देशों में भी अनुदार या दकियानूस दल वालों ने ही जमींदारी मिटाई है।**

दरअसल देशों में उद्योग-धन्धों की अबाध प्रगति के लिए जिस कच्चे माल की प्रचुर परिमाण में जरूरत होती है उसके उत्पादन में यह जमींदारी प्रथा बाधक होती है। यह प्रथा भूमि की उत्पादन शक्ति को बेड़ी की तरह जकड़ने वाली मानी जाती है। फलतः मध्यमवर्गीय मालदार ही इसका उन्मूलन करते हैं और भारत में भी 'बम्बई-पद्धति' (Bombay Plan) के प्रचारक एवं निर्माण-कर्त्ता, टाटा, बिड़ला आदि करोड़पतियों ने ही जमींदारी मिटाने की आवाज गत महायुद्ध के जमाने में ही बुलन्द की थी। पीछे चलकर कांग्रेस नेताओं ने उसे ही माना है और टाटा-बिड़ला का संगठन कोई किसान-सभा नहीं है, यह सभी जानते हैं। अतः जमींदारी मिटाने की बात इसका प्रमाण नहीं है कि कांग्रेस किसान-सभा बन गयी। हाँ, यदि क्रान्तिकारी ढंग से जमींदारी मिटाने की बात वह बोलती और वैसा ही करती, जैसा सोवियत रूस में हुआ, तो एक बात थी। तब ऐसा सोचा जा सकता था; हालाँकि फ्रांस में क्रान्तिकारी ढंग से ही ऐसा होने पर भी उसके कराने वाले किसान-विरोधी ही सिद्ध हुए। क्रान्तिकारी तरीके के मानी ही हैं जबर्दस्ती जमीनें और जमींदारों की सारी सम्पत्तियाँ छीन लेना और उन्हें राह का भिखारी या महाप्रस्थान का यात्री बना देना।

यह भी सोचना चाहिए कि कांग्रेस तो 1936-37 वाले चुनावों में भी पड़ी थी।

उसी समय उसने फैजपुर का एक अत्यन्त लचर कार्यक्रम भी इसी सिलसिले में स्वीकार किया था, पर वह भी कांग्रेसी-मन्त्रिमण्डलों के बनने पर सर्वत्र खटाई में ही पड़ा रह गया। प्रत्युत युक्तप्रान्त में ऐसा काश्तकारी कानून बनाया उन्हीं मन्त्रियों ने जिसके चलते गत महायुद्ध के जमाने में, सरकारी बयान के अनुसार ही, पूरे दस लाख एकड़ जमीनें किसानों से जमींदारों ने छीन ली और किसानों में हाहाकार मच गया। उसी का प्रायश्चित्त इस बार वहाँ कांग्रेसी मन्त्रियों को करना पड़ रहा है। बिहार में भी ऐसी ही बातें होने वाली थीं। मगर यहाँ किसान-सभा की जागरूकता और उसके प्रबल आन्दोलन ने बहुत कुछ रोका। फिर भी बहुत कुछ अनर्थ हो गये। यदि कांग्रेस ही किसान-सभा होती, तो क्या ऐसा होता? उलटे बिहार की किसान-सभा को कांग्रेसी मन्त्रियों और लीडरों ने इसलिए कोसा कि वह कांग्रेस विरोधी है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि इस निर्जीव और लचर किसान-कार्यक्रम की जगह उसी समय कांग्रेस ने जमींदारी मिटाने का प्रोग्राम क्यों न कबूल किया था? क्या पहले वह दूसरी थी और आज बदल गयी?

दरअसल उस समय किसान-सभा ऐसी जोरदार न थी और उसने भी जमींदारी मिटाने का प्रश्न अभी तेज न बना पाया था, जिससे कांग्रेस पर उसका दबाव पड़ता और वह उसे मानने को मजबूर होती। तब समय का रुख ऐसा बेढंगा न था इस जमींदारी के बारे में। तब कांग्रेस के आधार-स्तम्भ किसान-समाज में जमींदारी के मिटा देने के बारे में ऐसी भीषण मनोवृत्ति न थी जैसी आज है। उनमें इसके प्रति ऐसा रोष-क्षोभ न था जो आज है। फलतः उसके मिटाने का प्रश्न न उठाकर भी कांग्रेस उस समय किसानों को अपने साथ ले सकती थी। **अब जमींदारी न मिटाकर कांग्रेस का टिकना या किसानों को अपने साथ ले सकता असम्भव है।** इसीलिए पूरे **दस साल बाद उसने जमींदारी मिटाने की बात अपनाई है। सो भी मुआवजा या कीमत देकर।**

इससे कई बातें सिद्ध होती हैं। एक यह कि कांग्रेस ने खुद ऐसा न करके किसान-सभा, किसान-आन्दोलन और किसानों के दबाव से ही ऐसा किया है या यों कहिये कि उसने समय का रुख पहचाना है। इससे उसकी और उसके नेताओं की अवसरवादिता सिद्ध होती है, जो बेशक किसान-सभा या किसान नेता होने का लक्षण कदापि नहीं। किसानों का हित तो 1936-37 में ही पुकारता था कि जमींदारी मिटाओ।

इससे किसान-सभा और कांग्रेस का मौलिक एवं बुनियादी भेद भी सिद्ध हो जाता है। **जहाँ किसान-सभा अर्थनीति और आर्थिक कार्यक्रम को राजनीति के द्वारा देखती हुई उसे साधन और आर्थिक बातों को, अर्थ-नीति को साध्य मानती है, और इसीलिए राजनीतिक हार-जीत की वैसी परवाह न करके सदा किसानों की आर्थिक बातों को ही देखती रहती है और वैसा ही कार्यक्रम चाहती है, तहाँ कांग्रेस राजनीति को ही अर्थनीति के द्वारा, इसी आईने में देखती है। फलतः उसके लिए ये आर्थिक**

बातें तथा प्रोग्राम साधन हैं और राजनीति साध्य या लक्ष्य। यही वजह है कि जब 1936-37 में मामूली आर्थिक प्रोग्राम से ही उस राजनीतिक चुनावों में जीत सम्भव थी तो उसने वैसा ही प्रोग्राम बनाया। लेकिन इस बार वैसा सम्भव न देख जमींदारी मिटाने की बात उठाई।

सारांश, हर हालत में किसानों को साथ लेकर उसे राजनीति में सफल होना है। फलतः उनका हित कांग्रेस लीडरों का लक्ष्य न होकर साधन मात्र है। किसान-हित की बातों और वैसे कामों के द्वारा वे अपना मतलब निकालना चाहते हैं। यह बात किसान नेताओं एवं किसान-सभा में नहीं हो सकती। उनका तो काम ही है किसानों के हित कों ही अपना अन्तिम लक्ष्य बनाना और आगे बढ़ाना और इस प्रकार एक न एक दिन उसी रास्ते राजनीति में भी विजयी होना।

दूसरी बात यह है कि यदि कांग्रेस से जुदा स्वतन्त्र रूप से कोई किसान-आन्दोलन और किसान-सभा न हो तो फिर कांग्रेस पर दबाव किसका पड़ेगा? आज जो कांग्रेस प्रगतिशील मानी जाती है वह इसीलिए न, कि वह समय की गति पहचान कर तदनुसार ही कदम बढ़ाती है? यही उसकी सबसे बड़ी खूबी है, उसमें यह गुंजाइश है, यही उसकी जान और शान के लिए बड़ी चीज है। मगर, अगर दबाव न हो तब? तब तो वह दकियानूस ही बन जाय, उसकी प्रगति जाती रहे और वह निर्जीव हो जाय, जैसी नरम दलियों की संस्थाएँ हैं। ऐसी दशा में आजादी के संग्राम में पूर्ण सफलता की आशा की जाती रहे। इसीलिए कांग्रेस की प्रगतिशीलता एवं लक्ष्य की सफलता के लिए भी जिस किसान दबाव की सख्त जरूरत है, उसके लिए स्वतन्त्र किसान-सभा का होना नितान्त आवश्यक है। क्योंकि तभी किसान-हित की दृष्टि से स्वतन्त्र आन्दोलन करके ऐसा वायुमण्डल बनाया जा सकता है जिसका दबाव कांग्रेस पर पड़े और वह प्रगतिशील कार्यक्रम बनाकर किसान समूह को अपनी ओर खींचे। इसके अभाव में वह नरम दलियों एवं लिबरलों की तरह निर्जीव प्रोग्राम बनाकर किसानों को अपने साथ अन्ततोगत्वा ले चलने में समर्थ नहीं हो सकती, यह ध्रुव सत्य है।

यदि किसान-सभा स्वतन्त्र न होकर कांग्रेस का अंग या उसका एक विभाग मात्र हो तो वह न तो स्वतन्त्र आन्दोलन ही कर सकती और न वैसा प्रचण्ड वायुमण्डल ही बना सकती, जो कांग्रेस पर दबाव डाल कर उसे आगे बढ़ाये और प्रगतिशील बनाये। क्योंकि ऐसी किसान-सभा कांग्रेस के निश्चय का ही मुँह देखेगी और तदनुसार ही चलेगी अनुशासन के खयाल से। वह स्वतन्त्र रूप से कोई भी काम या आन्दोलन कर नहीं सकती।

और आखिर यह मुआविज़ा क्या बला है? क्या इससे किसानों का लाभ है? क्या यह किसान-हित की दृष्टि से दिया जाने को है? साफ शब्दों में कहा जा सकता है कि यह तो किसानों के भविष्य को पहले से ही मुस्तगर्क करना या जकड़ देना है। उनके भविष्य को पहले से ही बन्धक रख देना है। आगे चलकर उनके लिए

यह बड़ा रोड़ा सिद्ध होगा। आखिर ये रुपये किसानों से ही तो वसूल होंगे। आज जो भी कर्ज इस मुआविजे को चुकाने के लिए सरकार लेगी उसका भार किसानों पर ही तो पड़ेगा, वह उन्हीं से तो सूद के साथ वसूल होगा। जो भी रुपया कर्ज लेकर या सरकारी खजाने से दिया जायगा वही अगर किसान-हित के कामों में खर्च होता तो वे कितने आगे बढ़ते? यही रुपये यदि उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य-सुधार, ग्रामीण सड़कों, सिंचाई, खेती की तरक्की, मार्केटिंग के प्रबन्ध आदि में खर्च हों तो सचमुच किसान प्रगति की छलाँग मारने लगेंगे। यही वजह है कि किसान-सभा इस मुआवजे की सख्त मुखालिफत करती है।

कहा जाता है कि किसान-सभा ने 1937 में बने कांग्रेसी-मन्त्रिमण्डलों को काफी परेशान और बदनाम किया। मगर यही तो कहने का भद्दा तरीका है। विरोध का सदा स्वागत किया जाता है। जब तक विरोध न हो ठीक रास्ते पर कोई नहीं चलता। विरोधी ही अधिकारारूढ़ दल की कमजोरियों को बताकर उन्हें सँभलने का मौका देते हैं। यदि मोटर और इंजन में ब्रेक न हो तो पता नहीं मोटर और रेल कहाँ जा गिरें? और आखिर यह ब्रेक है क्या चीज, यदि विरोध, रुकावट या 'अपोजीशन' नहीं है? उन दिनों किसान-सभा कांग्रेसी मन्त्रियों को क्या गिराना या पदच्युत करना चाहती थी? क्या इसका कोई प्रमाण है? उसने तो सिर्फ खतरे और खामियाँ सुझाकर मन्त्रियों को समय-समय पर सजग किया कि सँभल कर काम करें, जमींदारों के माया-जाल और चकमे में पड़कर पथ-भ्रष्ट न हों। फलतः मन्त्री लोग सँभलें जरूर और इस तरह किसानों को अपने साथ रख सके। आखिर तेली के बैल की तरह किसानों की आँखें मूँद कर हमेशा के लिए रखी नहीं जा सकती थीं। वे खुलतीं कभी न कभी जरूर और कांग्रेस के लिए बुरा होता। यदि अपने आप खुलतीं या यदि कहीं कांग्रेस के शत्रु खोलते तो तब तो भारी खतरा होता। किसान-सभा ने इन दोनों से कांग्रेस को बचाया। फलतः इसके लिए उसका कृतज्ञ होने के बजाय यह उलाहना और गुस्सा? उसने मित्र का काम किया। फिर भी यह नाराजगी?

यह भी बात है कि राष्ट्रीय संस्था होने के नाते कांग्रेस सभी वर्गों की संस्था है। उसमें सभी वर्ग शरीक हैं, वह सभी दलों और श्रेणियों का प्रतिनिधित्व करती है। यही उसका दावा है। यही चाहिए भी। तभी सभी वर्ग के लोग उससे चिपकेंगे, उसे अपनी संस्था मानेंगे और फलस्वरूप उसे मजबूत बनाने की कोशिश करेंगे। ऐसी दशा में वह किसानों की संस्था या सभा कैसे हो सकती है। वह केवल एक वर्ग का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकती है? यह तो उसकी कमजोरी का सबसे बड़ा कारण होगा; कारण, तब जमींदार, मालदार आदि दूसरे वर्ग उसका न सिर्फ साथ न देंगे, प्रत्युत उसके घोर शत्रु हो जायँगे। जमींदारी मिटाने का प्रश्न जो मुआविजा देकर उठाया गया है, उसका भी यही तात्पर्य है। **जमाना बदल रहा है और अपार धन-सम्पत्ति लेकर जमींदार उसे उद्योग-धन्धों में लगायेंगे और मालामाल होंगे।** जमीन से होने वाली

एक बँधी-बँधाई आमदनी की जगह कल-कारखानों से होने वाली उत्तरोत्तर वृद्धिशील आमदनी होगी इन जमींदारों को, फिर चाहिए क्या? उस दशा में जमींदार कांग्रेस के शत्रु क्यों बनें? यदि वे विरोध करते हैं तो या तो नादानी से या यह उनकी चालबाजी है। ऐसा न करते तो शायद किसानों के दबाव से कांग्रेस उन्हें मुआविजा भी न देती। आखिर कांग्रेस दल में अधिकांश जमींदार मालदार और उनके संगी-साथी ही तो हैं। किसान-मनोवृत्ति के हैं कितने एम. एल. ए.? और यही लोग जमींदारी मिटाने की बात का इस रूप में समर्थन करते हैं। तो क्या वे सनक गये हैं?

ऐसी दशा में न तो वह किसान जैसे एक वर्ग की संस्था बन सकती और न किसान-सभा कांग्रेस के अधीन या उसकी मातहती में ही रह सकती है, रखी जा सकती है। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। जब कभी किसान-सभा किसान-हितों के लिए जमींदारों से भिड़ना चाहेगी, तभी कांग्रेस के अनुशासन की नंगी तलवार उस पर आ गिरेगी। उसे कांग्रेस का रुख देखकर ही प्रतिपल चलना होगा। कांग्रेस का मुख्य काम है विभिन्न वर्गों के स्वार्थों का सामंजस्य रखना और ऐसा करते हुए ही आगे बढ़ना। वह तो एक वर्ग को दूसरे के विरुद्ध संघर्ष करने देना नहीं चाहती, नहीं चाहेगी। वह होगा वर्ग-युद्ध या श्रेणी-संघर्ष और वैसा होने पर कांग्रेस को किसी एक वर्ग का साथ उसमें देना ही पड़ेगा। फलतः उसकी राष्ट्रीयता जाती रहेगी। जिस वर्ग के विपरीत दूसरे का साथ देगी वह उससे हट जाएगा। यह हटना समय-समय पर होता ही रहेगा, कारण, वर्ग-संघर्ष एक ही बार न होकर बार-बार होगा। तब उसकी राष्ट्रीयता कैसे निभेगी और सभी वर्गों की संस्था होने का सफल दावा वह कर सकेगी कैसे? इसी से उसे वर्ग-सामंजस्य का रास्ता पकड़ना ही है। वह यही करती भी है। अतएव उसकी मातहत किसान-सभा को या उसके किसान-विभाग को भी यही करना होगा। उसे भी वर्ग-सामंजस्य की माला जपनी होगी। फिर भी उसे किसान-सभा का नाम देना उसका उपहास करना है, जब तक कि स्वतन्त्रता-पूर्वक यह किसान-हितों के लिए संघर्ष न कर सके, ऐसा करने की पूरी आज़ादी न हो।

कहा जा सकता है कि इस वर्ग-सामंजस्य की नीति के फलस्वरूप जमींदार वर्ग की भी हित-हानि हो सकती है। क्योंकि उनके लिए भी तो कांग्रेस कभी संघर्ष न करेगी। तब घबराहट क्यों? बात ऊपर से ठीक दीखती है। मगर असलियत कुछ और ही है। कभी किसी ने देखा-सुना ही नहीं कि कांग्रेस जमींदार सभा को भी अपनी मातहती में रखे या अपना एक जमींदार-डिपार्टमेंट खोले। उसका यत्न तो केवल किसान-सभा को ही न होने देने तथा अपने मातहत रखने में है। मजदूर-सभा की भी स्वतन्त्र सत्ता वह स्वीकार करती है और जमींदार-सभा की भी। पूँजीपतियों की सभा का तो कुछ कहना ही नहीं। बल्कि यों कहिये कि पूँजीपतियों एवं जमींदारों की सभाएँ कांग्रेस की परवाह भी नहीं करती हैं। वह अपना स्वतन्त्र कार्य किये

जाती हैं। इसीलिए कांग्रेस के वर्ग-सामंजस्य वाले सिद्धान्त से उनकी हानि नहीं होती, नहीं हो सकती। उनकी संस्थाएँ निरन्तर लड़ती जो रहती हैं। बस, सारी बला किसानों पर ही आती है, आने वाली है। क्योंकि उनकी स्वतन्त्र संस्था रहने न पाये इसी के लिए कांग्रेसी नेता परेशान रहते हैं और इस तरह किसान-सभा को पनपने नहीं देते। तब किसानों के हित चौपट न हों तो होगा क्या? वे सभी वर्ग संस्थाओं को समान रूप से पनपने न देते तो एक बात थी। मगर सो तो होता नहीं। ऐसी दशा में कांग्रेस के अधीन किसान-सभा का ढाँचा खड़ा करना निरी प्रवंचना है। दरअसल कांग्रेस में जमींदारों का प्रभुत्व ठहरा और वह इसी ढंग से किसानों को उठने देना नहीं चाहते। यह उनकी चाल है कि अनेक वर्गीय संस्थाओं के अधीन किसानों की वर्ग संस्था को बनाने का ढोंग रचकर उन्हें सदा पंगु ही रखें। पहले तो किसान-सभा के नाम से ही नाक-भौं सिकोड़ते थे। मगर उससे कुछ होता-जाता न देख अब यह दूसरा प्रपंच खड़ा किया जा रहा है।

कहा जा सकता है कि कांग्रेस में दूसरे वर्ग—जमींदार, पूँजीपति और मजदूर—नगण्य से हैं; फलतः वे अपनी अलग सभाएँ बनाकर भी कांग्रेस का कुछ बिगाड़ नहीं सकते जब तक किसान कांग्रेस के साथ हैं। हाँ, यदि किसान भी अलग हों तो भारी खतरा होगा और उनकी स्वतन्त्र संस्था—किसान-सभा—बन जाने में इसकी पूरी सम्भावना है। किसानों ने यदि कांग्रेस को छोड़ा तो उसकी जड़ ही कट जायगी।

लेकिन यह कोई दलील नहीं है, यदि किसान-सभा का संचालन कांग्रेस-जन ही करें तो क्या हर्ज है? तब किसानों को उसके विरुद्ध जाने का मार्ग कौन सिखायेगा? क्या वही कांग्रेसी ही? यह तो विचित्र बात है। और अगर यह बात हो तो आखिर बकरे की माँ कब तक खैर मनायेगी? किसानों को सदा कांग्रेस की दुम में बाँध रखना असम्भव है। संसार में और भारत में भी वर्ग संस्थाएँ हैं, यह ठोस सत्य है। फिर किसान इससे अछूते रहें, उन्हें यह वर्ग संस्था की हवा न लगे, यह गैर-मुमकिन है। परिणाम यह होगा कि अभी तो कांग्रेस-जन ही वह वर्ग संस्था बना सकते हैं, बनाते हैं। मगर पीछे कांग्रेस के विरोधी बना के ही दम लेंगे और ये कांग्रेसी लीडर उनका कुछ कर न सकेंगे। फलतः कांग्रेस-विरोधियों का प्रभुत्व किसान-सभाओं पर न हो, सिर्फ यही देखभाल कांग्रेस की दृष्टि से अवश्य की जानी चाहिए जब तक आजादी की लड़ाई जारी है और मुल्क स्वतन्त्र नहीं हो जाता। इसके आगे जाना अनुचित काम एवं अनधिकार चेष्टा है। जमींदार हजार उपायों से किसानों को तबाह करते रहें और आप से कुछ नहीं होता मगर ज्यों ही किसान अपनी संघ-शक्ति के द्वारा उनका संगठित रूप से सामना करने की तैयारी करता और एतदर्थ किसान-सभा बनाता है कि आप लोग हाय-तोबा मचाने लगते हैं। यह बात अब किसान भी समझने लगा है और कांग्रेस के लिए यह अच्छा नहीं है।

यदि किसान-सभा कांग्रेस का पुछल्ला नहीं बनती, यदि इसमें किसानों के लिए

खतरा है और इसीलिए स्वतन्त्र किसान-सभा का बनना अनिवार्य है, तो वह अनेक राजनीतिक दलों तथा पार्टियों की भी दुम न बनेगी। यदि उस पर कांग्रेसी लीडरों की हुकूमत असह्य है, तो फिर पार्टी लीडरों की मुहर भी क्यों लगे? उसकी स्वतन्त्रता तो दोनों ही तरह से चौपट होती है और वह मजबूत हो पाती नहीं। हम उसे बलवती वर्ग संस्था बनाना चाहते हैं और ऐसा करने में यदि कांग्रेस बाधक है तो ये पार्टियाँ कम बाधक नहीं हैं। गत पन्द्रह साल के अनुभव से हम यह बात कहने को विवश हैं। पार्टियों की पहली कोशिश यही होती है कि किसान-सभा या मज़दूर-सभा उनका पुछल्ला बनें, उनका प्रभुत्व और उनकी छाप इन सभाओं पर लगे। यदि ऐसा हो गया, तो ये सभाएँ बनें; नहीं तो जहन्नुम में जायँ। यदि कई पार्टियाँ हुईं—और हमारे देश में दुर्भाग्य से सोशलिस्टों, कम्युनिस्टों, फारवर्ड ब्लाकिस्टों, क्रान्तिकारी सोशलिस्टों, बोल्शेविकों आदि की अलग-अलग पार्टियाँ हैं—तो किसान-सभा उनके आपसी महाभारत का अखाड़ा बन जाती है। उनकी आपसी खींच-तान से यह ठीक-ठीक पनप पाती नहीं, तगड़ी और जबर्दस्त बन पाती नहीं। हरेक पार्टी का अपना-अपना मन्तव्य होता है। वह भला होता है या बुरा, इससे हमें कोई मतलब नहीं। मगर वह परस्पर विरोधी तो होता ही है। यह बात चाहे ऊपर से देखने कहने के लिए न भी हो, फिर भी भीतर से होती ही है। यह ठोस सत्य है। यदि मन्तव्य का परस्पर विरोध न हो तो फिर कलह कैसी? फिर ये पार्टियाँ आपस में मिल जाती हैं क्यों नहीं? कम से कम लीडरी का विरोध तो रहता ही। हरेक पार्टी अपनी लीडरी चाहती है और यह और भी बुरी बात है। ऐसी दशा में बेचारी किसान-सभा इनके आपसी झगड़े का अखाड़ा क्यों बने, क्यों बनने दी जाय? और अगर किसी कल, बल, छल से एक पार्टी ने सभा में अपना बहुमत बनाना चाहा, तो ऐसा क्यों होने दिया जाय? इन्हें तो अपनी लीडरी का मर्ज है। किसान और उनकी सभा जायँ जहन्नुम में। किसानों और उनकी सभा का नाम यदि इन्होंने भी कभी लिया है तो केवल अपनी लीडरी साधने के लिए। नाम चाहिए, काम जाय जूल्हे में। एकान्त में बैठकर ये पार्टी लीडर कोई बात तय करें, कोई मंन्तव्य ठहरायें, और किसान-सभा में आकर उस पर उसे ही लादें यह बुरी बात है, असह्य चीज है। सभा में ही बैठकर वह मन्तव्य ठीक क्यों नहीं करते? शायद तब उनकी लीडरी न रहे। मगर किसान-सभा तो रहेगी और जबर्दस्त रहेगी। यदि ये पार्टी लीडर ईमानदार हों तो उन्हें यही करना चाहिए। नहीं तो सभा को बख्श देना चाहिए।

एक बात और भी है। इन सभी पार्टियों का दावा है कि ये मजदूरों की पार्टियाँ हैं। कम्युनिस्ट पार्टी का तो यही दावा है। लेनिन की कम्युनिस्ट पार्टी का नामकरण या जन्म बोल्शेविक पार्टी से ही हुआ रूस की अक्टूबर 1917 की क्रान्ति की सफलता के बाद। और यह बोल्शेविक पार्टी बनी थी रूस की सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी के ही बहुमत से। उस लेबर या मजदूर पार्टी के बहुमत ने जो निर्णय किया उसे

अल्पमत ने न माना और वह अलग हो गया। इस तरह स्पष्ट है कि आज की कम्युनिस्ट पार्टी मजदूरों की ही पार्टी है। लेनिन के लेखों में सर्वत्र यही बात पायी जाती है। मार्क्स और एंगेल्स ने भी शुरू-शुरू में दूसरे-दूसरे नामों से इसे मजदूर पार्टी के रूप में ही बनाया। ऐसी दशा में किसानों की वर्ग संस्था उस मजदूर पार्टी की छत्रछाया या लीडरी में कैसे बन सकती और सबल हो सकती है? मजदूर पार्टी की अधीनस्थ किसान-सभा किसानों की स्वतन्त्र वर्ग संस्था वास्तविक रूप से बन पायेगी कैसे? और अगर कम्युनिस्ट पार्टी इस ठोस सत्य को मिटाकर यह दावा करे कि वह किसानों तथा मजदूरों की—दोनों की—पार्टी है, तो प्रश्न होता है कि वह अनेक वर्गों की संस्था होकर किसानों की वर्ग संस्था को अपने अधीन कैसे रख सकेगी और उसके साथ न्याय कर सकेगी? किसान-सभा की नकल वह भले ही खड़ी करे। मगर असली और बलवती किसान-सभा वह हर्गिज न बनने देगी। बहुवर्गीय संस्था होने के नाते यदि कांग्रेस के मातहत किसान-सभा नहीं बन सकती तो कम्युनिस्ट पार्टी का पुछल्ला क्यों बनेगी?

कहा जा सकता है कि कांग्रेस के भीतर रहने वाले वर्ग परस्पर विरोधी हैं। दृष्टान्त के लिए जमींदारों का विरोध किसानों से है। फलतः उसकी मातहती में किसान-सभा नहीं बन सकती है। मगर किसानों तथा मजदूरों के स्वार्थों का तो परस्पर विरोध है नहीं, किसान और मजदूर भी परस्पर विरोधी वर्ग इसीलिए नहीं हैं। तब इन दोनों की संस्था स्वरूप इस कम्युनिस्ट पार्टी के अधीन किसान-सभा क्यों न होगी?

मगर यह दलील लचर है। अन्ततोगत्वा इन दोनों के स्वार्थ जरूर मिल जाते हैं; समाजवाद या साम्यवाद की दशा में इनका परस्पर विरोध नहीं होता, यह बात सही है। मगर प्रश्न तो वर्तमान दशा और समय का है और आज इनके स्वार्थों का विरोध स्पष्ट है। यदि गल्ले, साग-भाजी और फल-फूल आदि महँगे बिकें तो किसान सुखी हों और खुश रहें, मगर कारखाने के मजदूर नाखुश और तबाह हों। विपरीत इसके यदि कारखाने के बने माल—कपड़े आदि—महँगे बिकें और कारखानेदारों को ज्यादा लाभ हो तो मजदूरों के वेतन बढ़ें, उन्हें बोनस मिले और दूसरी सुविधाएँ मिलें। लेकिन इसमें किसान की तबाही है। उसकी पैदा की गयी सारी चीजों की कीमत कपड़े आदि में ही लग जाती है और वह तबाह रहता है। यदि मजदूर अपनी माँग मनवाने के लिए महीनों हड़ताल करें तो मिल-मालिक उनके सामने झुकें। मगर ऐसा होने पर मिल के बने कपड़े आदि महँगे होते और किसानों के ज्यादा पैसे इनमें लग जाते हैं। फलतः वह ये हड़तालें नहीं चाहते। ऐसी ही सैकड़ों बातें हो सकती हैं जिनसे दोनों के तात्कालिक स्वार्थों का परस्पर विरोध स्पष्ट है और ये तात्कालिक स्वार्थ ही उनकी दृष्टि को किसी रास्ते पर लाते हैं। ये भौतिक स्वार्थ हैं, प्रत्यक्ष हैं, आँखों के सामने हैं। इनके मुकाबले में समाजवाद और साम्यवाद वैसे ही परोक्ष और केवल भावनामय हैं, दिमागी हैं, जैसी आजादी और स्वतन्त्रता। जिस प्रकार

तात्कालिक स्वार्थों को भूलकर हम इन्हें स्वराज्य संग्राम में सामूहिक रूप से आकृष्ट नहीं कर सकते, ठीक वैसे ही इन परस्पर विरोधी तात्कालिक स्वार्थों को अलग करके, इनकी परवाह न करके हम किसानों या मजदूरों को सामूहिक रूप से अपनी सभा में आकृष्ट नहीं कर सकते। फिर समाजवाद के लिएं यह तैयार कैसे किये जायँगे? फलतः न्याय, ईमानदारी, दूरंदेशी और व्यावहारिकता का तकाजा यही है कि इन दोनों की सभाएँ एक-दूसरे से स्वतन्त्र हों और किसी भी पार्टी का उन पर नियन्त्रण न हो। तभी उनमें बल आयेगा। कम से कम किसान-सभा तो तभी सबल और सजीव बन सकेगी और पीछे मजदूर-सभा के सहयोग से साम्यवाद स्थापित करेगी।

एक बात और। मार्क्सवादियों ने किसानों को मध्यम या बुर्जुवा वर्ग में माना है और प्रतिक्रियावादी कहा है। यह ठीक है कि परिस्थिति विशेष में यह बूर्जुवा वर्ग भी क्रान्तिकारी तथा आमूल परिवर्तनवादी (Revolutonary and Radical) होता है। यही बात किसान पर भी लागू है। यही बात लेनिन ने अपनी चुनी लेखमाला के अंग्रेजी संस्करण के 12वें भाग में अन्त में लिखी है कि "In Russia we have a 'radical bourgeois'.That radical bourgeois is the Russian Peasant." मगर मजदूरों को तो सबों ने क्रान्तिकारी माना है। ऐसी दशा में ये दो वर्ग परस्पर विरोधी स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। फिर इन दोनों की एक पार्टी कैसी? इन दोनों का एक संगठन कैसा? वर्तमान सामाजिक परिस्थिति में ये स्पष्ट ही दो परस्पर विरोधी दिशाओं में चलने वाले हैं। फलतः इनके स्वतन्त्र संगठन बनाकर ही धीरे-धीरे इन्हें रास्ते पर लाना होगा।

कम्युनिस्ट पार्टी के सम्बन्ध में जो बातें अभी-अभी कही गयी हैं वही अक्षरशः सोशलिस्ट पार्टी, फारवर्ड ब्लाक आदि पार्टियों के बारे में भी लागू हैं। क्योंकि उनका भी दावा वैसा ही है। जैसा कम्युनिस्ट पार्टी का। यदि इनमें कोई यह भी दावा करती है कि उनके भीतर फटेहाल बाबुओं का वर्ग भी आ जाता है, या मध्यमवर्ग भी समाविष्ट हो जाता है, तो इसमें हालत जरा और भी बदतर हो जाती है। फलतः सच्ची और स्वतन्त्र किसान-सभा बनाने का उनका भी दावा वैसे ही गलत है जैसे कम्युनिस्टों का। कम्युनिस्टों और रायिस्टों में इतनी विशेषता और भी है कि वह भारत की व्यापक, दहकती और सर्वत्र ओत-प्रोत होकर 'युद्धं देहि' करने वाली राष्ट्रीयता का अपमान करते और उसकी अवहेलना करके भी कायम रहना चाहते हैं। वे अपनी अन्तर्राष्ट्रीयता के साँचे में इस राष्ट्रीयता को ढालने की भारी भूल करते हैं। यह बात इन पार्टियों में नहीं है। वे न तो ऐसी भूल करती हैं और न राष्ट्रीयता की अवहेलना ही करती हैं। वे राष्ट्रीयता को उसका उचित स्थान देती हैं। फिर भी किसान-सभा की स्वतन्त्रता, बलवत्ता और वास्तविकता की दृष्टि से सबों का स्थान समान ही है। समान तो पार्टियों की किसान-सभा के बैल बसहा बैल है पुजवाने के लिए, मगर किसानों को तो हल चलाने वाला बैल चाहिए।

एक महत्त्वपूर्ण बात और भी कहनी है। आखिर क्रान्ति करते हैं किसान और मजदूर ही। एतदर्थ उनकी वर्ग संस्थाएँ अत्यावश्यक हैं; कारण, वही उन्हें इसके लिए संगठित और तैयार करती हैं। बिना इन संस्थाओं के किसान और मजदूर सामूहिक रूप से तैयार किये जा सकते नहीं। यह बात सभी क्रान्तिकारियों को मान्य है, तो फिर राजनीतिक दलों और पार्टियों की जरूरत क्या है? इन दोनों सभाओं की कार्यकारिणी समितियाँ आपस में सहयोग करके क्रान्ति का संचालन एवं उसका नेतृत्व बखूबी कर सकती हैं। केवल दोनों के सहयोग की व्यवस्था होना जरूरी है और यह बात बिना पार्टियों के भी वे दोनों खुद ही कर सकती हैं। एक समय था जब राजनीतिक विचारों का पूर्ण विकास न होने के कारण पार्टियों की आवश्यकता मानी जाती थी ताकि वर्ग संस्थाएँ पथ-भ्रष्ट न हो जायँ और उन्हें गलत नेतृत्व न मिले। लेकिन इसी के साथ यह भी जरूरी माना जाता था कि सभी देशों की इन पार्टियों की भी एक अन्तर्राष्ट्रीय (International) पार्टी हो, जो सबों को सूत्रबद्ध रखकर उन्हें भी उचित नेतृत्व दे, ठीक रास्ते पर ले चले। यातायात और समाचार के साधनों के पूर्ण विकास के अभाव के चलते भी पथ-भ्रष्टता का खतरा था। एक-दूसरे से सीधा सम्पर्क रखना असम्भवप्राय जो था। मगर आज तो इनमें एक भी बात नहीं है। राजनीति का विकास पराकाष्ठा को पहुँच चुका है, यातायात के साधन अत्यन्त तेज और सुलभ हैं, फोन, तार और रेडियो ने समाचार के संसार में क्रान्ति कर दी है और छपाई की कला ऐसी प्रगति कर गयी है कि कुछ न पूछिये। इसलिए राजनीति का अन्तर्बहिर्विश्लेषण भी ऐसा हो चुका है कि अब उसमें भ्रम की गुंजाइश नहीं, किसी पार्टी के नेतृत्व की जरूरत नहीं। मौजूदा साधनों के सहारे किसानों तथा मजदूरों की संस्थाएँ अपने कर्तव्य का नियमित निर्धारण अच्छी तरह कर सकती हैं।

इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय के सबसे बड़े पोषक एवं सूत्रधार मो. स्तालीन ने कई साल पूर्व ऐलान कर दिया कि ऐसी संस्था या पार्टी की अब जरूरत नहीं है। जिस तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय की देखा-देखी दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय बने, जब वही बेकार है, तो इनकी क्या जरूरत? सोशलिस्ट पार्टी, फारवर्ड ब्लाक और क्रान्तिकारी सोशलिस्ट पार्टी का तो अन्तर्राष्ट्रीय से कोई सम्बन्ध है भी नहीं। ऐसी दशा में एक कदम और नीचे उतरकर इन सभी पार्टियों को भी खत्म क्यों न कर दिया जाय? इनकी क्या जरूरत रह गयी? और जब कम्युनिस्ट पार्टी का सूत्रधार तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय न रहा, तो फिर यह पार्टी भी नाहक क्यों रहे? अगर सिर्फ बाल की खाल खींचने, वामपक्षियों को टुकड़े-टुकड़े करने, नेतागिरी का हौसला पूरा करने और सभी वर्ग संस्थाओं में कलह और जूतापैजार ही इनका उद्देश्य हो तो बात दूसरी है। अब तो पार्टियों के भीतर भी आपस में ही लीडरी के झगड़े प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से चलने लगे हैं।

क्रान्तिकारी राजनीति और मार्क्सवाद के यथार्थ ज्ञान और तदनुसार अमल करने की ठेकेदारी इन पार्टियों को ही मिली है, ऐसा दावा दूर की कौड़ी लाना है और

बीसवीं सदी के बीच में भी दुनिया को उल्लू समझने की अनधिकार चेष्ट करना है। और अगर यही बात हो तो फिर वह ठेका किस एक पार्टी को मिला है और कैसे, कहाँ से, यह भी सवाल उठता है। क्योंकि इसी ठेकेदारी की लड़ाई तो आखिर वे आपस में भी करती ही हैं। तब फैसला कैसे हो कि फलाँ पार्टी ही के पास वह ठेका है?

किसान-सभा और मजदूर-सभा आपस में मिलकर यदि आवश्यकता समझें कि दोनों के सहयोग के लिए एक सम्मिलित समिति चाहिए तो उसका भी चुनाव दोनों की राय से हो सकता है। जैसे इन सभाओं की समितियाँ नीचे से ऊपर तक चुनाव से बनती हैं तैसे दोनों की या ऐसी ही और सभा को भी मिलाकर अनेक की एक समिति चुनाव से बन सकती है। उसी को पार्टी भी कहना चाहें तो भले ही कहें, मगर यह बाहर से इन पर लदने वाली, लादे जाने वाली पार्टी कौन-सी बला है? हम इसी से पनाह माँगते हैं।

कहा जाता है कि जब कांग्रेस के 90 प्रतिशत सदस्य और लड़ने वाले किसान ही हैं तो चुनाव के जरिये उसकी सभी कमिटियों पर वे आसानी से अधिकार जमा सकते हैं, और अगर वे ऐसा नहीं करते तो उनकी भूल है। हर हालत में किसान-सभा का स्वतन्त्र संगठन फिजूल है। मगर अनुभव कुछ और ही है। इतिहास भी ऐसा ही बताता है। कांग्रेस मध्यमवर्गीयों की संस्था इस मानी में है कि इस पर उन्हीं का अधिकार है, प्रभुत्व है और यह उन्हीं की राय से चलती है, इसमें उन्हीं का नेतृत्व है। संसार में आजादी के लिए लड़ने वाली संस्थाएँ ऐसी ही होती हैं, अभी तक यही पाया गया है। यहाँ तक कि सबसे ताजा जो रूस का दृष्टान्त है वहाँ भी जारशाही के विरुद्ध जनतन्त्र, शासन के लिए लड़ने वाली सोवियत नाम की संस्था मालदारों और मध्यमवर्गीयों के ही अधिकार में थी; हालाँकि उसके सदस्य केवल किसान, मजदूर और सिपाही थे और तीनों ही पूरे शोषित थे। यही वजह है कि **1917 की मार्च वाली क्रान्ति के फलस्वरूप जारशाही** का अन्त हो के **रूस में जनतन्त्र के नाम पर धनियों का ही शासन कायम हुआ,** जिसके विरुद्ध लड़ते रह के **लेनिन को अक्टूबर वाली क्रान्ति करनी पड़ी** और उसके फलस्वरूप **किसान-मजदूरों का शासन वहाँ स्थापित हुआ। लेनिन जैसे महापुरुष और क्रान्तिकारी** के रहते भी जब सोवियत पर किसान-मजदूरों का अधिकार और नेतृत्व न हो सका, हालाँकि उसके सदस्य धनी लोग न थे, तो हम जैसों की क्या बिसात कि कांग्रेस पर अधिकार जमा सकें, जबकि उसमें धनी और उनके पोषक काफी सदस्य हैं? सोवियत का विधान चवनिया मेम्बरी वाला या इस तरह का न था, जिसमें जाल-फरेब हो और फर्जी मेम्बर बनाकर कमिटियों पर अधिकार किया जा सके। उसके सदस्य तो बालिग किसान, मजदूर और सिपाही मात्र थे। फलतः बनावटी मेम्बर बनने-बनाने की गुंजाइश वहाँ न थी, मगर कांग्रेस में खूब है और यह रोज की देखी बात है। लेकिन जब लेनिन विफल रहा तो यहाँ कौन सफलता की आशा करे? इन चुनावों में हजार प्रलोभनों, जाल-फरेबों

और दबावों से काम लेकर धनी लोग ही आमतौर से विजयी हो सकते हैं, होते हैं। यही कटु और ठोस सत्य है और यह कोई नयी बात नहीं है। कांग्रेस पर किसानों के नेतृत्व और अधिकार क़ी बात, ऐसी हालत में, निरा पागलपन है और धोका है। फलतः किसान-सभा का स्वतन्त्र संगठन होना ही चाहिए।

जब कराची तथा फैजपुर में कांग्रेस ने स्वतन्त्र किसान संगठन के सिद्धान्त को मान लिया है तो उसका विरोध क्यों? यदि किसान-सभा को कांग्रेस कमिटियों की मातहत या उनके अंग की ही तरह बनाने की बात न होती तो फिर कांग्रेस के द्वारा उनके स्वीकृत होने की बात क्यों कही जाती? विभिन्न मातहत कमिटियों के स्वीकृत होने का प्रश्न तो उठता ही नहीं। लेकिन फैजपुर के किसान प्रोग्राम की आखिरी, 13वीं, चीज यही है कि कांग्रेस किसान-सभाओं को स्वीकार करे—"Peasant unions should be recognised."

कहा जाता है कि अभी किसान-सभा की क्या जरूरत है? अभी तो अंग्रेजी सरकार हटी नहीं और स्वराज्य आया नहीं, बीच में ही यह बेसुरा राग कैसा? विदेशी सरकार के हटने पर ही प्रश्न उठेगा कि किसका राज्य हो? किसानों का हो? दूसरों का हो? या कि औरों का? उससे पहले ही यह तूफाने बदतमीजी कैसी? यह तो मुसलिम लीग की जैसी ही बात हो गयी कि पहले ही बँटवारा कर दो, अंग्रेजी शासन के रहते ही हमारा हिस्सा दे दो। इस आपसी झगड़े में तो वह स्वराज्य मिलने का नहीं। फिर अभी वह हमारा हो, हमारा हो, ऐसा हो, वैसा हो, की तैयारी कैसी? यह वर्ग-संघर्ष और श्रेणी-युद्ध तो उसमें बाधक होगा न? तब तदर्थ किसान-सभा का यह हो-हल्ला एवं महान् प्रयास क्यों?

लेकिन यदि इन प्रश्नों की तह में घुस के देखा जाय तो किसान-सभा की असलियत, अहमियत और आवश्यकता साफ हो जाती है। दरअसल स्वराज्य के दो पहलू हैं—विदेशी शासन का अन्त और अपने शासन, अपने राज्य, 'स्व-राज्य' की स्थापना। इनमें पहला निषेधात्मक और दूसरा विधानात्मक या निर्माण स्वरूप है। 'स्वराज्य' कहने से उसके निर्माणात्मक पहलू पर ही सर्वप्रथम दृष्टि जाती है और वही प्रधान है, मुख्य है, असल है। निर्माण के बिना कुछ हो नहीं सकता। लेकिन निर्माण के पूर्व ध्वंस आवश्यक है, कूड़े-करकट और रास्ते के रोड़ों को हटाना जरूरी है। नींव खोदने पर ही मजबूत महल खड़ा होता है। नींव के स्थान पर पड़ी हुई मिट्टी बाधक होती है उस महल के निर्माण में। इसीलिए खोदकर उसे हटाना पड़ता है। विदेशी शासन भी अपने शासन के निर्माण में बाधक है। इसीलिए उसको हटाना जरूरी हो जाता है और स्वराज्य के भीतर वह अर्थात् आ जाता है। इसीलिए वह गौण है, अप्रधान है।

मगर हमारे कांग्रेसी नेता उसी पर ज्यादा जोर देते हैं, हालाँकि चाहिए जोर देना निर्माणात्मक पहलू पर। यही उनकी भारी भूल है। आखिर विदेशी शासन के

हटने पर कोई शासन बनेगा, या कि अराजकता ही उसका स्थान लेगी? 'अपनी-अपनी डफली, अपनी-अपनी गीत' होगी क्या? यह तो कोई नहीं चाहता। प्रत्युत विदेशी शासन हटाने-मिटाने के सिलसिले में ही कोई-न-कोई शासन बनाना ही पड़ेगा, कोई सरकार खड़ी होगी ही। तभी आसानी से सफलतापूर्वक विदेशी हुकूमत को हम मिटा सकते हैं। वही सरकार समानान्तर सरकार कही जाती है राजनीति की भाषा में। पीछे चलकर उसी सरकार को मजबूत बनाते हैं, यह बुनियादी बात है।

अब प्रश्न होता है कि वह सरकार किसकी होगी? कैसी होगी, कौन सी होगी? यह बड़े प्रश्न हैं और महत्त्व रखते हैं। यह कहने से तो काम चलता नहीं कि वह सरकार हिन्दुस्तानियों की होगी? हिन्दुस्तानी तो चालीस करोड़ हैं न? तब इनमें किनकी होगी? ये चालीस करोड़ भी जमींदार, किसान, पूँजीपति, मजदूर आदि परस्पर विरोधी वर्गों में बँटे हैं, तो फिर इनमें किन वर्गों की होगी? जमींदारों की? पूँजीपतियों की? तब किसान या मजदूर उस स्वराज्य की सरकार की स्थापना के लिए, उस स्वराज्य के लिए क्यों लड़ें? उस सरकार और विदेशी सरकार में नाममात्र का ही फर्क होगा। असलियत प्रायः एक सी ही होगी। किसान-मजदूरों की कमाई की लूट तो उसमें भी जारी ही रहेगी। अन्तर सिर्फ यही होगा कि इस समय जो लूट का माल लंकाशायर, मैंचेस्टर या इंग्लैण्ड जाता है, वही तब बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर, छतारी, दरभंगा जायगा। कमाने वाले किसान-मजदूरों को क्या मिलेगा? ये प्रश्न स्वाभाविक हैं और सारी दुनिया में किये जा चुके हैं। किसान-मजदूरों को सारी शक्ति के साथ प्राण-पण से स्वराज्य के युद्ध में आकृष्ट करने के लिए इनका उनके लिए सन्तोषजनक उत्तर मिलना आज जरूरी है। किसान-सभा इन्हीं प्रश्नों का मूर्त्त उत्तर है।

मुसलिम लीग की बात दूसरी है। उसे लड़ना नहीं है या तो उसे यथाशक्ति बाधा डालना है, या अन्त में बिना कुछ किये ही आधा हिस्सा लेना है, इसीलिए वह अभी से बँटवारा चाहती है। मगर किसानों को लड़ना है और जम के लड़ना है। उसी लड़ाई को प्राण-पण से चलाने के लिए वह अभी से तय कर लेना चाहते हैं कि लड़ाई का नतीजा उनके लिए क्या होगा। इस प्रकार दोनों में बड़ा फर्क है, यह स्पष्ट है। दोनों के दो रास्ते हैं। एक को लड़ना है और दूसरे को बाधा देना।

यदि उत्तर दें कि कांग्रेस का राज्य होगा तो खयाल होगा कि कांग्रेस में मालदारों का प्रभुत्व होने के कारण उसका राज्य तो नामान्तर से उन्हीं मालदारों का होगा। यदि कहा जाय कि किसानों और मजदूरों का राज्य होगा तो प्रश्न होगा कि क्या कहीं भी यह बात अब तक हो पायी है? फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका, इंग्लैण्ड, रूस, इटली आदि सभी देशों में आजादी की लड़ाई के लीडर यही कहते थे कि किसान-मजदूरों के हाथ में शासन होगा। अमेरिका में अंग्रेजी शासन को हटाने के समय ऐसा ही कहा जाता था जैसा यहाँ कहते हैं। मगर वहाँ मालदारों का ही राज्य हुआ और किसान-मजदूर दुखिया के दुखिया ही रह गये, सर्वत्र यही हुआ। यहाँ तक कि रूस

में भी यही हुआ और पीछे किसान-मजदूरों को पुनरपि लड़कर ही शासन-सत्ता उनके हाथ से छीननी पड़ी। शेष देशों में वे विफल ही रहे। क्यों? कारण हमें ढूँढ़ना होगा और रूस के दृष्टान्त में वह मिलेगा। अन्य देशों में आजादी के युद्ध के समय किसानों ने राष्ट्रीय नेताओं की प्रतिज्ञाओं पर विश्वास करके अपनी अलग तैयारी न की, अपना स्वतन्त्र संगठन न किया। फलतः अन्त में धोके में रहे, मुँह ताकते रह गये। विपरीत इसके रूस में लेनिन ने मजदूरों का स्वतन्त्र संगठन किया और किसानों का भी। अमेरिका आदि से उसने यही सीखा था। वहाँ इस संगठन का अभाव होने से ही धोका हुआ था, अतः रूस में उसने इसी अभाव को मिटाया। यहाँ तक कि किसानों के संगठन में तब तक उसे सफलता न मिल सकने के कारण उसने वामपक्षी सोशल रेवोल्यूशनरी दल को जो किसान-सभावादी था, अपने साथ मिलाया और अक्टूबर की क्रान्ति के बाद अपनी सरकार बनाकर इस दल को भी उस सरकार में स्थान दिया। उसकी सफलता की यही कुंजी थी।

सोशल रेवोल्यूशनरी दल को साथ लेने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि बोल्शेविक और कम्युनिस्ट पार्टी किसानों की पार्टी नहीं थी, न ही हो सकती है। जब लेनिन सफल किसान-सभा न बना सका तो आज के कम्युनिस्ट किस खेत की मूली हैं? हाँ, अधिकार मिलने पर भले ही बना सकते हैं, मगर उससे पहले नहीं, यह ध्रुव सत्य है।

भारत में भी हमें वही करना है, हम वही करते हैं। किसानों का स्वतन्त्र संगठन वही तैयारी है जो लेनिन ने की थी। यदि वह सोवियत के नेताओं की प्रतिज्ञाओं, प्रस्तावों और घोषणाओं पर विश्वास करके मान बैठता कि जारशाही के अन्त के बाद किसान-मजदूर-राज्य या किसान-मजदूर प्रजा-राज्य अवश्यमेव स्थापित हो जायगा, जैसा कि हमारे यहाँ भी कुछ तथाकथित किसान नेता कहते फिरते हैं, तो वह धोका खाता और पछता के मरता। राजनीति में किसी भी संस्था की और विशेषतः आजादी के लिए लड़ने वाली राष्ट्रीय संस्था की महज प्रतिज्ञा, उसके प्रस्ताव या उसकी घोषणा एवं उसके कुछ प्रगतिशील नेताओं के उदात्त विचारों तथा उद्‌गारों पर विश्वास करके बैठे रह जाना सबसे बड़ी नादानी है। ऐन मौके पर या तो ये सारी प्रतिज्ञाएँ, घोषणाएँ और प्रस्ताव-उद्‌गार उनके करने वाले ही स्वयं भूल जाते हैं या उनके न भूलने पर भी उन्हें विवश और असमर्थ बना दिया जाता है कि वे तदनुसार कुछ भी न कर सकें। परिस्थिति और मालदारों के षड्यन्त्र उन्हें बेकार और पंगु बना देते हैं। अमेरिका प्रभृति देशों के स्वातन्त्र्य-संग्राम ने हमें यही पाठ पढ़ाया है। **हमें आजादी लेने के बाद पुनरपि अपने ही मालदार भाइयों और उनके संगी-साथियों से जमकर प्राण-पण से युद्ध करना ही होगा, खून का दरिया तैर कर पार करना ही होगा। तभी किसानों का राज्य होगा, उनके हाथ में शासन-सत्ता आयेगी; न कि महात्मा गांधी या पं. नेहरू के कहने या कांग्रेस के प्रस्ताव मात्र से ठीक समय पर उस कथन या प्रस्ताव पर**

अमल कराने के लिए हमारी अपनी शक्ति चाहिए, तैयारी चाहिए, और यह स्वतन्त्र किसान-सभा वही तैयारी है, उसी शक्ति का अभी से संचय है। क्योंकि मौके पर एकाएक शक्ति नहीं आ सकती। जो पहलवान अखाड़े में लड़ने का अभ्यास पहले से नहीं करता, वह एकाएक दूसरे पहलवान को पछाड़ नहीं सकता। स्वतन्त्र किसान-सभा किसानों के मल्ल युद्ध, अभ्यास और तैयारी का अखाड़ा है।

कांग्रेस की मजबूती भी इसी प्रकार होगी। किसान-सभा के द्वारा किसानों के हकों के लिए सामूहिक रूप से लड़कर हम किसानों का पूर्ण विश्वास प्राप्त कर सकेंगे और इस प्रकार उन्हें किसान-सभा में सामूहिक रूप से आकृष्ट करेंगे। जो वर्ग-संघर्ष कांग्रेस कर नहीं सकती, जिसके करने में उसे दिक्कत है, जैसा कि कहा जा चुका है, उसे ही हम कांग्रेसजन किसान-सभा के जरिये करके किसानों के दिल-दिमागों को जीत लेंगे। क्योंकि भौतिक स्वार्थ की सिद्धि उन्हें हमारे साथ खिंच आने को विवश करेगी। यही मानव स्वभाव है। फिर विदेशी सरकार से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संघर्ष के समय देश के राजनीतिक मामले में हम आसानी से इसी किसान-सभा के जरिये किसानों को सामूहिक रूप से कांग्रेस के साथी, भक्त और अनुयायी बना डालेंगे। फलतः संगठित एवं शक्तिशाली किसान-सभा शक्तिशाली कांग्रेस का मूलाधार है, उसके लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

जो लोग किसान-सभा के विरुद्ध कमर बाँधे खड़े रहकर भी कांग्रेस-कांग्रेस चिल्लाते हैं, उन्हें एक बुनियादी बात याद रखनी होगी। इस ओर हमने पहले इशारा किया भी है। यहाँ जरा उसका विस्तार करना जरूरी है। किसान-सभाओं को हम असहयोग युग के बाद ही पाते हैं। किसान-आन्दोलन का संगठित रूप उसके बाद ही मिलता है। क्यों? यह प्रश्न विचारणीय है। उसके पहले न तो मुल्क में और न किसानों में ही यह आत्मविश्वास था कि अपने शत्रुओं के विरुद्ध कोई संघर्ष सफलतापूर्वक चला सकते हैं, और न संगठित जनान्दोलन का महत्त्व ही उन्हें विदित था। 1857 के विफल विद्रोह के बाद लोगों में जो भयंकर पस्ती और निराशा आयी थी वह दिनोंदिन गहरी होती जाती थी। देश की सबसे बड़ी संस्था थी कांग्रेस, परन्तु वह भी केवल 'भिक्षां देहि' का मन्त्र जपती थी। उसकी माँगों के पीछे कोई शक्ति न थी। विदेशी शासन जेठ के मध्याह्न सूर्य की तरह तपता था। लाल पगड़ी और गोरे चमड़े को देख लोगों के देवता कूच कर जाते थे। चारों ओर अन्धकार ही था। रौलट कानून और पंजाब के मार्शल लॉ के बाद शासकों की अकड़ और भी तेज हो चुकी थी। तुर्कों के अंग-भंग को मुसलमान संसार रोकने में असमर्थ था। हमारी न्यायतम माँगों पर भी हमारे आका घृणा एवं अपमान की हँसी हँस देते थे और बस। तब तक हमने यही सीखा था कि अखबारों और सभाओं के द्वारा पढ़े-लिखे शहरी लोग ही कुछ भी कर सकते हैं। मगर उनसे भी कुछ होता-जाता दीखता न था। जलियाँवाला बाग के बाद हण्टर कमिटी की लीपा-पोती ने जले पर नमक छिड़क

दिया था। सारा देश किंकर्त्तव्यविमूढ़ था।

ठीक उसी समय महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने नागपुर में 1920 के दिसम्बर में गाँवों की ओर मुँह मोड़ा और शान्तिपूर्ण सीधी लड़ाई का रास्ता पकड़ा। नेताओं ने कहा कि हम निहत्थे भारतीय चाहें तो एक साल के भीतर अंग्रेजी सल्तनत को भगाकर अपनी सरकार कायम कर लें। यह अजीब दावा था, अफीमची की पिनक जैसी बात थी। मगर बार-बार कहने पर देश ने इसे सुना और सचमुच ही सरकार का आसन डिगा दिया। ब्रिटिश सरकार जैसे काँप उठी। सम्राट के प्रतिनिधि लार्ड रीडिंग ने 1921 के दिसम्बर में कलकत्ते में कहा कि ''मेरी अक्ल हैरान है कि यह क्या हो गया''—"I am puzzled and purplexed". जो देश पस्त था, सदियों से अंटाचित्त पड़ा था वह एकाएक अँगड़ाई ले के अपने पाँवों पर खड़ा हो गया। उसे अपनी अन्तर्निहित अपार शक्ति का एक बार प्रत्यक्ष भान हो उठा। यह कांग्रेस की बड़ी जीत थी कि निहत्थी जनता ने जेलों, जुर्मानों और फाँसी का भय छोड़ दिया। मुल्क की सुप्त आत्मा जग उठी। जो पहलवान साधारण मर्दों से भी भयभीत हो उठता था वही सबसे बड़े मल्ल को पछाड़ कर अपने अपार बल का अनुभव करने लगा।

इसका अनिवार्य परिणाम ऐसा हुआ जिसका किसी को सपने में भी खयाल था नहीं। जब भारतीय किसानों ने ब्रिटिश सिंह को एक बार धर दबोचा, तो उन्होंने स्वभावतः सोचा कि ये राजे-महाराजे, जमींदार और साहूकार उसी के बनाये तथा उसी की छत्रछाया में पलने-पनपने वाले हैं; ये उसके सामने बिल्ली और चुहिया से भी गये-गुजरे हैं। फिर भी इनकी हिम्मत कि हमें लूटते रहे? 'अबलौं नसानी तो अब ना नसैहौं' के अनुसार उनने सोचा कि अब तक हम सोये थे और अपनी प्रसुप्त शक्ति को समझते थे नहीं, जिससे इनने हमें लूटा, सताया। मगर अब ऐसा हर्गिज होने न देंगे। जब इनके आका को हम निहत्थों ने पछाड़ा तो इनकी क्या हस्ती? बस, उस असहयोग आन्दोलन की महान् विजय की यही प्रतिक्रिया किसान जनता में हुई जो क्रमशः दृढ़ होती गयी। उसी का फल और व्यावहारिक रूप यह किसान-सभा है। और अगर हमारे लीडर आज इससे घबराते हैं तो वह बेकार है। यह बात उन्हें पहले ही सोचनी थी जब किसानों को अंग्रेजी सल्तनत के साथ जूझने को उभाड़ा था। व्यभिचारिणी स्त्री पेट में गर्भ होने पर पछताती है सही; लेकिन यह उसकी मूर्खता है। उसे तो व्यभिचार के ही समय यह परिणाम सोचना था।

बात दरअसल यह होती है कि स्थिर स्वार्थ वाले सम्पत्तिजीवी तब तक जनान्दोलन से नहीं घबराते जब तक उनके स्वार्थों पर आघात की आशंका न हो, प्रत्युत स्वार्थ-सिद्धि के लिए जनान्दोलन और क्रान्तिकारी संघर्षों तक को प्रोत्साहित करके अपना काम निकालते हैं। फ्रांस, रूस आदि क्रान्तियाँ इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं। बिना जनता की सीधी लड़ाई के मालदारों को पूरे हक नहीं मिलते, ताकि

उद्योग-धन्धों का बेतहाशा प्रसार कर माल बटोरें। इसी से उसको प्रोत्साहन देते हैं। उस समय तो उन्हें लाभ ही नजर आता है। यही बात 1921 वाले और बाद के कांग्रेसी संघर्षों में भी हुई। नेताओं ने खुश हो के जनता को ललकारा-उभाड़ा। उन्हें कोई खतरा तब तो दिखा, नहीं मगर अब जब जनता अपनी शक्ति का अनुभव करके उनसे भी दो-दो हाथ करने को आमादा हो गयी तो लगे बगले झाँकने और बहानेबाजियाँ करने। अब उन्हें अपने लिए खतरा नजर आ रहा है। इसीलिए किसान-सभा को कोसते हैं। उन्हें अपने ही बनाये जनान्दोलन से भय होने लगा है। मगर अब तो उनकी भी लाचारी है। अब तो तीर छूट चुका। फिर पछताने से क्या? चीख-पुकार मचाने से क्या? प्रत्युत वे जितना ही इसका विरोध करेंगे किसान-सभा उतनी ही तेज होगी, यह अटल बात है। हमें दर्द के साथ यह भी कहना पड़ता है कि लोगों को कांग्रेस से चिपकाये रखने के लिए वस्तुस्थिति और व्यावहारिकता का आश्रय न लेकर अनुशासन की तलवार का सहारा लिया जाना ही अच्छा समझा जाने लगा है। यदि कांग्रेस की भीतरी खूबियाँ, उसके अन्तर्निहित गुण तथा उसकी ऐतिहासिक आवश्यकता हमें उसकी ओर आकृष्ट नहीं कर सकती हैं, एतन्मूलक उसमें होने वाली यदि हमारी भक्ति पूरे पचीस साल की उसकी लगातार की कशमकश के बाद भी नाकाफी है तो अनुशासन की नंगी तलवार उसकी पूर्ति कभी कर नहीं सकती। तब तो कहना ही होगा कि कांग्रेस के नेता अपना हृदय-मन्थन करें और पता लगायें कि उनकी तपस्या एवं कांग्रेस के कार्यक्रम में कौन सी बड़ी खामी है, जिससे यह खतरा बना है कि लोग उससे भड़क जायँ, बिचल जायँ। असली शक्ति किसी संस्था की भीतरी खूबी और ऐतिहासिक आवश्यकता ही है। उसी के करते वह शक्तिशाली होती है और यह बात कांग्रेस में मौजूद है। फिर बात-बात में अन्देशा क्यों? कांग्रेस कोई छुईमुई नहीं है। वह तो इस्पात की बनी है। किसान-सभा की भी ऐतिहासिक आवश्यकता है, जैसा कह चुके हैं।

कहा जा सकता है कि कांग्रेस के सफल असहयोग आन्दोलन तथा संघर्ष का परिणाम ही यदि किसान-सभा है तो 1922-23 के बाद ही उसकी स्थापना न होकर 1927-28 या 29 में क्यों हुई? इतनी देर क्यों? बात यह है कि विचारों के परिपक्व एवं स्थायी बनने में विलम्ब होने के नियमानुसार ही यहाँ भी देर हुई। प्रतिक्रिया तो हुई, मगर उसे कार्यरूप में परिणत करने के पूर्व उसमें स्थिरता और परस्पर विचार-विमर्श आवश्यक था, उसे परिपक्व होना जरूरी था। यह भी बात है कि इन बातों के लिए समय आवश्यक है। ये एकाएक नहीं होते। इसके अलावा किसान-सभाओं के चलाने को लिए जो किसानों के हजारों युवक और पढ़े-लिखे लोग जरूरी थे वे भी असहयोग के करते बाहर आये सही, ऊपर आ गये जरूर। मगर उनका भी पारस्परिक विचार विनिमय जरूरी था इस काम को चालू करने के लिए। राजनीतिक परिस्थिति का डाँवाडोल होना, परिवर्तन-अपरिवर्तनवाद वाली उस

समय की कलह और सत्याग्रह जाँच समिति की कार्यवाही आदि बातों के चलते भी काफी गड़बड़ रही और इस काम में देर हुई। फलतः यदि दो-चार साल इसी उधेड़बुन में लग गये तो यह कोई बड़ी बात न थी। इससे प्रत्युत इस काम में दृढ़ता आयी। कम-से-कम बिहार में कांग्रेस के सभी नेता प्रारम्भ में इसमें खिंच आये और उनसे पर्याप्त प्रेरणा भी मिली, यह भी इसका सबूत है कि किसान-सभा का अविच्छिन्न सम्बन्ध कार्य-कारण के रूप में कांग्रेस के साथ है, यह कांग्रेस-संघर्ष का स्वाभाविक परिणाम है। अतएव अब उसका विरोध करना केवल चट्टान से सर टकराना है। अब इसमें बहुत देर हो चुकी है। और जब गत वर्ष श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन की अध्यक्षता में हिन्द-किसान-सभा ने यह स्पष्ट घोषित कर दिया कि स्वातन्त्र्य संग्राम से सम्बन्ध रखने वाली राजनीतिक बातों में साधारणतः किसान-सभा का प्रत्येक सदस्य कांग्रेस से ही प्रेरणा और नेतृत्व प्राप्त करेगा, तो फिर हाय-तोबा मचाने की वजह क्या रही?

एक ही बात जो निहायत जरूरी है, रह जाती है। बड़े-बड़े नेता तक कह डालते हैं कि जभी कांग्रेसी-मन्त्रिमण्डल बनते हैं तभी बकाश्त के संघर्ष छेड़ कर ये किसान-सभावादी सिर्फ उन्हें परेशान करते हैं। ये संघर्ष इन मन्त्रिमण्डलों के अभाव में नहीं होते। इससे इस सभा की बदनीयती सिद्ध होती है। इसीलिए इसे रहने देना कांग्रेस के रास्ते के रोड़े को कायम रखना है।

मगर यह बात गलत है। बिहार में ही ये बकाश्त संघर्ष ज्यादातर होते हैं और हुए हैं और वहाँ इनका श्रीगणेश मुंगेर जिले के बड़हिया टाल में 1936 में ही हुआ था जब इन मन्त्रियों का पता भी न था, जब असेम्बली के चुनाव हुए भी न थे। चुनाव के बाद कांग्रेसी मन्त्री न होकर जब दूसरे ही लोग मन्त्री के रूप में कुछ महीने गद्दी पर थे, उस समय यह संघर्ष काफी तेज था। किसान-स्त्री-पुरुषों और सेवकों पर घुड़सवारों ने घोड़े दौड़ाये थे उसी समय। यह एक ठोस ऐतिहासिक बात है, जिससे इनकार किया जा नहीं सकता। इसी प्रकार 1941 में और 1942 के शुरू में डुमराव में जो बियाई का संघर्ष किसान-सभा के नेतृत्व में चला और जंगल सत्याग्रह चलता रहा, वह भी कांग्रेसी मन्त्रियों के अभाव में ही था। फिर सरासर झूठी बात क्यों कही जाती है?

यह ठीक है कि कांग्रेसी मन्त्रियों के समय में ये संघर्ष अधिक होते हैं और यह उचित भी है। जब इन मन्त्रियों को चुनकर किसान ही गद्दी पर बिठाते हैं तो इन्हें अपना समझ किसानों का हौसला बढ़ना स्वाभाविक है और इसी के फलस्वरूप ये संघर्ष होते हैं। किसान समझते हैं कि हमारे बनाये मन्त्री इन मामलों में हमारी सहायता करेंगे। नौकरशाही सरकार से उन्हें यह आशा तो होती नहीं, इसी से उस समय ये संघर्ष कठिन हो जाते हैं और कम होते हैं। और जब जनप्रिय सरकार बनी तो जनता को स्वभावतः आजादी ज्यादा होती ही है। वह अपने हाथ-पाँव जरा फैला

पाती है, फैलाने की कोशिश करती है। उसकी छाती की चट्टान जरा हटी सी मालूम पड़ती है, उसकी हथकड़ी-बेड़ियाँ जरा ढीली और टूटी सी लगती हैं। फिर हाथ-पाँव फैलाये क्यों न? और ये संघर्ष उसी फैलाने के मूर्त्त-रूप हैं, फिर इन्हें देख गुस्सा क्यों? इनके लिए उलाहना और इलजाम क्यों? ये कांग्रेसी मन्त्रियों को परेशान करने के सुबूत न होकर उलटे कांग्रेस में और उसके मन्त्रियों में जनता के अपार विश्वास के ही सुबूत हैं।

अन्त में हमें कहना है कि कांग्रेस की असली ताकत न तो उसके अनुशासन की तलवार है, न उसकी कमिटियाँ और न उसके चवनियाँ मेम्बर, प्रतिनिधि आदि। उसकी असली शक्ति अपार जनसमूह की उसमें अटूट भक्ति है—उस भारतीय जनसमूह की भक्ति, जो चवनियाँ मेम्बर तक नहीं है, मगर जो उसे चुनाव में जिताता और संघर्ष में विजयी बनाता है। अच्छा हो कि कांग्रेस के कर्णधार यह न हो, वह न हो, किसान-सभा न बने, मजदूर यूनियन न बने और अगर बने तो कांग्रेस की मातहती में, आदि फिजूल बातें छोड़ उस अपार जनता के कष्टों को समझें और उन्हें दूर करने में कोर-कसर न रखें। फिर देखेंगे कि कांग्रेस अजेय है और ऐसा न होने पर वह दुर्ग ढह जायगा, यह कटु सत्य है।

विहटा, पटना —**स्वामी सहजानन्द सरस्वती**
वसन्त पंचमी 27-1-47

1

जब पहले-पहले किसान-सभा और किसान-संगठन का खयाल हमारे और हमारे कुछ साथियों के दिमाग में आया तो वह धुँधला सा ही था। उसकी रूपरेखा भी कुछ साफ नजर न आ रही थी। यह हमारा आकस्मिक प्रयास था, ऐसे अथाह समुद्र में जहाज चलाने का जिसमें न तो दिशाओं का ज्ञान था और न किनारे का पता। पास में दिग्दर्शक यन्त्र (कुतुबनुमा) भी न था कि ठीक-ठीक जहाज को चलाते। इतने दिनों बाद याद भी नहीं आता कि किस प्रेरणा ने हमें उस ओर अग्रसर किया। बेशक, कुछ उद्देश्य लेकर तो हमने श्रीगणेश किया ही था। मगर वह था निरा गोल-मोल। फिर भी उस ओर हमारी प्रेरणा एकाएक कैसे हुई यह एक पहेली ही है और रहेगी। ऐसा मालूम होता है कि अकस्मात् हम उस ओर बह गये! मगर जरा इस बात की सफाई कर लें तो अच्छा हो।

किसान-सभा के स्थापन का पहला विचार सन् 1927 ई. के अन्तिम दिनों में हुआ था। उस समय मैं कांग्रेस की स्थानीय नीति से, या यों कहिये कि बिहार के कुछ बड़े नेताओं के कारनामों से झल्लाया-सा था, जो उन्होंने सन् 1926 ई. के कौंसिल चुनाव के सिलसिले में दिखलाये थे। इसीलिए तो स्वराज्य पार्टी के उम्मीदवारों का समर्थन न कर **लाला लाजपतराय** और **पं. मदनमोहन मालवीय** की इंडिपेंडेण्ट पार्टी का ही समर्थक रहा। जो उम्मीदवार बिहार में थे उन्हें लाला जी तथा मालवीय जी के आशीर्वाद प्राप्त थे। साथ ही गांधीवादी भी मैं खाँटी था। इसलिए कांग्रेस से एक प्रकार की विरक्ति के साथ ही गांधीवाद में अनुरक्ति भी पूरी थी। यह भी नहीं कि मैं गांधीवादी ढंग की किसान-सभा बनाने का खयाल न रखता था। उस समय तो यह सवाल कतई था ही नहीं। जब किसान-सभा की ही बात उससे पहले न थी तो फिर गांधीवादी सभा की कौन कहे? फिर भी किसान-सभा का सूत्रपात हुआ।

ठीक कुछ ऐसी ही बात सन् 1932-33 में भी हुई। उस समय भी मैं, सन् 1930 ई. की लड़ाई के बाद, कांग्रेस से विरागी था; राजनीति से अलग था, किसान-सभा से सम्बन्ध रखता न था। इस बार के विराग का कारण भी कुछ अजीब था। मैंने सन् 1922 ई. और 1930 में भी जेलों में जाने पर देखा था कि जो लोग गांधी

जी के नाम पर ही जेल में गये हैं, वही उनकी सभी बातें एक-एक करके ठुकराते हैं और किसी की भी सुनते नहीं। इससे मुझे बेहद तकलीफ हुई, मैंने सोचा कि जहाँ कोई व्यवस्था और नियम-पालन नहीं, अनुशासन नहीं, 'डिसिप्लीन' नहीं, वह संस्था बहुत ही खतरनाक है। इसीलिए विरागी बन गया और 1932 की लड़ाई से अलग ही रहा। मगर ठीक उसी समय, हजार अनिच्छा के होते हुए भी, जबर्दस्ती किसान-सभा में खिंच ही तो गया। **जहाँ सन् 1927 ई. किसान-सभा के जन्म का समय था, तहाँ सन् 1933 ई. उसके पुनर्जन्म का।** क्योंकि दरम्यान के दो-तीन वर्षों में वह मरी पड़ी थी।

इस प्रकार जब देखता हूँ तो राजनीति के विराग के ही समय मैं किसान-सभा में खिंच गया नजर आता हूँ। यह भी एक अजीब-सी बात है कि राजनीति का वैराग्य किसान-सभा से विरागी न बना सका। दोनों बार के वैराग्य के भीतर प्रायः एक ही बात थी भी, और वह यह कि जो लोग कांग्रेस और गांधी जी को धोखा दे सकते हैं, भुलावे में डाल सकते हैं, वह जनता के साथ क्या न करेंगे? फलतः उनसे मेरा साथ, मेरा सहयोग नहीं हो सकता है। फिर भी किसान-सभा में वही आये और रहे। लेकिन इसकी कोशिश मैंने उस समय की ही नहीं कि वे लोग उसमें आने न पायें। मुझे आज यह पहेली सी मालूम हो रही है कि मैंने ऐसा क्यों न किया। इसी से तो कहता हूँ कि किस प्रेरणा ने मुझे उसमें घसीटा यह स्पष्ट दीखता नहीं। यह कहा जा सकता है कि यह वैराग्य शायद अज्ञात सूचना थी भविष्य के लिए और इस बात की ओर इशारा कर रही थी कि ऐसे लोगों से किसानों का हित नहीं हो सकता—फलतः उनसे एक न एक दिन किनाराकशी करनी ही होगी। यह बात कुछ जँचती-सी है।

उस समय एक और बात भी थी, जो ऊपर से ऐसी ही बेढंगी लगती है। आखिर किसान-सभा भी तो राजनीतिक वस्तु ही है आज तो यह स्पष्ट हो गया है। यह तो सभी मानते हैं, फिर राजनीति का निचोड़ है रोटी, और उसी सवाल को किसान-सभा के द्वारा हल करना है। फिर राजनीति से होने वाला वैराग्य, जिसके भीतर कम से कम 1932-33 में किसान-सभा के प्रति अरुचि भी शामिल है। मुझे उस सभा में पुनरपि कूदने से क्यों न रोक सका जो कि कांग्रेस से रोके रहा, यह समझ में नहीं आता। किसान-सभा की राजनीति निराली ही होगी, वह अर्थनीति (रोटी) मूलक ही होगी, शायद वह इस बात की सूचना रही हो। राजनीति हमारा साधन भले हो, मगर साध्य तो रोटी ही है, यही दृष्टि सम्भवतः भीतर-ही-भीतर, अप्रकट रूप से काम करती थी, जो पीछे साफ़ हुई। लेकिन इतने से उस समय की परिस्थिति की बाहरी पेचीदगी खत्म तो हो जाती नहीं। वह तो साफ ही नजर आती है। मेरी आन्तरिक भावना किसानों के रंग में रँगी थी, इतना तो फिर भी स्पष्ट होई जाता है।

लेकिन गांधीवाद के वर्ग सामंजस्य (Class-collaboration) का किसान-सभा

से क्या ताल्लुक, यह प्रश्न तो बना ही है। मैं तो उन दिनों पूरा-पूरा गांधीवादी था। राजनीति को धर्म के रूप में ही देखता था। यद्यपि इधर कई साल के अनुभवों ने बार-बार बताया है कि राजनीति पर धर्म का रंग चढ़ाना असम्भव है, बेकार है, खतरनाक है इसीलिए विराग भी हुआ। फिर भी धुन वही थी और धर्म में तो वर्ग सामंजस्य हई। वहाँ वर्ग-संघर्ष (Class-struggle) की गुंजाइश कहाँ? फलतः किसान-सभा भी उसी दृष्टिकोण को लेकर बनी। लेकिन उसमें भी एक विचित्रता थी जो भविष्य की सूचना देती थी। गोया उस ओर कोई इशारा था।

असल में सन् 1927 ई. के आखिरी दिनों में पहले पहल किसान-सभा का आयोजन और श्रीगणेश होने पर और तत्सम्बन्धी कितनी ही मीटिंगें करने पर भी जब सन् 1928 ई. के 4 मार्च को नियमित रूप से किसान-सभा बनायी गयी तो उसकी नियमावली में एक यह भी धारा जुटी कि "जिन लोगों ने अपने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कामों से अपने को किसान-हित का शत्रु सिद्ध कर दिया है वे इस सभा के सदस्य नहीं हो सकते।" एक ओर तो मेल-मिलाप और सामंजस्य का खयाल और दूसरी ओर किसान-सभा की ऐसी गढ़बन्दी कि किसानों में भी वही उसके मेम्बर हों जो असली तौर पर किसान-हित के शत्रु साबित न हों। यह एक अजीब बात थी। आखिर ऐसे लोग किसान-सभा में आ के क्या करते? जब जमींदारों से कोई युद्ध करना न था तब इतनी चौकसी का मतलब क्या? जमींदारों के खुफ़िया और 'फिफ्थकौलम' उसमें रह के भी क्या बिगाड़ डालते? खूबी तो यह कि शुरू वाली सभा में जो यह बात तय पायी वह ठेठ बिहार प्रान्तीय किसान-सभा तथा आल-इण्डिया किसान-सभा की नियमावली में भी जा घुसी। मेरे दिमाग में वह बात जमी तो थी ही। फलतः सर्वत्र मैं उसकी जरूरत सुझाता गया। इस प्रकार हम अनजान में ही हजार न चाहने पर भी, या तो वर्ग संघर्ष की तैयारी शुरू से ही करते थे या उस ओर कम-से-कम अन्तर्दृष्टि से देख तो रहे थे ही, ऐसा जान पड़ता है।

जो पहली सभा बनी वह प्रान्त भर की नहीं ही थी। पटना जिले भर की भी न थी। उसका सूत्रपात बिहटा-आश्रम में ही हुआ था और यह बिहटा पटना जिले के पश्चिमी हिस्से के प्रायः किनारे पर ही है। वहाँ से तीन मील पच्छिम के बाद ही शाहाबाद जिला शुरू हो जाता है। उस समय प्रान्तीय कौंसिल के लिए दो मेम्बर चुने जाते थे—एक पूर्वी भाग से और दूसरा पश्चिमी से। इसी चुनाव के खयाल से पटना जिला दो हिस्सों में बँटा था और यह सभा पश्चिमी भाग की ही थी। इसीलिए उसे पश्चिम पटना किसान-सभा नाम दिया गया था। कोई क्रान्तिकारी भावना तो काम कर रही थी ही नहीं। वैधानिक ढंग से जोर डालकर किसानों का कुछ भला करवाने और उनकी तकलीफें मिटवाने का खयाल ही इसके पीछे था। अन्यथा वर्ग सामंजस्य नहीं रह जाता। सोचा गया था कि जो ही वोट माँगने आयेगा उसे ही विवश किया जायगा कि किसानों के लिए कुछ करने का स्पष्ट वचन दे।

पश्चिम पटना में भरतपुरा, धरहरा आदि की पुरानी जमींदारियाँ हैं। **उस समय** उनका किसानों पर होने वाला जुल्म बिहार प्रान्त में अपना **सानी शायद ही रखता हो**। किसान पशु से भी बदतर बना दिये गये थे और छोटी-बड़ी कही जाने वाली जातियों के किसान एक ही लाठी से हाँके जाते थे। इस दृष्टि से वहाँ पूरा साम्यवाद था। यद्यपि उनके जुल्मों की पूरी जानकारी हमें उस समय न थी; वह तो पीछे चलकर हुई। उस समय विशेष जानने की मनोवृत्ति थी भी नहीं। फिर भी वे इतने ज्यादा, ज्वलन्त और साफ थे कि छन-छन के कुछ-न-कुछ हमारे पास भी पहुँच ही जाते थे। हमें यह भी मालूम हुआ था कि सन् **1921 ई. के असहयोग युग में पटने के नामधारी नेता उन जमींदारियों में सफल मीटिंग एक भी न कर सके थे**। जमींदारों के इशारे से उन पर गोबर आदि गन्दी चीजें तक फेंकी गयीं। सभा में लाठी के बल से किसान आने से रोक दिये गये। वे इतने पस्त थे कि जमींदार का नाम सुनते ही सपक जाते थे। हमने सोचा, एक-न-एक दिन यह जुल्म दोनों में भिड़न्त करायेगा और इस प्रकार के गृह-कलह से आजादी की लड़ाई कमजोर हो जायगी। फलतः आन्दोलन के दबाव से जुल्म कम करवाने और इस तरह गृह-कलह रोकने की बात हमें सूझी। **धरहरा के ही एक जमींदार हाल में ही** कौंसिल में चुने गये थे। उनका काफी दबदबा था। हमने सोचा कि संगठित रूप से काम करने पर वोट के खयाल से वे दबेंगे और काम हो जायगा। बात कुछ थी भी ऐसी ही। वे जमींदार साहब इस सभा से बेहद चौंके और इसके खिलाफ उनने प्रचार-कोशिश भी की। शोषक तो खटमल की तरह काफी काइयाँ होते हैं। इसी से वे सजग थे। हमें भी यह बात बुरी लगी कि वे इतने सख्त दुश्मन क्यों बनें। मगर बात तो ठीक ही थी। हम उस समय असल में जमींदारी को ऐसा समझते न थे जैसा पीछे समझने लगे। फिर भी यह झल्लाहट बनी ही रही और वे **सन् 1930 ई. में हजारीबाग जेल में इसी की सफाई देने हमारे पास आये थे**। बहुत डरे से मालूम होते थे। मगर उनका डर अन्ततोगत्वा सच्चा निकला, गो देर से। **क्योंकि किसान-सभा ने ही उन्हें सन् 1936-37 के चुनाव में बुरी तरह पहले असेम्बली में पछाड़ा और पीछे डिस्ट्रिक्टबोर्ड में भी। मालदार लोग दूरंदेश होते हैं**। फलतः इस खतरे को वे पहले से ही ताड़ रहे थे कि हो न हो एक दिन भिड़न्त होगी।

सभा जो जिले भर की भी नहीं बनी उसका कारण था हमारा फूँक-फूँक के पाँव देना ही। **जितनी शक्ति हो उतनी ही जवाबदेही लो, ताकि उसे बखूबी सँभाल सको, इसी वसूल ने हमें हमेशा जल्दबाज़ी से रोका है**। इसी खयाल से हम आल-इण्डिया किसान-सभा बनाने में बहुत आगा-पीछा करते रहे। इसी वजह से ही हमने प्रान्तीय किसान-सभा में पड़ने से भी—उसकी जवाबदेही लेने से भी—बहुत ज्यादा हिचक दिखाई थी। यही कारण था कि जिले भर की जवाबदेही लेने को हम उस समय तैयार न थे। मगर पता किसे था कि दो वर्ष बीतते-बीतते बिहार प्रान्तीय किसान-सभा बन

के ही रहेगी और न सिर्फ उसके स्थापनार्थ हमें आगे बढ़ना होगा, बल्कि उसकी पूरी जवाबदेही भी लेनी होगी? आखिरकार सन् 1929 ई. के नवम्बर महीने में यही हुआ और सोनपुर मेले में प्रान्तीय किसान-सभा बनी।

2

सन् 1929 ई. के दिसम्बर का महीना था। लाहौर कांग्रेस के पूर्व और हमारी बिहार प्रान्तीय किसान-सभा बन जाने के बाद ही सरदार बल्लभभाई का दौरा बिहार में हुआ। दौरा प्रान्त के सभी मुख्य-मुख्य स्थानों में हुआ। राय हुई कि नवजात किसान-सभा इससे लाभ क्यों न उठाये। श्री बल्लभभाई हाल में ही किसान आन्दोलन और लड़ाई के नाम पर ही सरदार बने थे। बारदौली के किसानों की लड़ाई के संचालक की हैसियत से ही उन्हें सरदार की पदवी मिली थी। हमने सोचा कि हमारा किसान आन्दोलन उनसे प्रोत्साहन प्राप्त करे। हुआ भी ऐसा ही। जहाँ-जहाँ उनके दौरे का प्रोग्राम था तहाँ-तहाँ ठीक उनके पहले हम किसान-सभा कर लेते और पीछे उसी सभा में वह बोलते जाते थे। कहीं-कहीं उनने हमारा और हमारी किसान-सभा का नाम भी लिया था और उसे सहायता देने को कहा था। मगर हम तो सभा की तैयारी और लोगों की उपस्थिति से लाभ उठा के किसान का पैगाम लोगों को सुना देना ही बहुत बड़ा फायदा मानते थे।

मुजफ्फरपुर जिले के सीतामढ़ी कसबे में भी एक बड़ी सभा हुई। हमने अपना काम कर लिया था। वह बोलने उठे तो दूसरी-दूसरी बातों के साथ जमींदारी प्रथा पर उनने बहुत कुछ कहा और उसकी कोई जरूरत नहीं है, यह साफ-साफ सुना दिया। उनका कहना था कि सुना है, ये जमींदार बहुत जुल्म करते हैं। ये लोग गरीब किसानों को खूब ही सताते हैं, ये भलेमानस अपने को जबर्दस्त माने बैठे हैं। लोग भी इन्हें ऐसा ही मानते हैं। इसीलिए डरते भी इनसे हैं। मगर ये तो निहायत ही कमजोर हैं। यदि एक बार कसके इनका माथा दबा दिया जाय तो भेजा (दिमाग की गुदी) बाहर निकल आये। फिर इनसे क्या डरना? इनकी ज़रूरत भी क्या है? ये तो कुछ करते नहीं ! हाँ, रास्ते में अड़ंगे जरूर लगाते हैं, पता नहीं, आज वही बदल गये, दुनिया ही बदल गयी या जमींदार ही दूसरे हो गये। क्योंकि अब वह ये बातें बोलते नहीं, बल्कि जमींदारों के समर्थक बन गये हैं, ऐसा कहा जाता है। **समय-समय पर परिवर्तन होते ही रहते हैं और नेता इस परिवर्तन के अपवाद नहीं हैं।** शायद वे अब संजीदा और दूरंदेशी बन गये हैं, जब कि पहले सिर्फ आन्दोलनकारी agitator थे। मगर, गुस्ताखी माफ हो। हमें तो संजीदा के बदले 'एजीटेटर' ही चाहिए।

अपनी-अपनी समझ और जरूरत ही तो ठहरी।

हाँ, तो उसी सभा से हम लोग रात में लौरी के जरिये मुजफ्फरपुर रवाना हुए। हमें आधी रात की गाड़ी पकड़ के छपरा जाना था। बा. रामदयालु सिंह, पं. यमुना कार्यी और मैं, ये तीनों ही उस लौरी में बैठे थे। मैं था प्रान्तीय किसान-सभा का सभापति और कार्यी जी उसके संयुक्त मन्त्री (डिविजनल सेक्रेटरी) थे। बाबू रामदयालु सिंह ने प्रान्तीय किसान-सभा की स्थापना में बहुत बड़ा भाग लिया था। वे उसकी प्रगति में लगे थे। इस तरह हम तीनों ही सभा के कर्त्ता-धर्त्ता थे—सब कुछ थे। हमीं तीनों ने उसे बनाया था और अगर हम तीनों खत्म होते तो सभा का खात्मा ही हो जाता यह पक्की बात थी।

लौरी रवाना हो गयी। रात के दस बजे होंगे। बाबू रामदयालु सिंह ड्राइवर की बगल में आगे वाली सीट पर थे और हम लोग भीतर थे। लौरी चलते-चलते एक तिहाई रास्ता पार करके रुनीसैदपुर में लगी। ड्राइवर उसे छोड़ कहीं गया और थोड़ी देर बाद वापस आया। हम चल पड़े। कुछ दूर चलने के बाद ड्राइवर को ऊँघ सी आने लगी। नतीजा यह हुआ कि लौरी डगमग करती जाती थी। कभी इधर फिसल पड़ती तो कभी उधर। ड्राइवर उसे ठीक सँभाल न सकता था। वह सड़क भी ऐसी खतरनाक है कि कितनी ही घटनाएँ (accidents) हो चुकी हैं, कितनी ही मोटरें उलट चुकी हैं। और कई मर चुके हैं। था भी रात का वक्त। खतरे की सम्भावना पद-पद-पर थी।

बाबू रामदयालु सिंह बात ताड़ गयें। उनने ड्राइवर को ऊँघता देख पहले दो-चार बार उसे सँभाला था सही। मगर वह नींद में थोड़े ही था। उस पर नींद की सवारी न होकर नशा की सवारी थी। रुनीसैदपुर में उसने शराब पी ली थी। अब तो वे घबराये। मारे डर के वे पसीने-पसीने थे। हालाँकि दिसम्बर की कड़ाके की सर्दी थी। सो भी उस इलाके में तो और भी तेज होती है। वे बार-बार ड्राइवर को सजग करते थे। मगर वह नशा ही क्या कि सर पर न चढ़ जाय और बेकार न बना दे? आखिर उनसे रहा न गया और उनने लौरी जबर्दस्ती रुकवाई। तब कहीं हमें पता चला कि कुछ बेढंगा मामला है। अब तक हम भी बेखबर थे।

हम सभी उतर पड़े और उनने कहा कि रास्ते में शराब पी के हम सबों को यह मारना चाहता है। देखिये न, मैं पसीने-पसीने हो रहा हूँ हालाँकि इस कड़ाके के जाड़े में लौरी पर हवा भी लगती है। फलतः काँपना चाहिए। हम सबों की जान पद-पद पर खतरे में देख के मैं थर्रा रहा था। मगर जब देखा कि अब कोई उपाय नहीं है तो रोका है। यदि कोई घटना हो जाती और लौरी उलट जाती या नीचे जा गिरती तो सारी की सारी बिहार प्रान्तीय किसान-सभा ही खत्म हो जाती। हम सभी इसी पर बैठे जो हैं। कल हमारे शत्रुओं के घर घी के चिराग जलते। इसलिए मैं तो इसका नाम-धाम नोट करके जिला मजिस्ट्रेट को इस बात की रिपोर्ट करूँगा।

ताकि आइन्दा इस प्रकार की शैतानियत ये ड्राइवर न करें और नाहक लोगों की जानें जोखिम में न डालें।

उनने उसका नाम-वाम लिखा सही और वह डर भी गया। इससे हम सभी सकुशल मुजफ्फरपुर स्टेशन पर पहुँच गये। हमने ट्रेन भी पकड़ ली। न जाने मजिस्ट्रेट के यहाँ रिपोर्ट हुई या नहीं। मगर **'समूची किसान-सभा ही खत्म हो जाती'** यह बात मुझे भूलती नहीं! इसकी स्मृति कितनी मधुर है। (5-8-41)

3

कुछ लोगों की धारणा है कि उनने कभी भूल की ही नहीं और न उनके विचारों में विकास हुआ। उनके विचार तो पके-पकाये शुरू से ही थे। इसीलिए जिनके विचारों का क्रम विकास हुआ है उनकी वे लोग मौके-मौके पर, अपनी जरूरत के मुताबिक, हँसी भी उड़ाया करते हैं। इधर उन्हीं दोस्तों ने यह भी तरीका अख्तियार किया है कि जिस प्रगतिशील कार्य पर उनकी मुहर न हो वह नाकारा और रद्दी है। वह यह भी कहने की हिम्मत करते हैं कि बिहार प्रान्तीय किसान-सभा को बनाया कांग्रेस ने ही। या यों कहिये कि उसके स्थापक कट्टर (Orthodox) कांग्रेसी ही हैं। उनका मतलब उन कांग्रेसियों से है जो गांधीवादी कहे जाते हैं। यह आवाज अभी-अभी निकलने लगी है। इसके पीछे क्या रहस्य है कौन जाने?

मगर असल बात तो यही है कि मैं, **पं. यमुना कार्यी और बाबू रामदयालु सिंह, यही तीन उसकी जड़ में थे**—इन्हीं तीन ने उसका विचार किया, कैसे वह शुरू की जाय यह सोचा, **सोनपुर के मेले में ही सुन्दर मौका है ऐसा तय किया, लोगों के पास दौड़-धूप की, नोटिसें छपवाईं और बँटवाईं और मेले में इसका पूरा आयोजन किया**। कोई बता नहीं सकता कि इसमें चौथा आदमी भी था। यह तो कठोर सत्य है, अडिग बात है। और इन तीनों में रामदयालु बाबू ही एक गांधीवादी कहे जा सकते हैं। ऐसी हालत में बेबुनियाद बातों की गुंजाइश ही कहाँ है?

यह ठीक है कि नाममात्र के लिए प्रमुख कांग्रेसी सभा के साथ थे, या यों कहिये कि उसके मेम्बर थे। मगर यह मेम्बरी तो कोई बाकायदा थी नहीं। किसान-सभा के लक्ष्य पर दस्तखत करके और सदस्य शुल्क दे के कितने लोग मेम्बर रहे क्या यह बात कोई बतायेगा? ऐसे मेम्बर बनने के लिए उनमें एक भी तैयार न था। बल्कि बनने के बहुत पहले ही उनमें प्रमुख लोगों ने विरोध शुरू कर दिया। यहाँ तक कि इसमें शामिल होने के विरुद्ध सूचना बाँटी गयी प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी की ओर से। इतना ही नहीं। सोनपुर के बाद ही जब उन लोगों की सम्मति चाही

गयी तो बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद ने, जो उस समय कांग्रेस के दिमाग माने जाते थे, इसका सख्त विरोध किया और साफ कह दिया कि यह खतरनाक चीज बनने जा रही है। अतः मैं इसके साथ नहीं हूँ। यह ठीक है कि और लोगों ने उस समय इनकार नहीं किया। सच तो यह है कि ऐसा करने का मौका ही उन्हें नहीं मिला। वे समझी न सके कि किसान-सभा ऐसी चीज बन जायगी। क्योंकि पीछे यह बात समझते ही कुड़बुड़ाहट और विरोधी प्रोपैगैण्डा शुरू हो गया। यह भी ठीक है कि औरों का नाम देख एकाध ने उलाहना भी दिया कि हमारा नाम क्यों नहीं दिया गया। इसीलिए उनका नाम पीछे जोड़ा गया भी। मगर इससे वस्तुस्थिति में कोई फर्क नहीं आता। नाम दे देने से कोई भी सभा का स्थापक नहीं कहा जा सकता। सौ बात की एक बात तो यह है कि यदि सभा की स्थापना का श्रेय कोई चौथा भी लेना चाहता है तो उसका नाम क्यों बताया नहीं जाता? क्योंकि तब तो स्पष्ट पूछा जा सकता है कि उसने इस सम्बन्ध में कब क्या किया? यह तो उसे बताना ही होगा। इसलिए केवल गोल-गोल बातों से काम नहीं चलेगा। नाम और काम बताना होगा।

मगर हमें तो इसमें भी झगड़ा नहीं है कि किसने यह काम किया। इतना तो असलियत के लिहाज से ही हमने कहा है। फिर भी यदि किसी को वैसा दावा हो तो हम उसकी खुशी में गड़बड़ी क्यों डालें? हमें क्या? सभा चाहे किसी ने बनाई। मगर वह जिस सूरत में या जिस प्रकट विचार से पहले बनी अब वह बात नहीं रही। धीरे-धीरे अनुभव के आधार पर वह आगे बढ़ी है और अब उसमें सोलहों आने रूपान्तर आ गया है। यह ठीक है कि वह किताबी ज्ञान के आधार पर न तो बनी ही थी और न वर्तमान रूप में आयी ही है। इसीलिए इसका आधार बहुत ही ठोस है। संघर्ष के मध्य में वह जन्मी और संघर्ष ही में पलते-पलते सयानी हुई है। इसीलिए वह काफी मजबूत है भी। शोषित जनता की वर्ग संस्थाओं को इसी प्रकार बनना और बढ़ना चाहिए, यही क्रान्तिकारी मार्ग है। लेनिन ने कहा भी है कि हमें जनता से और अपने अनुभवों से सीखकर ही जनता का पथ-प्रदर्शन करना चाहिए। जनता अपने ही अनुभव से सीखकर जब नेताओं की बातों पर विश्वास करती है और उन्हें मानने लगती है तभी वह हमारा साथ देती है, ऐसा स्तालिन ने चीन के सम्बन्ध के विवरण में कहा है—

> "The masses themselves should become convinced from their own experience of the correctness of the instructions, policy and slogans of the vanguard."

इसीलिए बजाय शर्म के खुशी की बात है कि अनुभव के बल पर ही हम आगे बढ़े हैं और इसमें किसानों को भी साथ ले सके हैं।

मगर हमारे क्रान्तिकारी नामधारी दोस्तों की एक बात तो हमारे लिए पहेली

ही रहेगी। जब हम उसे याद करते हैं तो एक अजीब घपले में पड़ जाते हैं। हमारे दोस्तों का दावा है कि किसान-सभा को वही क्रान्तिकारी मार्ग पर ला सके हैं; उन्होंने ही उसे क्रान्तिकारी प्रोग्राम दिया है आदि-आदि। जब हम पहली और ठेठ आज की उनकी ही कार्यवाहियों का खयाल करते हैं तो उनका यह दावा समझ में नहीं आता। उनमें एक भाई का दावा है—और बाक़ी उनकी हाँ में हाँ मिलाते हैं—कि उनने ही जमींदारी मिटाने का प्रस्ताव पहले-पहल किसान-सभा में पेश किया था। शायद उन्हें यह बात याद नहीं है कि उनकी पार्टी के जन्म के बहुत पहले युक्त प्रान्त में श्री **पुरुषोत्तमदास टण्डन** ने एक केन्द्रीय किसान संघ बनाया था और दूसरी-दूसरी अनेक बातों के साथ ही जमींदारी मिटाने की बात उस संघ ने मान ली थी। जब **सन् 1934 ई.** की गर्मियों में वे द्वितीय प्रान्तीय किसान सम्मेलन का सभापतित्व करने गया में आये थे। तो वहाँ भी उनने वह प्रस्ताव पास कराना चाहा था। मगर हम सबने—जिनमें सोशलिस्ट नेता भी शामिल थे—उसका विरोध किया था। फलतः वह गिर गया। उनके प्रस्ताव की खूबी यह थी कि मुआविजा (मूल्य) देकर ही जमींदारी मिटाने की बात उसमें थी।

टण्डन जी भी इस बात के साक्षी हैं कि मैंने दूसरे दिन सम्मेलन में जो भाषण दिया था उसमें स्पष्ट कह दिया था कि जहाँ तक बिहार प्रान्तीय किसान-सभा का ताल्लुक है, उसने जमींदारी मिटाने का प्रस्ताव अभी तक नहीं माना है; क्योंकि इसमें अभी उसे हानि नजर आती है। मगर जहाँ तक मेरा व्यक्तिगत सवाल है, मैं उसके मिटाने का पूर्ण पक्षपाती हूँ। लेकिन मूल्य देकर नहीं किन्तु यों ही छीन कर। यही हमारे सामने सबसे बड़ी दिक्कत है इसके सम्बन्ध में। टण्डन जी को इस बात से आश्चर्य भी हुआ था कि छीनने के पक्ष में तो हैं। मगर मुआविजा दे के खत्म करने के पक्ष में नहीं।

एक बात और। **सन् 1934 ई. के आखिर में सिलौत (मनियारी-मुजफ्फरपुर)** में जो किसान कॉन्फ्रेंस हुई थी उसमें कहा जाता है, जमींदारी मिटाने का प्रस्ताव एक किसान लीडर ने, जो अपने को इस बात के लिए मसीहा घोषित करते हैं पेश किया था। मैं भी वहाँ मौजूद था। प्रस्ताव का वह अंश यों था कि किसान और सरकार के बीच में कोई शोषक वर्ग न रहे इस सिद्धान्त को प्रान्तीय किसान-सभा स्वीकार करे। यहाँ विचारना है कि टण्डन जी वाले प्रस्ताव में इसमें विलक्षणता क्या है? मुआविजा की बात पर यह चुप है। इसलिए ज्यादा-से-ज्यादा यही कहा जाता है कि गोल-मोल बात ही इसमें कही गयी है, जबकि टण्डन जी ने स्पष्ट कह दिया था। मगर असल बात तो यह है कि जमींदारी का नाम इसमें है नहीं। यह भी खूबी ही है। शोषक कहने से जमींदार भी आ जाते हैं, मगर स्पष्ट नहीं। यहाँ भी गोल बात ही है। फलतः गांधी जी के—ट्रस्टी वाले सिद्धान्त की भी इसमें गुंजाइश है। क्योंकि ट्रस्टी होने पर तो जमींदार शोषक रहेगा नहीं। फिर जमींदारी मिटाने का क्या

सवाल? यही कारण है कि खासमहाल में, जहाँ सरकार ही जमींदार है, जमींदारी मिटाने की बात इस प्रस्ताव के पास होने पर भी नहीं उठती। अतएव जो लोग जमींदारी को सर्वत्र ही खासमहाल बना देना चाहते हैं उनके लिए यह प्रस्ताव स्वागतम् है। फिर भी इसी पर दोस्तों की इतनी उछल-कूद है।

उस सभा में जमींदारों के दोस्त काफी थे। वहीं पर एक चलते-पुर्जे जमींदार हैं जो एक मठ के महन्त हैं। उनके इष्ट-मित्रों की संख्या काफी थी और जी-हुजूरों की भी। उनने उसका खूब ही विरोध किया। मगर सफलता की आशा न देख यह प्रश्न किया और करवाया कि स्वामी जी भी यहीं हैं। अतः उनसे भी इस प्रस्ताव के बारे में राय पूछी जाए कि वे इसके पक्ष में हैं या नहीं और यह प्रस्ताव प्रान्तीय किसान-सभा के सिद्धान्त के विपरीत है या नहीं। उन लोगों का खयाल था कि मैं तो इसका विरोध करूँगा ही और प्रान्तीय सभा के मन्तव्य का विरोधी भी इसे जरूरी ही बताऊँगा। मगर मैं नहीं चाहता था कि बीच में पड़ूँ। मैं चाहता था कि मेरे या किसी दूसरे के प्रभाव के बिना ही लोग खुद स्वतन्त्र रूप से राय कायम करें। मुझे तो किसानों की और जनता की भी मनोवृत्ति का ठीक-ठीक पता लगाना था, जो मेरे कुछ भी कहने से नहीं लग सकता था। कारण, लोग पक्ष या विपक्ष में प्रभावित हो जाते।

परन्तु विरोधियों ने इस पर जोर दिया हालाँकि प्रस्ताव वाले शायद डरते थे कि मेरा बोलना ठीक नहीं। जब मैंने देखा कि बड़ा जोर दिया जा रहा है और न बोलने पर यदि कहीं प्रस्ताव गिर गया तो बुरा होगा, तो अन्त में मैंने कह दिया कि मैं व्यक्तिगत रूप में इस प्रस्ताव का विरोधी तो नहीं हूँ। साथ ही, प्रान्तीय किसान-सभा के सिद्धान्त के प्रतिकूल भी यह है नहीं। क्योंकि यह तो सभा से सिफारिश ही करता है कि यह बात मान ले। बस, फिर क्या था, बिजली सी दौड़ गयी और बहुत बड़े बहुमत से प्रस्ताव पास हुआ। मैंने यह भी साफ ही कह दिया कि यह प्रस्ताव तो लोकमत तैयार करता है और उसे जाहिर भी करता है, जहाँ तक जमींदारी या शोषण मिटाने का सवाल है। ऐसी हालत में हमारी सभा इसका स्वागत ही करेगी। क्योंकि हम लोकमत को जानना तो चाहते ही हैं। साथ ही, उसे तैयार करना भी पसन्द करते हैं। हमें खुद लोगों पर किसी सिद्धान्त को लादनें के बजाय लोकमत के अनुसार ही सिद्धान्त तय करना पसन्द है। यही कारण है, कि अब तक हमारी प्रान्तीय किसान-सभा इस बारे में मौन है। वह अभी तक अनुकूल लोकमत जो नहीं पा रही है।

इस प्रसंग से एक और भी बात याद आती है। हमारे कुछ दोस्त जमींदारी मिटाने के अग्रदूत अपने को मानते हैं—कम-से-कम यह दावा आज वे और उनके साथी करते हैं। मगर इस सम्बन्ध में कुछ बातें स्मरणीय हैं। जब सन् 1929 ई. के नवम्बर में सोनपुर के मेले में बिहार प्रान्तीय किसान-सभा की स्थापना हो रही

थी, और उन लोगों के मत से आज के गांधीवादी ही उसे कर रहे थे तो उनने खुली सभा में उसका विरोध किया था। उनकी दलील थी कि किसान-सभा की जरूरत ही नहीं। कांग्रेस से ही वह सभी काम हो जायँगे जिनके लिए यह सभा बनायी जाने को है। उनने यह भी कहा कि किसान-सभा बनने पर किसान उसी ओर बहक जायँगे और इस प्रकार कांग्रेस कमजोर हो जायगी। मैं ही उस समय सभापति था और मैंने ही उनका उचित उत्तर भी दिया था। इसीलिए ये बातें मुझे याद हैं! इन दलीलों को पढ़ के कोई भी कह बैठेगा कि कोई गांधीवादी आज (सन् 1941 ई. में) किसान-सभा का विरोध कर रहा था। वह यह समझी नहीं सकता कि भावी क्रान्तिकारी (क्योंकि पता नहीं कि वे उस समय क्रान्तिकारी थे या नहीं) यह दलीलें पेश कर रहा है जो आगे चलकर जमींदारी मिटाने का अग्रदूत बनने का दावा करेगा।

शायद कहा जाय कि उस समय उन्हें इतना ज्ञान न था और क्रान्तिकारी पार्टी भी पीछे बनी! खैर ऐसा कहने वाले यह तो मानी लेते हैं कि ये मसीहा लोग भी एक दिन कट्टर दकियानूस थे। क्योंकि उनकी नजरों में आज जो एकाएक दकियानूस दीखने लगे हैं वही जब किसान-सभा के विरोध के बजाय उसके समर्थक थे तब मसीहा लोग विरोधी थे! यह निराली बात है।

लेकिन लखनऊ का 'संघर्ष' नामक साप्ताहिक हिन्दी-पत्र तो क्रान्तिकारी ही है। उसने जब सन् 1938 में अपने अग्रलेख में यहाँ तक लिख मारा कि हमें किसान-सभा का भी उपयोग करना चाहिए, तो मुझे विवश हो के सम्पादक महोदय को पटना में ही उलाहना देना पड़ा और इसके लिए सख्त रंजिश जाहिर करनी पड़ी। यह अजीब बात हैं कि क्रान्ति के अग्रदूत बनने के दावेदार कांग्रेस के मुकाबिले में किसान-सभा जैसी वर्ग संस्थाओं को गौण मानें। उनने हजार सफाई दी। मगर मैं मान न सका।

6-8-41

आगे चलिये। कुछ महीने पूर्व एक सर्क्यूलर देखने को मिला था। उसमें और और बातों के साथ लिखा गया है कि "आज तक किसान-सभाओं का संगठन स्वतन्त्र होते हुए भी राजनीतिक क्षेत्र में वह कांग्रेस की मददगार मात्र और उसके नीचे रही है! यहाँ 'मददगार मात्र' में 'मात्र' शब्द बड़े काम का है। जो लोग किसान-सभाओं को सन् 1941 ई. के शुरू होने तक राजनीतिक बातों में कांग्रेस की सिर्फ मददगार और उसके नीचे मानते रहे हैं वही जब दावा करते हैं कि किसान-सभा में जमींदारी मिटाने का प्रस्ताव पहले-पहल लाने वाले वही हैं तो हम हैरत में पड़ जाते हैं। जमींदारी मिटाने की बात तो जबर्दस्त राजनीति है। कांग्रेस ने आज तक खुल के इस बात का नाम नहीं लिया है। प्रत्युत उसका नीति-निर्धारण जिस पुरुष के हाथ में है वह तथा कांग्रेस के दिग्गज नेता एवं कर्णधार—सब-के-सब—जमींदारी का समर्थन ही करते हैं। गांधी जी ने तो यहाँ तक किया कि सन् 1934 ई. में युक्त प्रान्त के जमींदारों के प्रतिनिधि मण्डल (deputation) को खुले शब्दों में कह दिया था कि "Better

relations between the landlords and tenants could be brought about by a change of heart on both sides. He was never in favour of abolition of the Taluqdari or zamindari system." ('Mahratta', 12-8-1934)

"किसानों और जमींदारों के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे हो जायँगे दोनों के हृदय परिवर्तन से ही। मैं नहीं चाहता कि जमींदारी यां ताल्लुकेदारी मिटा दी जाय।" ऐसी दशा में एक ओर तो किसान-सभा को कांग्रेस के नीचे और उसकी मददगार मात्र मानना और दूसरी ओर सभा के जरिये ही जमींदारी मिटाने का दावा करना ये दोनों बातें पहेली सी हैं। इनका रहस्य समझना साधारण बुद्धि का काम नहीं है! कुछ ऐसा मालूम पड़ता है कि शुरू में ही किसान-सभा की स्थापना के विरोध से लेकर आज तक जो नीति हमारे ये क्रान्तिकारी दोस्त अपने लिए निश्चित करते आ रहे हैं। उसमें मेल है—कोई विरोध नहीं है। और अगर जमींदारी मिटाने जैसी बात की चर्चा देख के विरोध मालूम भी पड़ता हो, तो वह सिर्फ ऊपरी या दिखावटी है। क्योंकि राजनीति तो पेचीदा चीज है और हमारे दोस्त लोग इस पेचीदगी में पूरे प्रवीण हैं! यह तो एक कला है और बिना कलाबाजी के सबको खुश करना या सर्वत्र वाहवाही लूटना गैर-मुमकिन है।

लेकिन जब मैं खुद आज तक की बातों का खयाल करता हूँ तो मेरे दिमाग में यह बात आती ही नहीं कि कैसें किसान-सभा कांग्रेस के नीचे और उसकी मददगार मात्र रही है। हमने तो कभी ऐसा सोचा तक नहीं। हमारे इन दोस्तों ने भी आज तक किसी भी मौके पर यह बात नहीं कही है। मुझे तो हाल के उनके इस सर्क्यूलर से ही पहले-पहल पता चला कि वे ऐसा मानते रहे हैं। यह जानकर तो मैं हैरत में पड़ गया। आखिर कभी भी तो वे इस बात का जिक्र हमारी मीटिंगों में करते। इतनी महत्त्वपूर्ण बात यों ही क्यों गुपचुप रखी गयी यह कौन कहे? कांग्रेस मिनिस्ट्री के जमाने में हमने बकाश्त संघर्ष सैकड़ों चलाये और दो हजार से कम किसानों या किसान सेवकों को इस तरह जेल जाना नहीं पड़ा! मिनिस्ट्री इसके चलते बेहद परेशान भी हुई। इसीलिए तो सन् 1939 ई. के जून में बम्बई में ऐसी लड़ाइयाँ रोकी गयीं और न मानने वालों को कांग्रेस से निकालने की धमकी दी गयी। फिर भी हमने न माना। जिंसके फलस्वरूप हम कितनों को ही कांग्रेस से अलग होना पड़ा। इतने पर भी किसान-सभा को कांग्रेस के नीचे और उसकी मददगार मात्र बना देने की समझ और हिम्मत की तारीफ है।

चाहे पहले किसी को ऐसा खयाल करने की गुंजाइश रही भी हो; क्योंकि शुरू में जान-बूझकर किसान-सभा इसी प्रकार चलाई गयी थी कि किसी को शक न हो कि यह सोलहों आने स्वतन्त्र चीज है, संस्था है; इससे इसके प्रति बाल्यावस्था में ही भयंकर विरोध जो हो जाता इसीलिए एक प्रस्ताव के द्वारा यह कहा गया था कि राजनीतिक मामलों में सभा कांग्रेस का विरोध न करेगी। मगर फिर भी यह कभी

न कहा गया कि उसकी मातहत है या उसकी मदद करेगी। मगर जब हमने सन् 1935 ई. के बीतते-न-बीतते हाजीपुर वाले सम्मेलन में जमींदारी मिटाने का निश्चय कर लिया तब भी इसे ऐसा समझना कि यह कांग्रेस की मातहत है, निराली सी बात है। जमींदारी मिटा देने की बात एक ऐसी चीज है जो बता देती है साफ-साफ कि किसान-सभा और कांग्रेस दो जुदी संस्थाएँ हैं जिनके लक्ष्य और रास्ते भी जुदे हैं, भले ही मौके-बे-मौके मतलब-वेश दोनों का मेल हो जाय। हम तो जमींदारी वगैरह के बारे में साफ जानते हैं कि ता. 12-2-22 ई. को बारदौली में कांग्रेस की कार्यकारिणी ने असहयोग आन्दोलन को स्थगित करते हुए इस सम्बन्ध में जो कहा था वही आज तक कांग्रेस की निश्चित नीति है। उस कमिटी के प्रस्ताव की छठीं और सातवीं धाराओं में यह बात साफ लिखी है। यह यों है—

"The working committee advises Congress workers and organisaions to inform the ryots (peasants) that withholding of rent-payment to the zamindars (land-lords) is contrary to the Congress resolution and injurious to the best interest of the country.

The Working Committee assures the zamindars that the Congress movement is in no way intended to attack their legal rights, and that, even when the ryots have grievances, the committee desires that redress be sought by mutual consulation and arbitration."

इसका अर्थ यह है, "वर्किंग कमिटी (कार्य-कारिणी कमिटी) कांग्रेस कार्य-कर्त्ताओं और संस्थाओं को यह सलाह देती है कि वे किसानों (रैयतों) से कह दें कि जमींदारों को लगान न देना कांग्रेस के प्रस्ताव के विरुद्ध तथा देश-हित का घातक है।

"कमिटी जमींदारों को विश्वास दिलाती है कि कांग्रेस आन्दोलन की मंशा यह हर्गिज नहीं है कि उनके कानूनी अधिकारों पर वार किया जाय। कमिटी की यह भी इच्छा है कि यदि कहीं किसानों की शिकायतें जमींदारों के खिलाफ हों तो वे भी दोनों की राय, सलाह और पंचायत की सहायता से ही दूर की जायँ।"

हम समझ नहीं सकते कि जमींदारी और जमींदारी के अन्यान्य कानूनी हकों की इससे ज्यादा और कौन सी ताईद कांग्रेस कर सकती है। (7-8-41)

4

सन् 1932 ई. के आखिरी और सन् 1933 ई. के आरम्भ के दिन थे। कांग्रेस का सत्याग्रह आन्दोलन धुआँधार चल रहा था। सरकार ने इस बार जम के पूरी तैयारी

के साथ छापा मारा था। इसलिए दमन का दावानल धाँय-धाँय जल रहा था। सरकार ने कांग्रेस को कुचल डालने का कोई दकीका उठा रखा न था। लार्ड विलिंगटन भारत के वायसराय के पद पर आसीन थे। उनने पक्का हिसाब लगा के काम शुरू किया था। ऊपर से, बाहरी तौर पर, तो मालूम होता था सरकार ज्येष्ठ के मध्याह्न के सूर्य की तरह तप रही है। इसीलिए प्रत्यक्ष देखने में आन्दोलन लापता सा हो रहा था। मीटिंगों का कोई नाम भी नहीं लेता था। यहाँ तक कि मुंगेर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का चुनाव जब सन् 1933 में होने लगा और सभी नेताओं के जेल में बन्द रहने के कारण उस जिले में मेरे दौरे की जरूरत पड़ी तो लोगों को भय था कि मीटिंगें होई न सकेंगी। बड़हिया में पहली और लक्खीसराय में दूसरी मीटिंग की तैयारी थी। उस समय बड़हिया में अतिरिक्त पुलिस डेरा डाले पड़ी थी। जब मैं मीटिंग करने गया तो अफसरों के कान खड़े हो गये। वे सदल-बल मीटिंग में जा जमे। मेरे भाषण के अक्षर-अक्षर नोट किए जा रहे थे। जब मेरा बोलना खत्म हुआ और सबने देखा कि यह तो केवल चुनाव की ही बातें बोल गया जो निर्दोष हैं तब कहीं जाकर उनमें ठण्डक आयी। यही बात कम-बेश लखीसराय में भी पाई गयी।

देश के और बिहार के भी सभी प्रमुख नेता और कार्यकर्त्ता जेलों में बन्द थे। बाहर का मैदान साफ था। सिर्फ मैं बाहर था। कही चुका हूँ कि सन् 1930 ई. में जेल में मैंने जो कुछ कांग्रेसी नेताओं के बारे में देखा था—ठेठ उनके बारे में जो फर्स्ट और सेकण्ड डिविजन में रखे गये थे—उससे मेरा मन जल गया था और मैं कांग्रेसी राजनीति से विरागी बन गया था। क्योंकि कहने के लिए कुछ और व्यवहार में कुछ दूसरा ही पाया। यही सन् 1922 ई. में भी देख चुका था। मैं सोचता कि 1922 की बात तो पहले-पहल की थी। अतः भूलें सम्भव थीं। मगर जब 8-10 साल के बाद बजाय उन्नति के उसमें बुरी अवनति देखी। तो विराग होना स्वाभाविक था। सोचता था, ऐसी संस्था में क्यों रहूँ जिसकी बातें केवल दिखावटी हों और सख्ती के साथ हर हालत में जिसके सदस्यों की नियम-पाबन्दी का कोई इन्तजाम न हो। ऐसी संस्था तो धोखे की चीज होगी और टिक न सकेगी। हम अपने ईमान को धोखा देते-देते जनता को भी जिसकी सेवा का दम हम भरते हैं, धोखा देने लग जायँगे। इसीलिए सन् 1932 ई. में पुराने दोस्तों और साथियों के हजार कहने-सुनने पर भी मैं संघर्ष में न पड़ा। फलतः बाहर ही पड़ा तमाशा देखता था।

बिहार ही ऐसा प्रान्त उस समय था जहाँ कांग्रेस के सिवाय कोई भी सार्वजनिक संस्था जमने पाती न थी। मुसलिम लीग, हिन्दू सभा या लिबरल फिडरेशन तक का यहाँ पता न था। किसान-सभा तो यों बन सकी कि उसमें दूसरे लोग थे ही न। यह भी बात थी कि लोग समझते थे कि यह तो खुद ही खत्म हो जायगी। क्योंकि किसी खास मतलब से ही बनी मानी जाती थी और वह मतलब शीघ्र ही पूरा हो जाने वाला माना जाता था। हर हालत में इसे कांग्रेस के विरुद्ध न जाने देने का

इरादा लोगों ने कर लिया था। यही कारण है कि शुरू के 5-6 वर्षों में हमें भी फूँक-फूँक के पाँव देने पड़े थे। और यह सभा भी सन् 1930 के शुरू में ही स्थगित कर दी गयी थी तथा तब तक इसे पुनर्जीवित करने की चेष्टा भी न की गयी थी।

इसलिए सरकार ने, जमींदारों ने, मालदारों ने और उनके दोस्त जी-हुजूरों ने सोचा कि यही सुनहला मौका है। इससे फायदा उठा के एक ऐसी संस्था बना दी जाए जो कांग्रेस का मुकाबिला कर सके। सभी प्रमुख नेता और कार्यकर्त्ता एक तो जेल में थे। दूसरे जो बाहर थे भी उन्हें कांग्रेस की लड़ाई के प्रबन्ध से फुर्सत कहाँ थी कि और कुछ करते या इस नयी संस्था का विरोध करते? जैसा कि जन-आन्दोलन की सनातन रीति है कि दमन होने पर भीतर चला जाता है और ऊपर से नजर नहीं आता, ठीक वही बात कांग्रेस की लड़ाई की थी। वह भी भीतर ही भीतर आग की तरह धक्-धक् जल रही थी इसीलिए उसे चलाने में ज्यादा दिक्कतें थीं। पुलिस परछाईं की तरह सर्वत्र घूमती जो थी पता पाने के लिए, ताकि छपक पड़े। वह इस तरह अनजान में ही अपनी मर्जी के खिलाफ जनता को गुप्त रीति से आन्दोलन चलाने को न सिर्फ प्रोत्साहित कर रही थी, वरन् उसे इस काम में शिक्षित और दृढ़ बना रही थी। आखिर जरूरत पड़ने पर ही तो आदमी सब कुछ कर डालता है। इस तरह देश का आन्दोलन असली क्रान्तिकारी मार्ग पकड़ के जा रहा था। गांधी जी ने जो इसे सन् 1934 ई. के शुरू में ही बन्द कर दिया उसका भी यही कारण था। वे इस बात को ताड़ गये थे। वे समझते थे कि यदि न रोका गया तो उनके और मध्यम वर्ग के हाथों से यह निकल जायगा। और सचमुच जन-आन्दोलन बन जायगा, और ऐसा होने में स्थिर स्वार्थों (Vested interests) की सरासर हानि थी।

हाँ, तो यारों की दौड़-धूप शुरू हो गयी। कभी पटना और कभी राँची में, जहीं पर गवर्नर साहब के चरण विराजते वहीं महाराजा दरभंगा वगैरह बड़े-बड़े जमींदार बार-बार तशरीफ ले जाते, बातें होतीं और सरकार का आशीर्वाद इस मामले में प्राप्त करने की कोशिश होती थी। आशीर्वाद तो सुलभ था ही। मगर सरकार भी देखना चाहती थी कि ये लोग उसके पात्र हैं या नहीं। उसे भी गर्ज तो थी ही कि कांग्रेस की प्रतिद्वन्द्वी कोई भी संस्था खड़ी की जाए। इसलिए बड़ी दौड़-धूप के बाद और महीनों सलाह-मशविरा के फलस्वरूप जहाँ तक याद है, राँची में यह बात तय पायी गयी कि यूनाइटेड पार्टी (संयुक्त दल) के नाम से ऐसी संस्था बनाई जाय। बेशक जमींदारों के भीतर भी इस बारे में दो दल थे जिनके बीच सिर्फ नेतृत्व का झगड़ा था कि कौन इसका नेता बने। मगर नेतृत्व तो सबसे बड़े जमींदार और पूँजीपति महाराजा दरभंगा को ही मिलना था। असल में उनके सहायक और निकट सलाहकार कौन हों यही तय नहीं हो सकता था। आखिरश राजा सूर्यपुरा (शाहाबाद) उनके निकट सलाहकार (मन्त्री) बने। भीतरी मतभेद के रहते हुए भी आपस की दलबन्दी जमींदारों के इस महान् कार्य में—इस महाजाल में—बाधक कैसे हो सकती थी? इस

प्रकार यूनाइटेड पार्टी का जन्म हो गया।

इस सम्बन्ध की एक और बात है। जब हमारी प्रान्तीय किसान-सभा पहले-पहल बनी तो पटने के वकील वा. गुरुसहाय लाल भी उसके एक संयुक्त मन्त्री बनाये गये, हालाँकि क़ाम-वाम तो उनने कुछ किया नहीं। असल में तब तक की हालत यह थी कि पुरानी कौंसिल में किसानों के नाम पर जोई दो-चार आँसू बहा देता, दो-एक गर्म बातें बोल देता या ज्यादे से ज्यादा किसान-हित की दृष्टि से काश्तकारी कानून में सुधार के लिए एकाध मामूली बिल पेश कर देता, वही किसानों का नेता माना जाता था। गोया किसान लावारिस माल थे, उनका पुर्साहाल कोई न था। इसलिए 'दे खुदा की राह पर' के मुताबिक जिसने उनकी ओर अपने स्वार्थ साधन के लिए भी जरा नजर उठाई कि वही उनका मुखिया (spokes man) माना जाने लगा। प्रायः सब के सब ऐसे मुखिया जमींदारों से मिले-जुले ही रहते थे और दो-एक गर्म बातें बोल के और भी अपना उल्लू सीधा कर लिया करते थे। ऐसे ही लोगों ने सन् 1929 ई. में भी एक बिल पेश किया था किसानों के नाम पर टेनेन्सी कानून की तरमीम के लिए, जिसके करते जमींदारों ने एक उलटा बिल ठोंक दिया था। फलतः दोनों को ताक पर रख के सरकार ने अपनी ओर से एक तीसरा बिल पेश किया था और उसी के विरोध को तात्कालिक कारण बना के प्रान्तीय किसान को जन्म दिया गया था।

सरकार का हमेशा यही कहना था कि काश्तकारी कानून का संशोधन दोई तरह से हो सकता है—या तो किसान और जमींदार या इन दोनों के प्रतिनिधि मिल-जुल के कोई मसविदा (बिल) पेश करें और उसे पास कर लें, या यदि ऐसा न हो सके तो सरकार ही पेश करे और उसे दोनों मानें। ठीक दो बिल्लियों के झगड़े में बन्दर की पंचायत वाली बात थी। सन् 1929 ई. में भी ऐसा ही हुआ था और दोनों की राय न मिलने के कारण ही सरकार बीच में कूदी थी। मगर जब किसानों के नाम पर किसान-सभा ने उसका जोरदार विरोध किया तो उसने यह कह के उसे वापस ले लिया कि जब किसान-सभा भी इसकी मुखालिफ़ है तो सरकार को क्या गर्ज है कि इस पर जोर दे? इस तरह किसान-सभा ने जनमते ही दो काम किए। एक तो उस बिल को चौपट करवा के किसानों का गला बचाया। दूसरे सरकार को विवश किया कि न चाहते हुए भी किसान-सभा को किसानों की संस्था मान ले।

इसी के मुताबिक सरकार और जमींदारों को भी फिक्र पड़ी कि यूनाइटेड पार्टी को मजबूत बनाने के लिए सबसे पहले उसकी ओर से काश्तकारी कानून का संशोधन कराके किसानों को कुछ नाममात्र के हक दे दिए जायँ। साथ ही, जमींदारों का भी मतलब साधा जाय। मगर अब तक जो तरीका था उसके अनुसार तो जो बिल किसान और जमींदार दोनों की रजामन्दी से पेश न हो उसे सरकार मान नहीं सकती थी। इसीलिए जरूरत इस बात की हुई कि जिस यूनाइटेड पार्टी को बनाया जा रहा है

उसमें किसानों के नाम पर बोलने वाले भी रखे जायँ। नहीं तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। यूनाइटेड पार्टी का तो अर्थ ही यही था कि जिसमें सभी दल और फिर्के के लोग शामिल हों। उसके जिन खास-खास मेम्बरों की लिस्ट उस समय निकली थी उससे भी मालूम पड़ता था कि सभी धर्म, दल और स्वार्थ के लोग उसमें शरीक है। फलतः उसे ही बिहार प्रान्त के नाम में बोलने का हक है।

अब उसके सूत्रधारों को इस बात की फिक्र पड़ी कि किसानों के प्रतिनिधि कौन-कौन से महाशय इसमें लाए जायँ। उनके सौभाग्य से श्री शिव शंकर झावकील मिल ही तो गये। वे उसी प्रकार के किसान नेता हैं जिनका जिक्र पहले हो चुका है। यह ठीक है कि बाबू गुरुसहाय लाल भी उस पार्टी के साथ थे। मगर चालाकी यह सोची गयी कि अगर खुली तौर पर उनका नाम शुरू में ऐलान किया जाएगा तो बड़ा हो-हल्ला मचेगा और मजा किरकिरा हां जाएगा। वे भी शायद डरते थे। इसलिए तय यह पाया कि वह पहले एक बिहार प्रान्तीय किसान-सभा खड़ी कर दें। पीछे बिल में जो बातें काश्तकारी के संशोधन के लिए दी जाने वाली हों उन्हें यह कह के अपनी सभा से स्वीकार करायें कि इन्हीं शर्तों पर जमींदारों के साथ किसानों का समझौता हुआ है। इसके बाद तो कानून बना के यह दमामा बजाया ही जायगा कि उनने और झा जी ने किसानों को बड़े-बड़े हक दिलाए। इस तरह यूनाइटेट पार्टी की धाक भी किसानों में जम जायगी। क्योंकि पार्टी की ही तरफ से कानून का संशोधन कराया जायगा। साथ ही गुरुसहाय बाबू भी इसका सेहरा पहने-पहनाये उस पार्टी में खुल्लमखुल्ला आ जायँगे!

उनने किया भी ऐसा ही। जिस सभा के एक मन्त्री वह भी थे उसके रहते ही एक दूसरी सभा खड़ी कर देने की हिम्मत उनने कर डाली! पीछे तो गुलाब बाग (पटना) की मीटिंग में यह भी बात खुली कि इस नकली सभा के बनाने में न सिर्फ जमींदारों का इशारा था, प्रत्युत उनके पैसे भी लगे थे। उस समय इस किसान-द्रोह में उनके साथ एकाध और भी सोशलिस्ट नामधारी जमींदारों के साथ षड्यन्त्र कर रहे थे। खूबी तो यह कि यह सारा काम इस खूबी से चुपके-चुपके किया जा रहा था कि बाहरी दुनिया इसे समझ न सके। यहाँ तक कि पटने से 15-20 मील पर ही बिहटा में मैं मौजूद था। मगर सारी चीज मुझसे भरपूर छिपाई गयी, मुझे खबर देना या मुझसे राय लेना तो दूर रहा। उन्हें असली किसान-सभा का भूत बुरी तरह परेशान जो कर रहा था। वे समझते थे खूब ही, कि यदि इस स्वामी को खबर लग गयी तो विरागी होते हुए भी कहीं ऐसा न हो कि उस पुरानी सभा को ही जाग्रत कर दे जिसने जनमते ही सरकार और जमींदारों से भिड़ के एक पछाड़ उन्हें फौरन ही दी थी। तब तो सारी उम्मीदों पर पानी ही फिर जायगा। इसे ही कहते हैं गरीबों की सेवा और किसान-हितैषिता! खुदा किसानों की हिफाजत ऐसे दोस्तों से करे।

लेकिन आखिर भण्डा फूट के ही रहा और ये बेचारे **'टुक्-टुक दीदम, दम**

न कसीदम' के अनुसार हाय मार के रह गये। इनकी किसान-सभा में विपत्ति का मारा न जाने मैं क्यों पहुँच गया जिससे इन पर पाला पड़ गया। वहाँ जब मैंने जमींदारों और जमींदार सभा के लीडरों को देखा तो चौंक पड़ा कि यह कैसी किसान-सभा। मगर जब किसानों के नामधारी नेता उन जमींदार लीडरों को इसीलिए सभा में धन्यवाद देना चाहते थे कि उनने पैसे से सहायता की थी, तो बिल्ली थैले से बाहर आ गयी। आखिर पाप छिप न सका और मैंने मन ही मन कहा कि यह तो भयंकर किसान-सभा है। खुशी है कि वहीं उसका श्राद्ध हो गया और पुरानी सभा जाग खड़ी हुई। इस तरह जो मैं अब तक सभा से उदासीन सा था वही अब फिर सारी शक्ति से उसमें पड़ गया। वे किसान नेता उसके बाद कुछी दिनों में अपने असली रूप में आ गये और जमींदारों से साफ-साफ जा मिले। फिर भी किसी की एक न चली और दोई साल के भीतर ऐसा तूफान मचा कि उसमें न सिर्फ यूनाइटेड पार्टी उड़ गयी, बल्कि जमींदारों के मनोरथों पर पानी फिर गया। जो बिल उनने पेश किया उसमें किसान-हित की अनेक बातों को दे के और जहरीली बातें उससे निकाल के उसे कानून का जामा पहनाने के लिए उन्हें मजबूर होना पड़ा। उसी समय से जमींदारों ने अपनी जिरात जमीन के बढ़ाने का पुराना दावा सदा के लिए छोड़ दिया।

इस प्रकार अब तक जो अपने को किसानों के नेता कहते थे ऐसे नये-पुराने सभी लोगों का पर्दाफाश हो गया और वे मुँह दिखाने के लायक भी नहीं रह गये। लोग इस झमेले में भयभीत थे कि कही मैं दबा तो अनर्थ होगा। क्योंकि अब तक के किसान नेताओं तथा जमींदारों की एक गुटबन्दी किसान-सभा के खिलाफ थी। मगर मुझे तो पूरा विश्वास था कि विजय होगी और वह हो के ही रही। साथ ही, चौकन्ना होने की जरूरत भी पड़ी। यह किसान नेताओं का पहला भण्डाफोड़ था। अभी न जाने ऐसे कितने ही भण्डाफोड़ भविष्य के गर्भ में छिपे थे। (8-8-41)

5

सन् 1933 ई. में किसान-सभा के पुनर्जीवन के बाद का समय था और मैं दिन-रात बेचैन था कि कैसे यूनाइटेड पार्टी, उसके छिपे रुस्तम दोस्तों और जमींदारों के नाकों चने चबवाऊँ और उनके द्वारा पेश किए गये काश्तकारी कानून के संशोधन को जहन्नुम पहुँचाऊँ। इसीलिए रात-दिन प्रान्त व्यापी दौरे में लगा था। इसी सिलसिले में दरभंगा जिले के मधुबनी इलाके में भी पहुँचा। खास मधुबनी में हाई इंगलिश स्कूल के मैदान में एक सभा का आयोजन था। किसानों की और शहर वालों की भी अपार भीड़ थी। मैंने खूब ही जम के व्याख्यान दिया जिसमें किसानों के गले पर फिरने वाली

महाराजा दरभंगा तथा अन्य जमींदारों की तीखी तलवार का हाल कह सुनाया। देखा कि किसानों का चेहरा खिल उठा, मानो उन्हीं के दिल की बात कोई कह रहा हो।

लेकिन किसानों के नेता बन जाने पर भी अभी मुझे उनकी विपदाओं की असलियत का पता था कहाँ? मैं तो यों ही सुनी-सुनाई बातों पर ही **जमीन और आसमान एक कर रहा था।** बात दरअसल यह है कि किसानों और मजदूरों का नेता इतना जल्द कोई बन नहीं सकता। **जिसे उनके लिए सचमुच लड़ना और संघर्ष करना है उसे तो सबसे पहले उनमें घूम-घूम के उन्हीं की जबानी उनके दुःख-दर्दों की कहानी सुनना चाहिए।** यह बड़ी चीज है जरा चाव से उनकी दास्तान सुनिये और देखिये कि आप उनके दिलों में घुस जाते हैं या नहीं, उनके साथ आपका गहरा नाता फौरन जुट जाता है या नहीं यही इसका रहस्य है।

हाँ, तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब किसानों के मध्य से ही एक चन्दन टीका वाले ने उठ के सभा के बाद ही अपनी राम कहानी सुनाई—अपनी यानी किसानों की। तब तक मोटा-मोटी समझा जाता था कि ज्यादातर मजलूम किसान तथाकथित पिछड़ी जातियों के ही होते हैं। कम-से-कम यह खयाल तो था ही कि मैथिल ब्राह्मणों का एकच्छत्र नेता माने जाने वाला महाराजा दरभंगा उन ब्राह्मण किसानों के साथ रिआयत़ तो करता ही होगा—दूसरे किसानों को हाँकने के लिए बनी लाठी से उन्हें भी हाँकता न होगा। नहीं तो सभी मैथिल उसे नेता क्यों मानते? क्या अपने शोषक और शत्रु को कोई अपना मुखिया मानता है?

मगर उस किसान ने कहा कि मैं मैथिल ब्राह्मण हूँ और महाराजा का सताया हूँ मेरे गाँव या देहात में या यों कहिये कि इस मधुबनी के इलाके में बरसात के दिनों में हमारे नाकों दम हो जाती है, हम अशरण हो जाते हैं। यही हालत महाराजा की सारी जमींदारी की है। हमारे यहाँ पानी बहुत बरसता है, नदी-नाले भी बहुत हैं। फलतः सैलाब (बाढ़) का पदार्पण रह-रह के होता रहता है जिससे हमारी फसलें तो चौपट होती ही हैं, हमारे झोंपड़े और मकान भी डूब जाते हैं, पानी के करते गिर जाते हैं। पानी रोकने के लिए जगह-जगह बाँध बने हैं। यदि वे फौरन जगह-जगह काट दिये जायँ तो चटपट पानी निकल जाय और हम, हमारे घर, हमारे पशु, हमारी खेती सभी बच जायँ। मगर हम ऐसा नहीं कर सकते। महाराजा की सख्त मनाही है।

मैंने पूछा, क्यों? उसने उत्तर दिया कि यदि पानी बह जाय तो **मछलियाँ कैसे पैदा होंगी?** वह जमा हो तो पैदा हों। जितना ही ज्यादा दूर तक पानी रहेगा, सो भी देर तक जमा रहेगा, उतनी ही अधिक मछलियाँ होंगी और उतनी ही ज्यादा आमदनी महाराजा को जल-कर से होगी। सिंघाड़े वगैरह से भी आय होगी ही। यह जल-कर उनका कानूनी हक है यदि हम लोग न मानें और जान बचाने के लिए पाटी काट दें तो हम पर आफत आ जाय। हम सैकड़ों तरह के मुकदमों में फँसा के तबाह

कर दिये जायँ। उनके अमलों और नौकरों की गालियों की तो कुछ कहिये मत। उनकी लाल आँखें तो मानो हमें खाई जायँगी।

उसने और भी कहा कि जब यहाँ सर्वे सेट्लमेण्ट हुआ तो हम किसानों को कुछ ज्ञान था नहीं। हम उसका ठीक-ठीक मतलब समझ सकते न थे। बस, हमारी नादानी से फायदा उठा के अपने पैसे और प्रभाव के बल पर महाराजा ने सर्वे के कागजों में यह दर्ज करवा दिया कि जमीनों पर तो किसानों का रैयती हक है। मगर उनमें लगे पेड़ों में जमींदार का हक आधा या नौ आने और हमारा बाकी। नतीजा यह होता है कि अपने ही बाप-दादों के लगाये पेड़ों से न तो एक दतवन और न एक पत्ता तोड़ने का हमें कानूनी हक है। यदि कानून की चले तो हर दतवन और हर पत्ते के तोड़ने की जब-जब जरूरत हो तब-तब हमें उनसे मंजूरी लेनी होगी, जो आसान नहीं। इसमें उनके नौकरों को घूस देने और उनकी पूजा-प्रतिष्ठा करने की बड़ी गुंजाइश है। इसीलिए जब तक वे खुश हैं तब तक तो ठीक। मगर ज्योंही किसी भी वजह से वे जरा भी नाखुश हुए कि हम पर मुकदमों की झड़ लग गयी और हम उजड़े। नहीं तो काफी रुपये-पैसे दे के सुलह करने को विवश हुए। मगर इस तरह भी हमारी जमीनें बिक जाती हैं। क्योंकि हमारे पास पैसे कहाँ? पीछे चल के तो हमें इस बात के हजारों प्रत्यक्ष उदाहरण मिले जिनमें किसान-सभा के कार्यकर्त्ता इसी कारण परेशान किये गये कि उनने क्यों महाराजा की जमींदारी में सभा करने की हिम्मत की।

उसने यह भी कहा, और पीछे तो दरभंगा, पूर्णिया, भागलपुर के किसानों ने खून के आँसुओं से यही बात बताई, कि चाहे हमारे घर में पड़े मुर्दे सड़ जायँ, मगर उन्हें जलाने के लिए लकड़ी तोड़ने या काटने की इजाजत उन पेड़ों से नहीं है जो सर्वे के समय थे। यही नहीं। सर्वे के वक्त के पेड़ चाहे कभी के खत्म क्यों न हों और उनकी जगह नये ही क्यों न लगे हों। फिर भी हम उन्हें काट नहीं सकते बिना महाराजा के हुक्म के। क्योंकि इसका सबूत क्या है कि पुराने पेड़ खत्म हो गये और नये लगे हैं। इसका हिसाब तो सरकार या जमींदार के घर लिखा जाता नहीं और किसानों की बातें कौन माने? वे तो झूठे ठहरे ही। ईमानदारी और सच्चाई तो रुपयों के पास कैद है न? इसीलिए आज कानून के सुधार होने पर भी, जब कि किसानों को अपने लगाये पेड़ों में पूरा हक प्राप्त है, यह दुर्दशा बनी ही रहती है। क्योंकि पुराने पेड़ों में तो बात ज्यों-की-त्यों है।

इस प्रकार एक दर्दनाक नज्जारा एकाएक हमारी आँखों के सामने खड़ा हो गया और हम ठक्क से रह गये। सोचा कि धर्म-कर्म और जाति-पाँति की ठेकेदारी लेने वाले ये जमींदार और राजे-महाराजे, **क्योंकि महाराजा दरभंगा भारत धर्म महामण्डल के सभापति थे,** इन अपने अन्नदाता मनुष्यों को मछलियों से भी गये-बीते मानते हैं। उफ, कितना अनर्थ है और यह कानून है या धोखे की टट्टी या गरीबों के पीसने

की मशीन जाति-सभा और धर्म मण्डलों का रहस्य खुल गया और हमने पहले-पहल उनका नग्न रूप देखा। हमने माना कि जमींदारों और मालदारों का धर्म और भगवान् और कोई नहीं है, सिवाय रुपये और शान के। हमें यह भी पता चल गया कि उनकी बाहरी जाति और धर्म केवल दिखावटी चीजें हैं ताकि लोग आसानी से ठगे जायँ। मगर असली जाति और धर्म कुछ और ही चीजें हैं। हमें यह भी विश्वास हो गया कि किसान-किसान सब एक हैं, जमींदार सबों को एक ही लाठी से हाँकता है, यों कहने के लिए ये ऊँच-नीच जाति के भले ही हों। इसी में उनके उद्धार की आशा की झलक भी हमें साफ मालूम पड़ी।

6

उन्हीं दिनों मधुबनी के निकट ही उससे पच्छिम मच्छी नामक मौजे में एक बार मीटिंग की तैयारी हुई। खूबी तो यह कि दूसरे जिलों के भी कुछ प्रमुख कार्यकर्त्ता और किसान-सभा के पदाधिकारी निमन्त्रित किये गये थे। हमें सार्वजनिक मीटिंग के अलावे किसान-सभा की स्वतन्त्र मीटिंग भी करनी और कई महत्त्वपूर्ण बातों पर विचार करना था। उस मौजे में **बा. चतुरानन दास रहते थे**। अभी दो ही तीन साल हुए कि वे मरे हैं। दरभंगा जिले और मधुबनी इलाके के वे एक बड़े नेता तथा कांग्रेस-कर्मी माने जाते थे। स्वराज्य की लड़ाई के योद्धाओं में उनकी गिनती थी—उस स्वराज्य के योद्धाओं में जिसे **गांधी जी ने दरिद्रनारायण का स्वराज्य कहा था** और जिसकी दुहाई कांग्रेस के सभी बड़े लीडर देते थे, अब भी देते हैं। हमें भी इस बात की खुशी थी कि ऐसे बड़े किसान-सेवक के यहाँ सभा करनी है। हमें यकीन था कि हमें वहाँ पूरी सफलता मिलेगी।

हम लोग मधुबनी से लद-फँद के वहाँ जा धमके। हमारे कुछ साथी तो चतुरानन बाबू के यहाँ ठहरे भी थे। मगर हम तो मधुबनी में ही खा-पी के ठेठ सभा स्थान में पहुँचे थे। हमारे साथ कुछ और भी किसान-सेवक थे। मगर वहाँ जाते ही हमें मालूम हुआ कि मामला बेढब है लक्षणों से झलक रहा था कि हमारी मीटिंग में **महाराजा दरभंगा** की ओर से बाधा डाली जायगी। धीरे-धीरे यहाँ तक पता लग गया कि उनके आदमियों ने तय कर लिया है कि चाहे जैसे हो मीटिंग होने न दी जाय। हम घबराये सही। मगर आखिर मीटिंग तो करनी ही थी। यदि वहाँ से बिना मीटिंग के ही हट जाते तो उन्हें हिम्मत जो हो जाती। फिर तो बिहार प्रान्त के सभी जमींदारों के हौसले बढ़ जाते और हमारा काम ही खत्म हो जाता। इसीलिए हम अपने साथियों के साथ सभा स्थान में डँटे रहे। इस बात की इन्तजार भी हम कर रहे थे कि किसान

आ जायँ तो मीटिंग हो। बा. चतुरानन दास भी न आये थे। उनकी भी प्रतीक्षा थी।

मगर हमें पता लगा कि ज़मींदार ने पूरी बन्दिश की है कि कोई भी मीटिंग में न आये। चारों ओर धमकी के सिवाय तरह-तरह की झूठी अफवाहें फैलाई गयी हैं कि सभा में गोली चलेगी, मार-पीट होगी, गिरफ्तारी होगी। यह भी कहा गया है कि जाने वालों का नाम दर्ज कर लिया जायगा और पीछे उनकी खबर ली जायगी। इसके सिवाय सभा स्थान के चारों ओर कुछ दूर से ही पिकेटिंग हो रही है कि कोई आये तो लौटा दिया जाय। रास्ते में और जगह-जगह पर उनके दलाल बैठे हुए हैं जो लोगों को रोक रहे हैं। सारांश, मीटिंग रोकने का एक भी उपाय छोड़ा नहीं गया है।

हम इन सब बातों के लिए तो तैयार थे ही; आखिर जमींदारों के न सिर्फ स्वार्थ का सवाल था, बल्कि उनकी शान भी मिट्टी में मिल रही थी। आइन्दा उनकी हस्ती भी खतरे में थी ऐसा सोचा जा रहा था। मगर सबसे बड़ी बात यह थी कि **हिन्दुस्थान में सबसे बड़े जमींदार महाराजा दरभंगा की ही जमींदारी में हम जा डटे थे।** महाराजा लाठी मारे काले नाग की तरह फू-फू कर रहे थे। उनकी नाक जो कट रही थी। वे डर रहे थे कि मजलूम इलाका सभा में ऐसा टूट पड़ेगा, जैसा कि पहले की मीटिंगों में उनने देखा था। नतीजा यह होगा कि दुखिया किसानों की आँखें खुल जायँगी। इसलिए अगर जान पर खेल के उनके नौकर-चाकरों और टुकड़खोरों ने हमारी मीटिंग रोकना चाहा तो इसमें आश्चर्य की बात क्या थी? (9-8-41)

उन लोगों ने यह किया सो तो किया ही। मगर खास चतुरानन जी के मकान पर भी चढ़ गये और उन्हें तरह-तरह से धमकाया। आखिर वह भी तो महाराजा की ही जमींदारी में बसते थे। उनके घर घेरा डाले वे सब पड़े रहे। नतीजा यह हुआ कि चतुरानन जी मीटिंग का प्रबन्ध और उसकी सफलता की कोशिश तो क्या करेंगे, खुद मीटिंग में आने की हिम्मत न कर सकते थे। इस प्रकार ज्यादा देर होने पर हम घबराये। जब बार-बार खबर भेजी तो बड़ी मुश्किल से आये। मगर चेहरा फक्क था। सारी आई-बाई हजम थी। जब नेताओं की यह हालत थी तो किसानों का क्या कहना? बड़ी दिक्कत से कुछी लोग आ सके थे।

मगर जमींदार के दलाल और गुण्डे हमारी मीटिंग में भी आ गये और शोरगुल मचाना शुरू कर दिया। कभी 'महाराजा बहादुर की जय' चिल्लाते, तो कभी मुँह बनाते थे। उनकी खुशकिस्मती से हमारी इस मीटिंग के आठ-दस साल पूर्व उस इलाके में और बीहपुर (भागलपुर) में भी तथा और भी एकाध जगह एक हजरत किसान लीडर बन के किसानों को धोखा दे चुके थे। उनका नाम था असल में मुंशी घरभरनप्रसाद। वे निवासी थे सारन जिले के। मगर अपने को प्रसिद्ध किया था उनने स्वामी विद्यानन्द के नाम से। उनने एक तो किसानों को धोखा दे के कौंसिल चुनाव में वोट लिया था। दूसरे उनसे पैसे भी खूब ठगे थे। पीछे तो जमींदारों से भी जगह-जगह

उनने काफी रुपये ले के अपना प्रेस मुजफ्फरपुर में चला लिया। फिर लापता हो गये। पीछे सुना, बम्बई चले गये। एक बार जब पटना शहर (गुलाब बाग) की सभा में उनका दर्शन अकस्मात् मिला था तो सिर पर गुजरातियों की ऊँची टोपी नजर आयी थी।

हाँ, तो महाराजा के आदमियों ने चारों ओर और उस मीटिंग में भी हल्ला किया कि एक स्वामी पहले आये तो हमें महाराजा से लड़ाके खुद उनने रुपये ले लिये। अब ये दूसरे स्वामी वैसे ही आये हैं। यह भी हमारी लड़ाई महाराजा से कराके अपना उल्लू सीधा करेंगे और पीछे हम पिस जायँगे आदि-आदि। मुझसे भी वे लोग कुछ इसी तरह के सवाल करते थे। कहते थे कि हम किसान-सभा नहीं चाहते। आप जाइये, हमें यों ही रहने दीजिये। मीटिंग में जितने श्रोता होंगे उतने ये गुलगपाड़ा मचाने वाले थे। जब हम बोलने उठते तो वे बहुत ज्यादा शोर मचाते। यह पहला नजारा था जो हमें देखने को मिला। मगर हम भी तो वैसे ही हठी निकले। वहाँ से भागने के बजाय जैसे-तैसे मीटिंग करके ही हटना हमने तय किया और यही किया भी। आखिर वे कब तक बोलते रहते?

इस प्रकार हमने सभा तो कर ली। लेकिन हमें बड़ा कटु अनुभव उन नेताओं के बारे में हुआ जो दिल से किसानों के लिए काम न करते हों, जो उन्हीं के लिए मरने-जीने वाले न हों। ऐसे लोग मौके पर टिक नहीं सकते और फिसल जाते हैं। इस बात का ताजा नमूना हमें मच्छी में मिल गया। यह ठीक है कि इस मीटिंग के बाद हमने बाबू चतुरानन दास की आशा छोड़ दी। ऐसे लोग तो बीच में ही नाव को डुबा देते हैं। यह भी ठीक है कि जमींदार के आदमी भी दंग रह गये हमारी मुस्तैदी देख के। उनके भी जोश में कुछ ठण्डक आयी। हालाँकि उसके बाद मधुबनी इलाके की एक मीटिंग में और भी उनकी कोशिश हुई कि वह न हो सके। मगर पहली बात न रही। बहेरा, मधेपुर के इलाकों में भी कई मीटिंगों में उन लोगों ने बाधाएँ डालीं। मगर हम तो आगे बढ़ते ही गये और वे दबते गये। यह सही है कि मच्छी जैसी हालत हमारी मीटिंगों की और कहीं न हुई। (10-8-41)

7

सन् 1939 ई. की बरसात थी। दरभंगा जिले के मधुबनी इलाके में ही सकरी स्टेशन से दो मील के फासले पर सागरपुर मौजे में किसानों का संघर्ष जारी था। दरभंगा महाराज की ही जमींदारी है। सागरपुर के पास में ही पण्डौल में उनका ऑफिस है। वहीं पर हजारों बीघे में ट्रैक्टर की सहायता से उनकी खेती भी होती है। वहाँ चीनी की कई मिले हैं जिनमें महाराजा का भी बड़ा शेयर कुछेक में है। सकरी में ही एक

मिल है। इसलिए हजारों बीघे में ऊख की खेती करने से जमींदार को खूब ही लाभ होता है। दूसरी चीजों की भी खेती होती है। इसीलिए जमींदार की इच्छा होती है कि अच्छी-अच्छी जमीनें किसानों के हाथों से निकल जायँ तो ठीक। लगान दे सकना तो हमेशा मुमकिन नहीं होता। इसीलिए जमीनें नीलाम होई जाती हैं। मगर पहले जमींदार लोग खुद खेती में चसके न थे। इसीलिए घुमा-फिरा के जमीनें फिर किसानों को ही दी जाती थीं। हाँ, चालाकी यह की जाती थी कि जो लगान गल्ले के रूप में या नगद उनसे इन जमीनों की ली जाय उसकी साफ़-साफ़ रसीदें उन्हें न दी जाकर गोल-मोल ही दी जायँ, ताकि मौके पर जमीनों पर किसान दावा करने पर भी सबूत पेश न कर सकें कि वही जोतते हैं। कारण, सबूत होने पर कानून के अनुसार उन पर उनका कायमी रैयती हक (occupancy right) हो जाता है। यही बात सागरपुर की जमीनों के बारे में भी थी।

वहाँ की बकाश्त जमीनों को जोतते तो थे किसान ही। इसीलिए उन पर उनका दावा स्वाभाविक था। कोई भी आदमी जरा सी भी अक्ल रखने पर बता सकता था कि बात यही थी भी। गाँव के तीन तरफ करीब-करीब ओलती के पास तक की जमीनें नीलाम हुई बताई जाती थीं। किसानों के बाहर निकलने का भी रास्ता न था। यदि ज़मीनें उनकी न होतीं तो ओलती कहाँ गिरती? जमींदार अपनी जमीन में ऐसा होने देता थोड़े ही। उनके पशु मवेशी भी आखिर कहाँ जाते? क्या खाते थे। जो ग्वाले लोग पास के टोले में बसे थे उनकी तो झोंपड़ियाँ उन्हीं जमीनों में थीं। भला इससे बड़ा सबूत और क्या चाहिए?

एक बात और थी। महाराजा की खेती ट्रैक्टर से होती है और उसके लिए बड़े-बड़े खेत चाहिए। छोटे-छोटे खेतों में उसका चलना असम्भव है। मगर कोई भी देखने वाला बता सकता था कि अभी तक छोटे-छोटे खेत साफ नजर आ रहे थे। खेतों के बीच की सीमाएँ (मेंड़ें) साफ-साफ नजर आती थीं। बेशक, उन सीमाओं के मिटाने की कोशिश जमींदार ने जबर्दस्ती की थी और सभी खेतों पर ट्रैक्टर चलवा के उन्हें एक करना चाहा था। मगर हमने खुद जाके देखा कि खेत अलग-अलग साफ ही नजर आ रहे थे। असल में एकाध बार के जोतने से ही वे सीमाएँ मिट सकती नहीं हैं। कम-से-कम दस-पाँच बार जोतिये तो मिटेंगी। मगर यहाँ तो कहने के लिए एक बार ट्रैक्टर घुमा दिया गया था। फिर भी इतने से आँख में धूल झोंकी जा सकती न थी।

हाँ, तो सागरपुर में बकाश्त संघर्ष के इस सिलसिले में मुझे दो बार जाना पड़ा था। दोनों बार ऐसी जबर्दस्त मीटिंगें हुईं कि जमींदार के दाँत खट्टे हो गये। एक बार तो भरी सभा में ही जमींदार के आदमी कुछ गड़बड़ी करना चाहते थे। उनने कुछ गुल-गपाड़ा करने या सवाल-जवाब करने की कोशिश की भी। हिम्मत तो भला देखिये कि दस-बीस हजार किसानों के बीच में खड़े होकर कुछ आदमी

शोरगुल करें। जोश इतना था कि किसान उन्हें चटनी बना डालते। मगर इसमें तो हमारी ही हानि थी। शत्रु लोग तो मार-पीट चाहते ही थे। उससे उनने दो लाभ सोचा था। एक तो मीटिंग खत्म हो जाती। दूसरे झूठ-सच मुकद्दमों में फँसा के सभी प्रमुख लोगों को परेशान करते। इसलिए हमने यह बात होने न दी और किसानों को शान्त रखा। अन्त में हार के वे लोग चलते बने जब समूह का रुख बुरा देखा। मीटिंग में मौजूद पुलिस तथा दूसरे सरकारी अफ़सरों से भी हमने कहा कि आखिर दस-बीस ही लोग ऊधम करें और आप लोग चुप्प रहें यह क्या बात है? इस पर उन लोगों ने भी उन्हें डाँटा। अब वे लोग करते क्या? मजबूर थे।

मगर दूसरी बार तो उन लोगों ने दूसरा ही रास्ता अख्तियार किया। इस बार पहले ही से सजग थे। ज्योंही हम स्टेशन से उतरे और हमारी सवारी आगे बढ़ी कि एक बड़ा सा दल टुकड़खोरों का बाहर आया। सकरी में ही पुलिस का एक दल पड़ा था। बकाश्त की लड़ाई में धर-पकड़ करने के लिए उसकी तैनाती थी। हम जब सकरी से बाहर डाक बँगले से आगे बढ़े कि शोरगुल मचाने वाले बाहर आ गये। जानें क्या-क्या बकने लगे। 'महाराजा बहादुर की जय', 'किसान-सभा की क्षय', 'स्वामी जी लौट जाइये, हम आपके धोखे में न पड़ेंगे', 'झगड़ा लगाने वालों से सावधान' आदि पुकारें वे लोग मचाते थे। मजा तो तब आया जब हम आगे बढ़े और हमारे पीछे वे लोग दौड़ते जाते और चिल्लाते भी रहते। अजीब सभा थी। वह तमाशा देखने ही लायक था। वैसी बात हमें और कहीं देखने को न मिली। उनने लगातार हमारा पीछा किया। यहाँ तक कि गाँव के किनारे तक आ गये। मगर जब हम गाँव के भीतर चले तो वे लोग दूसरी ओर मुड़ गये। पता चला कि पास में हीं जो महाराजा की कचहरी है वहीं चले गये इस बात का प्रमाण देने कि उनने खूब ही पीछा किया, गाँव तक न छोड़ा। इसलिए उन्हें पूरा मिहनताना मिल जाना चाहिए। जमींदार की खैरखाही जो जरूरी थी ही। हमने यह भी देखा कि कुत्तों की तरह भौंकने और हमारा पीछा करने वालों में टीका-चन्दनधारी ब्राह्मण काफी थे।

हमें हँसी आती थी और उनकी इस नादानी पर तरस भी होता था। मधुबनी वाले उस ब्राह्मण किसान के शब्द हमारे कानों में रह-रह के गूँजते थे। हम सोचते कि आखिर यह भी उसी तरह के गरीब और मजलूम हैं। मगर फर्क यही है कि चाहे उसकी जमीन वगैरह भले ही बिकी हो, मगर आत्मा और इज्जत न बिकी थी। उसने अपना आत्मसम्मान बचा रखा था। मगर इनने तो अपना सब कुछ जमींदार के टुकड़ों पर ही बेच दिया है। इसीलिए जहाँ इनसे कोई आशा नहीं, तहाँ उससे और उसके जैसों से हमें किसानों के उद्धार की आशा है।

हम यह कहना भूली गये कि सागरपुर में उस समय दरभंगा जिला-किसान कॉन्फ्रेंस थी। इसलिए किसानों के सिवाय जिले भर के कार्यकर्त्ताओं का भी काफी जमाव था। प्रस्ताव तो अनेक पास हुए। स्पीचें भी गर्मागर्म हुईं। यों तो मैं खुद काफी

गर्म माना जाता हूँ और मेरी स्पीचें बहुत ही सख्त समझी जाती हैं। मगर जब वहाँ मैंने दो-एक जवाबदेह किसान-सभावादियों की तकरीरें सुनीं तो दंग रह गया। मालूम होता था, उनके हाथ में सभी किसान और सारी शक्तियाँ मौजूद हैं। फलतः वे जोई चाहेंगे कर डालेंगे। इसीलिए महाराजा दरभंगा को रह-रहके ललकारते जाते थे। मानो वह कच्चे धागे हों कि एक झकोरे में ही खत्म हो जायँगे। दस-बारह साल तक काम कर चुकने के बाद जब कि किसान आन्दोलन किसान संघर्ष में जुटा हो, ठीक उसी समय ऐसी गैरजवाबदेही की बातें सुनने को मैं तैयार न था। फलतः अपने भाषण में मैंने इसके लिए फटकार सुना दी और साफ कह दिया कि दरभंगा महाराज ऐसे कमजोर नहीं हैं जैसा आपने समझ लिया है।

मेरे इस कथन पर जब जमींदारों के अखबार 'इण्डियन नेशन' में टीका-टिप्पणी निकली तो मुझे और भी हैरत हुई और हँसी आयी, लिखा गया कि स्वामी जी डर गये हैं। सच्ची बात तो यह है कि जमींदार इतने नादान हैं कि मेरी बात का मतलब न समझ सकेंगे, इसके लिए मैं तैयार न था। किस आधार पर मुझे डरा हुआ माना गया मैं आज तक समझ न सका।

8

सन् 1936 ई. की गर्मियों की बात थी। लखनऊ कांग्रेस से लौटकर मैं मुंगेर जिले के सिमरी बखतियारपुर में मीटिंग करने गया। उसके पहले एक बार भूकम्प के बाद वहाँ गया था। सैलाब बड़े ज़ोरों का था। वहाँ तो बाढ़ आती है कोशी की कृपा से और यह नदी ऐसी भयंकर है कि जून में ही तूफान मचाती है। उसने उस इलाके को उजाड़ बना दिया है। पहली यात्रा में बाढ़ का प्रकोप और लोगों की भयंकर दरिद्रता देख के मैं दंग था। मेरा दिल रोया। मेरे कलेजे में वह बात धँस गयी। वहाँ के लोगों और कार्यकर्त्ताओं से जो कुछ मैंने सुना उससे तय कर लिया कि दूसरी बार इस इलाके में घूमना होगा। तभी अपनी आँखों असली हालत देख सकूँगा।

इसीलिए बरसात आने के बहुत पहले सन् 1936 ई. की मई में ही, जहाँ तक याद है, मैं वहाँ गया। इस बार खास बखतियारपुर के अलावे धेनुपुरा, केबरा आदि में भी मीटिंगों का प्रबन्ध था। मगर आसानी से उन जगहों में पहुँच न सकते थे। कड़ाके की गर्मी पड़ रही थी और सभी जगह पानी की पुकार थी। मगर उस इलाके में बिना नाव के घूमना असम्भव था। कोसी माई की कृपा से सारी जमीनें पानी के भीतर चली गयी हैं। जिधर देखिये उधर ही सिर्फ जल नजर आता था। समुद्र में बने टापुओं की ही तरह गाँव नजर आते थे। गाँव के किनारे थोड़ी-बहुत जमीन

नजर आती थी, जहाँ थोड़ी सी खेती हो सकती थी। बाकी तो निरा जल ही था। लोग मछलियों और जल-जन्तुओं को खा के ही ज्यादातर गुजर करते हैं। अन्न तो उन्हें नाममात्र को ही कभी-कभी मिल जाता है, सो भी केवल कदन्न, जिसे जमींदारों के कुत्ते सूँघना भी पसन्द न करेंगे, खाना तो दूर रहा। उस इलाके में कुछी दूर बैलगाड़ी पर चल के बाकी सर्वत्र केवल नाव पर या पैदल ही यात्रा करनी पड़ी जहाँ पानी न था वहाँ घुटने तक कीचड़ होने के कारण बैलगाड़ी का चलना भी तो असम्भव था।

हाँ, यह कहना तो भूली गये कि उस इलाके के सबसे बड़े और चलते-पुर्जे जमींदार हैं **बखतियारपुर के चौधरी साहब**। उनका पूरा नाम है **चौधरी मुहम्मद नजीरुलहसन मुतवली**। वहाँ एक दरगाह है बहुत ही प्रसिद्ध और उसी के मुताल्लिक एक खासी जमींदारी है जिसकी आमदनी कुल मिला के उस समय सत्तर अस्सी हजार बताई जाती थी। चौधरी साहब उसी के मुतवली या अधिकारी हैं। इस प्रकार मुसलमानों की धार्मिक सम्पत्ति के ही वह मालिक हैं और उसी का उपभोग करते हैं। बड़े ठाटबाट वाले शानदार महल बने हैं। हाथी, घोड़े, मोटर वगैरह सभी सवारियाँ हैं। शिकार खेलने में आप बड़े ही कामिल हैं, यहाँ तक कि गरीब किसानों की इज्जत जान और माल का भी शिकार खेलने में उन्हें जरा भी हिचक नहीं, बशर्त्ते कि उसका मौका मिले। और जालिम जमींदारों को तो ऐसे मौके मिलते ही रहते हैं। उन जैसे जालिम जमींदार मैंने बहुत ही कम पाये हैं, यों तो बिना जुल्म ज्यादती के जमींदारी टिकी नहीं सकती। मेरी तो धारणा है कि किसानों और किसान-हितैषियों को, किसान-सेवकों को मिट्टी के बने जमींदार के पुतले से भी सजग रहना चाहिए। वह भी कम खतरनाक नहीं होता। और नहीं, तो यदि कहीं देह पर गिर जाये तो हाथ-पाँव तोड़ ही देगा।

चौधरी की जमींदारी में मैं बहुत घूमा हूँ। किसानों के झोंपड़े-झोंपड़े में जाके मैंने उनकी विपदा आँखों देखी है और एकान्त में उनके भीषण दुख-दर्द की कहानियाँ सुनी हैं। दिल दहलाने वाली घटनाओं को सुनते-सुनते मेरा खून खौल उठा है। जमींदार ने किसानों को दबाने के लिए सैकड़ों तरीके निकाल रखे हैं। कूटनीति के तो वे हजरत गोया अवतार ही ठहरे। भेदनीति से खूब ही काम लेते हैं। सैकड़ों क्या हजारों तो उनके दलाल हैं जो खुफिया का भी काम करते हैं। किसान उनके मारे तो हईं। वे चुपके से क्या बातें करते हैं इसका भी पता बराबर लगाया जाता है। हमारे पीछे भी उनके गुप्तचर काफी लगे थे। इसलिए हमें सतर्क होके बहुत ही एकान्त में बातें करने और उनकी हालत जानने की जरूरत हुई। फिर भी गरीब और मजलूम किसान इतने भयभीत थे कि गोया हवा से भी डरते थे। किसी में भी हिम्मत रही नहीं गयी है। जरा भी शिकायत की कि न जाने कौन सी भारी बला कब सिर पर आ धमकेगी और चौधरी की जाल में फँस के मरना होगा, सो भी घुल घुल के।

जिन किसानों के झोंपड़े भी उजड़े हैं और जिनसे वृष्टि तथा धूप छन-छन

के भीतर आती है, जिनके तन पर वस्त्र तक नदारद, जिनने अपनी लज्जा बचाने का काम हजार टुकड़ों से बने चिथड़ों से ले रखा है, जिन्हें अन्न शायद ही छठे-छमास मयस्सर होता हो प्रायः उन्हीं से साल में पूरे अस्सी हजार रुपये की वसूली मामूली बात नहीं है। बालू से तेल और पत्थर से दूध निकालना भी इसकी अपेक्षा आसान बात है। किन-किन उपायों और तरीकों से ये रुपये वसूल होते हैं यदि इसका ब्योरा लिखा जाय तो पोथा तैयार हो जायगा। इसलिए नमूने के तौर पर ही कुछ बातें लिखी जाती हैं।

उसी इलाके में मुझे पहले-पहल पता चला कि पहले चौधरी की जमींदारी में चार चीजों की **'मोनोपली' (monopaly) थी**। यानी चार चीजों पर उनका सर्वाधिकार था और उनकी मर्जी के खिलाफ ये चीजें बिक न सकती थीं। **नमक, किरासन तेल, नया चमड़ा और सुँगठी मछली यही हैं** वे चार चीजें। इनमें सिर्फ नमक की मोनोपली मेरे जाने के समय उठ चुकी थी। बाकी तीन तो थीं ही, जो मेरे आन्दोलन के करते खत्म हुईं। अपनी लम्बी जमींदारी के भीतर उनने सबों को यह कह रखा था कि बिना उनकी मर्जी के कोई आदमी नमक, किरासन इन दो चीजों की बिक्री कर नहीं सकता। फलतः किसी को हिम्मत न थी। और जमींदार साहब किन्हीं एक-दो मोटे असामियों से दो-चार हजार रुपये ले के उन्हीं को बेचने का हक देते थे। नतीजा यह होता था कि वे ठेकेदार ये दोनों चीजें और जगहों की अपेक्षा महँगी बेचते थे। क्योंकि ठेके वाला पैसा तो वसूल कर लेते ही थे एकाधिकार होने से दाम और भी चढ़ा देते थे। मैंने पूछा तो पता चला कि जो किरासन तेल और जगह पाँच पैसे में मिलता है वही उस जमींदारी में सात-आठ पैसे में। उफ्, यह लूट!

अगर कोई आदमी बाहर से यह तेल लाये तो उसकी सख्त सजा होती और जाने उसे क्या-क्या दण्ड देने पड़ते थे। इसीलिए तो इस बात का पहरा दिया जाता था कि कोई बाहर से ला न सके। दो-चार को सख्त दण्ड देने पड़े तो उसका भी नतीजा कुछ ऐसा होता है कि दूसरों की भी हिम्मत जाती रहती है। यह गैरकानूनी काम सरेआम चलता था। यह भी नहीं कि पुलिस दूर हो। वहीं थाना भी तो है। फिर भी इस सीनाजोरी का पता चलता न था। चले भी क्यों? आखिर किसी को गर्ज भी तो हो। किसानों को या गरीबों को गर्ज जरूर थी। मगर उनकी कौन सुने? धनी लोग तो बाहर से ही टिन मँगा लेते थे। और वहाँ धनी हैं भी तो इने-गिने ही। बनिये वगैरह तो डर के मारे चूँ भी नहीं करते थे। चौधरी के रैयत चाहे धनी हों या गरीब उनकी आज्ञा के विरुद्ध जाते तो कैसे? मगर सरकार को इस धाँधली का पता क्यों न चला जब तक मैं वहाँ न गया, यह ताज्जुब की बात जरूर है।

नमक की बिक्री पर भी पहले चौधरी का एकाधिकार जरूर था। लेकिन सन् 1930 ई. वाले नमक सत्याग्रह के चलते वह जाता रहा। जब लोग सरकार की भी बात सुनने को तैयार न थे और कानून की धज्जियाँ उड़ा रहे थे तो फिर एक जमींदार

की परवाह कौन करता? और अगर कहीं जमींदार साहब इस मामले में टाँग अड़ाते तो उस समय का वायु-मण्डल ही ऐसा था कि उन्हें लेने के देने पड़ते। क्योंकि गैरकानूनी हरकत का भण्डाफोड़ जो हो जाता। फलतः न सिर्फ नमकवाला उनका एकाधिकार चला जाता, बल्कि किरासन वगैरह के भी मिट जाते। इसीलिए उनने चालाकी की और चुप्पी मार ली। लोग भी नमक की खरीद-बिक्री की स्वतन्त्रता से ही सन्तुष्ट होके आगे न बढ़े। इसीलिए उनकी काली करतूतों का पता बाहरी दुनिया को न चल सका और बाकी चीजों पर उनका एकाधिकार बना ही रह गया।

सुँगठी मछली की भी कुछ ऐसी ही बात है। मैं तो उसके बारे में खुद कुछ जानता नहीं कि वह कैसी चीज है। मगर लोगों ने बताया कि वह कोई उमदा मछली है जिसे खाने वाले बहुत चाव से खाते हैं। इसीलिए बाजार में उसकी बिक्री बहुत होती है। वह तो पानी वाला इलाका है। इसलिए वहाँ मछलियाँ बहुत होती हैं। सुखाकर दूर-दूर जगहों में उनकी चालान भी जाती है। इसीलिए पकड़ने वालों को तो फायदा होता ही है, जमींदार को भी खूब नफा मिलता है। उसकी आमदनी बढ़ती है। मछली वगैरह की आय को ही जल-कर कहते हैं। अब सभी लोग या जोई चाहे वही उन मछलियों को पकड़ नहीं सकता तो खामख्वाह ठीका लेने वालों में आपस में चढ़ाबढ़ी होगी ही। इसी से जमींदार फायदा उठाता है। और इने-गिने लोगों को ही मछलियों का ठेका देके साल में न जाने कितने हजार रुपये बना लेता है। दूसरी मछलियों की उतनी पूछ न होने से उन पर रोक-टोक नहीं है। फलतः जोई पकड़ेगा वही जल-कर देगा।

जल-कर का भी एक बँधाबँधाया नियम होता है। उस जमींदारी में और उसी प्रकार महाराजा दरभंगा से लेकर दूसरे जमींदारों की जमींदारियों में इस जल-कर के बारे में ऐसा अन्धेरखाता है कि कुछ कहिये मत। खासकर कोशी नदी जहाँ-जहाँ बहती है वहीं यह बात ज्यादातर पायी जाती है। वह यह कि जमीन में तो नदी बह रही है और फसल होती ही नहीं। फिर भी लगान तो किसान को देना ही पड़ता है। कानून जो ठहरा। मगर पानी में मछली वग़ैरह के लिए जल-कर अलग ही देना पड़ता है। एक ही जमीन पर दो टैक्स, दो लगान। जल-कर तो उस जमीन में जमा पानी पर होना चाहिए जिसमें कभी खेती नहीं होती। मगर यहाँ तो उलटी गंगा बहती है। इसीलिए चौधरी अपनी जमींदारी में यही करते हैं।

अब रही आखिरी बात जो नये चमड़े के एकाधिकार की है। बात यों होती है कि देहातों में जब पशु मरते हैं तो आमतौर से मुर्दार मांस खाने वाले लोग उन्हें उठा ले जाते और उनका चमड़ा निकाल के बेच देते हैं। पशु वालों को ज्यादे से ज्यादा एकाध जोड़े जूते दे दिया करते हैं या कहीं-कहीं बँधे-बँधाये दो-चार आने पैसे। यही तरीका सर्वत्र चालू है। बचपन से ही मेरा ऐसा अनुभव है। मगर उत्तरी बिहार के पूर्वी जिलों में कुछ उलटी बात पायी जाती है। चौधरी के सिवाय महाराजा

दरभंगा की जमींदारी में पूर्णियाँ आदि में भी मुझे पता चला है कि बड़े जमींदार इन चमड़ों का एक खासतौर का बन्दोबस्त करते हैं। जिसे 'चरसा महाल' कहा जाता है। उससे होने वाली आमदनी को चरसा महाल की आमदनी कहते हैं। तरीका यह होता है कि पशुओं से चमड़े निकालने के बाद निकालने वाला चाहे जिसी के हाथ बेच नहीं सकता। किन्तु जमींदार को साल में हजारों रुपये दे के इन चमड़ों की खरीद के ठेकेदार हर इलाके में एक, दो, चार मुकर्रर होते हैं और वही ये चमड़े खरीद सकते हैं। अगर दूसरे लोग खरीदें या दूसरों के यहाँ चमड़े वाले बेच दें तो दण्ड के भागी बन जाते हैं। इस प्रकार खरीददार लोग रुपये-दो रुपये के चमड़े को भी दोई-चार आने में पा जाते हैं। बेचने वाले को तो गर्ज होती ही है और दूसरा खरीदार न होने पर गर्ज का बावला जोई मिले उसी दाम पर बेचता है। इस प्रकार हजारों गरीबों को लूट कर चन्द ठेकेदार और जमींदार अपनी जेबें गर्म करते हैं। यही तरीका चौधरी की जमींदारी में भी था।

इस चरसा महाल के खिलाफ हमारा आन्दोलन सभी जमींदारियों में हुआ। मगर चौधरी की जमींदारी में हमारे तीन-चार दौरे हुए और बहुत ज्यादे मीटिंगें हुईं। वहाँ किरासन तेल और सुँगठी मछली वाला सवाल भी था। इसलिए वहाँ का आन्दोलन बहुत ही जोरदार हुआ। लोग दबे भी थे सबसे ज्यादा। हमने वैसा या उससे भी दबा इलाका बिहार में एक ही और पाया है। वह है महाराजा दरभंगा की ही जमींदारी में दरभंगा जिले के ही पण्डरी परगने का इलाका। वह भी इसी प्रकार बारह महीने पानी में डूबा रहता है और प्रायः तथाकथित छोटी जाति के ही लोग वहाँ बसते हैं। इसीलिए चौधरी की जमींदारी की ही तरह हमारे आन्दोलन की गति वहाँ भी खूब तेज थी। दो-तीन बार हम खुद गये। नतीजा हुआ कि वहाँ के गरीब भी उठ खड़े हुए। यही हालत बखतियारपुर की जमींदारी में भी हुई और हमें पता लगा कि किरासन तेल आदि सभी चीजों का एकाधिकार खत्म हो गया।

चौधरी की तेजी ऐसी थी कि वह हमारा वहाँ जाना बर्दाश्त कर नहीं सकता था। सभा के लिए कोई जगह हमें न मिले और न ठहरने ही के लिए यह भी उसने किया। कार्यकर्त्ताओं ने जो आश्रम बनाया था उसे भी तोड़ डालने की भरपूर कोशिश उसने की। मगर इन कोशिशों में वह सदा विफल रहा। हमें भी वहाँ जाने की एक प्रकार की जिद हो गयी। एक बार तो सलखुवा गाँव में हमारी मीटिंग होने को थी। मगर उसने कोशिश करके नाहक हम पर 144 की नोटिस ऐन मौके पर करवा दी। फिर भी मीटिंग तो हुई ही। उसके पेट में हमारे नाम से गोया ऊँट कूदने लगता था। हिन्दू-मुसलिम प्रश्न को भी अपने फायदे के लिए उठाता था, मगर मुसलमानों का दबाने के ही समय। वह चाहता था कि हिन्दू उनकी मदद न करें। पर हमने हिन्दुओं को सजग कर दिया कि ऐसी भूल वे लोग न करें।

9

सन् 1936 ई. की बरसात के, जहाँ तक याद है, भादों का महीना था। मगर वृष्टि अच्छी नहीं हुई थी और दिन में धूपछाँहीं होती थी—बादल के टुकड़े आसमान में पड़े रहते थे। फिर भी धूप ऐसी तेज होती थी कि शरीर का चमड़ा जलने सा लगता था। यों तो बरसात की धूप खुद काफी तेज होती है। मगर भादों में उसकी तेजी और भी बढ़ जाती है। खासकर वर्षा की कमी के समय वह देह को झुलसाने लगती है। ठीक उसी समय **सारन (छपरा) जिले के अर्कपुर मौजे में** किसानों की एक जबर्दस्त मीटिंग की आयोजना हुई थी। तारीख तो याद नहीं। मगर दैवसंयोग से वह ऐसी पड़ी कि उसी दिन मीटिंग करके रात में सवा दस बजे की ट्रेन पकड़ कर बिहटा के लिए रवाना हो जाना जरूरी था। असल में अगले दिन बिहटा आश्रम में एक सज्जन किसानों के सवाल को लेकर ही आने और बातें करने वाले थे। यह बात पहले से ही तय थी। खास उनकी ही जमींदारी का सवाल था। जमींदारी तो कोई बड़ी न थी। मगर थे वह सज्जन हमारे पुराने परिचित। डेहरी के नजदीक दरिहट मौजा उनका ही है। वहीं किसानों का आन्दोलन तेज हो गया था। उसमें मुझे भी कई बार जाना पड़ा था। किसानों के प्रश्न के सामने परिचित या अपरिचित जमींदार की बात ही मेरे मन में उठ सकती न थी। उन्हें शायद विश्वास रहा हो। इसीलिए उनने दूसरों के द्वारा मुझे उलाहना भी दिया था। पर मुझे उसकी परवाह क्यों होने लगी? मैं तो अपना काम कर रहा था। ताहम जब उनने उसी के बारे में मेरे पास खुद आ के बातें करनी चाहीं तो मैंने खुशी-खुशी उसकी तारीख तय कर दी।

यह अर्कपुर गाँव बंगालनार्थ वेस्टर्न रेलवे (ओ. टी. रेलवे) के भाटापोखर स्टेशन से 9 मील दक्षिण पड़ता है। **बाबू राजेन्द्र प्रसाद की जन्मभूमि जीरादेई** के पास से ही एक सड़क अर्कपुर चली जाती है। वहाँ जाने के लिए सवेरे की ही ट्रेन से मैं पहुँचा था। मेरे साथ एक आदमी और था। छपरे से **श्री लक्ष्मीनारायण सिंह** कांग्रेस कर्मी के सिवाय दो और वकील सज्जन थे जिनका घर उसी इलाके में पड़ता है। भाटापोखर स्टेशन से करीब एक मील दक्षिण-पच्छिम बाजार में ही हमारे ठहरने और खाने-पीने का प्रबन्ध था। हम लोग वहीं गये, स्नान भी किया, भोजन किया और दोपहर के पहले ही अर्कपुर के लिए चल पड़े। हाथी की सवारी थी। मैं तो इसे पसन्द नहीं करता। मगर किसानों की सभा ही तो थी। अगर उसमें जाने के लिए सवारी मिली तो यही क्या कम गनीमत की बात थी? न जाने कितनी सभाओं में मुझे दूर-दूर तक पैदल ही जाना पड़ा है, ताकि मीटिंग ठीक वक्त पर हो—उसमें गड़बड़ी न हो। यदि किसी धनी महाशय की मिहरबानी से हाथी ही मिला तो नापसन्दी का सवाल ही कहाँ था? इसलिए सबों के साथ मैं भी उसी पर बैठ के चल पड़ा। मगर रास्ते की धूप ने हमें जला दिया। बड़ी दिक्कत से दोपहर के लगभग अर्कपुर पहुँच सके।

मैंने रास्ते में ही तय कर लिया था कि लौटने के समय पैदल ही आऊँगा। सवेरे ही रवाना हो जाऊँगा। रास्ते में तो कोई गड़बड़ी होगी नहीं। वह तो देखा ठहरा ही। लालटेन साथ रहेगी। ताकि अँधेरा हो जाने पर भी दिक्कत न हो। इसीलिए सभी लोग अपना कपड़ा-लत्ता वग़ैरह सामान स्टेशन के पास उसी बाजार में ही रख आये थे, ताकि लौटने में आसानी हो।

सभा तो वहाँ हुई और अच्छी हुई। लोग पीड़ित जो बहुत हैं। सरयूमाई निकट में ही दर्शन देती हैं। बरसात में उनकी बाढ़ से सारा इलाका जलमय होता है, फसल मारी जाती है, घर-बार चौपट हो जाते हैं और किसानों में हाहाकार मच जाता है। फिर भी ज़मींदार लोग अपनी वसूलियाँ सख्ती के साथ करते ही जाते हैं। मेरे जाने से शायद किसानों को कुछ राहत मिले और उनकी आह बाहरी दुनिया को सुनाई पड़े इसीलिए मैं बुलाया गया था। ऐसी दशा में सभा की सफलता तो होनी ही थी। उसे रोक कौन सकता था? वहाँ के जमींदार महाराजा दरभंगा या चौधरी बखतियारपुर जैसे शानियल और हिम्मतवर भी न थे कि कोई खास बाधा डालते।

सभा के समय खास जिले के उस इलाके के कई कांग्रेस कर्मी और भी आ गये थे और उन्हीं में थे चैनपुर के एक युवक जमींदार साहब भी, वह थे तो मेरे परिचित। उनके चचा वगैरह से मेरी पुरानी मुलाकात थी। मगर मैं तो चिंहुँका कि यह क्या? किसानों की सभा में बड़े-बड़े जमींदारों के पदार्पण का क्या अर्थ है? लोगों ने कहा कि ये तो कांग्रेसी हैं। कांग्रेस में तो सबों की गुंजाइश हुई उसी नाते यहाँ भी आ गये हैं। मैंने बात तो सुन ली। मगर मेरे दिल, दिमाग में किसान-सभा का कांग्रेस से यह नाता कुछ समा न सका। मेरी आँखों के सामने उस समय भारतीय भावी स्वराज्य की एक झलक सी आ गयी। मुझे मालूम पड़ा कि इन जमींदारों का भी तो आखिर वही स्वराज्य होगा। इनके लिए वह कोई और तो होगा नहीं। फिर वही स्वराज्य किसानों का भी कैसे होगा यह अज़ीब बात है। बाघ और बकरी का एक ही स्वराज्य हो तो यह नायाब बात और अघटित घटना होगी। लेकिन मेरे भीतर के इस उथल-पुथल और महाभारत को वे लोग क्या समझें? फिर मैं अपने काम में लग गया और यह बात तो भूली गया। उस युवक जमींदार के पास एक बहुत अच्छी और नयी मोटर भी थी जिस पर चढ़ के वे आये थे।

सभा का काम पूरा होने पर जब हमने दो घण्टा दिन रहते ही रवाना होने की बात कही तो वहाँ के कांग्रेसी दोस्त पहले तो अब चलते हैं, तब चलते हैं करते रहे। पीछे उनने कहा कि अभी काफी समय है। जरा ठहर के चलेंगे। असल में वे लोग पैदल नौ मील चलने को तैयार न थे। ठीक ही था। मेरी और उनकी किसान-सभा एक तो थी नहीं। उन्हें तो स्वराज्य की फिक्र ज्यादा थी—गोल-मोल स्वराज्य की, जिसमें किसानों का स्थान क्या होगा इस बात का अब तक पता ही नहीं। उसी स्वराज्य की लड़ाई में किसानों को साथ लेने के ही लिए वे लोग आये थे। साथ

ही, उन लोगों का स्वराज्य तो फौरन ही असेम्बली, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदि की मेम्बरी वग़ैरह के रूप में आने वाला था जिसमें किसानों की मदद निहायत जरूरी थी। उसके बिना उन्हें यह स्वराज्य मिल सकता था नहीं। यही तो ठोस बात थी जिसे वे लोग खूब समझते थे। मोटर वाले बाबू साहब की भी कांग्रेस भक्ति का पता मुझे पूरा-पूरा तब लगा जब मैंने उन्हें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के लिए कांग्रेसी उम्मीदवार एक मुसलमान सज्जन के खिलाफ महावीरी झण्डा वाली मोटर में बैठ के बुरी तरह परेशान देखा!

अन्त में जब ज्यादा देर हो गयी और मैं घबराया तो उन लोगों ने कहा कि बाबू साहब की मोटर हमने मँगनी कर ली है, आपको उसी से पहुँचा देंगे। इस पर मैं चौंक के बोला कि मैं एक जमींदार की मोटर में चलूँ और फिर भी किसान-सभा करने वाला बनूँ? यह नहीं होने का। इस पर वे लोग थोड़ी देर चुप रहे। मैं भी परेशान था। आखिर इन्तजाम उन्हें ही करना था। अब देर भी हो चुकी थी। लालटेन बिना चलना गैरमुमकिन था और मेरे पास खुद लालटेन थी नहीं। नहीं तो भाग निकलता। जब फिर मैंने सवाल उठाया तो उनने वही मोटर वाली बात पुनरपि उठाई और बोले कि यह तो हमारा इन्तजाम है। इसमें आपका क्या है? आपने तो मोटर माँगी है नहीं। मैंने उन्हें इसका उत्तर दिया सही। मगर वे तो तुले थे और मैं अब लाचार था। कुछ दिन रहते यदि यह बात उठती तो मैं अकेला ही भाग जाता। पर, तब तो शाम हो रही थी। वे लोग भी मेरे स्वभाव से परिचित थे। इसीलिए पहले तो मोटर का सवाल उनने उठाया नहीं, और पीछे जब देखा कि अब मैं अकेला भाग नहीं सकता, तो उस सवाल पर डट गये। मैंने भी अन्त में कमजोरी दिखाई और मोटर से ही जाने की बात ठहरी!

रात के आठ बजे हम सबों को लेके मोटर चली। बाबू साहब ही उसे चला रहे थे। मालूम हुआ, नजदीक में ही उनकी ससुराल है। उन्हें वहीं उतार के मोटर हमें स्टेशन ले जायगी। मोटर में चलने के कारण ही हमने लालटेन साथ में ली ही नहीं। खैर, मोटर उनकी ससुराल में पहुँची। वे उतर गये। ड्राइवर आगे बैठा। उनने ताकीद कर दी कि खूब आराम से ले जाना। रास्ते में गड़बड़ी न हो। बस, वह स्टेशन की ओर चल पड़ी। मगर रास्ता वह न था जिससे हम दिन में आये थे। किन्तु सोलहों आने नयी सड़क थी। रात के साढ़े आठ बज रहे थे। हमें पता नहीं किधर जा रहे थे। एकाएक कीचड़ में मोटर फँसी। वर्षा के दिन तो थे ही। सड़क भी कच्ची थी। ड्राइवर ने जोर मारा। मगर नतीजा कुछ नहीं। बहुत देर तक मोटर की कुश्ती उस कीचड़ से होती रही। हम घबरा रहे थे। धीरे-धीरे निराशा बढ़ रही थी। हमें शक भी हो रहा था कि ड्राइवर रात में जाना नहीं चाहता है। इसीलिए ईमानदारी से काम नहीं कर रहा है। मगर करते क्या? बोलते तो बात और भी बिगड़ती। वह इनकार कर देता तो स्टेशन पहुँचना असम्भव था। आखिर जब घड़ी में हमने साढ़े आठ देखा तो मोटर से निराश हो के पैदल चलने की सोचने लगे।

परन्तु एक तो भादों की अँधेरी रात, दूसरे रास्ता बिलकुल ही अनजान, तीसरे साथ में लालटेन भी नहीं! मोटर के खयाल से हमने लालटेन की जरूरत न समझी और अब "चौबे गये छब्बे बनने, दूबे बन के लौटे" वाली बात हो गयी! फिर भी मुझे तो चाहे जैसे हो स्टेशन पहुँचना ही था। अगले दिन का प्रोग्राम जो था। आज तक मैंने ऐसा कभी होने न दिया कि मेरा निश्चित प्रोग्राम फेल हो जाय। मैंने हमेशा अपने कार्यकर्त्ताओं से कहा है कि यकीन रखें, मेरा प्रोग्राम फेल हो नहीं सकता। या तो मैं पहले ही खबर दे दूँगा कि किसी कारण से आ नहीं सकता; ताकि समय रहते लोग सजग हो जायँ। नहीं तो मैं खुद ही पहुँच जाऊँगा। और अगर ये दोनों बातें न तो सकीं तो मेरी लाश ही वहाँ जरूर पहुँचेगी! इसका नतीजा यह हुआ है कि मेरे प्रोग्राम के बारे में किसानों को पूरा विश्वास हो गया है कि वह कभी गड़बड़ होने का नहीं।

इसी के मुताबिक मुझे तो सवा दस बजे रात की ट्रेन पकड़नी ही थी। मगर रास्ता मोटे अन्दाज से सात मील से कम न था। क्योंकि हम उत्तर ओर मोटर से चल रहे थे और दो मील से ज्यादा चले न थे जब वह खराब हो गयी। हमें इतना मालूम था कि जिस सड़क से हम दिन में गये थे वह इस मोटर वाली सड़क से पच्छिम है और कुछ दूर जाने पर शायद यह उसी में मिल जाय। क्योंकि आखिर स्टेशन और पास की जमीन का नक्शा तो आँखों के सामने नाचता ही था। और अब समय था कुल डेढ़ घण्टे। इतने ही में उस बाजार में पहुँचना था जहाँ सामान रखा था। फिर वहाँ से एक मील स्टेशन चलना था सामान लेकर। यदि दस बजे बाजार में पहुँच जाते तो आशा थी कि पन्द्रह मिनट में वहाँ से स्टेशन पहुँच के ट्रेन पकड़ लेते।

जब मैंने साथियों से पूछा तो दो ने तो साफ हिम्मत हारी, हालाँकि उन्हें भी छपरा पहुँचना जरूरी था। वे लोग वकील थे और कचहरी में उनका काम था। अब तो मैं और भी घबराया। मगर जब लक्ष्मी बाबू से पूछा तो उनने कहा कि ज़रूर चलेंगे। फिर क्या था? मेरा कलेजा बाँसों उछल पड़ा। मैं तो अकेले भी चल पड़ने का निश्चय करी चुका था और अब लक्ष्मी बाबू ने भी साथ देने को कह दिया। इसके बाद तो उन दोनों सज्जनों को भी हिम्मत आयी और हम सबने मोटर महारानी को सलाम कर उत्तर का रास्ता पकड़ा।

रास्ता अनजान था। तिस पर तुर्रा यह कि मिट्टी सफेद थी। रास्ते में जहाँ-तहाँ कीचड़ और पानी भी था। हमने कमर में धोती लपेटी। जूते हाथ में लिये। मेरे एक हाथ में मेरा दण्ड भी था। फिर हमारी 'क्विक मार्च' शुरू हुई। यदि दौड़ते नहीं, तो समूची परेशानी के बाद भी ट्रेन पकड़ न पाते। इसलिए दौड़ते चलते थे। रास्ते में कहाँ क्या है इसकी परवाह हमें कहाँ थी? साँप-बिच्छू का तो खयाल ही जाता रहा। सिर्फ रास्ते में समय-समय पर पड़ने वाले झोंपड़ों में आदमी की आहट

लेने की फिक्र हमें इसलिए थी कि रास्ते का पता पूछें कि ठीक तो जा रहे हैं? कहीं दूसरी ओर बहक तो नहीं रहे हैं? भाटापोखर अभी कितनी दूर है यह जानने की भी तीव्र उत्कण्ठा थी। मगर झोंपड़ों और गाँवों में तमाम सन्नाटा छाया मिलता था। बहुत दूर जाने पर एक गाँव में एकाध आदमी मिले जिनने फासला दूर बताया। बहुतेरे लोग तो रास्ते में हमें दौड़ते देख या पैरों की आहट सुन सटक जाते थे। उन्हें भय हो जाता था कि इस घोर अँधियाली में चोर-डाकुओं के सिवाय और कौन ऐसी दौड़धूप करेगा। हम भी ताड़ जाते और हँसते-हँसते आगे बढ़ जाते थे?

रास्ते में एक बड़ी मजेदार बात हुई। हमने महाभारत में पढ़ा था कि मयदानव ने ऐसा सभा भवन बनाया कि दुर्योधन को सूखी जमीन में पानी का और पानी में सूखी जमीन का भ्रम हो जाता था। इससे पाण्डवों के कुछ आदमी उस पर हँस पड़े थे। इसी का बदला उसने पीछे लड़ाई के मौके पर लिया था। मगर हमें खुद इस भ्रम का शिकार होना पड़ा। अँधेरी रात में आसमान साफ होने के कारण तारे खिले थे। फलतः रास्ता चमकता था। नतीजा यह हुआ कि हम लोगों को सैकड़ों बार सूखी जमीन में पानी का भ्रम हो गया और हमने धोती उठा ली। पर, पाँव सूखी जमीन पर ही पड़ता गया। इसके उलटा पानी को सूखी जमीन समझ हम बेधड़क बढ़े तो घुटने तक डूब गये। जल्दबाजी और दौड़ की हालत में यह गौर करने का तो मौका ही नहीं मिलता था कि पानी है या सूखी जमीन। मगर इसमें हमें खूब मजा आता था। मजा तो अपने दिल में होता है। वह बाहर थोड़े ही होता है। हम लथपथ थे। कीचड़ से सारा बदन लिपटा था। मगर धुन थी ठीक समय पर पहुँच जाने की। इसीलिए सारी तकलीफ भूल गयी और हम हँसते-हँसते बढ़ते थे।

कुछ दूर जाकर जब पहली सड़क मिली तब कहीं हमें यकीन हुआ कि ठीक रास्ते जा रहे हैं। मगर अभी प्रायः चार मील चलना था। अतः हमें साँस लेने की फुर्सत भी कहाँ थी। खैर, दौड़ते-दौड़ते दस बजे से पहले ही बाजार में पहुँच ही तो गये। पूछने पर पता चला कि जहाँ सामान है उसे बन्द करके हमारे परिचित सज्जन घर सोने चले गये। क्योंकि गाड़ी का समय नजदीक देख उनने मान लिया कि हम अब न आयेंगे। उनका घर भी कुछ फासले पर था। यह दूसरी दिक्कत पेश आयी। खैर, हममें एक दौड़ के वहाँ गया और जैसे-तैसे उन्हें जगा लाया। उनके आते ही हमने अपने-अपने सामान निकाले। मेरा सामान कुछ ज्यादा था। मगर उस समय स्टेशन तक सामानों को पहुँचाने वाला कहाँ मिलता? फलतः हमने गधे की तरह अपने-अपने सामान सर पर लादे। मेरी सहायता साथियों ने और साथ के आदमी ने भी की। इस तरह लद-फँद के हमने फिर वही 'क्विक मार्च' शुरू किया। क्योंकि ट्रेन आ जाने का खतरा था। हमें अपनी घड़ी पर विश्वास होता न था। संकट के समय ऐसा ही होता है। अत्यन्त विश्वासों पर से भी विश्वास उठ जाता है।

मगर जब स्टेशन पहुँचे और वहाँ की घड़ी में देखा कि पूरे दस बजे हैं तब

हमारी जान में जान आयी! फिर तो हमारी खुशी का ठिकाना न रहा। निश्चित हो के हमने हाथ-पाँव वगैरह धोये, कपड़े बदले और देह साफ़ की। इतने खतरे का काम हमने किया, ऐसी लम्बी राह, जो आठ मील से कम न थी, हमने डेढ़ घण्टे में तय की और बाजार में पन्द्रह मिनट ठहरे भी, यह याद करके हमारा आनन्द बेहद बढ़ गया। खूबी यह कि हमें न तो कोई थकावट मालूम होती थी और न परेशानी। सख्त-से-सख्त काम और मिहनत के बाद भी यदि सफलता मिल जाय तो सारी हैरानी हवा में मिल जाती है। लेकिन यदि थोड़ी भी परेशानी के बाद विफल होना पड़े तो ऐसी थकावट होती है कि कुछ पूछिये मत। और हम तो इस साहस (adventure) के बाद सफल हो चुके थे। तब थकावट क्यों होती? कम से कम हमें उसका अनुभव क्यों होता?

10

सन् 1935 ई. की मई का महीना था। उसी समय पूर्णियाँ जिले में बरसात शुरू हो जाया करती है। कांग्रेस के पुराने कार्यकर्त्ता पं. पुण्यानन्द झा पूर्णियाँ जिले के अररिया सब डिविजन के जहानपुर में रहते हैं। उनके ही आग्रह और प्रबन्ध से उस जिले का पहले-पहल दौरा करने का मौका मिला। कटिहार स्टेशन से ही पहले किशनगंज जाने का प्रोग्राम था। कटिहार में डॉ. किशोरीलाल कुण्डू के यहाँ ठहर के किशनगंज की ट्रेन पकड़नी थी। किशनगंज पूर्णियाँ जिले का सब डिविजन और बिहार प्रान्त का सबसे आखिरी पूर्वीय इलाका है। यों तो उस जिले में 75 फीसदी मुसलमान ही बाशिन्दे माने जाते हैं। मगर किशनगंज में उनकी संख्या 95 प्रतिशत कही जाती है। किसानों के आन्दोलन के सिलसिले में ऐसे इलाके में जाने का यह पहला ही अवसर था। मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता थी।

झा जी कटिहार में ही साथ हो लिये और बरसोई होते हम किशनगंज पहुँचे। वहाँ के प्रसिद्ध कांग्रेसकर्मी श्री अनाथकान्त बसु के यहाँ हम लोग ठहरे। पहली सभा वहीं शहर में ही होने वाली थी। सभा हुई भी। मगर वृष्टि के चलते जैसी हम चाहते थे हो न सकी। इसका पश्चात्ताप सबों को था। मगर मजबूरी थी किशनगंज में दोई दिन ठहरने का हमारा प्रोग्राम था। तो भी अनाथ बाबू ने भीतर-ही-भीतर तय कर लिया कि मुझे एक दिन और ठहरा के शहर में फिर सभा की जाय जो सफल हो। उनने देहात में भी खबर भेज दी और इसका खासा प्रचार किया। जब मैं तीसरे दिन चलने के लिए तैयार था तभी कुछ लोगों के डेप्युटेशन ने हठ करके मुझे रोक लिया और खासी अच्छी सभा करायी। मुझे भी झा जी के साथ देहात

में हो के ही उनके घर (जहानपुर) जाना था। इसलिए कोई खास प्रोग्राम न होने के कारण एक दिन रुकने में विशेष बाधा नहीं हुई। यदि कहीं का निश्चित प्रोग्राम होता, तब तो तीसरे दिन रुकना गैर-मुमकिन था।

हाँ, किशनगंज से 6-7 मील उत्तर देहात में दूसरे दिन जाना था। पांजीपाड़ा नामक एक हाट में मीटिंग करनी थी। किशनगंज से जो सड़क उत्तर ओर जाती है उसी के किनारे पांजीपाड़ा बस्ती है। किशनगंज से एक लाइट रेलवे दार्जिलिंग जाती है। मगर वह तो अजीब सी है। मालूम होता है बैलगाड़ी चलती है। हम लोग, जहाँ तक याद है, घोड़ागाड़ी से ही पांजीपाड़ा गये। बाजार का दिन था। जिस जगह बैठ के लोग चीजें बेचते और खरीदते थे उसके पास ही एक फूँस का झोंपड़ा था। हम तो कही चुके हैं कि वह इलाका प्रायः मुसलमानों का ही है। हाट में भी हमें वही नजर आ रहे थे। यह भी देखा कि उस झोंपड़े में उनका एक खासा मजमा है, यों तो उसमें भी आना-जाना लगा ही था। हमें पता लगा कि वह झोंपड़ा ही मस्जिद थी जिसमें दोपहर के बाद की नमाज पढ़ी जा रही थी। घोर देहात में इस प्रकार धार्मिक भावना देख के मैं प्रभावित हुआ। ऐसा देखना पहली ही बार था! मैंने सोचा कि इन्हीं के सामने किसान-समस्याओं पर स्पीच देनी है। कहीं ऐसा न हो कि सारा परिश्रम बेकार जाय।

मगर बात उलटी ही हुई। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब मैंने देखा कि वे सभी बहुत ही गौर से मेरी बातें सुनते थे। मैं जैसे-जैसे बोलता जाता था वैसे-वैसे उनके चेहरे खिलते जाते थे। मेरी बातों की पसन्दगी जानने के लिए कितनों के सर हिलते थे। बहुतेरे तो मस्त हो रहे थे और झूमते थे। एक तो मुझे डर यह था कि मुसलमान किसानों में बोलना है। कहीं ऐसा न हो कि गेरुवा वस्त्र देखते ही वे भड़क उठें कि यह कोई हिन्दू फकीर अपने धर्म-वर्म की बात बोलने आया है। जमात बाँध के नमाज पढ़ते देख मेरा यह डर और भी बढ़ गया था। दूसरा अन्देशा यह था कि बंगाल की सरहद पर बसने वाले लोगों में बंगला बोलते हैं और जिनकी रहन-सहन बिलकुल ही बंगालियों की है, मेरी हिन्दुस्तानी भाषा कुछ ठीक न होगी। और बंगाली बोलना तो मैं जानता नहीं, गो पढ़ या समझ लेता हूँ। तीसरा खयाल यह था कि उनके खास सवालों को तो मैं जानता नहीं कि उन्हीं के बारे में बोल के उनके खयाल अपनी ओर खींच सकूँ। इसलिए सिर्फ उन्हीं बातों पर बोलता रहा जो सभी किसानों को आमतौर से खलती हैं और जिनसे अपना छुटकारा सभी चाहते हैं। जैसे जमींदारों के जुल्म, लगान की सख्ती, वसूली में ज्यादतियाँ, कर्ज की तकलीफें, बकाश्त जमीन की दिक्कतें वगैरह-वगैरह।

मगर मेरा डर और अन्देशा बेबुनियाद साबित हुआ। उनने मेरी बातें दिल से सुनीं, गोया मैं वही बोलता था जो वह चाहते थे। बोलने में मेरी जबान और भाषा ऐसी होती ही है कि सभी आसानी से समझ लें। गुजरात से लेके पूर्व बंगाल और

आसाम तक मैं यही भाषा बोलता रहा हूँ और किसान समझते रहे हैं असल में उनके दिल की बात सीधी-सादी और चुभती भाषा में अपने दिल से बोलिये तो वे खामख्वाह आधी या तीन चौथाई समझते ही हैं और इतने से ही काम चल जाता है। किशनगंज वाले तो सोलह आना समझते खासकर मुसलमान कहीं भी रहें, तो भी हिन्दुस्तानी जबान वे समझते ही हैं। यह एक खास बात है।

इसलिए जब मैंने मीटिंग खत्म की तो उनने मुझे घेर लिया और कहने लगे कि आपने तो बड़ी अच्छी बातें कही हैं। ये तो हमें खूब ही पसन्द हैं। यह हमारे काम की ही हैं। हमने बहुत से लेक्चर मौलवियों के आज तक सुने हैं। मगर मौलवी लोग तो ऐसी बातें बोलते नहीं। आप तो रोटी का सवाल ही उठाते हैं और उसी की बातें बोलते हैं। आप हमारे पेट भरने और आराम की बातें ही बोलते हैं जिन्हें हम खूब समझते हैं। ये बातें हमें रुचती हैं। सो आप हमारे गाँवों में चलिये। कई चलते-पुर्जे लोगों ने हठ किया कि मैं उनके गाँवों में चल के ये बातें सबों को सुनाऊँ। क्योंकि वे लोग दूर-दूर से आये थे और हर गाँव के एक-दो, चार ही वहाँ थे। बाकी तो खेती-गिरस्ती में ही लगे थे। मगर मैंने उनसे उस समय तो यह कह के छुट्टी ली कि कभी पीछे आऊँगा। इस समय मेरा प्रोग्राम दूसरी जगह तय हो गया है। हालाँकि मैं वह वादा अभी तक पूरा कर न सका, इसका सख्त अफसोस मुझे है।

इस प्रकार उस मीटिंग और मुसलिम किसानों की मनोवृत्ति का बहुत ही अच्छा असर लेके हम लोग शाम तक किशनगंज वापस आये। **किसानों और मजदूरों के आये दिन के जो आर्थिक प्रश्न हैं और जो उनकी रोजमर्रा की मुसीबतें हैं यह ऐसी चीजें हैं कि इन्हीं की बुनियाद पर सभी किसान मजदूर, चाहे उनका धर्म और मजहब कुछ भी क्यों न हो, एक हो सकते हैं। आसानी से एक सूत्र में बेखटके बँध सकते हैं, उनकी जत्थेबन्दी हो सकती है, यह बात हमारे दिमाग में उस दिन से अच्छी तरह बैठ गयी।** हमें वहाँ इसका नमूना ही मिल गया। यह हमारी जिन्दगी और उनके जीवन में शायद पहला ही मौका था जब मुसलमान किसानों ने हमारे जैसे हिन्दू कहे जाने वाले फकीर को अपना आदमी समझा और हमें अपने घर गाँव में मुहब्बत से ले जाना चाहा। हालाँकि हमारी और उनकी मुलाकात पहले-पहल सिर्फ उसी दिन एक-दो ही घंटे के लिए हुई थी। आखिर आर्थिक प्रश्नों के सिवाय दूसरा कौन जादू था जिसने उन पर ऐसा असर किया? हमारी बातें के सामने मौलवियों की बातों को जो उनने उतना पसन्द नहीं किया इसकी वजह आखिर दूसरी और क्या थी?

कहते हैं कि सारंगी और सितार के तारों की झनकार जब कहीं दूर से भी आती है तो सभी इनसान, फिर चाहे वह किसी भी धर्म मजहब के क्यों न हों, मुग्ध होके जबर्दस्ती खिंच आते हैं। सारी बातें, सारे काम भूल के एकटक सुनते रहते हैं। लेकिन अगर खुद उन्हीं को घर के–दिलों के–तार झनक उठें तो? तब तो और भी मजा आयेगा और वे लट्टू होके ही रहेंगे। असल में दुनियाबी विपदायें सभी गरीबों

की एक ही हैं। वे सभी हिन्दू-मुसलिम को बराबर सताती हैं। इसीलिए एक तरह सभी के दिलों में चुभती हैं। ऐसी हालत में ज्योंही उनकी चर्चा हमने उठाई कि सभी के दिलों के तार साथ ही झनक उठे। फलतः सभी एक ही हाँ में हाँ मिलाते, सुर में सुर मिलाते और एक ही राग गा उठते हैं कि "कमाने वाला खायेगा, इसके चलते जो कुछ हो"। इस राग में हिन्दू-मुसलिम भेद खामख्वाह मिट जाता है। इस पवित्र धारा में हिन्दू-मुसलिम कलह की मैल विना धुले रही नहीं सकती वह पक्की बात है। इसका ताजा-ताजा नमूना हमारी आँखों के सामने उस दिन पांजीपाड़े में नजर आया और हमें भविष्य के लिए पूरी उम्मीद हो गयी कि गरीबों के दुख जरूर कटेंगे और उनके अच्छे दिन जरूर आयेंगे, सो भी जल्द-से-जल्द, अगर हमने अपना यही रास्ता, यही काम जारी रखा।

खैर, तो किशनगंज लौटने के बाद, जैसा कि पहले कहा है, एक दिन वहाँ ठहर के उस सब डिविजन की देहात का अनुभव करते और मजा लूटते पं. पुण्यानन्दजी के गाँव पर पहुँचने की बात तय पायी। उनका गाँव जहानपुर अन्दाजन 25-30 मील के फासले पर है। बरसात का समय था। देहात की सड़कें तो यों ही चौपट होती हैं। तिस पर खूबी यह कि वह इलाका सबसे पिछड़ा हुआ है। इसलिए रास्ते का भी ठिकाना न था, सवारी का तो पूछना ही नहीं। बड़ी दिक्कत से बैलगाड़ी मिल सकती थी। मगर रास्ता खराब होने से बैल कैसे गाड़ी खींचेंगे यह पेचीदा सवाल था। एक तो ऐसी दशा में उन्हें गाड़ी में जोतना कसाईपन होगा। दूसरे वे चल सकते नहीं चाहे हम कितने भी निर्दय क्यों न बनें। असल में गाड़ी या हल में जोतने के समय हम लोग बैलों के साथ ठीक वही सलूक करते हैं जो जमींदार हम किसानों के साथ बर्तते हैं। अगर जमींदार उन्हें आदमी न समझ लावारिस पशु मानते हैं, और इसीलिए वे खायें-पियेंगे या नहीं इसकी जरा भी फिक्र न कर उनकी सारी कमाई जैसे-तैसे वसूल लेने की फिक्र करते ही रहते हैं, तो किसान अपने बैलों के साथ भी कुछ वैसा ही सलूक करते हैं, हालाँकि किसानों के लिए जमींदारों जैसी निर्दयता गैर-मुमकिन है। वे बैलों के खाने-पीने की कोशिश तो करते हैं। बेशक उनकी कमाई का अन्न पास रख के उन्हें भूसा, पुआल वगैरह वही चीजें खिलाते हैं जो किसानों के लिए प्रायः बेकार सी हैं। बदले में जमींदार भी किसानों की कमाई के गेहूँ, बासमती, घी, मलाई आदि खुद ले के उनके लिए मंड़वा, खेसरी, मठा आदि ही छोड़ते हैं। मगर जहाँ तक जोतने का सवाल है किसान बैलों के साथ बड़ी निर्दयता से पेश आते हैं।

नतीजा यह हुआ कि मेरी ये बातें कुछ काम न कर सकीं और एक बैलगाड़ी तैयार की गयी। अनाथ बाबू को भी साथ ही चलना था। जहानपुर और किशनगंज के बीच में ही कांग्रेस के पुराने सेवक श्री शराफत अली मस्तान का गाँव कटहल बाड़ी चैनपुर पड़ता है। बीच में वहीं एक रात ठहरने और मीटिंग करने की बात

तय पायी थी पहले से ही। मस्तान को भी यह बात मालूम थी। मगर ठीक दिन और वक्त का पता न था। हमें भी खुशी थी कि सन् 1921 ई. से ही जिसने मुल्क की खिदमत में अपने को बर्बाद कर दिया और जमीन-जायदाद वगैरह सब कुछ तहस-नहस और नीलाम-तिलाम होने दिया उस शख्स से मिलना होगा, सो भी खांटी किसान से। बर्बादी की परवाह न करने के कारण ही तो उस शख्स का नाम सचमुच मस्तान पड़ा है। 'शराफत अली' तो शायद ही कोई जानता हो। सिर्फ मस्तान के ही नाम से वह पुराना देश सेवक प्रसिद्ध है। कांग्रेस का आन्दोलन शुरू होते ही उसे धुन सवार हुई कि किसान किसी को लगान क्यों देंगे, और खुद क्यों भूखों मरेंगे? लोगों को उसने यही कहना शुरू किया। खुद भी यही किया। फिर जमीन-जायदाद बचती तो कैसे? जमीन थी काफी। मगर सभी यों ही खत्म हो गयी और वह बहादुर दर-दर का भिखारी बन गया। उसके परिवार को भूखों मरते रहने की नौबत आयी! फिर भी यह धुन बराबर मुद्दत तक बनी रही। आज भी आग वही है, जो भीतर-भीतर दबी पड़ी है। अगर किसान सिर्फ इतना ही समझ लें कि उन्हें भी खाने का हक है। वे भूखे मर नहीं सकते। और अगर इसी के अनुसार यदि वे अपनी कमाई को खाने-पीने लग जायँ तो बिना किसी की परवाह किये ही, तो उनकी सारी तकलीफें हवा में मिल जायँ।

जो कुछ हो, हम सवेरे ही खा-पी के बैलगाड़ी पर बैठे और मस्तान के गाँव की ओर चल पड़े। रास्ते में चारों ओर सिर्फ मुसलमान किसानों के ही गाँव पड़ते थे। हिन्दुओं की बस्ती तो हमें शायद ही मिली। ऐसी यात्रा मेरी जिन्दगी में पहली ही थी। सच बात तो यह है कि हजार जानने-सुनने और समझने-बूझने पर भी मेरे दिल में यह खयाल बना था कि हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान जनता खामख्वाह सख्त मिजाज झगड़ालू और घमण्डी होती है। इसीलिए रास्ते में पड़ने वाले गाँवों में बराबर इस बात की तलाश में था कि ऐसी बातें मिलेंगी। उनके मकान वगैरह में भी कुछ खास बातें देखना चाहता था। इसीलिए जब मुसलमान मिलते थे तो उनकी ओर मैं निहायत गौर से देखता था। गाँव के बाद गाँव आते गये और एक के बाद दीगरे न जानें, कितने व्यक्ति और कितने गिरोह रास्ते में मिले। हमने बार-बार उनसे मस्तान के गाँव की राह पूछी। उनने बताई भी। मगर हमें कोई खास बात उनमें मालूम न हुई। वही सादगी, वही सीधापन, वही मुलायम बातें और वही रहन-सहन! जरा भी फर्क नहीं! दाढ़ी भी तो सबों को न थी कि फर्क मालूम पड़ता। कपड़े भी वैसे ही थे। मकानों की बनावट में तो कोई अन्तर था ही नहीं। मुर्गे-मुर्गियाँ नजर न आयें तो और कोई फर्क गाँवों में न था। यदि किसी और मुल्क का आदमी ये चीजें देखता तो वह यह समझी नहीं सकता कि ये हिन्दू हैं या मुसलिम! ठीक ही है किसान तो किसान ही है। वह हिन्दू या मुसलिम क्यों बनने लगा। बीमारी, भूख, गरीबी, तबाही वगैरह भी तो न कलमा और नमाज ही पढ़ती है और न गायत्री सन्ध्या ही जानती

है और इन्हीं सबों के शिकार सभी किसान हैं–इन्हीं की छाप सभी किसानों पर लगी हुई है। फिर उन्हें चाहे आप हिन्दू कहें या मुसलिम! हैं तो दरअसल वे भूखे, गरीब, मजलूम, तबाह, बर्बाद।

यह देख के मेरे दिल पर इस यात्रा में जो अमिट छाप पड़ी वह हमेशा ताजा बनी है। पांजीपाड़े के बाद यह दूसरा अनुभव फौरन ही हुआ जिसने मेरी आँखें सदा के लिए खोल दीं। इससे मेरी आँखों के सामने असलियत नाचने लगी। **''जनता, अवाम (masses) एक हैं, इनमें कोई भी धर्म, मजहब का फर्क नहीं। वे भीतर से दुरुस्त हैं।''** यह दृश्य मैंने देखा! इसने किसान-सभा के काम में मुझे बहुत बड़ी हिम्मत दी और आज जब कि बड़े-से-बड़े और क्रान्तिकारी से भी क्रान्तिकारी कहे जाने वाले हिन्दू-मुसलमान तनातनी से बुरी तरह घबरा रहे हैं, भविष्य के लिए निराश हो रहे हैं, मैं निश्चिन्त हूँ। मैं इनकी बातें सुन के हँसता हूँ। इन्हें इन झगड़ों की दवा मालूम नहीं है। उसे तो मैंने न सिर्फ किताबों में पाया है, बल्कि किशनगंज के इस दौरे में देखा है।

इस प्रकार कुछ दूर जाने के बाद बैलगाड़ी छोड़ देने की नौबत आयी। असल में बैल थे तो कमजोर और रास्ता ऐसा बेढंगा था कि न सिर्फ बैलगाड़ी के पहिये कीचड़ में डूब जाते थे, बल्कि बैलों की टाँगें भी। जब वे चल न पाते तो गाड़ीवान उन्हें पीटता था। यह दृश्य बर्दाश्त के बाहर था। मगर इतने पर भी बैल आगे बढ़ पाते न थे। बढ़ते भी आखिर कैसे? रास्ता वैसा हो तब न? इसलिए तय हुआ कि गाड़ी छोड़ के पैदल चलें। नहीं तो रास्ते में ही रह जायँगे और मस्तान के गाँव तक भी आज पहुँच न सकेंगे। फलतः कपड़ा-लत्ता एक आदमी के सर पर गट्ठर बाँध के रख दिया गया और जूते हाथ में ले के हम सभी उत्तर-पच्छिम रुख पैदल ही बढ़े। **कीचड़ में फँसते, पानी पार करते, गिरते-पड़ते हम लोग बराबर बढ़ते जाते थे। यह भी मजेदार यात्रा थी। हममें जरा भी मनहूसी नजर न आयी। हँसते हुए चल रहे थे। यह कितना सुन्दर 'प्लेजर ट्रिप' था, सैर-सपाटा था। आखिर कीचड़ पानी से लथपथ और वृष्टि से भी भीगते-भागते शाम होते न होते हम लोग मस्तान के गाँव पर पहुँची तो गये।**

मस्तान साहब खबर पाते ही दौड़े-दौड़ाये हाज़िर आये और हम सभी गले मिले। शाम का तो वक्त था ही। हम लोग थके-माँदे भी थे। मैं तो रात में कुछ खाता-पीता न था, सिवाय गाय के दूध के और वह अचानक मिल सकता न था। अगर पहले से खबर होती तो उसका इन्तजाम शायद हुआ रहता। मस्तान और उनके साथी कोशिश करके थक गये। मगर दूध न मिला। बाकी लोगों ने खाना-वाना खाया। रात में थकावट के चलते हम सभी सो रहे। तय पाया कि बहुत तड़के लोग जमा हों और हमारी मीटिंग हो। उसी दिन जल्द-से-जल्द सभा करके और खा-पी के हमें जहानपुर पहुँचने के लिए आगे चल पड़ना भी था। हाँ, मस्तान साहब इधर-उधर

खबरें भेजते रहे उस दिन शाम से ही, कि कल तड़के लोग जुट जायँ। पता लगा कि उनने हमारे बारे में पहले से ही लोगों में प्रचार भी कर रखा था।

दूसरे दिन नित्यक्रिया स्नानादि के बाद हमारी सभा की तैयारी हुई। लोग जमा हुए। हमने उन्हें घण्टों समझाया। हम तो सिर्फ उनकी भूख और गरीबी की बातें ही करना जानते थे और वे बातें उन्हें रुचती भी थीं। मस्तान साहब शे'र (कविता) के प्रेमी हैं। बहुत से पद मौके-मौके के वे जानते भी हैं। हमारे बारे में भी उनका यही खयाल था। उनने हमें भी कहा कि बीच-बीच में कुछ चुभते हुए पद सुनाते चलेंगे तो अच्छा असर होगा। जहाँ तक हो सका हमने उनकी मर्जी को पूरा किया। मगर हमें खुशी थी कि एक सच्चे जन-सेवक के घर पर ठेठ देहात में मरते-जीते जा पहुँचे थे, जैसे लोग तीर्थ और हज की यात्रा में पैदल ही जाते हैं! **जहीं सच्चे और मस्ताने जनसेवक हों असल तीर्थ तो वही है। पुराने लोगों ने तो कहा भी है कि सत्पुरुष और जनसेवक तीर्थों तक को पवित्र कर देते हैं अपने पाँवों की धूलों से--'स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः।' तीर्थ बने भी तो हैं आखिर सत्पुरुषों के रहने के ही कारण। इस युग में किसानों के तीर्थ कुछ और ही ढंग के होंगे।**

जहानपुर चलने के लिए भी एक बैलगाड़ी का इन्तजाम हुआ, हालाँकि पहले दिन के अनुभव से हम डरते थे कि फिर वही हालत होगी। कुछ तो पहले दिन की थकावट और कुछ लोगों के हठ के करते बैलगाड़ी फिर भी ठीक होई गयी और उसी पर लद-फँद के हम लोग दोपहर के पहले ही चल पड़े। शाम तक जैसे-तैसे झा जी के घर पर पहुँचना जो था। लेकिन हमारा डर सही निकला। आगे का रास्ता और भी विकट था। नदी-नाले भी काफी थे। आखिरकार जहाँ तक जाते बना हम लोग गये। मगर जब गाड़ी का आगे जाना गैर-मुमकिन हो गया तो उसे लौटा के हम आगे बढ़े। नदियों में गाड़ी पार करने में दिक्कत भी काफी थी। इसलिए हमने पैदल ही चलना ठीक समझा। नहीं तो शाम तक रास्ते में ही पड़े रह जाते और जहानपुर पहुँची न पाते। आज की यात्रा गुजरे दिन की यात्रा से भी मज़ेदार थी। हमें इन घोर देहातों का अनुभव करना जरूरी था। यह भी जाँच करनी थी कि हम खुद कहाँ तक पार पा सकते हैं। क्योंकि बिना ऐसा किये और ऐसी तकलीफें बर्दाश्त किए किसान-आन्दोलन चलाया जा सकता नहीं। यह मजदूर सभा थोड़े ही है कि शहरों में ही मोटर दौड़ा के और रेलगाड़ियों से ही चल के कर लेंगे। इसीलिए सैकड़ों बार हमने छोटी-मोटी ऐसी यात्राएँ जान-बूझ के की हैं।

आखिर दूसरे दिन की हमारी यात्रा भी पूरी हुई और जहानपुर पहुँच गये। पं. पुण्यानन्द झा एक लगन के आदमी हैं। हमने देखा कि गाँव बीच में सबसे ऊँची जमीन पर बने झोंपड़े को उनने आश्रम बना रखा है। चरखे वगैरह का काम वहाँ बराबर होता था। कुछ लड़के पढ़ते भी थे। पण्डित जी के एक ही लड़का है। मगर उसे उनने कहीं और जगह जा के पढ़ने न दिया! सरकारी स्कूलों का बायकाट जो

किया था! इसीलिए उसे अन्त तक निभाया। हमने प्रायः सभी लीडरों को देखा है कि सन् 1921 ई. के बायकाट के बाद फिर उनके लड़के वगैरह उन्हीं सरकारी स्कूलों में भर्त्ती हुए हैं। मगर झा जी ने ऐसा करना पाप समझ अपने लड़के को घर पर ही रखा और पढ़ने के बदले लोगों की जो भी सेवा वह अपने ढंग से उस देहात में कर सके उसे ही पसन्द किया। उनका आश्रम बहुत ही साफ-सुथरा और रमणीय था। तवीअत खूब ही रमी, गोया अपने घर पहुँच आये। खासकर मैं सफाई बहुत ही पसन्द करता हूँ। जरा भी गन्दगी हो तो मुझे नींद ही नहीं आती। बेचैन हो जाता हूँ। स्नानादि के बाद दूध पी के रात में सो गये। अगले दिन सभा होगी यही निश्चय हुआ था।

किसानों की सभा भी अगले दिन बहुत ही अच्छी हुई। हमने अपने दिल का बुखार निकाल लिया। उन्हें उनके मसले बहुत ही अच्छी तरह समझाये। उनकी आँखों के समक्ष न सिर्फ उनकी हालत की नंगी तसवीर खींची, बल्कि उसके कारण भी साफ-साफ बता दिये। उन्हें यह झलका दिया कि उनकी नासमझी और कमजोरी से ही उनकी यह अवतर हालत है और दूसरे तरीके से यह दूर भी नहीं हो सकती जब तक वे खुद तैयार न होंगे, अपने में हिम्मत न लायेंगे और अपने हकों को न समझेंगे। उनका सबसे पहला हक है कि भर पेट खायें-पियें, दवादारू का पूरा इन्तजाम करें, जरूरत भर कपड़े पहनें-ओढ़ें और स्वास्थ्य के लिए जरूरी सामान तथा मकान वगैरह बनायें। दुनिया की कोई सरकार और कोई ताकत इस बात से इनकार कर नहीं सकती अगर डँट के वे इस हक का अमली तौर से दावा करने लगें। जब वे खुद कमा के अपने आप खाना और अपनों को खिलाना चाहते हैं, और बाकी दुनियाँ को भी, तो फिर किसे हिम्मत है कि वे खुद भूखे रहें और दुनिया को खिलायें ऐसा दावा पेश करें? आखिर जिस गाय से दूध चाहते हैं उसे पहले खूब खिलाते-पिलाते और आराम से रखते ही हैं। नहीं तो दूध के बजाय लात ही देती है।

अब किसी प्रकार अररिया चल के रेलगाड़ी पकड़ना और कटिहार पहुँचना था। बरसात के दिन और रास्ते में छोटी-बड़ी नदियाँ थीं। फिर वही बैलगाड़ी हमारी मददगार बनी। मगर इस बार दो गाड़ियाँ लाई गयीं। ऊपर वे छाई भी गयी थीं। पहले की गाड़ियाँ तो मामूली ही थीं। मगर इस बार जरा देखभाल के गाड़ी और बैल लाये गये। एक में मैं खुद अपने सामान के साथ बैठा और दूसरी में झा जी और अनाथ बाबू। रात में ही रवाना हुए। नहीं तो अगले दिन कहीं राह में ही रह जाना पड़ता। किस हैरानी और परेशानी के साथ यह बाकी यात्रा पूरी हुई वह वही समझ सकता है जिसे उधर ऐसे समय में जाने का मौका मिला हो। इसका यह मतलब नहीं कि हममें मनहूसी थी, या हमने इस दिक्कत को अपने दिल में जरा भी स्थान दिया। देते भी क्यों? हमने खुद जान-बूझ के ही यह यात्रा की थी। उन विकट देहातों का अनुभव जो लेना था। हमें खुद इस सख्त इम्तहान में पास जो

होना था। और हमें खुशी है कि अच्छी तरह उत्तीर्ण हुए।

अररिया में पहुँच के सीधे स्टेशन चले गये। स्टेशन शहर से दूर पड़ता है। वहीं ठहरे, स्नानादि किया, कुछ खाया-पिया। फिर ट्रेन आयी और हमें ले के उसने कटिहार पहुँचाया।

11

सन् 1935 ई. की किशनगंज वाली यात्रा के ही सिलसिले में हमें कटिहार के बाद कुरसैला स्टेशन जाना और वहाँ से उतर के नजदीक के ही उमेशपुर या महेशपुर में होने वाली विराट् किसान-सभा में भाषण देना था। वहाँ से फिर टीकापट्टी आश्रम में जाने का प्रोग्राम था। वहीं रात को ठहरना भी था। हम लोग सदल-बल ट्रेन से रवाना हो गये। स्टेशन पर बाजे-गाजे, झण्डे और जुलूस की अपार भीड़ थी। लोगों में उमंगें लहरें मार रही थीं। किसान-सभा और किसानों के नारों और आजादी की पुकार से आसमान फटा जा रहा था। स्टेशन के नजदीक ही एक बड़े जमींदार साहब का महल है और सभा-स्थान में जाने का रास्ता भी महल की बगल से ही था। पता नहीं वे वहाँ उस समय थे, या कहीं चले गये थे। यदि थे भी तो उन पर क्या गुजरती थी यह कौन बताये। वे बड़े सख्त जमींदार हैं जो जेठ की दुपहरी के सूर्य की तरह तपते हैं! उनकी जमींदारी में रहने वाले किसानों का तो खुदा ही हाफिज़!

मगर माने जाते हैं वे भी कांग्रेसी। कांग्रेसीजनों में उनकी पूछ है। शायद टीकापट्टी आश्रम तथा कांग्रेस की और संस्थाओं को साल में काफी अन्न और पैसे उनसे मिलते हैं। जिले के कांग्रेसी लीडरों का सत्कार भी उनके यहाँ होता है। लीडरों को तो आखिर स्वराज्य लेना है पहले, और जब तक जमींदारों को साथ न लेंगे तब तक स्वराज्य मिलने में बाधा जो खड़ी होगी। अगर उनके बिना वह भी मिल गया तो शायद लँगड़ा होगा। लेकिन यदि किसानों की तकलीफों का खयाल करें तो ये जमींदार कांग्रेस में आ नहीं सकते। इसीलिए बहरहाल उस ओर ध्यान नहीं दिया जाता। सभी को ले के चलना जो ठहरा। यह भी सुना है कि वे जमींदार साहब और उन जैसे दो-एक और भी साल में कांग्रेस के बहुत मेम्बर इधर बनाने लगे हैं। बात तो आसान है। जोई किसान लगान देने आये उससे ही लगान के सिवाय चार आना और ले लेना कोई बड़ी बात नहीं है। चार आना दिये बिना बाक़ी रुपयों की भी रसीद न मिले तो? तब तो सभी गायब हो जाते हैं। इसीलिए मजबूरन वे गरीब चार आना देते ही हैं। नजराना, शुकराना, रसीदाना, फारख या फरखती वग़ैरह के नाम पर जब बहुत कुछ गैर-कानूनी वसूलियाँ उनसे की जाती हैं, तो इस चार

आने की क्या गिनती? खतरा यही है कि जब चवन्नी की वसूली जारी हो जायगी तो कुछ दिनों के बाद कांग्रेस के नाम की भी जरूरत न रहेगी और ये पैसे जमींदार हमेशा लेते रहेंगे। आखिर नये-नये **अबवाब** इसी तरह तो बने हैं? अबवाबों का इतिहास हमें यही सिखाता है। मगर इससे क्या? इसकी परवाह है किसे? **सुरसंड (मुजफ्फरपुर)** के एक जमींदार सर चन्द्रेश्वर प्र. न. सिंह यों ही अन्नी के नाम पर न जानें कितने दिनों से गैर कानूनी वसूली किसानों से करते आ रहे हैं! **हालाँकि उनके भाई कांग्रेसी हैं श्री राजेश्वर प्र. ना. सिंह और अब तो जेल भी हो आये हैं।** यह अन्नी भी इसी तरह बनी होगी।

हाँ, तो हम स्टेशन पर उतरे और सीधे सभा-स्थान की ओर चल पड़े। हमें ठीक याद नहीं कि बैलगाड़ी पर गये या हाथी पर। शायद बैलगाड़ी ही थी। हाथी पर चलना हमें कई कारणों से पसन्द नहीं। वह एक तो धनियों के ही यहाँ होता है। दूसरे वह रोबदाब और शानबान की चीज और सवारी है और किसानों की सभा में यह चीज मुझे बुरी तरह खटकती है। इसीलिए बिना किसी मजबूरी के मैं उसे कभी कबूल नहीं करता। किसानों की अपनी चीज होने के कारण मुझे बैलगाड़ी दिल से पसन्द है। कभी-कभी पालकी में भी, आदमियों के कन्धों पर, चलना ही पड़ता है। मगर जब कोई चारा नहीं होता और कहारों के खाने-वाने तथा उनकी पूरी मजदूरी का पक्का इन्तजाम हो लेता है तभी मैं उस पर चढ़ता हूँ। मैं कहारों से खामख्वाह पूछ लेता हूँ कि उन्हें जो कुछ मिला उससे वे पूरे सन्तुष्ट हैं या नहीं। यदि जरा भी कसर मालूम हुई तो उसे पूरा करवाता हूँ। सभी जगह मैंने देखा है कि कहारों के साथ बड़ी ही लापरवाही और बेमुरव्वती से व्यवहार किया जाता है। इसीलिए मैं उनसे खुद पूछता हूँ। कई जगह तो मारे प्रेम के उनने मुझे अपने कन्धों पर खामख्वाह चढ़ा लिया है।

इस प्रकार जोश-खरोश और उछलते उत्साह के साथ हम लोग सभा-स्थान में पहुँचे। बरसात की कड़ी धूप ने हमें रास्ते में काफी तपाया था और दुपहरी का समय भी था। मेघ न होने के कारण सूर्य अपना तेज वैसे ही दिखा रहा था और लोगों को झुलसा रहा जैसे जमींदार किसानों के सम्बन्ध में करता है। पेड़ों की छाया में हमें शान्ति मिली। ठण्डे हो के और पानी-वानी पी-पा के हम लोग मीटिंग में पहुँचे। जहाँ मीटिंग थी उसे धर्मपुर का परगना कहते हैं। इसमें पूर्णियाँ जिले का बहुत बड़ा हिस्सा आ जाता है। यहाँ के जमींदार महाराजा दरभंगा हैं। कुरसैला के जमींदार और बिशुनपुर के जमींदार वग़ैरह दो-एक ही और हैं। मगर महाराजा के सामने इनकी हस्ती नहीं के बराबर है। ये लोग महाराजा की हजारों बीघा रैयती जमीनें रखते हैं। खासकर बिशुनपुर वाले तो बीसियों हजार बीघे रैयती जमीनें रखते हैं, जो दर रैयतों (undertenants) या शिकमी किसानों को बँटाई पर जोतने को देते हैं। कहीं-कहीं नगद लगान भी लेते हैं। मगर जब चाहें जमीन छीन लें इसकी

पूरी बन्दिश कर रखते हैं। इसलिए इस मामले में जमींदारों से भी ये मालदार लोग जो अपने को मौका पड़ने पर किसान भी कह डालते हैं, ज्यादा जालिम और खतरनाक हैं।

महाराजा की जमींदारी के और जुल्म तो हुईं, जो आमतौर से सभी जमींदारियों में पाये जाते हैं। उनके सिवाय एक खास जुल्म चरसा महाल वाला पहले ही बताया जा चुका है। लेकिन धर्मपुर में ही पता चला कि सर्वे खतियान में जमीन तो किसान की कायमी रैयती लिखी है। फिर भी उस पर जो पेड़ हैं वह सोलहों आने जमींदार के लिखे हैं। असल में पूर्णियाँ जिले में ज्यों-ज्यों उत्तर जाइये नेपाल की तराई की ओर त्यों-त्यों मधुमक्खियाँ पेड़ों पर शहद के बड़े-बड़े छत्ते लगाती दिखेंगी। वहाँ शहद का खासा व्यापार होता है। इसीलिए जमींदार ने चालाकी से पेड़ों पर अपना अधिकार सर्वे के समय लिखवा लिया। किसानों को तो उस समय इसका ज्ञान था ही नहीं। वे सर्वे का महत्त्व भी ठीक समझ न सके थे, और वही लिखा-पढ़ा आज उनका गला कतर रहा है। वहाँ अक्ल और दलील की गुंजाइश हई नहीं कि किसान की जमीन पर जमींदार के पेड़ कैसे हो गये? और अगर आज भी शहद उतारने वालों को किसान कह दे कि खबरदार, मेरी जमीन पर पाँव न देना, नहीं तो हड्डियाँ टूटेंगी। हवाई जहाज से जैसे हो ऊपर ही ऊपर उड़ के पेड़ पर चढ़ जाओ और शहद ले जाओ, तो क्या हो? आखिर कुछ तो करना ही होगा। नहीं तो काम कैसे चलेगा? जब वे लोग बातें नहीं सुनते तो जैसे को तैसा जवाब देना ही होगा।

दूसरा जुल्म यह मालूम हुआ कि वहाँ घाट के नाम से एक टैक्स लगता है। यह टैक्स दूसरी जमींदारियों में भी पाया जाता है। एक बार तो ऐसा मौका लगा कि हम अपने साथियों के साथ फार्विसगंज के इलाके में बैलगाड़ी से देहात में जा रहे थे। रास्ते में एकाएक कोई आया और गाड़ी रोक के घाट माँगने लगा। पीछे जब उसे पता चला कि गाड़ी में कौन बैठा है तब सरक गया और हम आगे बढ़े। बात यह है कि कुछ दिन पहले जहाँ-तहाँ पानी की धाराएँ उस जिले में बहुत थीं। नतीजा यह होता था कि लोगों को हाट-बाजार जाने या दूसरे मौकों पर बड़ी दिक्कतें होती थीं। पार करना मुश्किल था। जान पर खतरा था। इसलिए जमींदार लोग अपनी-अपनी जमींदारियों में ऐसी धाराओं के घाटों पर नावों का इन्तजाम करते थे, ताकि लोगों को आराम मिले। शुरू-शुरू में यह काम मुफ्त ही होता था। फिर उनने धीरे-धीरे नाव वग़ैरह का खर्च पार होने वालों से वसूलना शुरू किया। उसके बाद ठीकेदार मुकर्रर कर दिये गये जो अपनी नावें रखते और आर-पार जाने वालों से खेवा ले लेते थे! अन्ततोगत्वा जमींदारों ने घाटों को नीलाम करना शुरू किया और जोई ज्यादा पैसे देता वही घटवार या घाट के ठेकेदार बनता था। वह अपना खर्च मुनाफे के साथ खेवा के रूप में लोगों से वसूलता था। यही तरीका बराबर चलता रहा। धीर-धीरे घटवार मौरूसी बन गये। उसके बाद वे धाराएँ सूख गयी और नाव

की जरूरत ही न रही। मगर घटवार तो रही गये। वे जमींदारों को पैसे देते और लोगों से वसूल लेते। भला यह लूट और अन्धेरखाता नहीं है तो और हई क्या? हमें इसके खिलाफ भी तूफान खड़ा करना पड़ा।

दरभंगा महाराज की जमींदारी में ही हमें सबसे पहले वहीं पर पता चला कि 'टरेस' के नाम पर गरीबों पर एक बला आयी है और जमींदार सबों को परेशान कर रहा है। पहले तो हम समझी न सके कि यह 'टरेस' कौन सी बला है। मगर बातचीत से पता लगा कि असल में 'ट्रेस पास' या दूसरे की जमीन पर जबर्दस्ती कब्जा से ही मतलब है। 'पास' शब्द को तो हटा दिया और 'ट्रेस' का 'टरेस' कर दिया है। आखिर अनाड़ी देहाती क्या जानें कि असल शब्द क्या है। बात यों होती है कि इधर कुछ दिनों से, खासकर किसान-सभा के आन्दोलन के शुरू होने पर, जमींदार के आदमियों ने किसानों को तंग करने के नये-नये तरीके सोचने शुरू कर दिये हैं। इस प्रकार एक तो महाराजा की आमदनी बढ़ रही है। दूसरे किसान लोग पस्त हो जाते हैं और सिर उठा नहीं सकते। इसी सिलसिले में यह ट्रेस पास वाला हथियार भी ढूँढ़ निकाला गया है।

असल में सर्वे के समय किसानों के मकानों की जमीन खतियान में लिखी गयी है। मगर मकान या झोंपड़े दूर-दूर करने से बीच-बीच में खाली जमीनें भी रह गयी हैं जिन्हें कहीं-कहीं गैर मजरुआ आम और कहीं-कहीं खास लिखा गया है। मुमकिन है कि समय पा के कुछ ज्यादा जमीन पर किसानों के पशु वग़ैरह बाँधे जाते हों। यह बात तो सर्वे के समय भी होती होगी। आखिर कलकत्ता जैसे श्हार में तो किसान बसते ही नहीं कि इंच-इंच जमीन की खोज हो। मगर सर्वे में इसका जिक्र नहीं हुआ। चौबीसों घण्टे पशु घर में ही तो रहते नहीं। बाहर भी बँधते ही हैं। यह भी हो सकता है कि खामख्वाह कहीं किसान ने कुछ जमीन हथिया ली हो। आखिर इफरात जो ठहरी। मगर जमींदार को तो मौका चाहिए तंग करने का। उसके अमले तो घूस और सिफारिश चाहते हैं जो अब किसानों से आमतौर से होना असम्भव है। इसलिए रंज हो के खतियान के मुताबिक जमीन नापी जाती है। नापने वाला वही अमला होता है। कोई सरकारी ओवरसियर या अमीन नहीं आता। और अगर नाप में ज्यादा जमीन कुछ भी निकली तो किसान पर आफत आयी। अमले नाप-जोख में गड़बड़ी करके भी ज्यादा जमीन साबित कर देते हैं। इस प्रकार किसान पर ट्रेस पास का केस चलाया जाता है। यदि उसने डर से अमलों की पूजा-प्रतिष्ठा पहले ही कर ली और जमींदार को भी कुछ नजर या सलामी दे दी तब तो खैरियत। नहीं तो लड़ते-लड़ते तबाही की नौबत आती है। इस 'टरेस' के करते मैंने किसानों में एक प्रकार का आतंक वहाँ देखा। पीछे तो भागलपुर, दरभंगा आदि में भी यही बात मिली।

यों तो सैकड़ों प्रकार की गैर-कानूनी वसूलियाँ समय-समय पर चलती ही रहती हैं। मगर दो-एक तो वहाँ की खास हैं। मवेशियों की खरीद-बिक्री पर खुद किसानों

से एक प्रकार का टैक्स लिया जाता था और शायद अब भी हो। और गल्ले की बिक्री पर भी और इस प्रकार उनके नाकों दम थी। मगर पुनाही खर्च के नाम से जो वसूली होती है वह बड़ी ही बुरी है इसी प्रकार कोसी नदी के जंगलों में सूअर या हिरन का शिकार खेलने के लिए जब कभी महाराजा का, उनके दोस्तों का या उनके मैनेजर का कैम्प देहातों में जाता है तो किसानों से बकरी, बकरे, दूध, घी, मुर्गी, मुर्गे वग़ैरह की शकल में सैकड़ों चीजें वसूल की जाती हैं। यों कहने के लिए शायद उन चीजों की कीमत हिसाब में लिखी जाती है। मगर गरीब किसानों को मिलती तो है नहीं। और अगर कहीं कभी एकाध को मिली भी, तो नाममात्र को ही। बाकी तो अमलों के ही पेट में चली जाती है। यह भी होता है कि दो की जगह चार बकरे मँगाये जाते हैं और उनमें कुछ कैम्प खर्च में लिखे जाते ही नहीं। उन्हें तो ऊपर ही ऊपर वे अमले उड़ा ही लेते हैं। फिर उनका खर्च मिले तो कैसे? कुम्हारों से मुफ्त बर्तन और कहारों से बेगार में काम करवाना तो आम बात है। दूसरे गरीब भी इसी प्रकार खटते रहते हैं।

पुनाही की बात यों है कि साल में एक बार महाराजा के हर सर्किल ऑफिस में बहुत बड़ा उत्सव मनाया जाता है और हवन-पूजा होती है। खूब खान-पान भी चलता है। बहुत लोग जमा होते हैं। यह उत्सव प्रायः दशहरा (दुर्गापूजा) के समय ही या उसी के आस-पास होता है। बिहार के अन्यान्य जिलों में जो तौजी की प्रथा है वह तो ठीक दशहरे के दिन ही होती है। यह पुनाही उसी तौजी का कुछ विस्तृत रूप है। असल में संस्कृत के पुण्याह शब्द का अर्थ है पवित्र दिन। इसी का अपभ्रंश पुनाह हो गया। पुनाही उसी पुनाह या पुण्याह का सूचक है। इसके मानी हैं पुण्याह वाला। जमींदार अगले साल के लगान की वसूली उसी दिन से शुरू करता है जैसा कि और जगह तौजी के दिन शुरू करता है। हिन्दी साल भी तो दशहरे के बाद ही शुरू कार्तिक से ही आरम्भ होता है। इसीलिए अगले साल के लगान की वसूली का श्रीगणेश उस दिन ठीक ही है। और जमींदार के लिए इससे पवित्र दिन और क्या होगा कि उसने लगान की वसूली साल शुरू होने के पहले ही जारी कर दी। किसानों के लिए यह दिन भले ही बुरा हो। मगर जमींदार के लिए तो सोना है। इसी से वह उत्सव पुनाही का उत्सव कहा जाता है।

उसके खर्च का एक इस्टिमेट या अन्दाज (Budget) तैयार होता है। वह हर साल की ही तरह होता है। हाँ, कुछ घट-बढ़ तो होती ही है। इसके बाद वह हर तहसीलदार के हिस्से में बाँट दिया जाता है कि कौन कितना वसूल करेगा किसानों से। अब तहसीलदार लोगों को मौका मिलता है कि इसी बहाने कुछ अपने लिए भी वसूल कर लें। इसलिए सर्किल से उनके जिम्मे जितना रुपया या घी वग़ैरह वसूलने को दिया गया था। उसका ड्योढ़ा-दूना करके उसे अपने पटवारी आदि मातहतों के जिम्मे बाँट देते हैं कि कौन कितना वसूल करेगा। फिर वे पटवारी वग़ैरह भी अपना

हिस्सा उसी तरह ड्योढ़ा-दूना करके अपने अधीनस्थ नौकरों के हिस्से लगाते हैं जो कुछ बढ़ा-चढ़ा के हर किसान से वसूल करते हैं। इस तरह वसूली के समय असल खर्च कई गुना बन के वसूल होता है और गरीब किसान मारे जाते हैं। जो कुछ उन्हें घी-दूध आदि के रूप में या नगद देना पड़ता है वह ऐसा टैक्स है कि कुछ कहिये मत। उसके बदले में उन्हें मिलता कुछ भी नहीं। वह तो लुट जाते हैं। शायद एकाध मिठाई मिलती हो!

इस प्रकार के जुल्मों और धींगामुश्तियों को कहाँ तक गिनाया जाय? सिर्फ नमूने के तौर पर कुछेक को दिखला दिया है। असल में जब जमींदार लोग किसानों को आदमी समझते ही नहीं, इन्सान मानते ही नहीं, तो मुसीबतों की गिनती क्या? वे तो जितनी हैं सब मिलके थोड़ी ही हैं! उनके भार से दबे किसानों का गिरोह उस सभा में हाजिर था। हमने जमींदार और उसके नौकरों कह खिदमत सभा में की तो काफी। जले तो पहले से ही थे। किसानों के करुण-क्रन्दन, उनकी चीख-पुकार ने उस पर नमक का काम कर दिया। फिर तो उबल पड़ना स्वाभाविक था। हमने जालिमों को ऐसा ललकारा और उनकी धज्जियाँ इस तरह उड़ाईं कि एक बार मुर्दे किसानों में भी जान आ गयी। उनने समझ लिया कि उनकी तकलीफों का खात्मा हो सकता है। पहले तो समझते थे कि "कोउ नृप होइ हमैं का हानी। चेरि छाँड़ि न होउब रानी!" पर एक बार उनकी रगों में गर्मी आ गयी।

सभा के बाद टीकापट्टी आश्रम में गये जो कुछ दूर है। रात को वहीं ठहरे। सुबह घूम-घाम के आश्रम देखा। वह तो गांधीवाद का अखाड़ा है। चर्खे, करघे का कार-बार खूब फैला नजर आया। वहाँ के रहने वाले कभी-कभी जमींदारों के अत्याचारों के खिलाफ पहले आवाज उठाते थे। देहातों में घूम के मीटिंगें भी करते थे। मगर धीरे-धीरे यह बात कम होती गयी। अब तो यह बात शायद ही होती है। शायद प्रारम्भिक दशा में वहाँ जमना था। इसीलिए किसान जनता की सहायता जरूरी थी। अब तो काफी जम गये! सम्भवतः अब वह प्रश्न छेड़ने की जरूरत इसीलिए नहीं पड़ती! किसान-सभा का वह जमाना था भी शुरू का ही। लोग समझी न सके थे कि यह किधर जायगी। वर्ग चेतना किसानों में पैदा करेगी और वर्ग संघर्ष को काफी प्रोत्साहन देगी यह बात तब तक लोगों के दिमाग में आयी न थी। इसीलिए मुझे भी उस आश्रम में निमन्त्रित किया गया। स्टेशन के पास की सभा का प्रबन्ध भी उन लोगों ने ही किया था। मगर अब तो किसान-सभा से लोग भय खाते हैं। वर्ग विद्वेष की बात बहुत फैली है। ऐसी हालत में वैसे आश्रम यदि सतर्क हो जायँ तो कोई ताज्जुब नहीं। असल में ज्यों-ज्यों किसानहित और जमींदारहित के बीच वाली चौड़ी एवं गहरी खाई साफ-साफ दीखने लगी है त्यों-त्यों दुभाषिये लोगों—दोनों तरफ की बातें मौके-मौके से करने वाले लोगों के लिए इन बातों की गुंजाइश कम होती जाती है। अब तो गांधीवादी हमारे साथ बैठने से भी डरते हैं कि कहीं लीडर लोग

जवाब न तलब करें। ऐसा हुआ भी है। चलो अच्छा ही हुआ। किसानों को सबसे ज्यादा धोखा उन्हीं लोगों से है जो ऊपर से उनके हितू होते हुए भी भीतर से वर्ग सामंजस्य के हामी हैं और चाहते हैं कि किसानों और जमींदारों में कोई समझौता हो जाय। नहीं तो अन्ततोगत्वा वे कहीं के न रह जायँगे। क्योंकि आखिर अब तो किसानों के ही हाथों में अन्न देने के सिवाय वोट देने की भी शक्ति हैं।

टीकापट्टी से हमें बनमनखी जाना था। यह रेलवे जंकशन मुरलीगंज और बिहारीगंज स्टेशनों से, जो पूर्णियाँ और भागलपुर जिलों की सीमा पर पड़ते हैं, आने वाली लाइनों का है। वहीं से पूर्णियाँ होती कटिहार को लाइन जाती है। हमें बड़हरा स्टेशन पर ट्रेन सवेरे ही पकड़नी थी। अगले दिन रवाना होने की बात तय पायी थी। बड़हरा वहाँ से दूर है। सड़क-वड़क तो कोई है नहीं। सवारी भी सिवाय बैलगाड़ी के दूसरी सम्भव न थी। अगर दोपहर के बाद रवाना हुआ जाय और रातोंरात चलते जायँ तो ठीक समय पर शायद पहुँच जायँ। किसनगंज से जहानपुर वाली यात्रा से यह कठिन थी। वहाँ केवल दिन में ही चलना पड़ा। मगर यहाँ तो रात में बराबर चलना था! मगर करना भी क्या था? कोई उपाय न था आखिर किसान-आन्दोलन की बात जो ठहरी!

यही हुआ भी। हमारी बैलगाड़ी रवाना हो गयी। बदकिस्मती से जो बैलगाड़ी मिली वह छोटी सी थी। उस पर पर्दा भी न था कि धूप या पानी से बच सकें। अकसर उस ओर ऊपर से छाई हुई गाड़ियाँ मिलती हैं। मगर वह तो थी निरी सामान ढोने वाली। उसमें एक और भी कमी थी। गाड़ियों के दोनों तरफ बाँस की बल्लियाँ लगी रहती हैं जिनमें मज़बूत रस्सी लगा कि गाड़ी के साथ बाँधते हैं। किनारों पर लगे खूँटों पर वह बल्लियाँ लगाई जाती हैं। इस प्रकार गाड़ी में बैठने पर भूल-चूक से नीचे गिरने का खतरा नहीं रहता। सामान भी हिफाजत से रहता है। मगर हमारी गाड़ी में यह एक भी न था। इससे खुद भी गिर पड़ने का डर था और सामान के भी लुढ़क जाने का अन्देशा था। गाड़ीवान के अलावे हम तीन आदमी उस पर बैठे थे। सामान भी था।

हालत यह हुई कि हम सभी दिन में तो पलथी मारे बैठे ही रहे। रात में भी वही करना पड़ा। सोने की बात तो छोड़िये। जरा सा लेटना या झुकना भी गैर-मुमकिन था। यह तकलीफ बर्दाश्त के बाहर थी। जिन्दगी में मेरे लिए यह पहला ही मौका था जब सोलह घण्टे से ज्यादा बैलगाड़ी पर बैठे-बैठे सारी रात गँवाई। बैलगाड़ी की सवारी तो यों भी बहुत बुरी होती है। उसमें उठाव-पटक तो कदम-कदम पर होता ही रहता है। धक्के ऐसे लगते हैं कि कलेजा दहल जाता है। यदि उस पर पुआल वग़ैरह कोई नर्म चीज न हो तो काफी चोट लगती है। चूतड़ जखमी हो जाते हैं। इतने पर भी यदि लेटने या सोने का जरा भी मौका न मिले तो मौत ही समझिये। मगर वहाँ ये सारे सामान मौजूद थे! मैं मन ही मन हँसता था कि लोग समझते

होंगे कि किसान-सभा का काम बहुत ही आराम वाला है। मैं यदि एक दिन भी सारी रात जग जाऊँ तो अगले दिन जरूर ही बीमार पड़ जाऊँ, यह बात जान लेने पर उस रात की तकलीफ का अन्दाज लगाया जा सकता है। तिस पर भी डर था कि कहीं ट्रेन न छूट जाय। इसलिए गाड़ीवान को सारी रात ताकीद करते रहे। इस प्रकार गाड़ी आने के पहले ही जैसे-तैसे बड़हरा स्टेशन पहुँची तो गये।

12

पूर्णियाँ जिले की ही घटना है। सो भी उसी सन् 1935 ई. की। यह सन् 1935 किसान-सभा के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी साल पहले-पहल बिहार प्रान्तीय किसान-सभा ने जमींदारी-प्रथा के मिटाने का निश्चय नवम्बर महीने के अन्त में हाजीपुर में किया था। प्रान्तीय किसान कॉन्फ्रेंस का चौथा अधिवेशन वहीं हुआ था। मैं ही उसका सभापति था। उसी साल उसी नवम्बर महीने में ही हाजीपुर के अधिवेशन के पहले ही, जहाँ तक याद है, 11-12 नवम्बर को धर्मपुर परगने के राजनीतिक-सम्मेलन और किसान-सम्मेलन बनमनखी में ही हुए थे। पहले सम्मेलन के अध्यक्ष बाबू अनुग्रह नारायण सिंह और दूसरे के बाबू श्रीकृष्ण सिंह थे। यही दोनों सज्जन पीछे कांग्रेसी-मन्त्रिमण्डल के जमाने में अर्थमन्त्री और प्रधानमन्त्री बिहार प्रान्त में बने थे। इसी भविष्य की तैयारी में जो अनेक बातें होती रहीं उन्हीं में वे दोनों सम्मेलन भी थे। हमें भी वहाँ से निमन्त्रण मिला था। यह भी आग्रह किया गया था कि यदि किसी अनिवार्य कारण से कदाचित् हम न आ सकें तो किसान-सभा के किसी नामी-गरामी लीडर को ही भेज दें।

मगर हमने जान-बूझ के दो में एक भी न किया। न खुद गये और न किसी को भेजा ही। इसके लिए वहाँ के साथियों से क्षमा माँग ली अपनी मजबूरी दिखा के। बात दरअसल यह थी कि अब किसान-सभा ने जड़ पकड़ ली थी। उसकी आवाज अब कुछ निडर सी होने लगी थी। वह अब किसानों की स्वतन्त्र आवाज उठाने का न सिर्फ दावा रखती थी, बल्कि हिम्मत भी। इसीलिए कांग्रेसी लीडरों में उसके खिलाफ कानाफूँसी होने लगी थी। भीतर-भीतर से विरोध भी हो रहा था। लोग समझते थे कि हमारे जैसे कुछ इने-गिने लोग ही यह तूफान खड़ा कर रहे हैं। नहीं तो कांग्रेस के अलावे और किसी संस्था को किसान खुद पसन्द नहीं करते। जन-आन्दोलन के बारे में ऐसा खयाल कोई नयी बात न थी। यह सनातनधर्म है। आख़िर कांग्रेस को भी तो सरकारी अधिकारी और दकियानूस दल के लोग पहले ऐसा ही कहते थे।

इसलिए हमने और हमारे साथियों ने सोचा कि यदि बनमनखी जायँगे तो

कांग्रेस के प्रमुख लीडरों से प्रत्यक्ष संघर्ष हो सकता है। हम जानते थे कि स्वतन्त्र किसान-सभा बनाने और जमींदारी मिटाने का सवाल वहाँ उठेगा। खासकर हमारे रहने पर। ऐसी हालत में संघर्ष अनिवार्य है। हमारी मौजूदगी में भी यदि ये प्रश्न न उठे तो राजनीतिक-सम्मेलन से अलग किसान-सम्मेलन करने के कुछ मानी नहीं। और आखिरत में वहाँ के मजलूम किसान समझेंगे क्या? यही न कि हम भी जमींदारों से डरते हैं, उनके दलाल हैं और सिर्फ इसीलिए किसान-सभा बना रखी है? यह तो हमारे लिए डूब मरने की बात होगी। इसलिए हर पहलू से सोचने पर यही तय पाया कि वहाँ न जाना ही अच्छा। हमने यह भी सोच लिया कि यदि इतने पर भी वहाँ जमींदारी मिटाने और बिहार प्रान्तीय किसान-सभा की छत्र-छाया में उस जिले में किसान संगठन करने के सवाल उठे तो यह हमारी सबसे बड़ी जीत होगी। तब तो हमारे विरोधियों को यह कहने का मौका ही न मिलेगा कि किसान-सभा के नाम पर हमीं लोग खामख्वाह टाँग अड़ाते फिरते हैं—किसान यह सब नहीं चाहते। तब तो दुनिया की आँखें खुलने का मौका मिलेगा कि किसानों की जरूरत ने ही किसान-सभा को पैदा किया है। और अगर ये सवाल उठे और बहुमत ने इनके पक्ष में ही राय दी, जैसा कि हमारा दृढ़ विश्वास था, तब तो बेड़ा ही पार समझिये। तब तो हमारी दूनी जीत समझी जायगी। हम वहाँ रहने पर तो शायद लोगों को दबायें और मुरव्वत से काम लें। मगर न रहने पर तो लोग बेखटके अपने विचारों से पूरा काम लेंगे। असल में कभी-कभी नेताओं की दूरंदेशी, उनका दब्बूपन जिसे वे लोग समझदारी कहते हैं, उनकी उदारता—ये बातें जनता का बहुत नुकसान करती हैं। इनके चलते उनके दिल, दिमाग पर वाहियात लगाम सी लग जाती है और जनता के विचार का निरबाध प्रवाह रुक जाता है। हमने सोचा कि यह महा पाप हमें न करना चाहिए।

जहाँ तक स्मरण है, हम पटने में बिहार प्रान्तीय किसान कौंसिल (कार्यकारिणी) की मीटिंग कर रहे थे। क्योंकि हाजीपुर के सम्बन्ध में सारी तैयारी करनी थी, सब बातें सोचनी थीं। बनमनखी के सम्मेलनों के फौरन ही बाद यह मीटिंग थी। वहीं पर जब हमने बनमनखी से लौटे किसी व्यक्ति के मुख से यह सुना कि वहाँ किसान-सम्मेलन में न सिर्फ बिहार प्रान्तीय किसान-सभा की मातहती में स्वतन्त्र किसान-सभा बनाने का प्रस्ताव पास हुआ, बल्कि जमींदारी-प्रथा मिटाने का भी निश्चय हो गया, तो हम उछल पड़े। हमने यह भी सुना कि प्रायः पन्द्रह हजार किसान उपस्थित होंगे। क्योंकि बनमनखी तो घोर देहात है। और लीडरों के हजार कुड़बुड़ाने, सरतोड़ परिश्रम करके विरोध करने पर भी केवल तीन-चार सौ लोगों ने विरोध में राय दी। बाकियों ने 'इन्किलाब जिन्दाबाद', 'जमींदारी-प्रथा नाश हो', 'किसान राज्य कायम हो', 'किसान-सभा जिन्दाबाद' आदि नारों के बीच इन प्रस्तावों के पक्ष में राय दी। विरोध करने वाले न सिर्फ पूर्णियाँ जिले के कांग्रेसी लीडर थे, प्रत्युत बाहर वाले

भी। किसी ने खुल के विरोध किया और सारी ताकत लगा दी, तो किसी ने भीतर ही भीतर यही काम किया। मगर विरोध में चूके एक भी नहीं। किसान-सभावादियों पर करारी डाँट भी पड़ी। मगर नतीजा कुछ न हुआ।

इस निराली घटना ने, जो अपने ढंग की पहली ही थी, हममें बहुतों की आँखें खोल दीं, चाहे इससे कांग्रेसी लीडरों की आँखें भले ही न खुली हों। मेरे सामने तो इसके बहुत पहले कुछ ऐसी बातें हो गयी थीं जिनसे मेरा विश्वास किसानों में, किसान-सभा में और उसके लक्ष्य में पक्का हो गया था। मगर इस घटना ने हमारे दूसरे साथियों को भी ऐसा विश्वासी बनने का मौका दिया।

13

ठीक याद नहीं, किस साल की बात है। शायद सन् 1936 ई. की गर्मी के दिन थे। मगर कोसी नदी के इलाके में तो उस समय बरसात शुरू होई जाती है। भागलपुर के मधेपुरा शहर में, जिसे कोसी ने न सिर्फ चारों ओर से घेर रखा है, बल्कि ऊजड़ सा बना दिया है, हमारी एक मीटिंग का प्रबन्ध किया गया था। भागलपुर जिले के उत्तरी भाग में सुपौल और मधेपुरा ये दो सब-डिविजन पड़ते हैं। सुपौल से दक्षिण मधेपुरा है। मगर कोसी का कोपभाजन होने से वह शहर तबाह, बर्बाद है। अब तो कोसी ने उसका पिण्ड छोड़ा है। इसलिए शायद पहले जैसा फिर बन जाय।

हाँ, तो हमें उस दिन वहाँ किसानों की सभा करनी थी। उसके पहले दिन, जहाँ तक याद है, सुपौल से बैलगाड़ी में बैठ के रवाना हुए थे। क्योंकि रास्ते में एक और मीटिंग करनी थी। उस स्थान का नाम शायद गमहरिया है। एक बाजार है। जहाँ बनिये लोग भी काफी बसते हैं। वहाँ भी काफी उत्साह था। मीटिंग भी अच्छी हुई थी। वहीं से हम मधेपुरा के लिए सवेरे ही खा-पी के रवाना हुए थे, ताकि तीसरे पहर मीटिंग में पहुँच जायँ। मगर बैलगाड़ी की सवारी थी। मालूम पड़ता था, रास्ता खत्म ही न होगा। जब तीन-चार बजे तो हमारी घबराहट का ठिकाना न रहा। गाड़ी छोड़ के दौड़ना चाहते थे। पर, आखिर दौड़ के जाते कहाँ? अकेले तो रास्ता भी मालूम न था। नदी-नालों का प्रदेश ठहरा। यह दूसरी दिक्कत थी। रास्ते में मक्की, अरहर वग़ैरह की फसल खड़ी थी और रास्ता उन्हीं खेतों से हो के था। कहीं उसी जंगल में भटक जायँ तो और भी बुरा हो। हमारे साथ में वहाँ के प्रमुख कार्यकर्त्ता श्री महताबलाल यादव थे। वह हमारी दौड़ में साथ दे न सकते थे। जैसे सारन जिले की अर्कपुर वाली सभा से लौटने पर हमारे साथी हिम्मत वाले मिले थे वह बात यहाँ न थी। इसीलिए सिवाय गाड़ीवान को बार-बार ललकारने के कि 'जरा तेज

हाँको भई' और कोई चारा न था।

मगर देहात का बरसाती रास्ता घूम-घुमाव वाला था। वह गाड़ीवान बेचारा भी क्या करता? उसने काफी मुस्तैदी दिखाई। बैल भी काफी परेशान हुए। फिर भी मधुपुरा दूर ही रहा। बड़ी दिक्कत और परेशानी के बाद शाम होते-होते हम कोसी के किनारे पहुँचे। अब हमारे बीच में यह नदी ही खड़ी थी। नहीं तो मीटिंग में दौड़ जाते। झटपट पार होने की कोशिश करने लगे। यह नदी भी बड़ी बुरी है। धारा चौड़ी और तेज है। हमने वहीं देखा कि किसान लोग निराश हो के सभा-स्थान से लौट रहे हैं। कुछ तो नाव से इस पार आ गये हैं। कुछ उस पार किनारे नाव की आशा में खड़े हैं। दूर-दूर से आये थे। अँधेरा हो रहा था। घर न लौटें तो वहाँ पशु-मवेशियों की हिफाजत कौन करेगा, यह विकट प्रश्न था। खाना-वाना भी साथ न लाये थे। मगर जब उन्हें पता लगा कि हमीं स्वामी जी हैं तो बहुतेरे तो 'दर्शन' से ही सन्तुष्ट हो के चलते बने। लेकिन कुछ साथ ही नाव पर फिर वापस लौटे। पार होते-होते काफी अँधेरा हो गया। फिर भी हिम्मत थी कि सभा होगी ही। उस पार वाले भी साथ हो लिये। मैं था आगे-आगे। पीछे किसानों का झुण्ड था। हम लोग बेतहाशा दौड़ रहे थे। खेतों से ही हो के जाना था। फसल खड़ी थी। सभा-स्थान काफी दूर था। हालाँकि हम मधेपुरा में ही दौड़ रहे थे। लोगों ने 'स्वामी जी की जय', 'लौट चलो' आदि की आवाजें लगानी शुरू कीं। ताकि जो लोग दूसरे रास्तों से लौटते हों घर की तरफ, वे भी सभा में वापस आयें। अजीब सभा थी। एक बार तो कुछ देर तक दिशाएँ पुकार से गूँज गयीं। जब तक हमारी दौड़ जारी रही पुकार भी होती ही रही। जो जहाँ था वहीं से जय-जय करता लौट पड़ा। सूखती फसल को गोया बारिश मिली। निराश लोगों में खुशी का ठिकाना न रहा। चाहे भूखे भले ही रहें, मगर स्वामी जी का व्याख्यान तो सुन लें, यही खयाल उनके दिलों में उछालें मार रहा था।

खैर, यह पहुँचे, वह पहुँचे, ऐसा करते-कराते हम लोग बेतहाशा दौड़ रहे थे। लोग भी चारों ओर से आवाज सुनते ही दौड़ पड़े थे। जोई सुनता था वही आवाज लगाता था। उस दिन हमने दिखला दिया कि सभा करने और उसे चलाने में ही हम आगे-आगे नहीं रहते, मौका पड़ने पर दौड़ने में भी आगे ही रहते हैं। उस दिन कहाँ से उतनी ताकत हममें आ गयी, यह कौन बताये? **मैं सब चीजें बर्दाश्त कर सकता हूँ। मगर एक भी मीटिंग से किसान निराश हो के लौट जायँ और मैं ठीक समय पर मीटिंग में पहुँच न सकूँ, यह बात मेरे लिए बर्दाश्त के बाहर है, मौत से भी बुरी है। उस समय मेरी मनोवृत्ति कैसी होती है इसे दूसरा समझी नहीं सकता।** यदि हमारे कार्यकर्त्ता भी मेरी उस वेदना को समझ पाते तो भविष्य में ऐसी गलतियाँ न करते। उस मनोवृत्ति के फलस्वरूप मुझमें निराशा के बदले काफी बल आता है ताकि किसी भी प्रकार मीटिंग में पहुँच तो जाऊँ। क्योंकि यदि कुछ भी किसान

मुझे वहाँ देख लेंगे तो उनके द्वारा धीरे-धीरे सबों में खबर फैल जायगी कि मैं मीटिंग में पहुँचा था जरूर। देरी का कारण सवारी ही थी।

सभा-स्थान राष्ट्रीय स्कूल और कांग्रेस ऑफिस के पास का मैदान था। मैं भी पहुँचा और लोग भी आये, गोकि बहुतेरे चले गये थे। मैंने उन्हें उपदेश दिया और देरी के लिए माफी माँगी। यह भी तय पाया कि अगले दिन फिर सभा होगी। रातों-रात खबर फिरा दी गयी। लोग अगले दिन भी काफी आये। आयें भी क्यों नहीं? कोसी ने तो उनकी कचूमर निकाल ही ली है। मगर बचे-बचाये रक्त को जमींदारों ने चूस लिया है। केवल कंकाल खड़ा है। यही हैं जमींदारी-प्रथा के मारे हमारे किसान!

14

भागलपुर जिले के उत्तरी हिस्से में कोसी नदी और जमींदारों ने कुछ ऐसी गुटबन्दी की है कि किसान लोग पनाह माँगते हैं। दोनों ही निर्दय और किसानों की ओर से ऐसे लापरवाह हैं कि कुछ कहिये मत। कोसी को तो खैर न समझ है और न चेतनता। इसलिए वह जो भी अनर्थ करे समझ में आ सकता है। वह तो अन्धी ठहरी। मगर इन्सान और सभ्य कहे जाने वाले ये जमींदार! इन्हें क्या कहा जाय? जब कोसी से भी बाजी मार ले जाते हुए ये भलेमानस देखे जाते हैं तो आश्चर्य होता है। मालूम होता है, ये लोग नादिरशाह हैं। इन्हें मनुष्यता से कोई नाता ही नहीं। इनके लिए कोई आईन कानून भी नहीं हैं! इन निराले जीवों को कुदरत ने क्यों पैदा किया यह पता ही नहीं चलता!

किसान-सभा के ही आन्दोलन के सिलसिले में मैं कई बार उस इलाके में गया जिसे कोसी ने उजाड़ दिया है। उसकी धारा को कोई ठिकाना नहीं है। रहती है रहती है, एकाएक पलट जाती है और आबाद भू-भाग को अपने पेट में बीसियों साल तक लगातार डाल लेती है। यह ठीक है कि जिस जमीन को छोड़ देती है वहाँ पैदावार तो खूब ही हो जाती है। मगर झौआ, खरही, वग़ैरह का ऐसा घोर जंगल हो जाता है कि कुछ पूछिये मत। जंगली सूअर, हिरण और दूसरे जानवरों के अड्डे उस जंगल में बन जाते हैं। फिर तो वे लोग दूर तक धावा मारते हैं। किसानों की फसलें बचने पाती ही नहीं हैं। वे लोग पनाह माँगते फिरते हैं। यह भी नहीं कि वह जंगल कट जाय। किसानों की क्या ताकत कि उसे काट सकें? हजारों, लाखों बीघे में लगातार जंगल ही जंगल होता है। यदि काटिये भी तो फिर खड़ा हो जाता है। जब तक उसकी जड़ें न खोद डाली जायँ तब तक कुछ होने जाने का नहीं। और यह काम मामूली नहीं है। इसी से किसान तबाह रहते हैं।

कोसी की धारा जिधर जाती है उधर एक तो लक्ष-लक्ष बीघा जमीन पानी के पेट में समा जाती है। दूसरे जंगल हो जाने से दिक्कत बढ़ती है। तीसरे मलेरिया का प्रकोप ऐसा होता है कि सबों के चेहरे पीले पड़ जाते हैं। यह भी नहीं कि धारा सर्वत्र बनी रहे। लाखों-करोड़ों बीघे में स्थिर पानी पड़ा रहता है। इसी से जंगल तैयार होता है और मच्छरों की फौज पैदा होती है। उस पानी में एक प्रकार का धान बोया जा सकता है। मगर उस पर यह आफत होती है कि जब धान में बालें लगती और पकती हैं तो रात में जल वाले पक्षियों का गिरोह लाखों की तादाद में आ के खा डालता है। यह यम-सेना कहाँ से आती है कौन बताये? मगर आती है जरूर। एक तो रात में रोज-रोज इनसे फसल की रखवाली आसान नहीं है—गैर-मुमकिन है। बिना नाव के काम चलता नहीं। सो भी बहुत ज्यादा नावें हों और सैकड़ों-हजारों आदमी सारी रात जगते तथा हू हू करते रहें, तब कहीं जा के शायद पिंड छूटे। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि जमींदार उन्हें ऐसा करने भी नहीं देते। उस इलाके में नौगछिया के जमींदार हैं बा. भूपेन्द्र नारायण सिंह उर्फ़ लाल साहब। उन्हें चिड़ियों के शिकार का बड़ा शौक है। खुद तो खुद दूर-दूर से अपने दोस्तों को भी बुलाते हैं इसी काम के लिए। सरकारी अफसर भी अक्सर निमन्त्रित किए जाते हैं। रात में पानी में चारा डाला जाता है ताकि पक्षियों के दल के दल उसी लोभ से आयें। अब यदि कहीं किसान ने उन्हें उड़ाना शुरू किया अपनी फसल बचाने के लिए, तो जमींदार साहब और उनके दोस्त शिकार कैसे खेलेंगे? तब तो उनका सारा मजा ही किरकिरा हो जायगा। इसीलिए तो खास तौर से चारा फेंका जाता है, ताकि य़दि धान के लोभ से पक्षी न भी आयें तो उस चारे के लोभ से तो आयेंगे ही। यही कारण है कि किसानों को सख्त मनाही है कि चिड़ियों को हर्गिज रात में या दिन में उड़ायें न। कैसी नवाबी और तानाशाही है! चाहे किसानों के प्राण पखेरू इसके चलते अन्न बिना भले ही उड़ जायँ। मगर चिड़ियाँ उड़ाई जा नहीं सकती हैं। उनका उड़ना जमींदार को बर्दाश्त नहीं है! खूबी यह है कि यही जमींदार साहब लीडरों की कोशिश से गत असेम्बली चुनाव में कांग्रेस के उम्मीदवार क़रीब-क़रीब बनाये जा चुके थे। बड़ी मुश्किल से रोके जा सके।

उसी इलाके में महाराजा दरभंगा की जमींदारी में दो बड़े गाँव हैं, जैसे शहर हों। उनका नाम है महिषी और बनगाँव। दोनों एक-दूसरे से काफी दूर हैं, जो बीच में तीसरा गाँव है नहीं। फिर भी प्रायः दोनों साथ ही बोले जाते हैं। वहाँ मैथिल ब्राह्मणों की—महाराजा दरभंगा के खास भाई-बन्धुओं की—बड़ी आबादी है। मधेपुरा के लिए जिस सहरसा स्टेशन से एक छोटी सी लाइन जाती है उसी के पास ही वे दोनों गाँव पड़ते हैं। वहीं उतर के वहाँ जाना पड़ता है। बनगाँव के मजलूम किसानों ने हमारी मीटिंग का प्रबन्ध कर रखा था। मगर हमें यह भी पता था कि महिषी में भी वैसी ही मीटिंग है। वहाँ भी जाना होगा। जाना तो जरूर था, पर रास्ते में कोसी की जलराशि जो बाधक थी। इसलिए बहुत दूर पैदल जाके नाव पर चलना

था। दूसरा रास्ता था ही नहीं। आखिरकार बनगाँव की शानदार सभा को पूरा करके हम लोग महिषी के लिए चल पड़े। यों तो पानी सर्वत्र खेतों में फैला था और बनगाँव वाले भी काफी तबाह थे। फिर भी कम पानी होने से छोटी से भी छोटी डोंगी उन खेतों में चल न सकती थी। इसीलिए दूर तक कीचड़ और पानी पार करके हमने डोंगी पकड़ी और चल पड़े।

रास्ते में जो दृश्य देखा वह कभी भूलने का नहीं। जो कभी धान के हरे-भरे खेत थे वहीं आज अपार जलराशि और जंगल देखा। जहाँ कभी धान लहराते और किसानों के कलेजों को बाँसों उछालते थे वहीं आज कोसी हिलोरें मारती थी—वहीं आज जंगल लहराता था। नाव पर चलते-चलते बहुत देर हुई। मगर फिर भी यात्रा का अन्त नहीं। उन खेतों वाले किसान कैसे जीते होंगे यह सवाल स्वाभाविक है। हमें पता लगा—किसानों ने खून के आँसू रोके हमें अपनी दुःख-दर्द की गाथा सुनाई—कि गाँव की चौदह आना जमीन पानी के भीतर है। अच्छे से अच्छे विद्वान् और कुलीन ब्राह्मण गाँव से दौड़ के बाजे-गाजे के साथ घुटने भर पानी में हमें लेने आये थे। उन्हें आज खुशी की घड़ी मालूम पड़ती थी। उन्हें किसान-सभा से आशा थी। इसलिए चाहते थे कि मैं खुद अपनी आँखों उनकी दुर्दशा देख जाऊँ। उनने अपना किसान सुलभ निर्मल एवं कोमल हृदय मेरे सामने बिछा दिया था। सच्ची बात तो यह है कि वह भयावनी हालत देख के मेरा खून खौलता था, मेरी आँखों से आग निकलती थी। जी चाहता था कि इस राक्षसी जमींदारी को कैसे रसातल भेज दूँ—मटियामेट कर दूँ। मैंने दिल भर के वहाँ की सभा में जमींदारी-प्रथा को कोसा! मीटिंग में वहाँ के ब्राह्मणों ने जो अभिनन्दन किया वह कभी भूलने वाला नहीं। उसने मेरा संकल्प और भी दृढ़ कर दिया कि जमींदारी को जहन्नुम में पहुँचा के ही दम लूँगा।

वहीं मुझे पता लगा कि बीसियों साल से जमीन में बारहों मास पानी रहता है। खेती हो पाती नहीं। फिर भी जमींदार का लगान देना ही पड़ता है! वाह रे लगान और वाह रे कानून! न देने पर महाराजा नालिश करते हैं और माल-मवेशी ले जाते हैं। उन्हें तो नालिश करने की भी जरूरत नहीं है। सर्टिफिकेट का अधिकार जो प्राप्त है। जैसे सरकारी पावना बिना नालिश के ही वसूल होता है। क्योंकि जोई चीज मिली जब्त, कुर्क कर ली जाती है। ठीक वैसे ही सर्टिफिकेट के बल पर महाराजाधिराज भी करते हैं। केवल सरकारी माल-मुहकमे के अफसर को बाकायदा सूचना देने से ही उनका काम बन जाता है और खर्र-खर्र रुपये वसूल हो जाते हैं। नहीं तो एक रुपये में पचीस-पचास की चीज नीलाम हो जाती है। इसीलिए किसान जेवर, जमीन बेच के, कर्ज ले के, यहाँ तक कि लड़कियाँ बेच के भी खामख्वाह रुपया अदा करी देते हैं।

सवाल हो सकता है कि जमीन ही क्यों नीलाम हो जाने नहीं देते जब उसमें कुछ होता ही नहीं? बात तो ठीक है। मगर सर्टिफिकेट में जमीन तो पीछे नीलाम होती है। पहले तो और ही चीजें लुटती हैं। एक बात और। किसान को आशा बनी

रहती है कि शायद कोसी की धारा यहाँ से चली जाय तो फिर खेतों में खेती हो सकेगी। तब तो कुछ साल तक वे काफ़ी पैदावार भी पाते रहेंगे! इसीलिए उन्हें नीलाम होने देना वह नहीं चाहता! आशा में ही साल पर साल गुजरता जाता है। वह निराश नहीं होता। असल़ में उसमें जितनी हिम्मत है उतनी शायद ही किसी ऋषि-मुनियों और पैगम्बर औलियों में भी पाई गयी हो! एक ही दो साल या एक-दो बार ही घाटा होने पर व्यापारियों का दिवाला बोल जाता है। मगर लगातार पाँच, सात या दस साल तक फसल मारी जाती है, मजदूरी, बीज और दूसरे खर्च भी ज़ाया होते हैं। फिर भी मौसिम आने पर वह खेती किए जाता है। खूबी तो यह कि इतने पर भी इस कदर लुट जाने पर भी, न तो सरकार को और न दूसरों को ही अपराधी ठहराता है! केवल अपनी तकदीर और पूर्व जन्म की कमाई को ही कोस के सन्तोष कर लेता है।

यह भी बताया गया कि जिनकी जमीनें और जगह हैं वे उन जमीनों से अन्न पैदा करके इन पानी वाली जमीनों का लगान चुकता करते हैं। ऐसे कई किसानों के नाम भी मुझे बताए गये। यह भी मैंने वहीं जाना कि यदि किसान उन जमीनों में भरे पानी में मछली मार के अपनी जीविका किसी प्रकार चलाना चाहें तो जमींदार को उसके लिए जल-कर जुदा देना पड़ता है। क्या खूब! इसे जले पर नमक डालना कहें या क्या? पैदावार होती नहीं। फिर भी लगान होता जा रहा है। और अगर उसी जमीन वाले पानी में पैदा होने वाली मछली किसान मार लेता है या उसमें मखाना पैदा कर लेता है तो उसके लिए अलग जल-कर वसूल किया जाय! यह अन्धेरखाता कब तक चलता रहेगा? उन मजलूमों का कोई पुर्साहाल आखिर कभी होगा या नहीं? जो लोग यह समझे बैठे हैं कि वे यों ही इन अन्नदाता किसानों का शिकार करते रहेंगे वे भूलते हैं। वह दिन दूर नहीं जब उनके पाप का घड़ा फूटेगा—उनका पाप सर पर चढ़ के नाचेगा।

खैर, हमने किसानों को जहाँ तक हो सका आश्वासन दिया और वहाँ से फिर उसी डोंगी पर चढ़ के रवाना हो गये। अगले दिन हमारा प्रोग्राम कहीं और जगह था। शायद चौधरी बखतियापुर की जमींदारी में मीटिंग करनी थी जहाँ हमारे ऊपर दफा 144 की पाबन्दी लगी थी। पटने पहुँच के अखबारों में हमने वहाँ का सारा कच्चा चिट्ठा छपवा दिया।

15

भागलपुर जिले की ही एक और दिलचस्प यात्रा है। वह भी उसी कोसी के इलाके में थी। कोसी की धारा के बराबर बदलते रहने के कारण बहुत सी जमीन भागलपुर

और पूर्णियाँ जिलों के बीच में जंगल से घिरी है। मगर बीच-बीच में खेती होती है। वही कोसी का दियारा कहा जाता है। राजपूताने के अपार रेगिस्तान की-सी उसकी हालत है। चलते जाइए, मगर खात्मा नहीं होता। उस दियारे में कदवा नाम का एक गाँव या गाँवों का समूह है। दस-दस, बीस-बीस या अधिक झोंपड़ों के अनेक टोले बसते हैं। कोसों चले जाइए। पर, एक ही गाँव पाइएगा। नदियों के हट जाने पर जो जमीनें नये सिरे से बनती हैं वही हैं दियारे की जमीनें। ऐसी जमीनों में आबादी की यही हालत सर्वत्र पाई जाती है। लगातार मीलों लम्बे गाँव तो कहीं शायद ही मिलेंगे। खेती करने की आसानी के खयाल से दो-चार झोंपड़े पड़ गये और काम चालू हो गया। फिर कुछ दूर हट के कुछ छप्पर डाल दिये गये और उन्हीं के इर्द-गिर्द खेती होने लगी। इसी तरह गाँव बसते हैं। कदवा भी ऐसे ही गाँवों में एक है।

भागलपुर जिले के उत्तरी भाग में श्री नागेश्वर सेन जी एक गठीले युवक और लगन वाले किसान-सेवक हैं। कदवा उन्हीं का कार्यक्षेत्र उस समय था। उनने ही वहाँ मीटिंग का प्रबन्ध किया था। उन्हीं के अनुरोध और आग्रह से हमने भी वहाँ जाना स्वीकार कर लिया था। लेकिन हमें इस बात का पता न था कि कदवा है किधर और वहाँ पहुँचेंगे किस तरहख किस रास्ते से? कोसी दियारे में कहीं है, सिर्फ इतनी ही जानकारी थी। जब तक वहाँ के लिए हम रवाना न हो गये तब तक जानते थे कि कहीं बैलगाड़ी के रास्ते पर होगा। मगर जब मीटिंग के पहले दिन नौगछिया से रवाना होने की तैयारी हुई और कहा गया कि नाव से रातोंरात चलना है, तब कहीं जाकर हमें अन्दाज लगा कि यात्रा विकट जरूर होगी।

शाम का वक्त था। बादल घिरे थे। बूँदा-बाँदी भी हो रही थी। पर वही टिप्-टिप्-टिप्। नौगछिया स्टेशन के पास ही जो नदी की धारा है उसी में एक नाव तैयार खड़ी थी। वह धारा चालू नहीं बताई जाती है। मगर बरसात में तो विकट रूप उसका होई गया था। नाव पर ऊपर से छावनी भी थी ताकि पानी पड़ने पर कपड़े-लत्ते बचाए जा सकें। छोटी-सी डोंगी थी जिस पर ज्यादे से ज्यादे दस-पाँच आदमी ही चल सकते थे। ज्यादा लोग हों तो शायद डूब ही जाय। उस धारा में घड़ियाल वग़ैरह खतरनाक जानवरों का बाहुल्य बताया जाता है। इसलिए नाव पर भी लोग होशियार हो के यात्रा करते हैं। कहीं वह फँस जाय तो खूँखार जलचर धावा ही बोल दें। तिस पर तुर्रा यह कि रात का समय था। बरसात अलग ही थी। बूँदें भी उसके खतरे को और बढ़ा रही थीं। सारांश यह कि सभी सामान इस बात के मौजूद थे कि चलने वाले हिम्मत ही हार जायँ।

हुआ भी ऐसा ही। नागेश्वर सेन तो साथ थे नहीं। वे तो कदवा में ही सभा की तैयारी में लगे थे। मगर और जितने साथी वहाँ चलने वाले थे एक के अलावे सबने पस्त-हिम्मती दिखाई। मौत के मुँह में जान-बूझ के कौन जाय? यदि रात में मूसलाधार बारिश हो गयी और नाव के ही डूबने की नौबत आ गयी तो? सचमुच

ही ऐसा हुआ भी और रास्ते में हमें कई बार नाव किनारे लगा के रोकनी पड़ी। किन्तु साथी लोग तो हिसाब लगा रहे थे कि ठेठ घड़ियालों के मुँह में ही चला जाना होगा; हाँ, यह बात सीधे कहते न थे। किन्तु दूसरे दूसरे बहाने कर रहे थे। 'नावक्त है, मौसम बुरा है, न जानें रास्ते में क्या हो जाय, बरसात के चलते मीटिंग भी शायद ही हो सके, यदि हो भी तो ज्यादा किसान शायद ही आ सकें' आदि दलीलें न चलने के सिलसिले में ज्यों-ज्यों पेश की जाती थीं त्यों-त्यों मेरा खून खौलता था और डर भी लगता था कि अगर इनने अन्ततोगत्वा न जाने का ही फैसला कर लिया तो बात बुरी होगी। मेरा प्रोग्राम और पूरा न हो। मैं यह बात सोचने को भी तैयार न था इसीलिए साथियों की इस नामर्दी पर भीतर-ही-भीतर कुढ़ता था और तरस भी खाता था। सब के सब किसान-सेवक ही थे। सो भी पुराने। मगर सेवा की ऐन परीक्षा में फेल हो रहे थे।

रेल, मोटर या दूसरी सवारियों से शान से पहुँच के फूल-मालाएँ पहनना, नेता बनना, पुजवाना और गर्मागर्म लेक्चर झाड़ना इसे किसान-सेवा नहीं कहते। यह तो दूकानदारी भी हो सकती है और सेवा भी। इससे तो किसानों को धोखा हो सकता है। दस-बीस मील पैदल चल के, कीचड़-पानी के साथ कुश्ती करके, जान की बाजी लगा के, दौड़-धूप के और भूखों रह के भी जब अपना प्रोग्राम पूरा किया जाय, किसानों का उत्साह बढ़ाया जाय, उनका संघर्ष चलाया जाय और उन्हें रास्ता दिखाया जाय तभी किसान-सेवा की बात उठ सकती है। यही है उस सेवा की अग्नि-परीक्षा। इसमें बार-बार उत्तीर्ण होने पर ही **किसान-सेवक बनने का हक किसी को हो सकता है।** दूर-दूर के गाँवों से अपना काम-धाम छोड़ के किसान लोग तो भीगते-भागते और धूप में जलते या जाड़े में काँपते हुए मीटिंग में इस आशा से आए कि अपने काम की बातें सुनेंगे, अँधेरे में अपना रास्ता देखेंगे। मगर बातें सुनाने और रास्ता बताने वाले नेता ही गैरहाजिर! उनने अपने दिल में पक्की वजह बना ली कि सवारी न मिली, मौसम ही बुरा था वग़ैरह-वग़ैरह। मगर किसान को क्या मालूम? उसे किसने कहा था कि मौसम खराब होने पर सभा न होगी, या उसे ही (हर किसान को ही) सवारी का प्रबन्ध करना होगा? ये बातें तो जान-बूझ के उनसे कही जाती हैं नहीं। सिर्फ अन्न-पानी या पैसे उनसे इस काम के लिए माँगे जाते हैं और ये गरीब खुशी-खुशी देते भी हैं। चाहे खुद भूखे रह जायँ भले ही! ऐसी हालत में उन्हें निराश करने या ऐन मौके पर मीटिंग में न पहुँचने का हक किस किसान-नेता या किसान-सेवक को रह जाता है? ऐसा करना न सिर्फ गैर-जिम्मेदारी का काम है, बल्कि किसानों के हितों के साथ खिलवाड़ करना है। ऐसी दशा में तो किसान-आन्दोलन सिर्फ दूकानदारी हो जाती है।

मगर हमें इस दिक्कत का सामना करना न पड़ा और अन्त में तय पाया कि खामख्वाह चलना ही होगा। हमें इससे जितनी ही खुशी हुई वह कौन बताएगा?

नाव चल पड़ी। बातें करते-कराते और सोते-जागते हम लोग उस कोयले से भी काली रात में नदी की भयंकर धार में नाव लिये चले जा रहे थे। रास्ते में कई बार किनारे लगे यह तो कही चुके हैं। कोई बता नहीं सकता कि हमें कितने मील तय करने पड़े। मगर जब सुबह हुई तो पता चला कि अभी दूर चलना है। दिक्कत यह थी कि रास्ते में धाराएँ कई मिलीं और कौन कदवा जायगी यह तय करने में दिक्कतें पेश आयीं। तो भी जैसे-तैसे हम ठीक रास्ते से चलते गये। जानवरों का सामना तो कभी हुआ नहीं। मगर रास्ते में कई बार ऐसा हुआ कि पानी बिलकुल ही कम था और हमारी छोटी-सी नाव भी जमीन से टकरा जाती थी। फिर आगे बढ़ें तो कैसे? तब हर बार हम लोग उससे उतर पड़ते जिससे हल्की हो के ऊपर उठ आती। साथ ही आगे-पीछे लग के ठेलते जाते भी थे। इस तरह इस यात्रा का मजा हमें मिला। इसी ठेला-ठाली ने नाव को ठिकाने लगाया।

एक दिक्कत यह भी थी कि रास्ते में गाँव तो शायद ही कहीं मिले। सिर्फ मक्की आदि के खेत चारों ओर खड़े थे। हाँ, कहीं-कहीं उनकी रखवाली करने वाले किसान झोंपड़े डाले पड़े थे। उनसे ही रास्ते का पता हमें जरूरत के वक्त लग जाता था। हाँ, उन्हें भी यह देख के हैरत होती थी कि आखिर कैसे पागलों की हमारी टोली थी, जो मस्ती में झूमती चली जाती थी। वे तो समझते थे कि उधर तो उन जैसे सख्ती के बर्दाश्त करने वाले लोग ही जा सकते हैं और हमें वे समझते थे कोरे बाबू। और बाबुओं की गुजर उधर थी कहाँ? इससे वे ताज्जुब में पड़ते थे। उन्हें क्या मालूम कि हम बाबुओं को ठीक रास्ते पर लाने वाले हैं? वे क्या जानते गये कि हमसे बाबू भी खार खाते और डरते हैं? वे जानते न थे कि हम जन-सेवा के नाम पर होने वाली दूकानदारी को मिटाने वाले हैं। यदि उन्हें मालूम होता कि हम जमींदारी-प्रथा को उसी घारे में डुबा के घड़ियालों के हवाले करने वलो हैं तो वे बिचारे कितने खुश होते! क्योंकि सभी के सभी जमींदारों के द्वारा बुरी तरह सताये गये थे।

इस प्रकार चक्कर काटते और घूमघुमाव करते-करते हम लोग वहाँ पहुँचे जहाँ नाव लगनी थी और पैदल चलना था। हमें खुशी हुई कि आ तो गये। मगर अभी कई मील पैदल खेतों से हो के गुजरना था। उसी जगह नित्य कर्म, स्नानादि से फुर्सत पा के हम लोग 'क्विक् मार्च' चल पड़े। दौड़ते तो नहीं ही थे। हाँ, खूब तेज चलते थे। रात भर नाव में पड़े-पड़े एक तरह की थकावट आ गयी थी। उसे मिटाना और सवेरे टहलना ये दोनों ही काम हमें करने थे। इसीलिए कुछ तेज चलना जरूरी था। रास्ते में पता लगना मुश्किल था कि किधर जा रहे थे। चारों ओर मक्की ही मक्की खड़ी थी। उस इलाके में यह फसल खूब होती है और बरसात शुरू होते ही तैयार भी हो जाती है। जब और जगह देहातों में मक्की का भुट्टा देखने को भी नहीं मिलता तभी वहाँ उसकी फसल पक के तैयार हो जाती है।

इस तरह नौ-दस बजे उस आश्रम पर पहुँचे जहाँ श्री नागेश्वर सेन ने सभा

की तैयारी कर रखी थी। वहाँ देखा कि दूध-दही का टाल लगा था। बहुत लोगों के खाने-पीने की तैयारी थी। दूर-दूर से आने वाले किसानों को भी खिलाने-पिलाने का इन्तजाम था। इसीलिए इतना सामान मौजूद था। किसान गाय-भैंसें पालते ही हैं। एक वक्त का दूध दे दिया और काफी हो गया। गरीब और पीड़ित होने पर भी किसान कितना उदार है इसका अनुभव मुझे बहुत ज्यादा है। मगर जो कोई अनजान आदमी भी वहाँ जाता वह यह देख के हैरत में पड़ जाता। या तो धनियों की ही सभा की तैयारी समझता, या किसानों की उदारता पर ही मुग्ध होता।

तीसरे पहर वहाँ बहुत बड़ी मीटिंग हुई। जमींदारों के हाथों किसान वहाँ किस प्रकार सताये जाते हैं और उनकी खास शिकायतें क्या हैं ये सब बातें मुझे मालूम हुईं। मैंने उनका उपाय सुझाया और किसान खुशी-खुशी सुनते रहे। इस प्रकार सभा का कार्य कर चुकने पर दूसरे दिन कहारों के कन्धे पर बैठ के मैं नारायणपुर स्टेशन तक गया। वहीं गाड़ी पकड़ के बिहटा लौटा। साथ में आश्रम के लड़कों के लिए एक बोरा भुट्टा भी लेता गया।

16

सन् 1933 ई. वाला जुलाई का महीना था। जहाँ तक याद है, 15वीं जुलाई की बात है। तारीख इसलिए याद है कि किसान-सभा की तरफ से गया के किसानों की जाँच का काम हमने पहले-पहल शुरू किया था। सो भी ऐन बरसात में। उसकी लम्बी रिपोर्ट की दुहरी प्रति तैयार करने में हमें महीनों लग गये थे। असल में अमावाँ टेकारी के जमींदार राजा हरिहरप्रसाद, नारायण सिंह की ही जमींदारी गया जिले में चारों ओर फैली है। इसलिए उनके साठ गाँवों में जा के हमें कच्चे चिट्ठे का पता लगाना जरूरी था। जिले भर के साठ गाँवों से सारी जमींदारी की कलई पूरी तरह खुल जाती थी। इसलिए उतने गाँवों में जाना पड़ा। जब राजा साहब ने हमारी रिपोर्ट माँगी, ताकि हालत जान के कुछ कर सकें, तो हमें मजबूरन दो प्रतियाँ तैयार करनी पड़ीं। बेशक, इस परेशानी का और बाद में बातचीत वगैरह में जो वक्त बीता उसका कुछ भी नतीजा नहीं हुआ। सबसे बड़ी बात यह हुई कि इस समूची घटना ने मेरे दिल पर यह अमिट छाप लगा दी कि जमींदारी मिटाने के सिवाय किसानों को अत्याचार और मुसीबतों से उबारने का और कोई रास्ता हई नहीं। मेरे दिल में जो यह खयाल कभी-कभी हो आता था कि शायद गांधी जी की बातें सही हों और जमींदार सुधर जायँ, वह इस घटना के बाद सदा के लिए मिट गया और मैंने दिल से मान लिया कि जमींदारी ला-इलाज मर्ज़ है। 'गया के किसानों की करुण कहानी' के नाम से

उस रिपोर्ट की प्रधान बातें पुस्तक के रूप में पीछे छापी भी गयीं। इन्हीं सब कारणों से और आगे लिखी वजहों से भी वह बरसात की 15वीं जुलाई अभी तक भूली नहीं।

उसी दिन मैं, पं. यमुना कार्यी, पं. यदुनन्दन शर्मा और डॉ० युगलकिशोर सिंह किसानों की हालत जाँचने के लिए प्रान्तीय किसान-सभा की तरफ से जहानाबाद पहुँचे थे। पं. यदुनन्दन शर्मा ने गया जिले में हमारा रोज-रोज का प्रोग्राम ठीक किया था। घोर देहातों में वर्षा के दिनों में जाँच का प्रोग्राम पूरा होना, जो अपने ढंग का पहला ही था, आसान न था। दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह मील और इससे भी ज्यादा दूरी पर हमें ठीक समय पर पहुँचना था। नहीं तो जाँच असम्भव हो जाती। फिर किसानों को जमा करना गैर-मुमकिन जो हो जाता अगर हम एक दिन भी चूक जाते। जाँच के काम के बाद हमें उनकी बड़ी-बड़ी सभाओं में उपदेश देना भी जरूरी था। इसलिए शर्मा जी ने ऐसा सुन्दर प्रबन्ध किया था कि एक दिन भी हमारे काम में गड़बड़ी न हो सकी। देहाती रास्तों को तय करके हम बराबर ही ठीक समय पर सभी जगह पहुँचते गये। एक जगह हमारा काम पूरा भी नहीं हो पाता कि दूसरी जगह से सवारी आ जाती। यह भी था कि सवारी की जहाँ कोई भी आशा न होती वहाँ हम पैदल ही जा धमकते। आखिर मूसलाधार वृष्टि में सवारी कौन मिलती और कैसे? जो काम बाबुआनी ढंग से कांग्रेस की जाँच कमेटी गर्मियों और जाड़ों में कर न सकी वही हमने मध्य बरसात में इस खूबी से पूरा किया कि हम खुद हैरत में थे कि यह कैसे हो सका! दूसरे लोग तो इसे असम्भव ही समझे बैठे रहे। सबसे बड़ी बात यह हुई कि किसानों की मुस्तैदी और तैयारी का हमें विश्वास हो गया, बशर्ते कि पं. यदुनन्दन शर्मा जैसे कार्यकर्त्ता उन्हें मिल जायँ। हमने मान लिया कि क्षेत्र तैयार है। सिर्फ धुनी किसान-सेवकों और पथ-दर्शकों की जरूरत है। यह हमारा विश्वास, जो उस समय की किसानों की आकस्मिक मुस्तैदी से हुआ था, तब से बराबर मजबूत होता ही गया है।

यह मानी हुई बात है कि किसान-सभा के पास कोई कोष न था। अभी-अभी तो वह पुनजीर्वित हुई थी। और सच्ची बात तो यह है कि सभा में कोष कभी रहा ही नहीं है, हालाँकि मौके पर उसके नाम से हजारों रुपये खर्च होते रहे हैं। असल में जनता की संस्थाओं के पास स्थायी कोष होना भी नहीं चाहिए। यह तो मध्यम वर्ग की संस्थाओं की ही चीज है कि रुपये जमा हों। उनका काम रुपयों के बिना चली नहीं सकता। मगर विपरीत इसके जनता की संस्थाओं का असली कोष है उन पर जनता का पूरा-पूरा विश्वास और प्रेम। फिर तो अन्न-धन की कमी हो सकती नहीं। हाँ, वह मिलता रहता है उतना ही जितने की समय-समय पर जरूरत हो। न ज्यादा मिलता है और न कम। सिर्फ काम चलाऊ मिलता है। ईमानदार संस्थाएँ ज्यादा वसूली खुद ही नहीं करती हैं। अगर कहीं ज्यादा हो गयी तो खामख्वाह उसका

सदुपयोग होना असम्भव हो जाता है। कुछ-न-कुछ ऐसा उपयोग होता ही है जिसकी कोई जरूरत न हो। नतीजा यह होता है कि यह पाप छिपता नहीं और संस्था में घुन लग जाता है। पैसा जमा हो जाने पर सेवा की जगह एक तरह की महन्थी ले लेती है और कोढ़ी लोगों का प्रवेश उन संस्थाओं में होने लगता है, जब कि पहले केवल धुनी और परिश्रमी लोग ही आते थे।

हमारी उस जाँच में किसानों ने न सिर्फ सवारी और हमारे खान-पान आदि का ही प्रबन्ध किया, बल्कि जाँच के हर केन्द्र में उनने यथाशक्ति पैसे का भी पूरा प्रबन्ध किया जो चुपचाप शर्मा जी के हवाले कर दिया करते थे। हमें रेल से भी कभी-कभी जाने का मौका मिला। पटने से तो रेल से ही गये थे। शहर में जाने पर सवारी और खान-पान का भी खर्च जरूरी था, इसीलिए उनने पैसे का प्रबन्ध किया था। जब एक जाँच खत्म करके रवाना होने लगते तो पैसे मिल जाते। हमें यह भी पता लगा कि वे पैसे सभी किसानों से थोड़ा-थोड़ा करके ही वसूल किये गये थे। जाँच के केन्द्र में हमारे खान-पान या सवारी के खर्च का प्रबन्ध कर लेने पर जो बच जाता वही हमें मिलता। वही हमारी जरूरत के लिए काफी होता। जाँच का आखिरी काम हमने फतहपुर थाना, गया के सदर सब-डिविजन में किया था। वह निरा जंगली और पहाड़ी इलाका है। अमावाँ, महन्थ गया आदि की जमींदारियाँ हैं। **महन्थ ने तो किसानों को पस्त और पामाल कर दिया है। अमावाँ के भी जुल्म कम नहीं हैं।** पिछड़े हुए इलाके में जुल्म खामख्वाह ज्यादा होते ही हैं। मगर हमें यह जानकर ताज्जुब हुआ कि वहाँ भी हमारी खर्च के लिए काफी पैसे वसूल हो गये थे। असल में वहीं हमें पता चला कि सभी जगह किसान जाँच के बाद शर्माजी को पैसे देते रहे हैं। कोई जाँच-केन्द्र नागा नहीं गया है।

बाहरी दुनियाँ को शायद विश्वास न हो और ताज्जुब हो कि किसान-सभा की प्रारम्भिक हालत में ही यह बात कैसे हो सकी। मगर मैं बिहार प्रान्तीय किसान-सभा के बारे में पक्की-पक्की बात कह सकता हूँ कि मुश्किल से सौ-दो सौ रुपये आज तक हमें हमारे शुभचिन्तकों से मिले होंगे, सो भी दस-बीस के ही रूप में, न कि एक बार। ज्यादे से ज्यादा पचास रुपये एक बार एक ने दिये, सो भी यूनाइटेड पार्टी के झमेले के ही समय सन् 1933 ई. के शुरू में ही। लेकिन आज तक हमारी सभा ने लाखों रुपये जरूर ही खर्चे होंगे। **केवल मेरी सफर में ही, जो महीने में पचीस दिन** तो जरूर ही होती रहती है और कभी-कभी ज्यादे दिन भी, साल में **कम-से-कम पाँच-छः हजार रुपये खर्च होई जाते होंगे।** यह सिलसिला प्रायः दस साल से जारी है। होता है यही कि जहाँ जिसे मुझे बुलाना होता है वहीं से मेरे सफर खर्च का प्रबन्ध जरूरी है। अन्दाज से उतने पैसे या तो पहले ही भेज दिये जाते हैं या वहाँ जाने पर मिल जाते हैं वहाँ के लोग पूछ लेते हैं कि खर्च कितना चाहिए। मैं भी जितने से काम चले उतना बता देता हूँ। कभी दो-चार रुपये ज्यादा भी मिल जाते

हैं जब वे लोग खुद देते हैं बिना पूछे ही। दूसरे प्रान्तों में दौरा करने पर भी यही होता है। फलतः **'कुआँ खोदो और पानी पियो'** वाला सिद्धान्त ही मेरे साथ चलता है। न तो ज्यादा बचता है और न काम रुकता है। यदि बचता भी है तो साल में दस-बीस ही, सो भी एक-दो के हिसाब से ही। ठीक ही है, 'बासी बचे न कुत्ता खाय।' अब तो यह सभी जानते हैं कि मेरे दौरे का खर्च किसानों को ही करना पड़ता है। इसीलिए पहले से ही जमा कर रखते हैं। हाँ, जमींदारों और उनके दोस्तों को शायद यह मालूम न हो। किन्तु हमें उससे गर्ज ही क्या है? वे मेरे खर्च के बारे में अन्दाज लगाते रहें कि कौन देता है। जो किसान उन्हें और दुनियाँ को देता है वही मुझे क्यों न दे यदि मैं उसी का काम करने जाऊँ? उसे विश्वास होना चाहिए कि मैं उसके लिए मरता हूँ या उसके दुश्मनों के लिए, और यह विश्वास उसे है यह मेरा यकीन है। तब और चाहिए क्या? और अगर मैं उस किसान की आशा छोड़ पैसे के लिए औरों का, जो प्रायः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसके शत्रु ही हो सकते हैं, मुँह देखूँ तो मुझ-सा धोखेबाज और पापी कौन होगा? यदि किसान-सभा भी ऐसा करे तो वह किसानों की सभा हर्गिज नहीं हो सकती है, ऐसा मैं मानता हूँ।

हाँ, तो जहानाबाद से पहले दिन अलगाना और दूसरे दिन धनगाँवा जाना था। ये दोनों गाँव जहानाबाद से पूर्वोत्तर और पूर्व हैं। कभी हरे-भरे थे। मगर अब वीरान हैं। उन गाँवों में जाँच के सिलसिले में जो बातें मालूम हुईं उनका वर्णन हमें यहाँ नहीं करना है और न दूसरे गाँवों का ही। 'करुण कहानी' में ये सभी बातें लिखी हैं। मगर दो-एक घटनाएँ ऐसी हैं जिन्हें यहाँ लिख देना है। कहते हैं कि जीव एक दूसरे को खा के ही कायम रह सकते हैं 'जीवो जीवस्य जीवनम्।' अलगाना में टेकारी की जमींदारी के एक पटवारी हमें मिले। वह किसानों के साथ लगान की वसूली में खूब सख्ती करते थे। फिर भी कबूल करने को तैयार न थे। एक दिन बातों बात में वे बोल बैठे कि टेकारी की ही जमींदारी में किसी और मौजे में रहते हैं। बकाया लगान में जमीन नीलाम हो गयी, तो यहाँ नौकरी करने लगे। पूछने पर यह बात भी उनने कबूल की कि लगान एक तो ज्यादा था। दूसरे फसल भी मारी गयी लगातार। इसीलिए चुकता न कर सके जिससे खेत नीलाम हो गये। मगर अलगाना में वे खुद दूसरों की जमीन नीलाम करवाने में लगे थे और इस तरह अपनी जीविका चलाते थे। असल में जमींदारी की मशीन के लिए तेल का काम ये उजड़े किसान ही करते हैं। वही इसे चलाते हैं। इसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त हमें वे पटवारी साहब मिले। इसीलिए जान-बूझ के किसानों को तबाह किया जाता है। नहीं तो जमींदार की नौकरी कौन करता, सो भी दस-पाँच रुपये महीने की? जमींदारी का पौधा पनपता और फूलता- फलता है किसानों के खून से ही!

धनगाँवा में हमें पता चला कि एक तो साग-तरकारी के खेतों को सींचने के

लिए पुराने जमाने में जमींदार ने जो चार बड़े कुएँ बनवाये थे वे खराब हो गये और उनकी मरम्मत न हुई। दूसरे चुनाव के जमाने में जमींदार के तहसीलदार या सर्किल अफसर उम्मीदवार होते और मुफ्त ही साग-तरकारी वोटरों को खिलाने के लिए ले जाते हैं। क्योंकि धनगाँवा जहानाबाद से निकट है। इसलिए हार कर कोइरी लोगों ने साग तरकारी की खेती ही बन्द कर दी। अब सभी केवल धान की खेती करते हैं। वह भी कभी चौपट होती और कभी कुछ सँभलती है। क्योंकि नदी का बाँध खत्म हो जाने से पानी के बिना धान मर जाता है। जमींदार बाँध की मरम्मत करता नहीं और दस-पाँच हजार रुपये लगाना किसानों के लिए गैर-मुमकिन है।

हमें मझियावाँ जाना था। रात में **महमदपुर** ठहरे थे—वही **महमदपुर** जहाँ के किसानों ने अपने संगठन और मुस्तैदी से पीछे चलके जमींदारों के नाकों चने चबा दिए और आखिरकार पूरे **अस्सी बीघे नीलाम जमीन जमींदारों ने उन्हें ही जोतने-बोने दी।** क्योंकि नीलामी के बाद जो जो काण्ड हुए उसमें जमींदारों को लेने के देने पड़े और काफ़ी घाटा हुआ। जब किसानों ने उनका मद अपनी मुस्तैदी से उतार दिया तो आखिर करते क्या? इसका पूरा वृत्तान्त तो 'किसान कैसे लड़ते हैं' पुस्तक में मिलेगा। रात में खूब पानी पड़ा था और सुबह भी जारी था। मझियावाँ आठ-नौ मील से कम न था, सो भी बरसात में, यों तो देहाती लोग नजदीक ही कह देते हैं। सवारी का प्रबन्ध असम्भव था। पानी में होता भी क्या? वहाँ की मिट्टी केवाल की (काली-चिकनी) है। पाँव फिसलते देर नहीं, इतनी सख्त होती है। कहीं-कहीं नर्म भी इतनी होती है कि पाँव को छोड़ना ही नहीं चाहती। घुटने तक जा लिपटती है। रास्ते में एक गहरा नाला भी है। मगर हमें तो प्रोग्राम पूरा करना था। सो भी **मझियावाँ बहुत ही मजलूम है।** राजा अमावाँ ने उसे भून डाला है। अभी-अभी बकाश्त संघर्ष के बाद कुछ सँभलने लगा है। **इसी गाँव ने पं. यदुनन्दन शर्मा को जन्म दिया है।** उस समय लाखों रुपये लगान के बाकी थे ऐसा कहा जाता था।

ऐसे गाँव में यदि न जाते तो सारा गुड़ गोबर ही हो जाता। वहाँ जल्दी कोई पहुँचता भी नहीं। वहाँ का रास्ता कुछ ऐसा है। इसलिए हम लोग हिम्मत करके चल पड़े। उछलते-कूदते, गिरते-पड़ते बढ़ते जाते थे। यात्रा बेशक बड़ी भयंकर थी। हमारी उस दिन अग्नि-परीक्षा थी। यदि फेल होते तो कहीं के न रहते। **मझियावाँ ने सन् 1939 ई.** की बरसात के समय जो बहादुरी बकाश्त की लड़ाई में दिखाई और विशेषतः वहाँ की स्त्रियाँ जिस मुस्तैदी से लड़ के विजय पाने में समर्थ हुईं उसका बीज हमने **सन् 1933 ई.** की बरसात में ही उसी जाँच वाली यात्रा में बोया था। वही छः साल के बाद फल-फूल के साथ तैयार हो गया। तब तो साफ ही है कि उस दिन चूकने से काम खराब हो जाता। इसलिए हँसी-खुशी चल पड़े थे। तारीफ की बात यही थी कि हममें कोई भी हिचकने वाला न दीखा। सभी ने उत्साह के साथ आगे बढ़ना ही पसन्द किया। नहीं तो मजा किरकिरा हो जाता। ऐसे समय में दुविधे से काम बिगड़ता है।

नतीजा यह हुआ कि हम दोपहर के पहले ही मझियावाँ ठाकुरबाड़ी पर जा पहुँचे। लोग तो निराश थे कि हम पहुँच न सकेंगे। मगर हमें देख किसानों में बिजली दौड़ गयी। जो काम हमारे हजार लेक्चरों और उपदेशों से नहीं होता वही उस दिन की हमारी हिम्मत ने कर दिया। इसे ही कहते हैं मौन या अमली उपदेश। **'कह सुनाऊँ या कर दिखाऊँ'** में 'कर दिखाऊँ' इसी का नाम है।

मझियावाँ के किसानों की जो दरिद्रता हमने पहले-पहल देखी वह कभी भूलने की नहीं। जमींदार कितने निर्दय और वज्र हृदय हो सकते हैं। यह चित्र हमारी आँखों के सामने पहले-पहल खिंचा वहीं पर। हमने घर-घर घूम के उनकी दशा देखी, उस पर खून के आँसू बहाये और जमींदारी को पेट भर के कोसा।

17

सन् 1938 ई. की बरसात गुजर चुकी थी। आश्विन या कार्तिक का महीना होगा। अभी तक देहाती सड़कों की मरम्मत न हो सकी थी। किसान रबी की फसल बोने में लगे थे। रास्तों में कीचड़ और पानी की कमी न थी। ठीक उसी समय **श्री विश्वनाथ प्रसाद मर्दाना** ने बलिया जिले में हमारे दौरे का प्रोग्राम बनाया। हमें युक्तप्रान्त के कई जिलों में दौरा करना था। **श्री हर्षदेव मालवीय** (इलाहाबाद) ने उसका प्रबन्ध किया था। बदकिस्मती से कहिए या खुश-किस्मती से, बलिया जिले के लिए केवल एक ही दिन का समय मिला था और मर्दाना ने एक ही दिन में एक छोर से दूसरे छोर तक तीन-चार मीटिंगों का प्रबन्ध किया था। मोटर से चलना था। पर सड़कें तो न मोटर के बस की थीं और न मर्दाना के ही कब्जे की। उन सड़कों के ही बल पर चार मीटिंगों का इन्तजाम करना खतरे को मोल लेना था। हुआ भी ऐसा ही। मगर मर्दाना तो मर्दाना ही ठहरे। उनमें जोश और हिम्मत काफी है। उम्र थोड़ी होने से खतरे का सोच-विचार जरा कम करते हैं। जो होगा सो देखा जायगा, यही खयाल रहता है। इसीलिए खतरे के साथ खेलने में उन्हें मजा आता है। हमारे कार्यकर्त्ताओं में आमतौर से जवाबदेही का उतना खयाल नहीं है जितना होना चाहिए और यह बात आन्दोलन के लिए बहुत बुरी है। देहात की सभाओं के प्रबन्ध के सिलसिले में बहुत बड़े और जवाबदेह कहे जाने वालों की खतरनाक गैर-जवाबदेही देख के मुझे हैरत में आ जाना पड़ा है, सो भी बार-बार। यह हमारी बहुत बड़ी कमी है जो मुझे रह-रह के बुरी तरह अखरती है।

हाँ, तो बलिया स्टेशन पर आधी रात के बाद ही हम लोग उतरे थे और वेटिंग रूम में ही ठहर गये। सवेरे ही खा-पी के रवाना हो जाने की तैयारी थी।

एक ही मोटर थी। उसी पर जितने लोग लद सके लद के रवाना हो गये। **रेवती, सहतवार, बाँसडीह** और **मनियार** इन चार स्थानों में सभायें करके अगले दिन सुबह के पहले ही प्रायः दो ही बजे **बेलथरा रोड** स्टेशन पहुँच के बस्ती जाने की ट्रेन पकड़नी थी। जिले के पूर्वी सिरे के करीब पहुँच के पहली मीटिंग थी और उत्तर-पश्चिमी किनारे पर पहुँच के रेलगाड़ी पकड़नी थी। सड़कें तो सब की सब कच्ची ही थीं केवल शुरू में ही थोड़ी सी पक्की मिली। बरसात ने उनकी ऐसी फजीती कर डाली थी कि रास्ते भर मोटर उछाल मारती थी। मुझे तो सबसे ज्यादा ताज्जुब उस मोटर की मजबूती पर था जो टूटी नहीं और अन्त तक काम करती ही गयी।

दोहपर के करीब हम लोग **रेवती** पहुँचे। एक बाग में मीटिंग का प्रबन्ध था। पास में ही एक डिप्टी साहब का खेमा था। शायद **तकावी** या इसी प्रकार का कर्ज वे बाँट रहे थे गरीब किसानों को। मगर उनने कृपा की और हमारी मीटिंग में बाधा नहीं हुई। हमने अपनी बात किसानों को कह सुनाई और **बाँसडीह** के लिए चल पड़े। रास्ते में ही **सहतवार** गाँव पड़ा। जाने के समय भी पड़ा था और वहाँ के लोगों ने हमें रोकने का तय कर लिया था। जब लौटे तो मजबूर होना पड़ा। देहात का यह एक अच्छा बाजार है। लोग जमा हो गये। दूसरे गाँवों के भी लोग थे। पेड़ों के बीच एक ऊँची पक्की जगह पर, जो शायद एक मन्दिर की है, हमने उन्हें अपना कर्त्तव्य समझाया और किसानों के लिए क्या करना जरूरी है यह बताया। फिर फौरन ही बाँसडीह का रास्ता लिया।

बाँसडीह में बड़ी तैयारी थी। कोठे पर ठहरे। बहुत लोग वहीं जमा हो गये। उनसे बातें होती रहीं। फिर नीचे काफी भीड़ हुई। हमें मजबूरन कोठे पर ही छत के किनारे से उपदेश देना पड़ा ताकि नीचे और ऊपर के सभी लोग अच्छी तरह सुन सकें। दूसरी जगह जाने में देर होती और हमें अभी मनियर जाना था, जो वहाँ से काफी दूर था। इसीलिए कोठे पर से ही उपदेश देने का प्रबन्ध किया गया था। हमने वहाँ का काम भी जल्दी-जल्दी में खत्म किया और चटपट मनियर के लिए रवाना हो गये। असल में सबसे बड़ी और तैयारी वाली **सभा मनियर** में ही थी। खुशी यही थी कि वह सभा रात में होने को थी। यदि दिन में होती तो हम हर्गिज वहाँ पहुँची न सकते। अँधेरा तो हो गया पहुँचते ही पहुँचते। **मर्दाना ने रात में उसका प्रबन्ध करके दूरंदेशी और जवाबदेही का परिचय जरूर दिया था।**

बेशक, जैसी आशा थी नहीं वैसी सभा वहाँ हुई। हमने स्थान की तैयारी वग़ैरह देखी सो तो देखी ही। हमें उस चीज ने आकृष्ट नहीं किया। हाँ, **जब देखा कि सैकड़ों किसान-सेवक (वालंटियर) वर्दी पहने और हाथ में लाठी लिये चारों तरफ तैनात थे और भीड़ को कब्जे में रख रहे थे तो हमें बड़ी ही खुशी हुई।** मीटिंग का प्रबन्ध, बोलने आदि का तरीका ये सभी बातें सराहनीय थीं। वहाँ पर हम घण्टों बोलते रहे और किसानों की समस्याओं को खोल के लोगों के सामने रख दिया। असल

में उस दिन की चार मीटिंगों में पहली में हम अच्छी तरह बोल सके थे हालाँकि जल्दी में जरूर थे। मगर मनियर में तो निश्चिन्त हो के बोलते रहे। लोग भी ऐसे शान्त थे कि गोया हमारी बातें मस्त हो के पीते जाते थे। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के युग में भी किसानों की तकलीफें पहलें जैसी ही रह गयीं यह देख के लोगों में बहुत ही क्षोभ था। लोग अब असलियत समझने लग गये थे। अब तो बातों से नहीं, किन्तु कामों से मन्त्री लोगों की जाँच कर रहे थे और साफ देख रहे थे कि उनकी बातें डपोरशंखी निकलीं। इसीलिए मुझसे इसका रहस्य सुनने और समझने में उन्हें मजा आ रहा था। किसान-सभा की जरूरत वे लोग अब समझने लगे थे।

खैर, सभा तो खत्म हुई और हम लोग डेरे पर आय। मैंने दूध पिया और साथियों ने खाना खाया। इतने में रात के दस-ग्यारह बज गये। हम चलने की जल्दी में थे। बस्ती जिले का प्रोग्राम बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। असल में वहाँ की यह यात्रा पहली ही थी। बलिया में तो कई बार आ चुके थे। सो भी एक जालिम जमींदारी के किसानों का जमाव था। इसलिए मुझे बड़ी चिन्ता थी ट्रेन पकड़ने की। मगर मोटर के करते साथी जरा निश्चिन्त थे। फलतः खा-पी के रवाना हो गये। मोटर पच्छिम की ओर चल पड़ी। हाँ, यह कहना तो भूली गया कि सरयू नदी की बाढ़ ने लोगों के घरों और उनकी फसलों को बर्बाद कर दिया था। सड़कें भी उसने चौपट कर दी थीं। रास्ते में बर्बाद गाँवों और घरों को देखते चले जा रहे थे। लोग बाहर निकल- निकल के हमें अभिवादन करते थे। उन्हें हमारी खबर तो थी ही। कुछ लोग सभा में लौटे भी थे। इस प्रकार हम आगे जाई रहे थे कि पता लगा कि आगे सड़क टूटी है। मोटर 'पास' नहीं कर सकती। यदि बगल से जा सकें तो जायँ। मगर पक्का रास्ता बताने वाला कोई न था। बस, मैं तो सन्न हो गया और जान पड़ा कि कोई गड़बड़ी होने वाली है। कलेजा धक्-धक् कर रहा था।

मोटर रास्ता छोड़ के खेतों से चली। अन्दाज से ही ड्राइवर चला रहा था। एक तो रात, दूसरे अनजान रास्ता, तीसरे मोटर और खेतों से उसका चलना! यह गजब की बात थी! हम लोग सचमुच ही मौत के साथ उस समय खेल रहे थे। खेतों से घूमती-घामती और बागों से होती मोटर धीरे-धीरे इस ढंग से चल रही थी कि आगे फिर सड़क मिल जायगी, जो ठीक होगी। जरूरत होने पर हममें से एकाध उतर के आगे रास्ता देख आते। तब मोटर बढ़ती। ऐसा होते-होते एक बार एकाएक हममें से एक बोल उठा कि "कुआँ है, कुआँ है!" ड्राइवर ने मोटर फौरन रोक दी। असल में बहुत ही धीमी चाल से चलती थी तभी हम बच सके। नहीं तो मोटर ही कुएँ में जा गिरती। कुआँ बरसात में घास से छिपा था। जब उसके ऐन किनारे में पहुँचे तभी वह नजर आया और हम लोग बाल-बाल बचे।

फिर आगे बढ़े। मगर सड़क लापता थी। हालाँकि अपने खयाल से हम लोग उसके नजदीक से ही चल रहे थे। असल में तो हमें रास्ता ही नहीं मिला कि सड़क

की ओर बढ़ें। सर्वत्र कीचड़-पानी से ही भेंट होती रही। इसी तरह आगे बढ़ते और घूम-घुमाव करते जा रहे थे। नतीजा यह हुआ कि हम लोग सड़क से एक तो बहुत दूर हट गये। दूसरे पच्छिम ओर चलते-चलते पूर्व की ओर हो गये। मोटर के चक्कर और घुमाव के करते ही ड्राइवर को भी और हमें भी पता ही न लगा कि किधर से किधर जा रहे हैं। यों ही चलते-चलाते हालत यह हुई कि जोते खेतों से हम गुजरने लगे। यह थी तो हमारी सरासर नादानी। मोटर की सवारी में अँधेरी रात में ऐसा काम करने की हिम्मत भला कौन रखेगा कि रास्ता छोड़ के खेतों से अनजान दिशा में अन्दाज के ही बल चले? मगर **"आरत करहिं विचार न काऊ"** वाली बात थी। हमें अगले दिन का प्रोग्राम पूरा करना था। और मर्दाना ने पक्का पता सड़क का न लगा के हमें जो यों ही कह दिया कि सड़क ठीक है वह उसी का प्रायश्चित्त हमें किसी प्रकार ठीक समय बेलथरा पहुँचा के करना चाहते थे। इसीलिए उस समय हमें मौत भी भूल गयी थी। नहीं तो कुएँ वाली घटना के बाद तो खामख्वाह रुक जाते।

इतने में एकाएक एक झील के किनारे हमारी मोटर जा पहुँची। जोते हुए खेतों से चलते-चलते हम समझी न सके कि किधर जा रहे हैं। तब तक पानी के किनारे जा पहुँचे। यह भी अन्दाज हुआ कि यह झील लम्बी है। अब हम निराश हो गये और घड़ी देखने लगे। पता चला कि दो से ज्यादा समय हो गया है। अब तक हम इस फिराक में थे कि रेल की सीटी सुनें या ट्रेन की आहट पायें। खयाल था कि स्टेशन निकट है। मगर अब निराश हो गये। जो तकलीफ उस समय हमें हुई कि आज का प्रोग्राम चौपट हुआ उसे कौन समझ सकता था? यदि समझने वाले होते तो अब तक किसान कहाँ-से-कहाँ चले गये होते! अब सोचा गया कि यहीं रुक जायँ। क्योंकि पता ही न था कि किधर जा रहे हैं। आगे पानी भी तो था। सारी रात जगे थे। पहले दिन चार सभाओं में बोलते-बोलते पस्त भी हो चुके थे। सोने का कोई सामान न था। चिन्ता अलग प्राण ले रही थी। इतने में फिर देखा कि तीन से भी ज्यादा बज चुके थे।

लाचार, सोचा गया कि सुबह चलेंगे। मगर नींद कहाँ? वह भी तो तभी आती है जब आराम और मौज के सामान मौजूद रहते हैं। अकेली तो आना जानती नहीं। लाचार किसी प्रकार कुछ घण्टे काटे। फिर खयाल आया कि सारे साज-सामान के साथ चलना है। इसलिए बैलगाड़ी तो जरूर ही चाहिए। उसके लिए दो-एक साथी पास के गाँव में गये भी। मगर मेरे साथ तो एक और बला आ लगी। पहले दिन की दौड़-धूप और परेशानी के बाद भी रात में नींद हराम रही। इसलिए मेरी आवाज कतई बन्द हो गयी। गला ऐसा रुँधा कि ताज्जुब होता था। मेरी जिन्दगी में गले की यह हालत पहली ही बार हुई और शायद आखिरी बार भी। जरा भी आवाज निकल न सकती थी। मेरी आवाज बड़ी तेज मानी जाती है। मगर वह एकाएक कहाँ—क्यों चली गयी—यह कौन बताये सिवाय डॉक्टरों

और वैद्य-हकीमों के? बुखार भी हो आया।

फिर भी जैसे-तैसे बैलगाड़ी पर बैठ के बेलथरा रोड पहुँचना तो था ही। पहुँच भी गये। उसी समय युक्तप्रान्त के **श्री मोहनलाल सक्सेना** कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल का दमामा बजाते बेलथरा पहुँचे थे। उनकी सभा थी। लोगों ने बोलने का हठ मुझसे भी किया। हालाँकि सक्सेना चौंकते थे। मगर यहाँ तो आवाज ही बन्द थी। इसलिए बला टली।

स्टेशन पर ही बस्ती वालों को अपनी लाचारी का तार दे के सन्तोष करना पड़ा। दूसरा चारा था भी नहीं। फिर तय पाया कि बनारस चल के गला ठीक करें। तब दौरा करेंगे। सभी जगह खबर भेज के प्रोग्राम स्थगित किया गया और हम लोग **काशी में बाबू बेनीप्रसाद सिंह** के यहाँ पहुँचे। वहीं दो या तीन दिनों में गला ठीक करके फिर दौरा आरम्भ किया गया।

18

ठीक तारीख और साल याद नहीं। बिहार की ही घटना है। सो भी पटना जिले की ही, बिहटा से दक्षिण मसौढ़ा परगने के नामी जालिम जमींदारों की जमींदारी की। भरतपुरा, धरहरा के जमींदारों से कोई भी जमींदार इस बात की तालीम पा सकता है कि जुल्म कितने प्रकार के और कैसे किये जा सकते हैं। खूबी तो यह कि सरकार और उसके कानूनों की एक न चले और किसान की कचूमर भी निकल आये। अब तो किसान-सभा के प्रताप से जमाना बदल गया है और उन्हीं जमींदारों को वहीं के पस्त किसानों ने नाकों चने चबवा दिये हैं। जो जमींदार भावली लगान की नगदी न करने में आकाश-पाताल एक कर डालते थे, क्योंकि भावली (दानाबन्दी) के चलते उन्हें पूरा फायदा था। उससे किसान तबाह भी हो जाते थे। वही आज झखमार के नगदी करने को उतारू हो गये। किसानों ने थोड़ी सी हिम्मत, समझदारी और दूरंदेशी से काम लिया और वे जीत गये। किसानों की सचाई और ईमानदारी से बेजा फायदा उठा के उन्हें ही तंग करने वाले जमींदारों के साथ कैसा सलूक करना ठीक है यह बात किसानों की समझ में आ गयी और काम बन गया। उनने समझ लिया कि सबके साथ युधिष्ठिर और धर्मराज बनना भारी भूल है। इतने ही से पासा पलट गया।

हाँ, तो धरहरा के ही एक जमींदार की कोठी ऐन पक्की सड़क पर ही अछुवा मौजे में बनी है। मौजा उन्हीं हजरत का है। वहाँ के किसान अधिकांश कोइरी हैं। यह एक पक्की किसान जाति है। कोइरी लोग सीधे-सादे, प्रायः अपढ़ और बड़े ही ईमानदार होते हैं। झगड़ा करना तो जानते ही नहीं, सो भी जमींदारों या उनके मामूली

अमलों तक के साथ। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि मनुष्यों में यह जाति गौ है। इतनी परिश्रमी और खून को पानी बना के खेती करने वाली कि कुछ कहिये मत। जेठ की धूप की लपट और धू-धू करती दुपहरी के समय मैदान में साग-तरकारी के खेतों को ये दिन-रात सींचते रहते हैं। तब कहीं जमींदार का कड़े से कड़ा पावना चुका पाते हैं। धान या रबी की पैदावार से काम नहीं चलता। इसीलिए अपने आपको झुलसा डालते हैं। फिर भी जमींदार ऐसा जल्लाद होता है कि हर घड़ी इनके खून का ही प्यासा रहता है। उसका पेट तो कभी भरता नहीं। वह तो कुम्भकर्ण ठहरा। फिर पेट भरे तो कैसे? उसे जितना ही ज्यादा मिलता है उसकी माँगें उतनी ही ज्यादा बढ़ती जाती हैं। इसीलिए स्त्री-पुरुषों, बाल-बच्चों और बूढ़ों तक के बदन को झुलसा के भी जमींदार की माँगों को पूरा करना किसान के लिए गैर-मुमकिन है। इसी से अछुवा के गरीब कोइरी किसान भी जमींदारी जुल्म के शिकार हो चुके थे।

असल में वहाँ के जमींदार सभी किसानों से, खासकर पिछड़ी जाति वालों से, दिन भर मुफ़्त काम करवाते रहते थे। बहुत तड़के उनके दरवाजे पर किसानों का पहुँच जाना लाजिमी था। फिर रात होने पर घर जाते थे। और तो क्या मिलेगा, दिन में एक बार भोजन तक मुहाल था यदि खुद घर से खाने के लिए साग-सत्तू न लाते। यदि जमींदार ने भूखे और लावारिस कुत्तों के टुकड़ों की तरह कभी दो-चार पैसे या पाव-आध सेर दे दिया तो ग़नीमत! फिर भी हिम्मत न थी की चूँ करें या दूसरी बार काम पर न आयें। चाहे हजार काम बिगड़े तो बिगड़े। मगर जमींदार के यहाँ बेगारी करने जाना ही होगा! एक बार मजबूरन एक किसान नहीं जा सका। इसी के फलस्वरूप न सिर्फ वह, बल्कि सारा गाँव तबाह किया गया। इसीलिए अछुवा वाले थर्र मारते रहते थे। जमींदार के नाम पर उनकी रूह काँपती थी।

जमींदार ने तरीका ऐसा निकाला था कि पारी-पारी से हर किसान को उसके यहाँ पहुँचना ही पड़ता था। इसके लिए उसने एक बड़ा ही निराला ढंग निकाला था जिससे किसानों पर खौफ़ भी छा जाय और काम भी चलता रहे। जमींदार का एक मोटा और लम्बा डण्डा एक के बाद दीगरे किसानों के दरवाजे पर शाम को ही पहुँच जाया करता था। जिस किसान के घर पर आज पहुँचा वही कल जमींदार के यहाँ जायगा। फिर कल शाम को उसके घरवाले बगल के पड़ोसी के द्वार पर चुपके से रख आयेंगे जिससे अगले दिन उसे जाने की खबर मिल जाय। यही रवैया बराबर जारी था। जहाँ डण्डा महाराज पधारे कि उसे हजार काम छोड़ के जाना ही होगा। एक बार अचानक किसी किसान के घर कोई बड़ा बूढ़ा डण्डा जी के पदार्पण के बाद रात में मर गया। रिवाज के मुताबिक उस घर के सभी लोग मुर्दे को गंगा-किनारे ले गये। फलतः जमींदार के यहाँ कोई जा न सका। जब यह बात उसे मालूम हुई तो आगबबूला हो गया। किसान की पुकार हुई। वह आया। हाथ जोड़ के भरे हुए गले से उसने सारी कहानी सुनाई और लाचारी के लिए माफ़ी चाही।

मगर माफ़ी कौन दे? फिर तो जमींदार का भारी गुस्सा उसके सिर उतरा और गाँव के लोग उजाड़े गये। न जाने कितने जाल-फरेब करके किसानों पर तरह-तरह के मुकदमे चलाये गये, मार-पीट कराई गयी और इस प्रकार उन्हें रुला मारा गया। यह एक ऐतिहासिक घटना है जिसे उस इलाके का बच्चा-बच्चा जानता है।

असेम्बली के चुनाव में धरहरा के ही एक चलते-पुर्जे जमींदार, जो डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन, पुरानी कौंसिल के लगातार मेम्बर और अन्त में प्रेसिडेण्ट भी रह चुके थे, बुरी तरह हारे। चुनाव में सभी किसानों ने दिल खोल के हमारा साथ दिया था। जिस जमींदार के खिलाफ़ खड़े होने की हिम्मत जल्दी कोई करता न था और करने पर भी बुरी तरह हारता था, यहाँ तक कि एक बार एक कांग्रेसी उम्मीदवार भी स्वराज्य पार्टी के जमाने में अपनी जमानत जब्त करा चुके थे, वही हारा और उसी की जमानत जैसे-तैसे बचते-बचते बची। यदि किसान दिल खोल के हमारा साथ न देते तो यह कब हो सकता था? इसीलिए हमारा सिर उनकी इस हिम्मत के सामने झुक गया। जमींदार की सारी खूँखारी और धमकी की परवाह न करके उनने निराली हिम्मत दिखाई। जमींदार के खिलाफ वोट देना क्या था गोया **म्याऊँ की ठौर पकड़नी थी** चूहों को। मगर उनने ऐसा ही करके सबको हैरत में डाल दिया। जो लोग यह कह के किसान-संघर्ष से भागना चाहते हैं कि मौके पर वे साथ न देंगे उनके मुँह में करारा तमाचा वहाँ के किसानों ने लगाया और अमली तौर से यह बात सिद्ध कर दी कि यह इलजाम सरासर झूठा है। मुझे तो उसी बिहटा के इलाके में ऐसे और भी कई मौके मिले हैं जब किसानों ने आशा से हजार गुना ज्यादा कर दिखाया है। इसीलिए मेरा उनमें अटूट विश्वास है। मैं मानता हूँ कि यदि वे कभी हमारा साथ नहीं देते, तो इसमें उनका कसूर न हो के हमारा ही रहता है। जब हमीं में उनके बारे में विश्वास नहीं है, तो फिर हो क्या? हम खुद ही जब लड़ना नहीं चाहते और आगे-पीछे करते रहते हैं तो किसान क्या करें? तब वे कैसे पूरा-पूरा साथ दें? और साथ न देने पर भी वे दोषी क्योंकर बन सकते हैं? और तो और—जिस महाशय को जमींदार के खिलाफ किसानों ने शान से जिताया, उन्हें खुद किसानों पर यकीन न हुआ। इसका सबूत हमें उसके बाद दो मौकों पर साफ़-साफ़ मिला। पीछे उनने स्वयं माना कि उन्हें विश्वास न था। जब मैं विश्वास रखता था। इसीलिए उनने मेरे खयाल को हार कर सही माना। खूबी तो यह कि वह किसानों के क्रान्तिकारी नेता माने जाते हैं, या अपने आपको कम-से-कम ऐसा समझते जरूर हैं। यही है हमारा किसान-नेतृत्व! फिर भी घमण्ड रखते हैं कि क्रान्ति करेंगे और किसान-मजदूर राज्य लायेंगे!

हाँ, तो कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बन चुकने के बाद शायद सन् 1938 या 39 में **उसी अछुवा का एक जवान कोइरी किसान** बिहटा आश्रम में मेरे पास एक दिन आया। अठारह, बीस साल की उम्र होगी। गठीला जवान, छरहरा बदन, काला रंग

और हँसता चेहरा। उस दिन की घटना कुछ ऐसी थी कि मुझे सारी जिन्दगी भूलेगी नहीं। इसलिए उसका चित्र मेरी आँखों के सामने नाचता है। उसे मैं पहचानता भी न था। मगर वह तो मुझे पहचानता था ही।

वह आया था मेरे पास अपनी दुख-गाथा सुनाने। शायद घर में कोई बड़े-बूढ़े न होंगे। पढ़ा-लिखा भी न था। कांग्रेसी मन्त्रियों ने लगान कम करवाने और बकाश्त जमीन की वापसी के नाम पर जो बंटाढार किया था और इस तरह कांग्रेस की लुटिया डुबा दी थी, उसी के फलस्वरूप उस गरीब की फरियाद मेरे सामने थी। सारी कोशिश करके वह थक चुका था। मगर जमींदार के पैसे और कानून की पेचीदगी के सामने उसकी एक भी चल न सकी थी। फलतः उसकी आँखें खुल गयी थीं। चुनाव के समय कांग्रेस के नाम से जो डंका पिटा था कि लगान काफी घटाया जायगा और बकाश्त जमीनें वापस दिलाई जायँगी, उस पर सीधे-सादे किसानों ने पूरा विश्वास किया था। मगर जब मौका पड़ने पर उन्हें असलियत का पता चला और मालूम हुआ कि बरसने वाले बादल तो और ही होते हैं; वे तो सिर्फ गर्जने वाले थे, तो उनके क्रोध का ठिकाना न रहा। एक तो कुछ हुआ भी नहीं! दूसरे जमींदारों और उनके दलालों की धमकियाँ और तानाजनी उन्हें फिर मिलने लगी। इसलिए उनका क्षोभ और क्रोध उचित ही था। वह जवान भी इसी क्षोभ और क्रोध को उतारने के लिए मेरे पास आया था।

सामने आते ही मैंने उससे पूछा कि 'कहो भाई, क्या हुक्म है?' मैं हमेशा नये या आकस्मिक मिलने वालों से 'क्या हुक्म है' ही कहता हूँ। किसानों से खामख्वाह यही कहता हूँ। मैं मानता हूँ कि उन्हें मुझे हुक्म देने का पूरा हक है। जब मौके पर मेरी बातों पर विश्वास करके वे लोग मेरा कहना मान लेते हैं, तो दूसरे मौके पर मुझे वे हुक्म क्यों न दें? यदि उन्हें यह अधिकार न हो तो फिर मेरी बातें वे क्यों मानने लगें? कोई जोर-जुल्म या दबाव तो है नहीं! यहाँ तो परस्पर समझौता (understanding) ही हो सकता है। यही बात है भी। इसीलिए तो मेरे काम में रुकावट होती नहीं। मैं बराबर माने बैठा हूँ कि किसान मेरा साथ जरूर देगा। क्योंकि मैं उसका साथ जो देता हूँ।

उसने अपनी लम्बी दास्तान सुनाई और कहा कि कैसी-कैसी दौड़धूप के बाद भी उसकी एक बात भी न चल सकी। जो खेत उसे मिलना चाहिए खामख्वाह, वह मिल न सका। उसने कई दृष्टान्त इस बात के सुनाये कि न तो बकाश्त जमीनें लोगों को मिलीं और न लगान ही घटा। फिर बोला कि "सुना था, सब कुछ हो जायेगा। वोट भी इसी आशा पर जान पर खेलकर दिया था। मगर यह तो धोखा ही निकला," आदि-आदि। उसके मुँह से जो बातें धड़ाके से निकलती थीं मैं उन्हें गौर से सुनता था और उसकी भावभंगी भी देखता जाता था। मालूम होता था किसी बहुत बड़े धोखे से उसकी आँखें खुली हैं और झूठी प्रतिज्ञा करने वालों को—खासकर कांग्रेस

मन्त्रियों को—कच्चा ही खा जाना चाहता है। गोकि बाहर से उसके इस भयंकर क्रोध का पता नहीं चलता था। मगर भीतर-ही-भीतर यह आग जल रही थी यह मुझे साफ झलकता था। वह महान् विस्मय में गोते लगा रहा था कि ऐसे लोग भी झूठी बातें करते हैं उस समय उसका चेहरा देखने ही लायक था। मुझे इसीलिए वह नहीं भूलता है।

उसकी बातें सुनने के बाद मैंने उससे साफ़-साफ़ कबूल कर लिया कि 'हाँ भई, धोखा तो हुआ। यहाँ तो **ऊँची दुकान के फीके पकवान ही नजर आये।**' इसके बाद मैंने ब्योरे के साथ सारी बातें उसे सुनाईं और समझाया कि बकाश्त की वापसी और लगान की कमी के नाम पर जो कानून अभी बने हैं वे कितने कच्चे हैं और केवल रुपये वाले जमींदार किस प्रकार बाजी मार ले जाते हैं। मैंने उसे खासा लेक्चर ही सुना दिया। क्योंकि मेरा भी दिल जला ही था। उसके सामने मैंने इस बात की बहुतेरी मिसालें भी पेश कीं और कहा कि धोखा तो दिया ही जा रहा है।

इस पर उसने चटपट सुना दिया कि "आप ही ने तो कहा था कि कांग्रेस को वोट दीजिये। हम क्या ज़ानते थे कि कौन क्या है? आपने जैसा कहा हमने वैसा ही किया!" इस पर मैं ठक् सा हो गया। मेरे पास इस बात का तो कोई उत्तर था नहीं। वह बातें तो सरासर सच्ची कह रहा था। **किसानों ने तो मेरे ही कहने से अपनी मर्जी के खिलाफ़ कांग्रेस के नाम पर उन नर-पिशाच जमींदारों तक को वोट दिया था जिनके हाथों किसानों की एक भी गत बाकी न रही थी।** मुझे याद है कि वोट देने के पहले उसी धरहरा के इलाके के एक किसान ने एक सभा में लेक्चर सुनने के बाद ही मुझसे धीरे से कहा था कि आपकी बातें तो हम मान लेंगे और वोट देंगे जरूर। मगर जिन्हें वोट देने को आप कहते हैं वह भी जमींदार ही तो नहीं है? इस पर मैंने उसे समझा-बुझा के ठीक किया था। आज उस कोइरी नौजवान की बातें सुन के वह घटना भी आँखों के सामने नाच गयी।

मैंने उससे साफ़-साफ़ स्वीकार किया कि "हाँ जी, यह तो बात सही है। तुम्हारा इलजाम मैं मानता हूँ। असल में मैं भी धोखे में था। देश की सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था की ओर से डंके की चोट जो बातें कही जा रही थीं और जिन्हें बड़े-बड़े महात्मा और लीडर बार-बार लाखों लोगों के सामने दुहरा रहे थे मैं उन पर विश्वास करता कैसे नहीं? इसी से तो धोखा हुआ। मैं किसानों के सामने अपने आपको इस दृष्टि से अपराधी कबूल करता हूँ। मगर इतना कहे देता हूँ कि इस घटना से मैंने बहुत कुछ सीखा है और किसानों को भी सीखना चाहिए। हाँ, आगे के लिए यही कह सकता हूँ कि **फिर ऐसी बात होने न दूँगा।**"

मैंने देखा कि मेरी इन साफ बातों से उसे सन्तोष हो गया। यदि मैं दलीलें दे के अपनी वकालत करने लगता तो उसे शायद ही यह सन्तोष होता। मगर ईमानदारी से अपनी भूल कबूल कर लेने पर उसने समझ लिया कि गलती तो सभी से होती ही है। स्वामी जी को भी धोखा हो गया था। इनने जान-बूझ के कुछ नहीं किया।

वह कोई बड़ा राजनीतिज्ञ तो था नहीं कि मैं उसे राजनीति की पेचीदगियाँ समझाने लगता और कहता कि यदि तुम ऐसा न करते और कांग्रेस को वोट न देते तो जमींदार जीत जाते। फिर तो और भी बुरा होता आदि आदि। इन बारीकियों को भला वह अपढ़ और सीधा-सादा किसान क्या समझने लगा? मेरा तो यह भी खयाल है कि उन लोगों से ये बातें कहने से वे इन्हें समझ तो पाते नहीं। उल्टे नेताओं को तौलने की जो उनकी सीधी सी कसौटी है कि जो कहें उसे खामख्वाह पूरा करें उसका भी इस्तेमाल करना वे लोग भूल जा सकते हैं। फलतः इसी राजनीति की ओट में धोखेबाज़ लोग उन्हें बराबर चकमा दे सकते हैं। इसीलिए मैंने सीधी बात की और अपनी गलती मान ली।

मगर इस घटना से मेरे दिल पर इस बात की गहरी छाप पड़ गयी कि किसानों ने अपने हित-अहित को पहचानना शुरू कर दिया। वे लोग बड़ी-बड़ी बातें बनाने वाले नेताओं और वोट के भिखारियों के चकमे में आसानी से नहीं आ सकते, यदि उनका नेतृत्व ठीक-ठीक किया जाय। वे भविष्य में वोट माँगने वालों के नाकों दम कर दे सकते हैं यदि किसान-सभा उस मौके से मुनासिब फायदा उठा के उन्हें पहले ही से आगाह कर दे। जो लोग कहा करते हैं कि किसान बुद्धू हैं और वे आसानी से फाँसे जा सकते हैं वे कितने धोखे में हैं यह बात मैंने उस दिन आँखों देख ली। अत्यन्त पिछड़ी भोली-भाली जाति का एक अपढ़ युवक अगर यह बात बेखटके बोल सकता है और मुझे भी मीठे-मीठे सुना दे सकता है तो औरों का क्या कहना? असल में जनता की मनोवृत्ति का ठीक-ठीक पता लगाना सबका काम नहीं है। यह बड़ा ही मुश्किल मसला है। इसका थाह बिरले ही पाते हैं जिन्होंने अपने आपको जनता के बीच खपा दिया है, दिन-रात उसके हवाले कर दिया है और जो उसी की नींद जागते और सोते हैं। रूसी किसानों की इसी सम्बन्ध की घटना मुझे याद आ गयी।

श्री लांसलाट ओयन (Launcelot A. owen) ने अपनी अंग्रेजी किताब 'दी रशियन पेजेण्ट मूवमेण्ट 1906-1917' में रूस के किसानों की सबसे पहली संगठित मीटिंग का जिक्र किया है जो ता. 31-7-1905 को एलेग्जेंडर बैकुनिन नामक जमींदार की जमींदारी में तोरजोक जिले में हुई थी। उस मीटिंग की कार्यवाही पूरी होने के बाद जो आपस में बातचीत जारी हुई थी उसमें किसानों ने भाग लिया था। सिर्फ सत्रह गाँवों के किसान जमा थे। जिले के सरकारी बोर्ड के मेम्बरों को जो यह शक था कि अभी तक किसान उत्तरदायी शासन के लिए तैयार नहीं हैं, अतः उसकी माँग बेकार है, उसका मुँहतोड़ उत्तर वहीं एक किसान ने चट दे दिया कि "नहीं नहीं, यह बात नहीं है! असल बात तो यह है कि किसान उसके लिए जरूरत से ज्यादा योग्य और तैयार हैं। इसी से सरकार डरती है" "Another (peasant) confuting the Zemstoomen's doubts as to peasant ripeness for responsibility, asserted that the trouble was that they were over ripe."

19

सन् 1938-39 की घटना है। हरिपुरा कांग्रेस के पहले और उसके बाद भी मुझे गुजरात में दौरा करने का मौका किसान-आन्दोलन के सिलसिले में लगा था। हरिपुरा के पहले गुजरात के हमारे प्रमुख किसान कर्मी **श्री इन्दुलाल याज्ञिक** ने अपने सहकर्मियों की सम्मति से तय किया था कि कांग्रेस के अवसर पर किसानों का एक विराट् जुलूस निकाला जाय और मीटिंग भी हो। फैजपुर के समय से ही यह प्रथा हमने चलाई थी जो अब तक लगातार जारी रही है। हमने भी उनकी राय मानी थी। इसीलिए निश्चय किया गया था कि उसके पहले मेरा दौरा हो जाय। क्योंकि वहाँ तो अभी किसान-आन्दोलन को जन्म देना था। अब तक तो वह वहाँ पनप पाया न था। गांधी जी का वह प्रान्त जो ठहरा। सो भी ठेठ बारदौली के पड़ोस में ही कांग्रेस हो जाने जा रही थी। **सरदार बल्लभ भाई** का तो हम पर प्रचण्ड कोप भी था। यह भी खबर अख़बारों में छप चुकी थी कि कांग्रेस के अवसर पर ही अखिल भारतीय खेत-मजदूर सम्मेलन श्री बल्लभ भाई की अध्यक्षता में होगा। यह खेत-मजदूर आन्दोलन किसान-सभा का विरोधी बनाया जा रहा था। बिहार तथा आन्ध्र आदि प्रान्तों में इस बात की खुली कोशिश पहले ही की जा रही थी कि खेत-मजदूरों को उभाड़ कर या कम-से-कम उनके नाम पर ही कोई आन्दोलन खड़ा करके बढ़ते हुए किसान-आन्दोलन को दबाया जाय। खुलेआम जमींदारों के आदमियों और पैसे के द्वारा यह बात की जा रही थी। हमें इसका पता था।

मगर हमें इसकी परवाह जरा भी न थी। हम बखूबी जानते थे कि ये बातें टिक नहीं सकती हैं। फिर भी सजग हो के किसानों का खासा जमावड़ा हरिपुरा में करना जरूरी हो गया। इसीलिए दौरे की जरूरत विशेष रूप से थी। आखिर किसानों को यह पैगाम तो सुनाना ही था कि किसान-सभा की क्यों जरूरत है जबकि कांग्रेस मौजूद ही है। साधारण पढ़े-लिखों से लेकर ऊपर के प्रायः सभी लोग वहाँ किसान-सभा को देख भी न सकते थे। ऐसी-ऐसी दलीलें करते थे कि सुन के दंग हो जाना पड़ता था। बारदौली वाली जो किसानों के नाम की लड़ाई पहले लड़ी जा चुकी थी उसके करते यह गलतफ़हमी और भी ज्यादा बढ़ गयी थी कि कांग्रेस ही किसान-सभा है और श्री बल्लभ भाई किसानों के असली नेता हैं। श्री इन्दुलाल जी की बातें से हमें तो कुछ पता चल गया कि वह लड़ाई असली किसानों की न हो के उनके शोषकों की ही थी जो असली किसानों को हटा के उनकी जगह जा बैठे हैं और जिनकी संख्या मुट्ठी भर ही है। मगर इस बात की पूरी जानकारी तभी हो सकती थी जब वहाँ खुद घूमा जाय। इसीलिए हम बड़े चाव के साथ उस दौरे के लिए रवाना हुए थे। वहाँ जा के हमने खुद अनुभव किया। किसानों की जमीनें क़रीब-क़रीब मुफ़्त में ही हथिया लेने वाले जो दस-पन्द्रह फीसदी बनिये **पारसी** या पटेल वग़ैरह हैं वही

किसान कहे जाते हैं। वे काफी मालदार हैं और उनके पास बहुत जमीनें हैं। पहले के किसान उन्हीं के हलवाहे और गुलाम हो के नर्क की जिन्दगी गुजारते हैं। उन्हीं दस-पन्द्रह फीसदी लोगों की मालगुजारी घटाने के लिए बारदौली में लड़ाई लड़ी गयी थी, ताकि असली किसानों की छिनी जमीनें उन्हें वापस दिलाने या कम-से-कम उनकी गुलामी मिटाने के लिए।

भुसावल से हमने ताप्ती वैली रेलवे पकड़ी और रवाना हो गये। यह रेलवे बहुत ही धीमी और दुःखद है। पर, मजबूरी थी। मढ़ी स्टेशन, जहाँ से हरिपुरा जाना था, कि वे बहुत पहले ही सोनगढ़ के इलाके में हमें पहली मीटिंग करनी थी और यह सोनगढ़ उसी ताप्त वैली रेलवे में पड़ता है। बड़ौदा का राज्य है। किसान बहुत ही मजलूम और दुखिया हैं। वहीं से श्रीगणेश करने का विचार था। मगर बड़ौदा राज्य के हाकिमों को यह बात बर्दाश्त न हो सकी और वे लोग इस फिक्र में लगे कि किसी प्रकार हमारी सभा होने न दी जाय। उनने इस बारे में अपना काफी दिमाग लगाया। साफ-साफ नोटिस दे के हमारी सभा रोकने में उन्हें शायद खतरा नजर आया। इसलिए एक चाल चली गयी। ठीक सभा के दिन बहुत ही सवेरे उस इलाके के सभी गाँवों के पटेलों और मुखियों को राज्य की कचहरी पर पहुँच जाने की खबर ऐन मौके पर दी गयी जब हमारे आदमी सभा की तारीख बदल न सकते थे। पटेल और मुखिया लोग होते हैं एक तरह के राज्य के नौकर। इसलिए उसका कचहरी में पहुँच जाना जरूरी हो गया, और जब सभी गाँवों के मुखिया ही चले गये तो फिर सभा में आता कौन? अभी तक किसान-सभा वहाँ जमी तो थी नहीं। सीधे-सादे खेड़ूत (किसान) उसका महत्त्व क्या जानने गये? और अगर इतने पर भी गाँव के प्रमुख लोग सभा में चलते, तो दूसरे भी आते। मगर वह तो कचहरी चले गये। फलतः सभा की कोई सम्भावना रही न गयी। इस प्रकार बड़ौदा राज्य का यत्न सफल हो गया।

जब हम स्टेशन पर पहुँचे तो इन्दुलाल जी ने सब बातें कहीं। फिर तय पाया कि रात में पास के ही एक गाँव में ठहरना होगा। ठहरने का प्रबन्ध पहले से ही था। उस इलाके में **रानीपरज** के नाम से प्रसिद्ध जाति के लोग ज्यादातर बसते हैं। वही वहाँ के असली किसान हैं। उनके नेता श्री **जीवन भाई** हमारे साथ थे। वे अब कहीं बाहर कारबार करके गुजर करते हैं। मगर हमारी सहायता के लिए आ गये थे। उन्हीं के साथ हम सभी उस गाँव में गये। जब हमने की दशा पूछी तो उनने सारी दास्तान कह सुनाई। यह भी बताया कि 'रानीपरज प्रगतिमण्डल' के नाम से एक संस्था खुली है जो उन लोगों की उन्नति का यत्न करती है। स्कूल आदि के जरिये उन्हें कुछ पढ़ाया-लिखाया जाता है। चरखा भी सिखाया जाता है। सरदार बल्लभ भाई वग़ैरह उसमें मदद करते हैं। 'रानी परज' या किसी ऐसे ही नाम का कोई पत्र भी निकलता है। सारांश, वह 'प्रगति-मण्डल' समाज-सुधार की संस्था है।

इसीलिए शराब वग़ैरह पीने से लोगों को रोकती है।

मुझे आश्चर्य जरूर हुआ कि यहीं पास में बारदौली में किसानों की लड़ाई हुई ऐसा सभी जानते सुनते हैं। फिर भी रानीपरज के लोग आज बिना जमीन के हैं और दूसरों की गुलामी करते हैं। दुबला के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्हें जमीन दिलाने या उनकी गुलामी मिटाने की लड़ाई लड़ी न जाकर यह समाज-सुधार (Social reform) का काम एक निराली बात है। गोया ये लोग जरायम पेशा कौम हैं, जो Criminal Tribes हैं। जैसे जयराम पेशा लोगों को धर्म के नाम पर सुधारने की कोशिश की जाती है और शराब बन्दी का प्रचार होता है ठीक वही हालत यहाँ है। मैंने समझ लिया कि असली काम न करके यह बाहर मरहम-पट्टी लोगों की आँख में धूल झोंकने के ही लिए की जा रही है। जंगल में रहने वाली बहादुर कौम पेट के लिए मुफ्तखोरों और लुटेरों की गुलामी करे और नेता लोग इसके भीतर समाज-सुधार का प्रचार करें! यह निराली बात निकली। ब्याह-शादी वग़ैरह के समय बनिये साहूकार या शराब बेचने वाले इन सीधे किसानों को चढ़ा के कर्ज देते-दिलाते और शराब पिलवाते हैं, और पीछे उसी कर्ज में न सिर्फ इनकी जमीनें ले लेते बल्कि पुश्त-दर-पुश्त इन्हें गुलाम बना डालते हैं। इस लूट और धोखेबाजी के खिलाफ इनमें बगावत का प्रचार किया जाना चाहता था। इन्हें बताना था कि उस बनावटी कर्ज को साफ कर दें और सुना दें कि अब हम गुलाम किसी के भी नहीं हैं। यही तो इस मर्ज की असली दवा है। मगर नकली नेता लोग दूसरी ही बात करते हैं। असल में इसी बात में उनका भी स्वार्थ है। वह भी या तो साहूकार आदि हैं, या उनके दोस्त और दलाल!

वहाँ से हमें अगले दिन सूरत जाना था। रेल पकड़ के सूरत पहुँचे भी और वहाँ शाम को एक मीटिंग भी की। फिर सीधे पंचमहाल जिले के दाहोद शहर के लिए फ्रांटियर मेल से रवाना हो के अगले दिन सवेरे रात रहते ही पहुँचे। वहाँ एक तो म्युनिसिपैलिटी की ओर से हमें मान-पत्र मिलना था। दूसरे एक सार्वजनिक सभा में भाषण करना था। बाम्बे, बड़ौदा और सेण्ट्रल इण्डिया रेलवे का वहाँ एक बड़ा कारखाना होने से मजदूरों की सभा में बोलना था। मगर सबसे सुन्दर चील थी दाहोद से दूर देहात में भीलों की एक बड़ी सभा। म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष थे एक बहोरा मुसलमान सज्जन। मगर जो अभिनन्दन-पत्र उनने गुजराती में पढ़ा और जो संक्षिप्त भाषण दिया वह मार्के का था मैंने भी उचित उत्तर दिया। संन्यासी हो के किसानों के काम में मैं क्यों पड़ा इस बात का स्पष्टीकरण वहाँ मैंने निराले ढंग से किया। असल में शहरों के लोगों का पेट जैसे-तैसे भरी जाता है। इसलिए उन्हें धर्म की परवाह ज्यादा रहती है। मैंने भी धर्म की ही दृष्टि से उन्हें समझाया। मैंने कहा कि यद्यपि भगवान् सभी जगह है, फिर भी उसे विशेषरूप से शोषितों में ही पाता हूँ और वहीं ढूँढ़ने से वह मिलता है। जिस प्रकार फोड़े वाले के सारे शरीर में दवा न लगा के दर्द की ही जगह दवा लगाने से उसे विशेष आनन्द मिलता है, क्योंकि

उसका मन वहीं केन्द्रीभूत है। उसका मन, उसकी आत्मा वहीं मिलती है, पकड़ी जाती है हालाँकि वह है दरअसल सारे शरीर में। वही हालत भगवान् की है।

जब हम लोग दूसरे दिन भीलों की मीटिंग में गये तो हमें बड़ा मजा आया। स्थान का नाम भूलता हूँ। मैदान में सभा थी। खासी भीड़ थी। चारों ओर आदमी ही आदमी थे। मर्द भी थे, औरतें भी थीं। थे तो दूसरे लोग भी। मगर भीलों की ही प्रधानता वहाँ थी। बचपन में सुना करता था कि द्वारका की यात्रा करने वाले यात्री लोग जब डाकोर की ओर चलते हैं तो दाउद गुहरा (दाहोद-गोध्रा) की झाड़ियाँ मिलती हैं। यानी दाहोद और गोध्रा के बीच में लगातार झाड़ियाँ हैं, जंगल हैं जहाँ भील लोग तीर चलाते हैं और यात्री को मार के लूट लेते हैं। मैं समझता था कि बड़े ही खूँखार और भयंकर होंगे। मगर जब उन्हें देखा कि भले आदमियों की सी सूरत-शकल वाले हैं तो आश्चर्य हुआ। हाँ, अधिकांश के हाथ में धनुष और तीरों के गुच्छे जरूर देखे। इनसे उन्हें अपार प्रेम है। इसीलिए साथ में रखते हैं। उनने कहा कि रास्ते में कहीं चोर-बदमाशों या जंगली जानवरों का खतरा हो तो यही तीर धनुष काम आते हैं। जंगली प्रदेश तो हई। यह दृश्य मैंने पहले-पहल देखा। मगर यह भी देखा कि वे मेरी बातें मस्त होके सुनते और झूमते थे। मेरी भाषा तो उनकी न थी। फिर भी मैं इस तरह बोलता था कि वे समझ जावें। बातें तो उन्हीं के दिल की बोलता था। फिर झूमें क्यों नहीं?

हमें वहीं पर यह भी पता चला कि उसी इलाके में बहुत पहले से 'भील सेवा-मण्डल' काम कर रहा है। वहाँ जाने का तो हमें मौका न लग सका। क्योंकि शाम तक दाहोद वापस आना जरूरी था। रेलवे मजदूरों की सभा में बोलना जो था। मगर लौटते समय रास्ते में ही हमें दूर से 'सेवा-मण्डल' के मकान दिखाए गये। सेवा-मण्डल का काम भीलों के विकास से ताल्लुक रखता था। मण्डल के कार्यकर्त्ताओं में अच्छे से अच्छे त्यागी लोग रहे हैं। हमारे साथी श्री इन्दुलाल जी का भी उसमें हाथ रहा है। यह काम उस समय शुरू हुआ जब हमारे देश में राजनीतिक चेतना नाममात्र को ही थी। इसलिए समाज सेवा के नाम पर यह मण्डल खुला। मगर आज जब राजनीतिक चेतना की एक बड़ी बाढ़ हमारे देश में आ गयी है और उसी के साथ उसका आर्थिक पहलू स्पष्ट हो गया है, तब ऐसे संस्थाओं का खास महत्त्व है या नहीं, यही प्रश्न पैदा होता है। यदि महत्त्व हो भी तो क्या उनके काम का तरीका वही रहे या बदला जाय, यह दूसरा सवाल भी खड़ा होता है। भीलों की वह असभ्यता तो जाती रही। समय ने पलटा खाया और वह सभ्यता की वायु में साँस लेने को बाध्य है। इस झकोरे से वे बच नहीं सकते, यदि हजार चाहें। ऐसी हालत में आर्थिक प्रोग्राम के आधार पर ही उनमें अब काम क्यों न किया जाय? मेरा तो विश्वास है कि असभ्य और जरायम पेशा कही जाने वाली जातियों में अब भी मर्दानगी औरों से कहीं ज्यादा है। फिर तो आर्थिक प्रोग्राम की बिना पर ज्यों

ही उनमें काम शुरू हुआ और इसका महत्त्व उनने समझ लिया कि हक की लड़ाई में जूझने के लिए सबसे आगे वही लोग मिलेंगे।

खैर, शाम तक उस सभा से हम लोग लौटे और मजदूरों की मीटिंग में गये। मीटिंग खासी अच्छी थी। सफेदपोश बाबुओं की एक अच्छी तादाद वहाँ हाजिर थी। मैले और काले कपड़े वाले भी थे ही। श्रमिकों के क्या हक हैं और उनकी प्राप्ति के लिए उन्हें क्या करना होगा यही बात मैंने उन्हें बताई। सभा के बाद हम अपने स्थान पर वापस आए।

दूसरे दिन गोध्रा के नजदीक, उसके बाद वाले बैजलपुर स्टेशन से उत्तर जीतपुरा में हमारी मीटिंग थी। यह खासी देहात की सभा थी! दूर-दूर के किसान उसमें हाजिर थे। बहुत ही उत्साह और उमंग से हमें वे लोग वहाँ ले गये। बाजे-गाजे और तैयारी की कमी न थी। सभा भी पूर्ण सफल हुई। जिस जमीन में सभा हुई उसे किसान ने किसान-आश्रम बनाने के लिए दे दिया। आगे के स्थायी काम के लिए इस प्रकार वहाँ नींव डाली गयी, यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता थी। मुझे इस बात से अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि मेरी हिन्दी भाषा वहाँ के खेड़ूत भी बखूबी समझ लेते थे। बेशक मेरी कुछ ऐसी आदत हो गयी है कि किसानों के ही समझने योग्य भाषा बोलता हूँ, सो भी धीरे-धीरे। असल में बातें तो उनके दिल की ही बोलता हूँ। इसीलिए उन्हें समझने में आसानी होती है। हाँ, तो जीतपुरा से लौट के हमने रात में गाड़ी पकड़ी और मढ़ी चल पड़े। मढ़ी से ही हरिपुरा जाना था।

मढ़ी और हरिपुरा के बीच में ही हमारी एक और भी सभा थी खासी देहात में। हमने वह सभा की तीसरे पहर। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल तो बनी चुका था। पहले-पहल हमने उसी सभा में एक बात कही जिसे हम पीछे चल के कई जगह दुहराते रहे। दरअसल गुजरात और महाराष्ट्र में कर्ज और साहूकारों के जुल्म का ही प्रश्न सबसे पेचीदा और महत्त्वपूर्ण है। कहा जाता है कि वहाँ जमींदारी-प्रथा नहीं है। वहाँ के किसानों का सरकार के साथ सीधा सम्बन्ध है। इसे रैयतवारी कहते हैं। मगर बनियों और साहूकारों ने सूद-दर सूद के जाल में फाँस के किसानों की प्रायः सारी जमीनें ले ली हैं और वे खुद जमींदार बन बैठे हैं। अर्द्धभाग या बँटाई पर फिर उन्हीं किसानों को वही जमीनें ये साहूकार जोतने को देते हैं। और अगर फसल मारी जाय तो खामख्वाह नगद मालगुजारी ही वसूल कर लेते हैं। डरा और दबा किसान चूँ भी नहीं करता है। बँटाई की हालत यह है कि मूँगफली जैसी कीमती और किराना चीजों की पैदावार का भी आधा हिस्सा ले लेते हैं। किसानों की गुलामी भी इसी के करते हैं।

इसीलिए उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता अगर इस कर्ज के असह्य भार को उनके सिर से उठा फेंकने की बात की जाय। यदि उनकी छाती से यह चट्टान हटे तो जरा साँस लें। मुझे यह बात मालूम तो थी ही। इसीलिए मैंने कहा कि पड़ोस

में ही कांग्रेस हो रही है। उसका दावा भी है कि वह गरीबों और सताये गये लोगों की ही संस्था है। श्री बल्लभ भाई अपने को किसानों का नेता कहते भी हैं। और आज तो इस बम्बई प्रान्त में कांग्रेस के ही मन्त्री शासन चला रहे हैं, ऐसा माना जाता है। उन्हीं की मर्जी से कानून बनते हैं। इसलिए हरिपुरा में लाखों की तादाद में किसान जमा हो के साफ-साफ कह दें कि इस मनहूस कर्ज ने हमारी रीढ़ तोड़ डाली। हमने एक के दस अदा किये। फिर भी साहूकार की बही (चौपड़ी) में घीस बाकी पड़े हैं। हमारी जमीन और इज्जत इसी के चलते चली गयीं। हम गुलाम भी बन गये। यहाँ एक नये प्रकार के "साहूकार जमींदार" पैदा हो गये। इसलिए कांग्रेस के मन्त्री लोग कृपा करके इन साहूकारों के सभी कागज-पत्र अपने पास मँगवा लें। फिर या तो उन्हें बम्बई के पास के ही समुद्र में डुबा दें, या नहीं तो होली जला दें। और अगर हुक्म दें तो हमीं लोग उन्हें ले के ताप्ती नदी में ही डुबा दें। नहीं तो हमारा जो जीवन भार बन गया है वह खत्म हो जायगा।

हमने देखा कि इन शब्दों के सुनते ही किसानों के चेहरे खिल उठे। उसके बाद सभा का काम पूरा करके हमने हरिपुरा पहुँचने की सोची। खयाल आया कि मोटर लारियाँ तो बराबर दौड़ रही हैं। हम लोग पल मारते पहुँच जायँगे। फिर वहाँ से सड़क पर आये और लारियों का इन्तजार करने लगे। घण्टों यों ही बीता। बीच में बीसियों लारियाँ आईं और चली गयीं। हमने हजार कोशिश की कि रुकें, मगर एक भी न रुकी। लाचार जीवन भाई के साथ पैदल ही आगे बढ़े। उनने कहा कि आगे कुछ दूरी पर जो गाँव पक्की सड़क से हट के पड़ता है वहीं से एक बैलगाड़ी ले के उसी पर हरिपुरा चलेंगे। बस, गाँव की ओर चल पड़े। दो-तीन मील चलने पर गाँव आया।

गाँव पहुँचने के पहले ही हमने जीवन भाई से रानीपरज तथा और किसानों की हालत पूछी। वे भी रानीपरज बिरादरी के ही थे। इसीलिए उनकी दशा ठीक-ठीक बता सकते थे। ऊपर से जान पड़ता था कि गांधी जी और सरदार बल्लभ भाई के बड़े भक्त थे। पहले कांग्रेस में उनने काफी काम भी किया था, मगर उनने जो हृदय विद्रावक वर्णन अपने भाइयों के कष्टों का किया उससे हमारा तो खून उबल पड़ा। उनकी भी भावभंगी अजीब हो गयी थी। उनने कहा कि यदि किसी रानीपरज के पास काफी जमीन हो और अपने गरीब भाई से खेती का काम वह कराये तो काम करने वाले के परिवार को अपने ही मकान के एक भाग में रख के अपने ही परिवार में उस परिवार को शामिल कर लेगा। मगर, अगर साहूकार, पारसी या पटेल वही काम गरीब रानीपरज से कराए तो दिन में ज्वार की रोटी और कोई साग उसे खाने को देगा जिसमें मसाले के नाम पर सिर्फ लाल मिर्च के बीज पड़े होंगे, न कि लाल मिर्च। असल में गुजरात में उन बीजों को निकाल के फेंक देते हैं खाते नहीं। इसीलिए साहूकार उन बेकार चीजों को उन गरीबों के साग में

डाल देते हैं। शाम को दो सेर ज्वार या एक-डेढ़ आने पैसे दे देते हैं।

इसके बाद जो कुछ उनने कहा या कहना चाहा वह बड़ा ही बीभत्स था। उनकी आँखें डबडबा आयीं। आखिर अपनी ही बिरादरी की प्रतिष्ठा की बात जो ठहरी। उनने कहा कि हमारे जो भाई साहूकारों के ऋण में फँसे हैं उनकी जवान लड़कियों और पुत्र-वधुओं को भी ये राक्षस कभी-कभी ज़बर्दस्ती काम करवाने के लिए बुलवा लेते हैं। अब आप ही सोच सकते हैं कि उनका धर्म कैसे बचने पाता होगा, आदि-आदि। उनने इस बात पर बहुत ही जोर दिया और कहा कि दुबला के नाम से प्रसिद्ध गरीब किसानों और उनकी बहू-बेटियों की इज्जत की खैरियत नहीं है।

इस पर हमने कहा कि "लेकिन हम जो यह किसान-सभा कर रहे हैं उसे सरदार बल्लभ भाई तो पसन्द नहीं करते। हालाँकि उन्हें चाहिए तो यह था कि वह खुद दुबला लोगों के लिए यह काम करते और गांधी जी भी उन्हें इस बात का आदेश देते। यह क्या बात है कि गांधी जी इस बात पर मौन हैं? क्या उन्हें भी यह बात पसन्द है?" तब उनने कहा कि "इसमें गांधी जी का दोष नहीं है। असल में लीडर लोग गड़बड़ी करते हैं।" हमने फिर कहा कि "मगर गांधी जी भी हमारी किसान-सभा को पसन्द नहीं करते, यह पक्की बात है। तब हम कैसे मानें कि केवल लीडरों की ही भूल है, उनकी नहीं? और अगर ऐसी हालत में आप किसान-सभा में पड़ेंगे, तो गांधी जी जरूर आप पर रंज होंगे।" अब क्या था, अब तो वे साफ खुल गये और कहने लगे कि "गांधी जी अपना काम करते हैं और हम अपना। हमें किसान-सभा में ही किसानों का उद्धार दीखता है। कांग्रेस से कुछ होने जाने का नहीं। इसलिए यदि गांधी जी हम पर बिगड़े तों हम क्या करें? हम तो यह काम करेंगे ही।" बस, मैंने समझ लिया कि किसान-सभा गुजरात में भी जीती-जागती संस्था बन के ही रहेगी, जब कि शुरू में ही जीवन भाई जैसे किसान इसकी जरूरत और महत्ता को यों ही समझने लगे हैं। क्योंकि सभा का काम तो उनने अभी देखा भी नहीं। इससे स्पष्ट है कि परिस्थिति (Objective conditions) उसके अनुकूल है। सिर्फ पथदर्शकों और सच्चे कार्यकर्त्ता (Subjective conditions) की कमी है।

इतने ही में हम उस गाँव में जा पहुँचे और एक किसान के दरवाजे पर ठहरे। बैलगाड़ी का प्रबन्ध होने लगा। शाम भी होई रही थी। थोड़ी देर में गाड़ी तैयार हो के आ गयी और हम लोग उस पर बैठ के रवाना हो गये। रास्ते में हमने गाड़ी हाँकने वाले किसान से हरिपुरा की बात चलाई और पूछा कि वहाँ बिट्ठल नगर में काम करने के लिए यहाँ के लोग जाते हैं या नहीं, और अगर जाते हैं तो क्या मजदूरी उन्हें प्रतिदिन मिलती है? इस पर उसने कहा कि रेलवे या सड़क वग़ैरह में काम करने वालों को दस आने पैसे मिलते हैं। कांग्रेस में भी पहले कुछी कम पैसे मिलते थे। मगर पीछे जब ज्यादा तादाद में काम करने वाले जाने लगे तो छः आने ही दिए जाने लगे! इसके लिए हो-हल्ला भी हुआ। मगर सुनता कौन है? शायद

तूफ़ान मचने पर सुनवाई हो। मगर मजदूर तो भूखे हैं इसलिए जोई मिलता है उसी पर सन्तोष कर लेते हैं। उसने इसी तरह की और भी बातें सुनाईं। मुझे यह सुनके ताज्जुब तो हुआ नहीं। क्योंकि मैं तो कांग्रेसी लीडरों की मनोवृत्ति जानता था। मगर उनकी इस हिम्मत, बेशर्मी और हृदय-हीनता पर क्रोध जरूर हुआ। मैंने दिल में सोचा कि यही लोग गरीबों को स्वराज्य दिलायेंगे। यही देहात की कांग्रेस है जिसमें देहातियों को उतनी भी मजदूरी नहीं मिलती जितनी सरकारी ठेकेदार देते हैं। इसी बूते पर यह दावा गांधी जी तक कर डालते हैं कि किसानों की सबसे अच्छी संस्था कांग्रेस ही है–"The Congress is the Kisan organisation parexcellence!" मुझे खुशी इस बात की थी कि न सिर्फ वह गाड़ी हाँकने वाला, बल्कि उस देहात के सभी लोग इस पोल को बखूबी समझ रहे थे जैसा कि उसकी बातों से साफ झलकता था।

रात में हम **बिट्ठल नगर** पहुँचे और वहीं ठहरे। पूरे अठारह रुपये में हमने एक झोंपड़ा लिया जिसमें सिर्फ तीन चारपाइयाँ पड़ सकती थीं। यही है गरीबों की कांग्रेस! वहाँ एक रुपये से कम में तो एक दिन में एक आदमी का पेट भरी नहीं सकता था। चीजें इतनी महँगी कि कुछ कहिए मत। जल्लाद की तरह बेमुरव्वती से तो दूकानदारों से सख्त किराया लिया जाता है। देहात में होने वाली सभी कांग्रेसों की यही हालत होती है। दिन-ब-दिन चीजें महँगी ही मिलती हैं।

खैर, हरिपुरा में हमें तो अपना काम करना था। वहाँ किसानों का लम्बा जुलूस निकालना था। मीटिंग भी करनी थी। मगर पता चला कि सरदार बल्लभ भाई का सख्त हुक्म है कि बिना उनकी आज्ञा के बिट्ठल नगर के भीतर कोई भी मीटिंग या प्रदर्शन होने न पाए। हमें यह चीज बुरी लगी। हमने कहा कि सरदार साहब या उनकी स्वागत समिति को यह हक हर्गिज नहीं है कि आम सड़क पर जुलूस रोक दें। जब तक पुलिस या मजिस्ट्रेट की ऐसी मुनादी न हो तब तक तो हमें कोई रोक सकता नहीं। हाँ, मुनादी हो जाने पर कानून तोड़ने की नौबत आयगी। मगर सरदार या उनके साथियों को न तो पुलिस का अधिकार प्राप्त है और न मजिस्ट्रेट का ही। फिर उनकी नादिरशाही के सामने हम क्यों सिर झुकायें।

नतीज़ा यह हुआ कि हम और हमारे साथी श्री इन्दुलाल याज्ञिक वग़ैरह किसी से भी पूछने न गये और जुलूस निकला खूब ठाट के साथ। पचीस-तीस हजार से कम लोगों का जुलूस नहीं था। साहूकारों से त्राण दिलाने और हाली प्रथा मिटाने आदि के नारे मुख्य थे। हाली और दुबला या गुलाम ये सब एक ही हैं। मीटिंग भी बहुत ही जम के हुई। मैं ही अध्यक्ष था। मेरे सिवाय याज्ञिक, डॉ० सुमन्त मेहता आदि अनेक सज्जन बोले।

सरदार बल्लभ भाई यह बात देख के भीतर ही भीतर आगबबूला हो गये सही। मगर मजबूर थे। इसीलिए किसी न किसी बहाने से अपने दिल का बुखार निकालते रहे। रह-रह के बिना मौके के ही हम लोगों पर तानाजनी करते रहे। एक

बार तो वहाँ पली गायों के बारे में यों ही लेक्चर देते हुए बोल बैठे कि हम तो इन गायों को पसन्द करते हैं जो न तो प्रस्ताव करती हैं और न उनमें सुधार पेश करती हैं। ये तो क्रान्ति और जमींदारी या पूँजीवाद मिटाने की भी बातें नहीं करती हैं। किन्तु दूध दिये चली जाती हैं। जिससे हमारा काम चलता है। इसी तरह के अनेक मौके आये।

एक बार तो खास विषय समिति में ही बिना वजह और बिना किसी प्रसंग के ही विशेषतः मुझे और साधारणतः सभी वामपक्षियों को लक्ष्य करके न जाने वह क्या-क्या बक गये। यहाँ तक हो गया कि सभी लोग जल के खाक हो गये। फलतः हमने बहुत ही शोर किया और सभापति **श्री सुभाष बाबू** पर जोर दिया कि उन्हें रोकें। पहले तो सभापति जी हिचकते रहे और सरदार साहब भी लापरवाह हो के बकते जाते थे। मगर जब परिस्थिति बेढब हो गयी और शोर बहुत बढ़ा तो उनने रोका, जिससे वे एकाएक अपना सा मुँह ले के बैठ गये। **इस प्रकार बारदौली की भूमि में ही उनकी नाक कट गयी सिंह अपनी माँद में ही सर हो गया।**

हरिपुरा के पीछे कुछ महीने गुजर जाने पर फिर गुजरात में दौरा करने का मौका आया। इस बार श्री इन्दुलाल याज्ञिक और उनके साथियों ने संगठित किसानों की सभाएँ प्रायः गुजरात के हर जिले में कीं। अहमदाबाद शहर में ही नहीं, किन्तु देहात में भी एक सभा हुई। हरिपुरा के बाद किसानों की कई संगठित लड़ाइयाँ भी हो चुकी थीं और विशेष-रूप से बड़ौदा राज्य के घोर दमन का शिकार उन्हें तथा हमारे प्रमुख किसान सेवकों को होना पड़ा था। उनकी कितनी ही मीटिंगें दफा 144 की नोटिस और पुलिस की मुस्तैदी के करते रोकी गयीं। फिर भी लड़ाई चलती रही। यद्यपि बड़ौदा सरकार का कानून है कि किसान से नगद लगान ही लेना होगा, न कि बँटाई। फिर भी साहूकार जमींदार यह बात मानते न थे। खूबी तो यह कि यदि साल में दो फसलें हों तो दोनों में ही आधा हिस्सा लेते थे। फलतः किसानों ने बँटाई देने से इनकार कर दिया। सरकार को इस पर उनका और किसान-सभा का कृतज्ञ होना चाहता था। मगर उल्टे दमन-चक्र चालू हो गया। असल में सरकारें तो मालदारों की ही होती हैं। इसलिए उनका फर्ज हर हालत में यही होता है कि धनियों की रक्षा करें। वे कानून तोड़ते हैं तो बला से। शोषित जनता को सिर उठाने नहीं देते। असली चीज कानून नहीं है, किन्तु कमाने वाली, पर लुटी जाने वाली, जनता को चाहे जैसे हो सके दबा रखना ही असल चीज है। कानून भी इसी गर्ज से बनाए जाते हैं। मगर अगर कहीं कानून की पाबन्दी के चलते ही जनता सिर उठा ले तो उसकी पाबन्दी से बढ़ के भूल और क्या हो सकती है? यही कारण है कि जमींदारों और मालदारों के कानून तोड़ने पर भी सरकार तरह दे जाती है। उनके रुपये और प्रभाव के चलते इसके लिए बहाने तो सरकार को मिली जाते हैं। पुलिस उसकी रिपोर्ट करती ही नहीं। फिर सरकार क्या करे? और अगर कहीं एक-दो जगह किसान

सिर उठाने पाए तो फिर गजब हो जाने का डर जो रहता है। क्योंकि "बुढ़िया के मरने का उतना डर नहीं, जितना यम का रास्ता खुल जाने का रहता है!" बड़ौदा राज्य में किसानों की उन लड़ाइयों ने यह बात साफ कर दी।

अहमदाबाद की सभा के बाद हमारा दौरा था खेड़ा जिले में—उसी खेड़ा जिले में जो न सिर्फ श्री इन्दुलाल जी का जिला है, बल्कि सरदार वल्लभ भाई का भी जन्म उसी जिले में हुआ है। हमारी मीटिंगें ठेठ देहातों में थीं। स्टेशन से उतर के हमें कई दिन देहात-देहात ही घूमते रहने और इस तरह डाकोर के पास रेलवे लाइन पकड़ने का मौका मिला। कुछ दूर लारी से और बाकी ज्यादा जगहें बैलगाड़ी से ही तय करनी पड़ीं। इस बार हम ऐसे इलाके में गये जहाँ आज तक कांग्रेस का कोई खास असर होई न पाया है। इसलिए हमें इस बात से बड़ी प्रसन्नता हुई। अनुभव भी बहुत ही मजेदार हुए।

असल में खेड़ा जिले के बहुत बड़े हिस्से में क्षत्रियों की एक बहादुर कौम बसती है जिसे धाराला कहते हैं। ये लोग अहमदाबाद जिले में भी खासी तादाद में पाये जाते हैं। हमें इस बात से बड़ी तकलीफ हुई कि सरकार ने इस दिलेर कौम को जरायम पेशा करार दे रखा है। असल में विदेशी सरकार की तो सदा से यही नीति रही है कि लोगों में मर्दानगी का माद्दा रहने ही न दिया जाय। पर अफसोस है कि कांग्रेसी मन्त्रियों ने भी इस कलंक को मिटाने की कोशिश न की, जिससे धाराला लोग अब भी वैसे ही माने जाते हैं। पहले **गांधी जी के 'नवजीवन'** और **'यंग इण्डिया'** में पढ़ के हमें भी इनके बारे में यही गलत धारणा थी। परन्तु दौरा करने पर हमें पता चला कि सारी बातें गलत हैं। ये लोग अपने पास लम्बे-लम्बे दाव लाठी में लगा के रखते हैं जिसे धारिया कहते हैं। धाराला नाम इसी धारिया के रखने से पड़ा है। जंगल में लकड़ी वग़ैरह काटने में इससे बड़ी आसानी होती है। हमें इस बात से खुशी हुई कि इन लोगों ने, जो सदा कांग्रेस के विरोधी रहे, न सिर्फ हमारी किसान-सभा को अपनाया, बल्कि इस काम में बड़ी मुस्तैदी दिखाई। उनने इसे अपनी चीज मान ली। इसका प्रमाण हमें उसी यात्रा में प्रत्यक्ष मिला। साहूकारों ने जो उन्हें आज तक बेखटके लूटा था उससे बचने का रास्ता उन्हें किसान-सभा में ही दीखा। क्योंकि सभा की नीति इस मामले में साफ है। यही कारण है कि वे इस ओर झुके, गो कांग्रेस से अलग रहे। उसकी नीति गोल-मोल जो ठहरी।

खेड़ा जिले के गाँवों में घूमते-घामते हम डाकोर से सात ही आठ मील के फासले वाले रेलवे स्टेशन कालोल पहुँचे। यह एक अच्छा शहर है। यहाँ व्यापारी और साहूकार बहुत ज्यादा बसते हैं। हमारे दौरे से इनके भीतर एक प्रकार की हड़कम्प मच चुकी थी, गोकि हमें इसका पूरा पता न था। सरदार बल्लभ भाई के गण लोग भी चुपचाप बैठे न थे। हम उनके गढ़ पर ही धावा जो बोल रहे थे। जो गुजरात आज तक गांधीवाद का किला माना जाता था वहीं किसान-सभा की प्रखर प्रगति

उन नेताओं को बुरी तरह खल रही थी। इसीलिए हमारे खिलाफ अंट-संट प्रचार करके और हमें कांग्रेस-विरोधी करार देके उनके गण मध्यमवर्गीय लोगों को हमारे विरुद्ध खूब ही उभाड़ रहे थे। और कालोल शहर तो मध्यवर्गीय लोगों का अड्डा ही ठहरा।

एक बात और भी हो गयी थी। उसके पूर्व देहातों में जो हमारे कई लेक्चर हो चुके थे उनमें साहूकारों और सूदखोरों की लूट का हमने खासा भण्डाफोड़ किया था। हमने कहा था कि किसानों के सभी कर्ज मंसूख कर दिये जायँ। इससे साहूकारों में खलबली मचना स्वाभाविक था। उनने समझा कि यह तो हमारा भारी दुश्मन खड़ा हो गया। वे मानते थे कि यदि ऐसे लेक्चर किसानों में होने लग जायँ तो वे हमारी एक न सुनेंगे, निडर हो जायँगे और हमारा दिवाला ही बुलवा देंगे। पंचमहाल जिले के गुसर मौजे में पीछे चल के श्री जबेर भाई नामक किसान ने ऐसा किया भी। और जगह भी ऐसी घटनाएँ हुईं। इसीलिए उनका डरना और सतर्क होना जरूरी था।

जिस दिन हम कालोल पहुँचे उसके ठीक पहले दिन एक गाँव में एक साहूकार से कुछ बातें भी ऐसी हो गयीं कि वह चौंक पड़ा, और बहुत सम्भव है कि उसने भी कालोल में सनसनी पैदा की हो। बात यों हुई कि उसने किसानों की फिजूलखर्ची की शिकायत करते हुए यह कह डाला कि ये लोग शहरों जा के सैलूनों में बाल कटवाया करते हैं। सैलून अंग्रेजी ढंग की जगहें होती हैं जहाँ बाबू आनी ढंग से नाऊ लोग हजामत बनाते और ज्यादा पैसे मजदूरी में लेते हैं। साहूकार को खटकता था कि ये लोग मेरा कर्ज और सूद चुकता न करके फिजूल पैसे खर्च डालते हैं। इसी से उसने मुझसे उनकी शिकायत की।

मगर मैंने झल्ला के कहा कि क्या ऐसा बराबर होता है या कभी-कभी? उसने उत्तर दिया कि केवल कभी-कभी। इस पर मैंने उसे डाँटा कि यही चीज तुम्हें चुभ गयी? आखिर किसान लोग पत्थर तो हैं नहीं। ये भी मनुष्य हैं। इन्हें भी अभिलाषाएँ और वासनाएँ हैं। इसीलिए कभी-कभी उन्हें पूरा कर लेते हैं। जो लोग इन्हीं की कमाई के पैसे सूद, कर्ज, लगान आदि के रूप में लूट के बराबर ही सैलूनों में जाते और गुलछर्रे उड़ाते हैं उन्हें शर्म होनी चाहिए, न कि इन किसानों को। ये तो अपने ही कमाई के पैसे से कभी-कभी ऐसा करते हैं और यह अनिवार्य है। मगर आपको अमीरों की बात नहीं खटक के इनकी ही क्यों खटकती है? ये किसे लूट के सैलून में जाते हैं? इस पर वह साहूकार हक्का-बक्का हो गया। उसे यह आशा न थी कि मैं ऐसा कहूँगा। वह तो मुझे गांधीवादियों की तरह समाज-सुधारक समझता था। फलतः मेरी बात सुन के उसे अचम्भा हुआ। शायद उसी ने कालोल में ज्यादा सनसनी फैलाई।

हाँ, तो कालोल में पहुँचने पर शहर से बाहर एक बाग में जो रेलवे स्टेशन के पास ही है, हम जा ठहरे। हमारे ठहरने का प्रबन्ध पहले से ही वहीं था। बाग में पहले एक कारखाना था तो तहस-नहस की हालत में पड़ा रो रहा था। शहर के दो एक प्रतिष्ठित और पढ़े-लिखे लोग हमसे वहाँ मिलने आये। यह भी पता चला

कि उन्हें लोगों ने हमारी सभा का भी प्रबन्ध किया है। श्री इन्दुलाल जी से उनका पुराना परिचय था। हमें खुशी इस बात की थी कि मध्यमवर्गीय पढ़े-लिखे लोग हमारे भी साथ हैं। उन्हीं के नाम से सभा की नोटिसें भी बँटी थीं। सभा का समय शाम होने पर था जब कि चिराग जल जायें। हम भी निश्चिन्त थे। क्योंकि भीतरी सनसनी और हमारे खिलाफ की गयी तैयारी का हमें पता न था। दूसरों को भी शायद न था। नहीं तो हमें बता तो देते ताकि हम पहले से ही सजग हो जायें। मगर विरोधियों ने गुपचुप अपनी तैयारी कर ली थी जरूर।

जब शाम होने के बाद हम सभा में चले तो शहर के बीच में जाना पड़ा। हमें ताज्जुब हुआ कि यह क्या बात है? घने मकानों के बीच कहाँ जा रहे हैं यह समझना असम्भव था। इतने में हम ऐसी जगह जा पहुँचे जो चारों ओर ऊँचे मकानों से घिरी थी। बीच में जो जगह खाली थी वहीं देखा कि बहुत से सफेद-पोश लोग जमा हैं। सब के सब खड़े थे। बैठने के लिए कोई दरी-वरी या बिछावन भी वहाँ न दीखा। हमने समझा कि यों ही किसी काम से ये लोग खड़े हैं और आगे चलने लगे। लेकिन हमें बताया गया कि यही सभा-स्थान है। हमें ताज्जुब हुआ कि शहर की सभा और उसकी ऐसी तैयारी! हम समझी न सके कि क्या बात है। इतने में किसी ने इशारा कर दिया कि यही स्वामी जी हैं। इशारे का पता हमें तो न लगा। मगर विरोधियों की तैयारी ऐसी थी कि वे किसी के इशारे से समझ जा सकते थे।

बस, फिर कुछ कहिये मत। हमें कोई बैठने को भी कहने वाला न दीखा। यहाँ तक कि किसी ने बात भी न की और चारों ओर से एक अजीब 'सी सी' की आवाज आने लगी। वह आवाज हमें पहले ही पहल सुनने को मिली। हमने हजारों किसान-सभाएँ कीं। विरोधियों के मजमे में हमने व्याख्यान दिये यहाँ तक कि हरिपुरा के पहले सूरत जिले में बिलिमोड़ा स्टेशन से एक दूर बसे शहर में भी हमारी सभा हुई जिसमें गांधीवादी भरे पड़े थे। मगर ऐसी हालत वहाँ न देखी। उनने सभ्यता से आदरपूर्वक हमसे सवाल जरूर किये जिनके उत्तर हमने दिये। मगर ऐसा न किया। यहाँ तो कोई सुनने वाला ही न था। मालूम होता था कि यों ही 'सी सी' और 'हू हू' करके या ताने मार के हमें ये लोग भगा देने पर तुले बैठे थे। तानेजनी की बातें भी बोली जा रही थीं। कोई-कोई हमें संन्यासी का धर्म सिखा रहे थे। मगर अप्रत्यक्ष रूप से जैसा कि हुआ करता है।

पहले तो हम और याज्ञिक दोनों ही अकचका गये। मगर पीछे खयाल किया कि यहाँ तो जैसे हो निपटना ही होगा। हम मार भले ही खा जायें। मगर सभा तो करके ही हटेंगे। इतने में एक दीवार के बगल वाले चबूतरे पर हम दोनों जा खड़े हुए और याज्ञिक ने बोलने की कोशिश की। पहले तो वे लोग सुनने को रवादार थे ही नहीं। इसीलिए उनकी सिसकारी चलती रही। मगर हम या याज्ञिक भी बच्चे या थकने वाले तो थे नहीं। इसलिए याज्ञिक ने बोलने की कोशिश बराबर जारी

रखी। नतीजा यह हुआ कि बाधा डालने वाले थक के सुनने को बाध्य हुए। आखिर कब तक ऐसा करते रहते? उनका थकना जरूरी था। हमारा तो एक पवित्र लक्ष्य है जिसमें मस्त होने से हम थकना क्या जानें? वह लक्ष्य भी महान् है। शोषितों एवं पीड़ितों का उद्धार ही हमारा लक्ष्य है। उसमें हमारा अटल विश्वास भी है। फिर हम क्यों थकते? बल्कि ऐसी बाधाओं से तो उल्टे हमारी हिम्मत और भी बढ़ती है। मगर उन लोगों का तो कोई महान् और पवित्र लक्ष्य था नहीं। फिर थकते क्यों नहीं?

जब वे चुप हो गये तो हमें और भी हिम्मत हुई। फिर तो श्री इन्दुलाल ने अपना लेक्चर तेज किया और धीरे-धीरे उन लोगों को ऐसा बनाया कि कुछ कहिये मत। आखिर वह भी उसी खेड़ा जिले के ही रहने वाले ठहरे। कालोल के बहुतेरे लोग उनके त्याग और उनकी जन-सेवा को खूब ही जानते हैं। वे गांधी जी के प्राइवेट सेक्रेटरी बहुत दिनों तक रह चुके हैं। पढ़-लिख के और वकालत पास करके उनने अपने को दलितों की सेवा के लिए समर्पित किया। यहाँ तक कि शादी भी न की। यह बात खेड़ा वालों से ही छिपी रहे यह कब सम्भव था? यही वजह थी कि उनने विरोधियों की मीठे-मीठे खूब ही मरम्मत की।

फिर मेरा मौका आया। मैं खड़ा हुआ और भाषण का प्रवाह चला। मैंने देखा कि इन्हें कांग्रेस के ही मन्तव्यों और प्रस्तावों के द्वारा पानी-पानी करना ठीक होगा। इसलिए कांग्रेस की चुनाव घोषणा, फैजपुर के प्रस्ताव और लखनऊ के प्रस्ताव का उल्लेख करके मैंने उन्हें बताया कि यदि वे कांग्रेस के भक्त हैं तो फौरन ही किसानों को कर्ज से और जमींदारों के जुल्मों तथा बढ़े हुए लगान के बोझ से मुक्त करना होगा। वे बेचारे क्या जानने गये कि प्रस्ताव क्या हैं और लीडर लोग कांग्रेस के मन्तव्यों के ही विरुद्ध काम कर रहे हैं? उन्हें तो जैसा समझाया गया वैसा ही उनने मान के मुझे कांग्रेस का बागी करार दे दिया! मैंने उनसे कहा कि गुनाह कोई करे और अपराधी कोई बने? मैंने उन्हें ललकारा कि मेरी एक बात का भी उत्तर दे दें तो मैं हार जाने को तैयार हूँ। मैं तो घण्टों बोलता रहा और वहाँ ऐसी शान्ति रही कि कुछ पूछिये मत। अब तो कोई चूँ भी नहीं करता था। मेरे बाद स्थानीय एक सज्जन भी बोले और सभा बर्खास्त की गयी।

पीछे तो 'सी सी' करने वालों को खूब ही पता चला कि वे धोखे में थे। जब मैंने न सिर्फ उनकी बल्कि उनके बड़े-से-बड़े लीडरों की भी खासी खबर ली तो आखिर वे करते भी क्या? दरअसल मध्यमवर्गीय लोगों को तो यों ही भटका के गुरुघण्टाल लोग अपना उल्लू सीधा करते हैं। वहीं मैंने प्रत्यक्ष देखा कि मध्यमवर्गीय लोग कितने खतरनाक और किस तरह बेपेंदी के लोटे की तरह इधर-से-उधर ढुलकते हैं। पहले तो मेरे दुश्मन थे। मगर पीछे ऐसे सरके कि कुछ कहिये मत। चाहे जो हो पर उनके करते हमारी किसान-सभा की धाक खूब ही जमी।

20

लखनऊ की कांग्रेस के बाद ही सन् 1936 ई. में बिहार प्रान्तीय वर्किंग कमिटी की मीटिंग थी। मैं भी मौजूद था। लखनऊ में कांग्रेस ने जो प्रस्ताव किसानों की हालत की जाँच के लिए पास किया था और प्रान्तीय कमिटियों से जाँच की यह रिपोर्ट माँगी थी कि विभिन्न प्रान्तों में किसानों के लिए किन-किन सुधारों की जरूरत है जिससे उनकी तकलीफें घटें और उन्हें आराम मिले, उसी सम्बन्ध में यह खास मीटिंग हुई थी। उसी मीटिंग में किसान जाँच कमिटी बनानी थी। वह बनाई भी गयी। बहुत देर तक विचार और बहस-मुबाहसा होता रहा। समस्या ठहरी पेचीदा। इसीलिए कमिटी का काम आसान न था। अन्त में तय पाया कि नौ मेम्बरों की कमिटी बने और जाँच का काम फौरन शुरू कर दे। तभी फैजपुर कांग्रेस के पहले ही दिसम्बर आते-आते रिपोर्ट तैयार हो सकेगी।

अब सवाल पैदा हुआ कि मेम्बर हों कौन-कौन से? यह तो जरूरी था कि बिहार के सभी प्रमुख लीडर जो वर्किंग कमिटी में थे उसके मेम्बर बन जाते। हुआ भी ऐसा ही। मगर एक दिक्कत पेश हुई मैं भी वर्किंग कमिटी का सदस्य था। साथ ही, किसानों के सम्बन्ध में मुझसे ज्यादा जानकारी किसी और को थी भी नहीं। जाँच कमिटी में रह के किसानों से ऐसी बातें तो मैं ही पूछ सकता था जिनसे जमींदारों के ऐसे अत्याचारों पर भी प्रकाश पड़ता जो अब तक छिपे थे। कहाँ क्या सवाल किया जाय और कब किया जाय इस बात की जानकारी सबसे ज्यादा मुझी को थी। इतना ही नहीं। रिपोर्ट तैयार करने के समय मैं उसे किसानों के पक्ष में प्रभावित कर सकता था। मेरे न रहने पर तो शेष लोग या तो जमींदारों के ही तरफदार होते, या ज्यादे-से-ज्यादा दो भाषिये हो सकते थे। मगर किसानों को यदि कुछ भी भलाई करनी थी तो कुल नौ मेम्बरों में एक का ऐसा होना अनिवार्य था जो किसानों की बातें ठीक-ठीक जानता और उनकी सभी समस्यायें समझता हो। कोई वजह भी न थी कि मैं जाँच कमिटी में न रहूँ। यह हिम्मत भी किसे हो सकती थी कि मुझे रहने से रोके? आखीर चुनाव में जो अगले साल शुरू में ही होने को था, किसान-सभा की सहायता भी तो कांग्रेस के लिए जरूरी थी। इसीलिए भी मुझे रखना ही पड़ता।

मगर मुझे क्या मालूम कि खुद बा. राजेन्द्र प्रसाद धर्मसंकट में पड़े डूबते-उतराते थे। मैं तो समझता था, और दूसरे भी समझते थे, कि मुझे जाँच कमिटी में रहना ही है। दूसरी बात होई न संकती थी। लेकिन जब राजेन्द्र बाबू ने दबी जबान से कहा कि स्वामी जी के रहने पर जमींदार और सरकार दोनों ही कहेंगे कि जाँच कमिटी की रिपोर्ट तो दरअसल किसान-सभा की रिपोर्ट है, न कि कांग्रेस की। कहने के लिए भले ही उसकी हो, तो मुझे ताज्जुब हुआ कि यह क्या बोल रहे हैं। मगर उनने और भी कह डाला कि हम नहीं चाहते कि किसी को ऐसा कहने का मौका

मिले। हम चाहते हैं कि सभी की नजरों में हमारी रिपोर्ट की कीमत और अहमियत हो। अब तो मैं और भी हैरान हुआ और उनसे पूछा कि आप क्या दलील दे रहे हैं? नौ में मैं ही अकेला किसान-सभा का ठहरा। बाकी तो खांटी कांग्रेसी हैं, जमींदार और जमींदारों के दोस्त हैं। फिर यह कैसे होगा कि उनकी कीमत न हो और अकेले मेरे ही करते आपकी रिपोर्ट किसान-सभा की बन जाय? खुद राजेन्द्र बाबू भी उसमें होंगे। तो क्या मेरे सामने उनकी भी कोई कीमत न होगी। क्या किसान-सभा का या मेरा इतना महत्त्व सरकार और जमींदारों की नजरों में बढ़ गया? मैं तो यह सुन के हैरान हूँ।

मेरी इन बातों का उत्तर वे लोग क्या देते? आखिर कोई बात भी तो हो। और अगर किसान-सभा की यां मेरी अहमियत इतनी मान लें, तो फिर कांग्रेस को क्या कहें? उसे तो उन्हें सबके ऊपर रखना था। फिर दलीलों का जवाब देते हो क्या? इसीलिए यह कहना शुरू किया कि आपके रहने से रिपोर्ट सर्वसमस्त (unanimous) ने होगी और उसकी कीमत पूरी-पूरी होने के लिए उसका सर्वसम्मत होना जरूरी है। इस पर मैं बोल बैठा कि आपने अभी से यह कैसे मान लिया कि रिपोर्ट ऐसी न होगी और उसमें मेरा मतभेद खामख्वाह होगा? मैं तो बहुत दिनों से वर्किंग कमिटी का मेम्बर हूँ और उसके सामने बहुत से पेचीदा प्रश्न आते ही रहे हैं। किसानों के भी कितने ही सवाल जब न तब आये हैं। मगर आप लोग क्या एक भी ऐसा मौका बता सकते हैं जब मेरा मतभेद रहा हो? या जब मैंने अन्त में अलग राय दी हो? यह दूसरी बात है कि बहस-मुबाहसे होते रहे हैं। तो भी अन्त में फैसला तो हमने एक राय से ही किया है। फिर भी यदि आप लोग अभी से यह माने बैठे हैं कि जाँच कमिटी की रिपोर्ट में मेरा रिपोर्ट खामख्वाह होगा, तो माफ कीजिये, मुझे कुछ दूसरी ही बात दीखती है। मैं हैरत में हूँ कि यह क्या बातें सुन रहा हूँ।

एक बात और है। मान लीजिये कि मेरा मतभेद बाकी मेम्बरों से होगा ही। तो इससे क्या? यह तो बराबर होता ही है। क्या सभी कमिटियों की रिपोर्टें एक राय से ही लिखी जाती हैं? शायद निन्नानबे फीसदी तो कभी एक मत नहीं होती है। मुश्किल से सौ में एक रिपोर्ट ऐसी होती होगी। तो क्या कभी ऐसा भी होता है कि शुरू में ही ऐसे लोग मेम्बर बनाये जायँ जिनके विचार एक से ही हों? उलटे हमने देखा है, हम बराबर देखते हैं कि ऐसी कमिटियों में खासकर अनेक खयाल के लोग ही रखे जाते हैं। बल्कि उनकी रिपोर्टों की ज्यादा कीमत, ज्यादा अहमियत इसी से होती है कि अनेक मत के लोग उनमें थे। फिर भी आप लोग उल्टी ही बात बोल रहे हैं। आखिर आपकी यह जाँच कमिटी कोई निराली चीज तो है नहीं। फिर मैं यह क्या सुनता हूँ कि रिपोर्ट एक मत न होगी?

अब तो किसी के बोलने के लिए और भी गुंजाइश न थी। सभी चुप थे। और लोगों की भावभंगी से और खासकर राजेन्द्र बाबू के चेहरे से मुझे साफ-साफ

झलका कि उन लोगों पर कोई भारी आफत आ गयी है। वे नहीं चाहते कि मैं जाँच कमिटी में रहूँ। मगर उसी के साथ उनकी दिक्कत यह है कि मुझे रखने के लिए मजबूर हो रहे हैं, जब तक कि मैं खुद रहने से इनकार न कर दूँ। मैं समझने में लाचार था कि ऐसा क्यों हो रहा है मुझे क्या पता था कि उन लोगों के भीतर पाप भरा था कि न रिपोर्ट तैयार होगी और न छपेगी। सिर्फ चुनाव के पहले जाँच का ढकोसला खड़ा करके वे लोग किसानों को केवल ठगना चाहते थे कि वोट दें। यह भण्डाफोड़ पीछे हुआ जब कि उनने रिपोर्ट का नाम ही लेना बन्द कर दिया। बल्कि जब मैंने पीछे उनकी यह हालत देख के फैजपुर में आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी में यह सवाल उठाया तो वे लोग बुरी तरह बिगड़ बैठे। मैंने वहाँ भी उन्हें फटकारा और ऐसा सुनाया कि बोलती ही बन्द थी।

हाँ, तो यह हालत देख के मैंने खुद कहा कि यदि आप लोगों की यही मर्जी है तो लीजिये मैं खुद रहने से इनकार करता हूँ। क्योंकि देखता हूँ कि यदि ऐसा नहीं करता तो जाँच कमिटी ही न बनेगी और पीछे सब लोग मुझी को इसके लिए कसूरवार ठहरा के खुद पाक बनने की कोशिश करेंगे। मगर मैं ऐसा नहीं होने दूँगा। इसीलिए खुद हट जाता हूँ। लेकिन यह कैसे होगा कि आप लोग जोई रिपोर्ट चाहेंगे छाप देंगे और मैं मान लूँगा? मुझे रिपोर्ट की तैयारी के पहले और छपने के पहले भी पूरा मौका तो मिलना ही चाहिए कि बहस करके सम्भव हो तो उसे कुछ दूसरा रूप दिला सकूँ। इस पर सभी एकाएक बोल बैठे कि यह तो होगा ही। जाँच के समय भी आप रह सकते हैं। मगर जाँच का काम पूरा होने और रिपोर्ट लिखने के पहले एक बार कमिटी आपसे सभी बातों पर काफी विचार कर लेगी और आपको पूरा मौका देगी कि उसे प्रभावित करें। फिर जब रिपोर्ट तैयार होगी तो छपने के पहले आपके पास उसकी एक कॉपी जरूर भेजी जायगी और यदि आप चाहेंगे तो कमिटी से फिर बहस करके उसमें रद्द-बदल करवा सकेंगे। इस पर मैंने कह दिया कि धन्यवाद! मैं इतने से ही सन्तोष कर लेता हूँ। तब कहीं जाकर राजेन्द्र बाबू और दूसरों का धर्मसंकट टला।

अब एक दूसरा सवाल पैदा हुआ। जितने मेम्बर चुने गये उनमें पटना और शाहाबाद जिलों के एक भी न थे और किसानों के प्रश्नों के खयाल से ये जिले बहुत ही महत्त्व रखते हैं। सच बात तो यह है कि मैं इस सवाल को न तो उसी समय समझ सका और न अब तक समझ पाया हूँ। यदि सभी जिलों के मेम्बर न होंगे तो उससे क्या? मैं तो अच्छी तरह जानता हूँ कि अपने जिले की किसान समस्याओं की पूरी जानकारी शायद किसी को आज तक भी हो। जानकारी तो उन्हें हो जो उसमें दिलचस्पी रखते हों और उसकी टटोल में बराबर रहते हों। इधर किसी को न तो इसकी परवाह है और न इसके लिए फुर्सत। फिर इस सवाल से क्या मतलब? बिहार के कुल सोलह जिलों को मिलाकर जब सिर्फ नौ मेम्बरों की ही जाँच कमिटी

बनी तो यह सवाल उठता ही कैसे कि फलां जिले का कोई नहीं है? हाँ, किसी का नाम कमिटी के मेम्बरों में होने से अखबारों में छपे और वह इस प्रकार नामवरी हासिल करे यह बात जुदा है और अगर इस दृष्टि से पटना शाहाबाद से किसी को देना हो तो हो।

खैर, कुछ देर के बाद किसी ने कहा कि बाबू गंगाशरण सिंह पटने के ही हैं। उन्हें क्यों न दिया जाय? इस पर प्रायः सभी बोल बैठे कि ठीक है, ठीक है। अन्त में तय भी पाया गया कि वह भी एक मेम्बर रहें और वह तथा बाबू कृष्णबल्लभ सहाय—दोनों ही—जाँच कमिटी के मन्त्री हों। मैं चुपचाप बैठा आश्चर्य में डूब रहा था। बाबू गंगाशरण सिंह न सिर्फ बिहार प्रान्तीय किसान कौंसिल के मेम्बर थे, बल्कि बिहार प्रान्तीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की कौंसिल ऑफ ऐक्सन के भी सदस्य और पक्के सोशलिस्ट माने जाते हैं। मैं तो जाँच कमिटी में इसलिए खतरनाक माना गया कि किसान-सभावादी हूँ। मगर सोशलिस्ट लोग तो ठेठ क्रान्ति तक पहुँच जाने वाले माने जाते हैं। वह तो क्रान्ति से नीचे की बात करते ही नहीं। फिर भी गंगा बाबू, बाबू राजेन्द्र प्रसाद और उनके साथियों को न सिर्फ कबूल थे, बल्कि उन लोगों ने खुद उनका नाम पेश किया। यह एक निराली बात थी कि सोशलिस्ट तो कबूल हो, मगर मेरे जैसा आदमी, जो सोशलिस्ट बनने का दावा कभी नहीं करता, कबूल न हो। यह मेरा आश्चर्य आज तक बराबर बना है। इतना ही नहीं जब मैंने सोशलिस्ट नेता जयप्रकाश बाबू से यह चर्चा की तो उनने खुद कहा कि गंगा बाबू तो सोशलिस्ट भी हैं, तब कैसे कबूल हो गये? इसीलिए यह सवाल आज भी ज्यों का त्यों बना है और कौन कहे कि कब तक बना रहेगा?

21

हजारीबाग जेल में इस बार हमें जो घटनाएँ मिलीं वह भी काफी मजेदार हैं। हमें कुछ ऐसे गांधीवादी यहाँ मिले जो हिटलर की जीत से केवल इसलिए खुश होते थे कि वह हिन्दुस्तान पर चला आयेगा और इस प्रकार किसान-सभा और मजदूर-सभा का गला घोंट देगा। सोवियत रूस पर होने वाले उसके आक्रमण से तो वे लोग और भी ज्यादा खुश थे। वह यहाँ तक बढ़ गये थे कि सोवियत की हार अब हुई, तब हुई ऐसा कहने लगे थे। भारत में हिटलर के पदार्पण से उनकी क्या हालत होगी यह बात भी शायद वह सोचते हों, मगर क्या सोचते थे यह हमने न जाना। किसान आन्दोलन खत्म हो जायगा उन्हें इसी की खुशी थी। यदि वे खुद भी उसी के साथ खत्म हो जायँ तो भी उन्हें परवाह न थी। फिक्र उन्हें अगर कोई दिखी तो यही कि किसान-सभा कैसे मिटेगी। बेशक उनमें कुछ लोग तो ऐसे भी थे जो स्वराज्य लेना नहीं चाहते थे, किन्तु उन्हें चिन्ता थी उसके बचाने की। उनके जानते

उनका अपना स्वराज्य तो हई। जमींदारी बड़ी है और रुपये-पैसे भी काफी जमा हैं। ठाट-बाट और शान-बान भी पूरी है। किसानों पर रोब भी खूब डाँटते हैं। फिर और स्वराज्य कहते हैं किसे? उनने तो स्वराज्य का यही मतलब समझा है। उन्हें भय है कि उनका यह स्वराज्य कहीं किसान और पीड़ित लोग छीन न लें, इसीलिए कांग्रेस और गांधी जी की दुम पकड़ के वे इस बला से पार होने के लिए यहाँ पधारे थे। क्योंकि उन्हें विश्वास है कि यहाँ आ जाने पर उनके स्वराज्य की रक्षा गांधी जी और कांग्रेस—दोनों ही—ठीक वैसे ही करेंगे जैसे हिन्दुओं की गाय की दुम उन्हें वैतरणी में डूबने से बचाती है।

मगर उनमें जो जमींदार या मालदार न थे उनकी इस मनोवृत्ति पर हमें तरस आया और हँसी भी आयी। हिटलर के पदार्पण से उन्हें अपना स्वराज्य कैसे मिलेगा यह समझ में न आया। शायद उन्हें अपने स्वराज्य की परवाह कतई थी नहीं। कदाचित् जेल आये थे वे इसीलिए कि उनकी लीडरी खतरे में थी—छिन जाती। अगर उसे उनने बचा लिया तो यही क्या कम है? उसी से कमा-खायेंगे। आज लीडरी भी एक पेशा जो बन गयी है। मगर, अगर हिटलर के आ जाने से वह लीडरी भी छिन जाय, तो छिन जाय बला से। उसी के साथ किसान-सभा भी तो खत्म होगी। बस, इतने से ही उन्हें सन्तोष था। इसे ही कहते हैं "आप गये अरु घालहिं आनहि" या "दुश्मन की दोनों आँखें फोड़ने के लिए अपनी एक फोड़ लेना!" हमें तो साफ ही मालूम हुआ कि कांग्रेस एक अजायबघर या चिड़ियाखाना। (Museum or zoo) है जिसमें रंग-बिरंगे जीव पाये जाते हैं! गुलाम भारत की विकट परिस्थिति के चलते ही उसकी स्थिति है। क्योंकि राष्ट्रीय संस्था के अलावे और कोई भी संस्था अंग्रेजों का मुँहतोड़ दे नहीं सकती, उनसे सफलतापूर्वक लोहा ले नहीं सकती। इसीलिए कांग्रेस को हर हालत में मजबूत बनाना हर विचारशील माननीय का फर्ज हो जाता है। अंग्रेजी सरकार की मनोवृत्ति और सलूक उसे लड़ने को विवश भी करते हैं। यही है परिस्थितिवश कांग्रेस की विलक्षणता और मान्यता। मगर उसमें रंग-बिरंगे जीव तो हई।

हजारीबाग जेल में रोजाना दस आना मिलता है खुराक के लिए। कपड़े-लत्ते, टूथ-ब्रश, पाउडर, साबुन वग़ैरह अलग ही मिलते हैं। इतने पर भी एक 'टुटपुँजिये' जमींदार महोदय को तमक के कहते पाया कि "कष्ट भोगने के लिए तो हम जमींदार लोग हैं और स्वराज्य लेने या जमींदारी मिटाने की बात किसान करते हैं। देखिये न, यह कितनी अन्धेर है!" क्या खूब! वे हजरत इतने कष्ट में थे कि कुछ कहिये मत। दस आने हजम करने में क्या कम कष्ट है? और ये पाउडर, ब्रश आदि? इनका प्रयोग तो उन्हें बाहर शायद ही कभी मुअस्सर हुआ हो। इसीलिए इससे भी उन्हें काफी कष्ट था। प्रतिदिन दस आना खामख्वाह हजम करना यह तो आफ़त ही थी। यदि कभी कम-बेश होता तो एक बात थी। मगर रोज ही पूरे दस आने! यही तो गजब था! पता नहीं, छूटने के दिन वे 30-40 पौण्ड वजन में बढ़े हुए गये या कि

कुछ कम! उनके बारे में हमें केवल इतना ही कहना है कि किसानों ने उन्हें कभी नहीं कहा था कि जेल के ये कष्ट वे भोगें। वे तो खुद आये थे। फिर किसान उनके साथ क्यों रिआयत करेंगे, यही समझ में न आया। दरअसल बात तो कुछ दूसरी ही थी। वह तो पहले समझते थे कि स्वराज्य होगा किसानों और जमींदारों के साझे का, और बँटवारे के समय हम किसानों को ग्वाले के छोटे भाई की तरह ठग लेंगे। मगर किसान-सभा ने इस बात का पर्दाफ़ाश कर दिया और कह दिया है कि साझे का स्वराज्य होई नहीं सकता। बस, इसी से उन्हें क्रोध था।

कहते हैं कि किसी गाँव में दो भाई ग्वाले साथ ही रहते और कमाते-खाते थे। बड़ा भाई था काफी चालाक। कमाता वह था नहीं। कमाते-कमाते मरता था छोटा भाई ही। मगर खान-पान में बड़ा आगे ही रहता था। फिर भी छोटे को परवाह न थी। मगर यह बात आखिर चलती कब तक? अन्ततोगत्वा एक दिन छोटे को भी गुस्सा आया और उसने कहा कि हमें जुदा कर दो, साथ न रहेंगे। बड़े ने पहले तो काफी कोशिश की कि यह बात न हो। मगर छोटे को जिद्द थी। इसलिए लाचार सभी चीजों का बँटवारा करना ही पड़ा। और चीजों में तो कोई दिक्कत न थी। मगर दस-पन्द्रह सेर दूध देने वाली ताजी ब्याई एक भैंस थी। उसका बँटवारा कैसे हो, यह बात उठी। लोटा-थाली हो तो एक-एक बाँट लें। अन्न और पैसे आदि में भी यही बात थी। मगर भैंस तो एक ही थी। दो होतीं तो और बात थी। अब क्या हो? दोनों को कुछ सूझता न था। अक्ल के पूरे तो थे ही बड़े हजरत। उनने रास्ता सुझाया। भैंस का आधा भाग तुम्हारा और आधा हमारा रहे, जैसे घर में आधा-आधा दोनों ने लिया है। छोटे ने मान लिया। अब सवाल उठा कि भैंस का कौन हिस्सा किसे मिले?

यहाँ पर बड़े भाई ने चालाकी की और छोटे से कहा कि देखो भाई, तुम्हें मैं बहुत मानता हूँ। इसीलिए चाहता हूँ कि यहाँ भी तुम्हें अच्छा ही हिस्सा दूँ। यह तो जानते ही हो कि भैंस का मुँह कितना सुन्दर है, किस प्रकार पगुरी करती है। उसकी सींगें कितनी चमकीली और मुड़ी हुई हैं, कान, आँख वग़ैरह भी देखते ही बनते हैं। विपरीत इसके चूतड़ का हिस्सा कितना गन्दा है। उस पर बराबर गोबर-मूत लगा रहता है जिसे रोज धोना पड़ता है। भैंस बार-बार गोबर-मूत निकालती ही रहती है। अगर एक दिन उसे उठा के न फेंकें तो रहने ही जगह नर्क ही हो जाय! लेकिन तुम्हारे करते मैं लाचार हो के उसका पिछला हिस्सा ही लूँगा और गोबर-मूत फेंकूँगा। तुम्हें अगला भाग देता हूँ। बस, बँटवारा हो गया। खुश हो न? छोटे ने हामी भर दी।

अब तो ऐसा हुआ कि छोटा भाई रोज भैंस को खूब खिलाता-पिलाता और बड़ा धीरे से दोनों समय उसका दूध निकालता और मजा करता। यह बात कुछ दिन चलती रही। छोटे को इस बीच दही, दूध कुछ भी देखने तक को न मिला। कभी-कभी वह घबराता था जरूर। मगर सीधा तो था ही। अतः सन्तोष कर लेता

कि क्या किया जाय? बँटवारा जो हो गया है। बस, फिर काम में लग जाता था। इस प्रकार मिहनत करते-करते मरता था वह और मजा मारता था बड़ा। कितना सुन्दर न्याय था! कैसा सुन्दर प्रेम बड़े ने छोटे भाई के प्रति दिखाया! उसके सीधेपन से उसने कैसा बेजा नफा उठाया! मगर यह अन्धेर टिक न सकी। टिकती भी क्यों?

एक दिन छोटे भाई का परिचित कोई सयाना आदमी उसके घर आया। छोटे ने उसका आदर-सत्कार किया। भोजन भी अच्छा खिलाया। मगर दही-दूध नदारद! आगन्तुक को ताज्जुब हुआ कि हाल की ब्याई सुन्दर भैंस दरवाजे पर बँधी है। दूध भी काफी देती होगी। यह शख्स मेरा सच्चा दोस्त भी है। फिर भी मुझे इसने न दूध दिया और न दही! मैंने गौर करके देखा तो इसके घर में ये चीजें नजर भी न आईं। यह क्या बात है? उसने छोटे से यही सवाल किया भी। उसने उत्तर दिया कि सो तो सही है। भैंस तो है। मगर बँटवारे में मेरे पल्ले उसका अगला हिस्सा जो पड़ा है पिछला तो भैया का है। फिर मैं दूध पाता तो कैसे? हाँ, सींग वग़ैरह की सुन्दरता से सन्तोष करता हूँ। गोबर-मूत से भी बचता हूँ। यही क्या कम है? भैया ने बड़ी कृपा करके मुझे अगला भाग ही दिया है। भाई हो तो ऐसा हो। इतने से ही आगन्तुक ने समझ लिया कि इसमें चाल क्या है।

उसने छोटे भाई से कहा कि तो फिर बड़ा भाई भी दूध क्यों निकाल लेता है? यदि तुम अगले हिस्से को खिलाते-पिलाते हो तो वह भी पिछले हिस्से का गोबर-मूत फेंके। यह क्या बात है कि तुम तो कमाते-कमाते और खिलाते-खिलाते मरो और वह मजा चखे? जब एक काम तुम करते हो तो वह भी एक ही करे। भैंस के दुह लेने का दूसरा काम वह क्यों करता है? उसे जा के रोकते क्यों नहीं हो? आखिर दोनों को पूरा-पूरा काम करना होगा। क्योंकि हिस्सा तो बराबर ही है न! उसका यह कहना था कि उस सीधे भाई के समझ में बात आ गयी। आगन्तुक ने इसके पहले जो दूध के बँटवारे आदि की बातें कही थीं वह उसके दिमाग में नहीं धँसी और नहीं धँसी। हालाँकि बातें थीं सही। हमने देखा है कि किसान ही जोत-बो के फसल पैदा करते हैं। मगर जब तक जमींदार हुक्म न दे एक दाना भी नहीं छूते और पशुओं को तथा बाल-बच्चों को भी भूखों मारते हैं। यदि उनसे कहिये कि ऐसा क्यों करते हो? खाते-पीते क्यों नहीं हो? तो बोल बैठते हैं कि राम-राम, ऐसा कैसे होगा? ऐसा करने से पाप होगा। जमींदार का उसमें हिस्सा जो है। चाहे हजार माथापच्ची कीजिये कि जमींदार तो कुछ करता-धरता नहीं। जमीन भी उसकी बनायी न होके भगवान या प्रकृति की है। इस पर न जाने कितने मालिक बने और गये। जोई बली होता है वही जमीन पर दखल करता है—**'वीर भोग्या वसुन्धरा।'** मगर उनके दिमाग में एक भी बात घुसती नहीं और यह धर्म, पाप और हिस्से का भूत उन्हें सताता ही रहता है। यही हालत छोटे भाई की भी थी। और जैसे सीधी बात उसके दिल में धँस गयी उसी तरह सीधी बात किसानों को भी जँच जाती है।

फिर तो वह दौड़ा-दौड़ाया बड़े भाई के पास फौरन गया और ऐन भैंस दुहने के समय उससे कहने लगा कि आप यह ज्यादा काम करते हैं। एक काम मेरा है भैंस के खिलाने का। एक ही आपका होना चाहिए उसके गोबर-मूत को साफ करने का। फिर यह दूसरा काम आप क्यों कर रहे हैं? पहले मैं यह समझ न सका था। अभी-अभी यह बात मैंने जानी है। इसीलिए आपको यह काम करने न दूँगा। नहीं तो मुझे एक काम इसके बदले में दीजिये।

इस पर बड़ा भाई घबराया सही। लेकिन सोच के बोला कि पिछला आधा भाग मेरा है और अगला आधा तुम्हारा। अपने-अपने भाग में जिसे जो करना है करे। इसमें रोक-टोक का क्या सवाल? काम का बँटवारा तो नहीं है। यहाँ तो भैंस का बँटवारा है और उसके दो हिस्से किये हैं। यदि तुम ख़ामख्वाह काम ही चाहते हो तो भैंस के मुँह और आँखों पर तेल-वेल लगाया करो और सींगों पर भी। या जब मैं इसे दुहता हूँ तो इसके मुँह पर से मक्खियाँ और मच्छर वगैरह हाँका करो। बस, और ज्यादा चाहिए क्या?

इस पर छोटा भाई निरुत्तर हो के चला गया और आगन्तुक से सारी बात उसने कह सुनाई। इस पर आगन्तुक ने कहा कि घबराओ मत। अभी काम हुआ जाता है। अगले हिस्से के लिए जो काम उसने बताया है वह तो उसी के फायदे का है। इससे तो दूध निकालने में उसे और भी आसानी होगी। लेकिन जब उसने भैंस को दुहने का काम शुरू किया था तो तुमसे पूछा तो था नहीं कि यह काम करूँ या न करूँ। पिछला भाग उसी का होने के कारण उसने उस पर जो काम चाहा किया। दुहने से उसे फायदा होता है। इसलिए वही काम करता है। ठीक उसी प्रकार तुम भी अपने फायदे का काम आगे के भाग में करो। उससे पूछने की क्या बात?

इस पर छोटे ने पूछा कि अच्छा आप ही बताइये कि किस काम के करने से मेरा फायदा होगा? उसने उत्तर दिया कि ज्योंही वह हजरत दूहने बैठें त्यों ही भैंस के मुँह पर धड़ाधड़ लाठियाँ लगाने लगो। इससे भैंस भड़क के भाग जायगी और वे हजरत दूध निकाल न सकेंगे। यह बात छोटे को पसन्द आयी और उसने फौरन 'अच्छा' कह दिया। इसके बाद भैंस दुहने के समय घर लाठी लिये तैयार बैठा रहा और ज्यों ही बड़े भैया दुहने की तैयारी करने लगे कि उसने दौड़ के उसके मुँह पर तड़ातड़ लाठियाँ बरसानी शुरू कीं। बड़े साहब हैरत में थे और जब तक "हैं, हैं" करके उसे रोकने की कोशिश करें तब तक भैंस जाने कहाँ भाग गयी। बड़े भैया को इसके रहस्य का पता न लगा। उनने छोटे से पूछा तो उत्तर मिला कि मुँह तो मेरे हिस्से का है न? फिर उस पर मैंने जो चाहा किया, जैसा आपने अपने हिस्से पर मन चाहा अब तक किया है। फिर 'हैं हैं' करने या बिगड़ने का क्या सवाल? बड़े भाई ने समझा कि यह सनक तो नहीं गया है। उसने छोटे को

समझा-बुझा के तथा हिंसा करने और भैंस को कष्ट देने को अनुचित बता के उसे ठण्डा किया। उसने समझा कि अब आगे ऐसा न करेगा। मगर दूसरे समय ज्यों ही दुहना शुरू हुआ कि उसने फिर वही लाठीकाण्ड शुरू किया। पूछने पर जवाब भी वही दिया।

अब तो बड़े भैया की पिलही चमकी। उनने सोचा कि हो न हो दाल में काला अवश्य है। इसे कोई गहरा गुरु मिल गया है। नहीं तो यह तो भोला-भाला आदमी है। खुद ऐसा कभी नहीं करता। और जब उसने अच्छी तरह पता लगाया तो मालूम हो गया कि छोटे भाई का कोई काइयाँ दोस्त आया है जिसने उसे यह बात सुझा दी है। अब वह बिना आधा दूध लिये नहीं मानने का। अब मेरी दाल हर्गिज न गलेगी। इसीलिए हार कर उसने छोटे भाई से कहा कि क्यों तूफान करते हो? भैंस भी खराब हो रही है और दूध भी किसी को मिल नहीं रहा है—न तुम्हें और न मुझे। जाओ आज से जितना दूध होगा उसका आधा तुम्हें जरूर बाँट दिया करूँगा। तुमने मुझसे यही बात पहले ही क्यों न कह दी कि आधा दूध चाहते हो? मैं उसी समय तुम्हारी बात मान लेता।

इस पर छोटा भाई खुशी-खुशी अपने मित्र के पास गया और उससे उसने कह सुनाया कि आपका बताया उपाय सही निकला। अब हमें रोज आधा दूध दुहने के बाद ही मिल जाया करेगा। आपका उपाय तो बहुत ही सुन्दर और आसान निकला। यह सुन के मित्र को भी खुशी हुई कि उस बेचारे का लुटा-लुटाया हक मिल गया।

किसान-सभा ने भी ठीक इसी तरह आसान उपाय किसानों को बता दिया है जिससे अपनी कमाई को पा सकें और अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकें। जमींदार इसीलिए सभा से घबराते हैं और उसे कोसा करते हैं। वह तो साझे वाली भैंस की तरह साझे का स्वराज्य चाहते थे, जिसमें पीछे चल के किसानों को वैसे ही ठग सकें जैसे छोटे भाई को बड़े ने मीठी-मीठी बातों से ठग लिया था। किसान-सभा ने इसी ठगी से किसानों को पहले ही से आगाह कर दिया है। उसने कह दिया है साफ-साफ, कि साझे का स्वराज्य धोखे की चीज होगी। खबरदार, किसान और जमींदार का स्वराज्य साझे का या एक नहीं हो सकता है। वह तो जुदा जुदा होगा। जो किसान का होगा वह जमींदार का नहीं और जो जमींदार का होगा उससे किसान कत्ल हो जायेंगे, जैसा कि भैंस के बारे में साफ देखा गया है।

जमींदारों और उनके दोस्तों को इस बात का मलाल है कि किसान अब चेत गये हैं। वे यह बात मानने को तैयार नहीं कि ज़मींदारों और उनके दोस्तों की मदद से किसानों को स्वराज्य मिलेगा। वह तो मानते हैं कि अपने ही त्याग और परिश्रम से किसान-राज्य कायम होगा। यही कारण है कि जेल में पड़े-पड़े वह टुटपुँजिये जमींदार साहब उन पर कुढ़ते थे।

22

जेल में हमें और भी कई मजेदार बातें देखने को मिलीं। किसान-सभा वादियों को तो यह पक्की धारणा है कि किसानों की आर्थिक लड़ाई के जरिये ही उनके हक उन्हें दिलाये जा सकते हैं। उनका स्वराज्य भी इसी तरह आयेगा। वह यह भी मानते हैं कि किसानों के बीच जहाँ धर्म-वर्म का नाम लिया कि सारा गुड़ गोबर हो गया। धर्म के मामले में जिसे जो करना होगा करेगा, या नहीं करेगा। यह तो हरेक आदमी की व्यक्तिगत बात है कि धर्म माने या न माने और माने तो कौन सा धर्म और किस प्रकार माने। मन्दिर, मस्जिद या गिर्जे में जायगा या कि न जायगा यह फैसला हरेक आदमी को अपने लिए खुद करना होगा। किसान-सभा इस मामले में हर्गिज न पड़ेगी। वह इससे कोसों दूर रहेगी। नहीं तो सारा गुड़ गोबर हो जायगा। हम किसानों और मजदूरों या दूसरे शोषितों की लड़ाई में पण्डित, मौलवी और पादरी की गुंजाइश रहने देना नहीं चाहते। हमें ऐसा मौका देना ही नहीं है जिसमें वे लोग किसानों की बातों में 'दाल-भात में मूसरचन्द' बनें। नहीं तो बना-बनाया काम बिगड़ जायेगा। क्योंकि धर्म की बात आते ही किसान-सभा वालों को बोलने का हक रही न जायगा। और पण्डित, मौलवी आ टपकेंगे। धर्म उन्हीं के अधिकार की चीज जो है। वहाँ दूसरों की सुनेगा भी कौन?

इस बात का करारा अनुभव हमें इस बार जेल में हुआ। जो लोग गांधी जी के नाम पर ही जेल आये थे और अपने आपको पक्के गांधीवादी मानते थे उन्हीं की हरकतों ने हमें साफ सुझा दिया कि आजादी के मामले में लड़ाई लड़ने वाले लोगों के सामने हर बात को धर्म के रूप में बार-बार लाके गांधी जी मुल्क का कितना बड़ा अहित कर रहे हैं। राजनीति में धर्म का चाहे किसी भी ऊँचे से ऊँचे और आदर्श रूप में भी मिला देने से कितना अनर्थ हो सकता है यह हमने साफ देखा। राजनीति या रोटी के प्रश्न का कोरी दुनियावी चीज मानना कितनी अच्छी चीज है यह हम बखूबी देख पाये।

चम्पारण जिले के मेहसी थाने के एक मुसलमान सज्जन सत्याग्रही के रूप में ही जेल पधारे थे। नीचे से ऊपर तक खादीमय दिखे। सीधे-सादे आदमी थे देखने से मालूम होता था कोई पक्का देहाती है। धोती और कुर्ते के साथ गांधी टोपी बराबर ही नजर आती थी। हमने पाँच-छः महीने के दरम्यान उनका सर गांधी टोपी से सूना कभी न देखा। एक बार तो यहाँ तक सुना कि उनने जेल के कपड़े लेने से इनकार कर दिया। सिर्फ इसलिए कि वे खादी के न थे। हालाँकि गांधी जी का हुक्म है कि जेल में खादी का आग्रह न करके जो कपड़े मिलें उन्हीं को कबूल करना होगा। जब चम्पारन के प्रमुख गांधीवादी नेता ने उन्हें यह बात समझाई तो उनने उत्तर दिया कि आप और गांधी जी समर्थ हैं। इसलिए चाहे जो कपड़े पहनें मगर

मैं तो ना चीज हूँ। फिर मुझसे कैसी ऐसी उम्मीद करते हैं? पीछे उनने जेल के कपड़े मजबूरन लिए सही। मगर वे कितने पक्के गांधी भक्त हैं इसका पूरा सबूत इससे मिल जाता है। नमाजी तो वे पक्के हैं यह सबने देखा है। गांधी जी तो धर्म पर जोर देते ही हैं। फिर वे ऐसे होते क्यों नहीं? मगर धर्म की बात कैसी अन्धी है इसका भी प्रमाण इसी से मिल जाता है कि जब उनने धर्म बुद्धि से एक बार खादी पहन ली, तो फिर गांधी जी की हजार दुहाई देने पर भी वे दूसरा कपड़ा लेने को तब तक राजी न हुए जब तक मजबूर न हो गये। राजनीति में धर्म को घुसेड़ने वाले गांधी जी को भी इससे सीखना चाहिए कि वह उनकी बात भी मानने को तैयार न थे। उनने एक ऐसा अस्त्र धर्म के नाम पर अपने अनुयायियों को दे दिया है कि खुद उनकी बातें भी वे लोग नहीं मानते और दलील देते हैं धर्म की ही। यह दुधारी तलवार दोनों ओर चलती है यह गांधी जी याद रखें। उन हजरत की तो मोटी दलील यही थी कि जब एक बार खादी को पहनना धर्म हो गया तो फिर उसका त्याग कैसे उचित होगा। गांधी जी को यह भी न भूलना चाहिए कि आम लोग ऐसे ही होते हैं गांधी जी की बुद्धि सब को तो होती नहीं कि धर्म की पेचीदगियाँ समझ सकें। इसलिए यह बड़ी खतरनाक चीज है, खासकर दुनियावी और राजनीतिक मामलों में।

अच्छा आगे चलिये। वे हजरत ज्यों ही हजारीबाग जेल में आये उसके एकी दो दिनों बाद एक मुसलमान सज्जन ने उनके बारे में मुझसे आ के कहा कि एक मुसलमान आये हैं। उनने गोदाम में मुझे देखते ही आतुर भाव से कहा है कि भई, मुझे भी मुसलमान के हाथ का पकाया खाना खिलाओ। इतने दिनों तक तो मैं फल-फूल खाते-खाते घबरा गया हूँ। सभी लोग तो हिन्दू ही मिले। फिर उनके हाथ की पकाई चीजें खाता तो कैसे खाता? तुम मुसलमान हो और अपना खाना अलग पकवाते हो। इसलिए मुझे भी उसी में शामिल कर लो तो मैं बहुत ही उपकार मानूँगा, आदि आदि। जिस मुसलमान ने मुझसे ये बातें कहीं वह भी उनकी बातें सुन के हैरत में था। हैरत की बात भी थी। यह बात आमतौर से यहाँ देखी गयी है कि कुछेक को छोड़ सभी हिन्दुओं को मुसलमानों के हाथों पकी चीजें खाने में कोई उज्र नजर नहीं हुआ। कइयों ने तो खामख्वाह मुसलमान पकाने वाले रखे हैं। इसलिए उनकी बातों से चौंकने का पूरा मौका था। मगर मैं सुन के हँसा और फौरन समझ गया कि हो न हो यह धर्म महाराज की महिमा है। खैर, वह मुसलिम सज्जन उस मुसलमान के चौके में ही कई साथियों के साथ बहुत दिनों तक खाते रहे यह मैंने अपनी आँखों देखा।

अब एक दूसरी ऐसी ही घटना सुनिये। बड़ी असेम्बली के एक हिन्दू जमींदार मेम्बर भी इसी जेल में थे। पहले तो मुझे कुछ पता न चला। मगर पीछे कई बातों के सिलसिले में पता चला कि यदि मुसलमान उनकी ख़ाने-पीने की चीजों के पास

चला जाय या छू दे तो वह उन्हें खाते नहीं थे। वे अपना खाना एक आदमी के साथ अलग ही पकवाते थे। कहने के लिए कट्टर गांधीवादी। गांधी जी के विरुद्ध एक शब्द भी सुनने को तैयार नहीं। किसान-सभा या समाजवाद के भी ऐसे दुश्मन कि कुछ कहिये मत। मगर धर्म के भक्त ऐसे कि मुसलमान के स्पर्श से हिचक! मुसलमान की छाया से उनका खाना अपवित्र हो गया। मेरे लिए यह समझना गैरमुमकिन था। मैं भी खुद बना के खाता हूँ और छुआ-छूत से परहेज करता हूँ खाने-पीने में। मगर इसका यह अर्थ नहीं कि किसी मुसलमान, ईसाई या अस्पृश्य कहे जाने वाले के स्पर्श से खाद्य पदार्थों को अखाद्य मान लेता हूँ। मेरी छुआछूत का धर्म से कोई ताल्लुक नहीं है। यदि कभी कोई मुसलिम या अछूत मेरी रोटी, मेरा भात छू दे तो भी मैं उसे खा लूँगा। मगर सदा ऐसा नहीं करता। वह इसलिए कि आमतौर से लोगों की भीतरी और बाहरी शुद्धि के बारे में कहाँ ज्ञान रहता कि कौन कैसा है? किसने घृणिततम काम किया है या नहीं कौन कैसी संक्रामक बीमारी में फँसा है या नहीं यह जाना नहीं जा सकता। इसलिए साधारणतः मैं किसी का छुआ हुआ नहीं ख़ाता हूँ, जिसे बखूबी नहीं जानता। यही मेरी छुआछूत का रहस्य है।

मगर उन गांधीवादी महोदय को मैं खूब जानता हूँ। वह इस तरह की छुआछूत नहीं मानते हैं। उनके लिए ऐसा मानना असम्भव भी है। उनकी छुआछूत तो वैसी ही है जैसी आम हिन्दुओं की। जब एक मुसलिम सज्जन ने मौलवी ने जो मेरी इस बात को अच्छी तरह जानते हैं उन्हें पकड़ा तो वे हजरत मेरा दृष्टान्त दे के ही पार हो जाना चाहते थे। मगर मौलवी ने उनकी एक न चलने दी और आखिर निरुत्तर कर दिया।

एक तीसरी घटना भी सुनने योग्य ही है। जेल में कुछ प्रमुख लोग श्रीकृष्ण जन्माष्टमी को धार्मिक ढंग से मनाने की तैयारी कर रहे थे। उसमें शामिल तो सभी थे एक मुझको छोड़ के। **क्योंकि मैं कृष्ण को धर्म की कट्टरता से कहीं परे और बाहर मानता हूँ। मेरे जानते वह एक बड़े भारी जन-सुधारक और नायक थे। उन्हें या उनकी गीता को धार्मिक जामा पहनाना उनकी महत्ता को कम करना है। वह और उनकी गीता सार्वभौम पदार्थ हैं। इसीलिए मैं उन्हें धार्मिक रूप देने में साथी बनना नहीं चाहता। इसी से उस उत्सव से अलग रहा। कोई दूसरा कारण न था। मगर और लोग तो शरीक थे ही।**

जिन मौलवी साहब का जिक्र अभी किया है उन्हीं को दो-एक प्रमुख लोगों ने उस उत्सव में निमन्त्रित किया कि कृष्ण के बारे में उनका कुछ प्रवचन हो। मौलवी साहब ने कबूल भी कर लिया। कुछी दिन पहले जब हजरत मुहम्मद साहब का जन्मोत्सव मुसलमानों ने मनाया था तो उनने सभी हिन्दुओं को बुलाया था। कइयों ने उनके जीवन पर कुछ प्रवचन किया भी था। इसलिए इस बार मौलवी साहब का बुलाया जाना और उनका कबूल करना इस खयाल से भी मुनासिब ही था।

लोग कहते हैं कि दोनों के धार्मिक उत्सवों में अगर दोनों ही योग दें या दिल से शरीक हों तो धार्मिक झगड़े खुद मिट जायँ। बात चाहे कुछ भी हो। लेकिन कांग्रेसी लोग ऐसा जरूर मानते हैं। इसीलिए तो जन्माष्टमी में मौलवी साहब का शामिल होना गौरव की बात थी, खुशी की चीज थी।

मगर इस बात में कई सत्याग्रही हिन्दू सख्त विरोधी हो गये। उनमें एकाध तो निहायत सीधे और अनजान थे। मगर दो-एक तो ऐसे थे कि दिन-रात गांधी जी की ही दुहाई देते रहते हैं। सबसे मजे की बात यह थी कि जिन जमींदार गांधीवादी की बात खाने-पीने के बारे में अभी कह चुके हैं वह इस बात के सख्त विरोधी थे कि मौलवी साहब उसमें शामिल हों या कुछ भी बोलें। कृष्ण के बारे में मौलवी साहब को बोलने देना वे हर्गिज नहीं चाहते थे और इस बात पर उनने घुमा-फिरा के चालाकी से बहुत जोर दिया। साफ तो बोलते न थे कि धर्म की बात है। क्योंकि इसमें बदनाम जो हो जाते। इसलिए घुमा-फिरा के बराबर कहते फिरते थे। उन्हें बड़ी तकलीफ हुई। जब उन्हें पता लगा कि मौलवी गये और बोले भी। उनने पीछे उलाहने के तौर पर कहा कि आखिर आप गये और बोले भी? माना नहीं? एकाध को तो यहाँ तक साफ ही कहते सुना कि धर्म ही चौपट हो गया।

मगर ये सभी घटनाएँ वाजिब हुईं, इस मानी में कि जब धर्म की ही छाप हमारे सारे राजनीतिक और आर्थिक कामों पर लगी हुई हैं तो दूसरी बात होई कैसे सकती है? गांधी जी चाहे धर्म की हजार व्याख्या करें और उसे बिलकुल ही नया जामा पहना डालें जो राजनीति में आ के भी उसे आदर्श बनाये रखे, उसे विकृत होने न दे, जैसा कि ऊपर की घटनाओं से स्पष्ट होता है। फिर भी जन-साधारण के दिल में हजारों वर्षों से धर्म के सम्बन्ध में जो धारणा है वह बदल नहीं सकती। उसका बदलना करीब-करीब गैर-मुमकिन है। धर्म के नाम पर होने वाली खराबियों और बुराइयों को दूर करने के लिए कितने ही धर्म-सुधारक आये और चले गये। मगर वे ज्यों की त्यों पड़ी हैं। नहीं, नहीं, वह तो और भी बढ़ती गयी हैं। सुधारकों ने सुधार के बदले एक और भी नया सम्प्रदाय पैदा कर दिया जो गुत्थियों को और ज्यादा उलझाने का ही काम करने लगा। गांधी जी के नाम पर तो एक ऐसा ही सम्प्रदाय पैदा हो चुका है जो दूसरों की बातें सुनने तक को रवादार नहीं। असल में धर्म की तो खासियत ही है अन्धपरम्परा पैदा करना और उसे प्रश्रय देना। तर्क दलील की गुंजाइश वहाँ हई नहीं। और अगर कोई यह बात न माने तो उसे मान लेना होगा कि जहाँ तर्क दलील और अक्ल की गुंजाइश हो वह यदि धर्म हो भी तो किसी खास व्यक्ति या कुछ चुने लोगों के ही लिए हो सकता है। ज्यों ही उसे आपने सार्वजनिक रूप देने की कोशिश की कि अक्ल के लिए मनाही का सख्त ऑर्डर जारी हुआ और अन्धपरम्परा आ घुसी। धर्मों और धार्मिक आन्दोलनों के इतिहास से यह बात साफ-साफ जाहिर है। गांधी जी इस बात को न मान कर

और राजनीति पर धर्म की छाप लगाकर यह बड़ी भारी भूल कर रहे हैं, जिसका नतीजा आने वाली पीढ़ियों को सूद के साथ भुगतना ही होगा।

इस तरह हम देखते हैं कि ज्यों ही किसी बात में धर्म का नाम आया कि धर्म के नाम पर ही गुजर करने वाले और उसके सर्व जन-सम्मत ठेकेदार पण्डित और मौलवी आ घुसे। उस बात में टाँग अड़ाने का मौका तो उन्हें तभी तक नहीं मिलता जब तक वे बातें शुद्ध राजनीतिक या आर्थिक हैं और उन पर धर्म मजहब की मुहर नहीं लगी है। तब तक ये लोग मजबूरन दूर रहते हैं और ताक में रहते हैं कि हमारे घुसने का मौका कब आयेगा। इसलिए धर्म का नाम लेते ही कूद पड़ते हैं। उन्हें इस बात से क्या गर्ज कि आपने धर्म का नाम किस मानी में लिया है? उनके लिए धर्म का ज़िक्र ही काफी है। उसका अर्थ तो वे खुद लगाते हैं और उनका यह भी दावा है कि उनके सिवाय दूसरा न तो धर्म का मतलब समझ सकता है और न समझने का हक ही रखता है। खूबी तो यह कि उनके इस दावे का समर्थन, इसकी ताईद, जन-साधारण भी करते हैं, इसीलिए उन्हीं की बात मानी जाती है और दूसरों की हवा में मिल जाती है चाहे वे कितने ही बड़े महात्मा और पैगम्बर क्यों न कहे जायँ।

और जब पण्डित और मौलवी उस मामले में आ घुसे तो फिर लोगों को अपने ही रास्ते पर ले जायँगे। वे जो कहेंगे आमतौर से वही बात मान्य होगी। यही कारण है कि खान-पान आदि के मामले में उन्हीं की बात चलती है और ऊपर लिखी घटनाएँ होती हैं, होती रहेंगी। लेकिन अगर कुछ लोग ऐसा नहीं करते तो यह स्पष्ट है कि गांधी जी के हजार चिल्लाने पर भी उनके दिल में धार्मिक भाव है नहीं, उनने धर्म को कभी समझा या माना है नहीं। तब आज क्यों मानने लगे? यदि धर्म की बात बोलते हैं तो सिर्फ जबान से ही। चाहे गांधी जी इसे मानें या न मानें। मगर यह कटु सत्य है।

23

हमने जो कुछ पूर्व प्रसंग के अन्त में कहा है उसका स्पष्टीकरण एक दूसरी घटना से हो जाता है। एक दिन जेल के भीतर ही हमें आश्चर्य में डूबने के साथ ही बहुत तकलीफ हुई जब हमने कुछ हिन्दुओं को एक मौलवी साहब की आलोचना करते सुना। उनने बोलते-बोलते कृष्ण जी को 'हजरत' कह दिया था। यही उनका महान् अपराध था। हम तो समझी न सके कि माजरा क्या है। मगर पीछे बहुत-सी बातें याद आयीं। उसके पहले एक सज्जन ने बोलने में जब 'दृष्टिकोण' शब्द का प्रयोग किया था तो एक मुसलमान साहब ने पूछा कि इसका मतलब क्या है? जब उनने

मतलब समझाया तो मुसलमान बोले कि बोलने में भी ऐसा ही क्यों नहीं बोलते ताकि सभी लोग समझ सकें। उनका इतना कहना था कि वह हिन्दू सज्जन आपे से बाहर हो गये और तमक के कहने लगे कि हम आपके लिए या हिन्दू-मुसलिम मेल के, हिन्दुओं की संस्कृत और उनके साहित्य को चौपट न करेंगे। इस पर मामला बढ़ गया। मगर हमें उससे यहाँ मतलब नहीं है। हमें इतना कह देना है कि सचमुच ही 'दृष्टिकोण' का अर्थ आसानी से न तो आम हिन्दू जनता ही समझ सकती है और न मुसलिम लोग ही जान सकते हैं। और अगर कोई इस पर एतराज करता है तो गांधीवाद की माला जपने वाले साहित्य और हिन्दू संस्कृति के नाश का हौवा खड़ा करते हैं। हालाँकि किसानों और गरीबों की भलाई के ही लिए वे जेल आये हैं ऐसी दुहाई देते रहते हैं। मगर जरा भी नहीं सोचते कि उनकी यह भाषा कितने प्रतिशत किसान समझ सकते हैं। और जब बात ही न समझेंगे तो साथ कहाँ तक देंगे।

लेकिन अगर 'हजरत' शब्द को देखा जाय तो उस पर इसलिए उज्र नहीं हुआ कि लोग समझ न सके। हम तो देखते हैं कि बराबर ही 'आइये हजरत, हजरत की हरकत तो देखिये' आदि बोला करते हैं। यह तो मामूली बोल-चाल का शब्द हिन्दी भाषा में हो गया है। इसलिए अगर उस पर एतराज हुआ तों सिर्फ इसलिए कि कृष्ण को उनने हजरत कह दिया। यह तो गजब हो गया। वही मुसलमान अपने बड़े-से-बड़े नेता को, पैगम्बर साहब को हजरत कहता है और हम लोग सुनते रहते हैं। फिर भी जिन्हें हिन्दू अवतार मानते हैं उन्हें वही मुसलमान हजरत कहे तो आफ़त हो गयी। इस बात का इससे सबूत मिलता है कि हम लोग असल में कितने गहरे पानी में हैं। इसी प्रकार 'सीता को बेगम और राम को बादशाह' कहने का भी विरोध करते हमने जेल में सुना। बाहर तो सुनते ही थे। अगर अंग्रेजी में क्वीन (Queen) और किंग (King) कहा जाय तो हमें ज़रा भी दर्द नहीं होता। हालाँकि इन शब्दों का मतलब वही है जो बेगम और बादशाह का। हमने यह नजारा देखा और अफ़सोस किया।

आजकल हिन्दी पढ़ने का शौक बढ़ गया है। इसीलिए जो जेल में भी यह बात देखने को मिली ज्यादातर गांधीवादी लोग ही ऐसे दिखे। यों तो तथाकथित वामपक्षी और क्रान्तिकारी लोग भी इस तरह के पाये गये। हिन्दी और हिन्दुस्तानी पर विचार- विमर्श भी होता रहा। कुछ लोगों ने जो अपने को राजनीतिक नेता मानते हैं, यह तय किया कि मिडिल क्लास के ऊपर तो हिन्दुस्तानी की किताबें पढ़ाई जायँ। मगर नीचे की कक्षाओं में वही 'दृष्टिकोण' वाली हिन्दी ही पढ़ाई जाय। शायद इसमें उनने एक ही तीर से दोनों शिकार मारे। हिन्दी साहित्य और हिन्दू संस्कृति भी बचा ली गयी और हिन्दू-मुसलिम एकता के जरिये राजनीति की भी रक्षा हो गयी। मगर वे यह समझी न सके कि यह रक्षा नकली है। इससे काम नहीं चलने का।

मैंने ऐसे एकाध दोस्तों से पूछा कि जो लोग मिडिल से आगे नहीं जा सकते

उनकी राजनीति कैसे बचेगी? उनका हिन्दू-मुसलिम मेल क्योंकर हो सकेगा? और भी तो सोचने की बात है कि अधिकांश तो मिडिल तक ही रुक जाते हैं। बहुतेरे तो लोअर और अपर तक ही इतिश्री कर लेते हैं। प्रायः नब्बे फीसदी तो पढ़ने का नाम ही नहीं जानते हैं। एक बात यह भी है कि जो जवान और बूढ़े हो चुके हैं वह यों ही रह जायँगे। उन्हें तो 'काला अक्षर भैंस बराबर' है। तो फिर उनके लिए आपकी हिन्दी या हिन्दुस्तानी किस काम की? वे लोग संस्कृति और साहित्य की रक्षा कैसे कर पायेंगे? मगर वे चुप रहे। उत्तर देई न सके। बिचारे देते भी क्या?

असल बात दूसरी ही है। जहाँ मैं या मेरे जैसे कुछ लोग हर बात को 'जनता' (mass) की नजर से देखते और सोचते हैं, न कि संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से। क्योंकि जनता को तो सबसे पहले रोटी, कपड़े, दवा आदि से मतलब है। हाँ, जब पेट भरेगा तो ये बातें सूझेंगी मगर अभी तो उनका मौका ही नहीं है। तहाँ साधारण कांग्रेसवादी—फिर चाहे वह गांधीवादी हों या तथाकथित क्रान्तिकारी और वामपक्षी—सबसे पहले साहित्य और संस्कृति की ही ओर नजर दौड़ाते हैं। और याद रहे कि इन दोनों के पीछे धर्म छिपा हुआ है। खुल के आने की या उसे लाने की हिम्मत नहीं है। इसीलिए साहित्य और संस्कृति का ढकोसला खड़ा किया जाता है। असल में न सिर्फ वे लोग मध्यमवर्गीय हैं, किन्तु उनकी मनोवृत्ति भी वैसी ही है। इसलिए मध्यम वर्ग की ही नजर से हर बात को वे लोग स्वभावतः देखते और तौलते हैं। मध्यम वर्ग का पेट तो भरता ही है। कपड़ा और दवा-दारू भी अप्राप्य नहीं है। फिर उन्हें साहित्य और संस्कृति न सूझे तो सूझे क्या खाक?

मगर वे यह नहीं सोचते कि साहित्य की अगर कोई जरूरत है तो जनसमूह के लिए ही। आम लोगों को जगाना और तैयार करना ही साहित्य का काम होना चाहिए, खासकर गुलाम देश में। बिना जगे और पूरी तरह तैयार हुए जन-साधारण आजादी की लड़ाई में भाग क्योंकर ले सकते हैं? और आजाद हो जाने पर भी उन्हें ही ऊपर उठाना और आगे ले चलना जरूरी है। नहीं तो दुनियाँ की घुड़दौड़ में हमारा मुल्क पीछे पड़ जायगा। जब तक समूचे देश के बाशिन्दों की शारीरिक और मानसिक उन्नति नहीं तो जाय तब तक देश पिछड़ा का पिछड़ा ही रह जायगा। इसलिए उस समय भी साहित्य का निर्माण आम लोगों की ही दृष्टि से होना चाहिए। मुट्ठी भर मध्यमवर्गीय लोग साहित्य पढ़-पढ़ा के क्या कर लेंगे? उनसे तो कुछ होने जाने का नहीं, जब तक किसान, मजदूर और अन्य श्रमजीवी उनका साथ न दें। इसीलिए हर हालत में साहित्य की असली उपयोगिता शोषित जनता के ही लिए है। मगर **''दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला। तरुशिखा पर थी तब राजती, कमलिनी कुल बल्लभ की प्रभा''**, या **''पूर्वजों की चरित चिन्ता की तरंगों में बहो''** जैसे साहित्य को, जिस पर मध्यमवर्गीय बाबुओं को नाज़ है और जिसके ही लिए हिन्दी हिन्दुस्तानी की कलह खड़ा करके आकाश-पाताल एक कर रहे

हैं, कितने किसान या मजदूर समझ सकते हैं? यही हालत है **''नहीं मिन्नतकशे ताबे शुनीदन दास्ताँ मेरी। खामोशी गुफ़्तगू है बे ज़बानी है ज़बां मेरी''** की भी। दोनों ही साहित्य, जिनके लिए हिन्दू और मुसलिम के नाम पर माथाफुड़ौवल हो रही है, किसानों और मज़दूरों से, कमाने वालों से, आम जनता से लाख कोस दूर हैं।

मगर इससे क्या? मुट्ठी भर मध्यमवर्गीय लोग तो इन्हें समझते ही हैं। बाकियों की फिक्र उन्हें हई कहाँ? असल में साहित्य की ओट में संस्कृति छिपी है और उसकी आड़ में धर्म बैठा है, जिनका उपयोग आम जनता को उभाड़ने में किया जाकर मुट्ठी भर बाबुओं और सफेदपोशों का उल्लू सीधा किया जाता है। जब तक संस्कृति और धर्म, तमद्दुत और मजहब के नाश का हौवा ये मध्यमवर्गीय लोग खड़ा न करें किसान-मजदूर उनके चकमे में आ नहीं सकते और बिना इसके काम बनने का नहीं। आखिर आम हिन्दुओं और मुसलमानों के नाम पर ही तो इन्हें नौकरियाँ लेना, सीटों का बँटवारा करना और पैक्ट या समझौता करना है। सीधे लोगों की धार्मिक भावनाओं को उत्तेजित करके, उन्हें उभाड़ कर ही ये काइयाँ लोग अपना काम बना लेते हैं, हालाँकि ऊपर से पक्के बगुला भगत बने रहते हैं। गरीबों के नाम पर ऐसा आँसू बहाते हैं कि कुछ पूछिये मत।

जैसा कि कह चुके हैं, साहित्य का काम है आम लोगों को जाग्रत करना, तैयार करना और उनकी मानसिक-उन्नति करना, जिससे सच्चे नागरिक बन सकें। साहित्य का दूसरा काम है नहीं। थोड़े से लोगों का मनोरंजन करना या उन्हें काल्पनिक संसार में विचरण करने का मौका देना यह कोम साहित्य का नहीं है। पुराने साहित्यकारों ने उसका लक्षण करते हुए साफ ही कहा है कि दिमाग पर ज्यादा दबाव न डाल कर और इसीलिए सुकुमार मस्तिष्क वालों के लिए भी बातें सुगम बनाने वाला ही ठीक साहित्य है। इसीलिए पढ़ते या सुनते जाइये और बिना दिक्कत मतलब समझते जाइये। जहाँ समझने में विशेष दिक्कत हुई कि वह दूषित साहित्य हो गया। बातें जो सरस बना के कही जाती हैं उसका मतलब यही है कि वे आसानी से हृदयंगम हो जायँ।

इस दृष्टि से तो जन-साधारण के लिए सुलभ और सुगम साहित्य तैयार करने के दो ही रास्ते हैं। **या तो वह ऐसी भाषा में लिखा जाय जो बचपन से हम बोलते और सुनते हैं, जिसे माताएँ और बहनें बोलती आ रही हैं।** या अगर यह न हो सके या इसमें बड़ी कठिनाई हो तो ऐसी खड़ी बोली वाली भाषा तैयार की जाय जिसे सभी देहाती—हिन्दू-मुसलमान बेखटके समझ सकें। ''इस दृष्टि बिन्दु को सम्मुख रख के यदि हम पर्यवेक्षण करते हैं तो मर्मान्तक वेदना होती है'', या ''पहाड़ों की चोटियाँ गोशे सहाब से सरगोशियाँ कर रही हैं'', को कौन सी आम जनता समझती है, समझ सकती है? हिन्दी और उर्दू के नामी लिक्खाड़ चाहे खुद कुछ समझें। मगर उनकी

बातें आम लोगों के लिए वैसी ही हैं जैसा वन में पका बेल बन्दरों के लिए। न तो उनकी हिन्दी समझ सकती है हिन्दू जनता और न उर्दू मुसलिम जनता। फिर हिन्दी को मुसलिम या उर्दू को हिन्दू जन समूह क्योंकर समझ पायेगा? या तो सिर्फ 'लिखें ईसा, पढ़ें मूसा' जैसी कुछ बात है। वे लोग खुद लिखते और खुद ही समझते हैं, या ज्यादे से ज्यादा उन्हीं जैसे कुछ इने-गिने लोग। मगर वह लोग जनता नहीं है। वह तो निराले ही हैं यह याद रहे।

इसीलिए अगर बिहार में हम ऐसा साहित्य बनाना चाहते हैं, तो या तो भोजपुरी, मगही, मैथली, बंगाली, संथाली और उरांव आदि भाषाओं में ही जुदे-जुदे इलाकों के लिए अलग-अलग साहित्य रचें या हिन्दी और उर्दू मिला के एक ऐसी सरल भाषा बना दें जो सभी समझ सकें। हिन्दी-उर्दू मिलाने से हमारा मतलब है संस्कृत शब्दों की भरमार वाली हिन्दी और अरबी-फ़ारसी के शब्दों से लदी उर्दू की जगह सरल और सबके समझने लायक भाषा तैयार करने से। दृष्टान्त के लिए 'अज़ीज़म' या 'अज़ीज़मन' और 'प्रियवर' या 'प्रिय मित्र' की जगह 'मेरे प्यारे दोस्त' या 'मेरे प्यारे भाई' वग़ैरह लिखें तो कितना सुन्दर हो और काम चले। जरूरत होने से नये-नये शब्दों को भी या तो गढ़ के या दूसरी तरह से प्रचार करते जायँगे।

जो लोग 'हजरत' आदि शब्दों को देख-सुन के चिहुँकते हैं उन्हें याद रखना चाहिए कि हमने, हमारी हिन्दी ने और हमारी जनता ने अरबी-फ़ारसी के हजारों शब्दों को हजम करके अपने को मजबूत बनाया है। इतने पर भी अभी यह भाषा अधूरी सी लगती है। अगर हजारों शब्दों को अपने में मिलाये न होती तो न जानें इसकी क्या हालत होती। **हाज़िरी, मतलब, हिफ़ाजत, हाल, हालत, फ़ुर्सत, क़सूर, दावा, मुद्दई, अर्ज़, गर्ज़, तक़दीर, असर, जरूरत, फसल, रबी, खरीफ, क़ायदा, कानून, अदालत, इन्साफ़, तरह, सदर, दिमाग़, ज़मीन वग़ैरह** शब्दों को नमूने की तरह देखें तो पता चलेगा कि ये और इनके जैसे हजारों शब्द ठेठ अरबी और फ़ारसी के हैं। मगर इन्हें बोलते और समझते हैं न सिर्फ हिन्दी साहित्य वाले, बल्कि बिलकुल देहात में रहने और पलने वाले गँवार किसान और मज़दूर भी। समय-समय पर इनने और हमने इन्हें हजम करके अपने को मजबूत और बड़ा बनाया है। इससे हमारी संस्कृति बिगड़ने के बजाय सुधरी है, बनी है। वह कोई छुईमुई नहीं है कि हजरत, बेगम और बादशाह वग़ैरह बोलने से ही खत्म हो जायगी। यह भी हमारी नादानी है कि सीता को बेगम और राम को बादशाह कहने से नाक-भौं सिकोड़ते हैं। **तुलसीदास तो श्रीरामजी को अवतार मानते थे। वह उनके और जानकीजी के अनन्य भक्त थे। मगर अपनी रामायण में उनने 'राजा राम जानकी रानी' लिखा है। वे हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्यकार माने जाते हैं। उन्हें राजा और रानी कहने में तो जरा भी हिचक न हुई।** आज तक हमारे हिन्दी-साहित्य-सेवियों ने भी इस बारे में अपनी जबान न हिलाई। मगर राजा की जगह बादशाह और रानी की जगह बेगम कहते ही तूफ़ान सा आ

गया। क्या इसका यह मतलब है कि अब हिन्दी की भी शुद्धि होगी? उसमें से पूर्व बताये हजारों शब्दों को गर्दनियाँ दे के निकाला जायगा क्या? अगर ऐसा है तो 'खुदा हाफ़िज़।'

बात तो साफ-साफ कहना चाहिए। असल में राष्ट्रवादी लोग अधिकांश मध्यम श्रेणी के ही हैं। उनमें भी जो आज खाँटी कांग्रेसी या गांधीवादी कहे जाते हैं वह तो गिन-गिन के मध्यमवर्गीय हैं, मिडिल क्लास के हैं। वे चाहे अपने को हजार बार कहें कि वे न तो हिन्दू हैं और न मुसलमान, किन्तु हिन्दुस्थानी, पहले हिन्दुस्थानी और पीछे हिन्दू या मुसलमान। मगर दरअसल हैं वे पहले हिन्दू या मुसलिम और पीछे हिन्दुस्थानी या राष्ट्रवादी। इसका प्रमाण उनकी सँभली-सँभलाई बातों से न मिल के उनके कामों और अचानक की बातों से मिल जाता है। यह हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्थानी का झगड़ा इस बात का जबर्दस्त सबूत है। जब वह लेक्चर देने बैठते हैं तो उनकी तकरीर इस बात की गवाही देती है कि वे क्या हैं। उनकी बातें आम लोग समझते हैं या नहीं इसकी उन्हें जरा भी फिक्र नहीं रहती है। वे तो धड़ल्ले से बोलते चले जाते हैं, गोया उनकी बातें सुनने वाले सभी लोग या तो पण्डित या मौलवी हैं। उनने आलिम-फाजिल या साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाएँ पास कर ली हैं। यदि वे ऐसा नहीं मानते तो लच्छेदार संस्कृत या फ़ारसी के शब्दों को क्यों उगलते जाते?

अगर हिन्दुस्थानी कमिटी अपनी किताबों में कुछ उर्दू फ़ारसी के शब्द नये सिरे से डालती है या पंजाब के हिन्दू लोग उर्दू में संस्कृत के शब्द घुसेड़ते हैं तो उनका कलेजा कहने लगता है कि हाय हिन्दी चौपट हुई, उर्दू बर्बाद हुई! साहित्य चौपट हुआ! संस्कृति मटियामेट हो गयी! मालूम होता है अब हिन्दी को अजीर्ण हो गया है, या उसकी पाचन-शक्ति ही जाती रही है। यही हालत उर्दू की भी है। हमें आश्चर्य तो इस बात का है कि यही लोग मुल्क को आजाद करने का बीड़ा उठाये हुए हैं। हिन्दू-मुसलिम मेल की हाय-तोबा भी यही सज्जन बराबर मचाते रहते हैं। अगर कहीं हिन्दू-मुसलिम दंगा हो गया तो हिन्दू-मुसलिम जनता को भर पेट कोसने में थकते भी नहीं। लेकिन कभी भी नहीं सोचते, सोचने का कष्ट उठाते कि इन सब अनर्थों की जड़ उनकी ही दूषित मनोवृत्ति है। 'मुख पर आन, मन में आन' वाला जो उनका रवैया है उसी के चलते ये सारी चीज़ें होती हैं। सभी बातों में भीतरी दिल से हिन्दूपन और मुसलिमपन की छाप लगाने की जो उनकी वाहियात आदत है उसी के चलते ये सारी बातें होती हैं। अपने को चाहे वह हजार छिपायें। फिर भी उनका जो यह हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्थानी का झमेला है वही उनकी असलियत को जाहिर कर देने के लिए काफी है।

इस कहने से मेरा यह मतलब हर्गिज नहीं कि मैं हिन्दुस्थानी कमिटी की या दूसरों की सारी बातों का समर्थन करता हूँ। मैं कृत्रिम या बनावटी भाषा का सख्त

दुश्मन हूँ और मुझे डर है कि हिन्दुस्थानी कमेटी कहीं ऐसी ही भाषा न गढ़ डाले। असलियत तो यह है कि मुझे उनकी किताबें वग़ैरह पढ़ने का मौका ही नहीं मिलता। हाँ, कभी-कभी कुछ बातें सामने ख़ामख्वाह आई जाती हैं। इसलिए उनकी जानकारी निहायत जरूरी हो जाती है। मगर अखबारों में जो बातें इस सिलसिले में बराबर निकलती रहती हैं और कुछ दोस्तों से भी जो कुछ सुनता रहता हूँ उसी के आधार पर मैंने यह निश्चय किया है। मैंने देखा है कि इन झगड़ों के पीछे दूसरी ही मनोवृत्ति काम कर रही है। इसलिए हमें सभी जगह और ही चीज़ें दीखती हैं। अगर मनोवृत्ति ठीक हो जाय तो हिन्दी हिन्दुस्थानी के झगड़े फौरन मिट जायँ या कम-से-कम उनके मिटने का रास्ता तो जरूर ही साफ जो जाय।

मगर इस हिन्दी और हिन्दुस्थानी के झमेले में हमें बड़ा खतरा नजर आ रहा है। अभी तो यह सिर्फ सफेदपोश बाबुओं के ही बीच होने के कारण उन्हीं की चीज है। मगर अन्देशा है कि वे लोग किसानों और मज़दूरों के भीतर इसे फैलायेंगे। शिक्षा का सम्बन्ध ज्यादातर इन्हीं के हाथ में है। फलतः वे इसी साँचे में सबों को ढालना चाहेंगे ही। वैसी ही किताबें, वैसे ही लेख, वैसे ही अखबार तैयार होंगे जनता को पढ़ाने के लिए। अधिक कोशिश इस बात की होगी कि यह जहर देहातों में और मज़दूरों के इलाकों में फैले। जो जिस चीज को पसन्द करता है वह उसे ही सर्वप्रिय बनाना चाहता है। इसलिए इसका नतीजा सीधे धार्मिक झगड़ों के मुकाबिले में और भी बुरा होगा। क्योंकि यह जहर राजनीति की गोली के साथ लोगों के भीतर घुसेगा। आज तो राजनीति हमारे जीवन का प्रधान अंग बन गयी है। और अगर उसी के साथ यह झगड़ा हमारे किसानों तथा मज़दूरों के भीतर घुसा, तो गज़ब हो जायगा। क्योंकि धार्मिक अन्धता को घुसाने का नया तरीका और नया रूप यही हो जायगा। फिर तो हम हमेशा कट मरेंगे। अतएव हमें अभी से इसके लिए सजग हो जाना होगा, ताकि इस साँचे में हमारी जनता का भावी जीवन ढलने न पाये।

हमें ताज्जुब है कि यह बात क्यों हो रही है। भाषा का विकास तो नदी के विस्तार की तरह होता है। जैसे नदी खुद ही आगे बढ़ती जाती है। वह अपना रास्ता खुद बना लेती है। हम हजार चाहें, मगर वह हमारी मर्जी के मुताबिक कभी नहीं चलती। तभी उसका फैलाव काफी होता है। भाषा की भी यही हालत होती है। आज अंग्रेजों के संसर्ग से हम अपनी भाषा में कितने ही शब्दों को घुसाते जा रहे हैं। प्रोग्राम, कमिटी, कॉन्फ्रेंस आदि शब्द हमने अपना लिये हैं। कांग्रेस और मिनिस्ट्री शब्द हमारी जान पर हमेशा ही मौके-बे-बौके पाये जाते हैं। देहाती लोग भी इन्हें समझते और बोलते हैं। लालटेन और रेल शब्द गोया

हिन्दी भाषा के ही हों ऐसे मालूम पड़ते हैं। हमें पता ही न चला कि हम इन्हें हजम कर रहे हैं। सभा की जगह मीटिंग कहना हमें अच्छा लगता है। ठीक इसी प्रकार मुसलमानों के जमाने में हमने फ़ारसी और अरबी शब्दों से अपनी भाषा का खजाना भरा है। तब आज हिचक कैसी?

आज जिस खड़ी बोली में साहित्य तैयार करने पर हम तुले बैठे हैं आखिर वह भी तो यों ही धीरे-धीरे बनी है, बनती जा रही है। संस्कृत, पाली या प्राकृत को यह रूप धीरे-धीरे मिला है हजारों साल के बाद। इसी तरह अरबी या फ़ारसी को उर्दू की शकल मिली है। विकास तो संसार का नियम ही है। हिन्दी और उर्दू के सम्मिश्रण से जो नयी भाषा तैयार होगी वही हमारी जरूरत को पूरा कर सकेगी। उसी के सहारे यह मुल्क आगे बढ़ेगा। हम हजार चिल्लायें और छाती पीटें। मगर यह बात हो के रहेगी। फिर समय रहते ही हम क्यों न चेत जायँ और इसी काम में मददगार बन जायँ। यह जो नाहक का बवण्डर हम खड़ा कर रहे हैं उससे हाथ तो खिंच जाय। भाषा हमारे लिए है, न कि हमीं भाषा के लिए हैं। लेकिन हमारी आपसी तू-तू, मैं मैं, में कहीं हमीं पिछड़ न जायँ, मिट न जायँ, यह सोचने की बात है।

आज तो पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों में सम्मिश्रण के जरिये नयी-नयी नसलें पैदा की जा रही हैं। जो हमारी बढ़ती हुई जरूरतों को पूरा कर रही हैं। पुराने पशु-पक्षी और पेड़ पौदे इस बात के लिए नाकाबिल सिद्ध हो चुके हैं कि अब हमारी जरूरतों को पूरा कर सकें। इसीलिए इस युग को 'क्रासब्रीड्स' (cross-breeds) का युग कहते हैं। यही बात हमारी भाषा के बारे में क्यों न लागू हो? आज हजार यत्न करके भी लैटिन को प्रचलित नहीं कर सकते हैं। वह पुरानी पड़ गयी है। इसी प्रकार संस्कृत, अरबी और फ़ारसी की माया आम जनता के लिए हमें छोड़ देना होगा। सो भी आधे मन से नहीं, सच्चे दिल से। ख़ामख्वाह संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के नये-नये शब्दों को ढूँढ़ या गढ़ के सार्वजनिक भाषा की तोंद फुलाना उसके लिए बलगम का काम करेगा। हमारा दिमाग उसके बजाय ऐसे शब्दों के ढूँढ़ने में और बनाने में लगना चाहिए जिन्हें सभी जाति और धर्म के जन-साधारण आसानी से समझ सकें। इस प्रकार जो साहित्य तैयार होगा वही हमारा उद्धार करेगा, वही हमारे असली काम का होगा। नहीं तो मध्यमवर्गीय मनोवृत्ति हमें जानें कहाँ उठा फेंकेगी। मगर इसी के साथ हमें याद रखना होगा कि भाषा का स्वाभाविक विकास हो और उसमें कृत्रिमता आने न पावे। नदी के प्रवाह का दृष्टान्त दे ही चुके हैं। जैसे शरीर में मांस वृद्धि होती है वैसे ही बाहरी शब्द भाषा में लटके रहें यह बुरा है। अन्न-पानी को जैसे शरीर हजम करता है वैसे ही शब्दों को भाषा खुद हजम कर ले तभी ठीक होगा।

24

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के जमाने की बात है। भरसक सन् 1938-39 की दास्तान है। युक्तप्रान्त में पन्त जी की मिनिस्ट्री थी। गांधी जी अहिंसा की बात बार-बार कहते हैं। अब तो और भी ज्यादा जोर देने लगे हैं। कांग्रेस ने अहिंसा को ही अपना सिद्धान्त रखा है यह बात भी वह कहते ही जाते हैं। मगर कांग्रेसी वजारतों के जमाने में बम्बई और कानपुर में मजदूरों पर जो गोलियाँ चलीं, लाठीचार्ज हुए और बम्बई में तो आँसू बहाने वाले बम भी चलाये गये, न जाने अहिंसा की परिभाषा के भीतर ये बातें कैसे समा जाती हैं। नागपुर में जब श्री मंचेरशाह अवारी अस्त्र ग्रहण के लिए सत्याग्रह कर रहे थे तो गांधी जी ने यह कह के उसका विरोध किया था कि सशस्त्र सत्याग्रह कैसा? जब शस्त्र ले के चलियेगा तो अहिंसा मूलक सत्याग्रह सम्भव नहीं। सत्याग्रह और शस्त्र ग्रहण ये दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। इसलिए यह चीज बन्द होनी चाहिए। हमारे दिमाग में तो उनकी यह दलील उस समय भी समा न सकी थी। इस समय तो और भी नहीं समाती। सिर्फ शस्त्र लेकर चलने से हिंसा कैसे होगी? जब उसे नहीं चलाने का प्रण कर लिया तो फिर हिंसा का क्या सवाल? नहीं तो फिर अकाली सिख कभी सत्याग्रही होई नहीं सकते। क्योंकि वे तो कृपाण के बिना एक मिनट रही नहीं सकते। मगर गांधी जी ने उन्हें भी बार-बार सत्याग्रह में भर्ती किया है। लेकिन जब यह बात है तो फिर लाठी, गोली और बम चला के भी कांग्रेसी मन्त्रिगण अहिंसक कैसे रह गये? और अगर नहीं रहे तो गांधी जी ने उनका विरोध न करके समर्थन क्यों किया? उनके इन कामों पर उनने मुहर क्यों लगा दी? इसीलिए हमें तो उनकी अहिंसा अजीब घपला मालूम होती है।

यही कारण है कि उनके अहिंसक अनुयायी उन्हें खूब ही ठगते हैं। मजा तो यह है कि गांधी जी यह बात न तो समझते और न मानते हैं। मुझे तो उनके और उनके प्राइवेट सेक्रेटरी श्री महादेव देसाई के क्रोध और डाँट-फटकार का शिकार केवल इसीलिए बनना पड़ा है कि मैं यह बातें साफ बोलता हूँ और काम भी वही करता हूँ जो बाहर-भीतर एक रस हो। किसानों को भी यही सिखाता हूँ कि जाब्ता फौजदारी के अनुसार अपनी और अपनी जायदाद वग़ैरह की हिफाजत के लिए उतनी हिंसा भी कर सकते हो जितनी जरूरी हो जाय। मैं किसानों या आप लोगों को पहले से ही मिला यह कानूनी हक छोड़ने और छुड़वाने के लिए किसी भी हालत में तैयार नहीं हूँ। इसीलिए सन् 1938 वाली हरिपुरा की कांग्रेस से पहले हरिजन में श्री महादेव देसाई ने मेरे खिलाफ लम्बा लेख भी लिखा था जिसका उत्तर मुझे देना पड़ा। मगर यह जान के मुझे निहायत ताज्जुब हुआ जब कि ठीक उसी समय हरिपुरा जाते हुए मध्य प्रान्त में दौरे के लिए वर्धा जाने पर और अहिंसा के अवतार श्री बिनोवा भावे से बातें करने पर पता चला कि किसान-सभा के बारे में हिंसा का निश्चय करने

के पहले उन लोगों ने सारी बातें जानने की कोशिश तक न की थी।

उन्हीं के **आश्रम में श्री बिनोवा जी से मेरी घण्टों बातें होती रहीं।** हरिजन में वह लेख ताजा ही निकला था। इसलिए बातचीत का विषय वही बात थी। वे लोग वास्तविक दुनिया से कितने कोरे हैं इसकी जानकारी मुझे वहीं हुई। किसान-सभा के किसी कार्यकर्त्ता ने कोई बात हिंसा-अहिंसा के बारे में कही या न कही। मगर गांधी जी के भक्तों ने उनके पास रिपोर्ट पहुँचा दी और उनने उसे ध्रुव सत्य मान लिया। दूसरों को तो हजार बार कहते हैं कि पूरी जाँच के बाद ही बातें मानो। सचाई का पता लगाओ। **मगर मेरे बारे में यह इलजाम लगाने के पहले उनने मुझसे एक बार पूछना तक उचित न समझा। किसान-सभा पर भी यही दोषारोपण किया गया।** लेकिन सभा को सफाई देने का मौका तक न दिया गया। यह है गांधी जी का न्याय! यह है उनका सत्य! न सिर्फ उनने निश्चय कर लिया बल्कि अपने संगी-साथियों के दिमाग में इसे भर दिया।

जब मुझे **श्री बिनोवा** जी ने ये बातें पूछीं तो मैंने ऐसा जवाब दिया कि वे अवाक् हो गये। मैंने सबूत में पक्का प्रमाण पेश करने को भी कह दिया कि इलजाम निराधार हैं। मैंने कहा, कि मैंने जिस हिंसा का आश्रय लिया है वह न सिर्फ कानून के भीतर है, प्रत्युत गांधी जी ने भी वैसी हिंसा का उपदेश बराबर किया है। फिर मैंने देसाई के आक्षेप का लिखित उत्तर भी उन्हें दिखाया। और भी बातें होती रहीं। अन्त में उनने यही कहा कि इस बारे में क्या गांधी जी से आपकी बातें हुई हैं? मैंने उत्तर दिया कि नहीं। तब उनने कहा कि बातें जरूर करें। मगर मैंने यही कह के टाल दिया कि मौका मिलेगा तो देखूँगा। मैंने वह भी कह दिया कि जो लोग यों ही एकतरफा बातों से निश्चय कर लेते हैं उनसे बातें करके होगा ही क्या? फिर भी बातें करने पर उनने बहुत जोर दिया। मगर मुझे मौका ही कहाँ था? मुझे तो शाम को वर्धा के सोशलिस्ट चौक में एक अच्छी मीटिंग करके आगे बढ़ना था।

लेकिन यहाँ पर मुझे गांधीवादी नेताओं की अहिंसा के दो सुन्दर नमूने पेश करने हैं। पन्त मिनिस्ट्री के समय इलाहाबाद में बड़ा सा दंगा हो गया था। बड़ी सनसनी थी। तूफान भी काफी मचा था। उस समय गांधी जी के सिद्धान्त के अनुसार कांग्रेस के प्रमुख लोगों का यह फर्ज था कि अपनी जान को जोखिम में डाल के भी दंगे को शान्त कर, ठीक उसी तरह जिस तरह **सन् 1931 ई. वाले कानपुर के दंगे में स्वर्गीय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने किया था।** ऐसे ही मौके गांधी जी और कांग्रेस की अहिंसा की परीक्षा करते हैं। गांधी जी का जोर भी यही रहता है कि ऐसे समय कांग्रेसी नेता निडर हो के हिन्दू-मुसलिम महल्लों में जायँ और उन्हें ठण्डा करें। नियमानुसार इलाहाबाद का दंगा उन नेताओं की बाट देख रहा था। खुशकिस्मती से वहीं पर स्वराज्य-भवन में आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी का ऑफिस भी था। अब भी है। **उसके जेनरल सेक्रेटरी आचार्य कृपलानी वहीं मौजूद थे,** दूसरे बड़े लोग भी।

मगर उनने क्या किया? मेरे दो मुसलिम साथी जो किसान-सभा और मजदूर आन्दोलन में खासी दिलचस्पी लेते हैं और जो अच्छे पढ़े-लिखे हैं, वहीं थे। जब दंगा शुरू हो गया तो वे स्वराज्य-भवन में फौरन गये और बड़े नेताओं से कहने लगे कि आइये चलें और शहर में घूम के लोगों को समझायें-बुझायें, उन्हें ठण्डा करें। चाहे वे ठण्डा हों या न हों। मगर हम लोग कोशिश तो करें। हमारे एक मुसलिम दोस्त टाउन कांग्रेस कमिटी के सभापति थे। इसलिए उन्हें अपना फर्ज भी अदा करना था। मगर उन नेताओं में एक सबसे बड़े नेता ने, जिनका नाम लेना मैं उचित नहीं समझता, मगर जो अखिल भारतीय नेता हैं और गांधी जी का ढोल आज भी मुल्क में घूम-घूम के पीटते हैं, चटपट यह कह डाला कि "ऐं, घूमने चलें? यह क्या बात है? यह नादानी कौन करे? क्या बिगड़े दिमाग लोग हमें पाने पर सोचेंगे कि नेता हैं? हमें वहीं खत्म न कर देंगे? मैं तो हर्गिज नहीं जाता। आप लोग भी मत जायँ।" और फौरन पन्त जी के पास लखनऊ फोन करने लगे कि मिलिटरी भेजें। नहीं तो खैरियत नहीं। हमारे मुसलिम जवान साथी को उनकी इस बात पर ताज्जुब हुआ। हैरत भी हुई। मगर वे तो अपना फर्ज अदा करने चली पड़े। भला वे नेता की बात क्यों सुनते? जो कुछ उनसे बन सका घूम घूम के किया भी। हिन्दू-मुसलिम सभी महल्लों में निडर हो के घूमते रहे।

पीछे मुलाकात होने पर उनने अहिंसा की ही चर्चा के सिलसिले में यह अजीब दास्तान मुझे सुनायी। वे गांधीवादियों की अहिंसा पर हँसते थे मैं भी हँसता था। हम किसान-सभा वाले तो गांधी जी के दरबार में काफी बदनाम हैं कि कांग्रेस के वसूलों की पाबन्दी नहीं करते। साथ ही, जो नेता साहब और उनके साथी न सिर्फ दुम दबा के ऐन मौके पर सटक रहे, बल्कि हथियारबन्द पुलिस और फौज की गोलियों और संगीनों से दंगे को शान्त करने के लिए श्री पन्त जी पर बार-बार जोर देते रहे, उन्हें गांधी जी का ऐसा दवामी सर्टिफिकेट अहिंसा के बारे में मिल चुका है कि कुछ पूछिये मत! मगर ऐसी ही टूटी नाव पर चढ़ के न सिर्फ गांधी जी खुद पार होना चाहते हैं, बल्कि सारे मुल्क को भी पार ले जाना चाहते हैं तो उन्हें मुबारक हो। किसान-सभा वाले अगर गांधी जी की अहिंसा को नहीं मानते तो उन्हें साफ कह तो देते हैं। मौके पर अमली तौर से धोखा तो नहीं देते। बल्कि ईमानदारी से जहाँ तक होता है उसके अनुसार काम करते हैं।

इसी सम्बन्ध की एक दूसरी घटना बिहार की है। बिहार पर और खासकर उसकी अहिंसा पर गांधी जी को नाज़ है। अकसर वे इस बात को लिखते और कहते रहते हैं। मगर बिहार के नामी-गरामी नेता लोग कहाँ तक अहिंसा को मानते और गांधी जी को कितना धोखा देते हैं इसका ताजा नमूना हाल के बिहार शरीफवाले दंगे में मिला है। इसका पता हमें जेल में ही लगा है जबकि पटना जिले के एक कांग्रेसी साथी जेल में हाल में ही आये हैं। उनने आप बीती हमें एक दिन सुनाई।

उनका और जिन नेताओं से उन्हें साबका पड़ा उनका नाम **लेना ठीक नहीं।**

बिहार शरीफ में हिन्दू-मुसलिम दंगा शुरू हो जाने के बाद सदाकत **आश्रम** के दो बड़े नेता, जो न सिर्फ प्रान्तीय कांग्रेस के ऑफिस के चलाने के लिए बहुत पुराने जवाबदेह आदमी माने जाते हैं, बल्कि खाँटी गांधीवादी भी हैं, मोटर पर चढ़ के बिहार शरीफ जाने के लिए तैयार हुए। उनमें एक हिन्दू है और एक मुसलमान। उनने सोचा कि पटना जिले के किसी हिन्दू कार्यकर्त्ता को भी साथ ले लें तो ठीक हो। संयोग से हमारे वे कांग्रेसी साथी वहीं थे। बस, हुक्म हुआ कि साथ चलना होगा। साथी को सारी बातें मालूम थीं। उनने कहा कि मेरे पास रिवॉल्वर तो है नहीं। मैं कैसे चलूँगा? याद रहे कि हमारे साथी सत्याग्रह करके जेल आये हैं। उनने फिर कहा कि अगर मुझे भी आप लोग एक रिवॉल्वर दें तो साथ चलने को तैयार हूँ। इस पर लीडरों ने कहा कि आप हम दोनों के बीच में हमारी ही मोटर पर बैठ के चलिये। हम जो अलग मोटर पर पीछे-पीछे चलने को कहते थे वह इसीलिए कि आपके पास रिवॉल्वर है नहीं। मगर अगर आप इसके लिए तैयार नहीं हैं तो हमारे बीच में बैठ के हमारी ही मोटर पर चलिये। मगर इस पर भी साथी तैयार न हुए। तब उनसे कहा गया कि आपके घरवालों के पास बन्दूक तो हई। उसे ही लेकर चलिये। इस पर साथी ने उत्तर दिया कि बन्दूक ले के चलना तो और भी बुरा है। मैं ऐसा न करूँगा।

इस पर हार मान के दोनों नेता रवाना हो गये। साथी ने कहा कि मुझे तो मालूम था ही कि **उन दोनों के पास एक-एक रिवॉल्वर था। दोनों रिवॉल्वर किसी नवाब साहब के यहाँ से उनने मँगाये थे।** मैं उनमें से एक माँगता था। मगर वे लोग इसके लिए तैयार न थे। उनने साफ कह भी दिया कि दोई तो रिवॉल्वर हैं और हम दो खुदी जा रहे हैं। फिर आपको कैसे दें? खूबी यह कि रिवॉल्वर ले के जाने पर भी वे लोग बिहार शरीफ में घूम न सके। जहाँ कांग्रेसियों का गिरोह था वहीं गये और दल के साथ ही इधर-उधर आये-गये।

कितना सुन्दर नमूना गांधी जी की अहिंसा का है। आज तो जगह-जगह कांग्रेसी नेता शान्ति दल बना रहे हैं जिसका काम ही है कि हिंसा करने वालों के बीच जा के उन्हें समझाना और शान्त करना। उन्हें न तो हथियार रखना होगा और न जान की परवाह करनी होगी। इस बात की प्रतिज्ञा शान्तिदल वाले करते हैं। मगर जब उनके नेताओं की यही दशा है तो बाकियों का क्या कहना? **पॉकेट में रिवॉल्वर ले के शान्ति दल का काम करना अजीब चीज है।** फिर भी इस पाखण्ड को गांधी जी समझें तब न? **यदि मैं रहता तो जरूर बन्दूक ले के चलता और धीरे से लोगों को इशारा कर देता कि देखिये हमारी अहिंसा!**

25

सन् 1937 ई. की जनवरी का महीना था। फैजपुर कांग्रेस से हम ताज़े-ताज़े वापस आये थे। असेम्बली-चुनाव की तारीखें सर पर थीं। जल्दी-जल्दी एक बार पटना जिले का दौरा ऐन चुनाव से पहले कर लेना था। मेरे साथ कांग्रेस के दूसरे भी नेता उस दौरे में शरीक थे। बखतियारपुर में एक मीटिंग करके बिहार शरीफ जाना था। शाम को वहीं मीटिंग थी। इस दरम्यान हरनौत थाने वालों का हठ था कि रास्ते में ही यह जगह है और ऐन सड़क पर ही। इसलिए यहाँ भी एक सभा जरूर हो ले। हमने इसकी मंजूरी दे दी थी। लोगों ने मीटिंग की तैयारी खासी कर ली थी। मगर हमारे विरोधी भी चुप न थे। वह इलाका ज्यादातर उन लोगों का है जिन्हें कुर्मी, कुर्मवंशी आदि कहते हैं। और जातियों की अपेक्षा कुर्मी लोग उधर ज्यादा बसते हैं। चुनाव के जमाने में बदकिस्मती से जाति-पाँति की बातें खूब चलती हैं। मगर वहाँ तो एक और भी वजह थी जिससे ये बातें तेज हो गयीं।

बखतियारपुर बाढ़ सब-डिविजन में पड़ता है और उससे दक्षिण बिहार सब-डिविजन है। कांग्रेस के भीतर ही बाढ़ और बिहार की सीटों को लेकर तनातनी चलती रही। बाढ़ के ही एक कुर्मी सज्जन, जो वकील हैं, चुने जाने के लिए बहुत ही लालायित थे। मगर कांग्रेसी नेताओं ने जब किसी कारण से उन्हें बिहार के लिए नामजद करना चाहा था तो वे तैयार न हुए और भीतर-ही-भीतर उनने गुटबन्दी ऐसी कर ली थी कि बिहार से एक गैर-कांग्रेसी कुर्मी चुन लिए जायँ। तैयारी ऐसी थी कि ऐन मौके पर कोई गलती जान-बूझ के कर दी जाये और दूसरा होने न पाये। इसीलिए उनने पीछे कबूल कर लिया था कि अच्छा, मैं बिहार की ही सीट से तैयार हो जाता हूँ। फिर भी भीतर-ही-भीतर तैयारी कुछ और ही थी। उनकी बदबख्ती से ठीक नामिनेशन के ही समय उस तैयारी का पता चल जाने के कारण उनका नामिनेशन कांग्रेस की तरफ से दाखिल न किया जा के एक और कुर्मी सज्जन का ही दाखिल किया गया। इससे कुर्मी समाज में कुछ खलबली मची। क्योंकि चुनाव को ले के उस जाति के भीतर ही दो दल हो चुके थे। कांग्रेस विरोधी कुर्मी सज्जन का भी नामिनेशन दाखिल हुआ था। उनका असर उस इलाके में ज्यादा था।

जिला कांग्रेस कमिटी का सभापति भी मैं ही था। किसान-सभा की तो बात थी ही। विरोधी लोग जीत जाते अगर मैं जरा भी उदासीन हो जाता। इसकी कोशिश भी की गयी। कांग्रेसी उम्मीदवार एक जालिम जमींदार हैं। इसलिए भी वे लोग सोचते थे कि अगर मैं उनकी मदद में न जाऊँ तो वे हारेंगे जरूर। मैंने उनकी जमींदारी में उन्हीं की जाति के किसानों का पक्ष ले के काफी आन्दोलन भी पहले किया था। इससे भी विरोधियों को आशा थी कि मैं चुनाव के मामले में ढीला पड़ जाऊँगा। मगर मेरी तो मजबूरी थी। जिला कांग्रेस कमिटी की तरफ से मुझे काम करना ही

था। जवाबदेही भी मेरे ऊपर विजय के सम्बन्ध की थी ही। फिर बेईमानी कैसे कर सकता था? यदि ऐन मौके पर जिला के सभापतित्व से हटता तो भी ठीक न होता। हाँ, मैं चाहता तो था कि वे जालिम हजरत नामजद न हों। मगर कांग्रेसी नेता लोगों को इसकी परवाह कहाँ थी? वे तो सभी लोगों को उस समय असेम्बली में भेज रहे थे—ऐसों को भी जो न सिर्फ जालिम जमींदार थे, बल्कि दरअसल कांग्रेस से अब तक जिनका कोई ताल्लुक न था। इस धाँधली के विरुद्ध प्रान्तीय वर्किंग कमिटी में मैं बराबर लड़ता था। मगर अकेला ही था। बाकियों ने तो वैसा ही तय कर लिया था। अजीब हालत थी। पर करता ही आखिर क्या?

ऐसी दशा में मेरे ही ऊपर वहाँ के कांग्रेस विरोधियों का क्रोध था। वे जानते थे कि अगर मैं वहाँ न जाऊँ तो कांग्रेसी उम्मीदवार को चुटकी मार के वे हरा देंगे। कुर्मी जाति में भी दोनों उमीदवार दो अलग बिरादरियों के थे और अपनी-अपनी बिरादरी को ले के लोग परेशान थे। इसलिए बखतियारपुर में ही मुझे पता चला कि हरनौत की मीटिंग में कुछ गड़बड़ी होगी और विरोधी लोग ऊधम मचायेंगे। यही कारण था कि मैं पहले से ही तैयार होके गया था। गाँव के नजदीक पहुँचते ही देखा कि जहाँ एक दल लाल और तिरंगे झण्डे के साथ बाजे-गाजे से हमारा स्वागत करने को तैयार है, तहाँ उसके बाद ही काले झण्डे वाला दूसरा दल 'स्वामी जी, लौट जायँ' आदि के साथ हमारा विरोध कर रहा है। हम हँसते थे। हमारी मोटर विरोधियों के बीच से आगे बढ़ गयी। हम लोग सड़क से कुछ हट के एक बाग में गये जहाँ सभा की तैयारी थी। लोग तो पहले से थे ही। अब और भी जम गये।

सभा-स्थान में कई चौकियाँ एक साथ मिला के पड़ी थीं और उन पर दरी, कालीन वग़ैरह पड़े थे। हम लोग उन्हीं पर उत्तर रुख बैठे थे। स्पीचें हो रही थीं। और लोग बोल चुके थे। मगर मैं अभी बोल चुका था नहीं। अभी बोलने का सिलसिला जारी ही था। सभी का ध्यान उसी ओर था। **इतने में एकाएक मुझे पता लगा कि मेरे दायें कन्धे पर जैसे तेज जलन सी हो गयी। तेज दर्द था। मगर लोगों ने देखा कि कोई आदमी अपनी लाठी मुझ पर चलाके बेतहाशा भागा जा रहा है। दौड़ो-दौड़ो, पकड़ो-पकड़ो की आवाज हुई। कुछ लोग दौड़ भी पड़े। मगर मैंने हठ करके सबों को लौटा लिया। मारने वाला निश्चिन्त निकल गया। असल में लाठी तो उसने मेरे माथे पर ही चलाई थी। मगर माथा बच गया बाल-बाल और वह जा लगी कन्धे पर। उससे पहले मैंने लाठी की चोट खायी न थी। इसी से मालूम पड़ा कि जैसे जलता अंगार गिर गया।**

मैंने मारने वाले को पकड़ने से लोगों को इसलिए रोका कि उसमें खतरा था। अगर वह पकड़ा जाता, जैसा कि निश्चय था, तो लोग क्रोध में उतावले हो के जानें उससे कैसे पेश आते। भीड़ तो थी ही। अन्देशा था कि उसकी जान ही चली जाती। कम-से-कम इसका खतरा तो था ही। उसके बाद उसके दल वाले जानें क्या करते।

हो सकता था कि वहीं करारी मार-पीट हो जाती। यही सोच के मैंने लोगों को रोका। परिणाम हमारे लिए सुन्दर हुआ। मीटिंग बेखटके होती रही। मेरी चोट पर लोगों को दवा की सूझी, पर, मैंने रोक दिया। चोट की जगह सूज गयी जरूर, वह काली भी हो आयी। मगर मैं ठण्डा रहा और सभा में खड़ा होके बोला भी। लोग ताज्जुब में थे। पर मुझे परवाह न थी। हाय-हाय करना या चिल्लाना तो मैंने आज तक जाना ही नहीं। फिर वहाँ कैसे हाय-हाय करता? मीटिंग के बाद बिहार शरीफ जाने पर चोट को धीरे-धीरे गर्म पानी से धोया गया ताकि दर्द शान्त हो। वहाँ भी सनसनी थी। मगर मैं तो वहाँ की सभा में भी बराबर बैठा रहा। बोला भी। इस प्रकार वह दौरा पूरा हुआ। कांग्रेसी उम्मीदवार तो जीते और अच्छी तरह जीते।

मगर दो साल गुजरने के बाद हालत कुछ और ही हो गयी। मुझे निमन्त्रण मिला कि हरनौत में किसान-सभा होगी। खूबी तो यह कि जो लोग पहली बार मेरे सख्त दुश्मन थे वही इस बार मेरी सभा करा रहे थे। उनने मेरे स्वागत की तैयारी भी सुन्दर की थी। मैंने निमन्त्रण स्वीकार किया खुशी-खुशी। वहाँ जा के देखा तो सचमुच समाँ ही कुछ और थी। मीटिंग भी ठाठ-बाट से हुई। उनने प्रेम से मेरा अभिनन्दन भी किया। स्वागताध्यक्ष ने जो भाषण दिया वह दूसरे ढंग का था। लोग हैरत में थे। मैं भी चकित था। इतना तो सबने माना कि दो साल के भीतर किसान-सभा की ताकत बढ़ी है काफी। इसीलिए पहले के दुश्मनों को भी लोहा मानना पड़ा है, चाहे उनका मतलब इस बार कुछ भी क्यों न हो। हमारे लिए यही क्या कम गौरव की बात थी कि हमारे दुश्मन भी हमारे ही झण्डे के नीचे आके मतलब साधने की कोशिश करें? हाँ, हमें सजग रहना जरूरी था कि कहीं किसान-सभा बदनाम न हो जाये। सो तो हम थे ही और आज भी हैं। उस बदली हालत को देख के हमने यह समझने की भूल कभी न की कि वे लोग किसान-सभा के पक्के भक्त बन गये। ऐसा जानने में ही तो खतरा था और हमने ऐसा किया नहीं। लेकिन उन्हें मजबूरन किसान-सभा का नारा बुलन्द करना पड़ा है यह हमने माना। वह उनकी मजबूरी किसान-सभा के महत्त्व को समझ कर हुई और उनने समझा कि इसी का पल्ला पकड़ो तो काम चलेगा, या सचमुच किसान-सभा की सच्ची भक्ति के करते हुई, यह निराला प्रश्न है। इसका उत्तर उस समय दिया जा सकता भी न था। यह तो समय ही बता सकता था कि असल बात क्या है।

लेकिन वहाँ जो आशाजनक असली बात दिखी वह कुछ और ही थी। हमें वहाँ कुछ नौजवान और विद्यार्थी मिले जो कुर्मी समाज के ही थे। हमने उनमें जो कुछ पाया वही दरअसल हमारे काम की चीज थी। उसी पर हम मुग्ध भी हुए। अपनी उस यात्रा की सफलता भी हमने प्रधानतया उसी जानकारी से मानी। उन छात्रों और युवकों में हमने किसान-सभा और किसान-आन्दोलन की मनोवृत्ति पाई। हमने यह देखा कि वह लोग इसे अपनी चीज समझने लगे हैं। वह यह मानते नजर

आये कि हम किसान हैं और हमारी असल संस्था किसान-सभा ही हो सकती है। इसमें वह अपने किसान समाज का उद्धार देखने लगे थे। यह मेरे लिए काले बादलों में सुनहली रेखा नजर आयी।

एक ओर चीज भी थी। उनने मुझे हस्तलिखित एक मासिक पत्र दिखाया। मैं उसका नाम भूलता हूँ। उनने कहा कि प्रतिमास लिख के वे लोग उसे खुद तैयार करते हैं। लेख और चित्र दोनों ही दिखे। दोनों ही हस्तलिखित—हस्तनिर्मित थे। उनने मुझसे आग्रह किया कि मैं उसे आद्योपान्त पढ़ के अपनी सम्मति लिख दूँ। समय मेरे पास न था। मगर मैंने उनकी इच्छापूर्ति जरूरी समझ उस 'पत्र' को शुरू से आखिरी तक पढ़ा। लेखक नये-नये छात्र और जवान लोग ही थे जिन्हें उसकी शिक्षा कभी नहीं मिली थी। व्याकरण वग़ैरह का ज्ञान भी उन्हें उतना न था। फिर भी जिन भावों को मैंने उन लेखों में पाया उनने मुझे मुग्ध कर दिया। लेखों की गलतियाँ तो मैं भूल ही गया। मेरे सामने तो भाव ही खड़े थे। देश के और कांग्रेस के बड़े-से-बड़े नेताओं के बारे में निर्भीक समालोचना उस मासिक पत्र के लेखों में थी, सो भी अनेक में। समालोचना भी ऐसी सुन्दर कि तबीअत खुश हो जाय। चुभने वाली बात बहुत ही अच्छे ढंग से दर्शाई गयी थीं।

इतना ही नहीं। मुझे ताज्जुब तो तब हुआ जब मैंने देखा कि लेखों में मेरा और अन्य कई किसान-नेताओं का भी जिक्र है, उनकी बड़ाई है, उनके कामों की तारीफ है। साथ ही यह भी पाया कि कांग्रेसी नेताओं के मुकाबिले में हमारे को जन-हित की दृष्टि से अच्छा और महत्त्वपूर्ण बताया गया थां। बातें कहने और लिखने का तरीका उनका अपना था। और यही ठीक भी था। बनावटी ढंग से बातें लिखना या लिखने में दूसरों की नकल करना कभी ठीक नहीं होता। हर बात में मौलिकता का मूल्य होता है। चाहे शैली कुछ भी हो—और मैंने तो निराली शैली को हृदय से पसन्द किया—मगर बातें तो मार्के की थीं, दुरुस्त थीं। यह भी नहीं कि हमसे उनकी कोई घनिष्ठता थी। हम तो उनमें किसी को जानते-पहचानते भी न थे। इसीलिए उनने जो कुछ लिखा वह उनके हृदयों का उद्गार था। कइयों ने लिखा था, न कि एक दो ने ही। कांग्रेसी नेताओं पर कुछ चुटकियाँ भी थीं, जो भद्दी न थीं। किन्तु अच्छी थीं।

लोग कहते हैं कि हमारे देश में जातीयता का अभिशाप कुछ करने न देगा। मैं तो निराशावादी हूँ नहीं, किन्तु पक्का आशावादी हूँ। मैंने वहाँ निराशावाद से उल्टी बातें पाईं। हालाँकि घोर जाति पक्षपात का इलाका वह है। हरनौत इसका अड्डा माना जाता है। मेरे खिलाफ तो वहाँ बवण्डर खड़ा हो चुका था। फिर भी युवकों के वे स्वाभाविक उद्गार हवा का रुख कुछ दूसरा ही बताते थे। मैं मानता हूँ कि सयाने होने पर उनके दिमाग में जहर भरने की कोशिश होगी, होती है। मगर मैंने वहाँ जो कुछ पाया वह बताता था कि वह जहर मिटेगा जरूर ही।

26

सन् 1938 ई. के गर्मियों का मौसम था। मेरा दौरा किसान-आन्दोलन के सिलसिले में ही बाढ़ और बिहार सब-डिविज़नों में हो रहा था। बाढ़ शहर के पास के ही एक बड़े गाँव में सभा करने के बाद मैं घोर देहात में गया। वह देहात बाढ़ से दक्षिण है जिसे टाल का इलाका कहते हैं। मिट्टी निहायत ही चिकनी और काली है। बरसात में तो पाँव में चिपक जाती है ऐसी, कि जल्द छूटना जानती ही नहीं। मगर गर्मियों में सूख के ऐसी सख्त बन जाती है कि कंकड़ों की तरह पाँवों में चुभती है और काट खाती है। दूर-दूर तक पेड़-वेड़ नजर आते नहीं। कहीं-कहीं गाँव होते हैं। बरसात में पचासों मील लम्बी और बीसियों मील चौड़ी उस जमीन पर केवल जल ही नजर आता है। बीच-बीच में गाँव ऐसे ही देखते हैं जैसे समुद्र में टापू। लगातार तीन-चार महीने यही नजारा दीखता है। सिर्फ किश्तियों पर चढ़ के ही उन गाँवों में जा सकते हैं। उसी टाल के इलाके का एक भाग, जो बाढ़ से बहुत ज़्यादा पूर्व और टाल के आखिरी हिस्से पर पड़ता है, बड़हिया टाल कहा जाता है। बड़हिया एक बड़ा सा गाँव जमींदारों का टाल के उत्तरी सिरे पर रेलवे का स्टेशन है, जैसे बाढ़, मुकामा वग़ैरह। इन बड़े-बड़े गाँवों की जमींदारियाँ उस टाल में हैं। इसलिए उस टाल के बनावटी टुकड़े बन गये हैं सिर्फ जमींदारियों को जनाने के लिए। उन्हें ही बड़हिया टाल, मुकामा टाल वग़ैरह कहा करते हैं। उसी टाल की जमीनों को लेकर बड़हिया इलाके के किसानों, जो अधिकांश केवल खेत-मजदूर और तथाकथित छोटी जाति के ही हैं, की लड़ाई हमारी किसान-सभा लगातार कई साल तक लड़ती रही है। इस लड़ाई में किसानों पर घोड़े दौड़ाये गये, लाठियाँ पड़ीं, भाले-बर्छे लगे, सैकड़ों केस चले, कई सौ जेल गये और क्या-क्या न हुआ। हमारे कार्यकर्त्ता और नेता भी जेल गये। वहीं लालकुर्त्तों वाले किसान-सेवकों के दल पहले-पहल तैयार किये गये। उनके बारे में तो उस टाल में तैनात अफसरों तक ने कह दिया कि सचमुच ही ये लोग शान्तिदल (Peace Brigade) के आदमी हैं। जमींदारों के द्वारा लाठीराज और गुण्डाराज कायम कर देने पर भी उन्हीं ने वहाँ किसानों को हर तरह से शान्त रखा। वे भी उन्हीं किसानों के बच्चे थे। यही तो उस दल की खूबी रही है : हमने लड़ाई के नेतृत्व के लिए भी उन्हीं पिछड़े किसानों को स्वावलम्बी बनाया। पैसे वग़ैरह का काम भी उनने जैसे-तैसे ज्यादातर खुद ही चलाया।

हाँ, तो उसी टाल के दो गाँवों में हमने मीटिंगें कीं। पहले से ही उन मीटिंगों की तैयारी थी। उसके बाद फिर बाढ़ लौटने के बजाय बाहर ही बाहर बिहार के इलाके में हमें नूरसराय जाना था। रास्ता विकट था। बैलगाड़ी वग़ैरह से जैसे-तैसे हमें हरनौत जाना था। वहाँ से टमटम से नूरसराय आसानी से जा सकते थे। ठीक याद नहीं कि हमें टमटम की सवारी हरनौत में ही मिली, या उससे पहले ही पहुँची

थी। मगर हरनौत के बाद तो हम जरूर ही टमटम से गये यह बखूबी याद है। असल में हरनौत के बाद की ही यात्रा महत्त्वपूर्ण थी। इसीलिए वह अच्छी तरह याद है।

हरनौत से बहुत दूर तक हम पक्की सड़क से ही गये। मगर आगे हमें पक्की सड़क छोड़ देना पड़ा। टमटम कच्ची सड़क से चलने लगा। हम कई साथी उस पर बैठे थे। शायद तीन थे। कुछ दूर जाने के बाद हमें एक अजीब लड़ाई देखने को मिली। जिस गाँव के पास यह हो रही थी उसका नाम-धाम तो हमें याद नहीं। हमने बहुत दूर से देखा कि तीन-चार छोटे-छोटे जानवरों की आपस में ही कुछ खटपट चल रही है। कभी एक खदेड़ता है बाकियों को, जो तीन की तादाद में थे, तो कभी वे तीन उस पर हमला करते हैं। बहुत देर तक मैं यह चीज देखता रहा। जब तक टमटम नजदीक न पहुँचा तब तक तो मुझे पता भी न चल सका कि ये कौन से जानवर आपस में लड़ रहे हैं। मगर धीरे-धीरे चक्कर काटता हुआ टमटम जब कुछ नजदीक आया तो मालूम हुआ कि एक छोटी सी बकरी अपने तीन नन्हें बच्चों के साथ एक ओर है, और तीन कुत्ते दूसरी ओर। इन्हीं दोनों के बीच वह कुश्तमकुश्ता चालू है। वह घण्टों चलता रहा, यह मैंने खुद देखा। पहले कब से था कौन बताये। मगर जबसे मेरी नजर उस पर गयी मैं बराबर वह निराली समाँ देखता था।

लड़ाई यों चलती थी। तीनों कुत्ते उस बकरी पर हमला करके चाहते थे कि बच्चों के साथ उसे मार के खा जायँ। मगर उनके जवाब में उन बच्चों को अपने पेट के पास जमा करके वह बकरी मारे गुस्से के अपना माथा और सींगें झुकाती और उन पर धावा बोलती थी जिससे वे तीनों ही भाग जाते थे। असल में जान पर खेल के जब वह उन पर टूट पड़ती थी तो वे हिम्मत हार के भाग जाते थे। मगर जब वह रुक जाती थी तो फिर उस पर टूट पड़ते थे। यही तरीका बराबर घण्टों चलता रहा। मेरी नजर एकटक उसी पर टिकी थी। ज्यों-ज्यों मैं नजदीक आता जाता था, त्यों-त्यों वह दृश्य देख-देख के मग्न होता था। मेरे शरीर के अंग-अंग और रोम-रोम खिलते जाते थे। नजदीक आने पर देखा कि बकरी छोटी सी ही थी। मगर गुस्से के मारे मौत की सूरत बनी थी, रणचण्डी बनी वह भी काफी परेशान थी। कुत्ते तो थे ही। उसकी अब तक जीत रही, इसलिए हिम्मत बनी थी। मगर कुत्तों का इरादा पूरा न हो सका था। वे तो उसका ही और अगर वह न हो तो कम-से-कम उसके तीनों बच्चों का ही गर्मागर्म खून पीना चाहते थे जो मिल न सका। इसलिए स्वभावतः उनमें पस्ती थी। फिर भी वह कुश्ती चालू थी। इतने में मेरे सामने ही बकरी का मालिक आ पहुँचा। उसने कुत्तों को मार भगाया और बकरी को घर पहुँचाया।

मेरे लिए वह दृश्य क्यों रोमांचकारी था और मैं उस पर क्यों मुग्ध था, इसकी वजह है। मेरे सामने हमेशा ही यह प्रश्न आया करता था कि किसान सब तरह से पस्त और पागल होने के कारण जमींदारों से डँट के मुकाबिला कर नहीं सकते और बिना मुकाबिला किए न तो जुल्मों से ही उन्हें छुटकारा मिल सकेगा और न उन्हें

अपना अधिकार ही हासिल हो सकेगा। मैं जहीं जाता वहीं यह सवाल उठता था। मैं भी परेशान था। जवाब तो मैं देई देता। पूछने वालों को और आम किसानों को भी समझा देता कि वे कैसे विजयी हो सकते हैं, हो जायँगे। संसार में किसान कहाँ, कैसे विजयी हो चुके हैं यह बातें उन्हें कह के समझाता था। मगर आखिर यह सब कुछ परोक्ष और दिमागी दुनिया की ही बात होती थी। न तो मैंने ही कहीं किसानों की विजय देखी थी और न किसानों ने ही। सारी-की-सारी सुनी सुनाई बातें ही थीं। इसलिए मुझे खुद अपने जवाब से सन्तोष न होता था। मैं तो प्रत्यक्ष मिसाल चाहता था कि किस प्रकार अत्यन्त कमजोर भी जबर्दस्तों को हरा देते हैं। बराबर इसी उधेड़-बुन में रहता था कि बकरी की यह अनोखी और ऐतिहासिक लड़ाई देखने को मिल गयी! इससे मेरा काम बन गया। फिर तो यह भी देखा कि अकेली बिल्ली कैसे किसी आदमी पर विजय प्राप्त करती है।

मैंने आँखों देखा कि मामूली सी बकरी अपने तीन बच्चों को और अपने आपको भी, घण्टों दिलोजान से तीन कुत्तों के साथ करारी भिड़न्त करने के बाद भी, बचा सकी। यह तो प्रत्यक्ष चीज थी। अगर एक ही कुत्ता चाहता तो डरपोक और पस्त हिम्मत बकरी की हड्डियाँ चबा जाता। और वहाँ तो बकरी के तीन बच्चे भी थे। बकरी को ऐसी हालत में चबा जाना और भी आसान था। क्योंकि उसकी ताकत न सिर्फ अपने बचाने में खर्च हो रही थी, बल्कि उन तीन बच्चों के बचाने की परेशानी में भी बहुत कुछ खर्च होई जाती थी। फिर भी वह सफल रही और अच्छी तरह रही। क्यों? क्या वजह थी कि वह ऐसा कर सकी? इसका जवाब बातों से क्या दिया जाय? जिसने उस समय उस बकरी की सूरत और चेहरा-मुहरा नहीं देखा है और जिसने यह अपनी आँखों नहीं देखा कि वह किस तरह लड़ती थी, उसके दिमाग में इस सवाल का जवाब कैसे समायेगा, बैठ जायगा यह मुश्किल बात है। इसे ठीक-ठीक समझने के लिए वैसी घटनाओं को खुद देख लेना निहायत जरूरी है। वह एक घटना हजार लेक्चरों का काम करती है। क्योंकि वह तो 'कह सुनाऊँ' नहीं है। किन्तु 'कर दिखाऊँ' है। और बिना 'कर दिखाऊँ' के कोई बात दिल पर नक्श हो सकती नहीं।

असल में जब कोई पक्का मंसूबा और दृढ़ संकल्प करके जान पर खेल जाता है तो उसके भीतर छिपी अपार शक्ति बाहर आ जाती है। यही दुनियाँ का कायदा है। ताकत बाहर से नहीं आती। वह हरेक के भीतर ही छिपी पड़ी रहती है, जैसे दूध में मक्खन। जिस प्रकार मथने से मक्खन बाहर आ जाता है, ठीक उसी तरह जान पर खेल के लड़ जाने, भिड़ जाने पर वही भिड़न्त मथानी का काम करती है। फलतः छिपी हुई ताकत को बाहर ला खड़ा करती है। बकरी की लड़ाई से यह साफ हो जाता है। कहते भी हैं कि 'मरता क्या न करता?' अगर मामूली बकरी डट जाने पर सपरिवार अपने को तीन कुत्तों से बचा सकती है, तो किसान डँट जाने पर अपने हक की रक्षा क्यों न कर सकेगा?

27

जब जवाबदेह कार्यकर्त्ता और लीडर ऐसा काम कर डालते हैं जिसे व्यवहार-बुद्धि (Common-Sense) मना करती है तो बड़ी दिक्कत पैदा हो जाती है। जनता में काम करना एक चीज है और केवल राजनीतिक चालबाजी दूसरी चीज। अखबारों में खबर छपवा देना कि फलाँ-फलाँ जगह मीटिंगें हुईं और अमुक-अमुक सज्जन बोले, यह एक ऐसी बात है जिसे हमारे कार्यकर्त्ता और लीडर आमतौर से पसन्द करते हैं। मीटिंग कैसी थी, उसमें ठोस काम क्या हुआ, या नहीं हुआ, इस बात की उन्हें शायद ही परवाह होती है। मैं इसे न सिर्फ गैर जवाबदेही मानता हूँ, बल्कि ठगी समझता हूँ। बाहरी दुनिया पर चन्द लोगों के प्रभाव और नेतृत्व का असर इससे भले ही जमे। मगर धोखा होता है। जनता का काम इससे कुछ भी होता नहीं। फिर भी हम इस प्रवाह में बहे चले जाते हैं। अखबारों की रिपोर्टें इसी तरह की अक्सर हुआ करती हैं। हम इतने से ही सन्तोष करते हैं। अपनी सालाना रिपोर्टों की तोंदें भी इन्हीं बलगमीं रिपोर्टों से भर डालते हैं। बाहरी दुनियाँ हमारी बड़ाई करती है कि हम बहुत काम करते हैं। यदि एक ही दिन में हमारी कई मीटिंगों की खबरें छप जायँ तब तो कहना ही क्या? तब तो हमारी महत्ता और लीडरी आसमान छू लेती है।

जब अपनी सफलता का हिसाब हम खुद इन्हीं झूठी रिपोर्टों से लगाते हैं तब तो किसानों और मजदूरों का भला भगवान् ही करे! तब पता लग जाता है कि हम कैसे सच्चे जन-सेवक हैं। हमारे दिलों में पीड़ित जनता की वास्तविक सेवा की आग कैसी जल रही है इसका सबूत हमें मिल जाता है। मगर असलियत तो यह है कि इन हरकतों से गरीबों का उद्धार सात जन्म में भी नहीं हो सकता। वे तो बावजूद इन मीटिंगों के भेड़-बकरियों की तरह कभी एक दल के और कभी दूसरे के हाथों मँड़ते ही रहेंगे। इस तरह हम उनके नेता बन के अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए उन्हें उनके शत्रुओं के हाथ बराबर बेचते ही रहेंगे। उनके उद्धार का रास्ता यह हर्गिज है नहीं। मगर बदकिस्मती से इस बात के कड़वे अनुभव मुझे किसान आन्दोलन के सिलसिले में इतने ज्यादा हुए हैं कि गिनाना बेकार है।

एक बात और है। जवाबदेही का मतलब भी हम ठीक समझ पाते नहीं। किसी काम के पूरा करने में क्या-क्या करना होगा, कौन-कौन दिक्कतें आयेंगी, उनका सामना कैसे किया जायगा, उस सम्बन्ध में किस पर विश्वास करें, किस पर न करें, विश्वास करें भी तो कहाँ तक करें, वग़ैरह-वग़ैरह पहलुओं पर पूरा विचार करना भी जवाबदेही के भीतर ही आता है और यही उसके असली पहलू हैं। इन पर पूरा गौर किये बिना हम जवाबदेही को पूरा कर नहीं सकते और अगर हम इसमें चूकते हैं तो इसकी वजह या तो यही है कि हमने जवाबदेही को अभी तक जाना नहीं, या हमें इस बात का अनुभव नहीं कि कौन क्या कर सकता है, किसकी कौन सी

दिक्कतें और अड़चनें हैं जिन्हें पहले समझ लेना जरूरी है। जब देहात के किसान या कार्यकर्त्ता किसी मीटिंग के प्रबन्ध की पूरी जवाबदेही ले लेते हैं तो हम निश्चिन्त हो जाते हैं कि अब हमें कुछ करना है नहीं। हम तो मजे से चलेंगे और मीटिंग करके लौट आयेंगे।

मगर यह भारी भूल है। देहात के लोगों के लिए यह समझ लेना और सब बातों का पूरा-पूरा हिसाब लगा लेना आसान नहीं है। सब बातों के तौलने की जवाबदेही उन पर डालना ही भूल है। उस तौल का उनका तराजू भी देहाती ही होता है जो पूरा नहीं पड़ता। इसीलिए हमें खुद सारी चीजों की देख-भाल करना जरूरी है। मैंने देखा है कि हर मीटिंग के करने-कराने वाले आमतौर से यही समझते हैं कि दुनियाँ में बस यही एक मीटिंग है। इसी से सबका काम चल जायगा। इसके बाद आज ही कहीं और भी मीटिंग हमारे लीडर को करना है या नहीं इसकी परवाह उन्हें होती ही नहीं। कल, परसों भी उन्हें कहीं इसी तरह जाना है या नहीं, और अगर वे नहीं जा सके तो लोगों को वैसी ही निराशा होगी या नहीं, लोग वैसे ही बुरा मानेंगे या नहीं, जैसा कि तैयारी हो जाने पर हमारे यहाँ नेताओं के न आ सकने पर हम मानते हैं, यह बात भी वे लोग साधारणतया सोचते ही नहीं। फिर ठीक समय मीटिंग को पूरा करने की सारी तैयारी वे करें तो कैसे करें? लेकिन यह तो हमारे जवाबदेह कार्यकर्त्ताओं का ही काम है कि ये सारी बातें सोचें और उसी हिसाब से ऐसा प्रबन्ध करें कि ठीक समय पर सारा काम पूरा हो जाय। देहात के लोगों के कह देने पर ही सारी बात का विश्वास कर लेना बड़ी भारी गलती है। हमें उन लोगों की कमजोरियों को बिना कहे ही अपने ही अनुभव के आधार पर समझ लेना और तदनुसार ही काम करना चाहिए।

इस सम्बन्ध के कटु अनुभव मुझे यों तो हजारों हुए हैं और उनसे काफी तकलीफ भी हुई है। मगर कभी-कभी भीतर-ही-भीतर जल जाना पड़ा है। खासकर जब बड़े लीडर कहे जाने वालों ने ऐसी नादानी की है। इस बात की चर्चा एकाध बार पहले ही की जा चुकी है। मगर एक घटना बहुत ही मार्के की है। सन् 1939 ई. की बरसात गुजर चुकी थी। किसान लोग रबी बोने की तैयारी में खेतों को ठीक कर रहे थे। धान की फसल अभी तैयार न हुई थी। खेतों में ही खड़ी थी। मगर बरसात का पानी रास्तों से आमतौर से सूख चुका था। जहाँ तक अन्दाज है कार्तिक महीने की पूर्णमासी अभी बीती न थी। ठीक उसी समय पटना जिले के बाढ़ सब-डिविजन के हमारे एक किसान-नेता ने मेरे दौरे का प्रोग्राम तय किया। और मीटिंगों के अलावे उनने एक ही दिन दो मीटिंगों का प्रबन्ध किया। एक फतुहा थाने के उसफा गाँव में और दूसरी हिलसा थाने में हिलसा में ही। जब मुझे पता चला तो मैंने कहा कि देहात की मीटिंग के साथ दूसरी मीटिंग भी हो यह शायद ही सोचा जा सकता है जब तक कि मोटर का रास्ता न हो। लेकिन उनने न माना।

जब मीटिंग के दिन हम फतुहा स्टेशन पर आये तो मैंने उसफा के बारे में बार-बार पूछा कि कितनी दूर है, रास्ता कैसा है, आदि-आदि। उत्तर मिला कि बहुत दूर तक तो टमटम जायगा। फिर नदी के बाद तीन-चार मील हाथी से जाना होगा। मगर मेरे दिल ने यह बात नहीं कबूल की। खूबी तो यह थी कि मीटिंग के बाद हाथी से ही 4-5 मील चल के लाइट रेलवे की गाड़ी पकड़ना और शाम तक हिलसा भी पहुँचना जरूरी था। मैंने उनसे साफ कहा कि यह बात गैर-मुमकिन है। मुझे जो देहातों का अनुभव है उसके बल पर मैंने उन्हें साथ चलने से रोका और हिलसा जाने को कहा। उनसे यह भी साफ कह दिया कि हिलसा आने की मेरी उम्मीद छोड़ के आप खुद मीटिंग कर लेंगे। हाँ, अगर मुमकिन हुआ तो मैं भी आ जाऊँगा। मगर मेरी इन्तजार में आप कहीं बैठे ही न रह जायें। इसी समझौते के अनुसार मैं टमटम पर बैठ के एक कार्यकर्त्ता के साथ उसफा की ओर चला, इस आशा से कि जहाँ हाथी खड़ा रहने का इन्तजाम है वहाँ तक जल्दी पहुँच जाऊँ।

मगर गैर-जवाबदेही का एक नमूना फतुहा में ही मिला, जब हमारा टमटम सदर सड़क छोड़ के गली से चलने लगा। कुछ देर के बाद गली बन्द थी और उसकी मरम्मत के लिए पत्थर की गिट्टियाँ पड़ी थीं। बड़ी दिक्कत हुई। टमटम जाने की उम्मीद न थी। बहुत ही परेशानी के बाद जैसे-तैसे टमटम पार किया गया। वह परेशानी हमीं जानते हैं। फिर टमटम बड़ा कुछ दूर—कुछ ज्यादा दूर—जाने के बाद साइकिल से दौड़ा हुआ एक आदमी हमारे पीछे आता था और हमें पुकारता था। मगर देर तक हम उसकी आवाज सुन न सके और बढ़ते गये। जब वह नजदीक आ गया तो उसकी पुकार हमने सुनी। उसने कहा कि हाथी तो स्टेशन पर आ गया है, आप वहीं लौट चलें। हम घबराये और सोचा कि यह दूसरा संकट आया। लौटेंगे तो फिर उसी गली में टमटम निकालने की बला आयेगी। इसलिए साइकिल वाले से कह दिया कि जाओ और हाथी वहीं भेजो जहाँ पहले भेजने का तय पाया था। क्योंकि तुम भी तो कहते ही हो कि भूल से हाथीवान उसे स्टेशन ले गया है। इस पर वह बेचारा लौट गया। हम आगे बढ़े। मगर कुछी दूर और चलके टमटम वाले ने कह दिया कि "बस, बाबूजी, अब आगे टमटम जा न सकेगा। यहीं तक की बात तय पायी थी।"

हम लोग उतर पड़े और पैदल चल पड़े। कुछ दूर चलने के बाद मालूम हुआ कि इधर नदी-वदी कोई है नहीं। उसफा का रास्ता आगे से खेतों से हो के जायगा, यह कच्ची सड़क छूट जायगी। हम लोग कुछ दूर और चल के धान के खेतों के बीच एक पीपल के नीचे जा ठहरे। वहीं इन्तजार करने लगे कि हाथी आये तो चलें। पेड़ की छाया में कुछ लेटे भी। मगर चैन नहीं। मीटिंग में पहुँचने की फिक्र जो थी। इसीलिए रह-रह के हाथी का रास्ता देखते। कभी खड़े होते, कभी बैठ जाते। देखते-देखते एक घण्टा बीता, दो बीते। मगर हाथी लापता ही रहा। ताकते-ताकते

आँखें पथरा गयीं। हम परेशान हो गये। मगर फिर भी हाथी नदारद! इधर दिन के दस-ग्यारह बज भी रहे थे। हमने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि हाथी की इन्तजार में बैठे-बैठे उसफा की भी मीटिंग चौपट हो। हिलसा जाने का तो अब सवाल ही नहीं। हमारे सामने यह तीसरी दिक्कत आयी। मगर हमने तय किया कि पैदल ही आगे बढ़ना होगा। रास्ता भी तो देखा था नहीं। फिर भी हिम्मत की कि पूछते-पाछते चले जायँगे। हमने पहले से ही होशियारी की थी कि साथ में कोई सामान नहीं लिया था। नहीं तो वहीं बैठे रह जाते। उसका जाना तो दूर रहा। फतुहा लौटना भी दूभर हो जाता। सामान कौन ले चलता? उस घोर देहात में कुली कहाँ मिलता? मुझे तो ऐसे मौके कई पड़े थे। इसीलिए तैयार हो के आया था कि पैदल भी चलूँगा यदि जरूरत होगी। फिर सामान साथ लाता क्योंकर?

हाँ, तो हम चल पड़े। रास्ते की बात पूछिये मत। केवाल की काली मिट्टी सूखी थी। वह पाँवों को कतरे जाती थी। जूता पहनने में दिक्कत यह थी कि रह-रह के कीचड़-पानी पार करना पड़ता था। इसलिए जूता महाराज हाथों की ही शोभा बढ़ा रहे थे। कभी-कभी पाँवों में भी जा पहुँचते थे। रास्ता भी कोई बना बनाया था नहीं। कहीं खेत और कहीं दो खेतों की मेंड़ (आर) से ही चलना पड़ता था। पूछने पर लोगों ने यही बताया कि फलाँ कोने में उसफा है। बस, वही दिशा देख के चल रहे थे। फिर भी काफी भटके। दूर-दूर तक कहीं गाँव नजर आते न थे कि किसी से रास्ता पूछें। सूनी जगह में पेड़ भी थे नहीं कि रामचन्द्र की तरह सीता का हाल उन्हीं से पूछते। पशु भी नदारद ही थे। यही हालत पक्षियों की थी। बहुत चलने पर कहीं-कहीं एकाध हल चलाने वाले किसान मिलते तो उन्हीं से पूछ लेते कि उसफा का रास्ता कौन है? फिर उसी अन्दाज से आगे बढ़ते। कातिक की धूप भी ऐसी तेज थी कि चमड़ा जला जाता था। प्यास भी लगी थी। मगर रास्ते में पानी पीना आसान न था। कहीं गाँव में कुआँ मिले तभी तो पिया जाय। मगर कुओं की हालत यह थी कि उनमें मुँह तक पानी भरा था। ऐसी हालत में उनका पानी पीना बीमारी बुलाना था। इसलिए प्यासे बढ़ते जाते थे। रास्ते में एक-दो गाँव भी मिले। वहाँ हमने उसफा की राह पूछ ली और बढ़ते गये।

चार या छः मील की तो बात ही मत पूछिये। आठ-नौ मील से कम हमें चलना न पड़ा। बराबर चलते ही रहे। फिर भी तीन घण्टे से ज्यादा ही वक्त वहाँ पहुँचने में लगा। हम परेशान थे। मगर चारा भी दूसरा था नहीं। मीटिंग में तो पहुँचना ही था, चाहे जो हो जाये। अन्त में एक गाँव मिला। हमने समझा यही उसफा है। किन्तु हमारा खयाल गलत निकला। आगे बढ़े। पता चला कि आगे वाला उसफा है। मगर नदी-नाले और पानी कीचड़ के करते रास्ता चक्कर काटता था। अन्त में कुछ लोग मिले जो सभा में जा रहे थे। तब हमें हिम्मत हुई कि अब नजदीक आ गये। अन्त में बाजे-गाजे वालों की भीड़ मिली। ये लोग स्वागतार्थ जमा थे।

हमें इनके भोले-भाले पन पर दया आई। हम पहुँचेंगे भी या नहीं इसका खयाल तो इनने किया नहीं और स्वागतार्थ बाजे-गाजे के साथ जम गये। हमने समझा कि अब सभा-स्थान पास में ही होगा। मगर सो बात तो थी नहीं। अभी मीलों चलना था। बहुत देर के बाद गाँव में पहुँचे तो सारे गाँव में जुलूस घूमता फिरा। हमें क्या मालूम कि जुलूस घुमाया जा रहा है? गाँव भी शैतान की आँत की तरह लम्बा है। हम तो प्यासे मरे जा रहे थे और लोगों को जुलूस की पड़ी थी। पर, किया क्या जाये? देहात के लोग तो सीधे होते हैं। वे अगर सारी बातें समझ जायँ तो फिर जमींदारी कैसे रहने पायेगी? महाजनों की लूट चालू क्योंकर रहेगी? उनकी नासमझी और उनका भोलापन यही तो लूटने वालों की—शोषकों की—पूँजी है, यही उनका हथियार है।

जैसे-तैसे जुलूस का काम पूरा हुआ और हम लोग गाँव से बाहर बाग में पहुँचे जहाँ सभा का प्रबन्ध था। मगर मेरा तो गला सूख रहा था। इसलिए कुएँ से पानी मँगवा के भरपूर स्नान किया तब कहीं कुछ ठण्डक आयी। फिर पानी पिया। जरा लेटा। इतने में लोग भी जमा होते रहे। मुझे पता चला कि वहाँ शायद ही कोई पहुँच पाता है। बरसात में फतुहा से लेकर वहाँ तक केवल जलमय रहता है। जाड़े में भी आना गैरमुमकिन ही है। हाँ, गर्मी में शायद ही कोई आ जाते हैं। आमतौर से यही होता है कि मीटिंगों की नोटिसें बँट जाती हैं, लोग जमा भी होई जाते हैं। मगर नेता लोग ही नहीं पहुँच पाते। फलतः लोग निराश लौटते हैं। इस बात की आदत सी वहाँ के लोगों में हो गयी है। मोटर वग़ैरह का आना तो असम्भव है। बैलगाड़ी की भी यही हालत है। हाथी या घोड़े से आ सकते हैं। नहीं तो पैदल। मगर नेता और पैदल? मेरे बारे में भी लोग समझते थे कि शायद ही पहुँचूँ। इसीलिए मरता-जीता, थका-प्यासा जब मैं पहुँच गया तो लोगों को ताज्जुब हुआ!

यों तो उसफा में मिडिल स्कूल है। लाइब्रेरी भी है। फुटबाल वग़ैरह की खेल भी होती है। कांग्रेस की लड़ाई में वहाँ के कुछ लोग कई बार जेल भी गये हैं। फिर भी वह समूचा इलाका ही पिछड़ा हुआ है। सभाएँ शायद ही होती हैं। छोटे-मोटे जमींदार, जो उस इलाके में हैं, खूब जुल्म करते हैं। पुलिस का भी वहाँ पहुँचना आसान नहीं है। इसलिए जालिम लोग स्वच्छन्द विचरते हैं। लगातार कई साल के बीच मेरी वही एक मीटिंग थी जहाँ पुलिस पहुँच न सकी, सी. आई. डी. रिपोर्टरों का पहुँचना तो और असम्भव था। वे लोग हिलसा की मीटिंग में चले गये। यह भी एक अजीब बात थी। तमाशा तो यह हुआ कि मुझे लेने के लिए भेजा गया हाथी मीटिंग खत्म होते न होते वहाँ लौटा।

सभापति उस सभा में बनाये गये इलाके के एक छोटे से जमींदार। मुझे यह बात पीछे मालूम हुई। नहीं तो शायद ही ऐसा होने पाता। मगर मैंने लेक्चर जो दिया वह तो जमींदारी-प्रथा और जमींदारों के जुल्मों के खिलाफ़ ही था। फिर भी न जाने सभापति जी कैसे पत्थर का कलेजा बना के सुनते रहे। मुझे उनके चेहरे

से मालूम ही न पड़ा कि वे मेरे भाषण से घबरा रहे हैं। यदि घबराते भी तो मुझे परवाह क्या थी? मैं तो अपना काम करता ही। मैंने यह जरूर देखा कि लोग़ मस्त होके मेरी एक-एक बातें सुनते थे। मालूम पड़ता था, उन्हें पीते जाते हैं। उनका चेहरा खिलता जाता था, ज्यों-ज्यों सुनते जाते थे। मुझे यह भी पता चला कि उसफा के किसान जमींदारों के जुल्मों के खिलाफ लड़ने में जरा भी नहीं हिचकते। औरों की तरह पुलिस से भी वे भयभीत नहीं होते। यदि पुलिस जमींदारों या महाजनों का पक्ष अन्यायपूर्वक ले, तो उससे भी उनकी दो-दो हाथ हो जाती है। भविष्य के खयाल से यह सुन्दर बात है। हक के लिए मर-मिटने की लगन के बिना किसानों के निस्तार का दूसरा रास्ता हुई नहीं।

हाँ, सभा के अन्त में एक मजेदार घटना हो गयी। कुछ नौजवान लोग स्कूलों या कॉलिजों के पढ़ने वाले से प्रतीत हुए। उनने यह कहा कि बिना स्वराज्य मिले ही यह आप जमींदार-किसान कलह क्यों लगा रहे हैं? थे वे जमींदारों के ही लड़के। मगर चालाकी से उनने आजादी की दलील की शरण ली और कांग्रेसी बन बैठे। मैंने उत्तर दिया कि झगड़े के लगाने की क्या बात? यह तो पहले से मौजूद ही है। अगर आपकी जायदाद कोई लूटने लगे तो क्या स्वराज्य की फिक्र में उससे लिपट न पड़ियेगा? क्योंकि झगड़ने पर तो आपकी ही दलील से स्वराज्य की प्राप्ति में बाधा होगी। हम तो किसानों को यही बताते हैं कि जो स्वराज्य उन्हें लाना है वह कैसा होगा, क्योंकि जमींदारों और किसानों का स्वराज्य एक न होगा—अलग-अलग होगा। जो एक का स्वराज्य होगा, वह दूसरे के लिए बला बन जायगा।

वे फिर बोले कि आप तो मिस्टर जिन्ना की सी बात कर रहे हैं। जैसे वह स्वराज्य मिलने के पहले उसका बँटवारा कर रहे हैं आप भी वैसा ही कर रहे हैं। इस पर मैंने उन्हें बताया कि आप मेरी स्थिति को ठीक समझी न सके। मैं तो किसानों को सिर्फ यही बताता हूँ कि सजग हो के स्वराज्य के लिए लड़ो ताकि वह उनका स्वराज्य हो, न कि जमींदारों और सूदखोरों का। मगर वह लड़ें जरूर। जमींदार वग़ैरह न भी लड़ें, तो भी वे अकेले ही लड़ें। अगर वे लोग भी लड़ें तो साथ मिल के ही लड़ें। मगर चौकन्ने रहें ताकि मौके पर जमींदार लोग उन्हें चकमा दे के स्वराज्य को सोलहों आने हथिया न लें। लेकिन मिस्टर जिन्ना तो मुसलमानों को लड़ने से ही रोकते हैं। वे तो नौकरियों और असेम्बली की सीटों का बँटवारा चाहते हैं। उसके लिए हिन्दुओं से मिल के लड़ना नहीं चाहते। बल्कि बार-बार मुसलमानों को लड़ने से रोकते हैं। फिर मेरी उनके साथ तुलना कैसी? क्या कोई कह सकता है कि मैंने, किसान-सभा ने या किसानों ने कांग्रेस की लड़ाई में साथ नहीं दिया है? क्या मैंने कभी किसानों को रोका है?

इसके बाद वे लोग चुप हो गये। मगर किसानों ने सभी बातें समझ लीं। मैंने उनसे पूछ दिया कि तुम्हारे गाँव के जमींदार जो नवाब साहब हैं उनके स्वराज्य

के लिए लड़ोगे या अपने स्वराज्य के लिए। उनने एक स्वर से सुना दिया कि अपने स्वराज्य के लिए! तब मैंने कहा कि ये सवाल करने वाले तो नवाब साहब का ही स्वराज्य चाहते हैं, गोकि साफ-साफ बोलते नहीं। मगर गोलमोल स्वराज्य का तो यही मतलब ही है। इन्हें डर है कि गोलमोल न कह के अगर स्वराज्य का स्वरूप बनाने लगेंगे तो किसान हिचक जायँगे। जिस स्वराज्य में जमीन के मालिक किसान न हों, अपनी कमाई को पहले स्वयं सपरिवार भोगें नहीं, उन्हें काफी जमीन मिले नहीं, सूदखोरों से उनका पिण्ड छूटे नहीं, जमींदारों के जुल्म से उनका पल्ला छूटे नहीं और भूखों मर के भी लगान, कर्ज वग़ैरह चुकाना ही पड़े वह उनका स्वराज्य कैसा? और अगर यह बातें न हों तो फिर जमींदार मालदारों का स्वराज्य कैसा? इसीलिए कहता हूँ कि किसान और जमींदार मालदार का स्वराज्य एक हो नहीं सकता। इस पर जय-जयकार के साथ सभा विसर्जित हुई। सभी अपने-अपने गाँव-घर गये।

अब सवाल आया वापस जाने और फतुहा में ठीक समय पर गाड़ी पकड़ने का। क्योंकि प्रायः शाम हो चली थी। हिलसा पहुँचने का तो प्रश्न ही न था। खतरा यह था कि फतुहा में भी बिहटा जाने वाली ट्रेन मिल सकेगी नहीं। यदि तेज सवारी मिलती तो मुमकिन था उसका मिलना। इसलिए मैंने इस बात पर जोर दिया कि अच्छी सवारी जल्द लाई जाय। मैंने सभा के पहले भी वहाँ पहुँचते ही कह दिया था कि सवारी का इन्तजाम ठीक रहे। आने में जो हुआ सो तो हुआ ही, जाने का तो ठीक रहे। नहीं तो कल का प्रोग्राम भी चौपट होगा। हिलसा तो रही गया। लोगों ने हाँ-हाँ कर दिया और सब ठीक है सुनाया। लेकिन मुझे तो शक था ही। क्योंकि "सब ठीक है" वाला जवाब जो फौरन मिल जाता है, बड़ा ही खतरनाक होता है। ऐसा मेरा अनुभव है सैकड़ों जगहों का। फिर भी करता ही आखिर क्या? इसलिए मीटिंग खत्म होते ही सवारी की चिल्लाहट मैंने मचाई। जवाब मिला, आ रही है। कुछ देर बाद फिर पूछा, तो वही 'आ रही है' का उत्तर मिला। कई बार यही सुनते-सुनते ऊब गया। आने के समय की पस्ती होने के कारण ही सवारी के लिए परेशानी थी। नहीं तो पैदल ही चल पड़ता। मगर जब देखा कि कुछ होता जाता नहीं, तो आखिर चल देना ही पड़ा पैदल ही। लोग रोकने लगे कि रुकिये, सवारी आती है। मगर मुझे अब यकीन न रहा। अतः रवाना हो गया। पीछे देखा कि वही पुराना हाथी चींटी की चाल से चला आ रहा है। मुझे रंज तो बहुत हुआ कि ये लोग धोखा देते हैं। भला इस मुर्दा सवारी से फतुहा कब पहुँचूँगा। ऐसी गैर जवाबदेही! इसके पीछे से लोग पुकारते जाते थे कि मैं रुकूँ। मगर मैं बढ़ता ही चला जाता था। सवारी की यह आखिरी दिक्कत ऐन मौके पर बहुत ही अखरी। किन्तु लाचार था। एक-दो मील चला गया। शाम हो रही थी। दूध भी न पी सका था। अतएव आगे के गाँववालों ने रोका। वे भी सभा में गये थे। एक वैष्णव ब्राह्मण ने बाहर ही कुएँ पर कम्बल डाल के मुझे बिठाया और फौरन ही गाय का दूध दुहवा के मुझे पीने को दिया।

इतने में कुछ देर हो गयी और बूढ़ा हाथी भी आ पहुँचा। मैं उस पर चढ़ने में हिचकता था। इसके लिए तैयार न था। मगर लोगों ने हठ किया। रात का समय और अनजान रास्ता। कीचड़-पानी से हो के गुजरना, सो भी आठ-दस मील। टेढ़ी समस्या थी। दिन रहता तो पैदल ही चल देता खामख्वाह। मगर अँधेरी रात जो थी। इसलिए मजबूरन हाथी पर बैठना ही पड़ा। एक लालटेन भी आयी रास्ता दिखाने के लिए, मगर वह ऐसी मनहूस थी कि रोशनी मालूम ही न होती थी। फिर भी दूसरी थी नहीं। इसलिए वही साथ ली गयी। लेकिन वह फौरन ही बुझ गयी। अतएव पुकार के उसके मालिक के हवाले उसे हमने कर दिया और अँधेरे में ही अन्दाज से चल पड़े। आखिर करते ही क्या? हाथी एक तो बूढ़ा और कमजोर था। दूसरे थका भी था हमारी ही तरह। क्योंकि अभी-अभी स्टेशन से वापस आया था। तीसरे भूखा था। भलेमानसों ने उसके खाने का कोई प्रबन्ध किया ही नहीं और मेरे साथ उसे फिर चला दिया। यह अजीब बात थी। और अगर रात न होती तो वह भूखों ही मरता। एक कदम बढ़ता भी नहीं, लेकिन रात होने से उसका काम चालू था। हाथी तो रास्ते के खेतों में खड़ी फसल को नोचता-खाता ही चलता है। यही तो उसकी गुजर है। दिन में खेतवाले सजग रहते और चिल्लाते हैं, तूफान करते हैं। इसलिए पीलवान हाथी को रोकता-डाँटता चलता है जिससे उसका घात शायद ही लगता है। मगर रात में तो यह खतरा था नहीं। इसलिए हाथी का स्वराज्य था। धान के हरे-हरे खेत खड़े थे। उन्हीं से हो के हम गुजर रहे थे। हाथी खाता चलता था। किसानों की फसल की इस तरह तबाही हमें खलती जरूर थी। इसलिए आमतौर से हम हाथी पर चढ़ते नहीं। मगर हाथी की भूख को देख के हम भी मजबूर थे और हाथीवान से उसे रोकने की बात कहने की हिम्मत हमें न थी।

इस प्रकार चलते-चलाते एक नदी के किनारे चलने लगे। मालूम हुआ कि यह आम रास्ता फतुहा जाने का है। अब हमें यकीन हुआ कि रास्ता भूले नहीं हैं। ठीक ही जा रहे हैं। कुछ दूर यों ही चलते रहे फिर वह नदी हमें छोड़ के जाने कहाँ भाग निकली। नदियों की तो चाल ही टेढ़ी-मेढ़ी होती है। फिर उनकी किससे पटे? जो वैसी ही चाल के अभ्यासी हों वही उनके साथ निभ सकते हैं। हमें तो जल्दी थी फतुहा पहुँचने की। घड़ी पास ही थी। रह-रह के वक्त देखते जाते थे। अब हमें डर हो गया कि ट्रेन पकड़ न सकेंगे। क्योंकि अन्दाजा था कि फतुहा अभी दूर है। इतने में ही ट्रेन की रोशनी नजर आयी। हमने देखा कि पूरब से प्रच्छिम धक्धक्-चकमक करती रेलगाड़ी चलती जा रही है। उसे हमारी क्या परवाह थी। अगर उसके भीतर दिल नाम की कोई चीज होती और हमारा पता उसे होता तो शायद हमारे भीतर मचने वाले महाभारत को वह महसूस कर पाती। फिर भी हमारे लिए रुकती थोड़े ही। जो लोग समय के पाबन्द हैं और उसकी पुकार सुनते हैं वह किसी की परवाह न करके आगे बढ़ चलते हैं, बढ़ते ही जाते हैं। यही खयाल

उस समय हमारे माथे में घूम गया। अपनी विफलता में भी इतनी सफलता, यह शिक्षा हमें मिली। हमने इसी से सन्तोष किया।

हाथी चलता रहा। इतने में लाइट रेलवे की ट्रेन भी दक्षिण से आयी और चली गयी। हम टुक-टुक देखते ही रह गये। आखिर चलते-चलाते हम भी फतुहा के नजदीक पहुँचे। जब हम पक्की सड़क पर आये तो हमें दो साल पहले की एक घटना याद आयी। हमें ऐसा लगा कि फतुहा के पास हमें बराबर दिक्कतें होती हैं, खासकर हिलसा के प्रोग्राम में। दो साल पहले भी ऐसा ही हुआ था कि हिलसा में मीटिंग करके हम लोग टमटम से ही फतुहा चले थे ट्रेन पकड़ने। ट्रेन तो हमें मिली थी। मगर पास में पहुँचने पर उसी पक्की सड़क पर मरते-मरते बचे थे। बात यों हुई कि रात हो गयी थी और जिस टमटम से हम लोग आ रहे थे वह था हिलसा का ही। ज्यों ही वह उस स्थान पर पहुँचा जहाँ एक पुल है और दो सड़कें मिलती हैं त्यों ही एक बैलगाड़ी आगे मिली। टमटमवाले ने चाहा कि टमटम को बगल से निकाल दें। मगर उसके ऐसा करते ही घोड़ा पटरी के नीचे उतर गया और औंधे मुँह गिर पड़ा। असल में वहाँ सड़क के बगल में बहुत गहराई है। अगर टमटम उलटता तो हममें एक की भी जान न बच पाती। सभी खत्म हो जाते। मगर घोड़े के गिर जाने पर भी टमटम कैसे रुक गया यह अजीब बात है। हमारे साथी नीचे गिर पड़े। टमटम लटक के ही रह गया। उलटा नहीं। मगर मैं उसी पर बैठा ही रह गया। मेरे सिवाय सबों को चोट भी थोड़ी-बहुत आयी। घोड़ा तो मरी जाता अगर झटपट हम लोग टमटम से अलग उसे न कर देते और उठा न देते। खैर, वह उठाया गया और जैसे-तैसे स्टेशन के नजदीक पहुँचा। उस दिन की घटना हमें कभी नहीं भूलती। ऐसी ही घटनाएँ किसान-सभा के दौरे में दो-एक बार और भी हुई हैं। मगर इस बार की थी सबसे भयानक। हम तो बाल-बाल बचे। सो भी मुझे कुछ भी न हुआ। वही घटना हमें उस दिन स्टेशन पर फिर याद आ गयी कि हम उसी मनहूस स्थान पर पहुँच गये।

हाथी वहाँ से आगे बढ़ा और हम स्टेशन के दक्षिण रेलवे लाइन की गुमटी पर ही हाथी से उतर पड़े। हमें ऐसा मालूम हुआ कि किसी वीरान से आ रहे हैं जहाँ न रास्ता हो और न कोई सवारी-शिकारी। गाड़ी तो कभी की छूट चुकी थी। अब हमें उसकी फिक्र न थी। बल्कि इस बात की खुशी थी कि खैरियत से हम इस भयंकर यात्रा से लौट के स्टेशन तो पहुँचे। असल में एक चिन्ता के रहते ही अगर उससे भी खतरनाक बात सामने आ जाय तो चिन्ता खुद काफूर हो जाती है और नया खतरा आँखों के सामने नाचने लगता है। हमारी यही हालत हो गयी थी। हम स्टेशन पहुँचेंगे या नहीं, पहुँचेंगे भी तो कब और किस सूरत में, हाथ-पाँव टूटे होंगे, या खैरियत से होंगे, आदि बातें हमारे दिमाग में भर रही थीं। हमें फिक्र यही थी कि किसी सूरत से स्टेशन पर सकुशल पहुँच जायँ। यही वजह है कि पहुँच

जाने पर हमारी खुशी का ठिकाना न रहा।

स्टेशन पर जाने के बाद दिक्कत हुई सोने की। सोने का सामान तो पास था नहीं। वह तो ट्रेन से चला गया था। यहाँ तक कि हाथ-पाँव धोने के लिए पानी लाने का लोटा भी नहीं था। इसलिए वेटिंग रूम में चुपके से अँधेरे में ही जा पड़े। मगर थोड़ी देर बाद स्थानीय कबीर-पन्थी मठ के कुछ विद्यार्थी हमें ढूँढ़ते आये । वे महन्त के जुल्म से ऊबे थे और हमारी प्रतीक्षा में थे। ट्रेन के समय खोज के लौट गये थे। वे फिर आये और हमें अपनी जगह लिवा ले गये। उस समय हम उनकी कुछ खास मदद कर न सके। फिर भी रास्ता बता दिया। सुबह की ट्रेन से हम बिहटा चले गये।

28

किसान-सभा की स्मृतियाँ हैं तो इतनी कि पोथे लिखे जा सकते हैं। यह भी नहीं कि केवल कहानियों जैसी हैं। हरेक स्मृति मजेदार है। घटनाओं से पता चलता है कि किन-किन संकटों को, कब-कब, कैसे पार करके सभा की नींव मजबूत की गयी थी। कई बार तीन-तीन, चार-चार मील लगातार दौड़ते रह के ही किसी प्रकार सभा-स्थान में पहुँच सका, जैसा कि एक बार पटना जिले के दान्तपुर इलाके मगर पाल दियारे की रामपुर वाली सभा में हुआ था। सवारी का प्रबन्ध वे लोग न कर सके और जब देर से हम शेरपुर पहुँचे तो शाम हो चली थी। यदि कस के चार मील दौड़ते नहीं तो लोग निराश हो के चले जाते।

इसी प्रकार एक बार खटांगी में, गया जिले में, सभा करनी थी। गया से मोटर से चले। पानी पड़ चुका था। सड़क पर नई मिट्टी पड़ी थी—कच्ची सड़क नयी-नयी बनी थी। मोटर धँस जाती थी। छः मील में छः घण्टे लग गये। रात हो गयी। अन्त में मोटर छोड़ के कई मील पैदल रात में ही अन्दाज से गये। तब तक सभा से लोग चले गये थे। मगर चारों ओर पुकारते हुए लोग दौड़े और मीटिंग की तैयारी में लगे। नतीजा यह हुआ कि रास्ते से ही लोग लौट पड़े। देर से तो खटांगी से लोग चले ही थे। इसीलिए रास्ते में ही थे। सभा भी दस-ग्यारह बजे रात में जम के हुई और खूब हुई।

सबसे मजेदार बात तो मझियावाँ बकाश्त संघर्ष के वक्त हुई। मझियावाँ खटांगी से उत्तर दो-तीन मील है। दोपहर को टेकारी पहुँचे थे। वहाँ से मझियावाँ चौदह मील है। बरसात का दिन, कच्ची सड़क, सवारी आने में देर। बस, पैदल ही चल पड़े। छः-सात मील चल चुकने पर सवारी मिली। बड़ी दिक्कत से अँधेरा होते-होते मझियावाँ पहुँचे। संघर्ष चालू था। चटपट लोगों को जमा किया। मीटिंग की, और

सबों को समझा के चल पड़े। आधी रात को गया में गाड़ी पकड़नी थी। अगले दिन का प्रोग्राम फेल न हो इसीलिए ऐसा करना पड़ा। सवारी उतनी जल्दी कहाँ मिलती? पैदल ही चल पड़े। वह मामूली रास्ता नहीं है। केवाल की मिट्टी थी। पानी खूब पड़ा था। रात का वक्त था। ट्रेन पकड़ने की फिक्र थी। साथ में कुछ लोग थे। यही अच्छा था। एक टट्टू भी साथ कर दिया गया। ताकि थकने पर उस पर चढ़ लूँ। मेरी तो आदत टट्टू पर चढ़ने की नहीं। जब एक बार चढ़ा तो थोड़ी देर बाद मारे तकलीफ के उतर पड़ा। एक बजे के करीब जैसे-तैसे टेकारी पहुँचा। मोटर खड़ी थी। चढ़ के मोटर दौड़ाई। ट्रेन खुलते न खुलते दो बजे के करीब गया पहुँच के गाड़ी पकड़ी और पटना आया। खुशी इस बात से हुई कि इस परेशानी ने काम किया और मझियावाँ के किसानों ने—मर्दों से ज्यादा औरतों ने—लड़ के अमावाँ राज्य को अपनी माँगें स्वीकार करने को मजबूर किया। लाखों रुपये बकाया लगान के छूट गये और सस्ते लगान पर नीलाम जमीन वापस मिली। **मझियावाँ श्री यदुनन्दन शर्मा की जन्मभूमि है।**

लेकिन जितनी स्मृतियाँ अब तक लिपिबद्ध की जा चुकी हैं, उनसे हमारे आन्दोलन की प्रगति पर काफी प्रकाश पड़ता है और जानने वालों को मालूम हो जाता है कि यहं किसान-सभा किस ढंग से बनी है। आसाम, बंगाल, पंजाब और खानदेश आदि की यात्राओं से इन्हीं बातों पर प्रकाश पड़ता है। उनका वर्णन स्थानान्तर में है भी। इसीलिए यहाँ लिखना आवश्यक समझा नहीं गया है। बिना खास जरूरत के पुनरुक्ति ठीक नहीं। इसीलिए चलते-चलाते एक मजेदार और महत्त्वपूर्ण घटना का जिक्र करके इसे समाप्त करना चाहता हूँ। वह घटना बहुत पुरानी नहीं है। बल्कि यूरोपीय युद्ध छिड़ जाने के बाद की है। अब तक मेरे साथ मिल के जिन लोगों ने किसान-सभा और किसान-आन्दोलन के चलाने की खास तौर से बिहार में और दूसरी जगह भी जिम्मेदारी ली थी उनकी मनोवृत्ति पर इस घटना से काफी प्रकाश पड़ता है। किसान-आन्दोलन को आगे ठीक रास्ते पर चलाने वालों के लिए इस बात का जान लेना निहायत ही जरूरी है। नहीं तो वे लोग धोखे में पड़ सकते हैं, गुमराह हो सकते हैं। असल में मुझे खुद इन बातों को समझने में कम से कम आधे दर्जन साल लग गये हैं तब कहीं इन्हें बखूबी समझ पाया हूँ। इसीलिए दूसरों के सामने इन्हें रख देना मुनासिब समझता हूँ। ताकि उन्हें भी आधे या एक दर्जन साल इनकी जानकारी के लिए गुजारने न पड़ें। यह पहले ही कह देना चाहता हूँ कि किसी का नाम न लूँगा। मुझे यह बात लाभकारी नहीं जँचती है।

जब कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने अपनी अहिंसा का जामा उतार फेंका और गांधी जी को सलाम करके यह फैसला सन् 1940 के मध्य में कर लिया कि यदि

---

* 'मेरा जीवन संघर्ष' में स्वामीजी ने जयप्रकाश नारायण का नाम लिया है—सम्पादक)

अंग्रेजी सरकार भारत में भी राष्ट्रीय सरकार (Natioal Governmeat) बना दे और यह घोषित कर दे कि भारत को पूर्ण आजादी का हक है तो कांग्रेस इस यूरोपीय लड़ाई की सफलता के लिए मदद करेगी। गोकि प्रस्ताव के शब्द कुछ गोल-मटोल और वकालती थे। फिर भी राष्ट्रपति और दूसरे जिम्मेदार नेताओं के वक्तव्यों से उनका आशय यही निकला। ठीक उस समय जेल में हमारे साथ ही रहने वाले कुछ सोशलिस्ट नेताओं को एक नयी पार्टी बनाने की सूझी। इसके लिए उनने लम्बी-चौड़ी दलीलें दीं। और उनके आधार पर एक कार्य-पद्धति भी तैयार की। उनने यह भी साफ-साफ स्वीकार किया कि अब कांग्रेस एक प्रकार से खत्म हो गयी। अब वह आजादी के लिए नहीं लड़ेगी। वह हमारे काम की अब रह नहीं गयी। गो सरकार ने फिलहाल वर्किंग कमेटी की माँग कबूल नहीं की जिससे वह दफना दी गयी है। मगर किसी भी समय वह कब्र से खोद निकाली जाकर जिलाई जा सकती है। अब कांग्रेसी नेता अंग्रेजी साम्राज्यशाही से गँठजोड़ा करके उसी के हथियारों से उठती हुई जनता को दबाना चाहते हैं। क्योंकि अब उन्हें इस मुल्क की आम जनता (Masses) से भय होने लगा है। इसलिए उनके साथ संयुक्त मोर्चे का सवाल अब रही नहीं गया।

ऐसी हालत में अब हमें क्या करना चाहिए, इसके बारे में उनने अपना निश्चित मत प्रकट किया कि अब हमें किसान-सभा को ही किसानों की राजनीतिक संस्था के रूप में संगठित करना होगा। इसी बात पर हमें पूरा जोर देना जरूरी है। साथ ही, मजदूरों के भी संगठन पर काफ़ी जोर देंगे और समय पा के इन दोनों संस्थाओं को एक सूत्र में बाँधेंगे। इस तरह जो एक सम्मिलित संस्था बनेगी वही भारत की पूर्ण आजादी के लिए लड़ेगी और उसे लायेगी भी। इसलिए अब हम लोगों की सारी शक्ति उसी ओर लगनी चाहिए। इसीलिए उनने यह भी निश्चय किया कि एकाध को छोड़ बाकी सभी वामपक्षी दलों का भी एक सम्मिलित दल बनना चाहिए। वही दल इस नये कार्यक्रम को अच्छी तरह पूरा करने में सफल होगा। सब दलों के मिल जाने से हमारी ताकत बढ़ जायगी। उन्हें इस बात का विश्वास भी था कि एक को छोड़ सभी दल मिल जायँगे।

उनने अपना यह मन्तव्य मुझसे भी प्रकट किया। मैंने भी उस पर पूरा गौर किया। लेकिन वामपक्षी कमिटी (Left consolidation committee) के इतिहास को देखकर मुझे विश्वास न था कि सबको मिला के कोई ऐसा एक दल बन सकेगा। वामपक्ष कमिटी का जितना दर्दनाक और कटु अनुभव मुझे है उतना शायद ही किसी को होगा। मैंने उसके सिलसिले में वामपक्षियों की हरकतों से ऊब के कभी-कभी रो तक दिया था। किसी का दिल उसमें लगता न था। मालूम होता था जबर्दस्ती फँसाये गये हैं। सभी भागना चाहते थे। यदि एक दल उसमें दिलचस्पी लेता तो दूसरा और भी दूर भागता था। अजीब हालत थी। पहले तो मुझे उसमें लोगों ने फँसा दिया। मगर पीछे पार्टियों के नेता इधर-उधर करने लगे। सभी भाग निकलने

का मौका देखते थे। भला फँसा के भी कोई संयुक्त दल बन सकता है?

जब मुझसे उनने राय पूछी, तो मैंने अपना पक्का खयाल कह सुनाया। मैंने कहा कि वामपक्षी दलों को एक-दूसरे पर विश्वास हई नहीं। और जब तक यह बात न हो मेल मुवाफ़िक़त कैसी? वह तो परस्पर विश्वास के आधार पर ही बन सकती और टिक सकती है। लेफ्टकंसोलिडेशन की बात मैंने उन्हें याद दिलाई और कहा कि मेरे जानते उसके विफल होने की बात वजह यही थी उस समय एक दल उसकी जरूरत समझता था तो दूसरा नहीं। अगर दो ने जरूरत समझी तो बाकियों ने नहीं। यही हालत आज है। आज आप लोग उसकी जरूरत समझते हैं सही। मगर दूसरे नहीं समझते। और जब तक सभी दल इस बात को महसूस न करेंगे कि एक पार्टी सबकों को मिलाकर बनाये बिना गुजर नहीं, तब तक कुछ होने-जाने का नहीं। तब तक आपकी यह नई पार्टी बनी नहीं सकती। मैंने यह भी कह दिया कि मैं तो अब किसी पार्टी में शामिल हो नहीं सकता। **मैंने तो यही तय कर लिया है कि किसान-सभा के अलावे और किसी पार्टी-वार्टी से नाता न रखूँगा। मैं पार्टियों की हरकतें देख के ऊब सा गया हूँ। इसलिए मैं पार्टी से अलग ही अच्छा। मिहरबानी करके मुझे बख्श दें।** इसके बाद उस समय तो मुझ पर इसके लिए जोर न दिया गया और दूसरी- दूसरी बातें होती रहीं। मगर पीछे जब तक एक बार कइयों ने मिला के फिर दबाव डालने की कोशिश की, तो मैंने धीरे से उत्तर दे दिया कि पहले और पार्टियाँ मिल लें तो देखा जायगा। अगर मैं अभी उस नयी पार्टी में शामिल हो जाऊँ तो किसान-सभा की मजबूती में बाधा होगी। क्योंकि आप लोग पार्टी की ओर से मुझ पर दबाव डालेंगे ही कि जिम्मेदार जगहों पर उसी पार्टी के आदमी किसान-सभा में रखे जायँ, और पार्टी-मेम्बर की हैसियत से मुझे यह मानना ही पड़ेगा। नतीजा यह होगा कि दूसरी पार्टियों के अच्छे से अच्छे कार्यकर्त्ताओं के साथ मैं न्याय न कर सकूँगा और वे ऊब के हमारी सभा से खामख्वाह हट जायँगे। फिर सभा मजबूत हो कैसे सकेगी? इसलिए मैं इस झमेले में नहीं पड़ता।

मगर इस आखिरी बात के पहले ही कुछ और भी बातें हुईं। नयी पार्टी के बारे में उनके दो महत्त्वपूर्ण निश्चय थे और वे थे भी कुछ ऐसे कि मैं घबराया। मुझे पता चला कि उनके वे दोनों ही निश्चय अटल से हैं। इसीलिए मुझे ज्यादा घबराहट हुई। फिर भी उन पर मैंने इसे प्रकट न किया। मैं भी चाहता था कि जरा उनके हृदय को टटोल देखूँ। उन दोनों में एक बात यह थी कि बहुत ही विश्वासपूर्वक तीन ही महीने के भीतर वे कम से कम पच्चीस हजार पक्के क्रान्तिकारियों का सुसंगठित दल तैयार करने का मंसूबा बाँध चुके थे। उनकी बातों से साफ झलकता था कि यह कोई बड़ी बात न थी। इस बारे में उनने औरों को कितनी ही दलीलें दी थीं। वह इस मामले में इतने विश्वस्त और निश्चिन्त मालूम पड़ते थे कि मुझे आश्चर्य होता था।

इसीलिए मैंने उससे दलीलें शुरू कीं। कहा कि मैं तो जिन्दगी में अभी पहली

ही बार सुनता हूँ कि तीन ही महीने में अव्वल दर्जे के क्रान्तिकारियों की पचीस हजार की संख्या में तैयारी आसानी से की जा सकती है? क्या आप इतिहास में ऐसी एक भी मिसाल पेश कर सकते हैं? कांग्रेस के चवन्नियाँ मेम्बर भी अगर हम किसानों और मजदूरों के भीतर बनाने लगें तो तीन महीने में पचीस हजार सदस्य बनाना आसान न होगा। मगर उसी मुद्दत में उन्हें संगठित भी कर देना जिससे जवाबदेही का कोई काम कर सकें, यह असम्भव सी बात है। क्रान्तिकारियों का संगठन और भेड़-बकरियों का जमावड़ा क्या दोनों एक ही बातें हैं। मुझे तो हैरत मालूम पड़ती है। किसी भी क्रान्तिकारी पार्टी में आने के लिए बरसों परीक्षा करना ही चाहिए। तभी हम मेम्बरों की असलियत और उनकी कमजोरियाँ समझ सकते हैं, उन्हें हमें बरसों सख्ती से ज़ाँचना होगा। तब कहीं कुछी लोग खरे उतर सकते हैं। यह कोई खोगीर की भर्ती तो है नहीं कि जिसे ही पाया भर्ती कर लिया।

उनसे दलीलें करने के साथ ही मेरे दिल में यह खौफ पैदा हो गया कि क्रान्ति और रेवोल्यूशन के नाम पर यह एक निहायत ही खतरनाक पार्टी बनेगी अगर उसके मेम्बर इसी ढंग से बनाये गये। मध्यम वर्ग और काम-धाम से खाली लोगों में जोई बहुत ऊँचे मनोरथ रखता होगा, जिसे ही लीडरी का नशा होगा, जोई देश-सेवा और क्रान्ति के नाम पर न सिर्फ अपनी पूजा करवाना चाहेगा, बल्कि मौज उड़ाने की फिक्र रखेगा, जोई लम्बी-लम्बी बातें हाँक के लोगों को धोखा देना चाहेगा, जिसी के भीतर कोई मजबूती न होगी, किन्तु सिर्फ देखावटी और बाहरी वेश-भूषा ही जिसकी सारी सम्पत्ति होगी ऐसे ही भयंकर और खतरनाक लोग इसमें आसानी से आ धमकेंगे, यदि उनके आराम का सामान मुहैया हो जाय। मैंने सोचा कि किसानों और मजदूरों की सेवा के नाम पर ये लोग उनके लिए प्लेग बन जायँगे। जो लोग कहीं चोरी-डकैती वग़ैरह की शरण लेते उनके लिए यह बहुत ही सुन्दर पेशा हो जायगा। हाँ, पैसे की आंसानी होना जरूरी है।

मेरी दलीलों का उन पर कुछ ज्यादा असर होता न दिखा। ऊपर से उनने सर हिलाया जरूर और कबूल किया कि यह दिक्कतें तो हैं। फिर बोले कि अच्छा देखा जायगा। उतने नहीं तो कम लोग ही मेम्बर होंगे। यह कोई जरूरी नहीं कि पचीस ही हजार खामख्वाह बनें। मैंने देखा कि मेरे विचारों का उन पर कोई असर न पड़ा। उनने केवल संख्या को ही पकड़ा है। मैं इस प्रकार की मेम्बरी की बुनियाद को ही बुरा और खतरनाक मान कर उनसे बातें करता था। मगर उनने इतना ही माना कि इतनी बड़ी तादाद शायद आसानी से मिल न सके। उनने यह गलती महसूस ही न की कि मेम्बरी वाला उनका सारा खयाल और रास्ता ही गलत है, धोखे का है। हम दोनों इस मामले में, उतनी बातचीत के बाद भी दोनों ध्रुवों पर रहे। हम दोनों की नजरें एक-दूसरे के खिलाफ थीं। उनका मेल न था। फिर भी मैंने उन्हें याद दिलाया कि ऐसे ही कच्चे मेम्बरों को लेके तो आप ही लोग अब तक झगड़ते

रहे हैं। ऐसे लोग तो बराबर बेपेंदी के लोटे की तरह कभी इधर कभी उधर लुढ़कते ही रहते हैं। कभी इस पार्टी में तो कभी उसमें जाते रहते हैं। इसी से झगड़े होते हैं कि दूसरे दल आपके मेम्बरों को फोड़ते हैं। हालाँकि इसमें भूल आप ही की है कि कच्चे लोगों को सदस्य बनाते हैं। आप खुद 'रहे बाँस न बाजे बाँसरी' क्यों नहीं करते? उनने कहा कि "हाँ, यह तो ठीक है।"

फिर उनके एक दूसरे खयाल पर भी मैंने उज्र किया। नयी पार्टी के लिए पैसे का प्रश्न था। बिना आर्थिक संकट पार किए कोई भी पार्टी चल नहीं सकती। इसीलिए उनने इस मसले का भी हल सुझाया था। मगर मैं उससे और भी चौंका। मुझे साफ मालूम हो गया कि ऐसा होने पर ऐरे-गैरे मनचले लोगों की भर्ती आसानी से हो सकेगी। आर्थिक झमेले हल हुए और पैसे की दिक्कत नहीं कि मेम्बर बनने वालों का ताँता बँधेगा। वह तो यही मजा चाहेंगे—"जो रोगी को भाये सोई वैद्य बताये" वाली बात यहाँ सोलहों आने ठीक उतरेगी।

असल में पैसा जमा करने का जो उपाय उनने सुझाया वह यह न था कि हम किसान-मजदूर जनता से थोड़ा-थोड़ा करके जमा करेंगे। इस बात का तो उनने नाम ही न लिया। बूँद-बूँद करके तालाब भरने का खयाल उन्हें रहा ही नहीं। उनके सामने लम्बे-लम्बे प्रोग्राम और खर्च के मद थे। पार्टी का प्रेस, अखबार, ऑफिस, साहित्य, दौरा वगैरह ऐसी बातें थीं जो उनके दिमाग में चक्कर काट रही थीं। और इनके लिए तो काफी पैसा चाहिए ही। मेम्बरों को भी तो आराम से रखना ही होगा। नहीं तो उनके डटने में दिक्कत का खयाल था। और पचीस हजार की तादाद भी काफी बड़ी होती। वर्तमान समय के मुताबिक उनका खर्च-वर्च भी कम नहीं ही चाहिए। चबेनी और सत्तू या सूखी रोटी खा के तो क्रान्ति हो नहीं सकती। इस प्रकार तो क्रान्तिकारी लोग गुजर कर सकते नहीं। इसलिए महीने में कई लाख रुपये उनके खर्च के ही लिए चाहिए।

यह साफ ही है कि इतना रुपया गरीब लोग दे सकते नहीं। पैसे-पैसे करके उनसे इतनी लम्बी रकम वसूल करना गैर-मुमकिन ही है। क्रान्तिकारी लोग ऐसा मामूली काम करने के लिए होते भी नहीं। उनका काम बहुत बड़ा होता है। यह तो छोटे लोगों का—मामूली वर्करों का काम होता है। इसलिए पैसा जमा करने का कोई दूसरा ही रास्ता होना चाहिए, उननें यही सोचा। बताया भी ऐसा ही। खासी रकम हाथ लगने का रास्ता ही उनने ढूँढ़ निकाला था और उसी का जिक्र मुझसे भी किया था। मैं सुनता था। साथ ही हँसता भी और घबराता भी। उनके लिए वह क्रान्ति का चाहे सुगम से भी सुगम मार्ग क्यों न हो, मगर मेरे लिए तो वह बहुत ही खतरनाक दीखा। वैसे पैसे से उनकी नयी पार्टी मठ भले ही बन जाय जहाँ मौज उड़ाने वाले ही रहते हैं। मगर मेरे जानते वह किसानों और मजदूरों की पार्टी हर्गिज नहीं बन सकती थी।

मैंने उनसे बातें शुरू कीं। मैंने कहा कि यह भी कि निराली सी बात है कि आपकी पार्टी के लिए पैसे का मुख्य जरिया किसान-मजदूर या शोषित जनता हो नहीं, किन्तु कुछ दूसरा ही हो। आपने मेम्बरों की भर्त्ती ही जो बात बताई है उससे तो स्पष्ट ही है कि केवल मध्यमवर्गीय लोग ही उसमें आयेंगे। किसान-मजदूर तो आयेंगे नहीं, शायद ही एकाध आयें तो आयें। इस प्रकार जितने नेता होंगे वह तो उनमें से आयेंगे नहीं। वह तो बाहरी ही होंगे। और पैसे की दिक्कत जब पूरी हो जाती है तब तो खामख्वाह बाहरी ही लोग रहेंगे ही। इसे कोई रोक नहीं सकता।

अब रही पैसे की बात। सो भी उस दुखिया जनता से आने वाला है नहीं जैसा कि आप ही बताते हैं। वह भी तो बाहर से ही आयेगा--बाहरी ही होगा। उसी पैसे से काम का सारा सामान मुहैया किया जायगा--पेपर, लिटरेचर, ऑफिस वगैरह। इस प्रकार आदमी, पैसा और सामान ये तीनों चीजें बाहर की ही होंगी। किसानों और मजदूरों के भीतर से तीन में एक भी चीज न होगी। हरेक लड़ाई के लिए जरूरी भी यही तीन हैं--आदमी, पैसा और सामान। और ये तीनों ही बाहर से ही मिल गये। इन्हीं से क्रान्तिकारी लड़ाई चलाई जायगी ऐसा आप कहते हैं चलाई जा सकती है और सम्भव है उसे सफलता भी मिले और क्रान्ति भी आ जाय। मगर वह क्रान्ति किसानों और मजदूरों की होगी यह समझना मेरे लिए गैर-मुमकिन है। वह तो उसी की होगी जिसके आदमी, पैसे और सामान से वह आयेगी। दूसरे के सामान से दूसरे के लिए कोई भी चीज आये यह देखा नहीं गया। फिर क्रान्ति जैसी चीज के बारे में ऐसा सोचना निरी नादानी होगी।

मैं तो यही जानता हूँ और पढ़ा भी ऐसा ही है कि **अगर किसानों और मजदूरों के हाथ में हुकूमत की बागडोर लानी है जिसे क्रान्ति कहिये या कुछ और ही कहिये, तो उन्हीं को इससे लड़ना और कट मरना होगा। जब तक उन्हीं के बीच से नेता और योद्धा पैदा न होंगे, पैदा न किये जायँगे तब तक उनका निस्तार नहीं। लड़ते तो वे हई। जेल जाते हैं, लाठी खाते हैं, गोलियों के शिकार होते हैं मगर उनके नेता बाहरी होते हैं।** उनके बीच से नहीं आते। अब तक एकाध जगह को छोड़ सर्वत्र ऐसा ही होता रहा है। नतीजा यह हुआ है कि क्रान्ति होने पर भी उन्हें कुछ हासिल नहीं हुआ है। उनकी गरीबी, लूट, परेशानी, भूख, बीमारी, निरक्षरता ज्यों की त्यों बनी रह गयी हैं। दुनियाँ की क्रान्तियाँ इस बात का सबूत हैं। फ्रांस, इंगलैण्ड, जर्मनी, अमेरिका, इटली वग़ैरह देशों में क्रान्तियाँ तो हुईं। मगर कमाने वाले सुखी होने के बजाय और भी तकलीफ में पड़ गये। गोकि लड़ने और मरने में वही आगे थे। यह क्यों हुआ। इसीलिए न, कि उन लड़ाइयों और क्रान्तियों का नेतृत्व, उसकी बागडोर दूसरे के हाथ में थी? इसलिए मैं यही मानता हूँ कि जो बाहरी नेता हैं उनका काम यही होना चाहिए कि किसानों और मजदूरों के भीतर से ही नेता पैदा कर दें। उसके बाद क्रान्ति वही ख़ुद लायेंगे। हमारा प्रधान काम क्रान्ति लाना न होकर उसके लिए

किसानों और मजदूरों के भीतर से ही नेता पैदा कर देना मात्र है। इतना कर देने के बाद उन्हीं के नेतृत्व में जो क्रान्ति होगी उसमें हम जो भी सहायता कर सकेंगे वह उचित ही होगी। मगर अपने ही नेतृत्व में क्रान्ति लाने के मर्ज से हमें सबसे पहले बरी होना होगा। यह दूसरी बात है कि किसानों और मजदूरों के भीतर से ही पैदा होने वाले नेताओं के नेतृत्व और हमारे नेतृत्व में कोई अन्तर हो—दोनों एक ही हो। यह खुशी की बात होगी। मगर नेतृत्व की जाँच की कसौटी हमारा नेतृत्व न होकर उन्हीं वाला होगा यह याद रहे। हमारे नेतृत्व से उनका नेतृत्व मिलने के बजाय उनके ही नेतृत्व से हमारा नेतृत्व मिलना चाहिए।

यही बात पैसे-रुपये की भी है। जिसे विजयी होना है उसको अपने ही पैसे रुपये से—उसी के बल पर—लड़ना होगा। तभी सफलता मिल सकती है। उधार या मँगनी की रकम से लड़ने में धोखा होगा—अगर बीच में नहीं तो जीत के बाद तो जरूर ही होगा। कहने के लिए वह जीत किसान-मजदूरों की होगी। मगर होगी वह दरअसल उन्हीं की जिनके पैसे लड़ाई में खर्च हुए हैं। पैसे वाले आदमियों को, उनके ईमान को, उनकी आत्मा को ही खरीदने की कोशिश करते हैं और आमतौर से खरीद भी लेते हैं। ऊपर से चाहे यह भले ही न मालूम हो। मगर भीतर से तो हमारी आत्मा बिक जाती ही है अगर हम दूसरों के पैसों का भरोसा करें। जबान से हम हजार इनक़िलाब और किसान-मजदूर राज्य की बातें बोलें। मगर इनमें जान नहीं होती। ये बातें कुछ कर नहीं सकतीं। दिल से हम पैसे वालों की ही जय बोलते हैं, उन्हीं की राय से, उन्हीं के इशारे पर चलते हैं जैसे मोटर का हाँकने वाला उसे अपने कब्जे में रखता है, नहीं तो वह कहीं की कहीं जा गिरेगी, किसी से लड़ जायगी। ठीक वैसे ही पैसे वाला हमें और हमारी लड़ाई को अपने काबू में ही सोलहों आने रखता है। यही वजह है कि हमारी राय में किसानों और मजदूरों की लड़ाई उन्हीं के पैसे से चलाई जानी चाहिए। उस लड़ाई के लिए असली और खासा भरोसा किसान मजदूरों के ही पैसे पर होना चाहिए। दूसरों की परवाह हर्गिज नहीं चाहिए। इतने पर भी अगर कहीं से कुछ आ जाय तो उसे खामख्वाह फेंक देने से हमारा मतलब नहीं है। मगर उस पर दारमदार होने में ही खतरा है। उधर से लापरवाही चाहिए।

सामान की भी यही बात है। खाना, कपड़ा, अखबार, साहित्य, ऑफिस वगैरह सभी चीजें जिसके हाथ में रहेंगी वही लड़ाई को चाहे जैसे चलाएगा। ये सामान लड़ाई के मूलाधार हैं, बुनियाद हैं, प्राण हैं। इसीलिए हम इनके लिए गैरों पर निर्भर कर नहीं सकते। नहीं तो ऐन मौके पर खतरा होगा, रह-रह के खतरे खड़े होते रहेंगे। जब न तब इन सामानों के जुटाने वाले नाक-भौं सिकोड़ते रहेंगे और हमसे मनमानी शर्तें करवाना खामख्वाह चाहेंगे। यही दुनियाँ का कायदा है—यही मानव-स्वभाव है। आखिर कोई दूसरा आपको पैसा क्यों देगा? या कहीं और जगह से पैसा लाने में हजार खतरे का सामना करने के बाद पैसा मिलने पर उसे हमें क्यों देगा? अपने

लिए, अपने बाल-बच्चों के लिए उसी पैसे से जमीन-जायदाद क्यों न खरीद लेगा? कोई रोजगार, व्यापार क्यों न चलायेगा? धर्म और परोपकार का नाम इस सम्बन्ध में, इस स्वार्थी और व्यवहारतः जड़वादी (materialist in practice) संसार में, लेना अपने आपको धोखा देना है, व्यावहारिकता से आँख मोड़ लेना है। झूठी कसमें खाई जाती हैं और कचहरियों में गंगा-तुलसी, कुरान-पुरान तक की शपथें जो आये दिन ली जाती हैं वह क्या धर्म और परोपकार के ही लिए? वह काम दुनियावी फायदे और जमीन-जायदाद के ही लिए किया जाता है यह कौन नहीं जानता? इसी प्रकार धर्म और परोपकार के नाम पर देने वाले धनी और चतुर आमतौर से हजार गुना फायदे को सोचकर ही देते हैं चाहे कहीं चुनाव में वोट मिलने में आसानी हो, कारबार में आसानी हो या मौके पर बड़ी जमा और बड़ा अधिकार मिल जाने में ही उससे मदद मिले। मगर यही बात होती है जरूर। वे लोग पहले से ही हिसाब-किताब लगा के और दूर तक सोच के ही इस धर्म और उपकार के काम में पड़ते हैं, यह हमें हर्गिज भूलना न चाहिए।

इसीलिए हमारा तो पक्का मन्त्र होना चाहिए कि अपने हकों के हासिल करने के लिए जो लड़ाई किसान-मजदूर लड़ना चाहते हैं उसके लिए आदमी, रुपया और सामान (Men, Money and Material) खुद जुटायें, अपने पास से ही मुहय्या करें। खुद भूखे नंगे रहके यह काम उन्हें करना ही होगा। दूसरा रास्ता है नहीं। हमें उनसे दो टूक कह देना चाहिए कि अगर वे ऐसा नहीं करते, इसके लिए तैयार नहीं हैं तो हम उनकी लड़ाई से बाजी दावा देते हैं–हम उसमें हर्गिज न पड़ेंगे। हम उनसे साफ-साफ कह दें कि इस तरह उसमें पड़ने पर तो हम उन्हें खामख्वाह धोखा देंगे, गो हमें सस्ती लीडरी जरूर ही मिल जायेगी। इतना ही नहीं, बिना किसानों के धन, जन के गैरों की आशा पर उनकी लड़ाई छेड़ने में हमें जमींदार मालदारों से सौदा करने में भी आसानी हो जायगी और हमारा अपना काम बन जायगा। मगर ऐसा घोर पाप और धोखेबाजी करने को हम तैयार नहीं।

मगर मेरी इतनी लम्बी-चौड़ी दलील और बातचीत का असर उन पर कहाँ तक पड़ा यह कहना आसान नहीं है। मुझे तो कुछ ऐसा मालूम पड़ा, लक्षण कुछ ऐसे ही दिखे कि मेरी बातों को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। मुझे खुश करने के लिए कुछ मीठी बातें जरूर कह दी गयीं। मगर उनके दिले में मेरी बात घुस न सकी ऐसी मेरी पक्की धारणा है। ऐसी बात मानने और कहने के लिए मेरे पास सबूत भी है। उनने जो कुछ निश्चय किया था वह न तो किसी के दबाव से और न झोंक में आ के। वह तो वर्षों ठण्डे दिल से सोचने-विचारने और महीनों बार-बार अपने दिल-दिमाग के मथने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे थे। यह कोई नयी बात भी नहीं थी। पढ़े-लिखे भी वह काफी हैं। इसीलिए इन बातों की पूरी जानकारी रखते हैं। ऐसी हालत में यह तो उनके दिल की आवाज थी, दिल का प्रवाह था

जो इस रूप में प्रकट हुआ था। उनके विचार की जो सरसवाही धारा थी, खयाल का जो कुदरती बहाव था वही इस तरह जाहिर हुआ था, उसी की यह शक्ल बाहर आयी थी। इन्सान के दिल-दिमाग की जैसी बनावट और तैयारी होती है वह ठीक वैसा ही सोचता है। लोगों के जो विचार और खयाल बनते-बनते पक्के होते और बाहर आते हैं वह आसानी से बदले जा नहीं सकते। फिर मेरी बातों का असर क्यों होने लगा? इतना ही नहीं। उसके बाद जो बातें उनने इधर-उधर कीं उसमें यहाँ तक कह डाला कि स्वामी जी भी हमारे साथ हैं। इस पर मैंने उलाहना भी दिया। मगर चुप्प! इतना ही नहीं। एक बार उसके बाद भी फिर ऐसा ही कह डाला।

29

अन्त में इन संस्मरणों के सम्बन्ध में दो एक बातें कह के इस लम्बी गाथा को, जिसका खात्मा होना आसान नहीं, खत्म कर देना चाहता हूँ। हो सकता है कि कभी मौका आने पर बची बचाई हजारों घटनाओं को लिपिबद्ध किया जा सके। क्योंकि वे बहुत कुछ महत्त्व रखती हैं। सबों में कुछ न कुछ खूबी है। सबकी सब किसान-आन्दोलन के किसी न किसी पहलू पर प्रकाश डालती हैं। यों तो जाने कितनी हजार मीटिंगें हो गयी हैं जो कोई खास महत्त्व नहीं रखती हैं। असल में हमारे मुल्क में यह किसानों का संगठित आन्दोलन—किसान-सभा का आन्दोलन—बिलकुल ही नया है। इसीलिए इसमें हजारों दिक्कतें आती गयी हैं। हम सभी इस मामले में एकदम नये रहे हैं—हमें इसकी कुछ भी जानकारी नहीं रही है। अनुभव के बल पर ही आगे बढ़े हैं इसीलिए मुसीबतों का सामना होना जरूरी था। दूसरे देशों के आन्दोलनों की भी हमें जानकारी विशेषरूप से थी नहीं। मोटी-मोटी बातें जहाँ-तहाँ लिखी मिलती थीं। वह भी अधूरी ही थी। आन्दोलन की प्रगति कैसे हुई, इसका पता कतई न था। कब, किन दिक्कतों का मुकाबला, किस परिस्थिति में वहाँ वालों ने कैसे किया, इसे हममें से कौन जानता था? मैंने हजार कोशिशें कीं, एतत्सम्बन्धी साहित्य ढूँढ़ने में सर मारता रहा। जाने कितने ही क्रान्तिकारी कहे जाने वालों से ऐसी किताबें बताने या देने को कहा। मगर कौन सुनता था? असल में पता भी किसे था कि वहाँ कब, क्या हुआ। इसीलिए सभी मजबूर थे। इसीलिए फूँक-फूँक के हम आगे बढ़े।

जब आज चौदह साल के बाद पीछे नजर घुमाते हैं तो हमें पता लगता है कि हम कहाँ से कहाँ चले गये। हमें यह भी आश्चर्य होता है कि हमें क्यों इतनी कम दिक्कतों और मुसीबतों से जूझना पड़ा। अनजान आदमी के रास्ते में तो पग-पग पर रोड़े अटकते हैं। सो भी किसान-आन्दोलन जैसी विकट चीज की कोशिश

में। हमारे चारों ओर विरोधियों का गुट था। सभी कमरबन्द खड़े थे कि कब मौका पायें और सारी चीज खत्म कर दें। हम तो पहले-पहल सन् 1920 ई. में कांग्रेसी राजनीति में ही आये थे। वहीं से सन् 1927 ई. में किसान-सभा बनाने की ओर झुके। मगर हमारे इस काम में कांग्रेसी साथियों ने और नेताओं ने भी, पहले तो कम पीछे ज्यादा, विरोध किया। पहले वे लोग समझी न सके कि क्या हो रहा है। इसलिए यदि किसी का विरोध भी था तो वह दबा था। पीछे तो जैसे-जैसे किसान-सभा मजबूत होती गयी वैसे-वैसे विरोध भी प्रबल होता गया। यहाँ तक कि इधर कुछ दिनों से कांग्रेस की सारी ताकत सभा के खिलाफ हो गयी। हमारे पुराने साथियों में भी बहुतेरे डूब के पानी पीने लगे। वे भी इस आन्दोलन से भयभीत हो गये। मगर हम बढ़ते ही रहे हैं और बढ़ते ही जायँगे यही विश्वास है।

अब तक जो कुछ संस्मरण लिखे गये हैं वे मधुर तो हुईं। साथ ही पढ़ने वालों के लिए आन्दोलन के भीतर झाँकी का काम देते हैं। जिन्हें कुछ भी किसान-सभा में चसका है उन्हें इनसे काफी हिम्मत और सहायता मिलेगी जिससे काम बढ़ा सकें। वे देखेंगे कि किसान-आन्दोलन कोई फूलों का ताज नहीं है। इसीलिए कमजोर लोग शुरू में ही हिचक जायँगे। यह ठीक ही है। इसमें कितना धोखा है इसकी भी जानकारी पढ़ने वालों को हुए बिना न रहेगी। इससे सच्चे और ईमानदार किसान-सेवकों को खुशी होगी और खतरे की जानकारी भी। तभी तो उससे मौके पर बच सकेंगे। अब तक तो सभा की जड़ कायम करनी थी। मगर अब उसे आगे बढ़ के असली काम करना है। इसलिए बहुत ढंग के खतरों से खामख्वाह बचना होगा। इस बात में संस्मरणों से मदद मिलेगी। गरम बातें और नरम काम का खतरा हमें अब ज्यादा है। इसलिए अभी से सजग हो जाना होगा। हमें मन भर बातें नहीं चाहिए। बल्कि बिना उन बातों के यदि केवल काम् ही हो और रत्ती भर भी हो तो कोई हर्ज नहीं। उसमें धोखा नहीं होगा। बातें तो धोखा देती हैं। किसान-सभा का पूरा इतिहास और उस सिलसिले की सारी मुसीबतें मैंने अपनी जीवनी में लिखी हैं।

अन्त में एक बात कह देनी है। हमारी आदत है तारीखें भूल जाने की। ठीक साल और तारीख याद रखी नहीं सकते। इसी तरह स्थानों के नाम भी भूल जाते हैं। ये संस्मरण इस भूल से मुक्त नहीं हो सकते। इसीलिए क्षमा चाहते हैं। हमें इस बात से थोड़ा ढाँढ़स मिला जब हमने चीन के महान् कम्युनिस्ट नेता के बारे में पढ़ा कि वे तारीखें याद रख नहीं सकते हैं। मगर क्षमा तो फिर भी हम चाहते ही हैं।

अब क्या हो?

किसानों के दावे और कार्यक्रम के खरीते

किसानों में चेतना

1. गत वर्षों ने भारतीय किसानों के भीतर दर्शनीय जागृति एवं संगठन शक्ति की असाधारण बाढ़ देखी है। यही नहीं कि उसने देश के सभी सार्वजनिक तथा जनतान्त्रिक आन्दोलनों में पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा भाग लिया है; वरन् एक श्रेणी की हैसियत से अपनी स्थिति को भी उसने समझा है। साथ ही, सामन्तशाही और साम्राज्यशाही के सम्मिलित निर्दय शोषण के मुकाबले में अपनी हस्ती कायम रखने के लिए उसने अपने जानों की बाजी लगा दी। इसीलिए उनकी वर्ग संस्थाएँ बहुत बड़ी हैं और शोषण के विरुद्ध उनके संघर्ष ऊँचे दर्जे को पहुँच गये हैं, जैसा कि उनकी देशव्यापी बहुतेरी फुटकर लड़ाइयों से स्पष्ट है। इस जागरण और इन संघर्षों के अनुभवों ने उसमें एक नवीन राजनीतिक चेतना ला दी है। वे किन ताकतों से लड़ रहे हैं इस असलियत का पता पा गये हैं। अपनी गरीबी एवं शोषण की वास्तविक दवा भी उसने जान ली है। उनकी दृष्टि अपनी प्रकृत्या अलग रहने की हालत एवं संकुचित स्थानीयता के साथ बँधी नहीं है। उनने जान लिया है कि अनेक गुप्त-प्रकट रूपों में उनके शोषण-दोहन के लिए ही जीवित तथा उसी के बल पर फलने-फूलने वाले पूँजीवाद को मिटना होगा, सो भी प्रधानतः उन्हीं के प्रयत्नों एवं कामों से ही—ऐसे कामों से जिन्हें वे देश की पूँजीवाद-विरोधी अन्यान्य शक्तियों के साथ मिलकर करेंगे। उनने यह भी महसूस किया है कि कुछ तो भूतकालिक सामन्त प्रथा के फलस्वरूप और कुछ साम्राज्यवाद एवं पूँजीवाद के गठबन्धन के द्वारा जानबूझकर किये गये प्रयत्नों के चलते दोहन की ऐसी प्रथा पैदा हो गयी है जिसने उन्हें गुलाम एवं दरिद्र बना डाला है। उसे भी मिटाना होगा। फलतः वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि हमारी आये दिन की लड़ाइयों का लाजिमी तनीजा होगा स्वयं पूँजीवाद के ऊपर जबर्दस्त क्रान्तिकारी धावा तथा उसके फलस्वरूप उसका सत्यानाश। इस प्रकार के वे शासन-सत्ता को हथियायेंगे जिससे उन्हें जमीन मिलेगी, कर्ज के भार से फुर्सत होगी, शोषण उनका पिण्ड छोड़ेगा और उनके परिश्रम के फलों का पूर्ण उपभोग उनके लिए निरबाध होगा। यह पहली बात है।

2. दूसरी यह है कि हाल के वर्षों में प्रान्तीय सरकारों की ओर से किसानों को नाममात्र की सुविधाएँ देने का मायाजाल रचा गया है। इन सुविधाओं के ज्वलन्त खोखलेपन ने, इन्हें प्राप्त करने में होने वाली जबर्दस्त दिक्कतों ने और कृषि सम्बन्धी किसी भी बुनियादी सवाल को हल करने में प्रान्तीय सरकारों की प्रकट असमर्थता ने इस तथाकथित स्वराज्य का पर्दाफाश भलीभाँति कर दिया है। इससे किसानों की यह धारणा और भी जबर्दस्त हो गयी है कि वर्तमान आर्थिक तथा राजनीतिक प्रथा को मिटाकर उसकी जगह ऐसी प्रणाली को ला बिठाना होगा जिसका विधान स्वयं जनता ऐसे प्रतिनिधियों के द्वारा तैयार करेंगी जिनका चुनाव व्यापक बालिग मताधिकार के आधार पर होगा। यही तो किसान-मजदूरों का पंचायती राज्य होगा जिसमें सब कुछ करने-धरने की शक्ति सम्पत्ति को उत्पादन करने वाली जनता के हाथों में होगी। इस प्रकार संयुक्त किसान-सभा को कहने का गर्व है कि जमींदारों एवं पूँजीपतियों के सम्मिलित शोषणों से अपने आप को मुक्त करने तथा उसके लिए अपेक्षित बलिदान के लिए आज भारतीय किसानों का दृढ़ संकल्प पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा है।

किसान-मजूरों का मेल

3. सभा को यह उल्लेख करने में खुशी है कि मुल्क में और बाहर दूसरी भी जबर्दस्त शक्तियाँ और बातें हैं जो न सिर्फ किसानों को बल्कि भारतीय जनता को भी इन्हीं एवं ऐसे ही लक्ष्यों की ओर तेजी से खींच रही हैं। युद्ध में किसानों के साथी और क्रान्ति के अग्रदूत जो कारखानों के मजूर हैं उनके संगठन और संघर्ष उस हद्द को पहुँच गये हैं जहाँ पहले कभी पहुँचे न थे। मजूरों के संगठन आन्दोलन में ज्यादा ताकत आयी है और मजूरों की राजनीतिक चेतना बढ़ी है। सभा चाहती है कि मजूरों और किसानों के संगठनों एवं आन्दोलनों के बीच निकटतर सम्बन्ध की लड़ी जुटें। इसलिए यह अखिल भारतीय संयुक्त किसान कमिटी को आदेश देती है कि एतदर्थ उचित कार्यवाही करे। साथ ही मुल्क में मजूर आन्दोलन की इस बढ़ती हुई शक्ति को छिन्न-भिन्न करने के लिए भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा दूसरे भेदकारी लोग जो कुचक्र चला रहे हैं उसकी भर्त्सना यह सभा करती है।

रियासती जनता का संघर्ष

4. भारतीय जन समूह का तृतीयांश मुद्दत से रियासतों के द्वारा बलात् उन पर लादे गये पिछड़ेपन के नीचे संघर्ष करता आ रहा है। देश में जनतन्त्र के आन्दोलन के फलस्वरूप और इधर आकर आमतौर से किसान-आन्दोलन और विशेषतः किसानों के जागरण के चलते भी रियासतों की जनता में हाल में अपूर्व जागृति हुई है। रियासती जनता का संघर्ष भी अधिकांश में किसानों का ही संग्राम है। जो न सिर्फ नागरिक एवं राजनीतिक हकों तथा आजादियों के लिए किया जा रहा है, बल्कि आर्थिक

छुटकारे-मुक्ति—के लिए भी। इसलिए इस बात का उल्लेख करने में खुशी होती है कि रियासतों की पीड़ित जनता भी अपने आप को समझने लगी है और इस प्रकार शेष भारत के साथ अपनी मैत्री की जबर्दस्त शृंखला जोड़ रही है। भारत की करोड़ों श्रमजीवी जनता के उद्धार के लिए जो संग्राम माथे पर मँडरा रहा है उसमें यह मैत्री एक निराला भाग लेगी।

जनता में हलचल

5. इसके सिवा मुल्क में एक व्यापक जागरण है—युवकों, छात्रों, स्त्रियों और दूसरे लोगों में—और सभी क्रियाशील हैं, संगठित हो रहे हैं, संघर्षपरायण हैं। सबों की दृष्टि एक ही दिशा में लगी है कि समस्त सत्ता और अधिकार उत्पादन करने वाले जन समूह के हाथों में आ जाय और इस प्रकार वह जनता अपने लक्ष्य और भविष्य, जीवन के बारे में निर्णय एवं कार्य करने में पूर्ण स्वतन्त्र हो जाय।

किसान-सभा का लक्ष्य और काम

6. भारत में समाजवादी गणतान्त्रिक राज्यों का ऐसा संघ स्थापित करना जिसमें सारी सत्ता श्रमजीवी शोषित जनता के हाथों में हो और इस तरह किसानों को आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा दूसरे शोषणों से पूर्ण छुटकारा दिलाना संयुक्त किसान आन्दोलन का लक्ष्य है।

7. संयुक्त किसान आन्दोलन का प्रधान काम है किसानों को संगठित करना ताकि वे अपनी तात्कालिक आर्थिक एवं राजनीतिक माँगों के लिए लड़ें और इस तरह श्रमजीवियों को हर तरह के शोषणों से छुटकारा दिलाने की अन्तिम लड़ाई के लिए वे तैयार किये जायँ।

8. किसान-मजूर (मजूर-किसान) राज्य की स्थापना के लिए होने वाली घमासान में सक्रिय भाग तथा नेतृत्व के द्वारा उत्पादनकारी जनता के हाथों में सर्वोपरि आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता सौंपने के लिए संयुक्त किसान आन्दोलन कृत प्रतिज्ञ है।

किसानों का कार्यक्रम अनिवार्य राष्ट्रीय कार्यक्रम है

9. भारत के आर्थिक जीवन का ज्वलन्त तथ्य है अपार किसान जनसमूह की अत्यन्त विपन्नावस्था एवं दलनकारी गरीबी—उस जन समूह की जो हमारी जनसंख्या का 80 प्रतिशत है। फलतः कोई भी राजनीतिक या आर्थिक कार्यक्रम जो इन किसानों की जरूरतों तथा माँगों को भुलाने की धृष्टता करता है किसी भी खयाली दौड़ से राष्ट्रीय कार्यक्रम कहा नहीं जा सकता है। किसी संस्था को, जो भारतीय जनता के **प्रतिनिधित्व** का दावा करती है, दिवालिये एवं अत्यन्त शोषित किसानों—रैयतों, टेनेन्टों तथा खेत-मजदूरों—के स्वार्थों को अपने कार्यक्रम में अग्रस्थान देना ही होगा, यदि

उसे अपने दावे को सत्य सिद्ध करना है।

किसान उपेक्षित दल है

10. भारतीय किसानों की भयंकर दशा ऐसी है कि उसे दुहराने की जरूरत नहीं है। जमींदार, ताल्लुकेदार, मालगुजार, इनामदार, जन्मी, खोत, पवाईदार तथा अन्य भूस्वामी एवं मध्यवर्त्ती लोग किसानों को हजारों तरह से सताते रहते हैं। भूस्वामी किसानों के कन्धे पर अखरने वाली मालगुजारी की प्रणाली का जुआ लदा हुआ है। खेत-मजूर अगर कुछ मजूरी पाते भी हैं तो वह पेट भरने के लिए पूरी नहीं होती। उन्हें गुलामों की सी दशा में रहना और काम करना पड़ता है। वे उन कानूनों से प्रायः वंचित ही रखे गये हैं जो उनकी दशा कुछ सुधार सकते थे और जिन्हें व्यवस्थापक सभाएँ इस मुद्दत के दरम्यान पास कर सकती थीं। इसका कारण सिर्फ यही है कि व्यवस्थापकों ने अब तक यह माना ही नहीं है कि किसानों को सन्तुष्ट करना उनका फर्ज है। यह भी इसीलिए कि इस देश में खुद राष्ट्रीय राजनीतिक आन्दोलन ने किसानों की बुनियादी और तात्कालिक समस्याओं से कोई ताल्लुक ही नहीं रखा है।

कांग्रेस सरकार ने आशा पर पानी फेरा

11. किसानों की वर्तमान दुर्दशा का मौलिक कारण है जमीन के बन्दोबस्त, मालगुजारी और कर्ज देने की प्रणाली और यह चीज और कुछ नहीं है। सिवाय उस तरकीब के जिसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने मुकम्मल बनाया है और जिसके द्वारा किसानों को सीधे न मार कर ज्यादे से ज्यादा उनसे चूसा जाय। इसीलिए स्वभावतः किसानों ने आशा की थी कि कोई भी जनतान्त्रिक सरकार, जिससे किसानों की भक्ति का दावा होगा, इस बन्दोबस्त तथा ऋण के आदान-प्रदान की प्रणाली को मौका पाते ही फौरन खत्म कर देगी।

12. 15 अगस्त, 1947 को राष्ट्रीय नेताओं को जब राजनीतिक सत्ता हस्तान्तरित की गयी तो किसानों में बड़ी आशाएँ बँधीं। उसने उम्मीद की कि ब्रिटिश राज्य की जगह जो कांग्रेस की सरकार बनी है वह हमारे शोषकों से हमारे स्वार्थों को बचायेगी। उनने उमंग पूर्वक आशा की कि यह सरकार जमींदारी, अन्यान्य भूस्वामित्व की प्रथाओं एवं मध्यवर्त्ती दलों को जल्द मिटा देगी जिसकी प्रतिज्ञा कांग्रेस की चुनाव घोषणा में की गयी थी। वे सोच रहे थे कि लगान, मालगुजारी तथा कर्ज देने की मनहूस प्रणाली को यह सरकार किसी भी क्षण मिटा देगी। उन्हें विश्वास था कि अब हमीं जमीन के मालिक होंगे और यही नहीं कि खेती-बाड़ी के सुधरे हुए उत्तम तरीकों के लिए यह सरकार हमें सारी सुविधाएँ देगी और इस तरह हम सहयोगमूलक खेती भी कर सकेंगे; प्रत्युत यह ऐलान कर देगी कि जमीन और उसकी उपज सबसे पहले किसान के परिवार तथा आश्रितों के उत्तम भरण-पोषण में ही लगेगी और

इस प्रकार वर्तमान रैयतवारी इलाकों के किसानों की भी दशा अच्छी होगी।

13. लेकिन अब उनकी आँखें खुलने लगी हैं। 15 अगस्त को जो शासन व्यवस्था कायम हुई उसमें उनका विश्वास घटने लगा है। प्रान्तों एवं केन्द्र में जो कांग्रेसी सरकारें हैं वह किसानों तथा शोषित जनसमूह के स्वार्थों की रक्षा करना तो रहा, उनके शोषकों के पक्ष की वकालत करने और बचाने में लगी हैं। यद्यपि वे गत कई सालों से शासनारूढ़ हैं, फिर भी जमींदारी तथा मध्यवर्त्ती स्वार्थों एवं लगान, मालगुजारी और ऋणदान के सड़े-गले और पुराने तरीकों को मिटाने और उनके स्थान पर नयी सामयिक प्रणाली को कायम करने की योजनाओं पर उनने पानी फेर दिया है। उनने बहुत विलम्ब के बाद अन्यमनस्कता के साथ जो कृषिसुधार समिति और उसी तरह की दूसरी समितियाँ कायम की है और जो कछुवे की चाल से काम कर रही है वही इस बात का पक्का प्रमाण है, अगर प्रमाण की जरूरत समझी जाय। इसीलिए समय-समय पर समाचार-पत्रों के द्वारा तथा प्रकारान्तर से जो ऐलान होते रहते हैं कि मुआविजा देकर जमींदारी मिटाने के अमुक-अमुक प्रस्ताव एवं कार्यविधियाँ प्रान्तीय सरकारों के विचाराधीन हैं वे किसानों को घपले में रखने की सिर्फ चालें हैं। इस प्रकार अपने शोषक जमींदारों को मुआविजे की भारी रकम देने के लिए किसानों के दिमाग को तैयार भी किया जाता है।

14. चन्द प्रान्तीय सरकारों ने किसानों के लिए मरहम-पट्टी के जो दो-चार काम किये और कानून बनाये हैं वे एक तो विविध दोषपूर्ण हैं। दूसरे अन्ततोगत्वा वे धोखे की टट्टी सिद्ध हुए हैं। उन कामों और कानूनों ने एक ओर तो निहायत खर्चीली कचहरियों में किसानों को बलात् घसीटकर बर्बाद किया है। दूसरी ओर आखिरकार उन्हें वहाँ भी हरा दिया है। इसके फलस्वरूप किसानों के वर्ग शत्रुओं की हिम्मत बढ़ी है।

15. तिस पर भी जले पर नमक डालने के लिए प्रान्तीय सरकारों ने विभिन्न दमनकारी तरीकों का सहारा लिया है। दृष्टान्त के लिए किसान-सभाओं, राजनीतिक दलों और कमिटियों को गैर-कानूनी करार देना, किसान नेताओं की धर-पकड़, मीटिंगों तथा प्रदर्शनों पर प्रतिबन्ध, शान्त किसानों पर लाठीचार्ज और गोली दागना, उनको और उनके नेताओं को जेल में देना तथा नजरबन्द करना। इन सब बातों का नतीजा यह हुआ है कि किसानों एवं जनसाधारण की नागरिक स्वतन्त्रता छिन गयी है। और इस तरह किसी भी जनप्रिय सरकार की बुनियाद ही हिला दी गयी है। कांग्रेसी सरकारों के भीतर स्थिर स्वार्थवालों का प्रभाव कितना बढ़ रहा है और कांग्रेस एवं उसकी सरकारें किस और जा रही हैं इसका पक्का प्रमाण ये ऊपर लिखी बातें हैं।

किसान-मजूर राज्य क्यों?

16. यह सब कुछ मिटा देना होगा। मौजूदा शासन-प्रणाली के भीतर हमारा लक्ष्य

प्राप्त नहीं हो सकता। फिर भी, यदि किसानों को बर्बादी से बचना है तो उन्हें अपने लक्ष्य के लिए लड़ना और उसे प्राप्त करना ही होगा। यदि शासन-प्रणाली उनके रास्ते का रोड़ा बनती है जैसा कि वर्तमान प्रणाली बेशक है, तो इसे मिट जाना ही होगा। इसी तरह किसानों की लड़ाई किसान-मजूर (मजूर-किसान) राज्य की लड़ाई परिणत हो जाती और मिल जाती है। यही कारण है कि संयुक्त किसान-सभा ने किसान-मजूर (मजूर-किसान) राज्य की स्थापना के सम्बन्ध में अपने संकल्प की घोषणा की है। इसी ढंग से किसान आन्दोलन समाजवादी आन्दोलन का प्रधान अंग बन जाता है।

17. ऐसी परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि अब राजनीतिक आन्दोलन के भीतर आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र भी लाये जायँ और उसे इस देश में इस तरह विकसित किया जाय कि मजूरों और किसानों से इसे शक्ति और स्फूर्ति मिले। उन सभी बाधाओं को मिटाने की भी कोशिश इसे करनी होगी जो देश की सम्पत्ति के उत्पादक जन समूह की भरपूर भलाई की ओर ले जाने वाले सच्चे और स्थिर साधनों और कामों के रास्ते में आ खड़ी होती हैं। खेत और रोटी के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाई का अटूट सम्बन्ध किसान-मजूर (मजूर-किसान) राज्य सम्बन्धी उनकी लड़ाई से है।

संघर्ष करने का मार्ग

18. संयुक्त किसान-सभा के मानी हैं किसानों का एका। जो ताकतें किसानों को विपदा एवं दरिद्रता की गहराई में बेरहमी से घसींट रही है उनको परास्त करने के लिए सभी किसानों को मिल जाना होगा। किसान-सभा किसानों के संगठन के द्वारा उन्हें अपने पाँवों पर खड़ा करके किसानों को सिर्फ इस योग्य नहीं बनाती कि वे जमींदारों, मालमुहकमे के अफसरों, साहूकारों तथा उनके दलालों के हाथों होने वाली हजारों परेशानियों एवं जबर्दस्ती के व्यवहारों को मिटा दें, वरन् भारत में समाजवादी प्रजासत्तात्मक राष्ट्रों के संघ शासन की स्थापना रूपी उनके अन्तिम लक्ष्य की ओर बहुत ज्यादा उन्हें अग्रसर करती है। और इस प्रकार उस लक्ष्य की प्राप्ति के आन्दोलन को इतना दृढ़ करती है जितना और कुछ कर नहीं सकता।

19. सौभाग्य से देश में सर्वत्र किसान अपनी मौलिक समस्याओं के बारे में राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से अधिकाधिक जानकार होते जा रहे हैं। किसानों के इसी जागरण का प्रतीक यह अखिल भारतीय संयुक्त किसान-सभा है। उनने समझ लिया है कि यदि हमें अपने लक्ष्य की ओर मुस्तैदी से बढ़ना है तो अपना जुझारू वर्ग संगठन तैयार करना ही होगा। किसान-सभा केवल रैयतों, काश्तकारों और भूमिहीन मजूरों का ही प्रतिनिधित्व नहीं करती, किन्तु बहुत जगहों में टुँटपुँजिये भूमिपतियों अर्थात् भूस्वामी किसानों की भी नुमायन्दगी करती है। शब्दान्तर में यह सभा उन

सबों का प्रतिनिधित्व करती, उनके बारे में बोलती और उनके लिए लड़ती है जो जमीन पर कमाई करके खेती से जीविका चलाते हैं। पूँजीवाद, जमींदारी प्रथा और महाजनों ने जो जंजीरें उन पर कस रखी हैं उन्हें तोड़ने के लिए किसानों के इन विभिन्न दलों को परस्पर मिल जाना और लड़ना होगा। संक्षेप में उन्हें पूर्ण राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए युद्ध करना होगा जमींदारों तथा पूँजीपतियों के भारत का स्थान वह भारत लेगा जिसमें सारी शक्ति श्रमजीवी जनसमूह के हाथों में होगी। ऐसे भारत की स्थापना के लिए जो संघर्ष होगा यह अन्यान्य बातों के अलावे भारत के किसानों के अभाव अभियोगों एवं माँगों पर आधारित कार्यक्रम की बुनियाद पर ही सफलता से चलाया जा सकता है।

20. इन बुनियादी परिवर्तनों के लिए चालू लड़ाई के दौरान में ही किसानों को उन बातों के लिए भी जूझना होगा जो वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के भीतर प्राप्त की जा सकती हैं। सिर्फ इसी ढंग से वे अपने आपको बड़ी जुझार के लिए तैयार कर सकते हैं जिसे उन्हें अपने दिमागों में हमेशा रखना होगा।

दो मोर्चे की लड़ाई

21. अब हमारे सामने जो प्रश्न आ खड़े होते हैं वे हैं; यह कैसे हो? हम अपने संगठित आन्दोलन को कैसे दृढ़ करें और इस तरह किसानों को अन्तिम आक्रमण के लिए तैयार करें? राजनीतिक सत्ता को हथियाने के लिए दिमागी तौर पर तैयार करने के साथ ही वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के भीतर मिल सकने वाली थोड़ी-बहुत सुविधाएँ किसानों को कैसे दिलाई जायँ? उनमें वर्गचेतना कैसे लाई जाय?

22. दो मोर्चे हैं जिन पर हमारा संघर्ष अविराम रूप से चालू रखना होगा। एक ओर तो पार्लिमेण्टरी (वैधानिक) कार्यक्रम और हलचलें हैं जो स्थिर स्वार्थ एवं प्रतिक्रिया के दुर्ग पर निर्णायक धावा बोलने के लिए किसानों को बहुत कुछ तैयार कर सकती हैं, बशर्ते कि वे परिक्षित एवं विश्वसनीय नेताओं के द्वारा क्रान्तिकारी दृष्टि से चलाई जायँ। इन हलचलों से यही नहीं होता कि किसानों को समय-समय पर सहायता एवं सुविधाएँ मिली जाती हैं, फिर चाहे वह कितनी ही अल्प क्यों न हों। किन्तु एक ओर तो इनके चलते देश के कर्णधारों और उनकी सरकार का भण्डाफोड़ होता है। दूसरी ओर धीरे-धीरे किसानों को यकीन हो जाता है कि वैधानिक संघर्ष तथा तरीके केवल धोके की टट्टी हैं। बेशक यह अन्तिम बात तभी होती है जब पार्लिमेण्ट के भीतर की लड़ाई बाहर की प्रत्यक्ष लड़ाइयों के साथ-साथ चलती है। वस्तुतः जनता के छुटकारे के लिए बाहरी हलचलों पर ही निर्भर किया जा सकता है, करना होगा। वैधानिक संघर्ष सिर्फ उन्हीं के सहायक होते हैं। बेशक ये बाहरी एवं अवैधानिक हलचलें किसानों के एकमात्र वर्ग संघर्ष ही तो हैं।

वर्ग संघर्ष क्यों?

23. 15 अगस्त 1947 को मुल्क को राजनीतिक स्वतन्त्रता मिल चुकने और इसीलिए राष्ट्रीयता को आमतौर से अब तक जैसा समझा तथा भारत में उसका प्रयोग किया जाता था उसकी वह आकर्षक शक्ति, जो वर्ग संघर्षों के रोकने का काम करती थी, खत्म हो जाने के कारण अब समय आ गया है कि वर्ग संघर्ष निराबाध रूप से विकसित किये एवं चलाये जायँ। जब तक नव प्राप्त आजादी का दायरा इस तरह बढ़ाया नहीं जाय कि उसके भीतर आर्थिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता भी आ जाय और इस तरह वह ऐसी बन जाय कि उसे जन साधारण एवं धनोत्पादक जनता बखूबी महसूस कर सके तब तक किसी भी तरह यह आजादी उनकी नहीं बन सकती और न वास्तविक तथा प्रभावशाली बनायी जाने के लिए उनके दैनिक जीवन में इसका प्रयोग ही हो सकता है। खोखली राजनीतिक स्वतन्त्रता न तो किसानों का और न संयुक्त किसान-सभा का ही लक्ष्य है। स्वभावतः ही यह स्वयमेव लक्ष्य बनने लायक किसी भी तरह नहीं है। यह तो एक लक्ष्य का साधन मात्र है और वह लक्ष्य है समाज में मनुष्य के हाथों मनुष्य के शोषण का निर्मूलन और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के सर्वांगीण विकास एवं पूर्ण उन्नति के सभी साधनों को उसके लिए सुलभ बनाना।

24. महामना लेनिन के शब्दों में अन्धविश्वास एक ऐसा बद्धमूल तथा पुराना रोग है जिसने जन समूह को ग्रस रखा है। यह एक नियम सा है कि जनसाधारण मध्यम वर्गीयों के नेतृत्व एवं संगठन में इसलिए विश्वास करते हैं कि वे मध्यवर्गीय देश के लिए कष्ट सहते हैं। यही कारण है कि इनकी लम्बी डींगों तथा नकली आँसुओं, जिन्हें ये यह कह कर बहाते हैं कि उफ, जनता कितनी मुसीबतों एवं विपदाओं में पड़ी कराह रही है, के करते ये जनसाधारण ठगे जाते हैं। ये जन समूह एक क्षण के लिए भी यह सोचने-विचारने तथा विश्लेषण का कष्ट नहीं करते कि आखिर ये नेता किस वर्ग के हैं, उनकी संस्था भी किस श्रेणी की है और उनका मेलजोल किस आर्थिक वर्ग के साथ है; हालाँकि यह ठोस बात है कि हरेक व्यक्ति किसी-न-किसी वर्ग के स्वार्थ का प्रतिनिधित्व करता ही और इसीलिए उसकी रक्षा के लिए संगठन भी बनाता ही है, और कोई भी शख्स न तो तटस्थ रह सकता और न एक से अधिक आर्थिक वर्गों के स्वार्थों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। हकीकत तो यह है—कितना अनर्थ है—कि जनता इस विश्लेषण-विवेचन की जरूरत महसूस करती ही नहीं। प्रत्युत अपनी नादानी से उसकी यह धारणा होती है कि ये सभी लोग एवं संगठन ऐसे हो सकते हैं जो न तो उसमें से हैं और न उसके अपने हैं; फिर भी उसका प्रतिनिधित्व एवं उसकें स्वार्थों की रक्षा कर सकते हैं! किसानों तथा मजूरों की जो कानूनी लूट अविराम चालू है और फलस्वरूप उन पर जो विपदाएँ आती रहती हैं उनके मूल में यही भयंकर अनर्थकारी नादानी और अन्धविश्वास है। उनकी इस बीमारी को

हटाना होगा और सिर्फ वर्ग संघर्ष ही इसकी रामबाण दवा है।

25. इसके सिवाय जिन परिस्थितियों एवं भौतिक दशाओं में वह रहता है उनके चलते और स्वभाव से भी किसान व्यक्तिवादी होता है और सदा डेढ़ चावल की अपनी खिचड़ी ही पकाता रहता है। महाशय बुखारिन के शब्दों में वह एक श्रेणी के रूप में "अपने नन्हें से खेत से आगे देख सकता ही नहीं।" यदि हम चाहते हैं कि दृढ़ता के साथ आसन जमाये बैठे स्थिर स्वार्थों पर सुसंयोजित तथा सुसंगठित आक्रमण करके उसे विजयी बनायें तो आवश्यक रूप में किसानों की व्यक्तिवादिता और इसे अलग ही रहने की मनोवृत्ति को निर्मूल करना ही होगा। एतदर्थ किसान समुदाय में वर्ग भावना लानी होगी जिसे वर्ग संघर्ष आसानी से पैदा कर देगा।

26. सरकार के सम्बन्ध में साधारण मनुष्यों का खयाल है कि विशुद्ध न्याय तथा उचित व्यवहार के लिए बनी यह एक तटस्थ संस्था है। इसीलिए उन्हें यह विश्वास रहता है कि सरकार उनके साथ न्याय करेगी ही। लेकिन सत्य तो इसके विपरीत है। पूँजीवादी अथवा सामन्तवादी समाज की सरकार शोषक दल के द्वारा चालाकी से तैयार किया गया ऐसा यन्त्र है जो धन पैदा करने वालों को दबाकर सदा मातहती में रखे, जिससे वे उस दल का कुछ बिगाड़ न सके। किसानों एवं जनसाधारण के भीतर सरकार के सम्बन्ध में जो यह भ्रान्त धारणा है वह उन्हें व्यक्तिवादी तथा अलग ही रहने वाले बना देती है। इसीलिए जरूरत है कि वर्ग-संघर्ष के द्वारा वह उनके दिमाग से निकाल दी जाय। ये वर्ग संघर्ष सरकार को विवश करते हैं कि उसका बुर्का उतर जाय, वह शोषकों का खुल के पक्ष ले और इस प्रकार अपना श्रेणी समर्थक रूप प्रकट करके जनता को झलका दे कि उसकी असलियत क्या है।

27. इसके अलावा ये वर्ग संघर्ष किसानों तथा मिहनतकश जनता को विवश करते हैं कि वह महसूस करे कि उनकी अकर्मण्यता एवं व्यक्तिवादिता में कितने बड़े खतरे हैं। पीड़ित जनता को विभिन्न स्तरों के बीच सहयोग की जो नितान्त आवश्यकता है उसे भी ये संघर्ष महसूस करवाते हैं जो बात दूसरी तरह हो नहीं सकती। यही तरीका है जिससे इन पीड़ितों का जबर्दस्त संयुक्त मोर्चा बनाया जा सकता है।

किसानों के दावे का खरीता

28. परन्तु वह संघर्ष और वह युद्ध किसानों की खास जरूरतों एवं दावों-माँगों पर आधारित होना चाहिए। इसलिए उसी दृष्टि से किसानों के दावों का निम्नलिखित खरीते स्वीकृत किये जाते हैं। प्रान्तीय संयुक्त किसान-सभाओं को हक होगा कि अपनी स्थानीय आवश्यकताओं के दावों को भी इनमें जोड़ दें—

(1) क्योंकि जमींदारी (यू.पी., उत्कल, बंगाल, बिहार, मद्रास, आसाम) तालुकेदारी (यू. पी., गुजरात), मालगुजारी (मध्य प्रान्त), इस्तिमरारदारी (अजमेर,)

खोती (दक्षिण), जन्मी (मालाबार), इनामदारी, पबाईदारी, जागीरदारी, आदि वर्तमान प्रथाएँ मध्यवर्तियों (जो खुद खेती नहीं करते) के हाथों में बहुत अधिक जमीनों का स्वामित्व लगान की भारी रकम की वसूली तथा उसके उपभोग का अधिकार देती हैं—उन्हीं मध्यवर्त्तियों के हाथों में जिन्हें ब्रिटिश सरकार ने भारत में बनाया और पाला-पोसा और इसीलिए ये प्रथाएँ किसानों के लिए अन्यायपूर्ण, अनुचित, भार तथा उत्पीड़क हैं, भूमि की पूरी पैदावार एवं तन्मूलक राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि के मार्ग में रोड़े हैं और इसी के साथ-साथ पूर्ण आर्थिक तथा राजनीतिक प्रगति में मुल्क के लिए जबर्दस्त बाधा स्वरूप है; साथ ही ये जमींदार वगैरा बहुत ही खतरनाक जोंक हैं जो करोड़ों किसानों से अत्यधिक लगान लेने और उन्हें सताने के साथ-साथ सिंचाई के साधनों को दुरुस्त नहीं रखते तथा खेती में सहायता देने या उपज बढ़ाने के लिए भी कुछ नहीं करते; इसलिए जमींदारी की ये सभी प्रथाएँ तथा जमीन के ऊपर जो भी मध्यवर्ती स्वार्थ हैं सबके सब बिना मुआविजा दिये ही फौरन मिटा दिये जायँगे, सभी जमीनों पर असली एवं जोतने कोड़ने वालों का अधिकार होगा और उन्हें क्रमिक वृद्धिशील कृषि आयकर देना पड़ेगा।

(2) क्योंकि मालगुजारी वसूली एवं जमीन के बन्दोबस्त के वर्तमान तरीके जिन्हें सरकार के रैयतवारी इलाकों में जारी कर रखा है, अत्यन्त उत्पीड़क तथा परेशान करने वाले सिद्ध हो चुके हैं, जिनके चलते किसानों की दरिद्रता बढ़ती जा रही है, इसीलिए ये सभी तरीके तथा वसूलियाँ फौरन उठा दी जायँगी और उनकी जगह क्रमिक वृद्धिशील कृषि आयकर चालू होगा जो पाँच प्राणियों तक के खानदान पर सालाना 1200/- या अधिक आय पर ही लगेगा।

(3) क्योंकि गाँवों में प्रचलित उत्पीड़क ऋणग्रस्तता एवं अत्यधिक सूद के दर के चलते किसान निर्दयतापूर्वक सताये तथा ऋण भार से बहुत ही दबाये जाते हैं; क्योंकि अधिकांश किसानों की जमीनें या तो दूरवर्त्ती (काश्त न करने वाले) जमींदारों साहूकारों या शहरी शोषक वर्गों के हाथों में चली जा चुकीं या धीरे-धीरे चली जा रही हैं। और क्योंकि सरकार, उसकी जाब्ता दीवानी तथा कचहरियाँ हमेशा सूदखोरों की मददगार बनकर किसानों को तबाह करती आ रही हैं; इसलिए पुराने ऋणों तथा उनके सूदों की जवाबदेही से किसान फौरन पूर्ण मुक्त किये जायँगे एवं किसानों की चालू जरूरतों के लिए सस्ते दर पर कृषि-ऋण की व्यवस्था सरकार चटपट करेगी।

(4) क्योंकि भूमिहीन किसानों, खेत-मजूरों तथा ऐसे लोगों को, जिनके पास पाँच प्राणियों के परिवार के वास्ते उत्तम, मध्यम या निकृष्ट जमीनें 10 से लगायत 25 एकड़ से कम है, खेती के लिए जमीन दी जायगी, जिसमें वे भरसक पंचायती खेती करेंगे; लेकिन जिसे बेच न सकेंगे, और क्योंकि कुल कृषियोग्य एवं बंजर जमीनों का आधा किसानों के पास न होकर सरकार और जमींदारों के हाथ में है; इसलिए ऐसी सभी जमीनें कृषियोग्य बनाकर उक्त किसानों एवं मजूरों को दे दी जायगी।

(5) मालगुजारी तथा लगान का सभी बकाया रद्द होगा और सेल्स टैक्स फौरन उठाया जायगा।

(6) सभी अलाभकर जमीनों का लगान, मालगुजारी तथा भावली (उपज के रूप में) लगान खत्म हो जायगा।

(7) जब तक वर्तमान लगान तथा मालगुजारी की प्रथा का स्थान क्रमिक वृद्धिशील कृषि-आयकर नहीं ले लेता तब तक कोई जमींदार किसी भी दशा में उस रकम से ज्यादा लगान न ले सकेगा जो वैसी ही भूमि के लिए पड़ोसी प्रान्तों या जिलों के रैयतवारी किसान सरकार को देते हैं। जो रैयत दखिलकार या जमीन के स्वामी हैं उनके अधीनस्थ किसानों को सुविधा दिलाने, उनके हकों को निश्चित करने तथा उनकी रक्षा के लिए उचित काश्तकारी कानून बनेंगे।

(8) जमींदार, तालुकेदार, ईमानदार, मालगुजार, इस्तिमरारदार, जन्मी, खोत तथा दूसरे मध्यवर्तियों की सीर, खास या बकाश्त जमीनों को दरअसल जोतने वाले सभी रैयतों को उन जमीनों पर खेतों का दवामी (सनातन) हक फौरन दिया जायगा। हाँ, उन जमीनों को वे हस्तान्तरित न कर सकेंगे। यदि इन जमीनों के हक के बारे में तकरार हो तो वह किसानों और रैयतों का ही माना जायगा।

(9) जमींदारों के सभी रैयतों तथा रैयतवारी के रैयतों को लगान माफी का हक तुरन्त मिलेगा अगर फसल मारी जाय। जहाँ जमींदार या मध्यवर्ती पाये जाते हैं सर्वत्र जमीनों को पुनः बन्दोबस्ती, लगान या मालगुजारी की सभी तरह की वृद्धि तथा सर्वेसेटलमेण्ट को सरकार रोक देगी।

(10) जमींदारों तथा पूँजीपतियों की खेती सम्बन्धी एवं अन्य आय पर चटपट क्रमिक वृद्धिशील आयकर, मृत्यु कर एवं उत्तराधिकार कर लगाये जायँगे।

(11) सभी तरह की सामन्ती एवं परम्परा प्राप्त वसूलियाँ, बलात्, कम पैसा देकर या बिना पैसा दिये काम कराना, जिसमें बेगार तथा गैरकानूनी वसूलियाँ भी शामिल हैं, उठा दी जायँगी और दण्डनीय होंगी।

(12) ऋण, लगान या मालगुजारी न दे सकने की दशा में किसान गिरफ्तारी या कैद से फौरन ही बरी किया जाएगा।

(13) सभी कामचलाऊ होल्डिंग (जमीन के तख्ते), पशुशालाएँ, निवास-स्थान, घरेलू चीजें, दुधार एवं अन्य पशु, खेती के औजार तथा साधन अदालती डिग्री या लगान एवं मालगुजारी की वसूली के लिए कुर्क न होंगे—ऐसा ऐलान फौरन करके उस पर अमल होगा।

(14) सूदखोरों के सूद का दर दो रुपये सैकड़ा सालाना से ज्यादा न होगा और चक्रवृद्धि ब्याज गैर कानूनी होगी। सभी सूदखोरों को लाइसेन्स लेना होगा; सरकार समय-समय पर उनके बही खातों को जाँचेगी और बेकायदगी या जाल होने पर ऐसी सजा दी जायगी जो आदत छुड़ा दे।

(15) 20 साल या अधिक मुद्दत के लिए सरकारी, सहयोग समितियों के या भूमिबन्धकी बैंकों के द्वारा अधिक से अधिक दो रुपये सैकड़ा सालाना सादे सूद पर कर्ज दिया जायगा और सर्वत्र भूमिबन्धकी बैंक जल्द चालू होंगे।

(16) खेती सम्बन्धी चीजों की आवाजाही का तथा थर्ड क्लास का किराया घटाया जायगा। सड़कों एवं नहरों के जरिये आवाजाही का प्रसार शीघ्र होगा।

(17) किरासन तेल, चीनी, तम्बाकू, दियासलाई आदि पर जो चुंगी (अप्रत्यक्ष) कर है वे फौरन उठाये जायँगे। देहातों में कारखाने की बनी चीजों, कपड़े चीनी, नमक, लोहा, सीमेण्ट कोयला, किरासन तेल आदि के नियन्त्रित दाम पर मिलने का पूरा-पूरा तथा उचित प्रबन्ध होगा।

(18) फौरन ही लिफाफे का दाम दो पैसे और पोस्टकार्ड का एक पैसा कर दिया जायगा।

(19) विनिमय एवं मुद्रानीति में आवश्यक हेर-फेर करके या अन्य प्रकार से खेती की पैदाबार का मूल्य एक उचित दर पर पक्का करके जारी होगा और कायम रखा जायगा।

(20) किसानों तथा मजूरों को पूर्ण और निरवाध सुरक्षित हक होगा कि खेती-गिरस्ती और जीविका के लिए, चरने को घास, लकड़ी, ईंधन, पत्थर और बालू आदि पहाड़ी एवं जंगली चीजों का उपयोग करें। चराई का कर उठा दिया जायगा। चराई एवं जंगल की लकड़ियों के बँटवारे का प्रबन्ध ग्राम पंचायत के हाथ में होगा। जंगल के तालाब, नदियाँ आदि सब किसानों तथा उनके पशुओं के लिए खुली होंगी। जंगली जानवरों से अपनी-अपनी फसलों तथा पशुओं की रक्षा के लिए किसानों को बन्दूक आदि रखने का लाइसेन्स होगा। ऐसे जानवरों को मारने पर उन पर केस न चलेगा और अगर इसके लिए कोई जमींदार निजी तौर पर दण्ड दे तो उसे सजा मिलेगी।

(21) सभी प्रकार की सार्वजनिक जमीनों, चाहे जैसे भी उनका श्रीगणेश हुआ हो, तथा गोचर भूमि का प्रबन्ध ग्राम पंचायतें करेंगी।

(22) किसी किसान परिवार के पास 50 एकड़ से ज्यादा जमीन न रहने दी जायगी।

(23) जमींदारों तथा मध्यवर्तियों के पास की 50 एकड़ से ज्यादा जमीन छीन कर भूमिहीन किसानों को दी जायगी। ऐसे लोगों को भी जिनके पास 5 प्राणियों के परिवार के लिए 10 एकड़ से कम है यह जमीन दी जायगी, ताकि उनके पास अपनी खेती के लिए 25 एकड़ तक हो जाय।

(24) जमींदारीं से छिनी भूमि का एक भाग सरकारी साहाय्य से सम्मिलित खेती के लिए रख छोड़ा जायगा जहाँ दीन किसान एवं भूमिहीन मजूर उस खेती के लिए बसाये जायँगे।

(25) किसानों के हकों को उनकी संघशक्ति के जरिये सुरक्षित रखने के 'किसान

संघ' कानून बनेगा।

(26) सभी खेत-मजूरों के लिए भरण पोषण योग्य मजूरी की निश्चित व्यवस्था होगी तथा मजूरों की क्षतिपूर्ति का कानून उनके लिए भी लागू होगा।

(27) खेत-मजूरों, गाँव के गरीबों एवं शिकमी किसानों की अपने वास की भूमि से दूनी पर, जिसमें वासभूमि भी शामिल हो, कायमी हक बिना लगान के होगा।

(28) खानों के इलाकों में किसानों को सतह (ऊपर) की भूमि पर खेती का स्थायी हक होगा और जब तक उन्हें वैसी ही सुविधा अन्यत्र नहीं दी जाती वे वहाँ से हटाये न जायँगे।

(29) गाँवों की जो कम-से-कम आधी जनसंख्या खेती में आज ही नहीं खप सकती, उद्योग-धन्धों में लगाई जायगी। इसी दृष्टि से राष्ट्र की अधीनता में मुस्तैदी से उद्योग-धन्धों के विस्तार की सयिनीति सरकार अपनायेगी जिसमें खयाल रखा जायेगा कि उद्योगधन्धों की अनुकूल स्थापना यत्र-तत्र हो और पिछड़े इलाकों का खास खयाल रख जाय।

(30) प्रान्तीय एवं केन्द्रीय करों का बँटवारा सरकार इस प्रकार करेगी कि अलग-अलग या दोनों को मिलाकर तीन चौथाई कर का भार धनिक वर्ग पर हो। खर्च का प्रबन्ध भी ऐसा होगा कि तीन चौथाई खर्च मजूरों एवं किसानों के हितार्थ हो।

(31) चीनी के संरक्षण कानून से किसान पूर्ण लाभ उठायें इसी विचार से गन्ने (ऊख) का कम-से-कम उचित मूल्य निर्धारण सरकार के लिए अनिवार्य होगा जो क्रमिक वृद्धिशील होगा। इसी प्रकार जूट, रुई, नारियल तथा अन्य किराना (व्यापारिक) चीजों के उपजाने वालों के लिए भी लाभकारी मूल्य तय करके सरकार उनकी पूर्ण रक्षा करेगी।

(32) सहकारी तथा सरकारी क्रय-विक्रय का प्रसार सरकार करेगी और इस तरह मध्यवर्तियों के हाथों किसानों का शोषण मिटायेगी।

(33) बनियों के द्वारा सभी तरह की धर्मादा वसूलियाँ दण्डनीय होंगी और इस मद में जो भी धन मौजूद हो किसान-सभाओं के हवाले कर दिया जायगा।

(34) सरकार खेती तथा कल-कारखानों में उत्पन्न वस्तुओं के मूल्य में पारस्परिक सामंजस्य रखेगी।

(35) अकाल से किसानों के रक्षार्थ सरकार सिंचाई एवं जल निकास का प्रसार करेगी, किसानों को आपदाओं से बचाने के लिए अन्य उपाय भी करेगी तथा ऐसे इलाकों के लिए 'जलाशय जीर्णोद्धार निधि' की स्थापना करेगी जिससे ठीक समय पर सिंचाई के साधनों एवं जलशियों की मरम्मत और प्रगति की जाय।

(36) सरकार बाग-बगीचों एवं कम जमीनों में अधिक उत्पादन का प्रसार करेगी तथा किसानों को सस्ते परीक्षित बीज देगी। वह उपयोगी खादें देगी, खेती के नवीनतम प्रकारों का प्रचार करेगी और संयुक्त किसान-सभा के सहयोग तथा परामर्श से अपने

खेती और व्यापार सम्बन्धी कामों को चलायेगी।

(37) सरकार किसानों के लिए पशु बीमा, अग्नि बीमा तथा स्वास्थ्य बीमा का उपाय करेगी।

(38) गाँवों के नागरिक कामों के प्रबन्ध के लिए ग्राम पंचायतों की स्थापना होगी जिनके जिम्मे सिंचाई के पानी एवं जंगल की जरूरी चीजों के प्रबन्ध का भार रहेगा। गल्ले आदि की वसूली सरकार इन्हीं पंचायतों के सहयोग से करेगी।

(39) शारदा कानून जैसे मामलों में सरकार किसान संस्थाओं को अधिकार देगी कि उन सभी अफसरों तथा विशेषतः सार्वजनिक कार्य विभाग, आबकारी विभाग, माल-महकमे, रेलवे और पुलिस महकमे वालों को, जो किसान मजूरों से घूस लेते हैं, दुरुस्त करें। साथ ही जिन किसान मजदूरों को दबा कर घूस वसूला जाता है उन्हें दण्ड से मुक्त करेगी।

(40) किसानों के लिए भी दिवालिया कानून मुस्तैदी से पास होगा।

(41) राष्ट्र की सभी चुनी संस्थाओं के लिए बालिगम ताधिकार एवं प्रत्यक्ष, सीधे तथा गुप्त मतदान की व्यवस्था होगी।

(42) भारतीय संघ के सभी किसान विरोधी, मजूर विरोधी तथा जनतन्त्र विरोधी कानून, फरमान और नियम-कायदे फौरन हटा दिये जायँगे और सभी किसान एवं मजूर कैदी, चाहे दण्ड प्राप्त या नजरबन्द हों, फौरन रिहा होंगे।

(43) सभी किसानों की जो जमीनें एवं सम्पत्तियाँ सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों में भाग लेने से या उनकी शक्ति के बाहर के कारणों के चलते लगान या मालगुजारी न दे सकने के कारण जब्त कर ली गयी हैं उन्हें वापस दे दी जायँगी।

(44) मैट्रिकुलेशन तक की बच्चे-बच्चियों को शिक्षा फौरन अनिवार्य एवं मुफ्त कर दी जायगी, ऊँची शिक्षा किसानों के लिए सुलभ बनायी जायगी, मुस्तैदी से गाँवों में दवा-दारू एवं सफाई की सहायता पहुँचाने का तथा पीने के पानी का काफी प्रबन्ध होगा और राष्ट्रीय गृह निर्माण सम्बन्धी नीति को सरकार चटपट अपनायेगी।

(45) सरकार किसानों को हर्बा हथियार रखने का अधिकार देगी।

(46) स्थानीय, म्युनिसिपल, व्यवस्थापक तथा अन्य सभी सार्वजनिक संस्थाओं के मेम्बरों की नामजदगी फौरन उठा दी जायगी।

नोट–अंग्रेजों के 'अनेकोनोमिक होल्डिंग' का अर्थ 'अलाभकर भूमि' किया है। जिस भूमि पर किसान परिवार के पूर्ण परिश्रम के बाद भी उसके भरण-पोषण से ज्यादा उपज न हो वह 'अनेकोनोमिक' कही जाती है। विपरीत उसके 'एकोनोमिक' है, जिसे 'लाभकर' कहते हैं।

5 प्राणियों के लिए क्रमशः कम उपजाऊ 10, 15, 20, 25 एकड़ भूमि 'एकोनोमिक' मानी जाती है। 'एकोनोमिक' की दूनी से ज्यादा जमीन किसी के पास न रहने पायेगी। पूर्व की 22, 23 धाराओं का यही आशय है।

अब क्या हो?

अब क्या हो?

प्रथम पर्व की समाप्ति

आजादी और स्वतन्त्रता के लिए जो महाभारत मुल्क में युगों से चालू था उसका प्रथम पर्व पूरा हुआ, ऐसा कहा जाता है। कहने वाले लोग दो तरह के हैं। एक तो वह हैं जो समाजवाद, साम्यवाद या किसान-मजदूर राज्य के नाम से ही अब तक नाक-भौं सिकोड़ते थे। उनके लिए पूर्ण स्वतन्त्रता, स्वराज्य, आजादी आदि कहना ही पर्याप्त था। अधिक-से-अधिक वे इतना ही कहते थे कि भारतीयों का राज्य इस देश में आयेगा। यहाँ के लोगों के हाथ में शासन-सूत्र आयेगा। बस, इसके आगे जाना उन्हें बर्दाश्त न था। उनका यह भी कहना था कि समाजवाद या साम्यवाद की चर्चा आजादी की लड़ाई में बाधक होगी, इसे कमजोर बनायेगी; क्योंकि इसके चलते मुल्क में विचार विभिन्नता का प्रसार होने से पारस्परिक तनाव बढ़ेगा और हम आपस में ही उलझ पड़ेंगे। गोया न करने से विचार-ऐक्य हो गया था!

दूसरे वे हैं, जो सदा समाजवाद, साम्यवाद तथा किसान-मजदूर राज्य के नारे लगाते रहे हैं। उन्होंने सदा यह माना है कि जब तक शासन सत्ता कमानेवाली जनता, सम्पत्ति को उत्पन्न करने वाली जनता—किसानों एवं मजदूरों—के हाथ सोलहों आने नहीं चली जाती, जब तक वर्ग-चेतना मूलक राजनीतिक चेतना के आधार पर किसान और मजदूर समूची शासन-सत्ता को मुस्तैदी के साथ बलात् अपने हाथों में नहीं ले लेते, तब तक देश का उद्धार नहीं हो सकता, जनता का कल्याण असम्भव है। और ऐसी चेतना लाने के लिए युगों का संगठित प्रयत्न, सतत क्रियाशील अपेक्षित है। यह यकायक या कुछ समय में आनेवाली नहीं है। इसीलिए मुद्दत पहले से उन्होंने इस चेतना के प्रसार की कोशिश शुरू की थी। पहले दल वाले इस कोशिश को फूटी आँखों भी देख न सकते थे। उनकी चले, तो ऐसे लोगों को शूली पर ही चढ़ा दें।

फिर भी, दोनों ही मानते हैं कि राष्ट्रीय महाभारत का प्रथम पर्व पूरा हुआ। विदेशी आधिपत्य से आजाद होने के लिए होनेवाला संघर्ष सफल हुआ, यह दोनों ही मानते हैं; हालाँकि दूसरे दलवालों का बराबर यही कहना रहा है कि समझौते का रास्ता छोड़ सीधी लड़ाई और क्रान्तिकारी उथल-पुथल के फलस्वरूप ही यह आजादी

हासिल होनी चाहिए। इसमें उन लोगों का महत्त्वपूर्ण मतलब था बेशक सीधी लड़ाई से जो क्रान्ति होती, उसके फलस्वरूप न तो पाकिस्तान और हिन्दुस्तान का ही प्रश्न उठता और न साम्प्रदायिक कलह की ही गुंजाइश रहती। ब्रिटिश शासन के साथ ही इन अनर्थों को पैदा करने वाली शक्तियाँ भी क्रान्ति के तूफान में जड़-मूल से उठाकर फेंक दी जातीं। समस्त दकियानूस ताकतों को निर्मूल करना एवं धो बहाना ही तो क्रान्ति की लहर का एक बड़ा काम माना जाता है। इसी के साथ एक बड़ी बात यह होती कि विदेशी शासकों के स्थान पर जो भी स्वदेशी मालदार तथा पूँजीवादी गद्दीनशीन होते—क्योंकि राष्ट्रीय आजादी की लड़ाई के फलस्वरूप देश के धनियों के ही हाथ में शासन-सत्ता जाया करती है ऐसा इतिहास बताता है वे चैन से रह न पाते, उनका शासन दृढ़ नहीं हो पाता, जैसा कि 1917 की क्रान्ति के बाद रूसी पूँजीपतियों का शासन वहाँ डाँवाडोल ही रहा। फलतः किसान-मजदूरों के एक ही जबर्दस्त धक्के में उनका सारा शासन-यन्त्र चकनाचूर हो जाता और शासनसूत्र किसानों एवं मजदूरों के हाथ में चला जाता। दूसरे दल ने जो इस संघर्ष और सीधी मुठभेड़ का मार्ग छोड़ा, उसका सीधा परिणाम यही हुआ है कि हम साम्प्रदायिक दंगों एवं मुल्क के अंग-भंग के शिकार हो गये। साथ ही, किसान-मजदूरों के हाथ में सत्ता का जाना कठिन हो गया है। उस दल की आँखें खुली हैं और जो कुछ उसने किया है उसका नतीजा यही होगा, यह उसे अविदित था, यह कैसे कहा जाय? संसार का इतिहास तो हमें इसी नतीजे पर पहुँचने को बाध्य करता है कि जानबूझ कर ही यह समझौते का मार्ग उसने अपनाया है और उसके नतीजे के लिए वह पहले से ही तैयार है—वह यही चाहती ही है। बेअदबी माफ हो।

जनता के हाथ में सत्ता सौंपना

कहा जाने लगा है कि कांग्रेस का काम है अब किसानों तथा मजदूरों के हाथ में सत्ता सौंपना। मगर प्रश्न यह है कि वह सत्ता 15 अगस्त को ही क्यों न सौंपी गयी? और अगर उसमें कोई दिक्कत थी, तो कौन सी? अगर श्री शंकरराव देव के कथनानुसार अब आगे चलकर कांग्रेस का लक्ष्य होगा मजदूरों एवं किसानों के हाथ में वही सत्ता सौंपना, तो अब तक क्या दिक्कत थी उसके सौंपने में? आज तो कांग्रेस के सभी चुने-चुनाए, महारथी ही गवर्नर के पद से लेकर केन्द्र एवं प्रान्तों के मन्त्रियों की गद्दियों पर आसीन हैं। फिर भी किसान-मजदूरों के हाथ में सत्ता क्यों न आयी? क्या वे किसानों के प्रतिनिधि या उनके अपने आदमी नहीं हैं? यदि हाँ, तो जब तक वे रहेंगे और उनकी प्रभुता कांग्रेस पर रहेगी, तब तक किसानों को आशा कैसे हो सकती है कि सत्ता उन्हें मिलेगी? यदि वे लीडर अब तक ऐसा होने न दे सके तो आगे कैसे होने देंगे? तो क्या वे अब कांग्रेस से हट जायँगे? यह तो असम्भव है। वह तो दूसरों को ही हट जाने को कहते हैं। नहीं-नहीं, जो लोग किसान-मजदूर-राज्य

की बातें करते हैं, उन्हें कांग्रेस से गर्दनियाँ देने की नोटिस भी वही दे चुके हैं। यदि श्री शंकरराव को दर्द है कि 15 अगस्त को किसानों के हाथ में सत्ता नहीं सौंपी गयी, तो क्या उन्होंने इसका प्रतिवाद किया था? उन्होंने क्यों नहीं साफ-साफ कहा कि भारी अनर्थ हो रहा है कि किसान मजदूर-शासन-सत्ता से वंचित किये जा रहे हैं? उन्हें तो साफ कहना था कि सत्ता किसानों और मजदूरों को ही सौंपी जाय और लीडर लोग उनका काम सँभालने में चौकीदारी तथा सहायता का काम करें। और अगर श्री देव ने या उनके साथी इन चोटी के लीडरों ने ऐसा नहीं किया, तो आगे उनसे क्या आशा की जा सकती है? लेकिन यदि वे लीडर सचमुच किसान-मजदूरों के ही आदमी हैं और उन्हीं के लिए मरे जाते हैं, तो फिर और बाकी क्या रहा, जिसके लिए कांग्रेस को जारी रखने में जमीन और आसमान को एक किया जा रहा है? लक्ष्य सिद्ध हो जाने पर उसकी जरूरत क्या रही?

कहा जायगा कि किसान और मजदूर सत्ता के योग्य नहीं हैं, उसके लिए अभी तैयार न थे; तब सत्ता उन्हें सौंपी जाती कैसे? लेकिन उन्हें तैयार न होने देने के अपराधी भी हैं कौन? ये राष्ट्रीय नेता या दूसरे लोग? दूसरे लोग तो बराबर चिल्लाते थे कि श्रमजीवियों को राजनीतिक चेतना दी जाय, वे तैयार किये जायँ। लेकिन ऐसा सुनकर ये नेता ही छाती पीटते थे कि ऐसा होने पर सब चौपट होगा! फिर वही नेता आज लोगों को कैसे तैयार करेंगे? और क्या यह तैयारी बात-ही-बात में ही हो जायगी? उसके लिए तो युग लगेंगे। तब तक क्या शोषक-गण हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहेंगे? क्या वे अपनी तैयारी न करेंगे और बाजी मार न ले जायँगे? अगर वे रोके जायँगे तो किस तरह, यह बात बताने के लिए क्या ये लीडर तैयार हैं? जिनके अब तक कांग्रेस कमिटियों, असेम्बलियों और बोर्डों में शोषकों एवं उनके पिट्ठुओं को जाने से न रोका, प्रत्युत जानबूझ कर भेजा, वही आज उन्हें रोकेंगे यह विश्वास कौन करेगा? और जब आज तक किसान-मजदूरों को तैयार न किया गया तो आगे किया जायगा, यह कौन मानेगा? तैयार करने का प्रोग्राम भी क्या है? वर्ग-चेतना से तो आप लोग भागते हैं। दूसरा रास्ता हई नहीं। उसमें तो धोखा ही धोखा है। फलतः उनके हाथ में सत्ता सौंपने की बात प्रवंचना मात्र है, क्षमा हो।

शान्तिपूर्ण क्रान्ति?

कहा जाता है कि भारत में शान्तिपूर्ण क्रान्ति हो गयी; अब उसी प्रकार की सामाजिक क्रान्ति के लिए कांग्रेस का कायम रहना जरूरी है। परन्तु इसी को यदि क्रान्ति कहें, तो सुधार किसे कहेंगे? जिसमें बातचीत और सुलह-समझौते से काम लिया जाय उसे सुधार कहते हैं, न कि क्रान्ति। हम इसे शान्तिपूर्ण क्रान्ति तो तब कहते, जब अंग्रेज लोग यकायक इस मुल्क को छोड़ के भाग जाते और हमारे नेता आकर उनकी जगह बैठते तथा काम सँभालते। सौदा करने की जब हिम्मत भी अंग्रेजों को न होती

और जान लेकर भाग जाते, तो क्रान्ति की बात कही जा सकती थी। अंग्रेजों का होश-हवास दुरुस्त न रहता और चुपचाप भाग जाने के अलावे उनके पास रास्ता रही न जाता, तो कहने का मौका आता कि शान्तिूपर्ण क्रान्ति हो गयी। मगर यहाँ तो उल्टी बात है। वे मौजूद हैं और दो बिल्लियों के बीच बन्दर-बाँट कर रहे हैं! फिर भी यह क्रान्ति है। तब सुधार क्या होगा? यानी दोनों एक ही हैं? यों तो हरेक के पास दिमाग है, हाथ है और कागज, कलम, दवात भी हैं। फिर जो चाहे कह दे, लिख दे और दो-दो को मिलाकर पाँच कह दे। उसे कौन रोके? क्रान्ति तो एक को हटा या मिटाकर सुनसान (Vacuum) छोड़ जाती है, जिसमें दूसरे आकर बैठते हैं। उसमें हटने-मिटनेवाले अपने विरोधियों का हाथ पकड़कर बैठाते नहीं। क्रान्ति के भय से ही तो लड़ने का रास्ता छोड़ा गया। फिर भी उसी का नाम!

उसी क्रान्ति से बचने के लिए किसान-मजदूर राज्य या साम्यवाद के नाम से भी इन लीडरों को बुखार चढ़ जाता था और बहाने करते थे कि मुल्क में वर्ग-विद्वेष पैदा हो जायगा। तो क्या अब वह विद्वेष न पैदा होगा? और, क्या सचमुच भारत के जमींदार मालदार इतने भोलेभाले और भले हैं कि उन्हें अपने वर्ग-स्वार्थ का ज्ञान अब तक था ही नहीं? गांधी टोपी गाढ़ी खादी की पहनकर और जेल के भीतर कांग्रेस के नाम पर रहकर भी इन जमींदार-मालदारों ने किसानों और मजदूरों के खून पीने में जरा भी हिचक कभी नहीं दिखायी है। उन्हीं के वोट से असेम्बलियों में जाकर भी उनका गला कुन्द छुरी से पहले भी काटा है, आज भी काट रहे हैं। अपना वर्ग-स्वार्थ वे बखूबी समझते और तदनुसार ही मुस्तैदी से अमल करते हैं। यह उनका सनातन धर्म है। फिर भी किसानों को जानबूझकर उसी वर्ग-स्वार्थ की जानकारी जिन लीडरों ने आज तक न होने दी, वही शान्तिपूर्ण क्रान्ति एवं सत्ता सौंपने की बात बोलते हैं, तो खून में आग लग जाती है। यदि हमारे लीडर शुरू से ही श्रमजीवी किसानों और मजदूरों को वर्ग-स्वार्थ की जानकारी कराते रहते तो सचमुच ही आज क्रान्ति हो गयी होती, फिर चाहे वह शान्तिपूर्ण ही क्यों न होती, और अंग्रेजों के दुम दबाकर भाग जाने पर उनकी जगह जमींदार-मालदारों की हिम्मत ही न होती कि बैठें। उनके बिठाने के लिए ही तो यह सारा पँवारा रचा गया। तब क्रान्ति की क्या बात? क्रान्ति तो सामुद्रिक तूफान की लहर है जो अपने सामने किसी भी मन्दिर, मस्जिद, महल, मकान, जंगल, पहाड़ को नहीं छोड़ती और सबों को धो बहाती है। सभी भले-बुरे को, जो सीना ताने खड़ा हो, मिटा देती है।

कांग्रेस एक पार्टी है

कहा जाता है कि अब कांग्रेस को एक राजनीतिक पार्टी के रूप में ही रहना है उसके भीतर अब विरोधी दलों की गुंजाइश नहीं रही। इतना ही नहीं, कांग्रेस की ओर से ही अब किसान-सभा, मजदूर सभा आदि वर्ग-संस्थाओं का भी संगठन होगा। यह

कथन उसके प्रधानमन्त्री श्री शंकर राव देव का है। जहाँ महात्मा गांधी ने अभी-अभी स्पष्ट ही कहा है कि कांग्रेस यदि पार्टी बनेगी, तो आत्महत्या कर लेगी, तहाँ उसके मन्त्री का ऐसा फरमाना है। यह भी विचित्र बात है। क्योंकि गांधी जी और उनके सिद्धान्त की दोहाई देकर ही कांग्रेस को जिन्दा रखने की कोशिश की जाती है। दरअसल पहले भी कांग्रेस एक पार्टी ही रही है। मगर खुल के नहीं, छिपे रुस्तम। तब इसी की जरूरत थी। पार्टी कहने से किसान-मजदूर भड़क जाते और अगर वे आते, तो अमीर भाग जाते। लड़ने-मरने का काम तो गरीब ही करते हैं। इसलिए उन्हें कांग्रेस में रखना जरूरी था। मगर मालदारों को भी रखना था। आखिर 15 अगस्त का स्वराज्य कौन लेता; यदि अमीर न रहते? श्रीयुत् देव भी तो मानते ही हैं कि यह अमीरों का ही स्वराज्य है। तभी तो गरीबों को अभी स्वराज्य दिलाना बाकी ही है।

बेशक पहले उस पर नकाब थी, जो अब उतार फेंकी जा रही है। फिर भी कहा जा रहा है कि किसानों और मजदूरों का संगठन कांग्रेस की ओर से ही किया जायेगा। क्यों साहब, कांग्रेस की ओर से क्यों? स्वतन्त्र क्यों नहीं? श्री देव कहते हैं कि "कांग्रेस में इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस, किसान कांग्रेस या इसी तरह की कांग्रेस के द्वारा पुनरपि संगठित वर्ग संस्थाओं के प्रतिनिधि भी लिये जायँगे, ताकि वह जन-समूह की संस्था रहे।" इसका सीधा अर्थ यही है कि नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस और किसान कांग्रेस राष्ट्रीय कांग्रेस की मातहती में हैं—कांग्रेस के द्वारा संगठित हैं, और अगर कदाचित् वह कांग्रेस की मातहती से इनकार करें, तो कांग्रेस द्वारा वैसी दूसरी संस्थाएँ बनाई जा सकती हैं। मगर हाल में ही श्री गुलजारी लाल जी नन्दा ने इसकी सफाई देते हुए जो पुस्तिका 'आक्षेपों का उत्तर' (Criticisms Answered) छापी है, उसके चौथे पृष्ठ में लिखा है कि "नयी नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस राष्ट्रीय कांग्रेस या किसी भी राजनीतिक संस्था से स्वतन्त्र है और रहेगी और उसकी स्वतन्त्र हस्ती में कोई फर्क न होगा, वह कांग्रेस का पुछल्ला न बनेगी"—"The new organisation is and will remian independent of the Congress or any other political body does not affect the independent status of the organisation or make it an appendage of the National Congress"। अब प्रश्न होता है कि दोनों परस्पर विरोधी बातें कैसे होंगी? कांग्रेस के द्वारा संगठित होने पर उसका पुछल्ला बनना होगा। तभी श्री देव का कहना संगत होगा कि And in order to keep its mass basis it should include representatives of functional organisation such as I. N. T. U. C. or Kisan Congress or such other organisation re-organised by the Congres for the purpose या कि श्रीयुत् देव कांग्रेस की ओर से कुछ दूसरी ही और नयी वर्ग-संस्थाएँ खड़ी करेंगे और उस काम के लिए नये वर्ग भी ढूँढ़ निकालेंगे?

और, अगर वर्ग-संस्थाओं का स्वतन्त्र संगठन करना ही है, तो पहले से संगठितों को ही प्रतिनिधित्व क्यों नहीं दिया जाता? अब आप ऐसा करने चले हैं। लेकिन अब तक कौन-सी बाधा थी? यदि पहले से ही यह काम करते रहते तो क्या आसमान टूट पड़ता? यदि वर्ग-युद्ध का खतरा था, तो अब भी है और आप उससे भड़कते हैं। जो लोग अब तक वर्ग-संस्थाओं को फूटी आँखों भी नहीं देख सकते थे, वही अब उनका संगठन करेंगे, यह भी निराली बात है। सचमुच संसार परिवर्तनशील है या कि केवल धोखे की टट्टी खड़ी की जायगी? हम श्रीयुत् देव से करबद्ध प्रार्थना करेंगे कि यदि हमें वह अपनी किसान संस्था के संगठन का इंचार्ज किसी भी शर्त पर बना दें, तो हम उसके लिए तैयार हैं। केवल हम एक ही आजादी चाहते हैं और वह यह कि कांग्रेसी जमींदारों की जमींदारियों में जाकर किसान-संगठन करने में कोई रुकावट न हो। तब उन्हें और दुनिया को पता चल जायगा कि कांग्रेस की ओर से किसानों का संगठन किस प्रकार किया जा सकता है।

मुल्क और कांग्रेस मालदारों के हाथ में

कांग्रेस के कर्णधारों की जो बातें अब तक कही गयी हैं, उनसे स्पष्ट है कि कांग्रेस को वे भी मालदारों की संस्था मानते हैं, यद्यपि स्पष्टतः इसे स्वीकार नहीं करते। उसके प्रधानमन्त्री का कहना है कि अनेक दलों के बनने से कांग्रेस की ताकत घटेगी। नतीजा यह होगा कि स्थायी स्वार्थवाले (पूँजीवादी) अपनी संगठित शक्ति को मजबूत बना लेंगे—"The vested interests will organise and consolidate their position"! लेकिन स्वतन्त्र भारतीय सरकार के रेलवे विभाग के मन्त्री डॉ. जॉन मथाई ने इसी अगस्त की 8वीं तारीख को दिल्ली के रोटरी क्लब में जो भाषण दिया, उसे सही मानें या श्री देव की बात को? वे तो कहते हैं कि 'गत डेढ़ सौ साल के राष्ट्रीय आन्दोलनों की प्रगति का दारमदार उस देश के स्थायी स्वार्थ वालों के प्रभाव, साहाय्य और साधन-सामग्री पर भी रहता है। ये स्थायी स्वार्थ वाले इसे एक प्रकार का 44-45 व्यापार या पूँजी लगाना ही मानते हैं और आन्दोलन के दौरान में भी स्वदेशी आदि के प्रचार से लाभ उठाते हैं। लेकिन याद रखने की बात है कि जब इस तरह इसके ऊपर निर्भर रहने से उस आन्दोलन को सफलता मिलती और देश आजाद होता है, तो मुल्क उनके चंगुल में पहले से भी ज्यादा फँस जाता है। भारत की यही दशा कुछ हद तक आज है। आजादी के कुछ मानी नहीं हैं, यदि स्थिर स्वार्थ वालों का यह चंगुल कम-से-कम ढीला नहीं हो जाता, अगर खत्म न भी हो सके। इसके लिए लम्बी मुद्दत तक सख्त और भारी लड़ाई लड़नी होगी। विदेशी सत्ता खत्म हो जाने पर भी राष्ट्रीयता की नकाब के भीतर जो स्वार्थपरायणता है, वह ठोस और निर्दय वस्तु है''—"If we examine the progress of national movements in any country since the beginning of the 19th century, you will find that a national movement, while it is in progress, is almost inspite of itself, made to depend on the influence support and resources which it gets from the vested interests of the country.

It is a very good investment for those large organised vested interest, nationalism invarably has an economic side to it and, while being engaged in a national movement, it is possible for vested interest to secure a certain amount of selter from the competition that comes from foreign interests.

But the point to remember is that when you have established your national movement, when you have been able to achieve success as a result of being dependent to a large extent upon the suppot of vested interests when you have achieved that victory, when you have come to the end of the struggle, you find you are more than ever in the grip of those vested interests on whom you had depended during the period of your struggle.

That to my mind, to some extent, is the stage that we have reached in India today and I think the main part of the task that remains before us today.

If freedom is to find full expression, we should carry our fight forward that the grip that vested interest have been able to establish over our people is loosended if not eliminated. That is going to be a long, hard and strenous fight.

Although the foreign domination had disappeared or had almost entirely disappeared, the kind of selfishness that lay behind nationalism was a hard and cruel one".

डॉ. मथाई ने जो कुछ कहा है, वह ठोस स्थिति का विश्लेषण-मात्र है। वह कोई अपनी निजी बात नहीं कहते हैं। उसने तो इतिहास के अनुभव को संक्षेप में बतला दिया है। उनके शब्दों में न सिर्फ कांग्रेस, प्रत्युत सारा मुल्क आज भारतीय मालदारों के चंगुल में है अैर जब इस चंगुल को ढीला करने की लड़ाई लम्बी, सख्त और थका देनेवाली होगी, ऐसा वे खुद मानते हैं, तो फिर इस चंगुल को खत्म कर देने के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाई कितनी भयंकर और खूनी होगी, कौन बतायेगा? राष्ट्रीयता के पीछे कितना नीच स्वार्थ और कितनी हृदयहीनता है! फिर भी, इसी राष्ट्रीयता और इसी कांग्रेस के बल पर हमारे पुराने लीडर जनता को देश की सत्ता सौंपने के सुखद स्वप्न देख रहे हैं! मालदारों के हथकण्डे के नीचे फली-फूली एवं

तगड़ी बनी कांग्रेस उनके हाथ से कैसे निकलेगी? यह तो असम्भव है। चाहे चवन्नियाँ में बरी रखिए या खत्म कीजिये, चाहे हजार उपाय कीजिये। मगर उनका हथकण्डा हटने के बजाय दिनोंदिन मजबूत होगा।

खूबी तो यह है कि उसी कांग्रेस के द्वारा अब वर्ग-संगठनों का पँवारा खड़ा किया जायगा, धोखे की टट्टी खड़ी की जायगी। जमींदारों और मालदारों के पैसे से पालतू बहाल होंगे और किसान-सभा एवं मजदूर-सभा के नाम पर नकली संस्थाएँ खड़ी की जायँगी। किसान-सभा के नये स्वयंभू नेता मालदार-जमींदारों की मोटरों पर चढ़कर उनके पैसे के ही बल पर बुलाई गयी किसान मीटिंग में लेक्चर तो देंगे खासा, किसान के लिए गला फाड़ेंगे और आँसू भी बहायेंगे; मगर काम करेंगे पैसा देने वाले प्रभुओं का ही। यह एक भयंकर जाल तैयार होगा, बड़ा खतरा खड़ा होगा। पहले कांग्रेस की शुद्धि हो लेती और उसके ऊपर से मालदार जमींदारों का भूत उतर जाता, तो शायद किसान-मजदूर-संगठन काम लायक बन सकते। मगर यह भूत तभी उतरेगा, जब वर्ग संस्थाओं का प्रतिनिधित्व कांग्रेस में हो, जब किसान-सभा और मजदूर-सभा के प्रतिनिधि कांग्रेस में स्वतन्त्र रूप से लिये जायें और जब उनकी चवन्नियाँ में बरी हटाकर काम करने वाले किसानों और मजदूरों के बालिग मताधिकार के आधार पर ही कांग्रेस के प्रतिनिधि चुने जायँ। मगर श्रीयुत् देव तो इसी से घबराते हैं। वे तो घोड़ा के आगे गाड़ी खड़ी करके उसे खिंचवाना चाहते हैं! उनकी 'जन-तान्त्रिक समाजवाद' की आवाज, उसका नारा उनका अपना नहीं है। यह तो उन्हीं मालदारों की आवाज है, जिनका चंगुल कांग्रेस पर कसके जमा है।

अब यह राष्ट्रीयता कैसी?

राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपनां काम कर दिया। फलतः उसे निर्वाणमुक्ति का पूरा हक है। फिर भी, हमारे नेता उसे बरकरार रखना चाहते हैं। मगर इसमें कई अड़चनें हैं, कई खतरे हैं। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध लड़ने में, गुलामी को उखाड़ फेंकने की बगावत में राष्ट्रीयता अनिवार्य रूप से अपेक्षित थी। सारे राष्ट्र को एक साथ मिलकर लड़ना जो था। समूचे राष्ट्र को गुलामी की कोढ़ मिटानी जो थी। आजाद सभी होना चाहते थे, चाहे सभी वर्ग के अपने-अपने दृष्टिकोण इस मामले में अलग भले ही थे। आजादी का खयाल हर एक वर्ग का जुदा-जुदा था कि वह कैसी होगी और उसमें हमारे हक क्या होंगे। मगर गुलामी के खिलाफ लड़ना सभी चाहते थे, सबों को मिलकर लड़ने की जरूरत थी। इसलिए राष्ट्रीयता का भूत सबों पर सवार होना अनिवार्य था। परस्पर विरोधी वर्गों का कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर लड़ना दूसरे रूप में असम्भव था। दूसरी शक्ति इन्हें मिला नहीं सकती थी, एक सूत्र में बाँध नहीं सकती थी।

जहाँ इस राष्ट्रीयता से यह फायदा था वहाँ हानि भी कम न थी। किसान-जमींदार आदि परस्पर विरोधी वर्गों के स्वार्थ-विरोध की स्पष्टता नहीं हो पाती थी। वह विरोध

धूमिल और कमजोर नजर आता था। कभी-कभी तो वह लापता-सा हो जाता था। उस पर एक गहरा पर्दा पड़ जाता था। चूहे और बिल्ली में या बाघ और बकरी में जो द्वेष है, जो स्पष्ट विरोध है, वह सदा स्पष्ट रहता है। कभी धूमिल या अस्पष्ट नहीं होता। मगर ऐसी हालत यहाँ नहीं बाघ कितनी ही कण्ठी-माला पहने, टीका चन्दन लगाये, ध्यान धरे और खादी पहने, फिर भी बकरी उस पर विश्वास नहीं करती। उसके निकट नहीं जाती। लेकिन खादीधारी एवं जेलयात्री जमींदारों पर किसान का विश्वास हो जाता है कि वह उसकी भलाई करें यह ठोस बात है और इसका एक बड़ा कारण राष्ट्रीयता है। बाघ और बकरी एक साथ मिलकर किसी से लड़ते नहीं। वे एक सभा में बैठकर प्रस्ताव भी नहीं करते और न लेक्चर देते हैं। मगर कांग्रेस में ये बातें होती हैं। वहाँ जाकर किसान और जमींदार दोनों ही ये बातें करते हैं और यह होता है राष्ट्रीयता के चलते। जब तक यह रहती है वर्ग-विद्वेष और वर्ग-संघर्ष के आधार पर बने आर्थिक प्रोग्राम चलने नहीं पाते। उनमें बाधा पड़ती है। आजादी की लड़ाई छिड़ी कि किसान-जमींदार के बीच चलने वाला बकाश्त-संघर्ष खत्म हुआ, बन्द हुआ। उसे बन्द करना ही पड़ता था। इसीलिए विवेकी जन सदा कहते आये हैं कि आर्थिक दृष्टि से होने वाली मोर्चेबन्दी के लिए यह राष्ट्रीयता महान् अभिशाप है। फलतः आजादी प्राप्त करके इस राष्ट्रीयता को मार डालने में ही, खत्म करने में ही शोषित-पीड़ित जनता का त्राण है, उद्धार है, कल्याण है।

लेकिन राष्ट्रीय नेता उसी राष्ट्रीयता को कायम रखने में आकाश-पाताल एक कर रहे हैं! इस 'मौर्फिया' को, मोहक मन्त्र और जादू को बनाये रखने की कोशिशें भरपूर हो रही हैं। एक ओर डॉ० मथाई इस राष्ट्रीयता के सूत्र में लोगों को बाँधे रखकर ही लोगों की गरीबी, बीमारी आदि के विरुद्ध जेहाद बोलना चाहते हैं। दूसरी ओर, कांग्रेस के प्रधानमन्त्री राष्ट्रीय कांग्रेस के अभाव में अराजकता, अन्धेरखाता और विशृंखलता का भूत देखते हुए इसी राष्ट्रीयता की शरण लेना और इसे दीर्घ जीवन-दान देना चाहते हैं जिला रखना चाहते हैं।

मगर जब राष्ट्र के भीतर ही शोषकों के विरुद्ध शोषितों को युद्ध घोषणा करके खून की नदी पार करनी है, तो यहाँ राष्ट्रीयता का अवसर कहाँ? उसकी गुंजाइश कहाँ है? राष्ट्र के भीतर तो शोषक एवं शोषित दोनों ही आ जाते हैं। ऐसी हालत में आमने-सामने लड़नेवाली सेना का वर्गीकरण राष्ट्रीयता के आधार पर कैसे होगा? राष्ट्रीय कांग्रेस शोषकों की न होकर केवल शोषितों की कैसे होगी? शोषकों की जो छाप कांग्रेस पर लगी है। वह उतरेगी कैसे? मिटेगी कैसे? या कि राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए जो जनसाधारण के दिलों में सत्कार-सम्मान है, उससे अनुचित लाभ उठाने की तैयारी मात्र यह है? लोगों को फाँसकर और बड़ी-बड़ी आशाएँ दिलाकर कांग्रेस के साथ रखने की कोशिश के अलावे यह और कुछ नहीं है। उचित तो था कि सरकार के समर्थकों की एक नयी पार्टी बनती। या यों कहिये कि मालदारों की पार्टी बनती

और अपना आर्थिक या समाज-सुधार का कार्यक्रम लोगों के सामने रखती, जिसके आधार पर इसकी परीक्षा जनता करती। मगर ऐसा होने में जनता के भड़क जाने का भारी खतरा है। इसीलिए कांग्रेस को ही जिन्दा रखने का भगीरथ प्रयत्न हो रहा है। किसान की भाषा में कह सकते हैं कि जो कांग्रेस आज तक तगड़े बैल के रूप में मौजूद थी, ऐसे बैल के रूप में, जिससे हल खींचने, गाड़ी चलाने और बोझा ढोने का काम लिया जा सकता था—उसे आज नांदिया या बसहा बैल के रूप में, रखने की कोशिश हो रही है और होगी। पहला काम तो इसके लिए असम्भव है। अब तो यही कहा जायगा कि यह मान्य है, पूज्य है; इसके सामने सर झुकाओ और इसे कुछ दो—वोट दो, चन्दा दो। कांग्रेस के नाम पर चुनावों में वोट माँगना और समय-समय पर चन्दे माँगना यही दो काम इसका रह जायगा। लड़ने या और कोई ठोस काम तो इससे अब किसान-मजदूर आदि ले न सकेंगे। यह बात असम्भव है।

कांग्रेस को खत्म होना चाहिए

कुछ समय पूर्व—राष्ट्रपति के आसन पर आसीन होने के पहले—आचार्य कृपलानी ने एक लेखमाला तैयार की थी, जो अंग्रेजी अखबारों में छपी थी और जिसके अनुवाद भी छपे थे। अगर मेरी समझ मुझे धोखा नहीं दे रही है, तो उनने स्वीकार किया था कि आजादी मिलने के बाद कांग्रेस की जरूरत न रहेगी। मगर आज तो वह भी यह बात शायद नहीं मानते और उसे कायम रखना चाहते हैं। उन्होंने तो यह भी माना था कि कांग्रेस के द्वारा समाजवाद की स्थापना नहीं की जा सकती। यह हैं उनके शब्द, "For all these reasons the congress cannot be an organisation for the establishment of socialism not at least till Purna Swaraj is attained. And afterwords the Congress as Congress that is as an organisation that works and fights for Indian national independence ceases to exist the old name may be appropriated by a reforming or reactionary or neutral group, but, it will not be the congress whose goal is complete independence of India or Purna Swaraj, for the simple reason that has been achieved already."

47 में इसका आशय यह है कि 'इन्हीं कारणों से समाजवाद की स्थापना करने वाली संस्था कांग्रेस नहीं हो सकती, कम-से-कम पूर्ण स्वराज्य की स्थापना तक तो यह नहीं हो सकती। और, उसके बाद तो यह कांग्रेस के रूप में या यों कहिये कि उस संस्था के रूप में, जो भारत की राष्ट्रीय आजादी के लिए लड़ती हैं, रही न जायगी, खत्म हो जायगी। कोई सुधारवादी, प्रतिक्रियावादी या उदासीन दल कांग्रेस के इस नाम का उपयोग भले ही कर ले। लेकिन यह सब कांग्रेस हर्गिज न होगी, जिसका लक्ष्य है भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता या पूर्ण स्वराज्य और इसका

सीधा कारण यही है कि वह लक्ष्य तो हासिल होई गया है।'

यहाँ आचार्य कृपलानी तीन बातें कहते हैं। पहली यह कि कांग्रेस के जरिये समाजवाद की स्थापना नहीं हो सकती; कम-से-कम पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति तक तो नहीं ही। दूसरी यह की उसके बाद कांग्रेस रही न जायगी, खत्म हो जायगी। तीसरी यह कि केवल सुधारवादी या प्रतिक्रियावादी ही दल कांग्रेस के नाम का उपयोग पूर्ण स्वराज्य-प्राप्ति के बाद भी करना चाहेंगे, न कि क्रान्तिकारी। इनमें पहली बात में जो अन्त में यह पंख लगा दिया है कि कम-से-कम स्वराज्य-प्राप्ति तक तो नहीं ही वह उनका निजी मत नहीं है। क्योंकि उनके बाद तो वह कांग्रेस की निर्वाणमुक्ति या उसका खात्मा मानते हैं। फलतः यह कहना केवल उन लोगों की दृष्टि से है, जो कांग्रेस को बाद में भी ठीक उसी तरह घसीटे फिरना या उससे चिपके रहना चाहते हैं, जैसे बन्दरिया अपने मरे बच्चे के साथ चिपकी रहती है और उसे छोड़ती नहीं।

अब हमारा सीधा सवाल उन लोगों से है जो कांग्रेस के द्वारा ही जनतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना चाहते हैं, कि पूर्ण स्वराज्य गत 15 अगस्त को मिला या नहीं? यदि मिल गया, तो लक्ष्य सिद्धि के बाद कांग्रेस खत्म हो गयी, मुक्त हो गयी, जैसा कि राष्ट्रपति ने खुद माना है। और अगर वह नहीं मिला और उसकी स्थापना अभी बाकी ही है तो, उन्हीं के शब्दों में समाजवाद की स्थापना कांग्रेस के द्वारा तब तक नहीं हो सकती जब तक पूर्ण स्वराज्य स्थापित न हो ले। फलतः समाजवाद के रूप में कांग्रेस के लक्ष्य को बदलकर जो उसे आगे भी घसीटना और साथ ही क्रान्तिकारी कहलाना चाहते हैं ऐसे लोग ही अपने भीतर ही पहले खुद निपट लें। यदि उसके प्रधानमन्त्री श्री शंकरराव जी ऐसा चाहते हैं, तो राष्ट्रपति साफ कहते कि नहीं-नहीं, यह तो असम्भव है। आजादी मिलने के बाद तो कांग्रेस प्रतिगामी प्रतिक्रियावादी और दकियानूसों की ही जमात हो सकती है, न कि क्रान्तिकारियों की यह तो केवल एक काम में क्रान्तिकारी रह सकती है, क्रान्तिकारियों की जमात रह सकती है, और वह है राष्ट्रीय आजादी की लड़ाई, जिससे सारा राष्ट्र लड़ता है। यही बात राष्ट्रपति उसी लेख में यों कहते हैं, "It can afford revolutionary action only on one front and that is the national front."

जो लोग अब कांग्रेस के द्वारा ही समाजवाद की स्थापना का सब्ज बाग दिखाकर जनता को फाँसना चाहते हैं, उन्हें आचार्य कृपलानी की स्पष्टोक्तियों को गौर से विचारना और अपना विचार बदलना उचित है। यदि वे कोई और ही कांग्रेस बनाकर उसके जरिये यह काम करना चाहें, तो बात दूसरी है। मगर गत 62 साल से जिस कांग्रेस ने आजादी का संघर्ष चलाया है, यदि उसी से उनका मतलब है, तो वे भूलते हैं, बेअदबी माफ हो। घरेलू मामले में उनसे निरन्तर वर्ग-सामंजस्य का पाठ पढ़ा है और सदा सुधारवादी रही है। वही अब बुढ़ापे में वर्ग विद्वेष और क्रान्ति का पाठ

इसी मामले में पढ़ेगी, यह असम्भव है। बूढ़े तोते को रामनाम नहीं पढ़ाया जा सकता।

अच्छा तो अब उसी लेखमाला में से कृपलानी जी के कुछ वचनों को सुनें। ये वचन यद्यपि उस बड़े लेख में जगह-जगह से लिये गये हैं, फिर भी इनका आशय गड़बड़ होने नहीं पाया है। वे यों हैं, "The national movement must ever be anxious to eliminate internal conflicts and achieve unity of purpose. A national movement has therefore, to strike a middle path in removing internal injustices, whatever its theoretical beliefs and predilections, it must content itself with reformatory activity. Again, the origin and evolution of the Congress precludes it from being a purely class organisation-Socialism is based upon class antagonism, if not class hatred and class war. A national organisation is fundamentally based upon class collaboration. An organisation working for the establishment of socialism cannot include as its members zamindars capitalists and what are generally called bourgeois classes in the present context an organisation for the establishment of socialism can only be a sectional organisation."

अभिप्राय यह है कि "राष्ट्रीय आन्दोलन सदा फिक्रमन्द रहता है कि देश के भीतर संघर्ष होने न पाये और सभी लोगों की दृष्टि एक ही चीज (आजादी) पर हो। इसीलिए उसे मध्यमार्ग या वर्ग-समन्वय का रास्ता अपनाना होता है। चाहे उसके सैद्धान्तिक विचार और झुकाव कुछ भी क्यों न हों, फिर भी मुल्क के भीतरी संघर्षों को मिटाने के लिए उसे सुधारवादी मार्ग का ही अनुसरण करना पड़ता है। कांग्रेस की उत्पत्ति तथा विकास भी इसे किसी वर्ग-विशेष की संस्था होने में बाधक हैं। समाजवाद का आधार यदि वर्ग युद्ध एवं वर्गों की पारस्परिक घृणा न भी हो, तो उनके स्वार्थों का परस्पर विरोध तो उसका आधार हुई। राष्ट्रीय संस्था का आधार बुनियादी तौर पर वर्गों का पारस्परिक सामंजस्य ही है। समाजवाद की स्थापना के लिए प्रयत्नशील संस्था जमींदारों, पूँजीवादियों और आमतौर से 'बुर्जुवा' नामधारियों को अपने मेम्बर नहीं बना सकती। वर्तमान दशा में समाजवाद की स्थापना के लिए उद्योगशील संस्था राष्ट्रीय न होकर सिर्फ वर्गविशेष की ही हो सकती है।"

जो लोग सचमुच विश्वास रखते हैं कि राष्ट्रीय कांग्रेस को क्रान्तिकारी जमात और समाजवाद की स्थापना का यन्त्र बना लिया जा सकता है, उनके लिए भी ऊपर लिखे वचनों में काफी मसाला है, जिससे वे अपनी भूल सुधार सकते हैं। आजादी मिलने के बाद राष्ट्रीय संस्था प्रतिगामी बन जाती है, ऐसा मानने के लिए बुनियादी बातें ऊपर लिखी गयी हैं। एक तो कांग्रेस का जन्मजात आधार ही इस बात का विरोधी है। तुर्रा यह कि बराबर 62 वर्षों तक वही कायम रह के अभ्यस्त हो गया है, उसके रग-रग में प्रविष्ट कर गया है। फलतः वह बदला नहीं जा सकता। जो

लोग उसे बदलने का यत्न करेंगे वे खुद बदल दिये जायँगे, अब ऐसी ताकत उसमें आ गयी है। इसीलिए 'तजहु आस निज-निज गृह जाहू' यह तो दरिया की धारा है, जिसके अनुकूल ही बवण्डर भी बह रहा है। फिर भी उसके प्रतिकूल जाने का यत्न अपने-आपको डुबाने के लिए दुस्साहस मात्र है। इतना ही नहीं, जनसाधारण में ऐसा विश्वास पैदा करके उनके लिए इस प्रकार भविष्य में भारी खतरा भी खड़ा कर दिया जायगा, जिसमें वे आसानी से जा फँसेंगे। लगातार एक बड़ी मुद्दत तक कांग्रेस को मानने-जानने का जादू तो जनसाधारण पर चढ़ा ही है। उन्हें विश्वास भी है कि अब उनके ही हाथ में सत्ता आ जायगी। जनता भोली-भाली होती है। हमारा तो फर्ज है कि उस जनता के ऊपर से यह जादू हटायें और बतायें कि यह विश्वास निराधार है, धोखा है, खतरनाक है। न कि उसे और मजबूत कर दें और इस प्रकार नया जादू चढ़ने का मौका दें। आज हमारी ताकत इस वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण और नवीन मार्ग के निर्धारण में लगनी चाहिए, न कि इस भूलभुलैया को कायम रखने एवं स्थायी बनाने में। यह तो जनता के प्रति—किसानों एवं मजदूरों के प्रति—भारी विश्वासघात होगा, उन्हें ले डूबने की तैयारी होगी। इससे प्रतिगामियों को बड़ी ताकत मिलेगी।

लक्ष्य सिद्धि अपूर्ण या पूर्ण?

कांग्रेस को कायम रखने के पक्षपाती कहते हैं कि उसका लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य अभी कहाँ स्थापित हुआ? अभी तो सिर्फ गुलामी हटी है। असली स्वराज्य तो लाना बाकी ही है। कांग्रेस की लड़ाई के लक्ष्य के दो पहलू थे—गुलामी हटाना और जनता के हाथ में सत्ता सौंपना। इसमें एक पूरा हुआ। दूसरा तो बाकी ही है। फलतः उसके लिए कांग्रेस का रहना जरूरी है। उनका यह भी कथन है कि भारत दो भागों में विभक्त हो गया है तो आजाद हुआ है। परन्तु हमारा लक्ष्य तो अखण्ड भारत (United India) था। फलतः उसे प्राप्त करने के लिए भी कांग्रेस का रहना जरूरी है।

लेकिन इसका उत्तर एक प्रकार से पहले ही दे चुके हैं। 15 अगस्त को केवल गुलामी ही हटी थी, या सत्ता भी सौंपी गई थी? **सौंपी तो गयी थी जरूर, हथियाई गई थी जरूर**। तो फिर जनता को ही क्यों न अवसर दिया गया कि वही वह सत्ता हथिया ले? इसमें बाधा क्या थी? और अगर कोई बाधा थी तो वह आप ही लोगों की—नेताओं की—ही पैदा की हुई थी न? दूसरे तो थे नहीं। आप ही ने जनता को आगे आने से रोका। आप ही ने अप्रत्यक्ष चुनाव के जरिये विधान-परिषद् बनाई-बनवाई, जिससे वास्तविक जनता कोसों दूर रहे, दूर है। फिर भी यदि नेता चाहते तो विधान परिषद् के सदस्य टोपी-टोपवाले बाबू न चुने जाकर धोती-लँगोटीधारी किसान-मजदूर ही चुने जा सकते थे। ऐसा होना कोई कठिन बात न थी। मगर ऐसा होने न दिया गया जानबूझकर ही बाबुओं को लीडर, मिनिस्टर, गवर्नर, दूत,

एलची आदि खुद बनना जो था, अपने दोस्त अहबाबों को बनाना जो था। नहीं तो कांग्रेस के भीतर ही बगावत जो हो जाती। क्या यह झूठ है? क्या सभी लीडरों और उनके भाई बन्धुओं को अपनी शान और अपने स्वराज्य की धुन न थी? क्या उन पर इसका भूत सवार न था? फिर भी उन्हीं के बल पर ही, उन्हीं से बनी कांग्रेस के बल पर ही उसी कांग्रेस के बल पर, जिसे जब चाहें ये बाबू लात मार दें, जनता को सत्ता सौंपने की बात क्या धोखे से भरी नहीं है? खतरनाक नहीं है? क्या 15 अगस्त को जनता के हाथ में सत्ता सौंपने का मुहूर्त्त ही न था जो पीछे आयेगा? लँगोटी-धोतीधारियों को उस दिन गद्दीनशीन करके यदि ये नेता उसके सच्चे और ईमानदार सलाहकार बनने से ही सन्तुष्ट हो जाते तो सब कुछ ठीक हो जाता। और अगर न किया तो आगे भी न करेंगे यह ध्रुव सत्य है। अपने तथा अपनी स्वार्थ के लिए अब कांग्रेस को कीचड़ में घसीटना तथा उसे नाहक बदनाम करना अच्छा नहीं। उसने शान से अपना काम कर दिया। अब शान से ही उसे मर जाने दीजिये और साफ-साफ बाबुओं की अलग पार्टी बना लीजिये। यकीन रखिए, जनता उसके भावी कारनामी से ही उसे अपनी या पराए की मानेगी। जिन किसान-मजदूरों ने आपको तख्त पर बिठाया उन्हें आगे गुमराह करना उचित नहीं। यह तो बुरी एहसान-फरामोशी होगी।

अधूरे लक्ष्य की बात तो यों ही है। आजादी का अर्थ ही माना जाता रहा है। विदेशी शासन से छुटकारा। दूसरा अर्थ उसका रहा है नहीं, यही ईमानदारी की बात है। जब-जब यत्न किया गया कि आजादी या स्वराज्य का विधानात्मक पहलू क्या है, उसे स्पष्ट कर देना चाहिए, तब-तब छाती पीटी गयी और हाय-तोबा मची कि ऐसा करने से आजादी की लड़ाई कमजोर हो जायगी। आज उसका अर्थ बताया जाता है जनता को सत्ता सौंपना, जबकि मालदारों के हाथ में सत्ता जा चुकी है। भारत के मालदार क्या गधे हैं कि यही बात बहुत पहले स्पष्ट कह देने से वे भड़क जाते? वे तो जानते ही थे कि सत्ता किसे मिलती है। अगर लीडरों की नीयत यही रहती कि सत्ता मालदारों को ही मिले, तो सिर्फ इतना कह देने से ही कि जनता को मिलेगी, भारतीय पूँजीपति कहीं बुरा न मानते। वह तो ऐसा कहने को नेताओं की निरी चाल समझकर खामोश यह जाते। वे खूब जानते थे और जानते हैं कि कह देने मात्र से सत्ता नहीं मिलती। उसे अपनाने के लिए जनता को तैयार करना जरूरी हैं और वही बात नहीं की गयी। जो जनता तैयार न हो, जिसे वर्ग चेतनामूलक राजनीति का पूरा ज्ञान न हो, उससे तो सत्ता कभी भी छीनी जा सकती है। फलतः असल काम तैयार करना और जनता को सत्ता देंगे ऐसा कहने पर उसी तैयारी की मजबूरी हमारे नेताओं को हो जाती। फलतः उसने कहना ही रोक दिया। न कह के भी वे तैयारी में लग सकते थे। कम-से-कम उनके रास्ते में बाधक न होते जो एतदर्थ जनता को तैयार कर रहे थे। मगर उसने कुछ न किया। प्रत्युत हजार बाधाएँ

डालीं और आर्ज मालदारों के हाथ में सत्ता एवं कांग्रेस दोनों ही को सौंप कर जनता को तैयार करने के मन्सूबे बाँधे जाने लगे हैं—उसके सब्जबाग दिखाए जा रहे हैं! 'मसीहाई को रख छोड़ें हमें बीमार रहने दें,' हमारा इतना ही निवेदन है। उनने सदा यही माना है कि कांग्रेस का काम है, उसका लक्ष्य है विदेशी शासन को खत्म कर देना। अब तक का लीडरों का रवैया, उनके लेख और भाषण और आचार्य कृपलानी की लेखमाला जिसका जिक्र पहले आया है इसी बात के पोषक हैं। कांग्रेस का लक्ष्य था केवल नकारात्मक, निषेधात्मक—गुलामी को खत्म करना और वह पूरा हो गया 15 अगस्त को ही तब लक्ष्य के अपूर्ण रहने का क्या प्रश्न?

रह गयी संयुक्त या अखण्ड भारत की बात। सो तो अजीब है। जिन लोगों ने इस अंग-भंग की स्वयमेव अनुमति दी वही आज अब छाती पीटें और दोनों भागों को फिर से मिलाने के लिए कसमें खाएँ और मुहलत माँगें, तो कुछ जँचता नहीं। या कि उस पर मुहर केवल इसीलिए लगाई गयी कि पीछे उसी के बहाने कांग्रेस और उसके द्वारा अपनी लीडरी बरकरार रखने का मौका मिलेगा? यही अवसर माँगने के लिए ही तो ऐसा नहीं किया गया था? इतिहास इस बात का साक्षी है कि किसी मुल्क के जो भाग राजनीतिक दाँव-पेंच में पकड़कर अलग हुए वह फिर नहीं मिलते, जब तक पूरा बल प्रयोग न किया जाय। जर्मनी के प्रशिया और रूमानिया के बेसराबिया का इतिहास बताता है कि बिस्कार्क या स्टालिन या ऐसे ही लोगों की आसुरी शक्ति ने फिर से बिछुड़ों को एकत्र किया। पोलैण्ड के कई भागों को भी यही बात है तथा दूसरे देशों की भी। आयरलैण्ड का अल्स्टर आज 25 साल से बिछुड़ा ही है और बिना बल प्रयोग के मिस्टर डीवेलरा या कोई भी उसे मिला न सकेगा। तो क्या हमारे नेता ऐसा करने को तैयार हैं? फिर गांधी जी का नाम कैसे लेंगे? भारत के कटे अंग को जोड़ने की उनकी आशा चाहे पवित्र भले ही हो, मगर है वह दुराशामात्र। जिस कांग्रेस ने अलग होने की स्वीकृति दी, वही अब पुनरपि मिलन कराएगी, यह अक्ल के बाहर की बात है। यदि यही था तो स्वीकृति ही क्यों दी? यदि लाचार होकर ही, तो वह लाचारी और बढ़ेगी या मिटेगी?

कांग्रेस की सरकार मजबूत होगी

श्रीयुत् देव कहते हैं कि 'भारतीय इतिहास के इस अत्यन्त नाजुक वक्त पर इस मुल्क को एक ऐसी बड़ी राजनीतिक पार्टी की जरूरत है जो धीरे-धीरे शान्तिपूर्ण सर्वांगीण राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक प्रगति कराने में समर्थ हो, जो इतनी विस्तृत हो कि एक जबर्दस्त सरकार को कायम रख सके, और संगठन में ऐसी जबर्दस्त हो कि अपना असर जनता पर कायम रख सके और यह काम सिर्फ कांग्रेस ही कर सकती है'—Besides, at this critical period in her history India require for its gradual and order political, social and economic all round progress one big political party, large enough to guarantee stable government, and strong enough organisationally to maintain its hold and influence over the people. The Congress alone could answer all the requirements"

लेकिन सवाल यह है कि ये सब बातें इसीलिए जरूरी हैं कि किसान-मजदूरों के हाथ में सत्ता जाय और वे सुखी-सम्पन्न हों। तो क्या कांग्रेस यह कर सकेगी? अभी-अभी तो बता चुके हैं कि उसके लिए यह असमभव है। अंग्रेजी शासन भी खूब संगठित और मजबूत था और ये सभी बातें अपने ढंग से करवा सकता था। मगर हमने उसे उठा फेंका। क्यों? इसीलिए न, कि ये बातें हम अपने ढंग से करना चाहते थे, न कि शासकों के ढंग से? ठीक वही बात फिर भी लागू है। किसान-मजदूरों के ढंग से और उनकी मर्जी के मुताबिक आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक प्रगति कराने में कांग्रेस असमर्थ है। फलतः मजबूत सरकार बनाने या शान्तिपूर्ण प्रगति का प्रलोभन बेकार है। जो बात हम अंग्रेजों से कहते थे कि तुम्हारे शासन की अपेक्षा हम अराजकता को पसन्द करेंगे वही बात कांग्रेस लीडरों से भी क्यों न कहें जब कि हमारी अकांक्षाओं की पूर्ति कांग्रेस से सम्भव नहीं, जैसा कि बता चुके हैं?

कांग्रेस बदल जायगी?

कहा जाता है कि "कांग्रेस ने अपने जीवन के इतिहास में सिद्ध कर दिया है कि बदलते हुए समय की जरूरत के अनुसार ही वह अपना कायाकल्प कर लेती है, अपने को ढाल लेती है। उसके सामने एक ताजा ऐतिहासिक काम आया है जिसे उसे लगातार पूरा करना ही होगा बिना विराम के ही" "The Congress has proved its capacity to adapt itself to the needs of the changing times. A fresh historic task has to be taken up without any break in the continuity of the life of the Congress."

लेकिन यहाँ कांग्रेस के इतिहास का या तो केवल तोड़-मरोड़ किया गया है, या उसकी बुनियादी बातें समझने में भूल की गयी है। दुनियाँ की हर चीजें और हर संस्थाएँ कमोबेश बदलतीं और अपने को नये साँचे में ढालती भी हैं। मगर सबों की एक मर्यादा होती है जिसके आगे वे इस मामले में जा नहीं सकती हैं। कांग्रेस की भी यही बात है। वह इस नियम का अपवाद नहीं हो सकती। कही चुके हैं कि कांग्रेस केवल आजादी के संग्राम में ही क्रान्तिकारी बन सकती थी। मगर श्रीयुत देव देश के भीतरी काम, घरेलू काम में भी इसे क्रान्तिकारी रखना और उसका पुराना स्वभाव बदलना चाहते हैं, जो असम्भव है। उनकी रचनात्मक क्रान्ति (Constructive revolution) केवल विदेशियों को हटाने में भले ही समर्थ हुई, वहीं उसकी गुंजाइश रही हो। लेकिन मुल्क के भीतर आर्थिक या सामाजिक मामलों में कांग्रेस के द्वारा वह असम्भव है। ऐसा करने पर वह राष्ट्रीय कांग्रेस रहेगी ही नहीं। लेकिन उनके

जबाव में हम आचार्य कृपलानी जी की लेखमाला को ही उद्धृत कर देना उचित समझते हैं। वह कहते हैं, "it is true that the Congress has changed its form and shape often enough. It changed them after the leadership of Gandhiji. But the changed brought about under his leadership were comparatively conservative and in keeping with its natural evolution and its traditions. Even the non-violence of Gandhiji was in keeping with the traditions of the Congress from constitutional agitation to non-violent direct action was not a sudden revolution, but an evolutionary revolution that did not change the nature of the Congress as a national organisation. But supposing Gandhiji had changed the Congress to violent and military organisation such a change would have been too revoluationry for the very safety and existence of the Congress as an open mass organisation. It would not have been in keeping with its origin history, tradition and direction of growth. In the language of religion this would not have been its *Swa-Dharma, but Para-Dharma,* in which it would have perished."

इसका भाव यह है कि "बेशक कांग्रेस ने अपना आकार-प्रकार अकसर बदला है। यह बात गांधी जी के नेतृत्व के समय भी हुई। लेकिन उनके नेतृत्व में इसमें जो भी परिवर्तन हुए वे अपेक्षाकृत पुराने ढर्रे के ही थे जो इसके स्वाभाविक विकास एवं परम्परा के अनुकूल ही थे। यहाँ तक कि गांधी की अहिंसा भी उसकी प्राचीन परम्परा के अनुसार ही थी। वैधानिक आन्दोलन तो अहिंसात्मक ही होता है। उसे बदलकर अहिंसात्मक सीधी लड़ाई के रूप में ला देना कोई यकायक क्रान्ति न होकर विकासात्मक क्रान्ति ही थी जिसने कांग्रेस के राष्ट्रीय संस्थात्मक रूप और स्वभाव को नहीं बदला। लेकिन यदि गांधी जी उसे हिंसात्मक फौजी संस्था बना देते तो यह बात कांग्रेस की प्रत्यक्ष जन-समूह की संस्था के रूप में होनेवाली सत्ता एवं उसकी रक्षा के लिए भयंकर क्रान्तिकारी सिद्ध हो जाती। कांग्रेस की उत्पत्ति, इतिहास, परम्परा और विकास के विपरीत यह बात जा पड़ती। धार्मिक भाषा में यह स्वधर्म न होकर परधर्म हो जाता जिसके चलते वह खत्म हो जाती।" फिर भी इसे स्वाभाविक कहते हैं।

कांग्रेस का झण्डा ही न रहा

और जब कांग्रेस का अपना झण्डा भी जाता रहा, उसका त्याग कर दिया गया तो फिर वह जिन्दा रहेगीं क्योंकर? उस पर चर्खे का चिह्न हटकर चक्र का बन गया। कांग्रेसी झण्डे के सामने मुस्लिम लीग वाले कभी न झुके। मगर इसके सामने झुके, इसका आदर किया। इस थोड़े से परिवर्तन के फलस्वरूप वह झण्डा बदल गया।

पाकिस्तान में भी लीगी झण्डे में जरा-सा परिवर्तन करके ऐलान कर दिया गया कि यह सरकार का, राष्ट्र का झण्डा है, न कि लीग का। वही बात यहाँ भी हो गयी। यह सरकारी झण्डा हो गया। कांग्रेस का निजी झण्डा कोई न रहा। फिर श्रीयुत् देव के शब्दों में सामाजिक क्रान्ति (Social revolution) वह किस झण्डे के नीचे करेगी? क्या सरकारी झण्डे के नीचे? तो क्या सरकार इसे होने देगी? क्या वह इसे बर्दाश्त भी कर सकती है? क्या भारत सरकार यह ऐलान करेगी कि वह जनतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना के लिए क्रान्ति करना चाहती है? और क्या कांग्रेस और सरकार एक ही है!

तब तो बला होगी और लोगों के गुस्से का ठिकाना न रहेगा। आज अन्न, वस्त्र, नमक, तेल, दवा-दारू, लोहालक्कड़ के लाले पड़े हैं और जनसाधारण की वेदना का अन्त नहीं है। घूसखोरी और चोरबाजारी से नाकोदम है। पुलिस की मनमानी घरजानी आसमान छू रही है! खून-खराबा, लूट-पाट जारी हैं। तो क्या इन सभी बातों के लिए जनता अपना क्रोध कांग्रेस पर ही निकाले? मगर उस दशा में कांग्रेस सामाजिक क्रान्ति करने के बजाय आत्महत्या कर लेगी, उसे मर जाना होगा, उसका साथ देने को कोई तैयार न होगा! और दोनों एक ही हैं तो कई प्रान्तों में प्रधानमन्त्रियों के साथ कांग्रेस के अध्यक्षों की तनातनी क्यों चलती है? यदि प्रधानमन्त्री झण्डे की सलामी लेना चाहता है तो प्रान्तीय कांग्रेस के सभापति क्यों बुरा मानते और खुद सलामी लेने को दौड़ पड़ते हैं? इसी तरह की सैकड़ों बातें चिल्ला-चिल्ला के बताती हैं कि कांग्रेस और सरकार दो संस्थाएँ हैं। इसीलिए कांग्रेस चाहती है, जैसा कि श्री देव कहते हैं, कि सरकार जो अपनी किसान-मजदूरों की नहीं है उनकी बन जाय। मगर झण्डे के अभाव में उनकी चाह केवल पवित्र इच्छा (pious wish) मात्र है। वह कुछ कर नहीं सकती।

आर्थिक राजनीति और राजनीतिक अर्थनीति

तो क्या इस दिमागी कसरत और माथापच्ची के फलस्वरूप दक्षिणपन्थी नेता लोग कांग्रेस को बख्श देंगे और आर्थिक कार्यक्रम के आधार पर कोई दूसरी पार्टी बनायेंगे? आर्थिक कार्यक्रम से हमारा यह मतलब है कि उस दल का मुख्य कार्यक्रम आर्थिक एवं सामाजिक मसलों को लक्ष्य करके ही बना हो। कांग्रेस का प्रधान कार्यक्रम राष्ट्रीय रहा है और आर्थिक बातें गौण रही हैं। जिसे हम अपनी भाषा में राजनीतिक अर्थनीति कहते हैं वही उसका असली कार्यक्रम रहा है। वह आर्थिक मसलों को भी समय-समय पर छेड़ती उठाती रही है। मगर उन पर राजनीति की छाप और प्रधानता रही है। उन्हें वह राजनीति के आईने में ही देखती रही है। सारांश, राजनीतिक उसका साध्य और आर्थिक बातें साधन मात्र रही हैं। इसके साफ मानी होते हैं कि कांग्रेस में आर्थिक मसले मजबूरन उठाये जाते थे और उसका मतलब यही था कि उन मसलों

में दिलचस्पी रखने वाले किसान-मजदूर कांग्रेस के भक्त बने रहें, उसके अनुयायी रहें और मौके पर उसकी राजनीति में मददगार हों, चाहे वोट देकर, जेल जाकर या सदस्य बनकर। ऐसे मसले छेड़ने में खामख्वाह किसान-मजदूरों की स्वार्थसिद्धि कभी कांग्रेस का लक्ष्य नहीं रही। नहीं तो असेम्बलियों एवं बोर्डों में मालदार, जमीनदार या उनके आदमी ही अधिकांश क्यों भेजे जाते रहे हैं? खाँटी किसान मजदूरों को ही बहुसंख्या में क्यों न भेजा जाता रहा है? इससे कांग्रेस की मुख्य दृष्टि राजनीतिक दाँवपेंच ही रहे हैं इस पर पूरा प्रकाश पड़ता है। फलतः वह राजनीतिक पार्टी है।

मगर हम तो चाहते हैं कि कांग्रेस के नेता अब आर्थिक पार्टी बनायें और उसके द्वारा अपना काम चलाते हुए कांग्रेस का पिण्ड छोड़ें। इसका मतलब यही है कि अब वह राजनीतिक अर्थनीति को छोड़कर आर्थिक राजनीति का रास्ता अपनायें और इस प्रकार अब अपनी राजनीति को अर्थनीति या आर्थिक प्रश्नों के आईने में देखें। ऐसी दशा में अर्थनीति साध्य और राजनीति उसका साधन बन जायगी। गोलमाल बातों से काम नहीं चलने को है, चाहे उनसे जनता गुमराह भले हो और खतरे में पड़ जाय। मगर 'उघरहिं अन्त न होय निबाहू' किसान-मजदूर देखना चाहते हैं कि ये नेता केवल 'डपोर शंखोऽस्मिवदामि न ददाम्यहम्' करे चरितार्थ करते हैं या सचमुच हमारे जटिल आर्थिक तथा सामाजिक प्रश्नों को सुलझाते हैं। यह बात दो टूक होगी और वे इसमें धोखे में पड़ न सकेंगे। नेताओं की जाँच भी खरी होगी। ईमानदारी का तकाजा है कि यही किया जाय और प्राचीन महर्षियों की प्रतिष्ठा और उनके लिए जनता में विद्यमान आदर की ओट में जिस प्रकार आज के पण्डे-पुजारी और साधु-महात्मा अपनी कमजोरियाँ छिपाते और उन्हीं की दोहाई देकर काम चलाते हैं वही बात कांग्रेस के नाम और उसकी दोहाई के पीछे ये हमारे नेता न करें। ये बहादुर हैं, मर्द हैं, धुनवाले हैं। फलतः यह द्रविड़-प्राणायाम उन्हें शोभा नहीं देता, यह लुक्काचोरी उसकी शान में बट्टा लगाती है। जिन नेताओं को हमने आज तक सर-आँखों चढ़ाया उनके बारे में यह चीज हमसे बर्दाश्त नहीं हो सकती। इसीलिए हमारी यह तमन्ना है, उनसे हमारी दस्तवस्ता अर्ज है।

मगर हमें आशा नहीं कि वे ऐसा करेंगे। राजनीति बड़ी गन्दी चीज है, बुरी है और उनकी राजनीति का यह तकाजा है कि ऐसा ही करें। वह तो मौके की ताक में थे ही और देखा कि वह आ गया है। फिर चूकने क्यों लगे? नयी पार्टी बनाने में उसे जनसाधारण के सामने लाने और प्रसिद्ध करने में एक खासी मुद्दत लगेगी। तब तक क्या ये लोग दूसरों की मर्जी पर रहेंगे? दुनियाँ बेदर्द है। यहाँ किसी को कोई पूछता नहीं। बात की बात में पहले के सभी किये-कराये को लोग भूल जाते और बड़े-बड़े तक को दूध की मक्खी की तरह उठा फेंकते हैं? तब ये नेता खतरा क्यों मोल लें? एक बात और भी है। कांग्रेस की बातें गोलमोल रही हैं और उसके बारे में लोगों को वैसी आदत भी पड़ गयी है। फलतः ज्यादा परवाह ही नहीं करते।

अतः आगे भी उसी की पूँछ पकड़ना हमारे नेता सुरक्षित समझते हैं। लेकिन नयी आर्थिक पार्टी बनाने के बाद तो वे लोग अपने आपको जनता की बेमुरव्वत समालोचना की तोप के मुँह पर खड़ा कर देंगे। तब तो उनकी हर बात की जाँच-पड़ताल वह बेदर्दी के साथ करेगी। पुराने ऋषि-मुनियों की अनुयायी आज पाप भी करें तो लोग बर्दाश्त कर जाते हैं मगर उनके विरुद्ध जाने वालों की एक भी बात सुनने को रवादार नहीं जब तक वह पुराने साँचे में ढली न हो। जनता की इस मनोवृत्ति को हमारे नेता खूब समझते हैं और इससे लाभ उठाना चाहते हैं।

मौके की ताक में

नेता लोग यह भी देखते हैं कि चाहे कुछ लोग मेढकों की तरह टर्र-टर्र भले ही करते रहें। फिर भी संगठित रूप से आज ऐसी कोई भी आवाज नहीं उठ सकती, जो हमें रोक सके, हमारी इस चातुरी का इस कूटनीति का सफल भण्डाफोड़ कर सके। वे स्पष्ट देखते हैं कि उनकी चाल के विरुद्ध पर्याप्त प्रचार करके जनता को उभाड़ने और इस तरह उन्हें रुक जाने को विवश करनेवाली कोई भी जबर्दस्त ताकत, संगठित शक्ति देश में रह नहीं गयी है, और दरअसल किसान-मजदूरों के लिए यह सबसे बड़ा खतरा है। आज प्रायः सभी समाचारपत्र मालदारों के हाथ में होने से नेताओं की चाल का ही समर्थन करते हैं, करेंगे। रेडियो, सिनेमा और प्रेस उन्हीं के हाथ में हैं। सरकार की सारी मशनरी उन्हीं के साथ है, उन्हीं की दासी है। वे चाहे जितना भी पैसा खर्च कर सकते हैं और 'ऊँट बिलैया ले गयी, तो हाँजी-हाँजी कहना' को अक्षरशः चरितार्थ कर सकते हैं। चाहें तो अनन्त प्रचारक भर्ती करके उनसे भाड़े के टट्टू का काम ले सकते हैं। बाजाब्ता फौजदारी, क्रिमिनल प्रोसीजर कोड, जेल, पुलिस की लाठी और फौज की गोली भी आज उन्हीं के हाथ में है जिसके द्वारा विरोधियों की आवाज को हजार बहाने करके आसानी से कुचला जा सकता है। पण्डित, पुजारी, मौलवी और पादरी भी जरूरत होने पर उन्हीं के इशारे पर नाच सकते हैं। और दुर्भाग्य से इनका असर हमारे देश में बहुत ज्यादा है। फिर ऐसे मौके से ये लीडर चूकने वाले कब हैं?

बड़े से बड़ा खतरा

किसान-मजदूरों के लिए ये सभी खतरे तो हुई और ये ठोस हैं, जबर्दस्त हैं। मगर इन सबों से भी बढ़कर दो खतरे हैं राजनीतिक उथल-पुथल और खासकर दो महायुद्धों के चलते जनता में राजनीतिक चेतना आयी है। जरूर और काफी आयी है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता है। मगर उसमें एक बड़ी कमी, खामी है। इसे कोई निश्चित आकार नहीं मिला है। वह यों ही गोलमाल है, vague है। फलतः उसे किसी भी रंग में रँगा जा सकता है, किसी ओर मोड़ा जा सकता है। जैसे गीली

मिट्टी को घड़े, खपड़े, बर्तन, मूर्ति या किसी भी रूप में बदल सकते हैं। यह बड़ी खतरनाक चीज है। वे अपनी राजनीति को ठीक-ठीक समझ नहीं सकते। मुल्क की राजनीति का विश्लेषण, उसकी उधेड़बुन भी नहीं कर सकते। फलतः आसानी से धोखे में पड़ सकते हैं। जोई गर्म लेक्चर झाड़े और आँसू बहाने या जेल गया हो उसी पर जनसाधारण लट्टू हो सकते हैं, उसी के मुरीद और चेले मुड़े जा सकते हैं। नतीजा यह होगा कि आज तक जो लोग किसान सेवकों का बाना पहने हुए थे उन्हें भी दक्षिण पंथी लोग रुपये-पैसे, नौकरी-चाकरी, रोजगार-व्यापार आदि के जरिये खरीद कर भारी बला पैदा कर सकते हैं, बला पैदा करेंगे। जनता की आदत होती है बिना विचारे ही विश्वास कर लेना (unthinking trustfulness)। लेनिन बार-बार ऐसा कहा करता था। खासकर राजनीतिक मामलों में तो इस नादानी के चलते बड़ा खतरा पैदा हो जायगा। आजादी की लड़ाई के सिलसिले में पुराने नेताओं पर विश्वास होना स्वाभाविक ठहरा। क्योंकि वर्गचेतनामूलक ज्ञान के अभाव का नतीजा दूसरा नहीं हो सकता। इसी के साथ पुराने किसान सेवक भी जब खरीद ही लिये गये तो फिर किसानों का खुदा ही हाफिज। ये उन पर विश्वास करेंगे और इस तरह अपना गला कटायेंगे। यह हुआ एक खतरा।

दूसरा बड़ा खतरा यह है कि मुल्क में जिसने भी प्रगतिशील विचार करने वाले या वामपन्थी हैं सबों की अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना गीत है। कम-से-कम जितनी पार्टियों में ये लोग बँटे हैं उतने रास्ते तो इनके हुई। आपस में इनका काम करना वैसा ही है, जैसा बाघ और बकरी का। एक-दूसरे से बातें करने में भी इन्हें नफरत है। दक्षिणपन्थी नेताओं की सबसे बड़ी होशियारी यही रही कि उनने वामपन्थी में 'तीन कनौजिया तेरह चूल्हा' कर दिया और एक-दूसरे को हजार कोस दूर रखा। हमारी पार्टी सही हमारी पालिसी दुरुस्त और हमारी पोलिटीकल थीसिस खरी है, इसी धुन में हरेक पार्टीवाला मस्त है। उस पर इसका नशा सवार है। वह दक्षिणपन्थियों से मिलने और बातें करने में जरा भी नहीं हिचकता। मगर क्या मजाल कि एक पार्टी का लीडर दूसरी पार्टी के लीडर से बातें करे। कांग्रेस नेता सबों का कान पकड़ के एके वाद दीगरे नचाते हैं, नचाने की हिम्मत रखते हैं। उन्हें विश्वास है कि इन पार्टियों को जो भी चाहे खरीद सकते हैं। अब तक ऐसा होने नहीं दिया कि कोई पार्टी या सभी पार्टियाँ मिलकर भी उनका सफलता से सामना कर सकें। ऐसी हालत में उनके वर्तमान रवैये की असलियत जनता के सामने कौन रख सकता है? यदि आज वामपक्षीय एकता हो तभी उनका ठीक-ठीक जवाब मिल सकता है। जो लोग यहाँ तक कहने की हिम्मत करने लगे हैं कि किसान-राज्य तो अब कायम होई गया उनके भी होश दुरुस्त तभी हो सकते हैं जब सभी प्रगतिशील या समाजवादी विचारवाले एक होकर काम करें। मगर आज इसी चीज का प्रभाव है और यही दूसरा बड़ा खतरा है।

आखिर हो क्या?

तो क्या अब निराशा ही निराशा है? क्या शोषित-पीड़ितों के लिए अँधेरा ही अँधेरा है? क्या अब कुछ हो नहीं सकता? उत्तर सीधा है। हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। सब कुछ निर्भर करता है कि शोषित-पीड़ितों की आवाज निरन्तर उठाने वाले क्या करते हैं। जो लोग किसान-मजदूरों की ओर से बराबर चिल्लाते रहे हैं वह इस मौके पर क्या करते हैं? यह तो सभी मानते हैं कि इतिहास करवट ले रहा है—भारतीय आजादी की लड़ाई का इतिहास। वह इतिहास दक्षिण करवट ले इसकी पूरी कोशिश है, पूरी तैयारी है, इसका पूरा आयोजन है। दुनिया की ऐसी लड़ाइयों का इतिहास भी यही बताता है कि ऐसे मौके पर वह दाहिनी करवट बदलता है—Right about turn करता है और भारत उसका अपवाद न होगा। यह करवट थोड़ी देर बाद बायीं हो जाय, यह बात जुदी है—Left about turn हो जाय, यह सम्भव है जैसा कि रूस में हुआ था। मगर क्या रूस के जैसा लेनिन यहाँ कोई है? क्या उसके जैसा किसान-मजदूरों का मसीहा और क्रान्ति की कला का पारंगत कलाविद् यहाँ कोई है? अगर नहीं है, तो क्या हम हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहें? मगर इतिहास तो बैठा रहेगा नहीं, समय तो रुकेगा नहीं और किसान-मजदूरों के शत्रु तो इन्तजार करेंगे नहीं। वे तो अपनी राह चले जायँगे। तो क्या यह दाहिनी करवट यों ही बदलने दी जाय और हम कुछ न करें।

करना तो होगा ही। यदि खुद न करेंगे, तो मजबूरन करना पड़ेगा; मगर तब, जब बहुत देर हो चुकी रहेगी और करना-धरना बेकार सिद्ध होगा। यदि हममें वामपक्षी होने के दवादारों में जरा भी नेकनीयती और ईमानदारी होगी जरा भी हया होगी, तो हमें कुछ-न-कुछ ठोस काम करना ही होगा, आगे कदम बढ़ाना होगा। 1934 में हमारे इतिहास की एक मामूली करवट थी, तो वामपक्ष ने कदम बढ़ाया और सोशलिस्ट पार्टी बनी। फिर 1939 में कुछ ऐसा ही मौका था, तो वामपक्षीय कमिटी (left consolidation committee) और पीछे फारवर्ड ब्लाक का जन्म हुआ। मगर इस करवट के सामने वे दोनों कुछ न थीं। तब तो लड़ाई के एक ही पर्व के दरम्यान यह करवट थी। मगर अब तो वह पर्व खत्म हुआ और दाहिनी करवट की जोरदार तैयारी है। फलतः हमें कुछ-न-कुछ ठोस कदम आगे बढ़ाना ही होगा। नहीं तो आने वाली पीढ़ी हमें कोसेगी, धिक्कारेगी।

इस बार हमें कोई नयी पार्टी न बनाकर मुस्तैदी से सभी दलों और पार्टियों का, जो वर्ग-विहीन समाज की स्थापना मार्क्सवादी ढंग से करने को तैयार हैं, एक संयुक्त मोर्चा या प्लेटफार्म बनाना है इस काम के लिए चाहे कोई कमिटी बने या उसे एक पार्टी का ही रूप दिया जाय, यह बात दूसरी है। फ्रांस आदि देशों के संयुक्त मोर्चे की त्रुटियों से हम बचने का भी उपाय करें और कदम आगे बढ़ायें भी। इस

काम के लिए एक केन्द्रीय स्थान पर सभी दलों के प्रमुख व्यक्तियों की और ऐसे लोगों की भी, जो किसी पार्टी में नहीं हैं, मगर मार्क्सवादी विचार रखते हैं, एक बड़ी मीटिंग बुलायी जाय। वह कई दिन चले और सभी पहलुओं पर बखूबी गौर करके किसी नतीजे पर पहुँचे। यह काम जल्द होना चाहिए। देर की गुंजाइश नहीं है।

उस मीटिंग में एक सम्मिलित कार्यक्रम तैयार किया जाय। यह कार्यक्रम कम-से-कम छोटे से छोटा हो। इसमें एक ही दो बातें रहें। मगर वे सर्वसम्मत हों और खुले दिल से सभी दल वाले उन्हें स्वीकार करें। दबी जबान और आधे दिल से स्वीकृत बातें इस प्रोग्राम में न रहें। दृष्टान्त के लिए आज का दक्षिणपक्षी लीडरों का कांग्रेस सम्बन्धी अगला कदम लेकर उसकी असलियत का प्रचार ही ले सकते हैं उसका क्या रहस्य है और इसमें क्या खतरे हैं, इसके प्रचार में किसी को आनाकानी नहीं हो सकती है। फलतः सुसंगठित रूप से इसका मुस्तैदी से प्रचार होने की बात तय कर सकते हैं। इसी तरह की दूसरी बातें भी ढूँढ़ी जा सकती हैं। मेरा अपना विचार है कि राष्ट्रीय आजादी के प्रश्न के एक करवट बैठ जाने के कारण अब किसी भी वामपक्षीय पार्टी के साथ दूसरी पार्टीवालों से संयुक्त मोर्चा बनाने में कोई खास अड़चन नहीं होनी चाहिए। मैं तो यह भी मानता हूँ कि सबों में मार्क्सवाद की इतनी भक्ति, अपने लक्ष्य के प्रति इतनी ईमानदारी-वफादारी और अपने में इतनी हया, इतनी लाज मौजूद है कि जरूर आगे बढ़ेंगे और अनायास हो जाने वाली हाराकिरी से सबों को बचायेंगे। सबों को अपनी प्रतिष्ठा, आत्मसम्मान का खयाल है और यह भी मालूम है कि कुछ न करने पर सबों पर एक के बाद दीगरे भीगे जूते पड़ने हैं। सबों की शान में बट्टा लगना है, बेइज्जती होनी है जो, गीता के शब्दों में मौत से भी बुरी हैं, ''सम्भावितस्य चाकिर्त्तिमरणा दतिरिच्यते।''

महारुद्र का महाताण्डव

महारुद्र का महाताण्डव

कांग्रेस को उद्देश्य-प्राप्ति

जिस उद्देश्य से कांग्रेस का जन्म हुआ था और जिसका स्पष्टीकरण, जिसका खुलासा नागपुर से लेकर लाहौर तक के कांग्रेस अधिवेशनों में किया गया था, उसकी प्राप्ति 1947 के 15 अगस्त को हो गयी, वह उस दिन हासिल हो गया, ऐसा माना जाने लगा है; हालाँकि पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रश्न अभी खटाई में पड़ा ही हुआ है, और भारत में अभी तक उसकी जगह सिर्फ औपनिवेशिक स्वराज्य या डोमिनियाँ राज्य का झण्डा ही गवर्नरों तथा गवर्नर जेनरल के मकानों पर फहरा रहा है, न कि स्वतन्त्र भारत का अपना झण्डा। फिर भी कांग्रेस के नेता इतना तो मानते ही हैं कि उसका वह लक्ष्य मिल गया। इसीलिए बम्बई में कांग्रेस का मन्तव्य उन्होंने बदल दिया।

प्रश्न होता है कि जो कांग्रेस अपनी आधी अवस्था तक, अपनी जवानी में मुट्ठीभर बुद्धिजीवियों और पूँजीपतियों की संस्था रही, उसमें यह निराला कायाकल्प कैसे हुआ, वह पीछे जनसमूह की जमात और संस्था क्यों मानी जाने लगी और बुढ़ापे में उसने अपना ध्येय कैसे प्राप्त किया? सारांश, उसका क्रम-विकास होते-होते वह इस कद्र तगड़ी-तन्दुरुस्त कैसे हो पायी कि अपनी वृद्धावस्था में उसने जबर्दस्त साम्राज्यशाही को हिला-झुका दिया। यह भी सवाल स्वाभाविक है कि इसी दरम्यान उसी कांग्रेस से एकदम अलग और स्वतन्त्र किसान-सभा जैसी अनेक जन-संस्थाएँ और वर्ग-संस्थाएँ कैसे बन गयीं, जिनका संचालन पुराने-से-पुराने और तपे-तपाये कांग्रेसी जन-सेवक ही करते हैं; मगर हकीकत तो यह है कि इन्हें आज कांग्रेस के चोटी के नेता फूटी आँखों भी देख नहीं सकते और अगर उनकी चले, तो उन्हें नेस्तनाबूद करके ही दम लें? यह भी मजेदार बात है कि मेरे जैसा अध्यात्मवादी किस प्रकार सबसे पहले उसी कांग्रेस में आया, वहीं से उस सिकान-सभा में दाखिल हुआ, अपने चिरपरिचित उस अध्यात्मवाद को भूल-सा गया और सर्वथा-सर्वदा स्वतन्त्र किसान-सभा की सर्वात्मना रक्षा के लिए बड़ी-से-बड़ी संस्था, शक्ति और वस्तु को बेमुरव्वती से लात मारने के लिए आज तैयार बैठा है। इसका चरम परिणाम क्या होगा, यह भी

एक बड़ा सवाल है। अन्ततोगत्वा महारुद्र का महाताण्डव नृत्य होगा, या और कुछ?

कांग्रेस और स्थिर स्वार्थ

आरम्भ में बेशक कांग्रेस 'भिक्षां देहि' करने वालों और शासकों के सामने झोली पसारने वालों की जमात थी। 1885 से लगायत 1920 के दिसम्बर में नागपुर से पूर्व उसका काम था प्रस्ताव पास करना, रूठना, बहस-मुबाहसे करना, अर्जी-प्रार्थना-पत्र भेजना, यहाँ से लेकर लन्दन तक शासकों के सामने जमात बाँधकर हाथ जोड़े पहुँचना और आरजू-मिन्नत करना और अन्त में कभी-कभी बेजान धमकियाँ भी दे देना। उस युग के कांग्रेस जन सिर्फ इतना ही कर सकते थे—उनकी पहुँच यहीं तक थी। उससे आगे वे जा न सकते थे, क्योंकि थे वे दबंग, दिमागदार, प्रतिभाशाली पुरुष और अपने समाज में प्रभाव रखनेवाले मालदार। इसका कारण था, मुल्क के ऊँचे तबके के मुट्ठीभर लोगों की ही तो दरअसल वह कांग्रेस थी। ऐसे लोग ही पढ़े-लिखे होने के कारण संगठित-सामूहिक आन्दोलन और आवाज के महत्त्व को समझ सकते थे।

लेकिन, एक तो उनकी बिरादरी छोटी थी; दूसरे दिमागदार और मालदार होने के कारण उनमें दब्बूपन अर्ले दर्जे का था। स्थिर स्वार्थवाले स्वभावतः दब्बू और डरपोक होते हैं और विद्या एवं लक्ष्मी गिने-गिनाये स्थायी स्वार्थों में हैं। गुलाम बनाने पर तुले बैठे राक्षसों से लड़कर ही अपना हक हासिल किया जा सकता है। मगर सर पर गट्ठर या घड़ा रखकर कोई भी सिपाही जूझ नहीं सकता, और स्थायी स्वार्थ उस गट्ठर घड़े के समान ही तो है। यही वजह है कि आकाओं और शासकों की मर्जी से ही जो जूठन हासिल किया जा सकता था, उनने किया। साथ ही उनने एक महान् कार्य और भी कर डाला, जिसका उन्हें शायद ही खयाल रहा हो या जिसे वह शायद ही सम्भव समझते रहे हों। मध्यम वर्ग के सबसे ऊँचे स्तर या तबके वाले इन लोगों के इस सीमित आन्दोलन के परिणामस्वरूप उनसे कुछ ही नीचे और सम्बद्ध उच्च मध्यमवर्ग का दूसरा तबका जाग उठा, जिसमें अधिकांश सभी प्रकार के पढ़े-लिखे लोग होते हैं।

फलतः उन्नीसवीं सदी के बीतते-न-बीतते इस दूसरे दल ने आँखें खोलीं और क्षेत्र में कूद जाना तय कर लिया। 1885 से उस शताब्दी के अन्त तक कांग्रेस में जहाँ उच्च मध्यमवर्ग के ऊपरी भाग का दबदबा रहा है, तहाँ उसके बाद उसके निचले भाग ने उसमें पैर जमाना चाहा और एतदर्थ कशमकश जारी की। पूरे पन्द्रह साल गुजरते-न-गुजरते लखनऊ में उस तबके के ऊपरी भाग की हार और निचले की जीत हुई है। जिस प्रकार 1857 के आसपास वाले प्रथम विद्रोह के समय जो रहनुमाई, जो नायकत्व सामन्तवर्ग के हाथ में आया, वह कम-बेश तीस साल तक कभी ऊपर और कभी नीचे—कभी छिप के और कभी खुल के देखा जा रहा था, और 1885 में खत्म हो गया, ठीक उसी प्रकार उस वर्ग के उच्च स्तर के हाथ में रहने वाला

नेतृत्व पूरे तीस साल बाद उसी वर्ग के निम्न स्तर को मिला। या यों कहिये कि जिस तरह सामन्तवर्ग का नेतृत्व उच्च स्तर ने छीना और बाहरी दुनिया को इसका पता तक लगने न दिया, उसी तरह उसकी लीडरी निम्न स्तर ने छीन ली, हालाँकि उसे लखनऊ का समझौता नाम दिया गया है, जो उच्च मध्यवर्ग के उच्च एवं निम्न स्तरों या दलों के ही बीच दरअसल हुआ था। इस तरह सर फिरोजशाह मेहता प्रभृति के नेतृत्व के स्थान पर राष्ट्रीय आजादी के आन्दोलन का नायकत्व, उसकी रहनुमाई बाल गंगाधर तिलक आदि ने करनी शुरू कर दी, जो ज्यादा दिनों तक टिक न सकी और 1921 में नागपुर महात्माजी के हाथों में कार्य कारणवश–परिस्थिति के चलते–चली गयी। 1916 में लखनऊ में आयी और 1921 में नागपुर में चलती बनी।

जिन परिस्थितियों और जिन हालात के चलते महात्माजी राष्ट्रीय नेता के रूप में मैदान में आये, उनका विश्लेषण-विवेचन करने के पहले यहाँ हमें एक अहम मसले पर नजर दौड़ानी है। यह तो सभी समझदार मानते हैं कि जो कि 1857 वाला विद्रोह राष्ट्रीय आजादी की ही स्पष्ट लड़ाई थी, फिर भी उसका नेतृत्व सामन्तवर्ग के ही हाथों में रहने से वह कुचल दिया गया। केवल उसकी आग कुछ समय तक खुल के, छिपे-छिपे, धक-धक जलती रही पूरे तीस साल तक। उसकी आग को 1885 में कांग्रेस का नाम-रूप, इसकी सूरत-शक्त मिली। जैसे 1857 को बाहरी दुनिया ठीक-ठीक समझ न सकी, वैसे ही 1885 को भी। मगर बात थी एक ही, इस तरह तीस साल तक राष्ट्रीय संग्राम का पहला पर्व चला।

नेतृत्व और उसका विरोध

लेकिन, अगले तीस साल के दरम्यान उसके दो पर्व गुजरे, जैसा कि अभी-अभी कहा है। एक ही उच्च मध्यमवर्ग के दो स्तरों के नीचे कुश्तम कुश्त होने के कारण उसे दो पर्व कहना ज्यादा ठीक है। पहले पन्द्रह साल तो सकुशल रहे, सामन्त-नेतृत्व के तीस साल। परन्तु बाद के शेष पन्द्रह दोनों स्तरों के परस्पर महाभारत के चलते बेचैनी से गुजरे और अन्त में उच्च स्तर को मैदान छोड़ना पड़ा। इस तरह यद्यपि उच्च मध्यम वर्ग (uppermiddle class) का नेतृत्व भी तीस साल ही कहा जा सकता है, तथापि इसमें पहले सामन्त वर्ग के नेतृत्व जैसी बात अन्त तक न रहकर पूर्व के पन्द्रह साल ही रही। उस वर्ग के भिन्न स्तर ने शेष पन्द्रह साल नेतृत्व लेने की कुश्ती में बिताये थे। इसीलिए उसका नेतृत्व स्पष्टतः सिर्फ पाँच साल ही टिक सका। इस तरह साफ देखते हैं कि जैसे-जैसे जन-जागरण बढ़ता गया और भारत के पूरे समाज के भीतर के अनेक स्तरों में क्रमशः आजादी की चाह की आग घुसती गयी, तैसे-तैसे नेतृत्व का काल घटता गया। जो भी नायकत्व किसी समय था, उसकी जगह लेने के लिए इसके नीचे के स्तर ने जल्द-से-जल्द युद्ध छेड़ा और अन्त में कामयाबी हासिल की। यही कारण है कि जहाँ मालवीय और तिलक प्रभृति के नेतृत्व को लखनऊ

के बाद प्रायः तीन साल की साँस मिली 1919 के जमाने तक, तहाँ महात्माजी के नेतृत्व के विरुद्ध ठेठ 1921 में ही चौरी-चौरा और दूसरी जगह सक्रिय विद्रोह का श्रीगणेश हो गया। महात्माजी ने तो तिलक-मालवीय नेतृत्व के विरुद्ध 1919 में जंग जारी की थी तीन साल के बाद। मगर चौरी-चौरा तो 1921 के शुरू में ही आया और था वह उनकी अहिंसा के विरुद्ध एक निर्जीव चैलेंज, जो टिक न सका। इसीलिए उसे एक क्रियात्मक सूचना या नोटिस भी कह सकते हैं, जिसने 1930-32 में एक प्रकार से विराट रूप धारण करके उनके सत्य-अहिंसा को दफना ही दिया, जहाँ तक उसका आजादी की लड़ाई से ताल्लुक था। इसे कौन नहीं जानता, जो इस समय का इतिहास जानता और भीतरी आँखों से उसका निरीक्षण करता है।

जनशक्ति की झाँकी

अच्छा अब उन हालातों का, उन परिस्थितियों का विचार करें जिनने महात्मा गांधी को आन्दोलन के लिए विवश किया और फलस्वरूप राष्ट्रीय महाभारत का नेतृत्व उन्हें सौंपा। जैसा कि कह चुके हैं, उस महाभारत के तीन पर्व नागपुर—दिसम्बर, 1921 के पूर्व पूरे हो चुके थे। इस साठ साल से भी लम्बी मुद्दत में सिर्फ सामन्त, स्थायी स्वार्थ वाले बुद्धिजीवी और दिमागदार लोग ही मैदान में उतरे थे। बंग-भंग वाला आन्दोलन देश में दूसरी जगह फैलने पर भी एकमात्र पढ़े-लिखे बाबुओं का ही था, जिसके अगुआ तिलक थे, अरविन्द थे। वह जनान्दोलन न था, जनसमूह का आन्दोलन न था, जनता का सामूहिक आन्दोलन ही था। इसलिए समूचे आन्दोलन में क्रमिक प्रगति होने पर भी और जनजागरण होने पर भी अपना ध्येय और मकसद हासिल न कर सका। जैसा कि मिस्टर मांटेग्यू ने अपनी रिपोर्ट में साफ लिखा है, ब्रिटिश सरकार का मूलाधार था जनता का सहयोग; फिर चाहे वह स्वेच्छापूर्वक हो या अनिच्छापूर्वक। यह भी सर्वमान्य बात है कि जनता के सामूहिक सहयोग के बिना कोई भी शासन टिक नहीं सकता, चल नहीं सकता। और, जब तक उसे वह सहयोग प्राप्त है कोई भी ताकत उस शासन को डिगा-मिटा नहीं सकती। अब तक यही बात थी। बाबू सामन्त और मालदार हजार उछल-कूद करने पर भी सरकार को इसीलिए डिगा न सके कि उनने जन-समूह को इस काम में अपने साथ नहीं लिया। इसीलिए सब कुछ कर-कराके थक गये। उनके सामने और मुल्क के सामने भी चारों ओर निराशा ही नजर आती थी।

इस कठोर सत्य को महात्माजी ने देखा और खूब ही देखा। इससे पूर्व दक्षिण अफ्रीका में उन्हें जनशक्ति की झाँकी मिल चुकी थी। उनने वहाँ जनान्दोलन की अपार महिमा का अस्पष्ट दर्शन किया था। भारत में भी खेड़ा, चम्पारण और रोलेट कानून के सिलसिले में उन्हें इसकी झलक नजर आयी थी। उनने यह भी स्पष्ट देखा कि मुल्क में सभी तरह के गर्जन-तर्जन आदि तो आजमाये जा चुके और नतीजा

कुछ ठोस नहीं निकला; केवल जनान्दोलन की आजमाइश बाकी है।

बस, उनने गाँवों की ओर नागपुर में मुँह मोड़ा और जनान्दोलन की भेरी बजायी। उन्हें आजादी लेनी थी और उसका उपाय उनके सामने दूसरा था नहीं। वे विवश थे। अपनी दृष्टि से वे इसके खतरों को भी कुछ-कुछ देखते थे—बड़े खतरों को, जिनका सिग्नल उन्हें फौरन ही चौरी-चौरा में मिला। मगर मजबूरी थी। इतना जल्द अलार्म सिग्नल बजेगा, उनने सोचा भी न था। उनके चलाये इस विराट् जनान्दोलन के फलस्वरूप शोषित-पीड़ित जनता के बहुतेरे स्वतन्त्र आन्दोलन महाकाय होकर चल पड़ेंगे, इसका तो शायद उनने ख्वाब भी नहीं देखा था। इस प्रकार चौथा पर्व चला और खूब ही चला। इसने मदमत्त साम्राज्यशाही की जड़ एक बार तो बेमुरव्वती से हिला दी। बाबू लोग भी इसमें बलात् खिंच आये—दिमागदार बाबू लोग! उनका इसमें विश्वास न था। क्योंकि थे तो वे तृतीय पर्व वाले लीडरों के जमात के ही। इसीलिए एक साल के भीतर जैसा महात्मा ने कहा था, इस जनान्दोलन को सफलता न मिलने पर उन्हीं बाबुओं ने दास-नेहरू के नेतृत्व में पुनरपि वही गर्जन-तर्जन वाला अपना चिर-परिचित रास्ता पकड़ा। स्वराज्य पार्टी की असलियत यही थी।

बाबू-दल का जन-दल से संघर्ष

इस तरह जनान्दोलन और बाबू-आन्दोलन में परस्पर कभी कुश्ती होती और कभी ठण्डक आती रही। फिर भी चुनावों के रूप में इस जनान्दोलन ने ही बाबू-आन्दोलन को भी ताकत दी। तो भी जन-पार्टी एवं बाबू पार्टी की रस्साकशी बराबर चालू थी। बाबू-दल वैधानिकता का कायल था, जिसके सीधे मानी हैं फूँक-फूँक के पाँव देना। कहीं ऐसा न हो कि जन-शक्ति प्रबल होकर बाबू-दल और उसके स्वार्थों को सदा के लिए दबा दे, इसीलिए वह 'दल सँभल-सँभल पग धरिए' को जपा करता था। पार्लिमेण्टरी प्रणाली के आन्दोलन का यही रहस्य है।

विपरीत इसके जन-पार्टी का नेतृत्व उसमें भागता था और सीधी लड़ाई चाहता था; लेकिन कोई इससे यह न समझ ले कि वह विस्फोटकारी जन-शक्ति से आतंकित न था। उसने भी इतिहास पढ़ा और उससे सबक सीखा था। वह भी जानता था कि अनियन्त्रित जन-शक्ति भी भूकम्प लाती और प्रलय कर देती है। साथ ही निरी वैधानिक पद्धति की निस्सारता को बखूबी जान लेने के कारण वह जनशक्ति को एक बार पूर्णरूपेण उभाड़ना भी चाहता था, जिससे लक्ष्य-सिद्धि हो सके। उसका यह भी इरादा था कि जन-शक्ति को उद्बुद्ध करने के लिए जनान्दोलन निर्बाध चलाकर ही उस शवित को नियन्त्रण में रखा जा सकता है, जिससे समय पर संहारक विस्फोट रोका जा सके। वह जनता का विश्वास पात्र बनकर ही उसका स्थायी नेतृत्व एवं नियन्त्रण करने के सपने देखा करता था और यह बात जनान्दोलन को रोक देने से सम्भव न थी। क्योंकि तब विराट जनसमूह को शक करने की गुंजाइश थी कि

ये नेता हमारे नहीं हैं। महात्माजी और श्री राजगोपालाचारी प्रभृति उस समय के अपरिवर्तन का यही रहस्य है। 1930, 1932 और खासकर 1934 में हिंसा-अहिंसा के नाम पर जनान्दोलनों को संकुचित करने तथा रोक देने के यही मानी हैं। प्रारम्भ में सभी व्यापक हड़तालों को पूर्णतः प्रोत्साहित करके और धरना देने के मार्ग को बढ़ावा देने के बावजूद पीछे छात्रों की हड़तालों, मजदूरों के धरने आदि को महात्माजी के द्वारा जली-कटी सुनाने का यही आशय है। यही कारण है कि 1936-37 आते-न-आते बाबू दल की वैधानिकता की विजय हो गयी और पीछे चलकर 1939 तथा 1942 के जनान्दोलन उसी के पोषक के रूप में ही चलाये गये—उसी के पुछल्ले बना दिये गये। इस प्रकार दोनों में जो पारस्परिक भयंकर विरोध 1921 के बाद जान पड़ता था वह मिट गया और दोनों में सामंजस्य हो गया। 1947 के 15 अगस्त वाले स्वराज्य का यही तथ्य है इसकी यही असलियत है।

अगस्त-क्रान्ति सही या गलत

यहीं पर एक स्पष्ट बात कहने के लिए भी जी चाहता है। 1942 में अगस्त-क्रान्ति हुई, यह बातचीत तभी से चालू है और आज भी उसकी अहमियत बड़े जोर से बखानी जाती है। इसमें झगड़ने का न तो समय है और न इसकी जरूरत ही है। मगर प्रश्न तो यह है कि क्रान्ति जनशक्ति को—उस अनियन्त्रित जनशक्ति को, जो प्रलयंकर विस्फोट लाती है, महारुद्र का महाताण्डव करवाती है—बढ़ानेवाली, पूर्ण रूप से पल्लवित-पुष्पित करनेवाली थी या कि बाबू दल की वैधानिक शक्ति को ही? जनशक्ति को भी उसने बढ़ाया ही सही; लेकिन उससे भी लाख गुना यदि बाबू-शक्ति को, बाबुओं को वैधानिक बल को बढ़ाया हो, तो मानना ही होगा कि जिस अगस्त-क्रान्ति का हमें गौरव है, फक्र है, उससे हम आगे बढ़ने के बजाय सब मिलकर पीछे हो गये। अप्रिय होने पर भी यह अत्यन्त विचारणीय बात है। और यह तो मानना ही होगा कि बाबुओं की वैधानिक शक्ति उससे इतनी बढ़ी कि साम्राज्यशाही ने घुटने टेक उसके लिए गद्दी खाली कर दी। उन्हीं बाबुओं की संस्था-पार्टी-कांग्रेस के विरोध में खड़े होने की हिम्मत आज किसे है? क्रान्तिकारी शक्तियों को ये बाबू आज फूटी आँखों भी देख नहीं सकते। ये शक्तियाँ बिखरी हुई हैं, जिससे इन बाबुओं के दमन दबाव का जमकर सामना करने में असमर्थ है। चीन, हिन्द चीन, हिन्द-एशिया, मलाया और बर्मा में तो अगस्त-क्रान्ति जैसी कोई चीज हुई नहीं और सर्वत्र क्रान्तिकारी जनशक्तियाँ इन बाबुओं एवं उनकी सरकारों के छक्के छुड़ा रही हैं। चीन तो शायद शीघ्र ही इन बाबुओं के शिकंजे से बाहर चला जायगा। बाकियों में भी कुछ ऐसा ही होने वाला है। हाँ, इसमें कुछ देर हो सकता है। बर्मा आदि देशों में बाबू-दल विप्लवी शक्तियों को मिलाने के लिए काफी आगे बढ़ा भी है—इतना आगे, जिसकी कल्पना भी भारत की 'राष्ट्रीय' सरकार कर नहीं सकती। बर्मा को तो बिना इस

क्रान्ति के ही पूर्ण स्वतन्त्रता मिल चुकी है, जबकि अगस्त-क्रान्ति का क्रीड़ा स्थल हमारा भारत अभी तक ब्रिटेन का उपनिवेश ही है। इसी प्रकार की बहुतेरी बातें हमें सोचने को बाध्य करती हैं कि अगस्त का तूफानी आन्दोलन गलत कदम था या सही।

किसान-सभा विप्लवी शक्तियों की प्रतीक

हाँ, तो हम उसी चौथे पर्व पर आयें और आगे बढ़ें। जब बराबर के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष संघर्षों में, असहयोग और चुनावों में सरकार पछाड़-पर-पछाड़ खाने लगी—वही सरकार, जो पशुबल और सम्प्रभुत्व में अपना सानी नहीं रखती थीं, सो भी निहत्थी जनता के दृढ़ संकल्प के सामने, तो बलात् गाँवों की जनता को भान होने लगा कि हममें अपार शक्ति है, जिसे भूल गये थे। 1930-32 के सत्याग्रह और 1934 के केन्द्रीय चुनाव ने इस पर कस के मुहर भी लगा दी। 1936-37 के चुनाव ने तो स्पष्ट ही बता दिया कि ग्रामीण जनता के पास अपरमपार शक्ति है, जो किसी को झुका सकती है। इसी भाव ने, जनशक्ति के इसी ज्ञान ने किसान-आन्दोलन को जन्म दिया। जनान्दोलन का मूल तो गाँवों में ही था उसके मूलस्तम्भ किसान ही थे। असहयोग-आन्दोलन का कार्यक्रम प्रधानतः उन्हीं को ध्यान में रखकर तैयार हुआ था। अधिकांश वही उस आन्दोलन में खिंचे भी। फलतः अपनी अजय शक्ति का ज्ञान विशेष रूप से उन्हीं को हुआ। उसने सोचा कि अगर हम अपार बलशाली साम्राज्यशाही को पछाड़ सकते हैं, तो इन जमींदार-मालगुजारों और सूदखोरों की क्या हस्ती? ये तो उसी साम्राज्यशाही के बनाये हुए हैं। जब हमने हाथी या सिंह को पछाड़ लिया, तो बिल्ली या चुहिया की क्या बिसात? यदि संगठित जनान्दोलन ने सरकार को मात किया, तो संगठित किसान-आन्दोलन ही जमींदार को करारा पाठ पढ़ायेगा, यह निष्कर्ष किसानों और उनके सेवकों ने स्वभावतः निकाला। 1927-28 से ही यह आन्दोलन किसान-सभा के रूप में जन्म लेकर क्रमशः पुष्ट और शक्तिशाली होता गया, ज्यों-ज्यों किसानों को अपनी अपारशक्ति के भान की मजबूती होती गयी। 1936-37 के बाद तो 1938-39 में या उससे पूर्व एक बार किसान-सभा ने बिहार में, युक्तप्रान्त में या अन्यत्र सामन्तशाही शक्तियों एवं उनके हिमायतियों को जड़ से हिला दिया। आज जमींदारी मिटाने की व्यापक चिल्लाहट उसी का परिणाम है।

इस प्रकार राष्ट्रीय आजादी के महाभारत के चतुर्थ पर्व में होने वाले कांग्रेस के जनान्दोलन ने ही अनिवार्य रूप से किसान-आन्दोलन को जन्म देकर बलवान बनाया। यह आन्दोलन या किसान-सभा उन्हीं विप्लवी या विस्फोटकारी शक्तियों का प्रतीक है, जो भीषण भूकम्प लाती है और महारुद्र का महाताण्डव कराती है। समय-समय पर सोशलिस्ट पार्टी, फारवर्ड ब्लाक आदि विभिन्न वामपन्थी दलों का जन्म उन्हीं प्रलयंकर शक्तियों का समयोचित पथ-दर्शन कराने के लिए ही हुआ है

और इन दलों के नेता कर्मठ कांग्रेस जन ही रहे हैं। या हैं, जैसे किसान-सभा के नेता भी वही रहे हैं और आज भी हैं।

ग्रामीण सर्वहारा जागरण

राष्ट्रीय महाभारत का पाँचवाँ पर्व किसान-सभा प्रभृति की शक्ल में क्रान्तिकारी शक्तियों का प्रादुर्भाव ही है। नियमानुसार ये शक्तियाँ बाबुओं की प्रतिगामी शक्तियों के साथ घोर संघर्ष करती हुई आगे बढ़ती ही जा रही हैं। यदि माता की उत्तराधिकारिणी पुत्री या पिता का उत्तराधिकारी पुत्र होता ही है तो कांग्रेस और उसके जनान्दोलन से उत्पन्न किसान आन्दोलन तथा किसान-सभा प्रभृति विप्लवाहिणी को अनिवार्य रूप से कांग्रेस का उत्तराधिकारी बन के उसकी गद्दी पर आसीन होना है। इसे कोई शक्ति रोक नहीं सकती। तभी वास्तविक राष्ट्रीय आजादी की स्थापना की होगी।

महाभारत का पंचम पर्व 1942 तक ही पूरा हो गया। 1927-28 से शुरू होकर प्रायः पन्द्रह साल तक किसान आन्दोलन सर्वाधिक शोषित-पीड़ित किसान जनता के उच्च स्तर तक ही सीमित था। फलतः यह भी एक प्रकार से मध्यमवर्गीय आन्दोलन ही था। खाते-पीते या साधारण किसान ही इसमें अधिकांश भाग लेते थे और यही स्वाभाविक भी था। मगर 1942 के बाद तो किसान-सभा में गाँवों के एक प्रकार के सर्वहारा लोग ही प्रधानतः आने लगे। अब वहाँ उन्हीं की प्रधानता पायी जाती है, उन्हीं की आवाज सुनी जाती है और यही छठा पर्व है और यही अन्तिम भी होना चाहिए, अन्तिम है। समाज के सबसे ऊपर के तबके या स्तर से शुरू करके आजादी की यह आग, उसकी यह लगन और तन्मूलक जागरण धीरे-धीरे सबसे नीचे के स्तर में घुस रहा है और घुस गया है। उनके भीतर बेकली पहुँच चुकी है। गाँवों के अर्द्धसर्वहारा जाग रहे और अपने हकों तथा कर्त्तव्यों को तत्सम्बन्धी कर्त्तव्यों को पहचान रहे हैं, पहचान चुके हैं। शहरों और कारखानों के पूर्ण सर्वहारा लोगों के साथ उनका सम्मिलित सम्मेलन होना अभी बहुत हद तक बाकी है। उसमें थोड़ा समय लग सकता है। हो सकता है, 15 वर्ष की अवधि इसमें भी लगे जिसमें 6-7 साल तो गुजर चुके हैं। उतने ही वर्ष सम्भव है और लगें और 1957 का समय इसे पूरा होने में आ जाय। ठीक है, 1757, 1857 और 1957 अपना महत्त्व इस सम्बन्ध में रखते भी हैं। वह सम्मेलन पूर्ण हुआ और बेड़ा पार।

शोषितों का महाताण्डव

लेकिन एक बात अब सत्य है। समस्त समाज के सबसे निचले स्तर में आजादी की तड़प की यह आग पहुँचकर धू-धू जलने लगी है, निरन्तर तेज होती जा रही है। यह कभी भड़केगी और बुरी तरह भड़केगी। गत गर्मियों में पटने में एक विराट किसान रैली हुई थी। कुछ चतुर जमींदारों ने उसमें एकत्रित किसानों को गौर से देखा था।

दस साल पूर्व की रैलियों को भी उसने उसी तरह देखा था। इस बार उनका कहना था कि इसमें तो ज्यादातर भूखा किसान ही या खेत-मजदूर ही थे। इससे सिद्ध है कि नीचे आग जा चुकी है, जो कभी-न-कभी विस्फोट लायेगी, ठीक वैसे ही, जैसे भूमि के नीचे की आग भूकम्प लाती है। ये भुक्खड़ करवटें बदलेंगे और उनके ऊपर लदे सभी स्तर और इस प्रकार समस्त समाज ही उलट जायगा, धँस जायगा। यह अवश्यम्भावी है अनिवार्य है। यह चीज कार्य-कारणवश हो के रहेगी, सो भी शीघ्र ही 1957 तक जरूर ही, यदि उससे पूर्व न हुई। परिणाम में यह जीर्ण-शीर्ण और शोषण चीत्कारों से पूर्ण समाज ध्वस्त हो के उसके स्थान पर शोषणहीन समाज बनेगा और संसार—भारत मंगलमय होगा। आज की भाषा में शोषित-पीड़ित जनता के इसी करवट बदलने को विप्लव या क्रान्ति कहते हैं। हम इसे ही प्राचीन भाषा में महारुद्र का महाताण्डव नृत्य कहते हैं। कहते हैं कि जब महारुद्र व्यापक अन्याय-अत्याचारों एवं कर्णभेदी क्रन्दनों से ऊब कर महाताण्डव नृत्य करते हैं, तो उनके पाँवों के चोटों से यह जमीन जहन्नुम जाने लगती, बाँहों की चपेटों से चाँद, सूरज और तारे कहाँ-के-कहाँ पड़ाक-पड़ाक जा गिरते, आकाश की धज्जियाँ उड़ जातीं और जटा की सटासट्ट मारों से स्वर्ग बैकुण्ठ टूट-टाट के मिट्टी में मिलेंगे, ऐसा दीखता है। यद्यपि महारुद्र का यह ताण्डव उन्हीं अन्याय, अत्याचारों और क्रन्दनों के मिटाने के लिए ही होता है, तथापि उसका प्रारम्भिक परिणाम उलटा ही दीखता है—

'मही पदाघातद्व्रजति सहसा संशय पद्म,
पदविष्णोभ्राम्याद्-भुजपरिघ-रुग्ण-ग्रहगणम्।
मुहुद्यौ दौस्थ्य यात्यनिभृत जटा ताडिततटा,
जगद्रक्षागै त्वं नटसि ननु वामैव विभूता।'

और शायद उसी ताण्डव की तैयारी कराने के लिए ही, नहीं-नहीं, सम्भवतः उसी के साक्षात् दर्शन के वास्ते ही मैं कोरे अध्यात्मवाद की निष्क्रिय दुनिया से भटककर इस सक्रिय संसार, सक्रिय वेदान्तवाद में आ फँसा हूँ, कौन कहे।

किसान कौन है?

आज बहुतों की यह पूछने की इच्छा होती है कि वे किसान कौन हैं, जिनके नाम पर तथा जिनकी तरफ से हम बोलते और काम करते हैं और जिन्हें हम पूरे क्रान्तिकारी बनाना चाहते हैं? इस समय तो मध्यम श्रेणी के और बड़े-बड़े खेतिहर ही अधिकांश किसान-सभा और उसके काम के साथी हैं और अभी सभा की वर्तमान दशा में दूसरी बात हो भी नहीं सकती। साफ शब्दों में कह सकते हैं कि वही दोनों तरह के खेतिहर किसान-सभा का उपयोग अपने हित और लाभ के लिए कर रहे हैं। साथ ही हम भी सभा को मजबूत करने के लिए या तो उन दोनों निचले दर्जेवालों और उनके ऊपरवालों में अपने राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों और जरूरतों की पूरी जानकारी

नहीं हो जाती और उनमें वर्ग-चेतना नहीं आ जाती! लेकिन, सच पूछिए तो अर्द्धसर्वहारा खेत-मजदूर हो, जिनके पास या तो कुछ भी जमीन नहीं है या बहुत ही थोड़ी है और टुटपुँजिये खेतिहर, जो अपनी जमीन से किसी तरह काम चलाते और गुजर-बसर करते हैं, यही दो दल हैं, जिन्हें हम किसान मानते हैं, जिनकी सेवा करने के लिए हम परेशान और लालायित हैं और अन्ततोगत्वा वही लोग किसान-सभा बनायेंगे, उन्हें ही ऐसा करना होगा। जबकि दूसरे लोग किसान-सभा में रहते हुए भी किसान-सभा के नहीं हैं, ये दोनों सभा में हैं और सभा के हैं। फलतः हमारी यह हमेशा कोशिश होनी चाहिए कि उनके पास पहुँचें, उन्हें उत्साहित करें, और किसान-सभा में उन्हें लायें। जब तक हम इस यत्न में सफल नहीं हो जाते, तब तक हमारा काम बराबर अधूरा और अपूर्ण ही रहेगा। समाज के जो स्तर और दल जितने ही गरीब और नीचे हैं, उतने ही वे हमारे निकट हैं। इसीलिए जो सबसे नीचे के या खेत-मजदूर और हरिजन हैं, वे हमसे अत्यन्त निकट हैं। उनके बाद टुटपुँजिये खेतिहर आते हैं और बस वहीं पर किसानों का वर्ग खत्म हो जाता है। हम मध्यम खेतिहरों को सिर्फ तटस्थ बना सकते हैं, ताकि वे शत्रु का पक्ष न लें। लेकिन हमारी आखिरी लड़ाई में बे साथ देंगे, यह आशा हम नहीं कर सकते।

लेकिन, अफसोस है कि ये असली किसान समाज के ऊपर तबके वाले हम लोगों में, विश्वास नहीं करते—उन्हीं लोगों में, जो किसान-सभा के विकास की वर्तमान दशा में अधिकांशतः उसमें काम करते और उसे चलाते हैं। यह है भी ठीक ही। इसलिए हमारा यह अनिवार्य कर्तव्य है कि हम अपने अमल और बर्ताव के द्वारा उनके प्रति अपनी नेकनीयती का सबूत दें और इस तरह अपने को उनका प्रियपात्र बनायें।

धर्म और ईश्वर

लेकिन इन असली किसानों को किसान-सभा में हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे कट्टर भाग्यवादी बन गये हैं, उनने सभी कार्यारम्भ-शक्ति खो दी है और भविष्य के लिए वे निराश हो गये हैं। खूबी तो यह है कि भगवान् और धर्म के नाम पर ही उनकी यह दशा हो गयी है। ऐसा कहा जाता है कि धर्म और भगवान् की ओर प्राचीनों का, ऋषियों का, और भविष्य दर्शियों का खयाल इसलिए गया और ये धर्म तथा ईश्वर इसलिए प्रकट हुए कि आत्मा और जीव की भूख को शान्त करें। अपने जीवनभर मैं संस्कृत, साहित्य; भारतीय दर्शनों का बड़े चाव और ध्यान से अध्ययन करता रहा हूँ और उनके द्वारा धर्म तथा भगवान् के विषय में थोड़ा-बहुत जानने और समझने का दावा भी रखता हूँ। मैंने गीता को भी हृदयंगम किया और वह मुझे प्रिय है। लेकिन मुझे उनमें से किसी में भी उस अतलगर्त का पता नहीं लगा, जिसमें 'अर्वाचीन धर्म' ने जनता को ढकेल दिया। इसलिए इस तरह धर्म को मिट

जाना ही होगा। क्योंकि हमारे जीवन में इसके लिए स्थान हई नहीं। इसकी तो हालत यह है कि आज यह आत्मा की भूख शान्त करने के बजाय दरअसल कमाने वाली जनता के शोषकों और लूटनेवालों की लिप्सा और तृष्णा की ही सन्तुष्टि कर रहा है और उसके लिए वायुमण्डल तैयार कर रहा है। क्योंकि वास्तव में इसने उस जनता की आत्मा को मार डाला है, उसके भीतर की सभी आरम्भिक शक्तियों को खत्म कर दिया है और उसे कट्टर भाग्यवादी बना दिया है। क्या मैं धर्माचार्यों, धर्मोपदेशकों और धर्मशिक्षकों से एक छोटा सा प्रश्न करूँ? क्या सचमुच धर्म और सर्वशक्तिमान भगवान् का यही काम है? और, अगर यही बात है तो अपने-आप को कायम रखने का इन्हें क्या हक है? वे इस भूमण्डल से मटियामेट क्यों न कर दिये जायँ? किसान-सभा के सभी कार्यकर्त्ताओं का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि 'अर्वाचीन धर्म' की इस प्रवंचना का भण्डाफोड़ करें और खयाल रखें कि जनता के दिल और दिमाग से इसका जादू एकदम मिट जाय। जब तक ऐसा नहीं हो जाय, जनता के लिए कोई आशा नहीं।

नोट–कांग्रेस से इस्तीफा के बाद 1949 में यह प्रकाशित हुआ–सम्पादक

कांग्रेस–तब और अब

मौलिक मतभेद

6 दिसम्बर 1948 को मैंने कांग्रेस की प्राथमिक सदस्यता से और इसलिए उसकी अखिल भारतीय कमिटी से लेकर नीचे की सभी कमिटियों की सदस्यता से भी इस्तीफा दे दिया। हो सकता है, लोग इसकी वजह जानना चाहें। इसीलिए संक्षेप में उसे बता देना उचित मानता हूँ।

1920 के दिसम्बर में नागपुर के अधिवेशन से लेकर आज तक मैंने कांग्रेस कभी नहीं छोड़ी और यथाशक्ति उसकी सेवा की है। बीच में नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोस के साथ ही मेरे जैसें ही कुछ तुच्छ व्यक्तियों को भी कांग्रेस से हटाया गया था जरूर, मगर इसमें हमारी मजबूरी थी। हम उस समय कांग्रेस छोड़ना चाहते थे। आजादी की जंग के दरम्यान ऐसा करना हम देश के साथ गद्दारी समझते थे चाहे उसकी नीति के सम्बन्ध में हाईकमाण्ड के साथ हमारा मौलिक मतभेद क्यों न था। उसी समय कांग्रेस के प्रमुख नेता साम्राज्यशाही से समझौता करने को परेशान थे। इसीलिए उसने बम्बई वाली अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की बैठक में किसानों, मजदूरों एवं शोषित जनता की सीधी लड़ाइयों को बन्द कर देना तय कर दिया, बावजूद समस्त प्रगतिशीलों एवं वामपन्थियों के सम्मिलित विरोध के। वे यह भी चाहते थे कि कांग्रेस में एक ही विचारधारा (homogenety) रहे। यह खतरनाक बात थी। सुभाष बाबू के नेतृत्व में हमने इसका खुला प्रतिपाद किया जिससे हाईकमाण्ड हम सबों पर टूट पड़ा। लेकिन इतना तो हुआ कि कांग्रेस में एक ही विचारधारा लाने की कोशिश बन्द हुई, कुछ समय तक तो जरूर ही।

आजादी की लड़ाई और उसका नेतृत्व

कांग्रेस की दो बातें बुनियादी तौर पर महत्त्वपूर्ण रही हैं–आजादी की लड़ाई और उसका नेतृत्व। नागपुर में कांग्रेस ने जब करवट बदली, तो जंगे आजादी की साम्राज्यशाही के विरोध में सीधी लड़ाई और प्रत्यक्ष युद्ध को–आगे रखा। यह परम्परा

1945 तक चली आयी। यह बात 1921, 1930, 1932 और 1942 में साफ देखी गयी। 1934 और 1938-39 में उसने अप्रत्यक्ष या वैधानिक संघर्ष की ओर पाँव बढ़ाया सही, फिर भी यही कह के कि यह उसी प्रत्यक्ष युद्ध का पोषक है, अंग है—उसी की तैयारी है। यह जंगे आजादी उसकी पहली बुनियादी और मौलिक चीज रही है। इसके साथ नेतृत्व का भी प्रश्न रहा है, इस युद्ध का, कांग्रेस का और इसीलिए उसके द्वारा मुल्क का नेतृत्व किसके हाथों में रहे। कौन कब, किस और मुल्क को, और कांग्रेस को भी, कैसे चलाये, यह सवाल उसकी दूसरी बुनियादी बात रही है। एक ही विचारधारा वाला झमेला इसी दूसरी बात का बाहरी रूप था, जो उठकर दब गया और पहली ही आगे रही—ऊपर रही— 1945 वाले असेम्बली के चुनावों के पूरे होने तक। यह कहने में अत्युक्ति नहीं है कि इन 25 वर्षों के दरम्यान सब मिलाकर कांग्रेस एक योग-संस्था रही है; योगियों की चीज रही है—उन धुनी मतवाले और लगन से पक्के लोगों की जमात रही है, जिसने मुल्क की आजादी अपने सामने रखी और उसके लिए सर्वस्व स्वाहा कर दिया, प्राणों तक की बाजी लगा दी और यमयातनाएँ झेलीं। योगी और साधक भी कभी-कभी चुकते हैं। मगर इससे क्या? योगी, योगी ही होते हैं। इस बीच भोगी लोग भी उसमें आसन जमाने की कोशिश करते थे, घुसते थे। फिर भी वह बेशक योग संस्था ही रही।

कांग्रेस भोगवाद की ओर

लेकिन 1945 के चुनावों की सफलता के बाद उसमें पतन के चिह्न दीखने लगे और 15 अगस्त, 1947 के आते-न-आते वह खाँटी भोग-संस्था भोगियों की जमात, उनका मठ बन गयी। महात्माजी के उस समय के व्यथापूर्ण उद्‌गार इसे साफ बताते हैं। यही कारण है, उसने अपने बलिदान के एक दिन पूर्व—29 जनवरी को—बेलाग ऐलान किया था कि कांग्रेस तोड़ दी जांय और उसका स्थान लोकसेवक संघ ले ले। सारांश, कांग्रेस जन योगी बने रह के अब उसे लोक सेवकसंघ के रूप में बदल दें। यही बात वे लिख के भी दे गये इसी की वसीयत कर गये। मगर भोगी लोग उसे कब मानते? उसने महात्मा की महान् आत्मा को रुलाया और कांग्रेस की भोगवादिता पर कस के मुहर लगा दी। महात्मा चाहते थे कांग्रेस चुनावों के पापपंक में न फँसे, मगर उनके प्रधान चेलों ने न माना। कांग्रेस भोगियों का अड्डा बन गयी है, यह तो चोटी के नेता लोग साफ स्वीकार करते ही हैं। कौन-सी सार्वजनिक सभा नहीं है, जिसमें वे यह बात कबूल नहीं करते, सो भी साफ-सफ धिक्कार के साथ।

भोगवादिता के साथ ही कांग्रेस में एक ही विचारधारा वाला प्रश्न भी बड़ी तेजी से उठा और महात्मा की महायात्रा के फौरन बाद ही दिल्ली वाली अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी में फैसला हो गया कि उसके भीतर विभिन्न राजनीतिक दलों के लोगों के लिए अब गुंजाइश नहीं रही! ठीक ही है ये राजनीतिक दल तो योगवादी ठहरे

न? उन्हें तो शोषित-पीड़ित जनता की आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता दिलानी है न? इसीलिए उन्हें निरन्तर संघर्ष चलाना है न? फिर भोगियों के साथ उनकी पटे तो कैसे? यह फैसला मेरे जैसों के लिए नोटिस थी कि कांग्रेस से भागो, भागो, भागो! फलतः एक प्रकार से मैंने तय कर लिया था कि अब इसमें नहीं रहना है। क्योंकि 'जहाँ साँप का बिल, तहीं पूत का सिरहना!' मगर कोई जल्दबाजी न थी। इसीलिए जब कांग्रेस के नये प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने की बात आयी, तो मैंने प्रान्तीय कांग्रेस के अधिकारियों से छः-सात मास पूर्व ही लिखकर पूछा कि सर्वात्मना स्वतन्त्र किसान-सभावादी मेरे जैसा आदमी क्या उस पर हस्ताक्षर कर सकता है? यदि मैं हस्ताक्षर करूँ, तो क्या वह उचित होगा। मैंने और भी प्रश्न किये; मगर आज तक उत्तर नदारत! सिर्फ यही कहा गया कि आपका पत्र दिल्ली मँगा लिया गया।

कांग्रेस की गलाघोंटू नीति

इधर कांग्रेस कमिटियों का वायुमण्डल ऐसा विषाक्त हो गया है कि जैसे गला घुँट जाय! कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही लगता है। एक नमूना पेश करता हूँ। कांग्रेसी वजारतें 1937 में भी बनी थीं और, 1939 तक हमने रेवडा जैसे सैकड़ों बकाश्त-संघर्ष चलाये। लेकिन कांग्रेस से निकालने या अनुशासन की धमकी कभी न दी गयी। यहाँ तक कि हमारे आदमियों ने असेम्बली में भी कांग्रेस पार्टी की बात किसानों के मामले में न मानी। फिर भी उन पर अनुशासन की तलवार न गिरी। मगर आज बड़ी मुस्तैदी से बकाश्त-संघर्ष रोका जाता और ऐलान होता है कि कांग्रेसजन उसमें हर्गिज-हर्गिज न पड़ें। यह संघर्ष ही किसानों एवं किसान-सभा की जान ठहरी और कांग्रेस में रह के हम वही न करें, जान गँवा दें यह कैसे होगा? यदि हमारी जमीन-जायदाद पर यदि कोई लुटेरा धावा करे, तो भारतीय दण्डविधान को आत्मरक्षावाली धाराओं के अनुसार हम मारपीट एवं खून-खराबी भी कर सकते हैं और कांग्रेस में रह सकते हैं। मगर कांग्रेस के ही सिद्धान्तानुसार शान्तिपूर्ण लड़ाई, सत्याग्रह या संघर्ष करें, तो हम पर अनुशासन की तलवार पड़ेगी। यह अजीब बात है! यदि यह विषाक्त एवं गलाघोंटू वायुमण्डल नहीं, तो आखिर है क्या? तब जानबूझकर हम गला घुटने दें क्यों? आत्महत्या करें कैसे?

कहा जाता है, कांग्रेस की ही सरकार है दरअसल सरकार की ही कांग्रेस या यों कहिये कि सरकारी कांग्रेस। ठोस सत्य यही है। एक ताजा दृष्टान्त काफी है। हाल में प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष ने बयान दिया कि ऊख की कीमत फी मन दो रुपये से कम हर्गिज न हो। प्रान्तीय कार्यकारिणी ने और खुद प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने भी सर्वसम्मति से तय कर दिया कि दो रुपये से कम कीमत न सिर्फ किसानों के लिए बल्कि चीनी के कारबार के लिए भी घातक है। मगर सरकार ने क्या किया? युक्तप्रान्त में एक रुपये दस आने और बिहार में एक रुपये तेरह आने तय कर दिया

और दिल्ली की सरकार ने इसी पर मुहर लगा दी? नहीं-नहीं, दिल्ली और यू.पी. की सरकारें तो सवा रुपये ही चाही थीं। अब बोलिये कि कांग्रेस की सरकार है या सरकार की ही कांग्रेस? ऐसी दशा में कांग्रेस में रहना स्पष्ट ही सरकारपरस्त बनना है। और, मेरे जैसा आदमी यह कैसे करेगा? क्या किसान मजदूर राज्य हो गया कि ऐसा करूँ। जब कांग्रेसपरस्ती के मानी सीधे सरकारपरस्ती हो गयी, तब मेरे लिए वहाँ स्थान कहाँ? पटने के प्रयोग न्यायाधीश के शब्दों में अधिकार ने शासकों को नीचे गिरा दिया, दूषित बना दिया। फिर पतितपरस्ती कैसी।

यह सभी बातें मन में महाभारत मचा ही रही थीं। इतने में ऊँट की पीठ पर अन्तिम तृण आ गया। दानापुर सब डिविजन में जो असेम्बली का उपचुनाव जनवरी के मध्य में हुआ, इसके लिए उम्मीदवार चुनने में कांग्रेसी कर्णधारों ने देशसेवा को गर्दनिया दे, त्याग-बलिदान को ताक पर रख, खूनी जातीयता को ही तराजू बनाया और उसी पर तौलकर अपना उम्मीदवार घोषित किया। सभी जातियों के त्यागी, योगी, धुनी लोग दानापुर इलाके में भरे पड़े हैं। मगर किसी की पूछ न हुई, हालाँकि लाख अनुनय-विनय की गयी। हंसों का निपट निरादर करके कौए की पुकार हुई और कम-से-कम मेरे लिए यह असह्य था—ऊँट की कमर पर अन्तिक तृण था।

—1949 ई.

ढकाइंच का भाषण

ढकाइंच का भाषण

किसान बन्धुओ,

आइये, अपना घर देखें। मरखप के हमने आजादी हासिल की। मगर आजादी का यह सिक्का खोटा निकला। आजादी तो सभी तरह की होती है न? भूखों मरने की आजादी, नंगे रहने की आजादी, चोर-डाकुओं से लुटपिट जाने की आजादी, बीमारियों में सड़ने की आजादी भी तो आजादी ही है न? तो क्या हमारी आजादी इससे कुछ भिन्न है? अंग्रेज लोग यहाँ के सभी लोहे, कोयले, सीमेण्ट और किरासिन तेल को खा-पीकर तो चले गये नहीं। ये चीजें तो यहीं हैं और काफी हैं। फिर भी मिलती नहीं! जितनी पहले मिलती थीं उतनी भी नहीं मिलती हैं! नमक की भी वही हालत है कपड़ा यदि मिलता है तो पारसाल से ड्योढ़े दाम पर साहूबाजार में और उससे भी ज्यादे पर चोरबाजार में। क्या पारसाल से इस साल, किसान के गल्ले वगैरा का दाम एक पाई भी बढ़ा है? ऊख का दाम तो उलटे घट गया। तब खुद सरकार ने कपड़े का दाम इतना क्यों बढ़ा दिया? जब चोरबाजार में सभी चीजें जितनी चाहो मिलती हैं तब तो उनकी कमी न होकर नये शासकों में ईमानदारी, योग्यता और नेकनीयती की कमी ही इसका कारण हो सकती है। लोगों में इन गुणों की कमी ठीक ही है; क्योंकि ''यथा राजा तथा प्रजा''।

हमें आये दिन पुलिस और हाकिमों की झिड़कियों को सहना पड़ता है, बिना घूस के कोई भी काम हो नहीं पाता और मिनिस्टरों के पास पहुँच नहीं। रात में बदनाम चोर-डकैतों के मारे नाकोदम है, खैरियत नहीं और दिन में इन नेकनाम डकैतों के डाके पड़ते हैं। मालूम होता है जनता की फिक्र किसी को भी नहीं है। खाना नहीं मिलता—महँगा होता जा रहा है। फिर भी ये मिनिस्टर बड़ी उम्मीदें बाँध रहे हैं कि वोट तो अगले चुनाव में इन्हें और इनके कठमुल्ले 'खाजा टोपी' धारियों को जरूर ही मिलेंगे। जब साधारण को ये गधों से भी गये-बीते समझते जो हैं। यही है हमारी नयी आजादी का नमूना और इसी का दामामा बजाया जाता है। किसान समझता था और मजदूर मानता था कि आने वाली आजादी यदि चीनी-मिश्री जैसी नहीं तो गुड़ जैसी मीठी होगी ही। मगर यह तो हर माहुर साबित हुई जिससे हमारे प्राण घुट रहे हैं।

घुट के मर जायँ!

जो नेता आज गद्दीनशीन हैं वह चिल्लाते थे कि नागरिक स्वतन्त्रता सबसे जरूरी है—उसकी रक्षा मर के भी करेंगे। मगर उनने गद्दी पर बैठते ही उसी के खिलाफ जैसे जेहाद बोल दिया है। तीस दिन और बारह महीने सभाओं, मीटिंगों और जुलूसों पर रोक लगी है। सिर्फ पुलिस को नहीं, अब तो जिलाधीशों की आज्ञा के बिना आप कभी कुछ नहीं कर सकते। अखबार तो प्रायः सभी उन्हीं की हुआँ में हुआँ मिलाते हैं। जो कुछ बोलते भी हैं सिर्फ दबी जुबान से। नहीं तो जुबां खींच ली जाय ऐसा डर लगा है। जो खुल के बोलते हैं वे लटका दिये जाते हैं।

साम्प्रदायिक के दंगों को दबाने के लिए सार्वजनिक रक्षा के नाम पर कानून बनाया गया। मगर उसका प्रयोग नागरिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध सरासर हो रहा है। दिनोंदिन उसे और भी सख्त बनाकर करेले को नीम पर चढ़ाया जा रहा है! नागरिक स्वतन्त्रता के मानी रह गये हैं सिर्फ लीडरों की बातों को दुहराना और शासक जो कहें उसी को सही-दुरुस्त बताना, "ऊँट बिलैया ले गयी, तो हाँ जी-हाँ जी कहना।" थोड़े में "न तड़पने की इजाजत है न फरियाद की है। घुँट के मर जायँ मर्जी यही सैयाद की है।" रामगढ़ कांग्रेस के बाद जिस भाषण की स्वतन्त्रता के नाम पर कांग्रेस ने लड़ाई छेड़ी थी वह आज उसी कांग्रेस के राज्य में शूली पर लटका दी गयी है। फिर भी उम्मीद की जाती है कि लोगों के दिलों में बेचैनी की आग धकधक न जले!

वहाँ और यहाँ

सोवियत रूस को जारशाही से वैसी ही आजादी 1917 के मार्च में मिली थी जैसी हमें 1947 के अगस्त में प्रायः तीस साल बाद ब्रिटिश साम्राज्यशाही से मिली मानी जाती है। मगर क्या उसके साथ हमारी कोई तुलना है? रूस के बारे में महामना लेनिन ने अपने 'अप्रैल वाले मन्तव्यों' में लिखा है कि "दुनिया के मुल्कों में रूस सबसे अधिक स्वतन्त्र है। रूसी जनता की हिंसा लापता है और यहाँ की जनता आँख मूँद कर रूसी सरकार में, जो पूँजीपतियों की है, विश्वास करती है।" भारत तो संसार में आज सबसे कम स्वतन्त्र है। उसकी जुबान और लेखनी पर जंजीरें जकड़ी हैं। जनता की हिंसा भी जोरों से जारी है, चाहे अमन कानून के नाम पर शासकों के द्वारा, या चोर-लुटेरों के द्वारा। यहाँ नेहरू सरकार बेशक पूँजीपतियों की है और अभी तक शायद जनता का इसमें विश्वास भी है। मगर वह आँख मूँद कर तो नहीं ही है उसकी जड़ हिल चुकी है। और जनता ने खुले और छिप के इस सरकार को कोसना-लथाड़ना शुरू कर दिया है। वर्तमान शासक यह जान भी गये हैं।

राजनीतिक पण्डागिरी

उन्हें भय है कि आगे उनकी पूछ न होगी। इसीलिए एक ओर जहाँ सांम्यवाद एवं अराजकता के नाम पर दमन का दौर-दौरा है तहाँ दूसरी ओर उनने राजनीतिक पण्डागिरी भी शुरू कर दी है जो बड़ी भयंकर होगी, अगर फौरन रोकी तथा दफनाई न गयी। वह खूब समझते हैं कि फासिस्टी दमन से देर तक भूखी, नंगी, कराहती जनता को दबा रखना असम्भव है। इसीलिए दमन के साथ ही बापू के नाम पर राजनीतिक मूर्तिपूजा उनने जारी कर दी है। स्थान-स्थान पर महात्माजी की मूर्तियाँ बन चुकीं और तेजी से बन रही हैं, जिनके पण्ड वही 'खाजा टोपी' वाले बन रहे हैं! गांधी जी की आत्मा को खून के आँसू रुलाने वाले ये बाबू दिन-रात उनकी सत्य-अहिंसा को एक ओर बेमुरव्वती से कत्ल करते। दूसरी ओर उनकी जय बोलते और 'रघुपति राघव राजा राम' गाकर भोली जनता पर मिस्मरिज्म वाला जादू चलाना चाहते हैं। इनके कुकर्मों से जनता ऊबी है। लेकिन धार्मिक पण्डों से क्या कम ऊबी है? फिर भी यदि उन पण्डों के पाँव पड़ती और चढ़ावा चढ़ाती है तो इन नये राजनीतिक पण्डों को भी पैसे और वोट का चढ़ावा जरूर चढ़ायेगी, इसी खयाल से महात्माजी के नाम पर यह पण्डागिरी चालू हो रही है, जो निहायत ही खतरनाक होगी। धार्मिक पण्डागिरी में तो सुधार हो सकता है, वह मिट सकती है। मगर इसमें सुधार की गुंजाइश कहाँ? इसीलिए यह पनपने ही न पाये, यह करना होगा। इसके विरुद्ध अभी से जेहाद बोलना होगा। नहीं तो किसानं-मजदूर मर जायँगे यह ध्रुव सत्य है। ये बाबू पण्डे 'गांधी जी की जय' और 'रघुपति राघव' को अपना राजनीतिक हथकण्डा बनाने जा रहे हैं, याद रहे। इसीलिए हमें इसे मटियामेट करना होगा।

निरी मक्कारी

जो समझते हैं कि ये बातें महात्माजी के प्रति इन बाबुओं की भक्ति की सूचक हैं वे भूलते हैं। इन्हें उस भक्ति से क्या ताल्लुक? इन्हें तो अपना पाप छिपाना और उल्लू सीधा करना ठहरा और इनने देखा कि अगर कण्ठी-माला और राम नाम के पीछे सारे कुकर्म छिप जाते हैं तो हम भी नये किस्म के राम नाम और नयी कण्ठी-माला तैयार करें। इनकी यह निरी राजनीतिक कलाबाजी है। यह जय-जयकार, यह रामधुन और यह चर्खा धुन की कोरी आधुनिक कण्ठी-माला है। इन्हीं सब चीजों के पीछे राजनीतिक महापाप छिपे-धुलेंगे ऐसा इनने मान लिया है। धार्मिक साधु-फकीरों से ही धूर्त्ततापूर्ण राजनीतिक फकीरों का पाखण्ड इनने चालाकी से सीखा है। महात्मा ने लाख मना किया कि माउंटबेटन योजना को लात मारो और भारत को छिन्न-भिन्न मत होने दो। तो क्या इन बाबुओं ने उनकी एक भी सुनी? बापू ने कहा कि कांग्रेस को तोड़कर लोक सेवकसंघ बनाओ और इस तरह चुनावों में होनवाले घोरतम कुकर्मों

में उसे मत सानो। परन्तु क्या इन राजनीतिक कलाबाजों ने उधर कान भी किया? 1947 के 15 अगस्त के बहुत पहले क्या इनने गांधी जी की अहिंसा को ठुकराकर उन्हें मर्मान्तक वेदना नहीं पहुँचाई थी? तब उनके प्रति भक्ति का क्या सवाल? जीते पिता के ठुकराने और निरन्तर निरादर करने के बाद मरने पर उसका पिण्डा-पानी करना इसे ही कहते हैं। यही तो मक्कारी है, और किसानों का भला तब तक न होगा जब तक इस मक्कारी का पर्दाफाश अमली तौर पर नहीं करते।

बाबू मठाधीश!

इनकी राजनीतिक पण्डागिरी का एक और पहलू भी देखिये। मठ-मन्दिरों और धार्मिक सम्पत्तियों के नियन्त्रण एवं सुसंचालन के नाम पर इनने बिहार में धर्मादाय सम्पत्ति बिल तैयार किया है जिसे कानूनी जामा पहनाने के लिए भी वे आतुर हैं। हमने वह बिल पढ़ा है। यदि उसे कानूनी रूप मिलता वर्तमान महन्तों एवं पण्डे-पुजारियों का स्थान ये 'खाजा टोपी' धारी बाबू ले लेंगे और उनकी समस्त सम्पत्ति या तो चुनावों में लगेगी या इनके तथा इनके चेले-चाटियों के पेट में समायेगी, यह ध्रुव सत्य है। मठ-मन्दिरों के प्रभाव से भी चुनाव में काफी फायदा उठाया जायगा। जिनने राजनीति और अर्थनीति में सभी कुकर्म खुल के किये, जो ऐसा करने में आज जरा भी नहीं हिचकते वह धर्मनीति को सीधे फाँसी लटकाकर सारी सम्पत्ति को द्रविड़ प्राणायाम के द्वारा डकार जाने में साँस भी न लेंगे।

मठ-मन्दिरों को मिटा देना है तो साफ कहिये। द्रविड़ प्राणायाम की क्या जरूरत? उन्हें यदि वर्तमान पण्डे-पुजारी और महन्थ मिट्टी में मिला रहे हैं तो बाबू लोग उस से भी बुरा करेंगे। अप्रत्यक्ष संगठित लूट प्रत्यक्ष लूट से कहीं बुरी है। क्योंकि पकड़ी नहीं जा सकती है। यह बिल अप्रत्यक्ष लूट का रास्ता साफ करता है। सुधार तो इससे होगा नहीं।

पंजाब में सिखधर्म के मठ-मन्दिरों का संशोधन-सुधार जैसे संगठित सिखों ने किया और संघर्ष के द्वारा उन्हें गुरुद्वारा-प्रबन्धक कमिटी के हवाले किया, वही बात हिन्दू-मुस्लिम मठ-मन्दिरों के बारे में होगी। तभी इनका उद्धार होगा। जो साधु-फकीर और पण्डित राष्ट्रवादी, जनवादी और सर्वभूतहितवादी हैं, और आज ऐसों की कमी नहीं है, उनकी ही राय से उन्हीं के तत्त्वावधान में मठ-मन्दिरों का उद्धार या सहार जो भी उचित हो होना ठीक है। बाबू भैयों और दूसरों को इसमें टाँग अड़ाने का हक नहीं। हाँ, ये सुझाव पेश कर सकते और सहायता दे सकते हैं। मगर इसका श्रीगणेश वे साधु-फकीर और पण्डित ही करेंगे, उन्हीं का यह हक है।

यह भी बात है कि धर्म का प्रश्न पेचीदा और खतरनाक है। आज यह सवाल नहीं कि ये मठ मन्दिर भले हैं या बुरे। चाहे ये जो भी हों, जैसे भी हों इनके पीछे हजारों वर्षों की अनन्त लोगों की भावना है जो बड़ी ही मजबूत है। धीरे-धीरे उसमें

खराबी आयी है सही। फिर भी वह अपनी जगह पर है और उसके सम्बन्ध में कुछ भी उलट फेर करने के पूर्व जनता के सामने वह प्रश्न जाना चाहिए। आज जो असेम्बली है उसके सदस्यों के चुनाव के समय यह सवाल उठाया गया न था। फलतः जनता ने इसके बारे में अपनी कोई राय न दी। इतने महान् प्रश्न पर जब तक जनमत न लिया जाये असेम्बली को कोई हक नहीं है कि बोले, सो भी बुनियादी परिवर्तन के लिए। यह भी सही है कि जब तक बुनियादी परिवर्तन न हो, कुछ होने-जाने का नहीं। जो धार्मिक बातों के पण्डित नहीं, जो इस मामले में अधिकारपूर्वक बोल नहीं सकते, वही इसी के लिए कानून बनायें यह सरासर गलत है। उन्हें इसमें हाथ डालने का हक नहीं है। फिर भी राजनीतिक लाभ के लिए इसमें दखल देने पर तुले बैठे बाबुओं को हम आगाह दें कि अलग-अलग, दूर-दूर।

संस्कृत शिक्षा

ये बाबू आज शिक्षा के साथ भी मखौल कर रहे हैं खासकर संस्कृतशिक्षा के साथ। मिडल स्कूलों में दो-चार संस्कृत की किताबें पढ़ाने से संस्कृत का उद्धार होने के बजाय वह अधकचरी बन जायगी और देश में अधकचरे संस्कृतज्ञों की बाढ़ लायगी। फिर तो प्रगाढ़ विद्वानों और संस्कृत के महारथियों को कोई पूछेगा तक नहीं। आज संस्कृत साहित्य के अगाध समुद्र के महामन्थन की आवश्यकता है जिससे अमूल्य रत्न निकलें। घर-घर, गाँव-गाँव मथानी चलाने से वह काम न चलेगा। मुल्क में सैकड़ों संस्कृत विश्वविद्यालय हों जिनसे सम्बद्ध लाखों संस्कृत विद्यालय एवं महाविद्यालय और हजारों अन्वेषण शालाएँ हों, जहाँ साहित्य, आयुर्वेद आदि के सम्बन्ध में सभी प्रकार के अन्वेषण, सब तरह की खोज निरबाध चले। एतदर्थ प्रत्येक प्रान्तीय सरकारों को करोड़ों रुपये हर साल खर्च होंगे। संस्कृत के मुख-चुम्बन मात्र की जगह सर्वांग प्रगाढ़ आलिंगन की आवश्यकता है। उन्हें पुष्ट-प्रौढ़ बनाने की जगह दूषित-कलुषित करने का यह प्रयत्न निन्दनीय है। यह सही है कि कुछ नामधारी पण्डितों को टुकड़े मिलेंगे और लोगों की धार्मिक भावना की तुष्टि भी होगी। इस तरह शासकों के पोषकों का एक नया दल देश में तैयार होगा जो हाँ-हाँ जी करेगा। मध्यमा परीक्षोत्तीर्ण लोग आगे बढ़ने के बजाय टुकड़खोरी में लगेंगे। संस्कृत विद्या शान और सम्मान की वस्तु रही है, न कि महज दुर्लभखोरी की। उसे उस उच्चस्थान से गिराने का राजनीतिक कुयत्न बर्दाश्त के बाहर है। मैं संस्कृत का सदा से प्रेमी रहा हूँ और जीवन का सुन्दर भाग उस साहित्य के मन्थन में गुजारा है। इसी से मुझे इस बात का दर्द है।

बेसिक शिक्षा

संस्कृत शिक्षा की दुर्दशा के प्रसंग से शिक्षा सम्बन्धी ही एक और बात याद आती है जिसका ताल्लुक पूरी शिक्षा से है। मेरा मतलब बेसिक शिक्षा से है जिस पर हमारे

नये शासकों का बड़ा जोर है। उसका प्रचार गांधी जी के नाम पर किया जा रहा है इसका मुझे दर्द है। फिर भी मैं जानता हूँ कि गांधी-मन्दिर के ये पण्डे उनकी पूजा कहाँ तक करते हैं। चाहे जो हो यह बेसिक या बुनियादी शिक्षा शैतान की तरह फैल रही है और डर है, मुल्क की दिमागी तरक्की को ले डूबेगी, यदि फौरन से पेश्तर इस पर रोक न लगी। जो मुल्क अपने बच्चों के छः घण्टे में कम-बेश चार घण्टे केवल चर्खा, तकली, धुनकी, पूनी आदि में लगायेगा वह मस्तिष्क के विकास और ज्ञान की दृष्टि से रसातल जायगा इसमें शक नहीं है। हमें आज लाखों-करोड़ों इंजीनियरों, मिस्त्रियों, डॉक्टरों आदि की आवश्यकता है हर चीज के लक्षलक्ष विशेषज्ञों की जरूरत है। लेकिन यदि बच्चों के दिमाग को अच्छी तरह विकसित होने न दिया गया तो आगे का तो रास्ता ही बन्द समझिये। यदि छोटे बच्चों की मानसिक एकाग्रता के अभ्यास के लिए एकाध घण्टे सूत कातना सिखाया जाये तो बात दूसरी है। मगर आज तो शिक्षा का बंटाढार होने जा रहा है। पुराने शासकों ने राष्ट्रीयता से भयभीत हो शिक्षा पर अपने ढंग से यहाँ जंजीर जकड़ी जो अभी तक ज्यों-की-त्यों है। नये शासक उस पर गांधीवादी ढंग की यह दूसरी जंजीर कसने जा रहे हैं। इससे मुल्क के ज्ञान का दिवाला निकलेगा अवश्य। सम्भव है, नौकरियों के अपनाने की घुड़दौड़ में किसी छोटे-मोटे दल को इससे लाभ हो—शिक्षा पर जंजीर जकड़ने की इस नयी प्रणाली से विशेष फायदा हो। फिर भी मुल्क को तो इसका बागी बनाना ही होगा।

शिक्षकों की दुर्दशा

शिक्षा का एक और पहलू भी है जो नये शासकों की मनोवृत्ति पर प्रकाश डालता है। मुद्दत से इस गुलाम मुल्क के शिक्षकों की हालत निहायत बदतर रही है, खासकर वेतन की दृष्टि से। इस कमरतोड़ महँगी के जमाने में भी आठ-दस, बारह या पन्द्रह रुपये मासिक वेतन वे पाते रहे हैं जो एक बाबू के जलपान के लिए भी पूरा न था। यह शर्म की बात थी और स्वराजी शासक इसे फौरन मिटायेंगे यह आशा थी। तीन-चार साल की निरन्तर चीख-पुकार और हड़ताल की धमकी के बाद भी जो कुछ आज किया गया है वह जले पर नमक जैसा ही है। हम यह न भूलें कि बिहार के प्राइमरी शिक्षकों को जो फीस छात्रों से मिलती है वह उनकी आय है और वह शीघ्र ही बन्द होगी।

ऐसी दशा में 20-25 या 30 रुपये मासिक वेतन की क्या कीमत है? ट्रेण्ड मिडिल या अन्ट्रेण्ड मैट्रिक को 30 रुपये देना जले पर नमक नहीं तो आखिर है क्या? अन्ट्रेण्ड ग्रेजुएट को 50 रुपये मिलेंगे। क्या खूब! जब हम यह याद करते हैं कि चीनी की मिलों के मेहतर को भी पूरे 55 रुपये मासिक मिलते हैं तो ग्रेजुएट के 50 रुपये पर शर्म से जमीन भी धँस जाती है, हो सकता है हमारे नये मालिक और हाकिम इसमें भी शान ही समझें।

चीनी की मिलों में तो 'मुफ्त का माल और दादा का फातिहा' हुआ है न? किसानों की ऊख का दाम पूरा न देकर और चीनी का दाम काफी बढ़ा कर चीनी की मिलों के मजदूरों का वेतन बढ़ाया गया है। यह भी न भूलें कि तीन चौथाई चीनी किसान ही खर्च करते हैं। मामूली श्राद्ध, विवाह या निमन्त्रण में गरीब किसान भी दस-बीस सेर चीनी खर्च करता है जो सैकड़ों बाबुओं के चाय-नाश्ते में कई महीने के लिए काफी है। इस प्रकार चीनी के दाम की बढ़ती और ऊख के मूल्य की घटती ने दुधारी तलवार की तरह किसानों का कत्ल करके चीनी के मजदूरों का पेट भरा है। वह सीधा और मूक ठहरा न? वह बकरी और मुर्गी है न? इसी से आसानी से उसे दोनों ओर से जिबह किया जा सका है। यदि वैसी मुर्गी और भी होती तो उसी के खून से शिक्षकों को भी, जो अधिकांश किसान-मजदूरों के ही बच्चे हैं, कम से कम 55 रुपये दिये जाते और उनका पेट भरा जाता। मगर अफसोस कि वह मिली ही नहीं। फिर भी गल्ले की बिक्री पर इसी वेतन के लिए टैक्स लगेगा और सेस भी बढ़ेगा! ठीक ही है, गल्ला बहुत ही सस्ता जो है! किसान मालामाल जो हो गया है! तभी तो बढ़ा हुआ सेस चुकायेगा और महँगा गल्ला खरीद कर खायेगा। याद रहे कि 80 फीसदी किसानों और खेत-मजूरों की अपनी उपज से सालभर गुजर नहीं होती। उन्हें गल्ला खरीदना ही पड़ता है।

पुलिस के सिपाही

इस प्रकार जहाँ एक ओर शिक्षकों की गरीबी और बेबसी के साथ मखौल की जाती है तहाँ दूसरी ओर पुलिस के सिपाहियों, जमादारों, हवलदारों और जेल के वार्डरों के साथ भी बेरुखी का ही बर्ताव होता है। क्या हमारे स्वराजी शासक बतायेंगे कि चीनी की मिलों के मजूरों से भी हलकी मिहनत और कम जिम्मेवारी इन पुलिसवालों और वार्डरों पर है? दिन-रात की पहरेदारी और चोर-बदमाशों के भाग जाने की जवाबदेही किन पर है? 50 रुपये या 60 रुपये मासिक पाकर कौन सिपाही भर पेट रोटी और घी-दूध खा सकेगा और इस प्रकार तगड़ा बनकर अपने सामने से भागने वाले चोर-डकैत को ललकार कर पकड़ लेगा? ऐसी दशा में उनके लिए 50 रुपये या 60 रुपये वेतन रखने में शर्म न आये तो दोषी कौन! और यदि इसी वेतन को बढ़ाने तथा आत्मसम्मान के रक्षार्थ वे कुछ भी करें तो बागी करार दिये जायँ! अफसरों का जो बर्ताव उनके साथ है वह तो झल्लाहट पैदा करता है, कलेजे में डंके मारता और टीस लाता है। फिर जुबान खोलने की, चीखने की, कराहने की भी मनाही है। यदि ऐसा करने की गुस्ताखी की तो फाँसी का तख्ता और जेल के सींखचे तैयार पड़े हैं, खबरदार! बस, खून का घूँट पी के रह जाना पड़ता है! उनके दिलों पर क्या गुजरती है, कौन बतायेगा?

होमगार्ड्स या रक्षावाहिनी

होमगार्ड्स के नाम पर स्वराजी सरकार ने एक दूसरी ही रक्षावाहिनी तैयार करने की ठानी है। नाम तो बहुत ही सुन्दर है। पर काम भी जब ऐसा ही हो तब न? महामना लेनिन ने राष्ट्रीय जनसेना (National Miltia) पर सबसे ज्यादा जोर दिया है। कहा है कि नौकरी-पेशा फौजियों की जगह जनसेना ही रहे। यदि वही बात यहाँ भी होती तो क्या कहना? मगर एक तो खूब ठोंक-पीट कर पक्के सरकारपरस्त ही इसमें लिये जाते हैं जो सरकार के विरुद्ध चूँकि कभी करेंगे ऐसे लोगों से दूर रहा जाता है। दूसरे ट्रेनिंग कैम्पों में हरेक के पीछे खुफिया लगे रहते हैं जो उन्हीं में से होते हैं। यह तो मध्यमवर्गीय लोगों की एक नयी फौज और पुलिस तैयार की जा रही है जिसमें मध्यमवर्गीयता की भावना कूट-कूट कर भरी जा रही है। वर्तमान पुलिस और फौज से नये शासक घबराते हैं, भयभीत हैं। भविष्य में खतरे का भी अन्देशा है। इसीलिए शायद रक्षावाहिनी के नाम पर नयी सेना खड़ी की जा रही है जो उनके लिए संकट की घड़ी में काम आये! जो लोग आजाद हिन्द फौज पर विश्वास न कर सके वही जनता की सेना संगठित करेंगे यह विश्वास राजनीति का बच्चा ही कर सकता है। लेकिन इतना तो सही है कि जब खतरे की घण्टी बजेगी तब यह रक्षावाहिनी पिघल जायगी और काम न दे सकेगी। रूसी जार की सेना में घुड़सवारों का प्रधान दल कज्जाकों का था जो जार के पूरे पालतू थे। मगर 1917 की फरवरी वाली क्रान्ति में उनने भी ऐसे मौके पर साथ छोड़ दिया। सचमुच ही क्रान्ति की हवा वह जादू की लकड़ी है जो छूते ही सबों को पलट देती है। वह ऐसी गर्मी है जो पत्थर को पिघलाती है।

छात्रों में लहर

जिन छात्रों पर हमारे नेताओं का नाज था उनमें भी घोर असन्तोष की लहर आज हिलोरें मार रही है। बिहार के कॉलेजों के छात्रों की हड़ताल इसका प्रकट रूप था। पटने में विशेष रूप से जो नज्जारा दीखा वह भूलने का नहीं। साम्राज्यशाही के विरुद्ध शान के साथ जूझने वाले बहादुर छात्रों को पालतू समझने की नादानी करने वाले नये मालिकों की आँखें खुलीं जरूर और असलियत का नंगा रूप उनकी आँखों के सामने आ गया अवश्य। कहा जाता था कि इस हड़ताल और इसके फलस्वरूप छात्रों का एक साल चौपट हो गया। लेकिन कहने वाले भूल जाते थे कि स्वराजी शासकों की गद्दीनशीन करने में यदि इन्हीं छात्रों ने कई साल चौपट किये और इस पर खुशी जाहिर की गयी तो उनके खिलाफ अलार्म बजाने में भी एक साल जाये तो बला से। गर्व में चूर नेताओं को तमाँचे तो लगे और वे देखें की कितने गहरे पानी में हैं। पटने के छात्रों ने जिस क्रान्तिकारी एवं संगठन वाली मनोवृत्ति का परिचय दिया

वह ऐतिहासिक वस्तु है। इतिहास साक्षी है कि दुनिया के छात्र सदा ऐसा ही करते रहे हैं। वे स्वदेशी, विदेशी किसी गुलामी को बर्दाश्त नहीं करते हैं।

व्यापक असन्तोष

कहा जाता है, कि साम्राज्यवादी युद्ध के बाद का समय क्रान्तिकारी होता है। यही कारण है कि देश में व्यापक असन्तोष है। किसानों, छात्रों, पुलिस और अध्यापकों के अलावे रेलवे, डाक-तार, खानों और कारखानों के मजदूरों के कलेजों में तो सचमुच ज्वलन्त असन्तोष की लहर उमड़ रही है। हाल की घटनाएँ इसका सबूत हैं। हड़तालें होती हैं, टूटती हैं, उनकी सूचनाएँ दी जाती हैं, रोकथाम होती है। मगर हालत नाजुक है। देर-सवेर किसी दिन विस्फोट हो सकता है। फोड़ा फूटेगा और मवाद बाहद आयेगा। दरअसल नौकरीपेशा लोगों की हालत बुरी है। चीजों की कीमत चार से छः गुनी हो गयी है। लेकिन वेतन तो सब मिलाकर दूना भी शायद ही हुआ है। मलेरिया तो कुनीन की चार गोलियों के बजाय एक-दो से भागेगा नहीं। तीन गज के बजाय एक गज से कुर्त्ता भी न बनेगा। धोती-साड़ी भी एकाध गज की हो नहीं सकती। पाव भर की जगह एक छटाँक से पेट का काम चलने का नहीं। गरीबों को जाड़ा कम सताये सो भी नहीं। वह तो और भी परेशान करता है। फिर तो वे मन ही मन कर्म, तकदीर, भगवान्, सरकार और मालिकों को कोसते हैं, उन पर जलते-कुढ़ते हैं और अन्त में हार कर जैसे हो दिल का बुखार निकालते हैं। हड़तालों का यही रहस्य है। मजदूर नौकरीपेशा लोग गधे नहीं हैं कि उकसाने से सामूहिक रूप से काम छोड़ दें। भूख, बर्खास्तगी और जेल का खतरा मुँह बाये सामने खड़ा जो रहता है। जारशाही ने हड़तालों के विरुद्ध क्या नहीं कर रखा था? फिर भी फरवरी की क्रान्ति के समय भयानक हड़तालें हुईं जिनने बजारशाही को उदरसात् करके ही दम ली। और इतिहास का पुनरावर्तन होता ही है।

अप्रत्यक्ष करों की वृद्धि

स्वराज्य पदार्पण ने गरीब जनता पर कमरतोड़ करों को लादना शुरू किया। यह प्रक्रिया निरन्तर जारी है। इस साल रेलों का किराया ड्योढ़ा-दूना कर दिया गया। फिर भी रेलों में आदमी पर आदमी की जैसे बोराबन्दी होती है डाक का खर्च बराबर बढ़ता गया है और पहली अप्रैल से कार्ड का दाम पौन आना तथा लिफाफे का दो आना होगा। कपड़े, चीनी, पेट्रोल आदि पर भी कर लदा है। जानकारों का कहना है कि नेहरू का बजट तो धनियों का है न कि जनसाधारण का। स्टाम्प पर खर्च भी पहले ही बढ़ा है। बैलगाड़ियों, साइकिलों, लादने वाले जानवरों पर कर लगाने की बात पहले से ही है। हाँ, करों को घटाया इस तरह गया है कि कारखानेदार और धनी लोग लाभ उठायें। महीन कपड़े का कर घटा है।

कहा जाता है, मुद्रा वृद्धि को रोकने के लिए नेहरू सरकार आसमान-जमीन एक कर रही है। मगर इन अप्रत्यक्ष करों की वृद्धि से मुद्रा प्रसार और भी बढ़ता है। चीजों की कीमत बढ़ती जो है। जिस चीज पर कर लगे वह कपड़ा, चीनी आदि महँगी तो होगी ही और मुद्रा प्रसार रोकने के मानी हैं कि चीजें सस्ती हों। एक ओर मजूरों का वेतन बढ़ाते हैं दूसरी ओर जरूरी चीजों पर बढ़ाकर इन्हें महँगी करते हैं। फिर वेतन बढ़ाना भी बेकार होता है—गज स्नान होता है। प्रत्यक्ष या सीधे करों को बढ़ाइए, जैसे आयकर को। सो तो उन्हें घटाते हैं। यह भी अज़ीब बात है कि हाल ही में केन्द्र के खाद्यमन्त्री श्री जय-राम दास ने फरमाया था कि चीनी का दाम अभी ज्यादा है, उसे घटाये जाने की सोच रहे हैं लेकिन फी बोरे डेढ़ रुपये की बढ़ती कर दी गयी।

सत्यानाशी सेल्स-टैक्स

सैकड़ों प्रकार के अप्रत्यक्ष करों से काम न चलने पर सरकार ने एक नये खतरनाक टैक्स को जन्म दिया है जिसे सेल्स टैक्स कहते हैं और जिसकी बाढ़ सुरसामुख की तरह हो रही है। यह हर चीज पर लगता है। शायद ही कोई वस्तु बची हो। इसका जहरीला असर जीवन के हर पहलू पर पड़ता है क्योंकि जीवनोपयोगी सभी वस्तुएँ इसके पेट में आ जाती हैं। यही कारण है कि इसकी आय दिनोंदिन बढ़ती जाती है। इसमें धोखा देने की भी पूरी गुंजाइश है। इसीलिए चालाक बनिये रोज हजारों की खरीद-बिक्री करके भी सरकार को अँगूठा दिखा देते हैं। अफसरों की केवल थोड़ी सी पूजा कर देते हैं। हाँ, ईमानदार लोग पिस जाते हैं, उनकी परेशानी बढ़ जाती है। अफसरों का गुस्सा भी उन्हीं पर उतरता है। अगर यह कर कायम रहा तो लोगों को तबाह कर देगा। इसीलिए इसका तो खास तौर से जोरदार विरोध होना चाहिए। अन्न पर अब तक यह न था। अब उस पर भी लगने को है। फिर तो किसानों को रुलायेगा।

बिहार सरकार को यदि रुपये की कमी है तो छोटानागपुर की कोयले, अबरक आदि की खानों पर कब्जा क्यों नहीं कर लेती? बड़ी दिक्कत से अगले साल सब मिलाकर सरकारी आय प्रायः 24 करोड़ होगी। लेकिन सिर्फ छोटानागपुर की इन खानों से ही कम-बेश उतनी ही आय फौरन होगी जो उत्तरोत्तर बढ़ेगी, ऐसा जानकारों का कहना है। फिर पैसे की कमी होगी? क्या? मगर इसमें पूँजीपतियों तथा नेहरू सरकार के रंज होने का खतरा जरूर है।

जमींदार खत्म न होगी

जमींदारी मिटाने का प्रश्न मुद्दत से सामने है। नये शासक खयाली पुलाव के रूप में कई साल से हमारे सामने इसे रखते आ रहे हैं। असेम्बलियों में प्रस्ताव पास हुए।

फिर कानूनी मस्विदा बना और पास हुआ। लेकिन वह बड़े लाट के यहाँ त्रिशंकु की तरह उलटा लटका तप कर रहा है। कहा है, उसमें कुछ संशोधन करके कानूनी रूप दिया जायगा। कभी कहा जाता है, पाँच हजार की आय से कमवाली जमींदारी न मिटेगी। फिर आवाज आती है सरकार खुद ही जमींदारियों का प्रबन्ध करेगी। फिर सुनते हैं, तीन ही महीने में जमींदारी खत्म होगी।

लेकिन यह सब लीडरों की विशुद्ध माया है। ये लीडर जमींदारी मिटा नहीं सकते। यदि जमींदारी के लिए मूल्य या मुआविजे की बातें ये भले आदमी नहीं करते रहते तो मिटा सकते थे। मगर मूल्य देने में जो सबसे बड़ी बाधा है वह है नये सर्वे की जब तक सभी जमींदारियों का सर्वे नहीं हो जाता कि किसी की कितनी जमीन है, कैसी है और उसकी आय कितनी है तब तक मूल्य कैसे दिया जायेगा? एक ही जमींदारी की जमींदारियाँ कई जिलों में हैं। प्रान्तव्यापी सर्वे के बिना किसी की आय का पता चलेगा कैसे जिसके हिसाब से मूल्य दिया जाय? और यह सर्वे तो वर्तमान दशा में असम्भव है। इसे पूरा करने में बहुत साल लगेंगे, यह जानकारों का कहना है। यह एक बाधा है।

दूसरी बाधा है कि यह मूल्य बाजार दर से सोलहों आना नगद देना होगा। मुआविजे का यही अर्थ है। यह नहीं कि आप जो चाहें वही दे दें और नगद दें या उधार। नहीं, नहीं बाजार दर से पूरा दाम कौड़ी-कोड़ी नगद चुकाना पड़ेगा। मुआविजे के बारे में संयुक्त राष्ट्र अमरीका की सुप्रीम कोर्ट का यह फैसला है। मुआविजे के मानी में जो अंग्रेजी का शब्द 'कम्पेन्सेशन' आया है उसका यही अर्थ है जो बदला जा सकता नहीं। याद रहे कि यह मुआविज़ा सिर्फ बिहार में चार अरब से कम न होगा। वह छः अरब और उससे भी ज्यादा हो सकता है जिसे चुकाना बिहार सरकार की शक्ति के बाहर है। यहाँ तथा अन्य प्रान्तों में उसे नगद चुकाने पर मुद्रावृद्धि ऐसी होगी कि चावल शायद रुपये का आधा सेर बिकने लगे।

तीसरी बाधा छोटानागपुर की कीमती खानों को लेकर है। ये खानें पूँजीपतियों के हाथों में हैं जिनसे छीनकर उन्हें रंज करने को नेहरू जी तैयार नहीं हैं। इसीलिए खानों को जमींदारी अछूती रखने की पेशबन्दी हो रही है अगले चुनाव में करोड़पतियों से हमारे नेता पैसे कैसे लेंगे यदि उन्हें नाखुश किया? और फण्ड के करोड़ों रुपयों के बिना चुनाव लड़ा कैसे जायगा? उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण की बात फिलहाल जो दस साल के लिए टाली गयी है उसके भीतर ऐसे ही कारण है। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों से जो समझौता हुआ है उसमें भी यह मुख्य शर्त होगी। तब खानों को कैसे ले सकते हैं? और जमींदारी मिटा के क्या होगा यदि 20-25 करोड़ की इस आय को छोड़ ही देना है?

जमींदारियों का प्रबन्ध सरकार करे ऐसी तैयारी जो आज की जा रही है वह भी जमींदारी न मिटाने के पाप को छिपाने के ही लिए। इससे भोले किसान समझेंगे

कि जमींदारी मिट गयी। मगर खासनहाल के किसान कम पामाल नहीं हैं। जमींदारों के अमले कलक्टर की मातहती में गजब करेंगे और करैला नीम पर चढ़ जायगा। हम लाखों जमींदारों को हटाकर उनकी गद्दी पर कलक्टरों और माल मन्त्री को बिठाने का विरोध सारी शक्ति लगा कर करेंगे। हमें जमींदारी मिटानी है, न कि उसकी शक्ल बदलनी और तमाशा करना है। हम जानते हैं कि जब सरकार जमींदारियों को हथियाने की धमकी देगी तो डर से जमींदार कहेंगे कि जो भी होके हमें कीमत दी जाय। इसी के लिए यह तैयारी है। मगर हम इसके विरोधी हैं। जमींदारों को कीमत के रूप में एक कौड़ी भी न देकर उनके लिए अच्छे गुजारे का प्रबन्ध हो और उनके योग्य काम उन्हें दे दिया जाय, हम यही चाहते हैं। उनके पढ़ने-लिखने, दवा-दारू, रहन-सहन में कोई कठिनाई न रहे हम ऐसी व्यवस्था चाहते हैं जरूर।

लेकिन जमींदारी न मिटने पर जिन लाखों लोगों की बहालियाँ इसीलिए हुई थी उनका क्या होगा, यह प्रश्न होगा। मगर इसका उत्तर वही दें जिनने ये बहालियाँ कीं। शायद इन नये नौकरों से अगले चुनाव में काफी सहायता लेने की तैयारी थी जिस पर पानी फिरा चाहता है। सम्भव है, इन्हें कहीं और फँसाया जाय। नहीं तो बहाल करने वालों की छाती पर भूत की तरह ये खुद चढ़ेंगे और इस तरह नेताओं को लेने के देने पड़ेंगे।

जमीनों की छीनाझपटी

जमींदारी तो मिटी नहीं। लेकिन किसानों की जमीनों की छीनाझपटी तेज हो गयी। जमींदारी जाने के भय से जमींदारों ने जोर मारा है कि जितनी भी हो सके जमीनें हथिया लें। बकाश्त के बढ़ते झमेले का यही रहस्य है और बकाश्त बोर्ड इसी पर पर्दा डालने के लिए ही है। यदि किसानों ने संगठित रूप से इसका जल्द सामना न किया तो उनकी अधिकांश जमीनें छिन जायँगी जरूर मुझे भय है। इसके लिए सीधी लड़ाई एकमात्र रास्ता रह गई है। सो भी सत्याग्रह नहीं, जेल भी नहीं। अब तो लाठियों और गोलियों का ही सामना करना पड़ेगा, याद रहे। इधर कुछ दिनों से स्वराजी शासक जो कुछ इस सम्बन्ध में कर रहे हैं वह तो इसी बात का सबूत है कि हवा का रुख किधर है।

लेकिन जमींदारी के साथ ही सरकार भी इस छीनाझपटी में शामिल है। फार्म बनाने के नाम पर बंजर और पड़ती जमीनों की छोड़ टुटपुँजिये किसानों एवं गरीबों की जमीनें छिनी जा रही हैं। हमें यह चीज बन्द करवानी है। अन्न कम पैदा होता है। और भुखमरी का सवाल है। जमीनें छिन जाने पर ये गरीब कहाँ जायँगे? क्या इसी भुखमरी के लिए ही वे अंग्रेजों से लड़ते रहे हैं? बंजर जमीनों को फार्मों के लिए सरकार ही आबाद कर सकती है। तब आबाद जमीनों को लूटने के क्या मानी?

इतना ही नहीं। पड़ोस में बक्सर के पूर्व आधे दर्जन गाँवों को खेती वाली जमीनों में मिलें खोलने की तैयारी हो चुकी थी जो बड़ी दिक्कत से रोकी जा सकी। पता नहीं फिर भी वह सर उठायेगी या नहीं। यदि उठाये तो हमें पूरी ताकत से लड़ना होगा। वे मिलें डुमराव में या अन्यत्र बंजर जमीनों में अच्छी तरह बन सकती हैं तब किसान के खेत उन्हीं के लिए क्यों छीने जायँ? यही बात मुल्क में आज लाखों मिलों को लेकर जारी है जिससे करोड़ों किसान और गरीब प्यारी जमीनों और घर-बार से हाथ धोते हैं वे कहाँ बसेंगे, क्या खायँगे, यह पूछने वाला भी कोई नहीं। जब तक उन्हें दूसरी जगह खेत देने और बसाने का पूरा प्रबन्ध नहीं हो जाता, हम ये मिलें बनने न देंगे और लड़ेंगे, ऐसा दृढ़ संकल्प किये बिना काम न चलेगा।

पानी के करते बे पानी

एक ओर यह है। दूसरी ओर प्रायः हर साल गंगा, गण्डक, कोसी आदि नदियों की बाढ़ों से उनके नजदीक और दियारे में बसने वाले किसान बर्बाद हो जाते हैं। यह बात पहले इतनी भीषण न थी जितनी इधर दिनोंदिन होती जा रही है। खूबी यह कि उनकी रक्षा का उपाय स्वराजी शासक भी कुछ नहीं कर रहे हैं। बाढ़ पीड़ितों की मदद के लिए सरकार से लाखों रुपये दिये जाने की घोषणा जरूर होती है। मगर वे रुपये एक तो दाल में नमक के समान भी नहीं होते और जले पर नमक का काम करते हैं। दूसरे वे कुछ स्वार्थी नेताओं और उनके दलालों के ही पेटों में चले जाते हैं। यह पक्की बात है। हमें इस पर अपना गुस्सा जाहिर करना जरूरी है।

दूसरी ओर सिंचाई का प्रबन्ध न होने से लाखों एकड़ जमीनों में फसल होती ही नहीं, या नाममात्र की ही होती है। जहाँ सम्मेलन हो रहा है वह ढकाइच और पास पड़ोस के गाँव इस बात के नमूने हैं। यदि नहर से पानी मिले, पुनपुन, पैमार काव जैसी छोटी-बड़ी नदियों को बाँधकर उन्हीं का पानी खेतों में पहुँचाया जाय, बिजली के कुओं का प्रबन्ध हो और बरसात के रत्ती-रत्ती पानी को जमा करने का इन्तजाम सरकार करे तो सिंचाई का प्रश्न हल हो, पैदावार चौगुनी हो और जमीनें दोफसिला जरूर बन जायँ। अधिक अन्न उपजाने का यही रास्ता है। कहीं पानी न मिलने से और कहीं पानी के मारे ही किसान बेपानी हो रहे हैं। यह शीघ्र बन्द होना जरूरी है। नहरों के इलाके में लम्बी मुद्दत के सट्टे के लिए जो नियम हैं वे निहायत बेहूदे हैं। उन्हें फौरन बदलना होगा। नहीं तो किसान घूसखोरी से तबाह होते ही रहेंगे। बिजली के नये कुओं के नियम तो और भी गतरबूद हैं। बिना पानी दिये भी रेट वसूली का कायदा है। नाजायज पानी के बारे में भी बहुत बेढंगे नियम हैं। सबों को फौरन बदलवाना होगा। तभी अधिक अन्न उपजेगा।

ऊख वाले किसान

उधर ऊख वाले किसानों के गले पर छुरी चल रही है। उनकी ऊख का दाम पूरा-पूरा देना तो दूर, अधूरा भी नहीं दिया जाता है। इस साल मैंने खर्च का हिसाब लगाकर सरकार को साफ बता दिया कि चार रुपये मन उसका दाम चाहिए। धीरे-धीरे दो-चार साल में वहीं घटाकर रुपये या आठ आने तक कैसे किया जा सकता है और फिर भी किसान को लाभ ही होगा यह भी बता दिया। मगर सरकार ने निहायत बेशर्मी और बेदर्दी से वह दाम पारसाल से भी घटा दिया। युक्तप्रान्त की सरकार तो और भी नीचे चली गयी। किसानों को बता दूँ कि पारसाल उन्हें सवा रुपये मन के ही लिए तैयार होकर ही गन्ना उपजाना चाहिए। नहीं तो पछतायेंगे। दो रुपये मन गन्ने का दाम देकर भी चीनी का दाम तीस रुपये) मन करना ठीक था। यदि बढ़ाया था तो किसानों को और भी पैसे देने थे—फी मन आठ आने तो जरूर ही। पारसाल ऐसा न किया गया। इस साल तो और भी घटा। आगे ज्यादा घटेगा और गन्ने की खेती के विकास के अभाव में चीनी का कारबार खत्म होगा यह पक्की बात है। सरकार ने सेस के नाम पर कई करोड़ रुपये किसानों से ही लिये हैं—उन्हीं के दाम में से ये रुपये आये हैं। फिर भी ऊख के विकास और अधिक उपज के लिए क्या हुआ, यह सवाल डट के करना होगा। तभी खब्बू मलों की नींद टूटेगी।

भावली की नगदी

भावली की नगदी के जो मुकदमे हुए उनने किसानों को न घर का रखा न घाट का। बंशी में मछली की तरह फँसा कर किसान जिबह कर डाले गये। अपीलों का सिलसिला चालू है और नगदी फैसले के बावजूद भावली की वसूली हो रही है। फिर भी गांधीवादी शासकों के कानों पर जूँ नहीं रेंगती। किसान लुटते हैं तो बला से। लीडरों ने रद्दी कानून बनाये तो बला से। सरकार ने नियम-नोटिसें गलत निकालीं तो उससे क्या? मरते तो हैं किसान। भावली की ज़मीनों में लाश तो उनकी जलाई दफनाई जा रही है।

लड़ाई का दूसरा पर्व

आर्थिक मसलों के साथ ही हमें भीतर और बाहर के राजनीतिक सवालों पर भी ध्यान देना जरूरी है दरअसल राजनीतिक सवालों पर ध्यान देना जरूरी है। दरअसल राजनीति हमारी जान है। फलतः उसके समझे बिना हम मर जायेंगे, तबाह हो जायेंगे, यह तयशुदा बात है।

मुद्दत की भिड़न्त और जुझार के बाद हमारे मुल्क ने अंग्रेजी जुआ उतार फेंका यह सभी जानते हैं। हम कहते थे, ललकारते थे कि तुम रहोगे या हम; दोनों रह

नहीं सकते। हुआ भी वही। वे जो हमारी छाती पर कोदों दलते थे चोर की तरह भाग निकले। खूब ही दबाया, जलाया, दिल खोल कर दमन किया। मुल्क को दमन की आग की जलती भट्ठी बना दी। फिर भी भागते ही बना, सो भी चोरों की तरह।

लोग समझते थे अब विपदा की रात का बिहान हुआ, हमारे कष्ट भागेंगे। जो समझदार थे, जिन्हें आजादी के युद्धों का इतिहास ज्ञात था, वे ऐसा तो नहीं मानते थे कि जनता के कष्टों का खात्मा होगा। मगर इतना तो वे भी मानते थे कि मुसीबतें बढ़ेंगी नहीं; उनमें बहुत कमी होगी। लेकिन आज सभी हैरत में हैं कि उलटी बात हुई और जनसाधारण पर आफत के पहाड़ टूट पड़े। फिर भी यह तो होना ही था। किसान-मजदूर माने बैठे थे कि अब लड़ना न होगा। लेकिन उनकी आँखों ने भी असलियत को ताज्जुब के साथ देखा। आज वे भी मानते हैं कि अभी वड़ी जुझार बाकी ही है। रूस में आजादी आने के बाद जब लेनिन ने समझाना चाहा कि श्रमजीवियों को और भी जूझना है तो लोग कहते थे कि उसका माथा फिर गया है। वे मानते थे कि अब हमारे अपने ही लोग--स्वजन ही--शासक हैं। कुछी देर बाद उन्हें भी स्वजनों का नंगा रूप देखने को मिला और लोग लड़ने को आमादा हुए। यहाँ भी स्वजनों की असली सूरत साफ नजर आ रही है। फलतः महाभारत के पहले पर्व के वाद दूसरा जरूरी है यह मान्यता किसान-मजदूरों की हो चली है आजादी के फलस्वरूप जो सर्वत्र होता है भारत में भी हो रहा है। इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही है। यदि द्वितीय पर्व के आरम्भ में हमने देर की तो मर जायँगे याद रहे। यों तो दूसरा पर्व जारी ही है। किसानों और मजदूरों की अनवरत लड़ाइयाँ वह पर्व ही तो हैं। उन्हीं को व्यापक और संगठित रूप देना शेष है।

वैधानिकता का मोह

बहुतेरे माने बैठे हैं कि हमारी शेष लड़ाई वैधानिक ही होगी। अक्टूबर वाली क्रान्ति के पहले लेनिन ने भी ऐसा ही कहना शुरू किया था। मगर उसकी पैनी दृष्टि ने वास्तविकता को जल्दी ही देखा। आजादी मिलने के बाद इतिहास साक्षी है, वैधानिकता का मोह सभी देशों में सर पर सवार हुआ और किसान-मजदूर उसी मृगमरीचिका के पीछे मारे गये। वे शासन शक्ति को हथिया न सके। लेनिन ने भी उसी सनातन पक्ष को अपनाना चाहा था। मगर उसकी आँखें जल्द खुलीं। हम समझते हैं वही अन्तिम परीक्षा थी। कमाने वाली जनता को शासन की गद्दी पर बिठाने की तमन्ना वालों को वह मोह-माया सदा के लिए त्याग देना चाहिए। अधिनायक तन्त्र और फासिज्म के उदय के बाद तो विधानवाद के लिए कहीं स्थान रही न गया। आजादी की रक्षा के नाम पर भारत में एकतन्त्र शासन को भी फीका बना देने वाला जो अन्ध दमन चालू है हमारी आँखें खोलने के लिए वही पर्याप्त है। इधर चुनावों के जो कुछ कटु अनुभव हुए हैं वे चिल्लाकर बताते हैं कि वैधानिकता के दिन लद गये।

अधिकारारूढ़ दल गद्दी कायम रखने के लिए कोई भी काम गांधी जी के नाम पर कर सकता है। वह किसी भी हद तक नीचे जा सकता है। इसीलिए चुनावों के द्वारा बहुमत तभी हो सकता है जब क्रान्तिकारी ताकतें शत्रुओं की कमर तोड़ दें। शासनचक्र को अछूता रखकर सिर्फ मन्त्रियों के बदलने से किसान-मजदूर राज्य कभी कायम न होगा। समस्त शासनचक्र मटियामेट कर नयी सृष्टि बनानी होगी। नहीं तो नये मन्त्री उसी चक्र को चलाने में ही फँसेंगे। मार्क्सवाद यही है और उसके सिवाय दूसरा रास्ता नहीं।

कांग्रेस–तब और अब

कांग्रेस के कर्णधार कहने लगे हैं कि वे किसान-मजदूर राज्य कायम करेंगे। जिन्हें कल तक इसी राज्य के नाम पर छींक आती थी, माथे में चक्कर आता था वही जब किसान-मजदूर राज्य का नाम लेते हैं तो गुस्सा आता है। कल तक के इसके कट्टर शत्रु ऐसा कहने में शर्माते भी नहीं। जब तक किसान और मजदूर अपने राज्य के लिए संगठित न किये जायँ, वर्ग संघर्ष के आधार पर पूर्णरूप से तैयार न किये जायँ, वह राज्य धोखे की टट्टी होगा। वह राज्य पूरी तैयारी के बिना आयेगा नहीं और आने पर टिकेगा नहीं। और वर्ग संघर्ष से लाख कोस दूर भागने वाली कांग्रेस उसे ला नहीं सकती। उसका काम था अंग्रेज सरकार को हटाना और यहाँ के पूँजीपतियों के हाथ में शासन सौंपना। यह काम हो चुका। इसीलिए उसका निर्वाण आवश्यक है। वह कृतकृत्य जो हो चुकी। बापू ने अपने महाप्रयाण से एक दिन पूर्व यही कहा भी था। 15 अगस्त 1947 के पूर्व जो कांग्रेस आजादी के दीवनों की जमात थी, योगसंस्था थी उसके बाद निश्चय ही वह भोग संस्था बनने लगी यह कटु सत्य महात्मा की तीक्ष्ण दृष्टि ने देखा और चाहा कि वह जिस शान से जीवित रही, उसी शान से दफना दी जाय। तिल-तिल करके उसकी दुर्दशा और मौत उन्हें बर्दाश्त न थी। योगियों की जमात बदल कर भोगियों का मठ बने यह सोचकर भी वह तिलमिला उठे और कांग्रेस को समाधिस्थ करने को कहा। मगर महन्ती के भूखे चेलों ने गुरु की एक न सुनी। छोटे से बड़े तक कांग्रेसी कौन कुकर्म नहीं करते? अखबारों के पन्ने इससे रंगे रहते हैं। हाईकोर्ट ने शासकों और उनके चेलों की पीठें नंगी कर जो कोड़े लगाये हैं और कचहरियों एवं न्यायालयों के कामों में उनकी दस्तन्दाजी पर जो डाँट-फटकार बताई है वह इस बात का सबूत है कि कांग्रेस का कितना पतन है। गद्दीनशीनों की गद्दी बनाये रखने और उन्हें तथा उनके पिछलग्गुओं की टुकड़खोरी साधन मात्र वह रह गयी है। इसीलिए किसान-मजूर राज्य के लिए लड़ने वाले उससे निकल भागे हैं। एक ने किसी किसान से कहा कि अपने ही हाथों बनाई कांग्रेस से अलग होना ठीक नहीं। उसने उत्तर दिया कि अपने ही हाथों बनाये घर से लोग भाग खड़े होते हैं जब प्लेग के चूहे घर में गिरते हैं। विशुद्ध जातीयता के हामी लोगों

की वहाँ बड़ी पूछ है। आगे चलकर चुनावों में इस जातिवाद की नावँ पर चढ़कर तथा अनेक कुकर्मों के डाँड़, पतवार के बल पर ही वे चुनाव का तूफानी समुद्र पार करने की आशा रखते हैं। फिर भी उसी कांग्रेस के कर्णधार किसान-मजूर राज्य कायम करने की बातें करने में जरा भी नहीं शर्माते।

साम्यवाद का हौवा

एक ओर तो चिल्लाते हैं कि किसान-मजदूर राज्य स्थापित करेंगे। दूसरी ओर वही लीडर साम्यवाद से इतने भयभीत हैं कि सोते-जागते उसी के सपने देखते और उससे बचने की तरकीब सोचते हैं। यही तो वंचना है। साम्यवाद कोई दूसरी चीज नहीं है सिवाय विशुद्ध किसान-मजदूर राज्य के। साम्यवाद होने पर हरेक आदमी से उतना ही वही काम लिया जायेगा जिसे वह जितना कर सके। लेकिन बदले में उसकी सभी आवश्यकताएँ पूरी की जायँगी, यही साम्यवाद कहाता है। तब इसी का हौआ क्यों खड़ा किया जाता है? साम्यवाद धर्म को मिटाता है, यह तो उसके शत्रुओं का झूठा प्रचार है। सोवियत रूस में धर्म को मिटाने का नाम भी वहाँ की सरकार कहाँ करती है? वहाँ तो हरेक को आजादी है कि धर्म मानें या न मानें। हाँ, साम्यवादी सरकार धर्म में घूँटी किसी को नहीं पिलाती और न उसके पक्ष-विपक्ष में प्रचार करती है जो ठीक ही है। साम्यवाद में अमीर-गरीब नाम की चीज नहीं होती—सभी सुखी होते हैं यह सुन्दर बात है। सभी नागरिकों को समान रूप से पूरा अवसर मिलता है सर्वांगीण समुन्नति का। फिर उसका विरोध कैसा?

साम्यवाद आ रहा है

यह साम्यवाद भारत के दरवाजे खटखटा रहा है। 20-25 वर्षों की कशमकश के बाद चीन में उसकी विजय पूरी होने ही को है। बर्मा में साम्यवाद एवं पूँजीवाद के बीच जीवन-मरण की भिड़न्त जारी है। चीन और बर्मा के मध्यवर्ती देशों की भी कम-बेश यही हालत हैं। लक्षण है कि ये सभी देश जल्द पूँजीवाद को गर्दनिया दे साम्यवाद को अपनायेंगे। तब भारत की पारी आयेगी। चाहे हमारे लीडर लाख चीख पुकार मचायें। मगर यह बात हो के रहेगी। आज यह प्रश्न नहीं है कि हम साम्यवाद को पसन्द करते हैं या नहीं। आज तो वह चट्टान जैसी ठोस चीज के रूप में हमारे सामने खड़ा है। चीन की 95 प्रतिशत जनता च्यांगकैशेक को सलाम करके मावसेतुंग का साथ दिल खोलकर क्यों दे रही है, यदि साम्यवाद बुरी चीज है और साम्यवादी लोग शैतान हैं? जनता के ही बल से तो साम्यवादियों की विजयों पर विजयें हो रही हैं। यह भी नहीं कि वह साम्यवाद सोवियत रूस से चीन में लाया जा रहा है। उसका वृक्ष चीन में ही ठेठ बीज से अंकुरित होकर वृक्ष के रूप में सामने आ रहा है। भारत में भी यही होना है। 1939 और 1945 के दरम्यान भारत में पूर्व से एक बवण्डर

आया जो अंग्रेजी शासन को डुबा कर चलता बना। पुनरपि उसी पूर्व से दूसरा तूफान आ रहा है जो शीघ्र पूँजीवाद को भी यहाँ से भगायेगा और शोषित-पीड़ित जनता के हाथों में शासन सौंपेगा। यही जमाने का रुख है—यही समय की पुकार है।

साम्राज्यवादियों से गठबन्धन

ऐसी दशा में साम्राज्यवाद का नारा लगाने वाले नेहरू जब अपनी वैदेशिक नीति में ब्रिटेन तथा अमरीका के साम्राज्यवादियों से गठबन्धन करते हैं तो बड़ी झल्लाहट होती है। वियतनाम और मलाया में साम्राज्यवादी नग्न नृत्य करते और जनता की आजादी के युद्ध को खून में डुबाते हैं तो नेहरू तमाशा देखते हैं। मगर हिन्द-एशिया के लिए दक्षिण-पूर्व एशियाड देशों का सम्मेलन करते हैं जिसमें वियतनाम और मलाया को न पूछ न्यूजीलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया के प्रतिनिधि बुलाये जाते हैं। जापान के विरुद्ध चीन की स्वतन्त्रता के नाम पर युद्ध करने वाले च्यांगकैशेक से हाथ मिलाने के लिए कभी जो नेहरू चुकिंग तक पहुँचे आज उसी चीन में पूर्ण स्वतन्त्रता का पदार्पण होते देख उनके पास एक शब्द भी बधाई का नहीं है। बल्कि उन्हें घबराहट होती है। किसान-मजदूर राज्य के हामी नेहरू की यह अनोखी मनोवृत्ति है। विदेशियों, पूँजीपतियों और सामन्तों की सत्ता को खोदकर उसके मूल में मठा देने वाले मावसेतुंग, शाबाश यह कहने की हिम्मत उन्हें नहीं। क्योंकि डालर देवता इससे नाखुश होंगे, यही न? स्टरलिंग भगवान् क्रुद्ध होंगे यही न? अमरीका और इंगलैण्ड के सरमायेदार बुरा मानेंगे यही न?

गत महायुद्ध में तुर्की जैसे देश उदासीन थे। आज वे भी साम्राज्यवादियों के क्रीड़ाक्षेत्र बन चुके। फिर भी भारत समुद्र के मालिक नेहरू तटस्थता का ही स्वप्न देखते हैं। युद्ध की दृष्टि से भारत सागर का और भारत का भी बड़ा महत्त्व है, खासकर तृतीय महायुद्ध की दृष्टि से, जो सीधे साम्यवाद एवं साम्राज्यवाद के बीच होगा और जो भारत की सीमा पर या इसी के पास-पड़ोस में होगा। फिर भी नेहरू सरकार तटस्थ रहेगी? क्या यह भी बात है कि अगला युद्ध अतलांतिक या प्रशान्त महासागर में होगा? यह तो कोई सोचता भी शायद ही हो। तब तटस्थता का क्या सवाल? भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में भी जो नेहरू ब्रिटिश साम्राज्यवादियों से सौदा करने में जरा भी न हिचके और भारत को घुमा-फिराकर ब्रिटेन का उपनिवेश ही बना डाला; जो नेहरू इसीलिए भारतीय कारखानों का राष्ट्रीयकरण करने से बाज आये कि ब्रिटिश प्रभु रंज होंगे; छोटानागपुर की खानों की भी जमींदारी मिटाने के सिलसिले में लेने से जिस नेहरू ने इसीलिए मना कर दिया है कि देशी-विदेशी थैली शाह रंज होंगे वही तटस्थ हैं और बीच का रास्ता चुन चुके यह कौन मानेगा?

भेड़िया आया

भेड़िया आया वाली कहानी हम जानते हैं और यह भी जानते हैं कि आखिर भेड़िया आया कहने वाले पर भेड़िया का सफल आक्रमण हो के रहा। हमारे शासकों एवं नेताओं को आज वह भेड़िया आया वाले की दशा है। जहाँ देखो, सुनो, पढ़ो, वे चीखते हैं, कम्युनिस्ट, कम्युनिस्ट, कम्युनिस्ट! हर काम में, हर मौके पर उन्हें कम्युनिस्टों का ही भूत नजर आता है। जो भी संघर्ष का काम है, हक के लिए लड़ने का काम है उसमें उन्हें कम्युनिस्टों का ही हाथ दीखता है। यहाँ तक कि चोरी-डकैती में भी वही देखते हैं। हथियार बन्द चोरी-डकैतियों की भरमार है। उस काम के लिए हथियार जुटाने में लुटेरे लोग व्यस्त हैं। फिर भी ऐसे सभी काम कम्युनिस्टों के ही बताये जाते हैं और 'बदनाम कर लटका दो' के अनुसार कम्युनिस्टों को पीस डालने में सरकार की सारी ताकत लग रही है। खूबी यह है कि आमतौर से उनकी पार्टी गैर कानूनी नहीं की गयी है। नेहरू के दमन का यह नया रूप है। जितना जोर कम्युनिस्टों के विरुद्ध है चोर-डकैतों के खिलाफ वैसा जेहाद बोला गया है क्या?

हम कम्युनिस्टों के वकील नहीं। वे अपनी वकालत खुद करते हैं, कर सकते हैं—जबान से और कामों से भी। वे दूसरों की वकालत चाहते भी नहीं। वे गलतियाँ भी कर सकते हैं—करते हैं। लेकिन क्या नेहरू और उनकी सरकार भूलों पर भूलें नहीं करती? भूलता कौन नहीं? तो भी मजलूमों की आवाज बुलन्द करना न तो भूल है, न पाप। लेकिन जब अंग्रेजों के शासन के समय यही नेहरू मजलूमों की आहों को ऊँची करते थे तो हमारे आका उसे भूल और जुर्म करार देते थे—कहते थे कि यह उनकी आह नहीं है बनावटी चीज है। नेहरू की सरकार भी वही कर रही है। इतिहास तो दुहराया जाता है न? दिलों को टटोलने की बात है, न कि गुस्सा करने की। जो नेहरू खुद लम्बी तनखाह लेते, उनके दूसरे संगी-साथी—केन्द्र में और प्रान्तों में भी—कांग्रेस के कराची के हुक्म को ठुकराकर लम्बे-से-लम्बे वेतन और भत्ते लेते, जिनके गवर्नर, गवर्नर जेनरल तथा विदेश स्थित दूत न सिर्फ लम्बी तनखाहें न लेते, वरन् 20-25 हजार से लेकर 50 हजार की मोटरों पर सैर करने में शर्माते नहीं और जिनके लिए विदेशों से अच्छे-से-अच्छे फर्नीचर मँगाये जाते हैं, सारांश जो भारी वेतन, ठाठ-बाट और फिजूलखर्ची में ही शान समझते हैं वही नेहरू 20 रुपये के मासिक वेतन को 60 रुपये और 100 रुपये के 300 रुपये करने-करवाने के संघर्ष को जब जुर्म, राष्ट्रीय अपराध और पाप करार देकर कम्युनिस्ट, कम्युनिस्ट चिल्लाते हैं तो लोगों का जी चाहता है कि कम्युनिस्टों को गले लगा लें। जो हड़ताल नेहरू खुद करवाते रहे वही आज जुर्म हो गयी है 'ठीक ही है, 'ऊधो बनिआये की बात' है।"

मगर नेहरू और उनके दोस्त एक बात याद रखें। उनने जो कम्युनिज्म और

कम्युनिस्ट का हौआ खड़ा किया है उससे कम्युनिस्टों का लाभ और उन्हीं की हानि होगी यह ध्रुव सत्य है। वे इस तरह इन चीजों को जनप्रिय बना रहे हैं। जो कल तक कम्युनिस्टों के घोर शत्रु थे उनके दिलों में भी इस धुआँधार दमन और हौवे के करते उनके प्रति हमदर्दी हो रही है, याद रहे। एक जमाना था जब रूस के किसान-मजदूर बोलशेविक और बालशेविज्म का नाम भी न जानते थे। फिर भी-मजलूमों के हकों के लिए जमकर बोलने-लड़ने वालों को जार के कठमुल्ले और मालदार बार-बार यही कहते थे कि यह तो बोलशेविक है। परिणाम यही हुआ कि सभी धीरे-धीरे बोलशेविकों को बहादुर और अच्छे समझ खुद बोलशेविक बन गये। वही बात जब भारत में हो जायगी तब नेहरू को पता चलेगा।

दमन का ताण्डव

कम्य1निस्टों की क्या बात? आज तो किसान-मजदूरों के विरुद्ध नग्न दमन का निर्लज्ज नृत्य हो रहा है। सभी प्रान्तों में किसान-मजदूर और उनके सहस्र-सहस्र सेवक जेलों में सड़ रहे हैं, सींखचों में कराहते हैं, लाठी गोलियों के निशान बन चुके और बन रहे हैं। यह नंगा नाच न सिर्फ जमींदारों और थैलीशाहों के लठियल करते हैं, खुद जमींदार-मालदार करते हैं, बल्कि सत्ताधारी अधिकारी करते हैं। अकेले बिहार में कितनी औरतें मारी गयीं, कितने के पेट से बच्चे चोट खाकर बाहर जा गिरे, कितनी बच्चों के साथ ही सो गयीं सदा के लिए, कितने पर लाठियाँ गिरीं और गोलियाँ बरसीं, कौन कहे कौन गिनाये? बकाश्त संघर्ष में औरतों को अंग्रेज और उनकी पुलिस छूने से डरती थी। मगर आज नेहरू और श्री कृष्णसिंह की स्वराजी सरकार सब कुछ करती है बेहिचक। इसीलिए, जैसा कि कहा जा चुका है, अब तो संघर्ष का रूप ही बदल गया है। अब तो लाठी गोली का सामना करने वाले ही बकाश्त के या दूसरे संघर्ष कर सकते हैं। लेकिन यदि शोषण-शून्य समाज से रोग, भुखमरी, गरीबी की मार भगाना है तो दूसरा उपाय है भी नहीं।

जमीन की कमी और आधुनिक खेती

जमींदारी मिटाने की बात से जो लोग घबराते हैं उन्हें भूलना न चाहिए कि जमीन का एक ही काम है कि मुल्क के सभी लोगों को सुन्दर खाना दे और कारखानों के लिए पूरा कच्चा माल पैदा करे। आवश्यकता भर गेहूँ, बासमती, साग-भाजी, फल, मेवे और घी-दूध जब तक न पैदा हो स्वराज्य क्या? किसान-मजदूर राज्य क्या! अगर लाखों कारखानों के लिए कच्चा माल न पैदा हो तो मुल्क का काम कैसे चलेगा। यह भी याद रहे कि गत 70-80 साल के भीतर जनसंख्या 20 करोड़ से 40 करोड़ हो गयी। इतने ही साल 80 करोड़ और डेढ़ सौ वर्ष बाद 160 करोड़ हो जायगी। तब उतने लोगों का अन्न-वस्त्र कहाँ से आयेगा जबकि आज ही नहीं आता! यह

सबसे बड़ा प्रश्न है और सारे देश इसी के हल करने में लगे हैं। हमें भी यही करना है। जमीन के ऊपर से व्यक्ति विशेष की मिल्कियत हटाकर उसे खेती करने वालों के हवाले कर देना और उन्हें विश्वास दिला देना है कि खूब अन्नादि उपजाओ, स्वयं डटकर खाओ, पिओ, भोगो और जो बचे उसमें से सरकार को दो—समाज को दो। जमीन की उपज आज से कई गुनी किये बिना काम न चलेगा और यह बात असम्भव है जब तक मोटर के हलों से खूब गहरी जुताई, काफी सिंचाई, भरपूर खाद और अच्छे बीजों का प्रबन्ध सरकार खुद नहीं करती। इसीलिए हमें एक ओर फौरन ऐसी सरकार बनानी है जो किसान-मजदूरों की अपनी हो, जिसका इनके साथ दिली अपनापन हो, जिसे ये समझें कि वास्तव में हमारी है।

दूसरी ओर सभी मिल्कियतों को जमीन के ऊपर से फौरन मिटा देना है, ताकि किसान जमीन को भी सरकार की ही तरह अपनी समझने लगें, यह उनकी अपनी हो जाय। जमीन पर जमींदारों या गैरों का कुछ भी हक रहने पर ऐसा न होगा और जब तक जमीन के साथ किसान का अपनापन न होगा वह उसकी उपज बढ़ाने में अपने खून को पानी न करेगा।

इसी के साथ खेतों की बीच वाली सीमाओं और मेंड़ों को भी मिटा देना है। तभी ट्रैक्टरों से खेती होगी। नन्हें-नन्हें खेतों में ट्रैक्टर चल नहीं सकते। हर गाँव में इन मेंड़ों के मिटाने से पचासों बीघे जमीन और भी निकल आयेगी। अगर खाद, सिंचाई, जुताई आदि की पूरी सुविधा होगी तो किसान पैदावार काफी बढ़ायेगा, खासकर जब उसे यह विश्वास हो कि उपज में सर्वप्रथम उसे सपरिवार के सुख के लिए खर्च करना है।

किसान और खेत-मजदूर

इसीलिए यह सवाल होता ही नहीं कि किसान यदि जमींदारी को मिटाते हैं तो खेत-मजदूर किसानों को भी मिटायेंगे उनकी जमीनें छीनकर। छीनने का प्रश्न होता ही नहीं। जमींदारी तो सिर्फ इसलिए हटाई जा रही है कि खेती में बाधक है, रोड़ा है, उसके चलते जमीन के साथ किसान का अपनापन हो नहीं पाता। मगर किसान क्यों मिटेगा! हम तो जमींदार को भी नहीं मिटाते, किन्तु उसे भी सुखी बनाना चाहते हैं, पूरे आराम से रखना चाहते हैं। हम सिर्फ जमींदारी मिटाते हैं। तो क्या किसानी मिटाई जायगी। किसानी तो खेती में साधक है न। जमींदारी की तरह बाधक नहीं, कि मिटाई जाय। साथ ही किसान तो खुद मजदूर है, खेतों की उपज के लिए दिन-रात काम करता है, फिक्र करता है, चिन्ता करता है। खेती में कोई हल चलाता, कोई कुदाल; कोई बैलों को खिलाता; कोई खेत-खलिहान की रक्षा करता; कोई खाद-गोबर डालता, कोई दौनी-ओदौनी करता है। इसी तरह सैकड़ों काम हैं। फिर किसान क्यों मिटेगा? केवल हल चलाने से या किसी एकाध काम से ही तो खेती होती नहीं।

और किसान की जमीन छिनेगी कैसे? वह जायगी कहाँ? जो छीनेगा उसका पेट भी बिना उपज बढ़ाये कैसे भरेगा। जनसंख्या दिनोंदिन बढ़ती जो जा रही है। फलतः सबों को मिलकर सरकार की पूरी मदद से उपज बढ़ाना जरूरी है। इसीलिए किसान और खेत-मजदूर का झगड़ा भी बेकार है। उसकी गुंजाइश हुई कहाँ। हम तो उन सबों को खेत के मजूर ही मानते हैं जो खेती से जीते हैं—जिनकी जीविका का प्रधान साधन खेती है वह तो पक्का किसान है जिसके पास किसी प्रकार काम- चलाऊ या नाममात्र की ही जमीन है या न भी है, मगर खेती ही जिसकी जीविका का साधन है। हम ऐसों ही को सारी जमीन सौंपना और उन्हीं को समस्त सुविधाएँ देना चाहते हैं। नहीं तो वर्तमान जनसंख्या के होते ही जब फी आदमी कम-बेश एक ही एकड़ जमीन खेती लायक है या हो सकती है तो आगे चलकर दिनोंदिन कम ही होती जायगी। फिर भोजन कैसे मिलेगा?

सीधा संघर्ष—तुम या हम

हम तो पूर्ण स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ते रहे हैं जिसमें अंग्रेजों के विरुद्ध हमारा नारा रहा है कि तुम रहो या हम—दोनों रह नहीं सकते। वह युद्ध अभी जारी ही है। उसका एक पर्व पूरा हुआ है, दूसरा शेष ही है। पूर्ण स्वतन्त्रता अभी तक फाँसी पर लटकी ही है। कांग्रेसी नेताओं ने समझौता करके डोमिनियाँ राज्य से सन्तोष कर लिया, चाहे शब्दाडम्बर कुछ भी रखें। फलतः हमें पूर्ण स्वराज्य लेना है और वही किसान-मजदूर राज्य भी होगा। इसीलिए हमें तो इन नेताओं के विरुद्ध वही नारा जारी रखना है कि तुम रहो या हम रहें, दोनों रह नहीं सकते। मुखर्जी चेट्टी, मथाई, सिंह, भाभा, अम्बेडकर जैसे लोग, जो सदा कांग्रेस के विरोधी रहे हैं, जब कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल में लिये जाते हैं, सो भी अर्थमन्त्री, व्यापार मन्त्री, कानून मन्त्री, युद्धमन्त्री के पदों पर, तब साफ हो जाता है कि नेहरू कितने गहरे पानी में हैं और उनका किसान-मजदूर राज्य किस धोखे की टट्टी है भारत को टूक-टूक किया। अब कश्मीर के भी दो टूक करने की तैयारी है। बजट में जो कुछ किया जाता है वह थैलीशाहों के ही लिए। भाषणों में उन्हीं से आरजू-मिन्नत की जाती है। उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण न करने के वादे किये जाते हैं। फिर भी किसान-मजदूर राज्य वही लोग लायेंगे। कभी नहीं। उन्हें तो हटाना होगा। सो भी जल्द। तभी खैरियत होगी।

फिर वही दो दल

15 अगस्त, 1947 के पूर्व दो दल थे—एक शासकों का, दूसरा आजादी के दीवानों का। आज भी वहीं दो दल हैं, वही दो दल होने चाहिए और दोनों का प्राणपण से वैसा ही संघर्ष चाहिए। हमारा—वामपन्थियों का कांग्रेस के साथ हजार मतभेद होते हुए भी उसके साथ हम सभी एक होकर शासकों से लड़ते थे। आज भी हम सभी

वामपन्थियों को, आपसी भेद के बावजूद मिलकर बेखटके शासकों से लड़ना है, लीडरों से निपटना है। हम सभी चौराहे पर खड़े हैं जहाँ राह पृथक् होती है। हमें मिलकर अपनी राह चुन लेनी है जो इसमें चूकेगा वही किसान-मजदूर राज्य का शत्रु है। शासक हमें आपस में लड़ाकर एके बाद दीगरे सबों को कुचल देंगे, याद रहे। इसलिए उनसे सजग रहें और आपस में हर्गिज न फूटें। हममें हरेक को यही निश्चय करना है। मैंने तो कर भी लिया है। बाकियों से भी क्या यही आशा करूँ?

जय किसान, जय मजूर

हमने भारत माता की जय, जय हिन्द आदि नारे बहुत लगाये। अब समय पलटा है। नारे भी बदले जायँ। 'जय किसान' 'जय मजूर' अब हमारे यही नारे होंगे। "जो अन्न-वस्त्र उपजायेगा, अब सो कानून बनायेगा। भारतवर्ष उसी का है अब शासन वही चलायेगा" यही हमारा मूलमन्त्र हो। उसी के जप से हमारी साधना पूरेगी और हमारा लक्ष्य—किसान-मजदूर राज्य प्राप्त होगा। एतदर्थ हमें हर किसान-मजूर स्त्री-पुरुष बालिग को किसान-सभा में दाखिल करना होगा, सर्वत्र किसान-सभा का जाल बिछाना होगा, गाँव में जो सबसे दबे-दुखिया हैं, मजूरी करते हैं उन्हें अपनाना होगा, उठाना होगा, तैयार करना होगा। अब उन्हीं का युग है। वही साथी बनेंगे, तभी विजय होगी, याद रहे। किसान-सभा जिन्दाबाद, मजूर सभा जिन्दाबाद, किसान-मजूर राज्य जिन्दाबाद, जय किसान, जय मजूर!

(विहार प्रान्तीय किसान सम्मेलन, ढकाइच, जिला शाहाबाद, ता. 12-13 मार्च, 1949 ई. को स्वामी सहजानन्द सरस्वती का अध्यक्षीय भाषण)

गया जिले में सवा दो मास

गत मार्च के अन्त में—27-28 मार्च, 1949 को—नियामतपुर गया में बिहार प्रान्त के प्रमुख किसान कार्यकर्त्ताओं की महत्त्वपूर्ण मीटिंग हुई थी। प्रायः सभी किसान-सेवक उपस्थित थे। उसमें सर्वसम्मत निश्चय हुआ था कि (1) जिन्हें किसान-सभा में रहना है वे 30 अप्रैल, 1949 तक कांग्रेस से अलग हो जायँ (2) किसान-सभा राजनीतिक दल के ढंग पर चलायी जाय, जिससे इसमें अनुशासन की पाबन्दी सख्ती से की जाय और (3) गया जिले के हर एक थाने एवं सबडिविजन के हेड क्वार्टर्स में किसान-सभाएँ तथा किसान रैलियाँ की जायँ। अनुशासन वगैरा के बारे में नियम बनाने के लिए स्वामी सहजानन्द सरस्वती, पं. यदुनन्दन शर्मा और पं. रामचन्द्र शर्मा की एक उपसमिति भी बनायी गयी थी।

× × ×

उसी निश्चय के अनुसार 15 अप्रैल, 1949 को पहली मीटिंग औरंगाबाद के दाउदनगर थाने में की गयी। वह सिलसिला तभी से चालू था और 20 जून, 1949 को सदर सबडिविजन के फतेहपुर थाने में अन्तिम किसान मीटिंग के साथ पूरा हुआ। हमने जिले के कुल 36 थानों में एक को भी नहीं छोड़ा—सर्वत्र मीटिंगें कीं—कहीं छोटी, कहीं मँझोली और कहीं महती मीटिंग। औरंगाबाद, जहानाबाद, नावादा में विराट् किसान रैलियाँ भी हुईं, जिनमें 8-10 हजार से लेकर 20-25 हजार तक किसान सम्मिलित हुए। दर्जनों थाना सभाओं में भी 8-10 हजार और इनसे भी अधिक किसान शरीक हुए। गया शहर वाली किसान रैली पीछे की जायगी।

× × ×

गया जिला किसान-आन्दोलन का सदा से केन्द्र रहा है। फिर भी सामूहिक रूप से समस्त जिले के कोने-कोने में सभाएँ करने का यह पहला प्रयास था। तय था कि इस बार कोई भी कोना छोड़ा न जाय। फलतः कुछ थानों में दो-दो, तीन-तीन सभाएँ भी की गयीं। जिले भर में 50 हजार से कम विज्ञप्तियाँ न बँटीं—ऐसी विज्ञप्तियाँ, जिनमें किसानों के वर्तमान नारे और दावे स्पष्ट रूप से लिखे थे, जो बातें हम सभाओं में बोलते थे, वही संक्षिप्त रूप में इन विज्ञप्तियों में अंकित थीं। हजारों पोस्टर भी

यही बातें अति संक्षेप में—सूत्र रूप से लिखकर छपे और बँटे थे चिपके थे। पाँच-पाँच, सात-सात, दस-दस और कभी इनसे भी अधिक किसान सेवकों के दल झण्डों, गानों और नारों के साथ गाँवों में चक्कर लगाकर इसकी बात का प्रचार करते रहे। औरंगाबाद में तो 'पर्दाफाश' नाटक भी खेला गया, जिसमें 8-10 हजार दर्शक शरीक हुए।

× × ×

इसी प्रकार गया जिले के कम-बेश 10-12 लाख किसानों एवं आम जनता को किसान-सभा का नया सन्देश इन सवा दो महीनों के भीतर सुनाया गया। सो भी जमकर संगठित रूप से। खूबी यह कि कहीं भी जनता ने विरोध की एक भी आवाज न उठाई। यहाँ तक कि कांग्रेस के नये मुखिया लोग भी 'सटकसीताराम' रहे। उन्हें भी हिम्मत न थी कि जुबाँ खोलें—चूँ करें। हालाँकि समूचे प्रचार और सभी सभाओं में कांग्रेस एवं उसके कर्णधारों की कड़ी-से-कड़ी आलोचना खुल के की गयी। हमने खासकर दो बातों पर सर्वत्र जोर दिया—कांग्रेस को तोड़ दो और गद्दीधारी नेता गद्दी छोड़ दें। बेशक इन दो प्रमुख नारों की पूरी पृष्ठभूमि भी हमारे प्रचारों और भाषणों में निरन्तर की गयी, जिससे वे सबों की समझ में आसानी से आ सकें और सबने इनकी महत्ता, इनकी आवश्यकता एवं सामयिकता इनका औचित्य हृदयंगम कर लिया।

× × ×

हमारी सभी सभाओं की विशेषता यह थी कि इनमें अधिकांश खेत-मजदूर और टुटपुँजिये किसान शरीक हुए। फटे-टूटे चिथड़े, मैले-कुचैले कपड़े और लँगोटी पहनने वाले काले-कलूटे अन्नदाताओं ने इस बार विशेष रूप से भाग लिया। वे हमारे भाषणों और गानों को गोया चुपचाप पीते रहे हैं। बड़े चाव एवं प्रेम से हमारी बात वे सुनते रहे हैं। हमारे शब्द ठेठ; उनके दिल-दिमाग में घुस जाते हैं, ऐसा मालूम पड़ता रहा है। हमने देखा कि बातें सुनते-सुनते उनके चेहरे खिलते थे। गोया, सभी बातें उनके दिल की ही कही जाती थीं। हमने यह भी अनुभव किया कि वास्तविक किसान, असली शोषित-पीड़ित जनता जग चुकी और जग रही है करवटें बदल रही है और आँखें खोल चुकी है—वही जनता जो महारुद्र का महाताण्डव करती है। भूकम्प और प्रलय मचाती है, इनकिलाब और क्रान्ति करती है। ऐसा लगा कि उसका दिल कह रहा है कि कुछ निराली बात करनी है। जिसका सन्देश सुनाने वाले आ रहे हैं, चलो और सन्देश सुनो।

× × ×

जब हमने आज से सवा दो मास पूर्व यह महान् एवं पवित्र कार्य शुरू किया, तो खूब समझ-बूझकर कि देहातों में सभाएँ करनी हैं लगन और विवाह का दिन है। खासकर तपिश और लू का सामना करना है, खासकर गया की लू का, बरसात भी सर पर थी, खेती-गिरस्ती के दिन आ चुके थे और किसानों को बारिश के पूर्व

अपने झोंपड़ों तथा घरों की मरम्मत भी करनी थी। फिर भी हम आगे बढ़े और आत्मविश्वास एवं हिम्मत के साथ आगे बढ़े। इहसान नाखुदा का उठायें मेरी बला। कश्ती खुदा पे छोड़ दूँ, लंगर को तोड़ दूँ। को हमने सामने रखा। कुछ धुनी साथियों को लेकर हम और श्री यदुनन्दन शर्मा ने तूफानी समुन्दर में अपनी कश्ती डाल दी, मस्ती के साथ बिना पतवार और मल्लाह के ही नाव को झकोरों और लहरों के बीच खेलने दिया और अन्त में लहराते झण्डों के साथ पार उतरे और किनारे लगे।

× × ×

जिन्हें थानों की मीटिंगों के लिए प्रचार का भार सौंपा ऐसे कुछ साथी अपनी ड्यूटी में बुरी तरह चूके; सो भी अपनी लापरवाही एवं गैर-जवाबदेही के चलते। वे थाने में गये तक नहीं। कुछ ऐसे थे, जो गये जरूर और कुछ काम भी प्रचार का कर सके, मगर पीछे किसी मजबूरी से बैठे रहे। मजबूरी वालों में कुछ बीमार पड़े और कुछ गर्मी तथा लू के चलते अलसा गये फिर भी हमारा काम चलता रहा। हमारा कारवाँ आगे बढ़ता ही गया। हमने एक भी थाना न छोड़ा। हमें, श्री यदुनन्दन शर्मा, त्रिवेणी सुधाकर और हलधर को तो न बीमारी पूछती थी, न लू, न थकावट और न घबराहट और न निराशा ही। हम मस्ती से यकीन के साथ आगे बढ़ते ही गये। हालत यह थी कि जिस थाने में कोई समाचार पहले से न हो सका था, वहाँ भी बात-ही-बात में हमने हजारों की हाँ, हजारों की सुन्दर मीटिंग कर ली। दृष्टान्त के लिए बोध गया और अतरी को ले सकते हैं। यहाँ 12 और 24 घण्टों में सुन्दर सभाएँ हो गयीं, हालाँकि पहले खबर भी न पहुँच सकी थी कि हम आ रहे हैं। अगर गुरु गोविन्द सिंह को दो-तीन साथियों के बल पर काया पलट की, तो श्री यदुनन्दन शर्मा को भी ऐसे ही दो-चार साथी मिले हैं।

× × ×

नेताओं से जनता को बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं, लीडरों ने बड़ी-बड़ी बातें जो की थीं। और जनता तो नेताओं का विवेचन-विश्लेषण मार्क्सवादी ढंग से कर पाती नहीं। फलतः उसने लीडरों की बातें अक्षरशः, सही मानी थी। मगर जब आज देखती है कि हजार में एक बात भी पूरी न हो रही है, तो उसे सहसा खयाल होता है कि सब किया-कराया बेकार गया। इसी को अंग्रेजी में 'सेंस ऑफ फस्टेशन' कहते हैं। जनता की यह दशा है इसी से उसे गुस्सा भी है। वह सारी शैतानियत और वादाखिलाफी उखाड़ फेंकने की ओर आप-से-आप झुक रही है। कोई शक्ति उसे इस ओर बलात् घसीटती-सी है। हमें यह अनुभव हुआ। अतः हमने समझा कि यही तो सुनहला मौका है कि जनता को आज क्या करना है। यह सिखाया जाय। यदि क्रान्तिकारी ताकतें इस मौके पर चूकेंगी, तो बुरा होगा। उनको आज ही जरूरत है कि किसान-मजूरों के बीच धूनी रमायें नहीं तो जनता उन्हें भी न छोड़ेगी। याद रहे जनजागरण का जो स्रोत अपने-आप फूट रहा है। चालू हो रहा है उसे जल्द-से-जल्द तेज और विकराल

बना देने में हम सबों को अविलम्ब लग जाना है, ताकि वह मार्ग की चट्टानों और शिलाओं को चीरता-फाड़ता-रौंदता हुआ अबाध द्रुतगति से आगे बढ़े तथा लक्ष्य तक पहुँच के ही दम लें।

× × ×

हमें इस तूफानी दौर में बहुतों को देखना था कि कौन कहाँ तक साथ देगा। सबसे पहले किसान-मजूरों एवं जनसाधारण की नब्ज देखनी थी। वह तो चुस्त मिली। हमने अनुभव किया कि शोषित-पीड़ित जनता हमारा साथ देने को तैयार है। वह तो साथ ले चलने वालों की प्रतीक्षा में है।

अपने पुराने साथियों को भी देखना था कि वे किस घाट पर लगेंगे। हमें खुशी है कुछेक को छोड़कर सभी उत्साह से हमारा साथ आये। जिनकी हमें आशा न थी, वे ही आये। यह ठीक है कि लम्बी दौड़ में वे अन्त तक डट न सके—उन्हें थकान आ गयी। यह स्वाभाविक भी है। हमार विश्वास है, ऐसी ही धूल, धूप और सरपट में एक-दो बार और भी गोते जाने पर वे सब नहीं, अधिकांश इस्पात हो के निकलेंगे। उन्हें इस फौजी अनुशासन में नौ हफ्तों तक अविराम चलने का पहला ही मौका था। फिसलन काफी थी। फलतः पाँव खिसक जाना स्वभाविक था। मगर वे न भूलें कि जनता बेमुरव्वती से अपने सेवकों से हिसाब माँगती है और जरा सी भूल पाकर लटका देती है—खासकर किसान-मजूर जनता। 'सेवक धर्म कठोरा' यह एक सत्य भी है। सेवक भी बने और मजा भी लें, यह होने को नहीं।

× × ×

आखिर में हमें औरंगाबाद के अपने राजपूत साथी को भी देखना था कि उसमें थकान तो नहीं है। हमें खुशी है कि वह तो राजपूती ढंग से आगे बढ़ना ही जानता है। प्रलोभन और विघ्नबाधाएँ उसे और भी सजग, कर्त्तव्यपरायण एवं मौत से खेलने वाला बना रही है। ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उसकी यह अनोखी राजपूती अपना कमाल दिखाती नजर आती है। ढलती उम्र में भी वह कुमार ही है। सारी शक्ति लगाकर किसान-मजूरों की सेवा में अपने को उत्सर्ग कर देने की उसकी तमन्ना ने हमें बाग-बाग कर दिया।

× × ×

इस अपनी सरकार में मीटिंग जैसे नागरिक अधिकार पर चौबीस घण्टे, तीस दिन और बारह महीने कितनी जंजीरें सख्ती से लगी हैं यह भी हमने सवा दो महीने में दर्द के साथ अनुभव किया। न तो कोई असाधारण स्थिति है, न दंगे या युद्ध का समय है। फिर भी, हम मीटिंगें कर नहीं सकते। जब तक दारोगा, इंस्पेक्टर, एस. पी. और कलक्टर के पास क्रमशः दरबार करके आज्ञा न लें। आज्ञा तो हमें बेशक मिली। जिले के अधिकारियों ने कोई बाधा न डाली। उनने कभी-कभी निहायत जरूरी में ही हमें आज्ञा दे दी। मगर नीचे से ऊपर तक यह शिष्टाचार और यह

विधि-विधान हमें बुरी तरह खटका। इसने रह-रह के याद दिलाया कि यह आजादी कैसी खोखली है और असली आजादी से हम कितने दूर हैं। यह 'अपनी सरकार' भी कैसी गजब की है। हमने इसी दरम्यान देखा। शासन का मर्ज इसे ही कहते हैं, जो कांग्रेसी शासकों पर सवार है। देखें, उसकी दवा कब, कैसे, कौन करता है?

(साप्ताहिक 'हुंकार' वर्ष 7, अंक 40, 26 जून, 1949, पटना)

उद्धरण

हमारा बादशाह किसान-मजदूर—हम किसी को बादशाह नहीं मानना चाहते। हमारा बादशाह किसान-मजदूर है। जिसकी कमाई से बासमती, गेहूँ, दूध-घी, चीनी-शक्कर, कपड़े और हमारे आराम की तमाम चीजें तैयार हों, वही तो हमारा बादशाह है। हमारा बादशाह दूसरा कौन? जिस बादशाह की कमाई हम खाते हैं, उसी की सरकार हम अपने मुल्क में चाहते हैं।

× × ×

हम व्यक्तिगत राज नहीं चाहते—हम क्रान्ति चाहते हैं, पर किसी का व्यक्तिगत राज होना हम नहीं चाहते। हम किसान-मजदूर राज चाहते हैं।

इनकिलाब के मानी अराजकता नहीं, लूट नहीं। इसमें हम कम-से-कम जान माल का नुकसान कर किसान-मजदूर-राज स्थापित करना चाहते हैं।

× × ×

अपने कब्जे की बकाश्त मत छोड़ो—जो बकाश्त जमींदार अपने हल-बैल से करता है, उस पर मत जाओ। प्रान्त भर में कुल 20 लाख एकड़ बकाश्त है। उनमें 19 लाख एकड़ किसान जोतते हैं और 1 लाख एकड़ जमींदार। इस 1 लाख के सम्बन्ध में कुछ नहीं सोचो—19 लाख एकड़ पर अपना कब्जा न छोड़ो। उस पर मर जाओ; पर उससे बेदखल न होओ। हम जमींदारों से कह देना चाहते हैं कि यदि वे गड़बड़ी करेंगे, तो उनकी 1 लाख एकड़ भी चली जायगी।

× × ×

किसान-मजदूरों को क्या मिला?—कहा जाता है, अपनी सरकार बन गई, अंग्रेज चले गये; लेकिन किसान और मजदूरों को क्या मिला? आज सरकार की सारी ताकत जमींदारों के लिए, पूँजीपतियों के लिए सारी सहूलियतें मुहैया करने में लगी है, उनके लिए सरकार की पूरी तैयारी है; पर उन किसान-मजदूरों को क्या मिला, उनके लिए कौन-सी सरकारी तैयारी हो रही है, जिनके बल पर सरकार बनी और कायम है?

× × ×

जमींदारों के एक पैसा भी नहीं–अगर हमारी चले, तो हम पलक में किसानों को जमीन का मालिक बना दें। जमींदार को जमींदारी के बदले में एक पैसा भी नहीं मिलना चाहिए। अगर ज़मींदारों को पैसा देंगे, तो दो सौ वर्षों से अंग्रेज इस मुल्क में रहे, इसके लिए भी हमें उन्हें पैसा देना चाहिए। जमींदारों ने बहुत मौज की, किसानों को लूटकर अपने को मालोमाल किया। अब मुआविजा कैसा? हमारे नेता कहते हैं, हमने चुनाव-घोषणा में वादा किया है कि जमींदारी को हासिल करेंगे, इसलिए मुआविजा देना वाजिब है। चुनाव-घोषणा में किसानों और मजदूरों के साथ भी बहुत वादे किए गये थे, परन्तु आज उनमें एक को भी पूरा नहीं किया जा रहा है। आज किसानों के स्वार्थों के साथ, उनके सवालों के साथ, उनकी माँगों के साथ मखौल किया जा रहा है। आज भावली से नकदी करने में क्या हो रहा है, जमींदारी उठाने में क्या हो रहा है? आबपाशी के लिए क्या किया जा रहा है?

× × ×

यह सरकार मालदारों की है–5 अगस्त के बाद जो राज कायम हुआ है, उसमें बिड़ला, डालमियाँ, टाटा, सिंघानियाँ को कारखाना खोलने में सहूलियत मिलेगी किसानों और मज़दूरों को कोई सुख-सुविधा नहीं मिल सकती। यह सरकार मालदारों की है, जमींदारों की है। आज उन्हीं की मनमानीं-घरजानी है, उन्हीं का बोलबाला है। मजिस्ट्रेट और पुलिस उन्हीं के इशारे पर नाच रहे हैं और किसानों और मजदूरों पर जुल्म और सितम ढा रहे हैं।

× × ×

जो अन्न-वस्त्र उपजायेगा, अब सो कानून बनायेगा–कांग्रेस के लोग तो किसानों के चिन्तकों से भी नाक-भौं सिकोड़ते हैं। आपने देखा, उन्होंने असेम्बली में किन लोगों को भेजा?–सिर्फ जमींदारों या उनके पिट्ठुओं को। किसानों की बात बोलने वाला कहाँ कौन है? जहाँ ऐसी असेम्बली है, वहाँ किसानों का खुदाहाफिज। अब असेम्बली में भेजने वालों में छँटैया करने के बाद कहीं किसानों और मजदूरों की असेंबली बनेगी। अब ऐसे आदमियों को वोट दो, जिनके कन्धे पर हल और हाथ में कुदाल है। अब सिद्धान्त बना लो कि जो अन्न-वस्त्र उपजायेगा, अब सो कानून बनायेगा? अगर ऐसा आदमी कानून बनायेगा और गड़बड़ करेगा, तो उसे कान पकड़ कर दो तमाचे भी लगा सकोगे, परन्तु आजकल के एम.एल.ए. लोगों की तो शक्ल भी देखने में नहीं आती।

× × ×

समझौते की नीति से सब चौपट–हमारे नेताओं की समझौते की मनोवृत्ति ने सारा गुड़ गोबर कर दिया। हमारे जैसे लोग बराबर विदेशी हुकूमत से लड़कर स्वराज हासिल करने पर जोर देते थे; पर सुनता कौन है? हमने हिन्दुस्तान को दो हिस्सों में विभाजित करने का सदा विरोध किया; पर हमारे नेताओं ने हमारी एक भी न

सुनी। उनका कहना था कि दंगे और खून-खराबी रोकने के लिए हिन्दुस्तान का बँटवारा होना जरूरी है। मैं पूछता हूँ कि आज जो साम्प्रदायिक दंगे, खून-खराबी और औरतों की बेइज्जती हो रही है, उससे ज्यादा पहले कभी हुई?

× × ×

स्वराज या पुलिसराज?—लोग कहते हैं कि स्वराज आ गया; परन्तु स्वराज नहीं यह तो पुलिसराज है। एम.एल.ए. का राज है। पुलिस जो चाहती है, कर रही है। पुलिस का रवैया तो पहले से खराब है, उसकी धाँधली तो दिन-प्रतिदिन बढ़ ही रही है। एम.एल.ए. जो चाहते हैं, कर रहे हैं। उन्हें लोकमत की कोई परवाह नहीं है। लोग कहते हैं कि मैंने किसानों से कहा था कि कांग्रेस के उम्मीदवारों को वोट दो, ठीक है, मैंने ऐसा कहा था; परन्तु कब? जब अंग्रेजी हुकूमत यहाँ थी और उसको हमें मार भगाना था। उस समय यदि कांग्रेस की हार होती, तो अंग्रेजों के खिलाफ जो हमारा मोर्चा था, वह कमजोर होता और अंग्रेजों की जड़ इस मुल्क में मजबूत होती। परन्तु अब तो 15 अगस्त के बाद यह बात नहीं रही। अब तो कांग्रेस ने अपना काम कर लिया। अब तो उसे मुक्ति मिलनी चाहिए।

(साप्ताहिक 'हुंकार' वर्ष 9, अंक 7, 16 जुलाई, 1950 ई.)

छपने के पूर्व स्वामीजी 26 जून 1950 ई. को काल कवलित हो गये थे—सम्पादक

संयुक्त वामपक्षी मोर्चा घोषणापत्र

(15-16 अप्रैल 1948, पटना)

संयुक्त वामपक्षी मोर्चे की स्थापना पर वक्तव्य

भारतीय जनता को विश्वास दिलाया गया था कि 15 अगस्त, 1947 से वह आजाद हो रही है। मगर अब उसका यह विश्वास टूटने लगा है। इस तथाकथित आजादी से उसे मिला है चीजों का बढ़ता हुआ अकाल, बढ़ती हुई महँगाई, मजदूरी और तनखा की कमी, बढ़ती हुई बेरोज़गारी, चारों ओर फैला हुआ चोरबाजारी का जाल, हर जगह खूनी साम्प्रदायिक दंगे, और हर तरह का कष्ट, अभाव और बरबादी। राजनीतिक क्षेत्र में, जनता के नागरिक अधिकारों पर गहरा हमला किया गया है; हर प्रान्त में राजनीतिक कार्यकर्त्ता बिना मुकदमा चलाये जेलों में बन्द किये जा रहे हैं, शान्त जुलूसों और प्रदर्शनों पर गोलियों का चलाना रोजमर्रे की बात हो गयी है। लोग जनता के हकों के लिए लड़ने के कारण जेलों में डाल दिये गये हैं और जनता के संगठनों को घोर दमन का शिकार बनाया गया है।

भारतीय संघ और पाकिस्तान की तथा विभिन्न प्रान्तों की सरकारों ने, जिनकी बागडोर कांग्रेस और लीग की नेताशाही के हाथ में है, वादा किया कि वे मजदूरों और कर्मचारियों को जीवन-निर्वाह योग्य मजदूरी दिलायेंगे, किसानों को भूमि देंगे, चोरबाजारी के खिलाफ जेहाद बोलेंगे, शासन की मशीन तथा पुलिस-फौज का जनवादी आधार पर पुनर्गठन करेंगे और तीव्र गति से देश की सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए अनुकूल हालत पैदा करेंगे। मगर जनता के प्रति अपने इन वादों को नेताओं ने त्याग दिया है। इन वादों को पूरा करने के बदले वे पूँजीपतियों, चोरबाजारियों और सामन्ती मुफ्तखोरों का हितसाधन कर रहे हैं। वे मजदूरों का पेट काटने, चोरबाजार को कानूनी स्थिति देने, मुख्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने से इनकार करने आदि की नीति पर चल रहे हैं। वे देशी नरेशों को खुश करने की कोशिश कर रहे हैं और इस प्रकार रियासती जनता के संघर्ष को धक्का लगा रहे हैं। जोतने वालों को जमीन देने से इनकार कर वे जमींदारों और दूसरे सामन्ती वर्गों को खुश करने की नीति पर चल रहे हैं। उन्होंने शासन की पुरानी मशीन को बरकरार रखा है और देश में वही पुलिस-पलटन और नौकरशाही कायम है। वे विधान-परिषद् में एक ऐसा विधान तैयार कर रहे हैं जिसका तत्त्व जनविरोधी है और जिसमें विदेशी

और देशी पूँजीपतियों को पूर्ण मुआविजे का अधिकार प्रदान किया गया है, शासन विभाग को असाधारण अधिकार दिये गये हैं, प्रान्तीय स्वराज्य में बहुत बड़ी कमी की गयी है और जनता को केवल लम्बी मुद्दतों के बाद वोट देने का हक दिया गया है।

नेताओं ने साम्राज्यशाही से लड़कर आजादी छीन लेने से इनकार किया और ब्रिटिश साम्राज्यशाही से समझौता कर लिया है। इसी का नतीजा है कि देश में भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए जिसमें लाखों जनता को भय, मुसीबत और बरबादी का सामना करना पड़ा मगर लीग के नेता जो सम्प्रदायवाद के समर्थक हैं, और कांग्रेस के नेता जो राष्ट्रीयता की दुहाई देते हैं, दोनों ही ने सम्प्रदायवाद से लड़ने के बदले सम्प्रदायवादी प्रतिगामियों को खुश करने की नीति अपनायी है। नेताशाही के अधिक जोरदार अंग ने स्वयं सम्प्रदायवादी और हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बीच युद्ध का प्रचार कर दंगों को बढ़ावा दिया है।

विदेशी शासन के पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने की कोशिश करने के बदले भारतीय संघ और पाकिस्तान की सरकारें कांग्रेस और लीगी नेताशाही के नेतृत्व में विश्व साम्राज्यवाद की पिछलग्गू बन गयी है। उन्होंने विदेशी पूँजी की आर्थिक सत्ता बरकरार रखी है, विदेशियों से राष्ट्र के लिए अपमानजनक व्यापारिक सन्धियाँ की हैं और साम्राज्यवादी सरकारों के साथ सैनिक गठबन्धन करने के लिए दाँव-पेंच खेले हैं और इस प्रकार अमेरिकी-ब्रिटिश साम्राज्यशाही की पिछलगुआगीरी की है। हाल की घटनाओं से यह भी पता चलता है कि युद्ध छिड़ने की हालत में वे अमेरिकी-ब्रिटिश साम्राज्यवादी गुट में शामिल होने की ओर कदम बढ़ा रही हैं, जिसका नतीजा देश की जनता की भयानक बरबादी होगा।

आज के भारत की यही तसवीर है। कांग्रेस और लीग की नेताशाही के नेतृत्व में वह स्थिर स्वार्थ वर्ग के हाथों की कठपुतली है और अमेरिकी-ब्रिटिश साम्राज्यशाही के दामन में बँध गया है। इस स्थिति में दुनियाँ में पूँजीवाद के तीव्रतर होते हुए संकट के असर से जनता की हालत और भी खराब होने का सामान मुहैया है। भारतीय संघ और पाकिस्तान की पूँजीवादी नेताशाही उसे अकाल, बढ़ती हुई महँगी, चीजों का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ अकाल, मजदूरों और कर्मचारियों की आम छँटनी, दमन का राज और साम्प्रदायिक दंगों के नये दौर की खन्दक की ओर घसीट रही है। यह भी स्पष्ट हो चुका है कि मौजूदा नेताशाही या सरकार न तो जनता को इस खन्दक की ओर जाने से बचा सकती है न बचाना चाहती है। मुल्क को इस बरबादी और सत्यानाश से बचाने और साम्राज्यशाही की मातहती से छुड़ाने के लिए मौजूदा सरकार को हटाना ही पड़ेगा और उसकी जगह ऐसी सरकार बनानी पड़ेगी जो कि शोषित जनता के अधिकारों की रक्षा करेगी। सरकार के निर्मम हमलों और दमन के बावजूद जनता का असन्तोष और बेदारी बढ़ रही है और विभिन्न अंगों का संघर्ष

और आन्दोलन जोर पकड़ रहा है। मजदूरों की हड़तालें, व्यापक किसान आन्दोलन, रियासती जनता के तूफानी आन्दोलन, दमनकारी कानूनों के खिलाफ जनता के विशाल प्रदर्शन, मध्यमवर्गी कर्मचारियों और विद्यार्थियों की लड़ाइयाँ और कांग्रेसी तथा लीगी जनता में उठती हुई उथल-पुथल—ये सभी इस बात के स्पष्ट चिह्न हैं कि क्रान्तिकारी शक्तियाँ मजबूत हो रही हैं और उनको मिलजुल कर और एक स्वर तथा एक ताल पर चलकर आगे बढ़ने की कोशिश करनी चाहिए।

संयुक्त वामपक्षी मोर्चा

इस सम्मेलन में मौजूद उग्रदली पार्टियों के प्रतिनिधि इस आवश्यकता को महसूस करते हैं और आज इस जगह इस ऐलान के जरिये 'संयुक्त उग्रदली मोर्चा' बनाने का निश्चय करते हैं। यह मोर्चा ऊपर बतलाये संघर्षों को पूर्ण स्वतन्त्रता और समाजवाद की प्राप्ति के लिए एक आम और व्यापक संघर्ष का हिस्सा समझ कर और भी आगे बढ़ायेगा और तेज करेगा।

साम्प्रदायिक दंगों, भारत-पाकिस्तान के बीच युद्ध के प्रचार, छँटनी और तनखा की कटौती, सरकार के दमनकारी कानूनों, राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस और उस जैसी अन्य संस्थाओं के जरिये पूँजीवादी वर्ग की जन-संगठनों में फूट डालने और उन्हें कमजोर करने की कोशिशों तथा मजदूरों और किसानों की माँगें और आवश्यकताएँ पूरी किये बगैर औद्योगिक और कृषि मोर्चों पर शान्ति रखने के नारे के खिलाफ तत्काल और संयुक्त आन्दोलन छेड़ करके ही यह उग्रदली मोर्चा बनाया और बढ़ाया जायगा। यह मोर्चा देशी रियासतों में सच्च जनवादी सुधारों और मजदूरों, किसानों और दूसरे मेहनतकश लोगों के हक के लिए आन्दोलन करेगा। इस मोर्चे को तैयार करने के लिए भारतीय संघ और पाकिस्तान में प्रतिक्रियावादी नेताशाही की नीति का लगातार पर्दाफाश करना होगा।

यह मोर्चा भारतीय संघ और पाकिस्तान के अन्दर काम करने वाले साम्राज्य विरोधी कांग्रेसजनों और लीगियों के संघर्ष को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझता है। यह मोर्चा सबके समान हितों के सवालों पर होने वाले संयुक्त प्रदर्शनों में इन साम्राज्यविरोधी लोगों को लाने की कोशिश करेगा और प्रतिक्रियावादी नेताओं के असर से अपने को छुड़ाने में उनकी मदद करेगा।

इस मोर्चे का उद्देश्य मौजूदा सरकारों के बदले शोषित जनता की हित-रक्षा करने वाली सरकारें कायम करना होगा। यह मोर्चा नीचे से, मेहनतकश जनता की एकता और संगठन, और उनके पीछे सभी उग्रदली पार्टियों और प्रगतिशील अंगों के संयुक्त प्रयत्नों के जोर से बनी जन संगठनों के एकता के जरिये तैयार होगा, फैलेगा और मजबूत होगा।

कार्यक्रम

यह 'संयुक्त उग्रदली मोर्चा' नीचे लिखे कार्यक्रम के आधार पर तैयार किया जायगा—

1. पूर्ण स्वतन्त्रता—ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद और सभी ब्रिटिश फौजों और अफसरों की यहाँ से विदाई।

2. सभी ब्रिटिश और विलायती आर्थिक हितों की जब्ती, जिनमें बैंक, बीमा कम्पनियाँ, मिल-कारखाने, बागान, खान आदि सम्मिलित हैं। अमेरिकी-ब्रिटिश साम्राज्यवादी राष्ट्र समूह से कोई समझौता नहीं किया जाय।

3. शासन की मशीन और सेना को पूरी तरह जनवादी बनाया जाय। नौकरशाही का खातमा किया जाय।

4. जनता को हथियार दिया जाय और जनता की स्वयंसेवक सेना संगठित की जाय।

5. जनवादी विधान बनाया जाय जिसका आधार भाषा और संस्कृति की बुनियाद पर बनी इकाइयों का—यदि ऐसी इकाइयाँ हों—आत्मनिर्णय का अधिकार होगा जिन्हें अलग होने का भी अधिकार रहेगा। सबकी इच्छा के आधार पर एक भारतीय संघ की स्थापना हो तथा सभी बालिगों को वोट का अधिकार और सानुपातिक प्रतिनिधित्व रहे।

6. सभी दमनकारी कानून रद्द किये जायँ। सभी राजबन्दी, जिनमें किसानों, मजदूरों और जनता के अन्य वर्गों की लड़ाइयों के सिलसिले में सजा पाये या नजरबन्द लोग भी हैं, रिहा किये जायँ। देश में पूर्ण शहरी आजादी, जिसमें भाषण सभा और प्रेस की स्वतन्त्रता शामिल है, कायम हो।

7. देशी रियासतों में रजवाड़ों का खातमा किया जाय और एक तन्त्र के खिलाफ रियासती जनता की लड़ाइयों की मदद की जाय।

8. अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा की जाय, उनकी संस्कृति, भाषा और रोजी-रोटी के हकों की हिफाजत के लिए कदम उठाये जायँ, तथा साम्प्रदायिक भेदभाव और दंगों के खिलाफ जेहाद बोल दिया जाय। भारतीय संघ और पाकिस्तान के बीच दोस्ताना सम्बन्ध कायम किया जाय। सरकारें साम्प्रदायिक दंगे रोकने के लिए जो भी सही कदम उठायें उनका समर्थन किया जाय; साथ-ही-साथ साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावादियों को खुश करने की नीति का डट कर पर्दाफाश किया जाय।

9. जमींदारी के हर रूप का और इसी के समान दूसरी व्यवस्थाओं का बिना मुआविजे के खातमा किया जाय। जोतने वालों को जमीन दी जाय। किसानों के सभी कर्ज रद्द किये जायँ। खेती के लिए सरकार की ओर से बैंक खोले जायें और किसानों को सस्ती दर पर कर्ज दिया जाय।

10. बिना मुआविजा दिये सभी मुख्य और बुनियादी उद्योगों और प्रधान राष्ट्रीय

साधनों का राष्ट्रीयकरण किया जाय।

11. चोरबाजारी और मुनाफाखोरी को खतम करने के लिए जोरदार आन्दोलन छेड़ा जाये। पूरी और उचित खुराकबन्दी और मूल्य-नियन्त्रण की व्यवस्था जारी की जाये।

12. काम के घण्टे हफ्ते में 40 हों, जीवन-निर्वाह योग्य तनखा की एक कम-से-कम दर तय कर दी जाय, सबको रोजगार पाने का हक हो, और सबकी नौकरी पक्की हो। हड़ताल, पिकेटिंग और यूनियन बनाने का हक मिले।

13. हर नागरिक को मुफ्त शिक्षा दी जाय और सबके लिए मुफ्त इलाज और स्वास्थ्य-रक्षा के आम साधनों का प्रबन्ध हो।

पहला काम

इस सम्मेलन का दृढ़ विश्वास है कि संयुक्त उग्रदली मोर्चे को मजबूत बनाने के लिए पहला काम जो सबसे जरूरी है, वह यह है कि–

मेहनतकशों और जनता के जन-संगठनों को एक क्रिया जाय और उन्हें मजबूत बनाया जाये। इसलिए यह निश्चय किया जाता है कि–

(1) अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस को ट्रेड यूनियन का एक मात्र केन्द्र बनाया जाय और सभी पार्टियाँ उसको 'राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' तथा 'सोशलिस्ट ट्रेड सेन्टर' के फूटवादी हमलों से बचायें और मज़बूत करें। इस सम्मेलन में भाग लेने वाली पार्टियाँ ट्रेड यूनियन कांग्रेस में पूर्ण ऐक्य बरतें और अपने मतभेदों को आपसी समझौते से सुलझावें।

(2) एक ही किसान-सभा हो जिसमें सम्मेलन में शामिल सभी पार्टियाँ मिलकर मित्रतापूर्वक काम करें। शामिल पार्टियों के किसान प्रतिनिधि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रास्ता निकालने के लिए जितनी जल्दी हो, मिलें।

(3) एक ही संयुक्त विद्यार्थी संगठन हो। पिछले साल कायम 'विद्यार्थी एकता-बोर्ड' से इसके लिए अनुरोध किया जाता है कि एक एकता सम्मेलन बुलाये और विभिन्न विद्यार्थी संगठनों को मिलाकर एक करने के लिए जरूरी कदम उठावे।

सम्मेलन में शरीक सभी पार्टियाँ इकरार करती हैं कि एकता की रक्षा के लिए वे किसी भी संयुक्त सभा या प्रदर्शन में एक-दूसरे की आलोचना या एक-दूसरे पर छींटाकशी न करें और उनका प्रचार 'संयुक्त उग्रदली मोर्चे' के फैसले और कार्यक्रम के दायरे में सीमित रहेगा।

अलग-अलग हर पार्टी को जनता के सामने अपना पूरा कार्यक्रम पेश करने की आजादी रहेगी लेकिन इस आजादी में संयुक्त मोर्चे के कार्यक्रम की आलोचना नहीं शामिल है। एक-दूसरे की आलोचना केवल राजनीतिक सतह पर ही की जा सकेगी–व्यक्तिगत दोषारोपण, द्वेषपूर्ण आरोप, किसी की नीयत के बारे में कीचड़

उछालना और तथ्य को तोड़ना-मरोड़ना आदि बातें बिलकुल नहीं होनी चाहिए।

प्रान्तीय एकीकरण कमेटियाँ

संयुक्त उग्रदली मोर्चे की तात्कालिक जरूरत चूँकि विभिन्न प्रान्तों और रियासतों में संयुक्त प्रचार और आन्दोलन की नींव डालना है इसलिए मोर्चे के कार्यक्रम को फौरन अमल में लाने के लिए, आपसी मतभेदों को तय करने के लिए, और जन-संगठनों के कामों को एक करने के लिए प्रान्तों में 'उग्रदली मोर्चा एकीकरण कमेटियों' का निर्माण किया जायगा। इन कमेटियों में यहाँ उपस्थित पार्टियों के प्रतिनिधि (और दूसरी पार्टियों और जन-संगठनों के, जब वे मोर्चे में प्रवेश करेंगे) होंगे।

एकीकरण कमेटियों में जो फैसले किये जायँगे सबकी राय से। फ़ैसले ऐसे नहीं होंगे जो जन-संगठनों द्वारा उनके विधान के अनुसार अमल में न लाये जा सकें।

केन्द्र में इस वक्त केवल एक संयोजक रहेगा जो कि जरूरी समझने पर या शरीक पार्टियों में एक चौथाई के माँग करने पर सभी शरीक और आगे शरीक होने वाली पार्टियों और संगठनों की बैठक बुलायेगा।

हमें इस बात का दुख है कि इस सम्मेलन में दो-एक उग्रदली पार्टियाँ मौजूद नहीं हैं। उग्रदली मोर्चे का काम किसी पार्टी या संगठन के लिए रुका नहीं रह सकता। मगर उसका दरवाजा हमारे कार्यक्रम को माननेवाली हर पार्टी और संगठन के लिए सदा खुला रहेगा और हम उनका हृदय से स्वागत करेंगे। हमें यह ऐलान कबूल है।

(1) स्वामी सहजानन्द सरस्वती, (2) सोमनाथ लाहिड़ी (हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी), (3) राजदेव सिंह, प्रधानमन्त्री, सोशलिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया, (4) यमुना कार्यी, प्रधानमन्त्री, बिहार प्रान्तीय किसान-सभा, (5) शीलभद्र याजी, प्रधानमन्त्री, अखिल भारतीय फारवर्ड ब्लाक, (6) ओंकार नाथ शास्त्री, प्रधानमन्त्री, रिवाल्युशनरी वर्कर्स पार्टी ऑफ इण्डिया (त्रात्स्कीवादी, चतुर्थ अन्तर्राष्ट्रीय), (7) रामचन्द्र राय, बोलशेविक पार्टी ऑफ इण्डिया, 22 डी. एन. सेन लेन, काशी, पो. ठकुरिया, कलकत्ता, (8) अजित राय, बोलशेविक लेनिनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया, पी 113, गणेश चन्द्र एवेन्यू, कलकत्ता 13, (9) सुधीन्द्र नाथ कुमार, रिवोल्युशनरी कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया, 5-1 राममय रोड, कलकत्ता, (10) सुशील भट्टाचार्य, रिवोल्युशनरी सोशलिस्ट पार्टी, (11) साधन गुप्ता, हिन्दुस्तान खान मजदूर संघ, (12) जीवन लाल चटर्जी, डिमोक्रेटिक वैनगार्ड, (13) पंकज कुमार दास, कम्यूनिस्ट वर्कर्स लीग ऑफ इण्डिया, (14) परमानन्द प्रसाद, किसान-सभा, (15) टी. परमानन्द, मजदूर सभा, (16) सोशलिस्ट सेण्टर, (17) कम्युनिस्ट वर्कर्स पार्टी ऑफ इणडिया, (18) श्रीमती रामदुलारी सिंह, प्रान्तीय सुगर फेडरेशन।*

---

* इस मोर्चे में जयप्रकाश-लोहिया की कांग्रेस समाजवादी पार्टी शरीक नहीं हुयी। रेडिकल पार्टी भी शरीक नहीं हुयी—सम्पादक

प्रस्ताव

(1) संयुक्त उग्रदली मोर्चे की स्थापना पर बयान का यह मसविदा तसदीक होने तक मंजूर किया जाता है।

(2) केन्द्र में का. शीलभद्र याजी मोर्चे की सभाओं के संयोजक नियुक्त किये जाते हैं।

(3) संयुक्त किसान-सभा बनाने के लिए बैठक बुलाने के लिए का. स्वामी सहजानन्द सरस्वती संयोजक नियुक्त किये जाते हैं।

(15-16 अप्रैल, 1948, पटना, नया बिहार प्रेस लि. पटना)

भारतीय संयुक्त समाजवादी सभा : लक्ष्य तथा कार्यक्रम

भारत के विभिन्न वामपक्षी, समाजवादी एवं प्रगतिवादी दलों तथा संगठनों ने, जिनकी संख्या 20 से अधिक थी, मिलकर सर्व-सम्मति से 'भारतीय संयुक्त समाजवादी सभा' की स्थापना अभी हाल ही में नेताजी-भवन, कलकत्ता में की। इसमें बहुसंख्य ऐसे व्यक्तियों और विद्वानों ने भी योग दिया, जो समाजवाद एवं साम्यवाद में विश्वास रखते हुए भी किसी वामपक्षी या समाजवादी दल के सदस्य नहीं हैं। विभिन्न दलों और संगठनों के प्रतिनिध भारत के सभी प्रान्तों से आये थे। शायद ही कोई प्रान्त बचा हो। जिससे युक्त समाजवादी सम्मेलन में यह महान् कार्य सम्पन्न हुआ, उसमें उपस्थित प्रतिनिधियों की संख्या प्रायः तीन सौ थी। श्री शरच्चन्द्र बोस ने इस सम्मेलन का आयोजन किया था। उद्घाटन भी उन्होंने किया। **28, 29, 30 अक्तूबर, 1949 को यह सम्मेलन क्रमशः स्वामी सहजानन्द सरस्वतीं, श्री शंकरराव मोरे और जनरल मोहन सिंह की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ।** भारतीय संयुक्त समाजवादी सभा (United Socialist Organisation of India) के अध्यक्ष श्री शरच्चन्द्र बोस चुने गये। सम्मेलन में शरीक सभी दलों के दो-दो प्रतिनिधियों को मिलाकर अस्थायी जेनरल कौंसिल (General Council) बनायी गयी, जिसके लिए देश भर से 10 प्रतिनिधियों को सभापति उन व्यक्तियों में से नामजद करेंगे, जो किसी दल से सम्बद्ध न होते हुए भी जन-प्रतिनिधित्व की हस्ती रखते तथा सम्मेलन के मन्तव्यों को मानते हैं। इस प्रकार कम-बेश 50 सदस्यों की वह कौंसिल होगी, जिसकी पहली बैठक कलकत्ते में 4 दिसम्बर, 1949 को होगी। उसी में मन्त्रियों आदि का चुनाव होगा। वही कौंसिल भारतीय संयुक्त समाजवादी सभा का विधान भी तैयार करेगी, जो उस सभा के अगले खुले अधिवेशन में स्वीकार होने के लिए पेश होगा। यह अधिवेशन अगले मार्च-अप्रैल तक होगा। सम्मेलन में श्री मावसेतुंग के नेतृत्व में चीनी जनता की विजय, वहाँ जनता की प्रजासत्ताक सरकार की स्थापना एवं च्यांग कैशेक के शासन के ध्वंस पर खुशी जाहिर की गयी और चीनी जनता तथा उसकी नवीन सरकार को बधाई दी गयी। भारत सरकार उसे फौरन मान ले, यह माँग भी की गयी। कांग्रेसी सरकारों के द्वारा जो दमन की चक्की चालू है, उसकी निन्दा भी इस सम्मेलन ने की। भारतीय

संयुक्त समाजवादी सभा के लक्ष्य, नाम तथा कार्यक्रम के सम्बन्ध में नीचे लिखी घोषणा तैयार की गयी—

द्वितीय विश्व-युद्ध के खत्म होते-न-होते पूर्वी एशिया तथा यूरोप की जनता में भीषण क्रान्तिकारी उफान नजर आया। क्रान्ति और नयी सामाजिक व्यवस्था सम्भव हो गयी। पश्चिमी यूरोप में साम्राज्यवादियों के सीधे हस्तक्षेप एवं चन्द वामपक्षी राजनीतिक दलों के आगा-पीछा तथा वर्ग-सामंजस्य वाली चालों के फलस्वरूप किसी हद तक क्रान्ति का काम रुका सही; फिर भी दूसरे देशों में साम्राज्यवादी पूँजीवादी प्रणाली को निश्चित रूप से धक्का लगा। फलतः जनता के प्रयत्नों से राजनीतिक एवं सामाजिक बातों में मौलिक परिवर्तनों का श्रीगणेश सम्भव हो गया। यह भी बात है कि दक्षिण-पूर्व एशिया वालों के विप्लवों और हाल की चीन के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन की विजय ने पाश्चात्य साम्राज्यवादी प्रभुत्व को खोखला कर दिया है। समाजवाद तथा जनतन्त्र का पलड़ा बेशक भारी हो गया है।

'वर्षों के युद्ध के करते जीर्ण-शीर्ण तथा आर्थिक दृष्टि से छिन्न-भिन्न ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसके स्थिर स्वार्थ जो भारत एवं एशियाई देशों में फैले हैं, अपनी हस्ती की सबसे बड़ी उथल-पुथल का सामना कर रहे हैं। यूरोप तथा एशिया में सोवियत रूस का बढ़ता हुआ प्रभाव और संसार के बाजार पर अमेरिका का प्रभुत्व ये दोनों ही इसे दोनों ओर से कतरने लगे। ऐसी दशा में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने ठीक ही महसूस किया कि अपने लूट-खसोटवाले व्यापार के विशेष क्षेत्र के रूप में भारतीय बाजार को किसी भी मूल्य पर बचाना होगा; फलतः अमेरिका के संसार-व्यापी प्रभुत्व तथा सोवियत रूस के पूर्व-पश्चिम (दोनों ओर) फैलनेवाले प्रभाव के विरुद्ध भारतीय पूँजीपतियों के साथ साँठ-गाँठ अनिवार्य रूप से आवश्यक है। भारतीय जनता के क्रान्तिकारी विचारों में वृद्धि देखकर भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अच्छी तरह मान लिया कि उसकी अपनी हस्ती के लिए भी भारतीय पूँजीवाद से सट्टा-गुट्टा एक ऐतिहासिक आवश्यकता है और इसके लिए, जितना शीघ्र अनिवार्य कदम बढ़ाना ही होगा।

कांग्रेस तथा मुसलिम लीग के नेताओं एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बीच के फलस्वरूप 1947 के अगस्त में शासन-सत्ता हस्तान्तरित करने की रस्म अदा हुई। इस प्रकार एक ओर बिट्रिश साम्राज्यवाद और दूसरी ओर भारतीय पूँजीवादियों को मिलाकर एक मोर्चा भारतीय जन-क्रान्ति के विरुद्ध तैयार हुआ। **नेहरू सरकार, जो भारतीय स्थिर स्वार्थों की सरकार है, अपने वर्ग-स्वभाव के करते उन समस्याओं को सुलझा नहीं सकती, जो भारतीय जनता के सामने खड़ी है। भारत में विद्यमान पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था के रहते भारतीय जनता को गरीबी और भूख के पंजों से त्राण नहीं मिल सकता।** नेहरू और पटेल की सरकार स्थिर स्वार्थों की है। अमीरों के हाथों गरीबों की लूट को यह सरकार क्षमा प्रदान करती है। उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण को इसने पाँव तले रौंद दिया है। जमींदार के द्वारा चुराई गयी चीज (जमीन) को

उनसे उगलवाने—जमींदारी को मिटाने के लिए मुआविजा देने के खयाल से यह सरकार किसानों से रुपये के रूप में उनका खून निचोड़ रही है। अमीरों पर जो अतिरिक्त आय-कर लगा था, उसके भार को यह कम कर रही है। लेकिन, श्रमजीवी वर्ग के द्वारा गुजारे लायक मजदूरी की माँग को इसने बेरहमी से दबा दिया है। शरणार्थियों एवं विपन्न मध्यमवर्गियों द्वारा सभी प्रतिवाद आन्दोलनों के उभड़ने को इसने बर्बरतापूर्ण वहशियाना कामों के द्वारा दबा दिया है। जनता के स्वतन्त्र भाषण तथा आजाद संगठन के अपरिहरण अधिकारों को इसने लूट लिया है और विशेष आईन-कानूनों के द्वारा शासन जारी कर दिया है।

यह सरकार पूँजीपतियों, चोरबाजारियों तथा भ्रष्ट पुलिस अफसरों के, खुफिया विभाग के बैरकों में राजबन्दियों के साथ अमानुषिक बर्ताव सम्बन्धी साम्राज्यवादी परम्परा को जारी रखना चाहते हैं, उभाड़ने पर लोगों को गिरफ्तार करती है। इसमें आजाद हिन्द फौज एवं दूसरे फौजियों के साथ, जिनने बहादुरी से भारत की स्वतन्त्रता के लिए युद्ध किया, अपमानजनक व्यवहार किया है। जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद आज राष्ट्रसंघ के बुर्के के नीचे मौजूद है, उसके सामने इनने आत्मसमर्पण किया है। नेहरू-सरकार ने जो मुद्रा के मूल्य को घटाया है, वह ग्रेट ब्रिटेन के पूर्ण पिछलग्गू बनने का सबसे ताजा और जबर्दस्त नमूना है। यह चीज हमारी सारी राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के लिए घातक है। **नेहरू-सरकार ब्रिटिश-अमेरिकी गुट का अर्दली बन गयी है।**

पूँजीवादियों, चोरबाजारियों, कम्पनियों के हिस्सेदारों और जमींदारों की इस स्थिर स्वार्थ वाली सरकार को खत्म करना होगा तथा इसकी जगह किसानों, मजदूरों एवं विपन्न मध्यवर्गीयों की सरकार स्थापित करनी होगी। जनतान्त्रिक जनता की यह सरकार ही भारतीय राष्ट्रीय स्वार्थों की प्रगति कर सकती है। सिर्फ वही एक-एक करके सबों को खाना, कपड़ा, शिक्षा तथा स्वास्थ्य निश्चित रूप से दे सकती है। केवल वही हमारे देश के जन-समूह का सर्वांगीण उद्धार कर सकती है।

(इसी दृष्टि से) भारतीय संयुक्त समाजवादी सभा नीचे लिखे लक्ष्य तथा कार्यक्रम के सम्बन्ध में अपने-आपको संकल्पबद्ध करती है। यह लक्ष्य एवं कार्यक्रम भारतीय जनता के आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं को अपनाता है—

नाम—इस संस्था (संगठन) का नाम होगा, 'भारतीय संयुक्त समाजवादी सभा' (युनाइटेड सोशलिस्ट ऑर्गनाइजेशन ऑफ इण्डिया)।

लक्ष्य—(अ) भारत में समाजवादी प्रजासत्ताक राज्यों के संघ की स्थापना इसलिए करना कि यहाँ वर्गविहीन समाज की स्थापना हो जाय, जिसमें मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण लापता होगा और यह सिद्धान्त मान्य होगा कि हर एक से उसकी योग्यता के अनुसार काम लिया जाय और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय, यही इस सभा का लक्ष्य होगा।

(ब)–समाजवादी प्रजासत्ताक राज्यों के इस संघ की बुनियादी रूपरेखा यही होगी कि उत्पादन, वितरण तथा विंनिमय के साधनों पर समाज का अधिकार होगा और अन्यान्य बातों के सिवाय यह संघ फौरन ही आदेश जारी करेगा कि–

(1) बिना मुआविजा जमींदारी (भूमि का आधिपत्य) खत्म हो।

(2) पूँजीवादी ढंग का शोषण खत्म हो तथा बुनियादी, विस्तृत एवं मूलभूत उद्योग-धन्धे समाज की सम्पत्ति हों।

(3) जनता के उपयोग के सभी विभाग समाज के हाथ में हों।

(4) ज़मीन जोतने-कोड़ने वालों (किसानों) की ही हो। इस सम्बन्ध में वही और उतने ही बन्धन हों, जो राष्ट्र तथा जोतने-कोड़नेवालों के हित-साधक हों।

(5) खेती सम्बन्धी सभी ऋण माफ हों।

(6) बैंक तथा ऋण देनेवाली अन्य संस्थाएँ समाज की हों।

(7) विदेशी कारबार पर राष्ट्र का एकाधिपत्य हो।

(8) देश के भीतरी कारबार और रोजगार के लिए नियम-कायदे राष्ट्र सरकार बनाये।

(9) मौजूदा विदेशी स्थिर स्वार्थ मिटा दिये जायँ।

(10) जनता के निवास-स्थान की व्यवस्था सरकार करेगी।

(11) खानें, खनिज पदार्थ, जंगल, नदियाँ और समुद्री किनारे के जल जैसे प्राकृतिक पदार्थों पर राष्ट्र (सरकार) का अधिकार होगा।

(12) शक्ति के मूलभूत साधन विद्युत शक्ति कोयले, तेल एवं शक्तिदायक आसव (शराब) तथा इस शक्ति के उत्पादक कल-कारखाने राष्ट्र (सरकार) के हाथों में होंगे और वही उन्हें चलाये तथा नियन्त्रण में रखेगा।

(13) जन-स्वास्थ्य सम्बन्धी सभी विभाग समाज के हाथ में होंगे और सबों के लिए दवा-दारू का पूरा प्रबन्ध होगा।

(14) सबों को पूरा काम मिलेगा, भिखमंगी न रहेगी और ऐसी व्यवस्था होगी कि यदि दैवात् बेकारी हो जाय, तो भी आराम का जीवन गुजरे। बुढ़ापे, बीमारी, शारीरिक अयोग्यता, सन्तानोत्पत्ति की दशा तथा अनाथ बच्चों के लिए भी वही व्यवस्था हो।

(15) **सभी शिक्षा-संस्थाएँ समाज के हाथ में हों, जिनमें धार्मिक शिक्षा न दी जाय। सबों के लिए मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था हो।**

(16) सबों को सोचने-विचारने एवं पूजा-पाठ की पूर्ण स्वतन्त्रता हो।

(17) **समाजवादी राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुकूल सबों को सांस्कृतिक बातों में पूर्ण स्वतन्त्रता हो।**

(18) अस्पृश्यता एवं इसी तरह के जाति-भेद और ऊँच-नीच आदि के खयालों के नामोनिशान को बखूबी मिटा दिये जाने की व्यवस्था हो और सबों को समान अधिकार हो।

(19) स्त्री-पुरुषों के बीच पूर्ण समानता हो।

(20) सभी नागरिकों की नागरिक स्वतन्त्रता अक्षुण्ण हो।

काम–भारतीय संयुक्त समाजवादी सभा का काम होगा साम्राज्यवाद तथा सामन्तवाद के सभी अवशेषों और पूँजीवाद के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष चलाना, ताकि अप्रजातान्त्रिक, अधिनायकवादी एवं प्रतिगामी भारतीय स्थिर स्वार्थों की सरकार की जगह मजदूरों और किसानों की सरकार स्थापित हो।

कार्यक्रम–भारतीय संयुक्त समाजवादी सभा के संघर्ष का कार्यक्रम यों होगा कि वह–

(1) प्रतिनिधित्व-शून्य एवं अजनतान्त्रिक मौजूदा विधान-परिषद् के द्वारा निर्मित तथाकथित भारतीय विधान को अमान्य ठहराने के लिए जनता को ललकारेगी और कहेगी कि जनता की विधान-परिषद्, बुलाई जाय, जो सार्वजनिक बालिग मताधिकार के आधार पर चुनी जाय और भारत में समाजवादी प्रजासत्ताक राज्यों के संघ के लिए विधान बनाये, ताकि (अ) सरकार के संचालन में मजदूरों एवं किसानों को वाजिब स्थान मिले; (ब) संघ में सम्मिलित सभी भागों को पूर्ण स्वतन्त्रता हो और (स) भाषा के आधार पर सभी प्रान्तों के भू-भागों का फिर से बँटवारा हो।

सभा माँग करेगी कि–

(2) भारत ब्रिटिश राष्ट्रसंघ से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद कर ले।

(3) ब्रिटिश अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ कोई सट्टा-गट्टा न होगा।

(4) अंग्रेजों के हाथों निर्मित साम्राज्यवादी नौकरशाही तथा फौजीयन्त्र के रूप में मुल्की, फौजी और पुलिस विभाग की जो नौकरियाँ हैं, उन्हें खत्म कर के **नये ढंग से शासन-व्यवस्था के यन्त्र का निर्माण हो तथा भारतीय परिस्थिति एवं जनता की भावना के अनुसार जनता का फौजी दल तैयार किया जाय।**

(5) अनिवार्य फौजी शिक्षा दी जाय और हथियार-कानून खत्म हो।

(6) आजाद हिन्द फौज के सभी सिपाहियों को फिर से भर्ती किया जाय और उन्हें बसाया जाय।

(7) कल-कारखानेदारों ने जो युद्ध में नफा कमाया है, वह और चोरबाजारियों तथा सट्टेबाजों की सम्पत्ति जब्त हो।

(8) फौरन ही वे दमनकारी कानून और ऑर्डिनेंस (फरमान) रद्द किये जायँ, जो बिना वारण्ट गिरफ्तारी, बिना मुकदमा चलाये नजरबन्दी, नागरिक स्वतन्त्रता में बन्धन तथा हड़ताल के हक पर रोक की आज्ञा देते हैं।

(9) राजबन्दियों और नजरबन्दों की फौरन ही बिना शर्त रिहाई हो।

(10) सभी राजनीतिक दलों एवं मजदूर-किसान संगठनों पर लगे बन्धन हटाये जायँ।

(11) सभी मीटिंगों और जुलूसों की रोक हटाई जाय, ताकि बोलने एवं संगठन

की पूरी आजादी हो।

(12) सभी प्रकार की जमींदारियों तथा किसान एवं सरकार के मध्यवर्ती सभी प्रकार के स्वार्थों का खात्मा बिना मुआविजा किया जाय।

(13) खेती सम्बन्धी ऋण माफ किये जायँ, खेती की उन्नति के लिए सस्ते कर्ज तथा अन्य प्रकार की सरकारी सहायता की व्यवस्था हो और अलाभकर जमीनों से लगान लिया जाय।

(14) किसानों की उपज का लाभदायक मूल्य निश्चित हो, जिसमें खेती के खर्च के अलावे (अ) उचित मुनाफा भी शामिल हो, (ब) खेत-मजदूरों की गुजारा लायक कम-से-कम मजदूरी निश्चित की जाय, और (स) किसानों के जीवन एवं खेती के लिए आवश्यक चीजों का मूल्य घटाया जाय।

(15) कल-कारखाने के मजदूरों को गुजारे लायक वेतन मिले।

(16) कानून के जरिये 40 घण्टे का हफ्ता और 7 घण्टे रोज काम करना तय हो।

(17) लोगों को काम पाने का हक हो, नहीं तो, बेकारी का भत्ता मिले।

(18) हड़ताल करने का हक हो।

(19) सामाजिक सुरक्षा का हक सबको हासिल हो, जिसमें कोई भूखा-नंगा न रहे।

(20) ठेकेदारी पर काम करना उठा दिया जाय।

(21) सबों को भोजन, वस्त्र, निवास और दवा दारू मिलने की गारण्टी हो।

(22) मैट्रिक्युलेशन तक की शिक्षा मुफ्त एवं अनिवार्य हो।

(23) चोरबाजारी, जीवन की जरूरी चीजें जमा करके छिपा रखने और शासन के भ्रष्टाचार के विरुद्ध सख्त-से-सख्त दण्ड आदि की व्यवस्था हो।

(24) शरणार्थियों तथा अपने स्थानों से हटे-हटाये अन्य लोगों के जमीन, मकान और काम देकर सहायता पहुँचाने तथा बसाने का प्रबन्ध हो।

(28,29,30 अक्टूबर, 1949 कलकत्ता)

---

* कम्युनिस्ट पार्टी में इस समय तक रणदिवे गुट की विजय हो गयी। वे संयुक्त मोर्चे के खिलाफ थे। इस सभा में कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस समाजवादी पार्टी, रेडिकल पार्टी (एम एन. राय) शरीक नहीं हुए।—सम्पादक

परिशिष्ट

आओ साधने! आओ

साधने! आओ। मैं तुम्हारे लिए टकटकी लगाये और आँखों की पलकें बिछाये बेचैन, बेकरार हूँ। तुम आओ, मुझे सान्त्वना दो, मैं जानता हूँ, तुम साधक के ही पास जाती हो, उसकी साथिनी बनना चाहती हो। और मैं? मैं तो साधक ही हूँ! मैंने निश्चय कर लिया है, प्रण कर लिया है, संकल्प कर लिया है कि साध्य को प्राप्त करके ही दम लूँगा। मुझे यह भी पता है कि साधने, बिना तुम्हारा आश्रय लिये, बिना तुम्हें अपनाये, साध्य की सिद्धि, उसकी प्राप्ति असम्भव है। इसीलिए मैंने तुम्हारे लिए ही सर्वप्रथम अलख लगाना शुरू कर दिया है। तो क्या अब भी न आओगी?

मुझे मालूम है, तुम अनन्य भाव, अनन्य भक्ति, अनन्य भावना चाहती हो। उसी की भूखी हो। तुम ऐसों की ओर घृणा की दृष्टि से देखती हो, तिरस्कार पूर्ण पलकें उठाती हो, जो दुभाषिये हैं, जिनका मन कभी तुम्हारी ओर जाता है तो कभी दूसरी ओर, जो कभी राम-राम कहते हैं तो कभी खुदा-खुदा। जिनके लिए तुम स्वाती की बूँद हो और जो पपीहे की तरह दिन-रात तुम्हारे लिए पी-पी की रट लगाते रहते हैं, जो मूसलाधार और दूसरी रिमझिम बूँदों की ओर ताकते तक नहीं, मैं तो वही अनन्य भक्त हूँ। विश्वास करना। इसका पता परीक्षा के समय लगेगा कि मैं कौन हूँ—

''हकीकत साफ खुल जायगी वक्ते इम्तहाँ मेरी।''

मुझे पता है, तुम 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' की तलाश में रहती हो, जो मस्ताना है, तुम्हारे पीछे पागल है, जो 'मैं रात में जग कर रोता हूँ जब सारा आलम सोता है' वाला है और तुम्हारे पीछे बेहाल फिरता है, आँसुओं की धारा बहाता है, जो सब कुछ भूल जाता है, तुम उसी को याद करती हो, उसी के पास पहुँचती हो। जिसे थकान का पता ही नहीं, जो पस्ती को पछाड़े बैठा है और दम मारने को रवादार नहीं, निराशा जिसके पास फटकने की हिम्मत नहीं रखती और जिसे अपने आप में, अपने साध्य में अधिक विश्वास है, तुम उसी के चरण चूमती हो। और मैं! मैं वही हूँ! और, इसका पता तुमको लगेगा। मेरी और तुम्हारी होड़ है, कहे देता हूँ। याद रखना, तुम्हें पछाड़ना है और जरूर पछाड़ना है। मैंने खम ठोंकी

है और तुम्हें साथिनी बनाने के अलावा कोई चारा नहीं है। इसी से कहता हूँ कि आओ साधने! आओ।

यों लिखा गया 'गीता हृदय'

गीता हृदय तो जेल से निकलने के ठीक पूर्व जैसे लिखा जा सका। जानें मेरे दिल में रिहाई के दो मास पूर्व क्यों यह बात जम गयी कि गीता हृदय पूरा करो नहीं तो रिहाई होने ही वाली है और फिर वह पड़ा ही रह जायगा। बस, मैंने उसमें हाथ लगा दिया। सचमुच मेल की गति की बात ही क्या, मैं स्पेशल ट्रेन की चाल से चलता रहा तब कहीं यह लम्बी पुस्तक पूरी हो सकी। लिखित कॉपी (हस्तलिपि) पर रोज-रोज की तारीखें नोट हैं कि किस दिन कितना लिखा। फिर भी इसका आशय यह नहीं है कि ऊलजलूल बातें लिख मारीं। ऐसा नहीं हुआ। जो कुछ लिखा गया वह खूब समझ-बूझ के, इतने पर भी दोई भाग पूरे हुए। तीसरा लिखा न जा सका। उसके लिए कुछ खास छानबीन और अन्वेषण जरूरी था और वैसी पुस्तकें जेल में मिल न सकती थीं। मेरा अपना विचार है कि गीता हृदय में लिखी बातें अपने ढंग की निराली हैं। उनमें अधिकांश विचार के परिपाक के परिणाम हैं। कुछ तो लिखते-लिखते अकस्मात् सूझीं और मैं आश्चर्यचकित रह गया। उन्हें लिपिबद्ध करने में मुझे अपार आनन्द हुआ।

मेरा भगवान्

कहते हैं कि वह (ईश्वर) सब काम पलक मारते कर देता है और जिस बात को नहीं चाहता उसे कदापि नहीं होने देता। लेकिन दूसरों का काम सँभालने और भक्तों का हुक्म बजाने से पहले वह अपना काम तो सँभाले। तभी हम मानेंगे कि वह बड़ा शक्तिमान् या सब कुछ कर सकने वाला है—सब कुछ करता है। एक दिन किसान के घी से भगवान् के मन्दिर में दीप मत जलाइये और भगवान् से कह दीजिये कि आपकी सामर्थ्य की परीक्षा आज ही है। देखें, आपके घर में—मन्दिर में—मस्जिद में—अँधेरा ही रहता है या उजाला भी होता है। रात भर देखते रहिये। मन्दिर का फाटक बन्द करके छोटे से सूराख से रह-रहकर देखिये कि कब चिराग जलता है! आप देखेंगे कि जलेगा ही नहीं, रात भर अँधेरा ही रहेगा!

इसी प्रकार एक दिन न घण्टी बजे, न आरती हो और न भोग लगे! किसान के गेहूँ, दूध और उसके पैसे से खरीदी घण्टी, आचमनी आदि हटा लीजिये। फिर देखिये कि दिन-रात ठाकुरजी भूखे रहते और प्यासे मरते हैं या उन्हें भोजन उनकी लक्ष्मीजी पहुँचाती हैं, दिन-रात मन्दिर सुनसान ही और मातमी शक्ल बनाये रह जाता है या कभी घण्टी वगैरा भी बजती है! पता लगेगा कि सब मामला सूना ही रहा और ठाकुरजी या महादेव बाबा को 'सोलहों दण्ड एकादशी' करनी पड़ी! एक बूँद जल तक नदारद—आरती, चन्दन, फूल आदि का तो कहना ही क्या! सभी गायब! वे बेचारे जाने किस बला में पड़ गये कि यह फाकामस्ती करनी पड़ी।

और ये मन्दिर बनते भी हैं किसके पैसे और किसके परिश्रम से? जब मन्दिर का कोना टूट जाय, तो ललकार दीजिये ठेठ भगवान् को ही जरा खुद-ब-खुद मरम्मत तो करवा लें। नये मन्दिर बनाने की तो बात ही दूर रही! वह कोना तब तक टूटा का टूटा ही रहेगा जब तक किसान का पैसा और मजदूर का हाथ उसमें न लगे! यदि कोई मन्दिर भूकम्प से या यों ही अकस्मात् गिर गया हो और भगवान् उसी के नीचे दब गये हों तो उनसे कह दीजिये कि बाहर निकल आयें अगर शक्तिमान् हैं! पता लगेगा कि जब तक गरीब लोग हाथ न लगायें, तब तक भगवान् उसी के नीचे दबे कराहते रहेंगे। चाहे मरम्मत हो या नये-नये मन्दिर बनें—सभी केवल मेहनत

करने वालों के ही पैसे या परिश्रम से तैयार होते हैं।

आगे बढ़िये! गंगा को तीर्थ, मन्दिर को मन्दिर, जगन्नाथ धाम को धाम किसने बनाया है? किसके चरणों की धूल की यह महिमा है कि तीर्थों, मन्दिरों और धामों का महत्त्व हो गया? किसने गोबर को गणेश और पत्थर को विष्णु या शिव बना डाला? क्या अमीरों और पूँजीपतियों ने? सत्ताधारियों ने? यदि नंगे पाँव और धूल लिपटे किसान-मजदूर गंगा में स्नान न करें, उन्हें गंगा माई न मानें, मन्दिरों में न जायँ, जगन्नाथ और रामेश्वर धाम न जायँ तो क्या सिर्फ मालदारों के नहाने, दर्शन करने या तीर्थ-यात्रा से गंगा आदि तीर्थों, मन्दिरों और धामों का महत्त्व रह सकता है? उनका काम चल सकता है? गरीबों ने यदि बहिष्कार कर दिया तो यह ध्रुव सत्य है कि राजों-महाराजों और सत्ताधारियों की लाख कोशिश करने पर भी गंगा और तलैया में कोई अन्तर न रह जायगा, मन्दिर और दूसरे मकान में फर्क न होगा और धामों या तीर्थों की महत्ता खत्म हो जायगी। उन लोगों के दान-पुण्य से ही मन्दिरों और धामों का काम और खर्च भी नहीं चल सकता यदि गरीबों के पैसे-धेले न मिलें। जल्द ही दिवाला बोल जायगा और पण्डे-पुजारी मन्दिरों, तीर्थों और धामों को छोड़कर भाग जायँगे!

यह तो करोड़ों गरीबों के नंगे पाँवों में लगी धूल—चरण रज—की ही महिमा है, यह उसी का प्रताप है कि वह जब गंगा में पहुँचकर धुल जाती है तो वह गंगा माई कहलाती है; जब मन्दिरों में वही धूल पहुँच जाती है तो वहाँ भगवान् का वास हो जाता है, पत्थर को भगवान् व गोबर को गणेश कहने लगते हैं; जब वही धूल जगन्नाथ और रामेश्वर के मन्दिरों में जा पहुँचती है तो उनकी सत्ता कायम रहती है और उनकी महिमा अपरम्पार हो जाती है। गरीबों के तो जूते भी नहीं होते। इसीलिए तो उनके पाँवों की धूल ही वहाँ पहुँच कर सबों को महान् बनाती है।

कहते हैं कि महादेव बाबा खुद तो दरिद्र और नंगे-धड़ंगे श्मशान में पड़े रहते हैं, मगर भक्तों को सब सम्पदायें देते हैं—उन्हें बड़ा बनाते हैं! पता नहीं, बात क्या है? किसी ने आँखों से देखा नहीं। मगर ये किसान और कमाने वाले तो साफ ही ऐसे 'महादेव बाबा' हैं कि स्वयं दिवालिये होते हुए भी, ईश्वर तक को ईश्वर बनाते और खिलाते-पिलाते हैं!

ईश्वर सबको खिलाता-पिलाता है, ऐसा माना जाता है—सही। मगर किसने उसे हल चलाते, गेहूँ, बासमती उपजाते, गाय-भैंस पाल कर दूध-घी पैदा करते, हलुवा-मलाई बनाते तथा किसी को भी खिलाते देखा है? लेकिन किसान तो बराबर यही काम करता है। वह तो हमेशा ही दुनिया को खिलाता-पिलाता है!

इतना ही नहीं। कहते हैं कि ईश्वर तो केवल भक्तों को खिलाता और पापियों को भूखों मारता है। वह अपनों को ही खिलाता है। इसलिए वह एक प्रकार की तरफदारी करता है। मगर किसान की तो उल्टी बात है! वह तो जालिमों और सतानेवाले

जमींदारों, साहूकारों और सत्ताधारियों को ही हलुवा-मलाई खिलाता है और खुद बाल-बच्चों के साथ या तो भूखा रहता है या आधा पेट सत्तू अथवा सूखी रोटी खाकर गुजर करता है! ऐसी दशा में असली भगवान् तो यह किसान ही हैं!

दुनिया माने या न माने। मगर मेरा तो भगवान् वही है और मैं उसका पुजारी हूँ। खेद है, मैं अपने भगवान् को अभी तक हलुवा और मलाई का भोग न लगा सका, रेशम और मखमल न पहना सका, सुन्दर सजे-सजाये मन्दिर में पधरा न सका, मोटर पर चढ़ा न सका, सुन्दर गाने-बजाने के द्वारा रिझा न सका और पालने पर झुला न सका। मगर उसी कोशिश में दिन-रात लगा हूँ—इसी विश्वास और अटल धारणा के साथ कि एक-न-एक दिन यह करके ही दम लूँगा; सो भी जल्द!

नग्न चित्र

साथियो,

आज मैं भारत के उन करोड़ों नर-नारियों-किसानों के प्रति श्रद्धा-भक्ति प्रकट करने के लिए यहाँ खड़ा हूँ जिन्होंने अपने निःस्वार्थ त्याग से—उन्हीं के लिए त्याग जिन्होंने उनका सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तरीके पर शोषण किया है और कर रहे हैं, और उनका सारा खून चूस चुके हैं—मुझे और मेरे जैसे हजारों को अपना पुजारी बना लिया है। किसान न सिर्फ मानव व्यवहार की उन्हीं आवश्यक वस्तुओं के उपजाने वाले हैं जिनके अभाव में जीवन नष्ट हो जाता है, दिमाग काम नहीं करता और कोई भी अंग हिल नहीं सकता, बल्कि आधारभूत कच्चे माल के भी जो तैयार माल के रूप में बदल कर जीवनयापन को आसान और सुखद बना देते हैं; जिनके चलते हमारे विचार विस्तृत और परिष्कृत होते हैं, प्रगतिशील बनते हैं, और जिनने दुनियाँ को भूत और वर्तमान रूप दिया है। अपने पुत्र-पुत्रियों के द्वारा वे फैक्टरियों और खानों को चालू रखते, ऑफिस चलाते, और वर्तमान शासन-व्यवस्था की रक्षा के लिए—इसके दुश्मनों को डराकर और जरूरत पड़ने पर हराकर भी—उन्हीं पुत्र-पुत्रियों को फौजी गोली का शिकार बनाते हैं। ये वही हैं जो अपने खून को पसीना बना कर शासन-व्यवस्था के कामों और उन्हीं के आराम के लिए जो उन्हें अत्यन्त निर्दयतापूर्वक पैरों तले रौंदते हैं। राजमहल, किले और गृह-निर्माण करते हैं। अपार धनराशि और साधनों के होते हुए भी यदि आज किसान उन बाबुओं से असहयोग कर लें, उन्हें चावल, गेहूँ, चना, तरकारी, दूध और उससे बने सामान देना बन्द कर दें, तो वे एक भी प्रथम क्यों द्वितीय श्रेणी के भी, राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री अथवा शासक, जिनका उन्हें गर्व है, पैदा कर नहीं सकते।

उपर्युक्त बातों से मोटी अक्लवालों के लिए भी यह साफ है कि सिर्फ एक ही श्रेणी के लोग-किसान ही हैं जिनके अनन्त स्वार्थ-त्याग से ही यह दुनियाँ टिकी हुई है। सचमुच यह बड़े दुःख की बात है कि जबकि वे किसान अपने वार्षिक घरेलू बजट में दूसरे सबों के लिए पूरी ताकीद और गुंजाइश रखते हैं—देवी और देवता, साधु और फकीर, भिखमंगे और नेता, पुलिस और मजिस्ट्रेट, शासक और शोषक,

उपदेशक और गुरु और यहाँ तक कि मृतात्माओं के लिए भी, कोई किंचित् मात्र भी उनके लिए परवाह नहीं करता और न उनके सम्बन्ध में कुछ क्षण सोचने-विचारने का कष्ट ही उठाता है। नहीं तो, यह पूरा-का-पूरा किसान वर्ग क्यों अधपेटा खाकर अधनंगा रहता है? वे दूसरों को खाना, पहनना देते हैं तो क्या यह दूसरों के लिए न्याय और उचित है कि उनके लिए कुछ न करें? क्या किसानों का जो ऋण उन पर लदा है, उसे वे नहीं चुका सकते अथवा उन्हें नहीं चुकाना चाहिए? इस विषय में क्या वे सचमुच ही असमर्थ हैं? जबकि जमींदार और पैसेवालों के कुत्ते, बिल्ली, चूहे, शेर आदि किसानों की गाढ़ी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते हैं, क्या किसान इन जानवरों के व्यवहार में आने वाले अच्छे खान-पान और वस्त्र का एक भाग भी पाने के हकदार नहीं? क्या वे जमींदारों, राजाओं, महाराजाओं और अफसरों द्वारा प्यारभरी बातें सुनने के भी अधिकारी नहीं? क्या किसान जानवरों से भी कम उपयोगी और गये-गुजरे हैं? धनिकों के कुत्ते पहले दर्जे में सफर करते हैं और सोने के प्याले में दूध पीते हैं किन्तु किसानों, उनके बच्चे-बच्चियों को तीसरे दर्जे में भी सफर करने का साधन नहीं! उन्हें रोटी के टुकड़े के भी लाले पड़े हैं जबकि जमींदारों के कुत्ते अच्छी-से-अच्छी मोटरगाड़ी में उनकी गोद में बैठते हैं, किसान उन तक फटक भी नहीं पाते, उन्हें बैलगाड़ी तक नसीब नहीं यह बात किसी की बुद्धि में नहीं अँटती और इससे दिल के टुकड़े हो जाते हैं। इसे लोग दुर्भाग्य कहते हैं किन्तु यह एकमात्र सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अन्धेरखाता है।

चाहे जैसे हो, इसे तो बन्द करना ही होगा और यह जितना शीघ्र बन्द हो जाय, उतना ही अच्छा। और जब तक हम लोग, जो जन-सेवा के ठेकेदार होने का दम भरते हैं, बिना किसी हिचकिचाहट के इसकी पूरी कीमत चुकाने को तैयार न होंगे, इस अव्यवस्था, अन्धेरखाता तथा समूचे गोलमाल का अन्त होने की कोई आशा नहीं। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमें ऐसे स्वार्थहीन किसान सेवकों की जरूरत है जो अपने जीवन को किसानों की सेवा में उत्सर्ग किये हों, गाँवों में धूनी रमाने के लिए व्याकुल हों और बिना किसी पारितोषिक के, लोभ के अपनी सारी शक्ति, चातुरी और अक्ल इस महान् कार्य में लगा देने वाले हों। सारांश हम हजारों किसान पुजारी चाहते हैं।

(अखिल भारतीय किसान सभा, आठवाँ अधिवेशन, बैजवाड़ा, 14, 15 मार्च, 1944 के अवसर पर दिये गये स्वामी सहजानन्द सरस्वती के अध्यक्षीय भाषण से)

□□□

राघव शरण शर्मा

जन्म 1942–सोनडीहा–गया। पेशे से खोजी, घुमक्कड़, बहुप्रतिष्ठित इंजीनियर हैं। इन्हें बिहार के दहकते खेत–खलिहानों के किसान संघर्षों में सक्रिय शिरकत के दरम्यान समाज की पाठशाला में व्यावहारिक और विश्लेषणात्मक अध्ययन की दृष्टि प्राप्त हुई। गंडक योजना के पायलट प्रोजेक्ट तैयार करने पर प्रशस्ति प्रदान किया गया। इन्होंने, किसान आन्दोलन का विकास, भारत–चीन प्रतिद्वंद्विता–हिमालय के पार, भारत की जल सम्पदा–समस्या और समाधान, कादम्बरी नाट्य रूपांतरण, सहजानन्द और चारू की वसीयत, ब्रह्मर्षि वंश अनुशीलन, अयोध्याकांड का शास्त्रीय अनुशीलन इत्यादि पुस्तकों की रचना की है साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सामयिक वार्ता, जनमत जैसी पत्रिकाओं में लिखते रहे हैं। कई स्मारिकाओं का सम्पादन किया है। सम्प्रति वाराणसी मे स्वामी सहजानन्द अध्ययन एवं शोध संस्थान के अध्यक्ष हैं और रईन खेत (रणक्षेत्र) पत्रिका का सम्पादन कर रहे हैं। किसान साहित्य और किसान हलचल से गहरा लगाव है।